विश्व के महान शिक्षाशास्त्री

लेखक

डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा,
एम. ए., एम. एड., बी. एल., पी-एच. डी.
प्रखण्ड शिक्षा-प्रसार-पदाधिकारी,
मोकामा (पटना)



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना ३

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरक
(शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से विह
हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण, फरवरी १९[illegible]२
३०००

मूल्य—अट्ठाइस रुपए पचास पैसे मात्र

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना–३

मुद्रक :
बिहार प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

समर्पण

बिहार विधान सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष

एवं

महान मानवतावादी

आदरणीय डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु जी

को श्रद्धा के साथ

शिवरात्रि,'

१३ फरवरी, १९[illegible]२ ई० — वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा



लेखक

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं के विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायतशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'विश्व के महान शिक्षाशास्त्री' डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसमें लगभग ४० शिक्षाशास्त्रियों के शिक्षा-जगत् में किए गए कार्यों तथा उनकी विचारधाराओं का विवेचन किया गया है। शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ अत्यंत महत्त्व का है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

पटना
दिनांक २४ फरवरी, ७२

नया सचिवालय,
शिक्षा-विभाग,
पटना

भूमिका

राष्ट्रभाषा हिंदी में शिक्षाशास्त्रविषयक पुस्तकों की बड़ी कमी है। फिर भी, जो सामान्य प्रकाशक तथा सरकारी, अर्द्ध-सरकारी एवं स्वायत्तशासी प्रकाशन-संस्थान उक्त कमी को पूरा करने के निमित्त प्रशंसनीय प्रयास कर रहे हैं, उनमें बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अकादमी ने 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' पुस्तक का प्रकाशन कर राष्ट्रभाषा हिंदी के पाठकों की सचमुच बड़ी सेवा की है ; क्योंकि विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री हमारे राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण एवं अनुशासनप्रिय व्यक्तित्व की सृष्टि के प्रेरणास्रोत रहे हैं।

भारतीय शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थानों में, हिंदी में पुस्तकों के अभाव रहने के कारण, शिक्षाशास्त्र के विषय को अधिकांशतः विदेशी भाषाओं के माध्यम से पढ़ाया जाता रहा है। हमारे राष्ट्रचिंतकों का यह अनुभव है कि विदेशी भाषा के माध्यम से सच्ची शिक्षा असंभव है। इससे छात्रों का मनोबल तो गिरता ही है, वे अपने ही देश में अपने को परदेशी के समान समझने लगते हैं। इसलिए स्वस्थ मानसिक विकास तथा नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन के निमित्त अपने देश की भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना अनिवार्य है। और, हम इस उद्देश्य में तभी सफल हो सकते हैं, जब राष्ट्रभाषा हिंदी में अधिकाधिक पाठ्यग्रंथ सुलभ हों। बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी ने हिंदी में पाश्चात्य एवं भारतीय शिक्षाशास्त्रियों की विचारधाराओं का परिज्ञान करानेवाली डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा, एम० ए०, एम० एड०, बी० एल०, पी-एच० डी० की प्रस्तुत शिक्षाशास्त्रीय पुस्तक 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' का प्रकाशन करके अपने स्वीकृत संकल्प को कार्यान्वित किया है।

इस पुस्तक के यशस्वी लेखक डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा, हम सबकी प्रशंसा के पात्र हैं कि इन्होंने बड़े परिश्रम से विश्व के विशिष्ट शिक्षाशास्त्रियों के परिचय, उनके शिक्षाविषयक सैद्धांतिक विचारों एवं व्यावहारिक प्रयोगों का व्युत्पन्नता के

साथ, सरल-सजीव भाषा में विवेचन किया है। यह पुस्तक एक साथ लगभग चालीस शिक्षाशास्त्रियों के उन्नतम जीवन तथा उनके शिक्षाशास्त्र पर समुन्नत विचारों एवं सिद्धांतों से हमारा परिचय कराती है। इनमें मोसेस, सोलन, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, मार्टिन लूथर, वेकन, कॉमेनियस, लॉक, रूसो, हरबार्ट, फ्रोवेल, हरवर्ट स्पेंसर, मांटेसरी-जैसे पाश्चात्य एवं स्वामी दयानंद, लोकमान्य तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, स्वामी श्रद्धानंद, अरविंद घोष, डॉ० राधाकृष्णन्, संत विनोवा भावे और डॉ० जाकिर हुसैन-जैसे भारतीय चिंतनशील विचारकों के नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं।

विचारवान् लेखक ने एकमात्र श्रेष्ठ कोटि की उचित योजनावद्ध शिक्षा को ही भारतीय जनजीवन की उन्नति का उद्गम-स्रोत माना है। निस्संदेह इसके अभाव में हम कभी प्रगतिशील नहीं वन पाएँगे। उचित शिक्षा राष्ट्रीय जीवन की वस्तुतः आधारशिला होती है। इस स्थल पर मैं भी स्वामी विवेकानंद के उन शब्दों से सहमति प्रकट करता हूँ, जिन्हें डॉ० वर्मा ने अपनी इस पुस्तक के पृष्ठ चार सौ चालीस पर व्यक्त किया है—"देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमूह में शिक्षा तथा वुद्धि का प्रसार होता है।" हम सभी लोगों को अब इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कटिवद्ध होना है।

अपने प्रशासनिक कार्यों को क्षमतापूर्वक संपादित करते हुए 'शिक्षाशास्त्र' पर इस वृहत् पुस्तक की रचना कर डॉ० वर्मा ने अपने चरित्र, प्रतिभा, ज्ञान, अनुभव और अध्यवसाय का एक सुंदर सामंजस्य प्रदर्शित किया है। इस शिक्षा-मनीषी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

सत्यनारायण मिश्र
निदेशक,
प्रशासन-सह-उपसचिव, शिक्षा-विभाग, विहार-सरकार,
पटना

पटना,
गणतंत्र दिवस, १९७२

सम्मति

शिक्षक शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान,
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-१६

डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा एम० ए०, एम० एड०, बी० एल०, पी-एच० डी० की पुस्तक 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' को देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इस ग्रंथ से बी० एड० और एम० एड० के छात्र-छात्राओं का बहुत हित होगा; क्योंकि उन्हें उन शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का ज्ञान होगा, जिनके आधार पर वे अपने विचार बना कर प्रतिदिन के कार्यक्रम में प्रयोग करेंगे। इस विशिष्ट बौद्धिक कार्य के लिए डॉ० वर्मा को मेरी ओर से बहुत-बहुत बधाइयाँ हैं।

यहाँ विश्व के महान् युगपुरुषों, दार्शनिकों, धार्मिक-राजनीतिक नेताओं तथा शिक्षाविदों के भावपूर्ण शैक्षणिक विचार, सिद्धांत और प्रयोगों को ओजस्वी ढंग से सुगम हिंदी भाषा में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। संपूर्ण पुस्तक छोटे-बड़े उनचालीस अध्यायों में विभक्त है। ये सभी अध्याय शोधपूर्ण विचार के साथ लिखे गए हैं। भाव और भाषा की एकरूपता का सुंदर सामंजस्य विद्वान लेखक ने सफलतापूर्वक किया है।

'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' अपने प्रकार की एक अनोखी पुस्तक है। डॉ० वर्मा को मैं पुनः हार्दिक बधाई देती हूँ।

बसंतपंचमी
तिथि २१-१-७२

श्रीमती सत्यप्रिया गुप्ता
(एन० सी० ई० आर० टी०)

सम्मति

डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा की पुस्तक 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' को प्रकाशित देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

शिक्ष-मनीषियों की वैचारिकी के आधार पर ही तो हम अपने उस उचित लक्ष्य का निर्धारण और संवर्द्धन कर सकेंगे, जिससे गणतंत्र भारत की आधारशिला सुदृढ़ होगी, साथ-ही-साथ शिक्षा के विस्तरण और विवर्द्धन में भी हमें सहायता मिलेगी।

डॉ० वर्मा ने अपनी इस पुस्तक में देश-विदेश के विभिन्न शिक्षा-मतावलंवियों के तत्संवंधी सिद्धांतों एवं प्रत्ययों पर व्यापक एवं विशिष्ट रूप से विचार कर इस लक्ष्य को सफलतापूर्वक अभिव्यंजित एवं मूर्त्त किया है। विद्वान लेखक ने विपय की गहराई में प्रवेश कर अपने तथ्यपूर्ण एवं विवेचनात्मक विचारों द्वारा प्रस्तुत पुस्तक को पूर्ण प्रामाणिक वनाया है। टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज से संवद्ध व्यक्तियों के लिए यह एक 'निर्देश ग्रंथ' के सदृश है।

डॉ० के० के० दत्त

भूतपूर्व उपकुलपति, मगध विश्वविद्यालय, गया

और पटना विश्वविद्यालय

महाशिवरात्रि

तिथि १३ फरवरी, १९७२ ई०

सम्मति

'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' पुस्तक के प्रणयन में विद्वान लेखक डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा ने लगन, अध्यवसाय और शिक्षाप्रेम का सुंदर परिचय दिया है। इसमें अपने देश के शिक्षाशास्त्रियों को समुचित स्थान दिया गया है। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक ट्रेनिंग कॉलेज के शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

पटना
२६ जनवरी, १६७२

डॉ० रामशरण शर्मा
जवाहरलाल नेहरू फेलो
युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना-५.

सम्मति

डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा एम० ए०, एम० एड०, बी० एल०, पी-एच० डी० लिखित ग्रंथ 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' को पढ़ कर अत्यंत हर्ष हुआ। प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक पाश्चात्य तथा भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक विचारों पर यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

डॉ० वर्मा ने इस ग्रंथ में शिक्षा-संबंधी अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों को सरल और सुबोध ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है।

इस सत्कार्य के लिए डॉ० वर्मा को मैं धन्यवाद देता हूँ। भविष्य में भी ये अपने लेखन और अध्ययन-मनन में पूर्णतः सक्रिय बने रहेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

डॉ० बेचन झा
एम० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य
युनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

महाशिवरात्रि
तिथि १३ फरवरी, १९७२ ई०

सम्मति

अपने प्रिय शिष्य डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा की पुस्तक 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' को देखा। हर्ष का विषय है कि श्री वर्मा ने अपनी इस पुस्तक में शिक्षाशास्त्र के गूढ़ तत्त्वों की सम्यक् विवेचना की है।

पाश्चात्य और भारतीय उन महान् शिक्षाशास्त्रियों को जानने और समझने की आज बड़ी आवश्यकता है, जिन्होंने अपने विचारपूर्ण शैक्षिक सिद्धांतों के प्रतिपादन द्वारा हमारे कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर जीवन में एक नए मोड़ की सृष्टि की है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही डॉ० वर्मा ने अपनी इस पुस्तक में मोसेस, सोलन, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, लॉक, रूसो, पेस्टालॉजी, हरबार्ट और हरबर्ट स्पेंसर इत्यादि पाश्चात्य एवं दयानंद, तिलक, गांधी और श्रद्धानंद-जैसे श्रेष्ठ कोटि के चिंतनशील भारतीय विचारकों के शिक्षादर्शन की सांगोपांग विवेचना की है।

मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध होगी।

डॉ० वर्मा के कठिन परिश्रम और अध्यवसाय की मैं हार्दिक प्रशंसा करता हूँ।

डॉ० राजाराम सिंह
एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०
रीडर, स्नातकोत्तर, शिक्षा-विभाग,

पटना
२४-१-७२

सम्मति

डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा एम० ए०, एम० एड०, बी० एल, पी-एच० डी० लिखित पुस्तक 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' मैंने देखी। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर संभवतः हिंदी में पुस्तक नहीं है और इस दिशा में इनका प्रयास सचमुच स्तुत्य है। प्रशासनिक कार्यों में लगे रह कर भी ऐसे भव्य ग्रंथ की रचना कर डॉ० वर्मा ने अपनी विलक्षण कार्यक्षमता और अध्यवसाय का सुंदर परिचय दिया है।

इस पुस्तक में विश्व के महान् और सुप्रसिद्ध शिक्षामनीषियों के संबंध में ऐतिहासिक ढंग से विश्लेषण किया गया है। देश-विदेश के कुछ और भी सुप्रसिद्ध शिक्षामनीषियों पर विचार किया जाना चाहिए था, जो नहीं हो सका है।

इस कृति में शिक्षा के व्यापक प्रसार पर लेखक ने बहुत बल दिया है, जो भारत-जैसे अर्द्ध-शिक्षित देश के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस मर्म को समझ कर ही हम अपने गौरवमय गणतंत्र भारत को मजबूत बना सकेंगे। पुस्तक की भाषा सरल हिंदी है, जो मुझे अच्छी लगी। गूढ़ बातें, स्पष्ट रूप में लिखी गई हैं। शिक्षाप्रेमियों, जिनमें विशेषतः शिक्षार्थी और विद्यार्थी शामिल हैं, इस ग्रंथ से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे।

मेरी हार्दिक कामना है कि शिक्षा-मर्मज्ञ डॉ० वर्मा शिक्षा की प्रगति, प्रसार और पुस्तक-रचना में लगे रह कर दीर्घकाल तक साहित्य की सेवा करते रहें।

पटना
२४-१-१९७२

डॉ० राजाराम रस्तोगी

मदीया सम्मतिः

श्रीडाक्टरवैद्यनाथप्रसादवर्म्मणा कृतम् ।
शिक्षाशास्त्रविदां शिक्षासम्बन्धिमतसंग्रहम् ॥१॥

अपूर्वं राष्ट्रभाषायां छात्राणां च हितावहम् ।
दृष्ट्वा प्रसन्नगम्भीरमवापं परमां मुदम् ॥२॥

पाश्चात्यानां मतं पूर्वं, ततो भारतभूभुवाम् ।
शिक्षाशास्त्रविदामत्र, मतमस्ति प्रदर्शितम् ॥३॥

आङ्ग्लैरधिकृतेऽप्यत्र पारतन्त्र्यप्रपीडिते ।
भारते श्रीदयानन्दो जातः शिक्षाविदां वरः ॥४॥

स्वामिविवेकानन्दश्च रवीन्द्रो गान्धिरेव च ।
निबन्धस्तन्मतोल्लेखादेष यातः सुचारुताम् ॥५॥

नैतादृशो मया पूर्वं निबन्धः क्वाचिदीक्षितः ।
तेन मोदो महान् जातो ममाश्चर्यपुरस्सर : ॥६॥

ब्रह्मानन्दः
नवनालन्दामहाविहारे अनुसन्धान-प्राध्यापकः
नालन्दा, पटना

गणतन्त्र दिवसः, पटना
२६-१-७२

प्राक्कथन

गणतंत्र भारत की आधारशिला को सुदृढ़ बनाने के लिए ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ, अनुशासित एवं चिंतनशील नागरिकों की आवश्यकता है, जिनका नैतिक चरित्र ऊँचा हो, जिनमें उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति हो तथा जिनमें देश और राष्ट्र के प्रति पूर्ण आस्था निहित हो। दूसरे शब्दों में, हम कहेंगे कि राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक उन्नयन के लिए आज हम भारतीयों को आत्मानुशासित होकर, अपने आचार और विचार में समन्वय करते हुए, अपने चरित्र और व्यक्तित्व को विशेष रूप से प्रस्फुटित तथा उद्‌भासित करना है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी होगी, जब देश की नई पीढ़ी—'विद्यार्थी-वर्ग' का चतुर्मुख विकास होगा। परंतु, इस चतुर्मुख विकास के लिए हमें श्रेष्ठ कोटि की योजनाबद्ध आदर्श शिक्षा की व्यवस्था (बौद्धिक प्रशिक्षण) करनी पड़ेगी।

श्रेष्ठ कोटि की योजनाबद्ध आदर्श शिक्षा-व्यवस्था (शिक्षा-नीति एवं शिक्षण-प्रणाली) के लिए यह आवश्यक है कि हम देश-विदेश के शिक्षामनीषियों के विचारों, नीतियों तथा सिद्धांतों को जानें और उनका मनन करें। उनके जो विचार, नीति और सिद्धांत अपनी परिस्थिति के अनुकूल जँचें, अपनावें और अपने अवरुद्ध मार्ग को क्रमशः प्रशस्त करें। किंतु, इस स्थल पर हमें विशेष सतर्क और सुदृढ़ रहने की जरूरत है; क्योंकि, अपने शिक्षा-क्षेत्र में अभी संक्रमणकाल की स्थिति व्याप्त है। प्रयोग, परीक्षा और अनुभव के दिन अभी समाप्त नहीं हुए हैं। वर्त्तमान शिक्षा-व्यवस्था में आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुरूप सुधार के प्रयास किए जा रहे हैं तथा शिक्षा और शिक्षण-संबंधी प्रचलित मान्यताएँ परीक्षण की कसौटी पर हैं।

शैक्षिक कार्यों में संलग्न सभी व्यक्तियों (चाहे वे शिक्षक हों या प्रशासक) के समक्ष विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हैं। इनमें 'शिक्षा-संस्थाओं के आंतरिक गठन और प्रशासन की समस्या, परीक्षा के विधिवत् संचालन की समस्या, राष्ट्रभाषा और मातृभाषा हिंदी के शिक्षण की समस्या, 'बुनियादी तालीम के प्रति आस्था की समस्या और सार्वभौमिक शिक्षा-प्रसार की समस्या आदि आज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

ये समस्याएँ भारत के प्रत्येक नर-नारी के लिए विचारणीय हैं। परंतु, भावी भारतीय समाज के प्रमुख सूत्रधार शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं के प्रशिक्षणार्थियों को तो इन समस्यओं से अधिकाधिक परिचित होना है, तभी वे इनके समाधान में, सक्रिय एवं तत्पर हो सकेंगे। अतः, उक्त समस्याओं की जानकारी के लिए आवश्यक है कि वे विश्व के महान् शिक्षाशास्त्रियों के द्वारा इन समस्याओं पर प्रकट किए गए उनके मूल्यवान् विचारों का अनुशीलन करें।

शिक्षा और शिक्षण की इन मूलभूत बातों की पृष्ठभूमि में ही मैंने प्रस्तुत ग्रंथ 'विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री' की रचना की है। उन महान् शिक्षाविदों की मौलिक शिक्षा-नीतियों एवं सिद्धांतों के संबंध में प्रकाश डालने का मेरा एक प्रयास अवश्य हुआ है। इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो सुधी पाठक ही करेंगे। देश-विदेश के कतिपय सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, जिनकी इस क्षेत्र में मौलिक देन हैं, मेरी इस पुस्तक में चर्चित नहीं हो पाए हैं। संभव हुआ, तो दूसरे संस्करण में उन्हें यथास्थान प्रतिष्ठित किया जाएगा।

मैंने अपनी इस पुस्तक को विशेषतः 'शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं' के प्रशिक्षणार्थियों के हित को ध्यान में रख कर ही अधिकाधिक सरल, रुचिपूर्ण और उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। श्रेष्ठ कोटि की योजनाबद्ध आदर्श शिक्षा के संगठन एवं प्रसारण हेतु प्रशिक्षणार्थी-वृंद ही प्रबल माध्यम हैं। इनकी ग्राहिका शक्ति पर ही शैक्षिक सिद्धांतों की सफलता आश्रित है। इसीलिए, प्रस्तुत पुस्तक के कतिपय अध्यायों में, कई बिंदुविशेष पर, उन शिक्षाशास्त्रियों की प्रकाशित जीवनी, भाषण, लेख अथवा रिपोर्ट आदि के मार्मिक अंश भी मैंने दे दिए हैं। साथ ही, अपनी भी विनम्र संमति मैंने वहाँ दी है। वस्तुतः, ऐसा इसलिए किया गया है कि उन युग-पुरुषों के तपोमय, कर्मठ जीवन (जीवन-दर्शन) तथा उनकी व्यापक और मौलिक शिक्षा-योजना (शिक्षा-दर्शन) की उल्लेखनीय विशेषताएँ विशद् रूप से प्रकाश में आ सकें। इसके अतिरिक्त इससे एक लाभ यह भी दृष्टिगत होगा कि प्रासंगिक विषय विशेष प्रामाणिकता और स्पष्टता के साथ उभर कर सामने आया है।

स्वीकृत संदर्भ के विवेचन में मैंने एक उदारवादी एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण का ही सहारा लिया है, ताकि सुजन पाठकों की अनुकूल भावनाओं को सतत् संपोषण उपलब्ध हो।

द्वितीय खंड के कतिपय अध्याय पाठकों को अवश्य ही लंबे मालूम पड़ेंगे। परंतु भारत की गौरवोज्ज्वल परंपरा और भव्य अतीत के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अपने देश के शिक्षाशास्त्रियों पर अधिक लिखा जाना आवश्यक था। कहना न होगा कि हमारे

शिक्षाशास्त्री भारतीय संस्कृति, धर्म, शिक्षा के आधारस्तंभ हैं। यहाँ की जलवायु और मिट्टी के अनुकूल उन्होंने मात्र सोचा-विचारा ही नहीं है, अपितु उसे मूर्त रूप भी दिया है। निःसंदेह, उनके शैक्षिक विचारों के मूर्त रूप भारतीय जनजीवन के विशेष सन्निकट हैं। सन्निकट व्यक्तियों के संबंध में जानकारी स्वभावतः ज्यादा हो जाती है। यही नहीं, हमारी समस्याओं के समाधान में भी सर्वप्रथम वे ही उपस्थित होते हैं।

अपने परमपूज्य ज्येष्ठ भ्राता डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा एम० ए० (पटना), एम० ए० (कोलंबिया), पी-एच० डी० (शिकागो), अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान स्नातकोत्तर विभाग और संचालक, जनप्रशासन संस्थान, पटना विश्वविद्यालय के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने श्रेष्ठ कोटि के बौद्धिक कार्य करने के लिए मुझे सर्वदा प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया है। उनके कर्मठ, तपोमय, सरल जीवन, जिस पर महान् आदर्शों की प्रबल छाप है, की प्रेरणा भी स्वतः एक सारस्वत सरिता की वेगवती धारा है। बहुसंख्यक विद्यार्थी उनके साधनाशील जीवन के पुण्यमय सान्निध्य में मेधा और शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ। अतएव, श्रद्धेय अग्रज का मैं आजीवन ऋणी हूँ।

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के मनीषी सचिव श्रद्धेय डॉ० शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, डी० लिट्० का मैं अतिशय आभारी और ऋणी हूँ। प्रस्तुत ग्रंथ उनकी प्रशासनकुशलता तथा कार्यतत्परता का ही मंजुल अवदान है। मुझे पूजास्पद डॉ० शिवनंदन प्रसाद जी का अंतेवासी होने का भी गौरव प्राप्त है। उनकी कृपा मेरे ऊपर सदैव रही है।

श्रीयुत् सत्यनारायण मिश्र (निदेशक, प्रशासन-सह-उपसचिव, शिक्षा-विभाग, बिहार सरकार, पटना) ने मेरी इस पुस्तक की भूमिका लिख कर तथा प्रो० श्रीमती सत्यप्रिया गुप्ता (राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान, नई दिल्ली), डॉ० के० के० दत्त (भूतपूर्व वाइस-चांसलर, मगध एवं पटना विश्वविद्यालय), श्रीयुत् जयकांत मिश्र (संपादक, आर्यावर्त्त, पटना), श्रीयुत् देवनारायण सिंह (प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कॉलेज, पटना), श्रीयुत् अतुल प्रसाद सिंह (उपशिक्षा-निदेशक, शिक्षा-विभाग, बिहार), डॉ० रामशरण शर्मा (युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय), डॉ० वेचन झा (युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय), डॉ० राजाराम सिंह (रीडर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय), प्रो० श्रीयुत् ब्रह्मानंद (अनुसंधान प्राध्यापक, नालंदा महाविद्यालय, नालंदा) ने अपनी संमति प्रदान कर जो मुझे उपकृत किया है, उसके लिए मैं इन

श्रद्धेय सुहृदवरों और शुभाशंसियों का अत्यंत ऋणी हूँ। यह मात्र उनकी महानता और वड़प्पन ही है।

डॉ० आर० पी० सिंह (रीडर, राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान, नई दिल्ली), श्रीमती शांति उपाध्याय (प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कॉलेज, तुर्की, मुजफ्फरपुर), श्रीयुत रमेशानंद (सचिव, माध्यमिक शिक्षा-पर्षद्, विहार, पटना), श्रीयुत् राधाकृष्ण प्रसाद (प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कॉलेज, भागलपुर), प्रो० श्रीयुत् मुनेश्वर प्रसाद (शिक्षा-संस्थान, विहार, पटना) प्रो० श्रीयुत् चंद्रशेखर प्रसाद सिंह (शिक्षा-संस्थान, विहार, पटना), प्रो० श्रीयुत् सिद्धेश्वरधारी सिंह (अंगरेजी शिक्षा-संस्थान, विहार, पटना), श्रीयुत् डी० एन० मिश्र (समायोजक, प्रसार सेवा विभाग, ट्रेनिंग कॉलेज, पटना) जैसे श्रद्धेय गुरुजनों के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस ग्रंथ के प्रणयन हेतु अपना महत्त्वपूर्ण सुझाव दे कर प्रेरित ही नहीं किया है, अपितु विभिन्न प्रकार से मेरी बड़ी सहायता भी की है।

अपने परम हितैषी श्रीयुत् कृष्णदत्त झा (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सहरसा कॉलेज, सहरसा), श्रीयुत् व्रजकिशोर भास्कर (मुख्य उप-संपादक, आर्यावर्त्त पटना), महापंडित श्रीयुत् रामानंद जी शास्त्री ज्योतिषाचार्य (आनंद ग्राम, सिवान, सारन) के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपनी पवित्र शुभकामनाओं से मुझे ऐसे बौद्धिक कार्य के हेतु सर्वदा उद्योजित किया है।

प्रो० श्री राधारमण (एडवोकेट, (हाईकोर्ट, पटना), श्री मुंद्रिका प्रसाद (नियोजन संपर्क पदाधिकारी, पटना), श्री जानकीवल्लभ नारायण सिंह (व्यावसायिक मार्ग दर्शन पदाधिकारी, पटना), श्री रंजन सूरिदेव (विहार राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना), श्री जानकीजीवन प्रसाद (पत्रकार नगर, पटना-१६), प्रो० डॉ० अरुणकुमार भट्ट (इलाहाबाद), श्री रामजी प्रसाद सिन्हा (ग्राम-अपहर, जिला सारन), श्री विपिन विहारी वर्मा (जन प्रशासन-संस्थान, पटना युनिवर्सिटी, पटना-५), श्री मदनमोहन सहाय (श्री रमा निकेतन, कदमकुआँ, पटना-३) जैसे इष्टमित्रों और प्रिय वंधुओं के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होंने भ्रातृवत् स्नेह में इस पुस्तक-लेखन-कार्य हेतु मुझे सर्वदा प्रोत्साहित किया है।

अपनी सहधर्मिणी श्रीमती माधुरी वर्मा एम० ए० (दर्शनशास्त्र), बी० एड०, व्याख्याता, महिला प्राथमिक शिक्षक-शिक्षा-महाविद्यालय, मोकामा, पटना

को भी हार्दिक धन्यवाद है, जिन्होंने इस पुस्तक के अनेक स्थलों पर अपना उपयुक्त सुझाव दे कर मेरी बड़ी मदद की है।

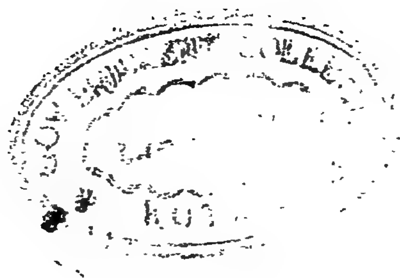
वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा

परशुराम स्थान
मोकामा,
महाशिवरात्रि
तिथि १३-२-७२

विषय-सूची

प्रथम खंड

द्वितीय खंड



प्रथम खंड

महात्मा मोसेस

यहूदी जन-जाति के प्राण महात्मा मोसेस महात्मा बुद्ध, महर्षि स्वामी दयानंद और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के समान महान् थे। अपनी मौलिक चिंतन-धारा एवं गहन विचारशील प्रवृत्तियों के आधार पर यहूदी जाति के संरक्षण एवं उद्धार के लिए उन्होंने वही कार्य किया, जो हिंदू जाति और उसकी संस्कृति के संरक्षण एवं उद्धार के लिए महात्मा बुद्ध, महर्षि स्वामी दयानंद और स्वामी रामतीर्थ ने किया। मोसेस ने यहूदियों के लिए सामाजिक जीवन की रचना की। उन्होंने उनके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक और धार्मिक कानून बनाए। वे कानून सर्वथा बोधगम्य एवं पठनीय हैं। मोसेस वस्तुतः यहूदी समाज के वैधानिक व्यवस्थापक थे। उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा-संबंधी नियम भी बहुत उपयोगी और समयानुकूल थे। उनके शैक्षणिक विचार आज भी महत्त्वपूर्ण हैं।

यहूदी बाइबिल के द्वितीय भाग नूतन सुसमाचार या न्यू टेस्टामेंट (New Testament) में महात्मा मोसेस की कथा आती है। महात्मा मोसेस हजरत मूसा के सुप्रसिद्ध नाम से हमलोगों के समाज में प्रसिद्ध हैं।

१६०० ई० पूर्व के उत्तरार्द्ध में मिस्र में क्रांति हुई। इस क्रांति में सम्राट् फराओ सत्तारूढ़ होने में पुनः समर्थ हो गया। सम्राट् फराओ ने गद्दी पर बैठते ही यहूदियों पर अत्याचार प्रारंभ कर दिया। मिस्र के सभी यहूदी गुलाम घोषित कर दिए गए तथा उन पर विभिन्न प्रकार की सख्तियाँ बरती जाने लगीं। यहूदियों पर कड़ा पहरा रहता था, उन्हें मिस्र से बाहर जाने की भी अनुमति नहीं थी। इस अत्याचार का रूप कितना विकराल था, वह सम्राट् फराओ की इस आज्ञा से सहज अनुमान किया जा सकता है, जब उसने कहा था कि "प्रत्येक यहूदी स्त्री के गर्भ से यदि लड़की उत्पन्न हो तो छोड़ दी जाए, परंतु लड़का उत्पन्न हो, तो कत्ल कर दिया जाए।" मिस्र के प्रसिद्ध पिरामिड इन यहूदी गुलामों के कठिन परिश्रम द्वारा ही बनवाए गए हैं। मूल मिस्रवासियों द्वारा यहूदियों पर इस अत्याचार का प्रमुख

कारण था यह कि मिस्र में प्रायः पाँच शताब्दी तक रहने के बावजूद ह्किकास (Hykaos) जाति द्वारा मिस्र पर जब बाहरी आक्रमण हुआ, तो यहूदी जाति ने मिस्रवासियों के विरुद्ध ह्किकास जाति का पक्ष लिया था। विजयी ह्किकास जाति द्वारा तब यहूदियों को विशेष सुविधा मिलने लगी, परंतु शीघ्र समय-चक्र परिवर्तित हुआ और सम्राट् फराओ गद्दी पर आसीन हुआ।

इसी समय मोसेस का जन्म हुआ। मोसेस की माता ने तीन महीने तक तो इन्हें छिपाए रखा, अंत में उनको एक टोकरी में डाल कर नदी किनारे रख दिया। उनकी मौसी उस स्थान पर यह देखने के लिए खड़ी थी कि कौन व्यक्ति उन्हें उठा कर ले जाता है। इसी समय सम्राट् फराओ की लड़की नदी किनारे स्नान करने आई तथा बच्चे को उठा कर ले गई। मोसेस की मौसी तब सम्राट्-कन्या के निकट गई और उसने पूछा कि "कहिए तो किसी धाई को बुला लाऊँ?" उसने उसकी बातों का समर्थन किया। मोसेस की मौसी शीघ्र ही मोसेस की माँ को बुला लाई। इस प्रकार शाही महल में ही मोसेस का उनकी माता द्वारा पालन-पोषण होने लगा, जब कि दूसरी ओर सम्राट् फराओ यहूदियों के सर्वनाश के प्रयत्न में लगा हुआ था। मोसेस क्रमशः सयाना हुए। यहूदियों पर हो रहे अत्याचार उन्हें असह्य होने लगे। उस समय किसी यहूदी को मार डालना कोई अपराध नहीं था, परंतु किसी मिस्रवासी की हत्या अक्षम्य थी। एक दिन मोसेस ने एक यहूदी को पिटते देख, मारने वाले मिस्रवासी की हत्या कर डाली तथा शव को एक झाड़ी में छिपा दिया। उन्होंने सोचा कि उनके इस कार्य को किसी ने नहीं देखा है। परंतु, यह भेद छिपा नहीं रह सका। पकड़े जाने के भय से मोसेस को मीडिया भागना पड़ा। मीडिया में अपने भाइयों के अत्याचार से वे बहुत दुःखी हुए। इसी समय यहूदी जाति के प्रधान और आदिदेव जेहोवा ने उनको संबोधित करते हुए कहा—"मैं तेरा पितामह या परमेश्वर हूँ। अब्राहम, जेकब, आइजक की रक्षा करने वाला हूँ। अब मैं इजिप्ट में हो रहे यहूदियों पर अत्याचार से उद्धार के लिए उतरा हूँ। अब मैं उन्हें पुनः कनाल ले जाऊँगा, जहाँ दूध और शहद की नदियाँ बहती हैं।" इस घटना से मोसेस को प्रबल शक्ति उत्पन्न हुई तथा वे पुनः मिस्र पहुँचे और उन्होंने क्रांति का झंडा खड़ा किया। वे, मिस्री सेना के पीछा करने के बावजूद, यहूदियों को मिस्र के बाहर निकाल लाने में समर्थ हुए। भागे हुए यहूदी मीडिया देश में आ बसे। मीडिया में मोसेस ने अपनी शादी की। उनको एक दिन यहाँ पुनः ईश्वर के दर्शन हुए। उनको ईश्वर ने एक करामाती लाठी दी तथा यहूदियों के उद्धार का आदेश दिया। इस प्राप्त शक्ति के फलस्वरूप वे यहूदियों को लालसागर के पूर्व की ओर लाने में समर्थ हुए। सिनाई पर्वत पर उनको पुनः भगवान के साक्षात्कार हुए। भगवान ने उनको

इस बार यहूदियों के कर्त्तव्य और न्याय का आदेश दिया। ये ईश्वरी आदेश मोसेस की पुस्तक 'एकसोडस' के बीसवें अध्याय में वर्णित हैं। मोसेस ने इन्हीं आदेशों का प्रचार किया है। प्रायः पाँच सौ वर्षों पश्चात् यहूदी पुनः फिलस्तीन लौट कर आए। इस समय यहाँ की दशा में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। यहाँ यहूदियों को जहाँ जगह मिली, बस गए। महात्मा मोसेस १२० वर्ष की आयु में जोशुआ को अपना धार्मिक उत्तराधिकारी बना कर दिवंगत हुए।

मोसेस के शिक्षा-दर्शन का प्रथम उद्देश्य था—सरल जीवन एवं उच्च विचार (Simple living and high Thinking)। यहूदी जाति की अत्यधिक उन्नति का मुख्य कारण है कि उन्होंने सरल जीवन एवं उच्च विचार के सिद्धांत को अपने जीवन में धारण किया। महर्षि स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी-जैसे महापुरुषों ने भी मानव-जीवन के लिए 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकेगी, जब वहाँ के नागरिकों का विचार उच्च होगा। विचारों की उच्चता के पश्चात् ही मनुष्य में मानवोचित गुणों का आविर्भाव होता है, श्रेष्ठता के लक्षण आते हैं तथा वे शक्तियाँ उसके अंदर प्रादुर्भूत होती हैं, जिनके सहारे वह अपना ही नहीं अपितु अपने समाज, राष्ट्र और विश्व तक का कल्याण करता है। जीवन में सरलता के आविर्भाव के पश्चात् ही उच्च विचारों की ओर हम उन्मुख होते हैं। अतः, श्रेष्ठ मनुष्य का लक्षण है कि वह 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के सिद्धांत को धारण करे। प्राचीन एथेंस के नगर राज्य के निवासियों का जीवन अत्यंत सरल था, फलतः उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध उन्नति की।

महात्मा मोसेस शिक्षा में धर्म की प्रधानता स्वीकार करते थे। उनका स्वतः व्यक्तिगत जीवन विशेष धार्मिक था। उनको अपने में विशेष अवसरों पर किसी अलौकिक सत्ता की सहायता भी उपलब्ध हुई थी, जिसके प्रेरणास्वरूप वे यहूदी जाति के पुनरुद्धार में पूर्णतः सफल हुए थे। अतः, शिक्षा की जो रूपरेखा उन्होंने तत्कालीन यहूदी समाज के लिए निर्धारित की, उसमें धर्म और नैतिकता की प्रधानता स्वाभाविक थी।

मोसेस संपूर्ण संसार के आदिदेवता जेहोवा को दैवी शक्ति की अभिव्यक्ति मानते थे। उनका एवं समस्त यहूदी जाति का यह विश्वास था कि मनुष्य की सभी शक्तियाँ तथा जीवन के सभी नियम आदि ईश्वर-प्रदत्त हैं। उन्होंने दैनिक जीवन में भी नैतिकता को स्थान दिया। धार्मिक एवं नैतिक जीवन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किया गया था।

यहूदी समाज में धार्मिक एवं नैतिक जीवन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किया गया था। अतः, बालकों की प्रारंभिक अवस्था से ही इसकी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। यहूदियों की प्रारंभिक शिक्षा के विषयों में उन बातों का समावेश किया गया, जो विद्यार्थियों में धार्मिक भावना का विकास करते थे तथा ईश्वर से यह भय उत्पन्न करते थे। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा बच्चों की प्रगति में बड़ी सहायक थी। यहूदियों का सरल सात्विक जीवन, जिसमें धर्म और नैतिकता की भावना प्रबल होती थी, उन्नति और प्रगति की बातों को सोचने के लिए स्वतः प्रेरित करता था। आज भी यहूदी जाति की उन्नति और प्रगति का प्रमुख कारण है कि वे अपनी और अपनी जाति की उन्नति के लिए सदैव सचेष्ट बने रहते हैं। मोसेस की शिक्षा-नीति के फलस्वरूप उन्होंने अपने जीवन में सादगी के सिद्धांत को अपनाया तथा धार्मिक और नैतिक तत्त्वों का समावेश कर उसका आधार सुदृढ़ एवं पुष्ट किया।

शिक्षा में धार्मिक और नैतिक तत्त्वों के समावेश तथा इसकी प्रमुखता के कारण यहूदियों की सर्वांगीण प्रगति प्रारंभ हुई। उनका नैतिक तथा चारित्रिक विकास तो हुआ ही, उनमें सहयोग, संगठन, सामाजिकता तथा भ्रातृत्व-भावना का भी प्रस्फुटिकरण हुआ। पच्छिमी सभ्यता के इतिहास में सर्वप्रथम यहूदियों ने ही एक ईश्वर 'जेहोवा' की सत्ता स्वीकार की। इस धार्मिक श्रद्धा और ईश्वर-विश्वास की भावना के फलस्वरूप यहूदियों में विभिन्न सामाजिक गुणों का आविर्भाव हुआ, जो उनकी भावी उन्नति में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

महात्मा मोसेस की शिक्षा में केवल धार्मिक एवं नैतिक तत्त्व ही नहीं, अपितु व्यावहारिक तत्त्व भी वर्त्तमान थे। उनकी शिक्षा पूर्णतः व्यावहारिक थी। वे जीवन को उपयोगी बनाना चाहते थे, केवल सैद्धांतिक नहीं। वे धर्म का मर्म जीवन में उतारना चाहते थे। अतः, यहूदियों के लिए उन्होंने वैसी शिक्षा की व्यवस्था की, जिसमें यहूदियों का जीवन पूर्णतः सफल हो। वे पराक्रमी नहीं हों, अपितु सच्चे रूप में एक दिन स्वतंत्र नागरिक के गुणों से युक्त होकर सुखी और सफल जीवन व्यतीत कर सकें। अतः, उन्होंने शिक्षा में सीखने के साथ कार्य करने का (Learning by doing) भी महत्त्व प्रदान किया। कार्य करते हुए बच्चे ज्ञान ग्रहण करें। शिक्षा के इस उपयोगी माध्यम के फलस्वरूप ही यहूदी आज भी विश्व में इतने उन्नतशील बने हुए हैं। 'कार्य की आधारभित्ति पर बालक ज्ञान की उपलब्धि करें', 'किसी काम को माध्यम बना कर वे सीखें' मोसेस की यह कल्पना कितनी मनोवैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण है! एक धार्मिक विचारक होते हुए भी शिक्षा-जगत के लिए उनकी यह अनोखी सूझ आज भी हमारे लिए सर्वथा स्तुत्य है; क्योंकि यह परम उपयोगी और समयानुकूल है। शिक्षा पुस्तकीय नहीं—शिक्षा व्यावहारिक हो, शिक्षा

सिद्धांतमूलक नहीं अपितु वस्तुमूलक हो, शिक्षा हमारे जीवन की समस्याओं से संवद्ध हो, शिक्षा उपयोगी हो केवल वौद्धिक नहीं आदि सिद्धांतों की कल्पना १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में यथार्थवादी विचारकों एव शिक्षाशास्त्रियों द्वारा हुई। फ्रांसिस वेकन, जॉन लॉक, कॉमेनियस, रॉवेल, रॉट्के, मिल्टन, मॉन्टेन, मुलकास्टर, हरवर्ट स्पेंसर, हक्सले-जैसे विश्व के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों ने कार्य द्वारा सीखने के सिद्धांत का समर्थन किया है। 'क्रिया के आधार पर प्रशिक्षण' और 'कार्य करके सीखना', यथार्थवादी शिक्षा की विशेषता है। यथार्थवादी शिक्षाशास्त्री इस तथ्य में विश्वास करते हैं कि वालक कार्य-प्रणाली का आश्रय ले कर अपनी शिक्षा, अनुभव के आधार पर ग्रहण करें। एथेंस के नगर राज्य में जनतंत्र की प्राणदायिनी शक्ति का वीजवपन करने वाले विश्व के प्रमुख शिक्षाशास्त्री महात्मा सोलेन, भारतीय शिक्षा के इतिहास में वुनियादी तालीम के अधिष्ठाता महात्मा गांधी तथा शिक्षा में मनोविज्ञान तथा सामाजिक पक्ष के पोषक डॉ० जॉन डिवी कार्य के आधार पर वालकों को शिक्षित करने की सिफारिश करते हैं। रोमी शिक्षा में भी 'करके सीखने' की पद्धति को प्रमुखता प्रदान की गई है। अरस्तू की शिक्षा-पद्धति का आधार 'अनुभव' था। वेकन का विचार था कि ज्ञान अनुभव का परिणाम है। ज्ञान की उपलब्धि अनुभव ही हो सकती है। अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान विशेष स्थायी एवं हितकारी होता है। लॉक इसका पूर्ण समर्थक था कि ज्ञान अनुभव द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए। परंतु, सर्वप्रथम महात्मा मोसेस ही ऐसे व्यक्ति मालूम पड़ते हैं, जिन्होंने 'कार्य द्वारा जानने' अथवा 'अनुभव द्वारा ज्ञान ग्रहण करने' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। शिक्षा-जगत को अपनी इस वहुमूल्य देन के फलस्वरूप वे सर्वदा और सर्वथा वंदनीय हैं।

यहूदियों के यहाँ एक नियम है, जिसे वे 'मिशना' (Mishnah) कहते हैं। इस नियम के अनुसार केवल शिक्षा ग्रहण करना ही आवश्यक नहीं है, अपितु कार्य करने की क्षमता भी आवश्यक है, (Not learning but doing is the chief thing according to their oral law known as Mishnah— F. P. Graves)। इस प्रकार मोसेस द्वारा प्रदत्त यहूदी शिक्षा जीवन को उपयोगी वनाने के लिए उन वातों को सिखाना आवश्यक समझती थी, जिनके आधार पर जीवन की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें। मोसेस शिक्षा में व्यावसायिक प्रवृत्ति तथा व्यावसायिक सिद्धांतों के पूर्णतः समर्थक थे।

वर्त्तमान युग में भी व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता पूर्णतः स्वीकार की गई है। सभी आधुनिक शिक्षाशास्त्री और एतत्-संवंधी विचारवान् लेखक इस सिद्धांत के समर्थक हैं कि शिक्षा वैसी हो, जिससे वालक अपने भावी जीवन में किसी व्यवसाय को

अपना कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। बालक अर्थोपार्जन की असुविधा के कारण परमुखापेक्षिता तथा अहंमन्यता की संभावना के शिकार नहीं बने। भारतप्रसिद्ध संन्यासी विवेकानंद, भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा यूरोपीय देशों के प्रमुख शिक्षाशास्त्री हरबर्ट, स्पेंसर, रॉवेल और लॉक पेस्तालात्सी आदि ने दृढ़तापूर्वक व्यावसायिक शिक्षा के प्रचलन का समर्थन किया है। कितने आश्चर्य की बात है कि शताब्दियों-पूर्व महात्मा मोसेस ने व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता को समझा था तथा इसे यहूदी शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाने का आदेश दिया था।

महात्मा मोसेस ने यहूदी जाति की सर्वांगीण उन्नति, उनकी धार्मिक-नैतिक प्रगति तथा क्रियाशीलन की प्रवृत्ति के विकास के लिए यह आवश्यक समझा कि शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाए। शिक्षा ही किसी जाति की प्राण है, उसकी उन्नति एवं प्रगति का आधार है। यह वह अमोघ शक्ति है, जिसका प्रयोग कर वे विश्व-विजयी बनते हैं, अपनी सभ्यता-संस्कृति की रक्षा करते हैं तथा जगत में मान-सम्मान प्राप्त करते हैं। शिक्षा किसी जाति के नैसर्गिक गुणों के विकास हेतु महान् शक्ति है। शिक्षा के द्वारा ही कोई जाति जीवित रहने की क्षमता तथा शक्ति ग्रहण करती है। शिक्षा के अभाव में कोई भी प्रगतिशील समाज या समुन्नत राष्ट्र विनष्टता को प्राप्त होगा। मोसेस ने शिक्षा को अनिवार्य बनाकर अपने तत्कालीन यहूदी समाज के नागरिकों को ही नहीं, अपितु विश्व की भावी संतान का मार्ग प्रशस्त किया। शिक्षा को अनिवार्य तथा सार्वभौमिक बनाने के सिद्धांत का पोषण सोलहवीं शताब्दी से यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों द्वारा, जिसमें मार्टिन लूथर का नाम अग्रगण्य है, किया गया है। परंतु, शिक्षा को सार्वलौकिक रूप देने का यह बीज हमें यहूदी शिक्षा-प्रणाली में प्राप्त होता है, जिसके अधिष्ठाता और मूलस्रोत थे—महात्मा मोसेस।

महात्मा मोसेस ने परिवार की शैक्षणिक महत्ता को भी पूर्णतः समझा था, अतः यहूदी बालक की शिक्षा सर्वप्रथम घर पर ही प्रारंभ हो जाए, इसकी उन्होंने व्यवस्था की। चूंकि यहूदियों को सर्वदा कष्ट का सामना करना पड़ता था, विपत्तियाँ उनका पीछा नहीं छोड़ती थीं, अव्यवस्था और अस्थिरता के कारण अमनचैन, यहूदी जाति के लिए स्वप्नवत् हो गया था; क्योंकि राजनीतिक परिस्थिति के कारण उन्हें सर्वदा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश भागना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में मोसेस ने बहुत सोच-विचार कर, अपनी दूर-दृष्टि का परिचय देते हुए, अनिवार्य शिक्षा का सिद्धांत परिवार के साथ संबद्ध किया। यहूदी बालक की शिक्षा उसके परिवार में ही माता-पिता द्वारा प्रारंभ हो जाती थी। यहूदी माता-पिता दैनिक जीवन की आवश्यक बातों की शिक्षा अपनी बालक-बालिकाओं को दिया करते थे। वे अपने बालकों के शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास के दृष्टिकोण से व्यायाम, लिखना-पढ़ना,

दया, उपकार, अनुशासन, नृत्य, संगीत तथा जीवनोपयोगी अन्य बातों की शिक्षा की व्यवस्था स्वतः परिवार में करते थे।

महात्मा मोसेस के शैक्षणिक विचार और सिद्धांत प्राचीन होते हुए भी सर्वथा अर्वाचीन और नवीन हैं। उनमें मनोवैज्ञानिकता की पुट है। उन्होंने परिवार के शैक्षणिक महत्त्व को स्वीकार किया। परिवार के माध्यम द्वारा शिक्षा को अनिवार्य बनाने की चेष्टा की, धार्मिक, नैतिक तथा व्यावसायिक शिक्षा को मानव-जीवन के उन्नयन एवं प्रगति हितार्थ आवश्यक समझा तथा शिक्षा को क्रियाशीलन पद्धति का आधार माना। उनके ये शिक्षा-संबंधी समस्त विचार आज भी हमारे मार्ग-दर्शक हैं।

अध्याय २

महात्मा सोलन

प्राचीन एथेंस के महात्मा गांधी, सोलन को, यूनान के इतिहास में श्रेष्ठ कोटि का सम्मानजनक एवं मर्यादापूर्ण स्थान प्राप्त है। महात्मा सोलन ने एथेंसवासियों की सर्वांगीण उन्नति के लिए वही कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जो महात्मा गांधी ने भारत के लिए किया।

जनतंत्र के विकास और प्रगति में एथेंस ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वस्तुतः एथेंसवासियों द्वारा ही जनतंत्र की भूमिका तैयार की गई है। जनतंत्र के निर्माण, प्रसार एवं दृढ़ीकरण के लिए सोलन के सत्प्रयत्न से जनतंत्र का विकास हुआ एवं इसके द्वारा यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास में एक अध्याय का प्रारंभ हुआ। सोलन के सुकार्यों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए यही कहा जा सकता है कि सोलन ने एथेंस के लोगों को आशा दी, उन्हें यह बतलाया कि मानव-जीवन में सुख-शांति और उन्नति संभव है, परंतु इसके लिए परिश्रम और उद्योग करना पड़ेगा। अपने कर्त्तव्य के फलस्वरूप ही अपने इस लक्ष्य की उपलब्धि करने में सफल हो सकेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने शिक्षा का विधान किया। अपनी शिक्षा-योजना उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत की, जिससे नागरिकों के अंदर ऐसी सद्भावना उत्पन्न हो, उन्हें ऐसी प्रेरणा मिले कि ये मानव एवं मानव-समाज-हितार्थ कार्य करें। स्वतत्रता और स्वतंत्र वातावरण की पवित्र विधि को पहचानें और स्वयं वास्तविक जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति की ओर प्रगतिशील बनें। सचमुच महात्मा सोलन ने एथेंस-वासियों को ही नहीं, अपितु अपने आगे आने वाली पीढ़ी को अथवा कहें कि समस्त जाति के लिए एक शिक्षा-दर्शन ही नहीं, अपितु एक जीवन-दर्शन भी दिया, जो आज ढाई हजार वर्ष पश्चात् तक हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं, उनमें हमें आज नई ज्योति और नई प्रेरणा प्राप्त होती है।

किसी देश और समाज की उन्नति के लिए परिवार का संगठन और उत्कर्षण आवश्यक है तथा परिवार के संगठन और उत्कर्षण के लिए शिक्षा की व्यवस्था अपने वास्तविक रूप में वांछनीय है। सोलन परिवार के महत्त्व से पूर्णतः परिचित थे।

बालक प्रौढ़ होने पर परिवार की मर्यादा आवश्यक एवं अवश्यंभावी रूप में बनाए रखें, उन्हें इसकी रक्षा हेतु अपनी महत्त्वपूर्ण वस्तु को भी न्योछावर करने में हिचकिचाहट नहीं हो, इसके लिए सोलन ने अपने शिक्षा-दर्शन में मार्ग-दर्शन और विधान किया। उनका विश्वास था कि एथेंस के समाज और यहाँ के जन-जीवन की उन्नति तभी संभव होगी, जब यहाँ के परिवार की रूपरेखा अक्षुण्ण रहेगी। सामाजिक नियमों की अवहेलना, अनुशासन एवं कर्त्तव्यपरायणता की कमी, स्वतंत्रता के महत्त्व का अभाव तभी उपस्थित होता है, जब परिवार में दुर्गुण आ जाते हैं। अतः, अपनी शिक्षा-योजना प्रस्तुत करते समय सोलन ने यह नियम बना दिया कि जो माता-पिता अपने बालक की शिक्षा का उचित प्रबंध नहीं करते, वे अपनी वृद्धावस्था में अपने पुत्र से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में सोलन ने माता-पिता को अर्थात् परिवार को बालकों की शिक्षा के लिए उत्तरदायी बनाया। सभी माता-पिता अपनी संतान की शिक्षा के लिए उद्यत हो गए। बालक की शिक्षा प्रथम सात वर्ष तक अपने परिवार में ही होती थी। जिन बालकों के माता-पिता गरीब होते थे तथा शिक्षा का खर्च नहीं जुटा सकते थे, उन्हें नौ वर्ष तक अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था कर इसे समाप्त करना पड़ता था। इस प्रकार नागरिकता की शिक्षा बच्चों के अपने परिवार में ही प्रारंभ हो जाती थी। परवर्त्ती युग के महान शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर ने भी बालक की शिक्षा में परिवार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वह परिवार को स्कूल की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। उनके विचार से शिक्षा का क्षेत्र केवल स्कूल तक ही नहीं सीमित होना चाहिए, वास्तविक शिक्षा तो बालक को अपने परिवार में ही प्राप्त होती है। अतः, परिवार का सुगठन और सुनियोजन आवश्यक है। स्पार्टा में बालकों की शिक्षा का भार माता-पिता पर नहीं था। राज्य स्वयं उनकी शिक्षा का प्रबंध करता था। स्पार्टा में पारिवारिक जीवन को महत्त्व नहीं दिया गया, किंतु एथेंस में पारिवारिक जीवन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया। एथेंसवासी परिवार को बालक के व्यक्तित्व के विकास एवं निर्माण का प्रमुख साधन मानते थे। सोलन को इस श्रेष्ठ विधान के लिए अत्यधिक श्रेय प्राप्त है। परंतु, बालिकाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की।

सोलन ने व्यक्तित्व के महत्त्व को समझा था, अतः उन्होंने बालकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए भरपूर कोशिश की। शिक्षा बालकों के व्यक्तित्व को समुचित और सुगम रूप से विकसित करे इसके लिए उन्होंने शिक्षा-योजना का निर्माण किया। उनके कानूनों के अनुसार एथेंस के प्रत्येक बालक को पढ़ना तथा तैरना सीखना पड़ता था। एक एथेनियन तरुण नवयुवक को नियमपूर्वक व्यायामशाला में जाना होता

था, उसे वहाँ प्रौढ़ विद्वानों, अपने से बड़ों एवं समवयस्कों से विचार-विनिमय करना पड़ता था, जिससे उसकी मानसिक शक्ति एवं ज्ञान का विकास हो सके। विचार-विनिमय के समय सामाजिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक बातों का संबंध किया जाता था। इसके अतिरिक्त युवक बाजार, मार्ग, न्यायालय, नाट्य-गृह अन्य स्थानों में भी जाता था, जहाँ विचारों एवं भावाभिव्यंजना के आधार पर ज्ञान ग्रहण करता था तथा नागरिकता के गुणों से अपने को पूरित करता था। सोलन का विचार था कि प्रत्येक एथेंसवासी का व्यक्तित्व सर्वांगीण एवं परिष्कृत हो तथा वह नागरिकता के आवश्यक गुणों से पूर्णतः अवगत और संपन्न बने। बालक अपनी शारीरिक उन्नति के साथ-साथ बौद्धिक उन्नयन एवं चारित्रिक श्रेष्ठता के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का सृजन करें और प्रगतिशील बनें। इस स्थल पर हमें स्मरण रखना है कि सोलन की शिक्षा-व्यवस्था से एथेंस के अभिजात वर्ग को ही विशेष लाभ हुआ।

जनतंत्र के विकास के लिए आवश्यक है कि नागरिकों को न्याय के प्रति आस्था हो और उनका चरित्र पूर्णतः विकसित हो। इसके लिए भी सोलन ने सामाजिक नियमों का निर्माण किया, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण था। परंतु, इन उच्चादर्शों की पूर्ति शिक्षा के आधार पर ही होती थी। बालक एवं किशोर नवयुवकों के मस्तिष्क का विकास इस दृष्टिकोण से किया जाता था, ताकि जीवन में ये आदर्श उनके मार्ग-दर्शक तथा उम्र की एक विशेष अवस्था की प्राप्ति पर बालकों के विकास के लिए वे स्वतः अपने जीवन का एक आदर्श प्रस्तुत कर सकें।

सोलन दयावान, देशभक्त एवं जनसाधारण की भावनाओं को समझने वाले व्यक्ति थे। वह स्वतः एक अच्छे कवि थे। उनके द्वारा रचित कविताओं का जनसाधारण में बड़ा सम्मान और प्रचार था। वह व्यापारी भी थे। अपनी युवा अवस्था में वह व्यापार का व्यवसाय कर चुके थे। व्यापार के कार्यक्रम में वे भू-मध्यसागर आदि देशों में घूमे थे। देश-विदेश भ्रमण करके जिस ज्ञान की उपलब्धि मनुष्य करता है, इससे सोलन पूर्णतः परिचित थे। एथेंस के बालकों के लिए भी शिक्षा में उन्होंने तदनुकूल विधान किया। बालक देश-विदेश के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करें और विचारों एवं भावनाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की कड़ी का सुनिर्माण एवं वर्द्धन करे, ऐसा सोलन चाहते थे। एथेंस के तरुण ऐसा करते भी थे। यही कारण था कि स्पार्टा की तुलना में एथेन्स की सभ्यता और संस्कृति विशेष उन्नत थी। एथेनियन बालकों पर विशेष बंधन नहीं था, वे उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छंद भ्रमण करते थे तथा ज्ञानार्जन द्वारा अपनी और अपनी सभ्यता-संस्कृति का वर्द्धन करते थे। आजकल विद्यालयों में पाठ्य-क्रमेतर विषयों में 'पर्यटन' को बड़ा महत्व दिया जाता है। आधुनिक

शिक्षाशास्त्रियों का यही विचार है कि बालक एवं किशोर देश-विदेश का भ्रमण करें तथा उससे ज्ञानार्जन करें। पर्यटन के अवसर पर किशोरों का भावात्मक विकास होता है, उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव का अवसर प्राप्त होता है। सोलन का पर्यटन की ओर आकर्षण आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों से सर्वथा समतुल्यता स्थापित करता है।

प्राचीन यूनानी शिक्षा में करके सीखना और अनुभव प्राप्त करना शिक्षा-पद्धति के आवश्यक अंग थे। कोई विद्यार्थी दूसरे के अनुभव पर अपना ज्ञान नहीं आधारित करता था, अपितु वह स्वयं अनुभव ग्रहण करने का उपक्रम करता था। इस भावना के विकास के लिए सोलन को बहुत बड़ा श्रेय उपलब्ध है। वह एथेंस-वासियों को जीवन के समीप ले जाना चाहते थे। कार्य करके सीखना, अनुभव करके जानने, किशोरों को मानव-प्रवृत्ति की आंतरिक वृत्ति की गूढ़ और दुरूह पहलुओं को समझने और जानने योग्य बनाना है। बालक उसके समीप जाता है, संपर्क स्थापित करता है; अतः जीवन को समझने में सक्षम होता है। महात्मा गांधी की बुनियादी तालीम की आधारशिला 'करके सीखने' (Learning by doing) पर अवस्थित है। प्रायः सभी आधुनिक शिक्षाशास्त्री करके सीखने के सिद्धांत को पूर्णतया मान्यता प्रदान करते हैं। आज से हजारों वर्ष पहले सोलन की यह मनोवैज्ञानिक सूझ उनकी विलक्षण बुद्धि और दूरदर्शिता का परिचायक है।

सोलन द्वारा निर्धारित स्कूलों की रीतियों से संबंधित कतिपय नियम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। स्कूल कब खुलना चाहिए तथा कब बंद होना चाहिए, स्कूल में प्रवेश करने वाले छात्र की उम्र क्या होनी चाहिए, छात्रों को घर से स्कूल और घर पहुँचाने वाले कर्मचारियों, पेडागोग (Pedagogue) का चरित्र कैसा होना चाहिए, स्कूलों के अहाते में अनाधिकारी व्यक्तियों का प्रवेश नहीं होना चाहिए आदि बातें, इस संबंध में सोलन के बनाए नियम थे। बालकों के नैतिक हित की दृष्टि से, उनके नैतिक विकास के लिए ये नियम प्रचलित किए गए थे। सोलन के कानून के अनुसार स्कूल सूर्योदय से पहले तथा सूर्यास्त के बाद नहीं खुल सकता था। इससे स्पष्ट है कि बालक सूर्योदय होते ही स्कूल चले जाते थे, सूर्यास्त के पहले घर लौट आते थे। सोलन के नियमों से ऐसा मालूम पड़ता है कि एथेंस के स्कूल राजकीय नहीं, बल्कि गैर-सरकारी चेष्टाओं के प्रतिफल थे। इस दृष्टि से एथेंस के स्कूल सर्वथा भिन्न थे; क्योंकि स्पार्टा के स्कूल राजकीय संस्थाएँ थे।

एथेंस के सर्वमान्य लोकप्रिय नेता महात्मा सोलन ने न्याय और स्वतंत्रता की रक्षा एवं प्रसार के लिए अभूतपूर्व कार्य किए। उन्होंने सबसे पहले एथेंस के किसानों और खेतिहरों के शोषण का अंत किया। उन्होंने उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए उन्हें ऋणमुक्त किया। ऋणमुक्त होने से खेतिहर वर्ग के जीवन में आशा

का संचार हुआ और उन्होंने भी 'जीवन' (Life) के संबंध में सोचना-विचारना प्रारंभ किया। उन्हें अब कुछ अवकाश मिलने लगा और वे सभ्यता एवं संस्कृति के संबंध में मानव-विकास के आवश्यक तत्त्वों के संबंध में तथा शिक्षा और प्रगति के संबंध में विचार-विमर्श एवं आलोचना-प्रत्यालोचना के फलस्वरूप उन्हें अपनी वर्त्तमान अवस्था को उन्नततर बनाने की प्रेरणा मिली। सभ्यता और संस्कृति का विकास अवकाश के समय में ही होता है। स्वस्थ अवकाश का होना जीवन-निर्माण के लिए अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य को जब अवकाश उपलब्ध होता है, तो वह चिंतन करता है। चिंतन करते समय उसका ध्यान केवल वर्त्तमान की ओर ही नहीं रहता, वह भविष्य की ओर भी दृष्टि दौड़ाता है। इस प्रकार वह प्रत्येक कार्य के महत्त्व और वास्तविक मूल्य का निर्माण करता है। एथेंस के इस किसान वर्ग को भी अब अवकाश मिला; क्योंकि सोलन के कानूनों द्वारा वे कर मुक्त हो चुके थे। इस अवकाश की उपलब्धि और इसके सदुपयोग के फलस्वरूप एथेंस की सर्वप्रकारेण उन्नति हुई। उन्नति करने के लिए और प्रगति के मार्ग पर बढ़ने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने अवकाश का सदुपयोग करें। अरस्तू के विचार से सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए अवकाश का सदुपयोग आवश्यक है। निर्माणात्मक और रचनात्मक काम (Creative work) अवकाश की उपलब्धि और उसके सदुपयोग पर ही निर्भर एवं आश्रित है। जो जातियाँ आज विश्व में अग्रगण्य हैं अथवा कभी बनी रही थीं, उनके जन-जीवन का इतिहास इस सत्य का स्पष्टतः पोषण करता है कि उन्होंने अपने समय का मूल्य आँका है, उसकी महिमापूर्ण महत्ता को पहचाना है तथा तदनुकूल अपनी दिनचर्या ही नहीं, बल्कि समस्त जीवनचर्या का निर्माण कर उस पर सफल अवलंबन भी किया है।

प्राचीन एथेंस की तत्कालीन सामाजिक अवस्था से महात्मा सोलन अच्छी तरह परिचित थे। उस समय एथेंस के समाज में पूँजीपति और सर्वहारा दो वर्ग थे। इन दोनों वर्गों में संघर्ष बना रहता था। आज जिस प्रकार समस्त विश्व पूँजीवाद और साम्यवाद दो गुटों में विभक्त है, उसी प्रकार तत्कालीन एथेंस भी विभक्त था। इस संघर्ष में पूँजीजीवी वर्ग गरीबों को दबाता था। अतः, सोलन ने इस संघर्ष और अन्याय को रोकने के लिए कतिपय नियम बनाए। इन नियमों में एक नियम यह भी था कि अगर किसी एथेंसनिवासी को किसी बात की शिकायत हो, तो उसे अधिकार था कि वह अपनी शिकायत एथेंस के तीस निवासियों द्वारा संगठित जूरी के सामने करे या रखे। इस जूरी के सदस्य शिकायत करने वाले व्यक्ति से पूर्णतः परिचित होते थे। अतः, न्याय की पूर्ण संभावना थी। जूरी के समक्ष धनी और गरीब में कोई अंतर नहीं माना जाता था तथा न्याय की पूर्ण व्यवस्था थी।

जनतंत्र के विकास के लिए न्याय की व्यवस्था और समानता का प्रबंध करने के पश्चात् प्रत्येक नागरिक को नगर की व्यवस्था करने तथा उसमें भाग लेने के लिए भी सोलन ने बाध्य किया। उनके शिक्षा-दर्शन का यह व्यावहारिक पक्ष था। नगर-संबंधी जब कोई समस्या उपस्थित होती थी, तो उसको सुलझाने के लिए नगर के सभी निवासी सभा में उपस्थित होते थे तथा अपनी सम्मति प्रदान करते थे। जो बात बहुमत से निश्चित होती थी, उसके अनुसार कार्य संपादित होता था। इस प्रकार द्रष्टव्य है कि एथेंस में प्रजातंत्र किस प्रकार व्यवस्थित और सुचारु रूप से विकसित एवं प्रगतिशील बन रहा था। शासन-प्रणाली में ही नहीं, अपितु जीवन के कार्य-कलाप में भी प्रजातंत्र की लहर थी। समस्त एथेंस का पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा सुगठित बनाया जा रहा था कि बालक, किशोर, वयस्क सभी को प्रजातंत्रीय प्रणाली से जीवन-यापन करने की शिक्षा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्वतः मिला करती थी। इसके लिए माता-पिता और नागरिक भी सदैव सचेष्ट बने रहते थे। एथेंस के नगर राज्य ने महान् दार्शनिकों, विचारकों, समाजवेत्ताओं और शिक्षाशास्त्रियों को जन्म दिया। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू एथेंस के ही निवासी थे। प्लेटो तो सोलन का वंशज ही था। इस इतिहासप्रसिद्ध उन्नति का मूल कारण था कि एथेंस के समस्त वातावरण में एक वैसा शैक्षणिक तत्त्व विराजमान था, जिससे मानव-जीवन की शैली का निर्माण और विकास होता है। सोलन को इन तत्त्वों के निर्माण और विकास की शक्ति के स्रोत को स्थायित्व प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय उपलब्ध है। टी० आर० ग्लोवर ने अपनी पुस्तक 'ऐन्शिएन्ट वर्ल्ड' के पृष्ठ ६५ पर सोलन के कार्यों के संबंध में लिखा है, जिसका भाव निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"सोलन के कार्यों का संक्षिप्त रूप यह था कि उसने व्यक्तित्व के महत्त्व को समझा और व्यक्ति को इस प्रकार स्वतंत्र किया, जो कि उनके लिए एक नवीनता थी। उसने नई परिस्थितियों के अनुकूल विधान में परिवर्तन किया और उस शक्ति का विकास किया, जिससे एथेंस में महान् दार्शनिक और कवि उत्पन्न हुए। दर्शन, काव्य और कला का एक व्यक्तिगत स्तर होता है। इसके लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। सोलन ने इसे अनुभव किया और इसका पूर्ण प्रबंध किया।"

सोलन ने एथेंस समाज की सभ्यता और संस्कृति के विकास एवं प्रसार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। एथेंस के समाज को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने में महात्मा सोलन और उनके प्रदत्त शिक्षा-विधान सर्वदा स्तुत्य हैं।

●

अध्याय ३

कनफ्यूशियस

जीवन-परिचय

चीन देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक कनफ्यूशियस एक महान् धर्मप्रवर्त्तक तो थे ही, ये बहुत बड़े कवि और शिक्षाशास्त्री भी थे। उनका वास्तविक नाम कुंग फू जे था। इनका जन्म यू राज्य के गुफू नामक स्थान पर ५५१ ई० पू० हुआ था। ये एक कुलीन परिवार के व्यक्ति थे और उसी वंश में उत्पन्न हुए थे, जिसमें सम्राट हुआन-ती (२६९७ ई० पू०) का जन्म हुआ था। इस परिवार में और भी कई दार्शनिक और विद्वान पुरुषों का जन्म हुआ था। इनकी शादी बाईस वर्ष की आयु में हुई परंतु एक वर्ष बाद ही, तेईस वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी पत्नी को त्याग दिया। वे बचपन से ही एक शीलवान व्यक्ति थे। ये माता-पिता के भी बहुत भक्त थे। पिता की वृद्धावस्था के कारण इनको कठिन परिश्रम करना पड़ता था। माता की भी ये सहायता करते थे। विद्यालय से आकर ये अपनी माँ के कार्यों में हाथ बँटाते थे।

लू राज्य में

कनफ्यूशियस ५०१ ई० में लू राज्य के चुंग-तू शहर के न्यायाधीश-पद पर नियुक्त किए गए। इनके न्यायाधीश-पद पर नियुक्त होते ही जनता में एक विश्वास की लहर दौड़ गई। इन्होंने व्याप्त अराजकता को रोका। इसके बाद इन्हें मंत्री-पद पर नियुक्त किया गया। मंत्री-पद पर नियुक्ति के पश्चात् इन्होंने राज्य भर की भूमि की नाप करायी और कृषि में सुधार किया। ४९७ ई० पू० इनको अपराध-निवारण मंत्री का पद मिला। इस पद से भी राज्य में व्याप्त अपराध का इन्होंने अच्छी तरह नियंत्रण किया। लू राज्य से अनाचार को समाप्त किया। इन सब गुणों के कारण वे एक 'आदर्श व्यक्ति' के नाम से दूसरे राज्यों में भी प्रसिद्ध हुए। वे एक आदर्शवादी व्यक्ति थे। उनके शिक्षा-सिद्धांत (जिनका वर्णन अगली पंक्तियों में है) भी आदर्शवादिता की आधारशिला पर ही अवस्थित हैं। जब इन्होंने लू राज्य के

शासक को आदर्श से च्युत होते हुए देखा, तो उसका राज्य छोड़ कर वे अन्यत्र चले गए। तेरह वर्ष तक वे इधर-उधर भ्रमण करते रहे। तत्पचात् लू राज्य के तत्कालीन शासक सू ने पुनः उनकी अवधानता स्वीकार कर ली और वे उसके राज्य में वापस आ गए। इस समय उनकी आयु ६९ वर्ष की हो चुकी थी। चार-पाँच वर्ष तक वह एक परामर्शदाता के रूप में इस राज्य का काम करते रहे। ७३ वर्ष की आयु में उनका देहांत हो गया।

अपने जीवनकाल में ही कनफ्यूशियस के नाम की ख्याति चीन के अन्य राज्यों में भी फैल चुकी थी। ये एक विद्वान और आदर्शवादी व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। जब लू राज्य के शासक के विलासितापूर्ण ज़ीवन और अपनी उपेक्षा से ऊब कर ये तेरह वर्ष तक इधर-उधर भटकते रहे, उस समय भी राज्य के शासक ने इन्हें अपने राज्य का मंत्री बनाना चाहा था, परंतु इन्होंने इस आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था।

कनफ्यूशियस धर्म

कनफ्यूशियस एक विद्वान पुरुष थे। अपनी विद्या का उन्हें अभिमान भी था। वे अक्सर अपने विद्याभिमान में कहा करते थे—'मेरे-जैसा विद्याप्रेमी व्यक्ति दूसरी जगह शायद ही मिलेगा।'

कनफ्यूशियस की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने अपने गुरु के विचारों को एक जगह संग्रह किया। वे उन्हें संत के रूप में मानने लगे और उनके आदर्शों को एक धर्म का स्वरूप दिया। इस धर्म का नाम उन्होंने 'कनफ्यूशियस धर्म' रखा। इस धर्म के मानने वालों की संख्या में निरंतर वृद्धि ही होती गई। चीन में इस धर्म-प्रचार के लिए स्कूल भी खुल गए।

कनफ्यूशियस के शिक्षा-दर्शन सिद्धांत

१. सादा जीवन : उच्च विचार

कनफ्यूशियस प्रथमतः एक धार्मिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। उनके जीवन का आधार था 'मानव-धर्म।' उनके अनुसार 'आदर्श व्यक्ति वही है, जो दार्शनिक तथा संन्यासी के समन्वय से साधु हो गया हो। साधु वही हो सकता है, जो मानवतावाद में विश्वास करता है। जिसके लिए, मानव के प्रति करुणा की भावना हो। सादा जीवन, उच्च विचार के आदर्श को स्वीकार कर ही हम इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। शिक्षा का यही आदर्श होना चाहिए।'

२. आदर्श मानव की कल्पना

शिक्षा का लक्ष्य, आदर्श मानव की कल्पना है। कनफ्यूशियस आदर्श मानव के लिए तीन गुणों की चर्चा करते हैं। बुद्धि, साहस और सद्भावना आदर्श मनुष्य के तीन गुण हैं। इन तीनों के विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा द्वारा मानव अपने दोष को देखने लायक बनता है। उसमें यह क्षमता आती है कि वह विवेकी बने और अपनी खामियों के संबंध में विवेकपूर्ण बुद्धि से विचार करे, साहस द्वारा उन त्रुटियों पर विजय पाने की कोशिश करे। बुद्धि और साहस का वह प्रयोग तभी करेगा, जब उसके अंदर सद्भावना अर्थात् मानव-कल्याण की चाह होगी। शिक्षा की उचित व्यवस्था ही बालक को एक आदर्श मानव के रूप में खड़ा करा सकने में समर्थ है।

३. शिक्षा का स्वरूप : व्यावहारिक

कनफ्यूशियस स्वयं एक शिक्षक थे। बाईस वर्ष की अवस्था में इन्होंने शिक्षण-कार्य प्रारंभ किया था। इन्होंने अपने घर पर ही विद्यालय की स्थापना की थी। शनैः-शनै इस विद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या तीन हजार तक पहुँच गई थी। कनफ्यूशियस के शिक्षण का स्वरूप व्यावहारिक था। ये विद्यार्थियों को जंगलों और अन्य दर्शनीय स्थानों में ले जा कर शिक्षा को व्यावहारिक रूप प्रदान करते थे। विद्यालय में इतिहास, कविता, साहित्य, समाजशास्त्र की शिक्षा दे कर पुनः उसका संबंध प्रकृति और वास्तविक जीवन से कराते थे। उन्होंने जिस शिक्षा-सिद्धांत की कल्पना की थी, उसका पोषण आज भी हो रहा है 'शिक्षा का संबंध वास्तविक जीवन से हो', इस सिद्धांत का पोषण आज के शिक्षाशास्त्री करते हैं। कनफ्यूशियस ने आज से हजारों वर्ष पूर्व इस आदर्श को चरितार्थ किया था। अरस्तू ने भी अपनी शिक्षा-व्यवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव (Direct experience) को बहुत महत्त्व दिया है।

४. राज्य के सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा

कनफ्यूशियस चाहते थे कि सभी स्त्री-पुरुष चाहे वे धनी हों अथवा गरीब, शिक्षित बनें। शिक्षा द्वारा ही वे अपने कल्याण की बात सोचेंगे। धार्मिक शिक्षा को भी वे वास्तविक रूप में तभी ग्रहण करेंगे, जब शिक्षा द्वारा उनका मस्तिष्क उसको ग्रहण करने के लिए प्रशिक्षित किया जाएगा। सभी व्यक्ति पढ़ें। ऊँचे विषयों को पढ़ाने की व्यवस्था की जाए। संगीत विषय अनिवार्य रूप में पढ़ाई हो। संगीत विषय पढ़ाने की बात कनफ्यूशियस बतलाते हैं। प्लेटो ने भी अपने शिक्षा-विधान में तेरह से सोलह वर्ष तक के बालकों के लिए संगीत को आवश्यक बताया है। संगीत मानव-भावनाओं के परिष्करण हेतु एक प्रबल साधन है।

५. सामाजिक संगठन

सामाजिक संगठन किसी राष्ट्र की आधारशिला है। जब तक समाज के व्यक्ति संगठित नहीं होंगे, तब तक राष्ट्र का आधार ठीक नहीं होगा। अतः, सामाजिक आधार को ठीक बनाना राज्य का कर्त्तव्य है। यह तभी होगा, जब राज्य के व्यक्ति शिक्षित और सभ्य होंगे।

६. चरित्र-विकास और नैतिकता की शिक्षा

सामाजिक आधार को ठोस बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि वहाँ के नागरिकों का चरित्र ऊँचा हो। चरित्र के विकास के अभाव में मानव, दानव बन जाता है। चरित्र के अंतर्गत कनफ्यूशियस सदाचार, सद्व्यवहार, सभ्यता, शिष्टता एवं शीलता आदि गुणों की चर्चा करते हैं। 'दूसरों के साथ हम वैसा ही व्यवहार करें, जिस व्यवहार की हम अन्य व्यक्तियों से आशा करते हैं'—इस नैतिक व्यक्तिगत गुण को भी कनफ्यूशियस चरित्र का एक आवश्यक गुण मानते हैं। कनफ्यूशियस ने बालकों के नैतिक विकास पर बहुत बल दिया है। अपनी पुस्तक 'ता-सूए' में उन्होंने इस आशय का भाव व्यक्त किया है—'प्राचीन पूर्वजों ने पहले अपने मस्तिष्क को ठीक कर, विद्या-बल को बढ़ाया। इसके पश्चात् अपनी परिवार-प्रणाली को सुधारा, शासन में व्यवस्था स्थापित की तथा ज्ञान की खोज में लगे। ज्ञान के कारण उनके विचार निर्मल तथा नियंत्रित हुए और राज्यों में आनंद छा गया। अतः, नैतिकता जन-साधारण के लिए ही नहीं, अपितु शासक के लिए भी अनिवार्य है। नैतिकता राज्य-व्यवस्था के लिए भी आवश्यक है।' कनफ्यूशियस के विचारानुसार राज्य में दार्शनिक मंत्री की आवश्यकता है; क्योंकि उनका चरित्र ऊँचा होगा और वे नैतिक गुणों से संपन्न होंगे। तभी ये मंत्री विदेशी झंझटों से अलग रह कर विद्या-बल द्वारा राज्य को सशक्त बनावेंगे। दंड भी कम देंगे तथा ऊँच-नीच के भाव को समाप्त करेंगे। अतः, कनफ्यूशियस चरित्र और नैतिकता को आदर्श मानव का प्रमुख गुण मानते हैं। वस्तुतः चरित्र और नैतिकता ही तो हमारे जीवन के प्रधान स्रोत हैं। जब हमारे अंतर से चरित्र की ज्योति समाप्त हो गई, नैतिकता की आभा बुझ गई, तो समझ लेना चाहिए कि हमारे विनाश के दिन सन्निकट आ गए। किसी भी क्षण हमारा सर्वनाश हो जाएगा। शिक्षाशास्त्री क्विंटीलियन ने नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर बहुत बल दिया था। उसने कहा था कि रोमी साम्राज्य का पतन उसी समय होगा, जब रोम के निवासियों का नैतिक पतन हो जाएगा। लॉक चरित्र को मनुष्यत्व की आधारशिला मानता है। लॉक के अनुसार बालकों को नैतिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। नैतिक शिक्षा द्वारा ही उनके अंदर सद्विचार, सद्गुण, दया, करुणा, सवेदना और सहानुभूति आदि गुणों का विकास होगा। मार्टिन लूथर, जॉन

कालविन, मांटेस्क्यू आदि जैसे प्रसिद्ध विचारकों ने चरित्र की उज्ज्वल मर्यादा के विकास के लिए शिक्षा की व्यवस्था की बात बतलायी है। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी महर्षि स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, स्वामी श्रद्धानंद तथा राष्ट्रपिता गांधी ने शिक्षा में चरित्र की महत्ता स्वीकार ही नहीं की, वरन् शिक्षा-संस्थाओं में पूर्णरूपेण इसके प्रचलन पर बल भी दिया।

कनफ्यूशियस की महत्ता

कनफ्यूशियस निःसंदेह एक महान् पुरुष थे। उन्होंने अपने साहित्य, प्रवचनों और शिक्षा द्वारा चीन की जनता को बहुत प्रभावित किया। उनके शैक्षणिक विचार आज ढाई हजार वर्ष बाद भी हमारा मार्गदर्शन करते हैं। शिक्षा में चारित्रिक उन्नयन एवं नैतिक विकास पर बल, हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धांत की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। परंतु, इसका बीज हम कनफ्यूशियस के शिक्षा-सिद्धांत में ही देख सकते हैं। प्रकृति से साक्षात्कार, वास्तविक पदार्थों का निरीक्षण, शिक्षा को अमीर-गरीब सभी के लिए बनाने की कल्पना आदि अपने मौलिक शैक्षणिक विचारों के कारण कनफ्यूशियस हमारे लिए एक वंदनीय शिक्षाशास्त्री हैं।



अध्याय ४

सुकरात

सुकरात (४६९ ई० पू०) का जन्म यूनान के प्रसिद्ध नगर राज्य एथेंस में हुआ था। उनको अंगरेजी में सौक्रेटिस (Socrates) कहते हैं। ये एक गरीब माता-पिता के पुत्र थे। इनके पिता प्रस्तर-शिल्पिक का कार्य करते थे तथा माता दाई का कार्य। माता-पिता की आर्थिक हीनावस्था के कारण उनकी शिक्षा-व्यवस्था का कुछ प्रवंध नहीं हो सका, अतः युवक सुकरात ने भी मूर्तिकार का ही पेशा अपनाया। परंतु, इस कला से उन्हें कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं हो सका। उन्होंने गृहस्थाश्रम में भी प्रवेश किया था तथा उनको संतानें भी थीं। उनका रहन-सहन अत्यंत सादा था। वे फटे-पुराने कपड़े पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव, हाथ में एक छड़ी लिए एथेंस की सड़कों पर घूमा करते थे। एथेंस में जो सुकरात की मूर्ति का अवशेष मिला है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे एक विल्कुल कुरूप व्यक्ति थे। उनका चेहरा गोल था तथा सिर के वाल उड़े थे। उनकी आँखें गहराई से देखती थीं तथा उनकी नाक चौड़ी और लंवी थी।

सुकरात धन और सौंदर्य में भले ही कम थे, परंतु उनके अंदर वर्णनातीत आत्मिक वल था, घोर साहस था, विलक्षण वुद्धि थी और सर्वोपरि उनमें महान् मानवता की अद्‌भुत अलौकिक शक्ति थी। वे वस्तुतः युग-पुरुष और महात्मा थे। अपने भावी युग को इनके मौलिक विचारों और सिद्धांतों ने अत्यधिक प्रभावित किया है, एक नई चेतना दी है। जगत में वे सर्वदा अमर रहेंगे।

अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था से ही सुकरात उत्तरदायित्वपूर्ण, सामाजिक व्यक्ति थे। अपने कर्त्तव्य के प्रति ये वहुत सचेष्ट रहते थे। सामाजिक कार्यों के प्रति इनकी वड़ी लगन थी। इन्होंने सैनिक शिक्षा भी ग्रहण की थी तथा युद्धों में भाग लेकर अपने साहस का परिचय दिया था। एथेंस की कौंसिल ने इन्हें अपना सदस्य निर्वाचित किया था। वे वड़े स्पष्ट वक्ता थे—जो एक चरित्रवान् वीर पुरुष का लक्षण है। स्पष्ट वक्ता होने के कारण ही सुकरात को

मृत्युदंड मिला। मृत्युदंड के समय महात्मा सुकरात तनिक भी विचलित नहीं हुए, इन्होंने वहुत प्रसन्नतापूर्वक विष का प्याला हँसते-हँसते अपने गले से नीचे उतार लिया। अपनी महान् महिमा के कारण वे आज अमर बन कर हमारे मार्ग-दर्शक हैं।

उनके एक शिष्य एलकिवेडीज ने उनके विषय में लिखा है— "साथियो, अब मैं सुकरात की प्रशंसा इस प्रकार करना चाहता हूँ जो कि उसे (सुकरात) परिहास ज्ञात होगा, लेकिन बात वस्तुतः सत्य होगी। सुकरात की सूरत उसी देवता से मिली है, जिसका चेहरा मनुष्य का है और शरीर वकरी का है। ········जब हम किसी वक्ता का भाषण सुनते हैं, तो उसका हम पर कोई प्रभाव नहीं होता, परंतु जब हम 'सुकरात' की वात दूसरे से भी सुनते हैं, तो हम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि मुझे शराबी समझे जाने का भय नहीं होता, तो मैं शपथ लेकर कह सकता हूँ कि सुकरात के भाषण ने हमें सर्वदा प्रभावित किया है। भाषण सुनने पर मेरा हृदय गद्गद् हो जाता है और मेरे नेत्रों से प्रसन्नता के आँसू बहने लगते हैं।" एलकिवेडीज पुनः लिखता है, "मैंने पेरीक्लीज तथा अन्य वक्ताओं के भाषण सुने हैं। (पेरीक्लीज ने भी एथेंस की उन्नति के लिए बड़ा कार्य किया है। उसके कार्यो से एथेंस के वैभव और गौरव की बड़ी वृद्धि हुई थी। ४२९ ई० पू० पेरीक्लीज की मृत्यु हुई) मेरे विचार से वे अच्छे वक्ता हैं, लेकिन उनके भाषणों को सुनकर मेरे हृदय में वे भावनाएँ नहीं उत्पन्न हुई, जो सुकरात के भाषण से होती हैं। सुकरात की वातों को सुनकर अपने को मैं धिक्कारता हूँ और कहता हूँ कि मुझे इस प्रकार का जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिए। कई बार मैंने सोचा कि क्या ही अच्छा होता यदि सुकरात मर जाता लेकिन यह मैं ही जानता हूँ कि उसकी मौत से खुशी होने के बदले मुझे अपार क्लेश होता।"

एलकिवेडीज के इन उद्गारों से यह ज्ञात होता है कि यूनानी समाज में अपने जीवन-काल में ही सुकरात कितना ऊँचा सम्मान और मर्यादा प्राप्त कर चुके थे।

सुकरात शिक्षा को व्यक्ति के विकास का आधार मानते थे। शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य को वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होगी, ऐसा उनका विश्वास था। व्यक्ति को सच्चे ज्ञान की प्राप्ति वास्तविक शिक्षा ही करा सकती है—इस सिद्धांत का पोषण महात्मा सुकरात ने किया। वे मानव-समाज में फैली हुई कुरीतियों एवं कुप्रभावों के नाश के इच्छुक थे। वे मानव का कल्याण चाहते थे। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से गलती नहीं करता, सुकराती-दर्शन की यही विशेषता है। इस प्रकार अज्ञानता ही गलत कार्य का मूल है। दूसरे शब्दों में सही कार्य ही ज्ञान है।

ज्ञान को सुकरात ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका विचार था कि व्यक्ति के अंदर विचार करने की शक्ति उत्पन्न करने से ही ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र में विकास हो सकेगा। ज्ञान की उपलब्धि आत्मानुशीलन तथा आत्म-परीक्षण से ही संभव है। वे व्यक्ति में चिंतन-शक्ति (Power of thinking) उत्पन्न करना चाहते थे। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के अंदर सदाचार, सचाई, मैत्री, वंधुत्व, वुद्धि एवं विवेक का शक्ति विद्यमान है, परंतु इसको प्रस्फुटित और विकसित करने की क्षमता ज्ञान में ही है।

सुकरात व्यक्ति को 'स्व' (Self) का ज्ञान कराना चाहते थे। 'अपने-आप को जानो,' या 'अपने-आप को पहचानो' (Know Thyself), ही सुकराती दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है। अपने-आप को जानना या अपने-आप को पहचानना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। शिक्षा के समस्त कार्य-कलाप उसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु होते हैं। सुकरात के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मनुष्य में वह इतनी योग्यता और क्षमता प्रदान करे कि हम अपने-आप को जानने और समझने में समर्थ वन सकें।

सुकरात मनुष्य को जीवन का वास्तविक पारखी वनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने शिक्षा को आधार वताया। जीवन का वास्तविक पारखी वही व्यक्ति हो सकता है, जो मनुष्य-मनुष्य के संवंध के सूक्ष्म भेदों को समझने की शक्ति रखता है, सुख-शांति के साथ सामाजिक जीवन व्यक्त करना चाहता है तथा अज्ञानता की वात नहीं करता। वह समझ-वूझ कर शीलपूर्ण व्यवहार करता है। परंतु, यह सच्ची शिक्षा से ही संभव है। अपने तर्क एवं अनुभव द्वारा सुकरात ने यह निश्चय किया कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है, नैतिक जीवन व्यतीत करना। यूरोप में नैतिकता की स्थापना करने का श्रेय उनको ही है। सोफिस्टों के कुप्रभाव से नैतिकता की भावना का ह्रास होने लगा था। सुकरात की शिक्षा ने इसका पुनरुद्धार किया।

'अपने को जानो'—सुकराती शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। वैसे तो अपने को सभी जानते हैं, परंतु वास्तविक रूप में अपने को वहुत कम लोग जानते हैं। जो लोग अपने को जानते हैं, उन्हें अपनी शक्तियों और दुर्वलताओं के संवंध में कोई संदेह नहीं होता। वे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और विचारों का विश्लेषण भली-भाँति कर सकते हैं। सुकरात यह नहीं चाहते थे कि कोई व्यक्ति विना समझे-वूझे किसी विचार या सिद्धांत को अपनावे। जव लोग विना विचार किए किसी वात को स्वीकार कर लेते हैं, तव उनसे भूल हो जाना अथवा कुरीतियों का प्रसार होना स्वाभाविक है। अतः, सुकरात सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए व्यक्ति में तर्क और विचार करने की शक्ति तथा अपने को जानने की योग्यता उत्पन्न करना चाहते थे। उनके

विचार से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तर्क है। उन्होंने ज्ञानार्जन के लिए जिस 'तार्किक विधि' (Dialectic) को अपनाया, वह आज भी सर्वमान्य है। कुशलता-पूर्वक प्रश्न करना और उनका उत्तर प्राप्त करना ज्ञान-प्राप्ति में अधिक सहायक होता है।

अपनी शिक्षा की उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुकरात ने अपनी एक विशेष प्रकार की पद्धति (शिक्षा-पद्धति) का प्रचलन किया, जहाँ प्रश्नोत्तर की सहायता से सत्य का ज्ञान कराया जाता था। वे व्यक्ति को स्वयं कुछ नहीं बतलाते थे, अपितु प्रश्न एवं उत्तर के माध्यम से, विचार एवं तर्क के आधार पर वस्तु-स्थिति का पता लगाया जाता था। सुकराती शिक्षण-विधि का लक्ष्य सत्य को प्रस्तुत करना नहीं, अपितु सत्य की खोज करना था। उन्होंने अपने शिष्यों को कभी नहीं कहा कि "जो मैं कहता हूँ वही सच्चा है, वही ज्ञान है।" वल्कि उन्होंने उनकी धारणाओं को दोषपूर्ण वतला कर सत्य की खोज करने की उत्प्रेरणा दी। उनकी विधि आत्म-चिंतन को उत्प्रेरित करती है। उन्होंने अपने को ज्ञानी नहीं माना। जो उन्हें ज्ञानी कहता था, उसकी वे भर्त्सना करते थे। वे अपने को 'ज्ञान का प्रेमी' फिलॉसफर, (Philosopher) कहते थे। उनकी शिक्षण-विधि, अनुसंधान की विधि या सत्य की खोज की विधि थी। खोज का साधन था—आत्म-चिंतन अपने अनुभवों का विश्लेषण और परीक्षण। वे न तो दूसरों से प्राप्त ज्ञान की पुनरावृत्ति करते थे, न करवाते थे। वे जीवित समस्याओं की तह में जाकर उनकी आत्मा को पहचानने का मार्ग प्रदर्शित करना चाहते थे। उनके शिक्षण का वाह्यात्मक स्वरूप 'वातचीत' थी। इस वातचीत में ही वे ज्ञानार्जन का मार्ग इतना प्रशस्त वना देते थे कि छात्र इस मार्ग का अनुसरण कर अपना लक्ष्य पहचानने में समर्थ हो जाता था। वस्तुतः उनका यश उनकी वातचीत की इस सरल विधि पर ही आश्रित है।

सुकरात किसी व्यक्ति से या अपने शिष्यों से वातचीत के किसी प्रसंग पर प्रश्न करते थे—यह संसार क्या है ? सत्य क्या है ? मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है ? हम कौन हैं ? मृत्यु क्या है ? आदि। मार्ग में चलते-चलते वे व्यक्तियों से प्रश्न करते थे—"तुम जानते हो कि सुख क्या है ? न्याय का अर्थ क्या है ? जीवन क्या है ?" इस प्रकार प्रश्न कर वे अपने शिष्यों को वास्तविकता का ज्ञान देते थे तथा उन्हें वतलाते थे कि उनकी धारणाएँ कितनी भ्रामक हैं और वे किस प्रकार विना समझे-बूझे भावों तथा शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रणाली से उनके शिष्य सचमुच यह अनुभव करते थे कि उन्होंने विना विचारे किताबी वातें की हैं। इस प्रकार सुकरात अपनी पद्धति द्वारा सर्वप्रथम भ्रम को दूर करते थे तथा वाद में विचार द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचते थे।

सुकरात की शिक्षा-पद्धति में भाषण करना नहीं था। आज की वर्त्तमान लेक्चर मेथड से उनकी पद्धति सर्वथा भिन्न थी। वे एक अज्ञानी की भाँति प्रश्न करते थे तथा प्रश्नोत्तर की शैली में किसी विषय के संबंध में उनके शिष्य ज्ञान प्राप्त करते थे। इससे लाभ यह होता था कि शिष्यों का भ्रम किसी विषय के संबंध में नहीं रह जाता था। उनका सुलझा हुआ विचार स्थायी होता था। अपने अनुभव, विचार और तर्क की सहायता से उन्हें स्पष्ट और वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता था।

शिक्षाशास्त्र में सुकराती विधि एक अत्यंत उपयोगी विधि है। आज उसका विकास प्रश्नों द्वारा होता है। प्रश्नों की सहायता से सिद्धांत निकलवाए जाते हैं। विद्यार्थियों ने कितना समझा और कितना धारण किया, इसके लिए बोधात्मक और धारण के प्रश्न किए जाते हैं। प्रश्नों के करने से बालक सावधान और सजग होते हैं। बौद्धिक विकास के लिए प्रश्न करना उचित है। बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में भी तर्क के आधार पर बालकों के मानसिक वर्द्धन की चेष्टा की जाती थी। बौद्धकाल में तर्क-प्रणाली का सर्वाधिक प्रयोग होता था।

सुकरात की यह उपर्युक्त विधि 'डाइलेक्टिक' (Dialectic) कही गई है। डाइलेक्टिक वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा धारणाओं से प्रत्ययों का निर्धारण होता है। यह चिंतन की रीति है, जिसके द्वारा ज्ञान अथवा सत्य की प्राप्ति होती है। इस विधि का वाह्य रूप वातचीत थी, परंतु यह वातचीत एक निश्चित उद्देश्य से एक निश्चित दिशा की ओर संचालित रहती थी। इस प्रकार यह वातचीत वस्तुतः एक विवेचना-पूर्ण तार्किक संभाषण (Discourse) थी, जो आगमन शैली पर संयोजित होकर जीवन से संबंधित एक व्यापक सत्य के निर्धारण में परिणति पाता था। सुकरात के शिष्य, प्लेटो के अनुसार, डाइलेक्टिक चिंतन की एक पद्धति है जिसके द्वारा अनुभवों तथा रोजमर्रे की स्थितियों के परीक्षण से सामान्य सिद्धांतों का निर्धारण होता है, जिसके प्रकाश में व्यक्ति अपने कार्यों को नैतिक आधार प्रदान करता है।

सुकरात मनुष्य के अंदर उन गुणों को विकसित करना चाहते थे, जो जीवन की सफलता के लिए आवश्यक थे। उनकी धारणा थी कि वर्त्तमान एथेंसवासियों के जीवन में कुरीतियाँ आ गई हैं, वे गुमराह हो गए हैं। एथेंस के नवयुवकों को अच्छी शिक्षा की जरूरत है, जिससे वे विलासिता के जीवन को ही नहीं अपनावें, अपितु नैतिक कर्मनिष्ठ जीवन-यापन में संलग्नशील बनें। सुकरात का विचार था कि मनुष्य को दुःख अज्ञान के कारण मिलता है। यदि उनमें ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हो जाए, तो उसके दुःख नष्ट हो जाएँ। अतः, वे विद्यार्थियों को उन विषयों की शिक्षा देना चाहते थे, जो दैनिक जीवन के लिए उपयोगी हों तथा जिनके माध्यम से

सफल जीवन की ऊँची इमारत खड़ी हो सके।

सुकरात को मनुष्य के व्यावहारिक जीवन का पूरा ज्ञान था। इसलिए सुकराती शिक्षा-प्रणाली में मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार को समझने के लिए मनोविज्ञान, मानसिक विकास के लिए काव्य, संगीत और नृत्य, बौद्धिक विकास के लिए नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, दर्शन और धर्म, भाव-विकास के लिए संगीत तथा शारीरिक विकास के लिए जिमनास्टिक-जैसे विषय निर्धारित किए गए थे। वे व्यक्ति का बौद्धिक एवं नैतिक विकास चाहते थे तथा इसके लिए मनुष्य में विवेक तथा संयम का होना आवश्यक समझते थे। वे संगीत को मनुष्य-जीवन का एक आवश्यक तथ्य मानते थे। संगीत मस्तिष्क को परिष्कृत करता है तथा उसे चिंतामुक्त बनाता है। सुकरात के शिष्य प्लेटो, तथा प्लेटो के शिष्य अरस्तू, तीनों ने बालकों के लिए संगीत की शिक्षा का विधान किया है।

सुकरात की प्रणाली केवल आचार-संबंधी सत्यों के विश्लेषण और अध्ययन में उपयुक्त है परंतु विज्ञान, गणित, इतिहास, भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में उनकी शिक्षण-विधि सफल नहीं हो सकेगी। यह पद्धति उसी विषय के अध्ययन में सहायक और उपयोगी है, जिसका जिज्ञासु को कोई अनुभव या पूर्व ज्ञान है, परंतु जिन विषयों का अनुभव या पूर्व ज्ञान नहीं है, उसके संबंध में प्रश्न या कोई विचार उपयुक्त नहीं हो सकेगा। सुकराती पद्धति सभी विषयों के अध्ययन में प्रयुक्त नहीं हो सकती। इस विधि का प्रयोग उचित प्रकार से नहीं होने पर त्रुटियाँ भी आ सकती हैं। प्रायः प्रश्नों की शैली अस्पष्ट होती है। प्रश्न सांकेतिक हो जाते हैं। प्रश्नों के उत्तर प्रसंग से संबंधित नहीं होते। उत्तर में विद्यार्थी विध्वंसात्मक आलोचना करने लगते हैं। तर्कपूर्ण प्रश्नों की कमी के कारण विद्यार्थियों में मौलिकता नहीं आती। इसमें प्रायः अध्यापक की योग्यता प्रधान होनी चाहिए कि किस ढंग से वह प्रश्न करे, ताकि बालकों में आत्म-निर्भरता आवे, वे उत्तर की खोज करें तथा इसके लिए अपने ज्ञान का प्रयोग करें।

अध्याय ५

प्लेटो

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है, यूनान के प्रसिद्ध शहर एथेंस में तीन महान् दार्शनिक पैदा हुए, जिन्होंने अपनी मौलिक चिंतनधारा एवं गहन विचारशील प्रवृत्तियों के आधार पर तत्कालीन समाज को ही नहीं, अपितु भावी युगों को भी पूर्णतः प्रभावित और प्रकंपित करते रहे। आज भी उनकी विचारों की गहराई को नापने, जानने अथवा समझने में समर्थ विरले ही मनीषी हैं। यूनान ही नहीं, वरन् विश्व के ये तीन प्रसिद्ध विद्वान् थे महात्मा सुकरात (४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०), प्लेटो (४२७ ई० पू०—३४८ ई० पू०) और अरस्तू (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)। सौभाग्यवश इन तीनों में बड़ा गहरा संबंध था। महात्मा सुकरात के शिष्य थे प्लेटो और प्लेटो के शिष्य थे अरस्तू। प्लेटो के शिक्षा-दर्शन के संबंध में विचार करना हमारा अभीष्ट है।

सत्तर वर्ष के बड़े बुजुर्ग, विश्व के विद्वान महान् चिंतक महात्मा सुकरात ने जब अपने भावी युग को सत्य और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अविचलित और निर्विकार भाव मुद्रा में अदालत की कठोर आज्ञा को अंगीकार करते हुए जहर का प्याला चूमा था और उसे गले के नीचे उतार मृत्यु का सहर्ष स्वागत किया था, उस समय जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहने वाला, बलवान पुष्ट शरीरधारी, एथेंस का श्रेष्ठ सैनिक, प्रमुख खिलाड़ी, विलक्षण बुद्धि का वह दार्शनिक विद्वान् जिसने कई मल्ल-प्रतियोगिता में शानदार विजय प्राप्त की थी, जो अपने बलिष्ठ कंधों के कारण प्लेटो नाम से वहाँ (एथेंस में) सुविख्यात था तथा जिसे सुकरात का सर्वप्रमुख शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, केवल अट्ठाईस वर्ष का एक युवक था। अपने शिक्षक सुकरात की मृत्यु से, शिष्य प्लेटो को बड़ी मानसिक वेदना हुई। प्लेटो सुकरात के सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे। सुकरात के नौ या दस वर्षों के संपर्क ने उनके जीवन पर बहुत बड़ी छाप डाली, यद्यपि इन दोनों में कई दृष्टियों से बड़ी विषमता थी। सुकरात कुरूप और निर्धन व्यक्ति थे, प्लेटो सुंदर और धनी थे। सुकरात एक

साधारण प्रस्तर-शिल्पिक परिवार के सदस्य थे। परंतु, एथेंस की राज्य-व्यवस्था में अपूर्व योगदान देनेवाले कोडरस और सोलन प्लेटो के पूर्वज थे। सुकरात के पिता एक निर्धन व्यक्ति थे, परंतु प्लेटो के पिता अरिस्तन एक सम्मानित, ऐश्वर्यसंपन्न नागरिक थे। महात्मा सोलन को तो प्राचीन एथेंस का महात्मा गांधी कहा जाता हैं। सुकरात पुराने और साधारण वस्त्र पहनते थे, कभी-कभी तो उनके वस्त्र फटे भी रहते थे। परंतु, प्लेटो सुंदर वस्त्र धारण करता था। तथापि इस सामाजिक विषमता और पारिवारिक अलगाव का कोई प्रभाव प्लेटो के युवक मस्तिष्क पर नहीं पड़ा। सुकरात और प्लेटो में आत्मिक संबंध था, जो विश्व-इतिहास का अमर और अनूठा उदाहरण है।

प्लेटो ने अपनी युवावस्था के प्रारंभ में ही महात्मा सुकरात का शिष्यत्व ग्रहण किया था। सुकरात से मिलने पर वे उनसे बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त बन गए। उनके जीवन में महान् परिवर्तन आ गया। प्लेटो प्रायः दस वर्षों तक सुकरात के संपर्क में रहे थे। सुकरात के मृत्यु-दंड से प्लेटो को अत्यधिक क्लेश पहुँचा और उन्होंने एथेंस छोड़ दिया। मानसिक व्यथा की अवस्था एवं ज्ञान की खोज में वे विभिन्न देशों में वर्षों तक परिभ्रमण करते रहे। प्रसिद्ध सांस्कृतिक केंद्रों में जाकर उन्होंने अपना ज्ञान-भंडार समृद्ध किया। उन्होंने मेगारा, मिस्र, सिसली, इटली, सीरिया आदि देशों की यात्रा की। संभवतः भ्रमणार्थ प्लेटो भारत भी आए थे और यहाँ उन्होने हिंदू-दर्शन एवं धर्म का अध्ययन किया था। सर्वप्रथम वे सुप्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लिड के निवास-स्थान मेगारा गए। तत्पश्चात् उन्होंने मिस्र देश का भ्रमण किया, जहाँ मानव-संस्कृति एवं मानव-उत्थान की विशेषताओं को देखा। वहाँ विद्वानों से मिलने और उनसे वार्तालाप के क्रम में उन्हें यह जानकारी हुई कि मिस्रवासी एथेंस की सभ्यता-संस्कृति से अनभिज्ञ हैं। देली-पोलिस, जो तत्कालीन मिस्र का प्रसिद्ध धार्मिक केंद्र था, वहाँ वे अधिक दिनों तक ठहरे थे। उन्होंने मिस्र की शिक्षा-पद्धति का भी अध्ययन किया। सिसली में उन्होंने वहाँ की शासन-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त की। इटली में उन्होंने अपना कुछ समय उस शिक्षालय में व्यतीत किया, जिसका संस्थापक पाइथागोरस था। यहाँ पर उन्होंने देखा कि कुछ लोग सादा जीवन व्यतीत करते हैं तथा संपूर्ण साधना के साथ अध्ययन करते हैं। देश-विदेश की विभिन्न संस्कृतियों से परिचय, विद्वानों से भेंट और उनसे विचारों के आदान-प्रदान से प्लेटो को ज्ञान-वर्द्धन तथा अपने विचारों को पुष्ट करने का पूरा सुअवसर मिला। वे अपने समय के सबसे अधिक जानकार व्यक्ति थे। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, प्रशासन सभी की महान् पद्धतियों के प्रत्यक्ष अनुभवों से संपन्न होने के कारण, वे अपने युग के सबसे अधिक विषयों के ज्ञाता

माने जाते थे—ऐसा एबी और ऐरोऊड ने अपने पुस्तक 'दि हिस्ट्री एंड फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन' में बतलाया है। ("His varied contacts inlarged his thinking so that he was the best informed individual of his day, having learned at their sources all the great systems of philosophy, the sciences, history and government"—Eby & Arrowood—The History and Philosophy of Education. Page 348.)

चालीस वर्ष की अवस्था में सविस्तृत ज्ञान-भांडार के साथ दार्शनिक प्लेटो का एथेंस में पुनरागमन हुआ, जहाँ अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष उन्होंने शिक्षा के सुधार तथा उसके उन्नयन में व्यतीत किए। ठोस अनुभव एवं गंभीर चिंतन के पश्चात् उनका यह विश्वास दृढ़ हो चुका था कि किसी समाज और देश की उन्नति तभी संभव है, जब वहाँ के नवयुवकों की उन्नति की जाए और यह कार्य मात्र सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली एवं संगठित पाठ्य-क्रम द्वारा ही संभव है। वस्तुतः प्लेटो के दर्शन का आधार शिक्षा है। अपनी इस विचारधारा का क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने एथेन्स के पुराने जिमनाजियम के निकट ३८६ ई० पू० में एक शिक्षा समिति स्थापित की, जो 'अकादमी' (Academy) के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस अकादमी में वे जीवन-पर्यन्त अध्यापन-कार्य करते रहे। इस शिक्षा-संस्था में स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से अध्ययन की सुविधा उपलब्ध थी। यहाँ दर्शन-शास्त्र, गणित तथा विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन होता था। मानव-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक स्थायी संस्था के रूप में प्लेटो ने जिस शिक्षा-समिति की स्थापना की, वह अपने वास्तविक अर्थ मे प्रथम विश्वविद्यालय की स्थापना थी।

प्लेटो सभी काल के विचारकों में एक श्रेष्ठ, मौलिक और वृहद् दृष्टिकोण रखने वाले विचारक माने जाते हैं। उन्होंने शिक्षा-संबंधी विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिपब्लिक' (The Republic) और 'दि लॉज' (The Laws) में जो कि वार्तालाप के रूप में है, अभिव्यक्त की है। 'दि रिपब्लिक' शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है—ऐसा विश्व के प्रथम श्रेणी के शिक्षाशास्त्री रूसों का विचार है। रूसों ने लिखा है—"The finest treatise on education that was ever written." 'दि रिपब्लिक' में शिक्षा, धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति-जैसे विषयों की चर्चा की गई है। 'दि लॉज' (The Laws) प्लेटो की परिपक्वावस्था में लिखित उनकी एक वृहद् और व्यावहारिक कृति है, जिसमें शिक्षा और नीतिशास्त्र-संबंधी विचार व्यक्त हैं।

साधारण प्रस्तर-शिल्पिक परिवार के सदस्य थे। परंतु, एथेंस की राज्य-व्यवस्था में अपूर्व योगदान देनेवाले कोडरस और सोलन प्लेटो के पूर्वज थे। सुकरात के पिता एक निर्धन व्यक्ति थे, परंतु प्लेटो के पिता अरिस्तन एक सम्मानित, ऐश्वर्यसंपन्न नागरिक थे। महात्मा सोलन को तो प्राचीन एथेंस का महात्मा गांधी कहा जाता हैं। सुकरात पुराने और साधारण वस्त्र पहनते थे, कभी-कभी तो उनके वस्त्र फटे भी रहते थे। परंतु, प्लेटो सुंदर वस्त्र धारण करता था। तथापि इस सामाजिक विषमता और पारिवारिक अलगाव का कोई प्रभाव प्लेटो के युवक मस्तिष्क पर नहीं पड़ा। सुकरात और प्लेटो में आत्मिक संवंध था, जो विश्व-इतिहास का अमर और अनूठा उदाहरण है।

प्लेटो ने अपनी युवावस्था के प्रारंभ में ही महात्मा सुकरात का शिष्यत्व ग्रहण किया था। सुकरात से मिलने पर वे उनसे बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त बन गए। उनके जीवन में महान् परिवर्तन आ गया। प्लेटो प्रायः दस वर्षों तक सुकरात के संपर्क में रहे थे। सुकरात के मृत्यु-दंड से प्लेटो को अत्यधिक क्लेश पहुँचा और उन्होंने एथेंस छोड़ दिया। मानसिक व्यथा की अवस्था एवं ज्ञान की खोज में वे विभिन्न देशों में वर्षों तक परिभ्रमण करते रहे। प्रसिद्ध सांस्कृतिक केंद्रों में जाकर उन्होंने अपना ज्ञान-भंडार समृद्ध किया। उन्होंने मेगारा, मिस्र, सिसली, इटली, सीरिया आदि देशों की यात्रा की। संभवतः भ्रमणार्थ प्लेटो भारत भी आए थे और यहाँ उन्होने हिंदू-दर्शन एवं धर्म का अध्ययन किया था। सर्वप्रथम वे सुप्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लिड के निवास-स्थान मेगारा गए। तत्पश्चात् उन्होंने मिस्र देश का भ्रमण किया, जहाँ मानव-संस्कृति एवं मानव-उत्थान की विशेषताओं को देखा। वहाँ विद्वानों से मिलने और उनसे वार्तालाप के क्रम में उन्हें यह जानकारी हुई कि मिस्रवासी एथेंस की सभ्यता-संस्कृति से अनभिज्ञ हैं। देली-पोलिस, जो तत्कालीन मिस्र का प्रसिद्ध धार्मिक केंद्र था, वहाँ वे अधिक दिनों तक ठहरे थे। उन्होंने मिस्र की शिक्षा-पद्धति का भी अध्ययन किया। सिसली मे उन्होने वहाँ की शासन-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त की। इटली में उन्होने अपना कुछ समय उस शिक्षालय में व्यतीत किया, जिसका संस्थापक पाइथागोरस था। यहाँ पर उन्होंने देखा कि कुछ लोग सादा जीवन व्यतीत करते हैं तथा संपूर्ण साधना के साथ अध्ययन करते हैं। देश-विदेश की विभिन्न संस्कृतियों से परिचय, विद्वानो से भेंट और उनसे विचारों के आदान-प्रदान से प्लेटो को ज्ञान-वर्द्धन तथा अपने विचारों को पुष्ट करने का पूरा सुअवसर मिला। वे अपने समय के सबसे अधिक जानकार व्यक्ति थे। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, प्रशासन सभी की महान् पद्धतियों के प्रत्यक्ष अनुभवों से सपन्न होने के कारण, वे अपने युग के सबसे अधिक विषयों के ज्ञाता

जाते थे—ऐसा एवी और ऐरोऊड ने अपने पुस्तक 'दि हिस्ट्री एंड फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन' में बतलाया है। ("His varied contacts inlarged his thinking so that he was the best informed individual of his day, having learned at their sources all the great systems of philosophy, the sciences, history and government"—Eby & Arrowood—The History and Philosophy of Education. Page 348.)

चालीस वर्ष की अवस्था में संविस्तृत ज्ञान-भांडार के साथ दार्शनिक प्लेटो का एथेंस में पुनरागमन हुआ, जहाँ अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष उन्होंने शिक्षा के सुधार तथा उसके उन्नयन में व्यतीत किए। ठोस अनुभव एवं गंभीर चिंतन के पश्चात् उनका यह विश्वास दृढ़ हो चुका था कि किसी समाज और देश की उन्नति तभी संभव है, जब वहाँ के नवयुवकों की उन्नति की जाए और यह कार्य मात्र सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली एवं संगठित पाठ्य-क्रम द्वारा ही संभव है। वस्तुतः प्लेटो के दर्शन का आधार शिक्षा है। अपनी इस विचारधारा का क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने एथेन्स के पुराने जिमनाजियम के निकट ३८६ ई० पू० में एक शिक्षा समिति स्थापित की, जो 'अकादमी' (Academy) के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस अकादमी में वे जीवन-पर्यन्त अध्यापन-कार्य करते रहे। इस शिक्षा-संस्था में स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से अध्ययन की सुविधा उपलब्ध थी। यहाँ दर्शन-शास्त्र, गणित तथा विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन होता था। मानव-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक स्थायी संस्था के रूप में प्लेटो ने जिस शिक्षा-समिति की स्थापना की, वह अपने वास्तविक अर्थ मे प्रथम विश्वविद्यालय की स्थापना थी।

प्लेटो सभी काल के विचारकों में एक श्रेष्ठ, मौलिक और वृहद् दृष्टिकोण रखने वाले विचारक माने जाते हैं। उन्होंने शिक्षा-संबंधी विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिपब्लिक' (The Republic) और 'दि लॉज' (The Laws) में जो कि वार्तालाप के रूप में है, अभिव्यक्त की है। 'दि रिपब्लिक' शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है—ऐसा विश्व के प्रथम श्रेणी के शिक्षाशास्त्री रूसो का विचार है। रूसो ने लिखा है—"The finest treatise on education that was ever written." 'दि रिपब्लिक' में शिक्षा, धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति-जैसे विषयों की चर्चा की गई है। 'दि लॉज' (The Laws) प्लेटो की परिपक्वावस्था में लिखित उनकी एक वृहद् और व्यावहारिक कृति है, जिसमें शिक्षा और नीतिशास्त्र-संबंधी विचार व्यक्त हैं।

प्लेटो की यह दृढ़ धारणा थी कि आदर्श समाज में आदर्श व्यक्ति का भी होना आवश्यक है। अतः, व्यक्ति को समझदार होना चाहिए; क्योंकि जैसा व्यक्ति होता है, वैसा ही शासन होता है। जब व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन होता है, तब शासन में भी परिवर्तन आ जाता है। इसलिए शासन को सुधारने की दृष्टि से व्यक्ति का सुधार अपेक्षित है और व्यक्ति का सुधार तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाता। आजकल तो मनोविज्ञान पर्याप्त विकसित हो चुका है, शोध-कार्य के फलस्वरूप नित्य नए सिद्धांत प्रकाशित हो रहे हैं। परंतु, ढाई हजार वर्ष पहले प्लेटो ने मनुष्य के मनोविज्ञान के संबंध में जो बातें बतलायीं, वे निःसंदेह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

शिक्षा पर प्लेटो ने विशेष बल दिया है। उन्होंने शिक्षा को अपने चिंतन तथा कार्य में प्रमुखता दी है। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ पुरुषों के गुणों में शिक्षा सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ गुण है। उनका यह विश्वास था कि शिक्षा का अर्थ सूचना प्रदान करना ही नहीं है, अपितु उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। शिक्षा का तात्पर्य है—व्यक्तित्व का पुनर्निर्देशन। आधुनिक शब्दावली में शिक्षा का तात्पर्य है—पूर्ण परिवर्तन तथा आत्मा के नेत्रों को उस प्रकाश अथवा ज्योति की ओर जो अभी तक अदृश्य था, केंद्रित करना। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य वातावरण के मध्य आत्मा का विकास है। जीवन ग्रहण करने के प्रारंभिक क्षणों में आत्मा शरीर धारण करने के कारण संवेदना और तृष्णा में डूबी रहती है। इस अवस्था में विवेक अर्द्ध विकसित अवस्था में रहता है। उसे वस्तुओं का सच्चा ज्ञान नहीं होता तथा वह अज्ञानता के अंधकार में इधर-उधर भटकता रहता है। बड़ा होने पर बालक की अज्ञानता का पर्दा हटने लगता है तथा उसका कुंठित ज्ञान पुनर्निर्देशित होकर वास्तविक मार्ग पर गमन करने लगता है। प्रारंभिक वर्षों में यह सौंदर्य-प्रेम द्वारा होता है। आगे चलकर जब 'विवेक' का उदय होता है, उस अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य सत्य के प्रति प्रेम और उसकी प्राप्ति होनी चाहिए। शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मा को अच्छाई या 'गुण' का ज्ञान प्राप्त कराना है।

प्लेटो की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था, जो किसी कार्य को सहृदयता और विवेक से करें। वे शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार निश्चित करना चाहते थे कि गुणी व्यक्ति में गुण का विकास हो। उनका विश्वास था कि गुणी व्यक्ति ही नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय उन्होंने इच्छा, भावना और ज्ञान के अनुसार मनुष्य के गुणों की ओर संकेत किया था। इच्छा से संबंधित गुण आत्म-संयम है। बिना आत्म-संयम के मनुष्य अपनी इच्छा अथवा तृष्णा का दास हो जाता है। इस

लिए शिक्षा का उद्देश्य आत्म-संयम का विकास होना चाहिए। भावना जिसका कि संबंध हृदय से है, उसका प्रधान गुण साहस और सहनशीलता है। बिना साहस, धैर्य और सहनशीलता के मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। अतः, व्यक्ति में इन गुणों का भी विकास होना चाहिए। मनुष्य के ज्ञान से संबंधित गुण विवेक और विचार है। अतः, शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को विचारशील और विवेकी बनाना होना चाहिए। आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास का उल्लेख मिलता है। इसी के समान प्लेटो की शिक्षा का भी उद्देश्य है। जब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक गुणों का समुचित विकास हो जाता है, तभी व्यक्ति नैतिक गुणों के अनुकूल होता है। प्लेटो की शिक्षा के ये प्रधान उद्देश्य थे।

प्लेटो के शिक्षा-विधान में तर्कशास्त्र सर्वप्रमुख है। प्लेटो के 'डायलेक्टिक' में दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, प्रशासन, कानून, शिक्षा आदि विषय संमिलित हैं। दैनिक जीवन में कुशलता के लिए उन्होंने कृषि एवं व्यापार को आवश्यक बतलाया। एथेंस में उस समय कृषि और व्यापार प्रधान रोजगार था। शरीर को सुंदर, सुगठित, बलवान और स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम की शिक्षा का विधान किया गया। मनुष्य में सौंदर्य-बोध उत्पन्न हो तथा उसमें नैतिकता का विकास हो, इसके लिए प्लेटो ने संगीत, नृत्य, काव्य और साहित्य आदि विषयों को निर्धारित किया। यूनानियों के विचार में संगीत का वही महत्त्व था, जो कि यहूदियों के लिए पुराने टेस्टामेन्ट तथा ईसाइयों के लिए बाइबिल का है। प्लेटो ने संगीत तथा काव्य को समस्त बौद्धिक जीवन का मूल-स्रोत स्वीकार किया। उनके अनुसार शिक्षा के अंतर्गत संगीत का उद्देश्य है आत्म-नियंत्रण तथा व्यायाम का शारीरिक विकास। संगीत से मनुष्य का मस्तिष्क विकसित और परिष्कृत होता है तथा उसकी चिंता दूर होती है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित संगीत का अर्थ आज के संगीत से पर्याप्त भिन्न है। उनका संगीत से तात्पर्य एक व्यापक रूप में था। संगीत के अंतर्गत न केवल संगीत शिक्षा तथा नृत्य है, जिससे हमारे संवेग प्रशिक्षित होते हैं, बल्कि उसके अंतर्गत संपूर्ण साहित्यिक एवं कलात्मक अध्ययन है, जो कि 'त्रयविषय' अर्थात् लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित से प्रारंभ होकर आगे तक चलता है तथा जिसमें कवियों का अध्ययन भी संमिलित हैं, किया जाता है। काव्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए प्लेटो ने कहा है—"सभी मनुष्यों के विचार में सही रूप में शिक्षित व्यक्ति वही है, जो कवियों और काव्य के बीच पला हो तथा जो उनसे सराबोर हो चुका हो।" स्पष्टतः प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि शिक्षित व्यक्ति के लिए कवियों और उनके काव्य का अध्ययन आवश्यक है। ज्ञान की वृद्धि के लिए उन्होंने गणित विषय को भी आव-

श्यक बतलाया है। गणित की शिक्षा के कई मूल्य हैं। यह व्यावहारिक है, सैनिक और राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक है तथा यह कला का आधार है। इसके द्वारा मनुष्य अंतिम आदर्श तथा सत्ता का दर्शन पाता है। यह मस्तिष्क की शक्तियों को पहले से बढ़ा देता है। इसके द्वारा विद्यार्थी अधिक तेज, विशेष होशियार तथा धारणशील बन जाता है। ("Above all, arithmetic stirs up him who is by nature sleepy and dull and makes him quick to learn retentive, shrewd and aided by art divine, he makes progress quite beyond his natural powers." 'The Laws' Page 747. Plato)

प्लेटो के अनुसार बौद्धिक क्षेत्र में गणित तीन कार्य करता है। (१) यह मनुष्य के समक्ष वास्तविक सत्य को प्रस्तुत करता है। यह सत्य ऐसा है, जो सबके लिए समान है। (२) यह आत्मा को नीचे गिराने के बदले ऊपर की ओर उठाता है। यह इंद्रिय तथा भौतिकता के क्षेत्र से मस्तिष्क को शाश्वत् की ओर प्रवृत्त करता है। स्थूल पदार्थों के वृत्त को पार कर मनुष्य गणित के द्वारा प्रत्यय की दिशा में अग्रसर होता है। (३) गणित आत्मा को सूक्ष्म संख्याओं के विषय में तर्क करने को बाध्य करता है। यह दृश्य तथा स्थूल वस्तुओं को तर्क-वितर्क में घुसने नहीं देता। जॉन लॉक, बेकन, हरबर्ट स्पेंसर तथा हक्सले-जैसे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों ने भी गणित की शिक्षा पर बल दिया है। लॉक का विचार है कि गणित से विद्यार्थियों में तर्क करने की शक्ति उत्पन्न होती है। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी रामतीर्थ महाराज ने भी गणित को अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय माना है। वे गणित के माध्यम से वेदांत की शिक्षा प्रदान करते थे।

प्लेटो के मतानुसार शिक्षा वह विधि है, जिसके द्वारा व्यक्ति में नैतिक संस्कारों को उत्पन्न किया जाता है। प्लेटो ने संपूर्ण पाठ्यक्रम को तीन भागों में विभक्त किया है—शारीरिक उन्नयन, विद्यासंस्कार और संगीत की शिक्षा। उनका विचार था कि शारीरिक उन्नति के बिना व्यक्ति की मानसिक उन्नति भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकती, अतः, उन्होंने व्यायाम के महत्त्व को बतलाया है। संगीत द्वारा वे व्यक्ति के मस्तिष्क को परिष्कृत करना चाहते थे। संगीत व्यक्ति के मस्तिष्क को चिंताओं से दूर रखता है। इससे हमारे मस्तिष्क का विकास होता है। प्लेटो की शिक्षा का अंतिम उद्देश्य था व्यक्ति को 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का ज्ञान कराना। उन्होंने दो प्रकार की शिक्षा का वर्णन किया है—

(१) दैनिक कार्यों में कुशलता प्राप्त करने वाली शिक्षा (Education for practical affairs.)

(२) राज्य की सेवा करने के योग्य बनाने वाली शिक्षा (Education for service to the state.)

इसमें प्रथम प्रकार की शिक्षा को वे हेय दृष्टि से देखते हैं। उसे वे निम्न कोटि की शिक्षा मानते हैं। उनका यह विचार आधुनिक अमेरिका के विचार से भिन्न है। उनका यह विचार है कि दैनिक कार्यों में कुशलता प्राप्त कराने वाली शिक्षा व्यक्ति को 'ज्ञान' और 'विवेक' से दूर रखती है। 'ज्ञान' और 'विवेक' से दूर रहने पर व्यक्ति में आदर्शवाद की भावना नहीं आ पाती और प्लेटो व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाना चाहते हैं। जो शिक्षा व्यक्ति को आदर्श नागरिक नहीं बना सके, वह शिक्षा निम्नकोटि की है, ऐसा उनका विचार था।

द्वितीय प्रकार की शिक्षा को प्लेटो उच्च कोटि की शिक्षा मानते हैं। इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति में 'विवेक' और 'ज्ञान' उत्पन्न करती है। इस शिक्षा से व्यक्ति में राज्य-संचालन की क्षमता उत्पन्न होती है। यह शिक्षा आदर्श नागरिकों का निर्माण करती है। आदर्श नागरिकों का निर्माण ही प्लेटो का शिक्षाविषयक मुख्य उद्देश्य था। इसीलिए इस शिक्षा को उन्होंने उच्च स्थान दिया।

प्लेटो ने जिस आदर्श-समाज (Utopia) की कल्पना की है, उसके लिए योग्य नागरिक निर्माण करने के निमित्त अपनी शिक्षा-योजना प्रतिपादित करते हुए बतलाते हैं कि जन्म से लेकर दस वर्ष तक बालक अपने माता-पिता के प्रभाव से मुक्त रखे जाएँ। उनका विचार था कि माता-पिता के कुप्रभाव बालकों के अविकसित मस्तिष्क पर प्रभाव डालेंगे और उनके अंदर वे सभी दुर्गुण उत्पन्न होंगे, जो उनके अंदर वर्त्तमान हैं। अतः, शैशवावस्था के इन बालकों को माता-पिता से अलग नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था करके रखा जाए। प्लेटो के मतानुसार प्रथम तीन वर्ष की अवस्था तक के बालकों को पालन-पोषण में इस प्रणाली का प्रयोग हो कि उन्हें विशेष क्लेश और आनंद का अनुभव नहीं हो। अर्थात् उन्हें पीड़ा और आनंद का कम-से-कम अनुभव हो। इन बच्चों को पौष्टिक तत्त्वयुक्त भोजन दिया जाए। ऐसे शिशुओं को भय से भी त्राण दिया जाए। छह वर्ष तक की अवस्था के बालकों के लिए राज्य नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था करे। इस समय उनके स्वास्थ्य का पूरा ख्याल रखा जाए। शिक्षा के इस काल में उन्हें परियों की कहानी, नर्सरी, संगीत, ईश्वर तथा महात्माओं की कहानी पढ़ायी जाए। इस समय उन्हें थोड़ा पीड़ा और आनंद दोनों का अनुभव होने देना चाहिए। उन्हें ऐसी राष्ट्रीय कहानियाँ सुनायी जाएँ, जिनके द्वारा उन्हें राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और आदर के भाव उत्पन्न हों तथा आत्मनिर्भरता, सहनशीलता और साहस की शिक्षा मिले, उनमें खेलों के प्रति रुचि उत्पन्न की जाए।

छह वर्ष की आयु से बालकों की प्राथमिक स्कूल की शिक्षा का प्रारंभ होता है। प्लेटो ने बतलाया कि छह से तेरह वर्ष तक के बालक को व्यायाम, खेल, घुड़सवारी, मामूली हथियार चलाना, काव्य पढ़ना-लिखना, संगीत, नृत्य, धर्म, संख्या तथा ज्यामिति का ज्ञान करा देना चाहिए। गणित की भी शिक्षा इस काल में ही प्रारंभ हो जानी चाहिए। शिष्टाचार का पाठ इस अवस्था में अवश्य पढ़ाया जाए।

प्लेटो किशोरावस्था के इन बालकों को व्यायाम और खेल-कूद की शिक्षा विशेष रूप से देने के पक्ष में थे; क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य को रोगी नहीं रहना चाहिए। प्लेटो चाहते थे कि आदर्श समाज के नागरिक पूर्ण स्वस्थ हों। इसका यह मतलब नहीं कि प्लेटो केवल शारीरिक शिक्षा को ही प्रश्रय देते थे। वस्तुतः वह संगीत और व्यायाम की समन्वयात्मक शिक्षा देना चाहते थे। उनका विचार था कि शिक्षा में अधिक संगीतात्मक शिक्षा से नवयुवक का स्वभाव कोमल और मृदुल हो जाता है।

तेरह से सोलह वर्ष तक धार्मिक गीत, गणित तथा काव्य के अध्यापन का विधान है। संगीत की शिक्षा विशेष रूप में इस अवस्था में दी जाए। प्लेटो ने वाक्य-संगीत, कंठस्थ-काव्य तथा धार्मिक काव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

सोलह से बीस वर्ष तक सैनिक शिक्षा की प्रधानता दी जाए। युवकों को ऐसे व्यायाम की शिक्षा दी जाए, जो उनमें स्फूर्ति उत्पन्न करें। प्लेटो का विचार था कि जब बालक बीस वर्ष का युवक बन जाए, तो उस अवस्था में उसकी कठिन परीक्षा होनी चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि उसमें उच्च शिक्षा की प्रतिभा है या नहीं। इस परीक्षा में युवक की सहनशीलता, साहस, योग्यता और आरंभिक शक्ति की जाँच की जाती थी। अगर युवक में इस क्षमता की कमी होती थी, तो उसे उच्च शिक्षा दी जाती थी। अब उच्च शिक्षा दस वर्ष तक दी जाती थी। इस अवधि में उसकी शिक्षा ऐसी होती थी कि उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाए। इस प्रसंग में प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'दि रिपब्लिक' में लिखा है, जिसका आशय इस प्रकार है। इसके पूर्व तो बालक को विज्ञान का केवल सामान्य ज्ञान प्राप्त कराया जाता था, किंतु अब वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पारस्परिक संबंधों को समझेंगे। यह विज्ञान मूल रूप में गणित के रूप में है तथा इसके अंतर्गत अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिषशास्त्र और हारमोनिक्स अथवा संगीत की गणितीय पद्धति आदि आती हैं। ये विषय किसी भी प्रकार के व्यावहारिक कार्यों, प्रयोगों आदि के लिए नहीं प्रयुक्त होंगे, अपितु सिद्धांत के रूप में ही सिखाए जाएंगे। इस प्रकार वे नागरिक चिंतन-मनन में सफलतापूर्वक योग्यता प्राप्त करेंगे।

प्लेटो के शिक्षा-विधान के अनुसार पुनः इस वर्ष के बाद युवक की तीस वर्ष की अवस्था में उसकी परीक्षा होती थी, जिसमें सफल होने पर दर्शन के अध्ययन की अनुमति मिलती थी तथा असफल होने पर राज्य की सेना में अथवा कार्यालय के अधिकारी पद पर नियुक्त किया जाता था। प्लेटो ने तीस वर्ष से कम उम्र के युवकों को दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने की अनुमति नहीं दी थी; क्योंकि वह चाहता था कि दर्शनशास्त्र के अध्ययन द्वारा युवकों को स्पष्ट रूप से सोचने-विचारने की क्षमता उत्पन्न हो तथा वे आदर्श समाज के सफल शासक बनें। तीस से पैंतीस वर्ष तक के युवकों को दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना पड़ता था। इस अवधि में उन्हें दर्शन के अतिरिक्त मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र तथा कानून की भी शिक्षा दी जाती थी; क्योंकि अब उन्हें राज्य-संचालन में सक्रिय भाग लेना था। इस पाँच वर्ष की अवधि में तर्क और भाषण करने की पूर्ण क्षमता प्राप्त हो जाती हैं। तत्पश्चात् वे राज्य के अभिभावक (Guardian of the State) उच्च अधिकारी बना दिए जाते थे, जिनके हाथों राज्य की बागडोर होती थी। ऐसे व्यक्ति पचास वर्ष तक शासन-कार्य की देखभाल के पश्चात् अवकाश ग्रहण करते थे। ये अवकाशप्राप्त राज्य के उच्च पदाधिकारी तब 'दार्शनिक सत्यों' की खोज में अपना समय लगाते थे।

प्लेटो स्त्री-पुरुष की प्रकृति में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि पुरुष जिन कार्यों को करने की क्षमता रखते हैं, उसके लिए स्त्रियाँ भी समर्थ हैं। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा शारीरिक बल की कमी अवश्य होती है, तथापि वे पुरुष के समान सभी कार्य करने में क्षमतायुक्त हैं। प्लेटो 'दि रिपब्लिक' के पृष्ठ १७६ पर इस प्रसंग में लिखते हैं—

"So far as her nature is concernd, the woman is admissible to all pursuits as well as man though in all of them the woman is weeker than men."

स्त्रियों के स्वभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने अपने ग्रंथ 'दि लॉज' (The Laws) में लिखा है कि स्त्रियाँ पुरुषों के प्रायः सभी कार्य करने की योग्यता रखती हैं, यद्यपि वे पुरुष से निर्बल अवश्य हैं। अतः, बालक-बालिकाओं को समान रूप से समान विषयों की शिक्षा दी जाए। बालिकाओं के लिए भी संगीत, नृत्य, सैनिक शिक्षा, जिमनास्टिक, घुड़सवारी युद्ध की शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाए।

प्लेटो के ये उपर्युक्त विचार तत्कालीन यूरोपीय समाज के लिए बड़े क्रांतिकारी थे। स्त्रियों को जो मान्यताएँ और सामाजिक अधिकार पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में पुनरुत्थान-काल (Renaissance) और सुधार-युग (Reforma-

tion-Period) में ही किसी प्रकार मिल सकीं, उसकी स्पष्ट कल्पना प्लेटो ने ईसा के प्राय: चार सौ वर्ष पहले की थी। पुनरुत्थान-काल में स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिल चुका था। वे विश्वविद्यालयों में भी अध्यापन करने की अधिकारिणी थीं, परंतु पुरुषों की तुलना में उन्हें हीन समझा जाता था। इस भावना का अंत सुधार-युग में हुआ, जब स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हीन समझी जाने वाली बात समाप्त हो गई। वे पुरुषों के समान ही राज्य-कार्यों में भाग लेने की अधिकारिणी समझी जाने लगीं। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हुए। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो अपने युग से कितना आगे थे। नि:संदेह दार्शनिक प्लेटो मानव और उसी के द्वारा गठित उसकी समाज के मौलिक तत्वों को समझने की सूझ से पूर्ण युक्त थे। वे दूरदर्शी महापुरुष थे।

प्लेटो के इस विचार की आलोचना की गई है, परंतु वे अपने समस्त विचारों को सिद्धांत का रूप देना चाहते थे। राज्य का हित ही सर्वप्रमुख होने के कारण उन्होंने स्त्रियों को भी पुरुष के समान शिक्षा प्रदान करने के लिए बतलाया, जिससे स्त्रियाँ पुरुषों के समान राज्य-हित में कार्य कर सकें। उनका विश्वास था कि 'राज्य के प्रशासन में न तो स्त्री को स्त्री के रूप में और न पुरुष को पुरुष के रूप में कोई विशेष कार्य करने पड़ते हैं, किंतु दोनों में प्राकृतिक देन समान रूप से होते हैं। जो कार्य पुरुष के हैं, वे स्त्रियों के भी होते हैं, किंतु स्त्री शारीरिक दृष्टि से पुरुषों से निर्बल होती है। यद्यपि प्लेटो यह स्वीकार करते हैं कि शारीरिक शक्ति में स्त्री, पुरुष से निर्बल अवश्य है, तथापि वे इसकी मान्यता प्रदान करते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र अथवा प्रशासकीय योग्यता में स्त्रियाँ पुरुषों के ही समान हैं, अत: उनको भी उन विषयों की शिक्षा दी जाए, जिसके लिए पुरुष को योग्य माना जाता है। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्लेटो ने शिशुओं पर राज्य का नियंत्रण स्वीकार किया है। वे राज्य को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। वे साधन को साध्य से ऊँचा समझते हैं। बालकों और बालिकाओं की उत्पत्ति के पश्चात् राज्य उनको अपने संरक्षण में पालन-पोषण की व्यवस्था करेगा।

प्लेटो के व्यक्तित्व में यूनानी आदर्शवाद की भावना चरमोत्कर्षता को प्राप्त होती है: शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय के समन्वय स्वरूप उनके व्यक्तित्व में यूनानी सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट देन हम निहित पाते हैं। उनके साथ यूनानियों की इंद्रिय-आश्रित सौंदर्य-भावना नैतिकता की ओर अग्रसर हुई। उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना द्वारा एथेंसवासियों का नैतिक उत्थान करना चाहा। सोफिस्टों की शिक्षा का जो अहितकर प्रभाव पड़ा, जो अराजकता बढ़ी, युवकों का जो शारीरिक एवं मानसिक ह्रास प्रारंभ हुआ, उसमें भी प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना द्वारा सुधार लाने

की चेष्टा की। सोफिस्ट नैतिकता पर अविश्वास करते थे। वे दैहिक सुख को प्रधानता देते थे। सोफिस्ट व्यक्ति को राज्य से ऊँचा मानते थे। परंतु, प्लेटो के विचार-स्वरूप इन पर कुठाराघात हुआ। उन्होंने दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर उन्मुख कर व्यक्ति को विवेकशील बनाया। अकादमी की स्थापना कर वर्त्तमान विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की एक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की। वे आदर्शवादी विचारों के व्यक्ति थे, अतः उन्होंने प्रत्येक चीज में आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'दि रिपब्लिक' (The Republic) में एक आदर्श राज्य 'यूटोपिया' (Utopia) की कल्पना की तथा उसकी स्थिरता के लिए आदर्श शिक्षा-योजना का प्रस्तुतीकरण और इन दोनों के समुचित व्यवस्थापक आदर्श नागरिक के निर्माण का मार्ग-दर्शन किया है। उनका कहना है कि आदर्श नागरिकों की उत्पत्ति पर आदर्श राज्य स्वतः प्रदर्शित और दिग्दर्शित होगा।

परंतु (१) व्यक्ति को राज्याधीन कर उसकी स्वतंत्रता का अपहरण, (२) व्यक्तिगत संपत्ति एवं कौटुंविक जीवन का उन्मूलन, (३) शिक्षा को मात्र शासक-वर्ग के लिए बना कर इसका अर्थ संकुचित करना, (४) संपूर्ण राज्य की सत्ता दार्शनिकों तथा बौद्धिक वर्ग को सौंप दी जाए; क्योंकि यही वास्तविक ज्ञानी होते हैं ऐसी धारणा, (५) साहित्यिक शिक्षा पर कम परंतु गणितीय शिक्षा पर अधिक बल देना, (६) व्यावसायिक वर्ग को शिक्षाविहीन बनाना आदि प्लेटो के सिद्धांत आलोचना के विषय हैं।



अध्याय ६

अरस्तू

अरस्तू (ई० पू० ३८४—ई० पू० ३२२) यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक और महान् शिक्षाशास्त्री थे। एथेंस की अकादमी में प्लेटो (ई० पू० ४२०—ई० पू० ३४८) का शिष्यत्व ग्रहण करने के पहले उन्होंने मैसेडन के वैज्ञानिक स्कूलों में तथा अपने पिता के पास शिक्षा पायी थी। वे लग्नशील और विद्याव्यसनी विद्यार्थी थे, जिसके कारण प्लेटो उनको 'रीडर' कहते थे। अरस्तू का 'रीडर' शब्द द्वारा संबोधित होना, वह भी प्लेटो-जैसे श्रेष्ठ कोटि के विचारक द्वारा, उनकी विद्याभिमुखता और अध्ययनशीलता का द्योतक तथा परिचायक है।

अरस्तू अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और दार्शनिक थे। उनका जन्म एथेंस से लगभग दो सौ मील उत्तर की ओर स्टैगरा नामक स्थान में ईसा से तीन सौ चौरासी वर्ष पूर्व हुआ था। उनके पिता यूनान देश के निवासी थे, परंतु जीविका-प्राप्ति हेतु मैसेडोनिया में बस गए थे। वे राजा फिलिप के चिकित्सक थे और मित्र भी। अरस्तू ने भी चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया था। उन्हें अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही विज्ञान के ज्ञानार्जन का भी सुअवसर मिला था।

अरस्तू के प्रारंभिक जीवन के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। संभवतः उन्होंने अपना पैतृक धन, युवा अवस्था में ही समाप्त कर दिया था और जब अर्थ का कष्ट सहने लगे, तो सेना में नौकरी कर ली। तत्पश्चात् अपनी जन्मभूमि स्टैगरा में लौट आए थे। वहीं चिकित्सा-कार्य करने लगे। कुछ समय बाद तीस वर्ष की अवस्था में प्लेटो के पास गए और दर्शनशास्त्र का अध्ययन-मनन करने लगे। ऐसा भी कहा जाता है कि वे प्लेटो के पास अठारह वर्ष की अवस्था में अध्ययनार्थ पहुँचे थे। जो भी हो, वे प्लेटो के अत्यधिक प्रिय शिष्य थे और मेधावी तथा अध्ययनशील होने के कारण ही प्लेटो उनको 'रीडर' शब्द से संबोधित करते थे।

अरस्तू अत्यंत प्रभावशाली युवक थे और प्लेटो-जैसे दार्शनिक शिक्षक से जब उनका साक्षात्कार हुआ, तो उनकी प्रतिभा विशेषरूपेण प्रस्फुटित एवं पल्लवित हुई। प्लेटो ने भी अपने शिष्य को बड़े लगन से पढ़ाया। इसका सुफल हुआ कि अरस्तू, प्लेटो से भी अधिक उन्नति कर सके। अरस्तू की विद्वत्ता, विद्या-व्यसन की तल्लीनता और उन्मुखीकरण के संबंध में ऐसी कथा है कि उन्होंने अपना धन बेच कर एक पुस्तकालय की स्थापना की थी। स्मरण रखना चाहिए कि यह वह जमाना था, जब पुस्तकें मुद्रित नहीं होती थीं, अपितु हस्तलिखित हुआ करती थीं। अतः, पुस्तकों का मूल्य अधिक होता था। मुद्रण-कला का उस समय आविष्कार ही नहीं हुआ था। अरस्तू को जब कभी कोई लेख या पुस्तक मिल जाती थी, वह उसे खरीद लेते थे और उसके आधार पर 'खोज' (Research) करना प्रारंभ करते थे। ऐसी थी अरस्तू की ज्ञान-पिपासा।

प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् 'अकादमी' के लिए आचार्य की नियुक्ति का प्रश्न उठा। अरस्तू इस पद के लिए सर्वाधिक योग्य एवं दक्ष व्यक्ति थे, परंतु एथेंस में वे विदेशी समझे जाते थे; क्योंकि उनके पिता यूनानी थे। ऐसी अवस्था में प्लेटो के भतीजे को 'अकादमी' का आचार्य-पद प्रदान किया गया। इस घटना से अरस्तू को मानसिक क्लेश हुआ और वे एथेंस छोड़ कर चले गए। एथेंस से बाहर ही उन्होंने अपनी शादी की। उनकी स्त्री, उनके पुराने सहपाठी हरमिसिपस की भतीजी थी। कुछ वर्ष पश्चात् मैसेडोनिया-नरेश फिलिप ने अपने पुत्र सिकंदर को पढ़ाने के लिए अरस्तू को आमंत्रण दिया। उन्होंने यह आमंत्रण स्वीकार किया तथा अपनी जन्मभूमि पर पुनः आ गए। उन्होंने सिकंदर को चार वर्ष तक पढ़ाया। सिकंदर अपनी किशोरावस्था में बहुत उच्छृंखल युवक था। पढ़ने में उसका मन नहीं लगता था। परंतु, अरस्तू के संपर्क में आने पर उसमें संयम का विकास हुआ। सिकंदर अरस्तू का बहुत सम्मान करता था और उन्हें अपने पिता के समान आदर देता था। उसने कहा भी था—"अपने जीवन के लिए मैं अपने पिता का और जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, इसके लिए अरस्तू का ऋणी हूँ।"

सिकंदर को शिक्षा देने के पश्चात् अरस्तू यात्रा करने निकल पड़े और बहुत दिनों तक भ्रमण करने के बाद एथेंस लौट आए। उनके जीवन का अंतिम भाग क्लेशपूर्ण कहा जाएगा। उन्होंने एथेंस में 'लिसियस' नामक विद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ वे इस विद्यालय के संस्थापक-आचार्य के रूप में रहते थे। इस विद्यालय में धनी वर्ग के युवक भाषण-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे; क्योंकि अरस्तू एक अत्यंत योग्य शिक्षक थे। मैसेडोनिया-नरेश सिकंदर बहुत महत्वकांक्षी व्यक्ति था। उसने अपने राज्य को विस्तृत करने की इच्छा की।

इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसने यूनान पर आक्रमण किया। एथेंस की पराजय हुई और वह मैसेडोनिया के अधीन हो गया। अरस्तू की समझ में भी यही अच्छा था कि यूनान के नगर राज्यों की समाप्ति हो जाए और वे एक शासन के अधीन हों। अरस्तू और सिकंदर के इस विचार में साम्य था। अरस्तू सिकंदर के शिक्षक थे और सिकंदर ने अपने गुरु की प्रतिमा एथेंस नगर के केंद्र में स्थापित की थी। इस घटना से भी एथेंसवासी विशेष क्षुब्ध थे। इनकी राय में अरस्तू विदेशी थे, अतः वे अरस्तू को अपना शत्रु मानते थे। एथेंसवासी अपनी खोयी हुई आजादी पुनः प्राप्त करने में सचेष्ट थे। इसी अवधि में सिकंदर की मृत्यु हो गई। एथेंस में क्रांति हुई और वह मैसोडोनिया के प्रभुत्व से मुक्त हो गया। अरस्तू पर दोष लगाया गया और उन्हें दंड का भागी ठहराया गया। फलस्वरूप उन्होंने एथेंस छोड़ दिया। उस समय एथेंस की शासन-प्रणाली में ऐसा विधान था कि कोई आदमी दंड-स्वरूप एथेंस छोड़ कर अगर चला जाए, तो उसे शारीरिक दंड नहीं भुगतना पड़ता था। ३२२ ई० पू० में अरस्तू का शरीरांत हो गया।

अरस्तू का शिक्षा-दर्शन

अरस्तू के शिक्षा-संबंधी विचार, 'एथिक्स' तथा 'पालिटिक्स' नामक उनके ग्रंथों से उपलब्ध होते हैं। पहली पुस्तक में व्यक्तिगत अनुशासन की विवेचना की गई है और दूसरी में समाज के उस सर्वोत्तम रूप की, जिसमें ऐसा अनुशासन संभव हो सकता है। 'एथिक्स' में वे हमें जीवन के लक्ष्य से अवगत कराते हैं।

प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी राजनीति को उच्चतम कला माना है। राजनीति वह कला है, जिसके द्वारा मनुष्य-जाति का अधिकतम कल्याण हो सकता है। शिक्षा और नैतिकता दोनों राजनीति के अंग हैं। इनका दायित्व सरकार पर है। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों की शिक्षा और नैतिकता की उचित व्यवस्था करे जिससे योग्य और उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिकों का प्रादुर्भाव हो। अच्छे और गुणकारी व्यक्तियों का राज्य में होना अत्यंत आवश्यक है, अपितु सरकार और राजनीति, अपने सभी गुणों से युक्त होने के बावजूद असफल ही होंगे।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः, नैतिक उत्तमता समाज में ही प्राप्त की जा सकती है। अरस्तू ने प्लेटो की भाँति समाज के उन्नति और विकास के लिए य आवश्यक समझा कि व्यक्ति में राजनीतिक बुद्धि उत्पन्न हो, जिसमें वह समाज क उपयोगी सदस्य और राज्य का कुशल नागरिक बन सके। जब तक आदर्श नागरिव नहीं होंगे, तब तक राज्य की व्यवस्थित शासन-प्रणाली में त्रुटियाँ और अवरोधों क वर्त्तमान रहना अवश्यंभावी है। अतः, अरस्तू ने शिक्षा-प्रणाली के आधार पर कुशल नागरिक बनाने की व्यवस्था की। उनके विचारानुसार कोई राज्य तभी सदाचार

हो सकता है, जब इसके शासन-कार्य में भाग लेने वाले नागरिक सदाचारी हों और राज्य के सभी नागरिक शासन में भाग लेते हों। इस प्रकार राज्य के सभी नागरिकों के लिए सदाचारी होना परमावश्यक है। परंतु, सदाचार तथा अच्छाई स्वतः नहीं उद्भूत होती, ये ज्ञान तथा प्रयोजन के प्रतिफल हैं। ज्ञान तथा प्रयोजन शिक्षा के ही आधार पर अवलंबित हैं।

अरस्तू के अनुसार जीवन का उद्देश्य अच्छाई (Goodness) नहीं, वरन् आनंद है। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों और सिद्धांतों द्वारा जीवन में आनंद की प्राप्ति पर जोर दिया है। व्यक्ति तथा समाज दोनों दृष्टिकोणों से उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य आनंद की प्राप्ति बतलाया है। इस आनंद की उपलब्धि व्यक्ति की संपूर्ण नैसर्गिक शक्तियों के संतुलित कार्यकलाप द्वारा चेष्टावान् होने पर ही संभव है। मनुष्य की संपूर्ण शक्ति उसकी विचारशक्ति पर निर्भर है। इसी शक्ति के कारण मनुष्यविशेष में अंतर हो जाता है और इसी के आधार पर वह उन्नति और शासन करता है। मनुष्य की विचारशक्ति का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, उसे पूर्ण आनंद की उपलब्धि होती है। इस प्रकार आनंद की प्राप्ति के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता विचारशक्ति है। विचारशक्ति पर ही मनुष्य के सभी गुण निर्भर करते हैं। विचार और तर्क के आधार पर ही मनुष्य अपने गुणकारी कार्यों का निर्णय करता है। इस गुण के विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को चरित्रवान, स्वस्थ और प्रतिष्ठित होना चाहिए, उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विकसित हुई रहनी चाहिए तथा उसको अपने अवकाश के समय को उचित रीति से व्यतीत करने का ज्ञान और क्षमता होनी चाहिए।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में वैज्ञानिक और दार्शनिक गूढ़ाध्ययन का पाठ्यक्रम नहीं प्रस्तुत किया है। संभव है किया हो, परंतु ग्रंथ का वह अंश अप्राप्य है। उनके विचारानुसार पठन-लेखन, चित्रकारी, व्यायाम और संगीत की शिक्षा के पश्चात् भौगोत्मक वृत्तियों के संशोधन की ओर फिर मन और आत्मा की शिक्षा मिलनी चाहिए। उन्होंने जीवविज्ञान और इतिहास के अध्यापन में भी पर्याप्त रुचि दिखलायी है। शिक्षा प्रत्येक अंग की सम्यक् होनी चाहिए और फिर समस्त के विकास की दृष्टि से भी होनी चाहिए। बौद्धिकता की प्राप्ति ही सच्ची शिक्षा का लक्ष्य है और इसी से आदर्श व्यक्ति उत्पन्न होंगे।

आदर्श व्यक्ति

अरस्तू ने अपने दार्शनिक विचारों और सिद्धांतों द्वारा जीवन में आनंद की प्राप्ति पर बल दिया है। आनंद की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में अच्छाई और गुण होना चाहिए, जो कि सम्यक् कार्य पर निर्भर है। जब व्यक्ति यह सब कर ले, तभी वह

आदर्श व्यक्ति बन सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में आदर्श व्यक्ति की परिभाषा देते हुए इस इस आशय के शब्द लिखे हैं :—

"एक आदर्श व्यक्ति बिना किसी कारण के अपने को संकट में नहीं डालता; क्योंकि ऐसी वस्तुएँ बहुत कम हैं, जिनके लिए उसे चिंता करनी पड़ती है। परंतु, अवसर आने पर वह अपनी जान भी देने को तैयार रहता है; क्योंकि वह जानता है कि कतिपय परिस्थितियों में मृत्यु, जीवन धारण करने से भी अधिक श्रेष्ठ है। वह दूसरों की सेवा करने के लिए सर्वदा तत्पर रहता है तथा दूसरों से अपनी सेवा कराने में लज्जित होता है। किसी पर दया करना श्रेष्ठता है, परंतु दया का पात्र बनना लघुता।""वह क्या चाहता है और क्या पसंद करता है, यह स्पष्ट होता है। वह बिना हिचक के साफ-साफ बातें कहता है और कार्य करता है। वह प्रशंसा से कभी अतिशय प्रसन्न नहीं हो जाता; क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई वस्तु बड़ी नहीं है। वह सबके साथ मित्रता का व्यवहार करता है और किसी का दास बनना नहीं चाहता। वह अपने मन में नीच विचारों को नहीं रखता तथा दूसरों द्वारा की गई हानियों को भूल जाता है। उसे बातचीत करने का बहुत शौक नहीं होता। वह यह नहीं चाहता कि उसकी प्रशंसा हो तथा दूसरों की निंदा। वह दूसरों की, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी निंदा तथा बुराई नहीं करता। उसकी वाणी में गंभीरता होती है तथा वह नपे-तुले शब्दों का प्रयोग करता है। वह किसी वस्तु के संबंध में चिंतित नहीं रहता। वह किसी बात को बहुत जोर देकर भी नहीं कहता; क्योंकि वह किसी भी बात को बहुत महत्त्व नहीं देता। वह जीवन के संघर्षों का सामना गौरव और गरिमा से करता है और परिस्थितियों से यथासंभव लाभ उठाकर अपनी शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है, जैसे युद्ध में एक सेनानायक। वह अपना सबसे बड़ा मित्र होता है तथा एकांत में बड़े आनंद के साथ रहता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति गुणहीन और अयोग्य है, वह स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है और वह एकांत से घबराता है।"

आदर्श नागरिक बनाने के लिए अरस्तू ने, शिक्षा का, सात से इक्कीस वर्ष तक में, तीन अवस्थाओं का विधान किया है। प्रथम अवस्था जन्म से सात वर्ष की थी। इस अवस्था में बालक की प्रारंभिक शिक्षा होती थी, जिसमें खेल-कूद को प्रधान स्थान दिया जाता था। प्लेटो के समान अरस्तू भी शारीरिक विकास को आवश्यक मानते थे। प्लेटो चाहते थे कि आदर्श समाज के नागरिक स्वस्थ हों। अस्वस्थ होना वे लज्जाजनक समझते थे। अरस्तू का भी विचार था कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क विकसित होता है। परंतु, वे स्पार्टी शिक्षा के समान व्यायाम के हिमायती नहीं थे। शारीरिक विकास के लिए वे अधिक परिश्रम के पक्ष में नहीं

थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि "अधिक शारीरिक परिश्रम से मस्तिष्क थक जाता है और वौद्धिक परिश्रम से शरीर।" उनका यह भी कहना था कि सैनिक शिक्षण से मनुष्य निर्दय हो जाता है। सात से चौदह वर्ष तक के किशोर को पढ़ना-लिखना, चित्रकला और संगीत के साथ-साथ व्यायाम तथा खेल-कूद की शिक्षा देनी चाहिए। चित्रकला से कलात्मक विचार-निर्णय आता है तथा संगीत से कई प्रकार के संवेगों का विकास होता है। चौदह के वाद इक्कीस वर्ष तक में गणित, ज्यामिति और खगोल की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इक्कीस वर्ष के वाद अरस्तू ने राज्य-कार्य में भाग लेने के लिए युवकों के लिए नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति का अध्ययन आवश्यक वतलाया है।

अरस्तू की दृष्टि में शिक्षा नागरिकता का विकास करती है और सच्ची नागरिकता के लिए नैतिक शीलों की एवं ज्ञान-विज्ञान की साधना आवश्यक है। शिक्षा को केवल उपयोगितावादी और व्यवसाय की प्राप्ति करा देने वाला मानना उनको कदापि अभीष्ट नहीं है। व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति ही शिक्षा का उद्देश्य है। उस शिक्षा-प्रणाली को अरस्तू दूषित मानते हैं, जो शरीर को विकृत कर देती है और शील की साधना के लिए मानव-मन या आत्मा को अयोग्य वना डालती है। अतः, केवल उपयोगी शिक्षा से वालकों को यांत्रिकवादी नहीं वना दिया जाए, उनके लिए उदारवादी चरित्रोन्नयनकारी शिक्षा की भी व्यवस्था अवश्य हो। उदारवादी शिक्षा का मूलाधार यह है कि मानव सभी विपयों में चित्त-प्रसन्नताकारी रस लेने की योग्यता रखें। शक्ति का एक ही विषय में नितांत केंद्रीकरण उदारवादी धारा के प्रतिकूल है। अतः, स्पष्ट है कि पेरिक्लिज के जमाने में एथेंस में भद्र पुरुष की जो कल्पना थी, वही प्रायः अरस्तू को भी अभिप्रेत है।

अरस्तू के राजनीतिक दर्शन में अवकाश का वहुत महत्त्व है। नागरिकता जीवन-यापन के श्रम से विश्राम मिलने पर ही निभ सकती है; क्योंकि नागरिकता का तत्त्व यही है कि नागरिक आवश्यक वैधानिक और न्यायप्रिय कार्यों में हिस्सा ले सकें। कार्यनिवृत्तिजन्य अवकाश से न केवल शारीरिक सुख मिलता है, वल्कि यह राजनीतिक कर्मों और वौद्धिक कर्त्तव्यों को करने का परम आधार है। यदि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सारा समय लग जाएगा, तव राजनीतिक और चिंतनात्मक कार्यों के करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अरस्तू ने संगीत की शिक्षा पर वल प्रदान किया है—संभवतः इसी दृष्टिकोण से।

संगीत कई प्रकार के संवेगों को परिष्कृत कर समुन्नत और विकसित करता है। उचित निर्माण करने में यह सहायक होता है तथा अच्छी वातों के प्रति स्नेह और वुरी वातों के प्रति घृणा उत्पन्न करता है। संगीत आनंद और आराम के लिए

होता है। यह निर्दोष सुख का साधन है। इससे श्रम से उत्पन्न थकान दूर होती है, इससे भावनाओं का शुद्धिकरण होता है, इसके सहारे अवकाश का उचित उपयोग होता है तथा यह नैतिकता की वृद्धि एवं चारित्रिक उन्नति का उपकरण है। अतः, नौजवानों की शिक्षा में संगीत को समुचित स्थान दिया जाना चाहिए।

'Music has the power of forming the character, and could, therefore, be introduced into the education of the young. (Politics—VIII, 5)

परंतु, सर्वदा ही यह ध्यान में रखना है कि परिपक्वावस्था में जो कार्य नागरिकों को करना है, उससे कहीं उनकी दृष्टि हट नहीं जाए। संगीत को सर्वदा संयम के साथ सीखना है, जिससे सैनिक और नागरिक प्रशिक्षण से विरति नहीं पैदा हो जाए। अतः, उत्तेजक और शिथिलकारी संगीत को छोड़कर संगीत-विद्या के विषय में मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए, जिससे उतनी योग्यता हो जाए कि दूसरों की सुंदर समन्वयकारी वृत्तियों का उचित सम्मान किया जा सके। चारित्रिक विकास के लिए अरस्तू लिखियन और स्पार्टा (डोरियन) के संगीतों के हिमायती है। जिनसे केवल वासनामूलक सुखोपलब्धि होती है, उन समस्त वाद्ययंत्रों का अरस्तू बहिष्कार चाहते हैं। प्लेटो का भी विचार था कि अधिक संगीत से मनुष्य इतने कोमल स्वभाव का हो जाता है कि वह किसी काम का नहीं रहता। अतएव, १६ वर्ष की आयु के पश्चात् विद्यार्थी को संगीत का व्यक्तिगत अध्ययन समाप्त कर देना चाहिए और केवल सामूहिक संगीत में भाग लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्लेटो का यह भी विचार था कि संगीत का समन्वय अन्य विषयों से होना चाहिए। उदाहरणतः गणित, विज्ञान और इतिहास की शिक्षा सुंदर गीतों द्वारा रोचक बनायी जा सकती है।

अरस्तू के विचारानुसार प्रारंभिक अवस्था से ही शिशुओं को दृढ़ांग बनाना है। शिक्षा-निदेशक राज्य द्वारा नियुक्त हों और उनका यह कार्य हो कि कहानियों एवं कथाओं का इस दृष्टि से नियंत्रण करें जिन कार्यों को भविष्य में करना है, उन कार्यों को करने के लिए ही बालकों का मस्तिष्क तैयार हो। बालकों के भ्रमण और उनकी भाषा पर ध्यान रखना चाहिए, जिससे वे कोई अशोभनीय बात नहीं सीख जाएँ। बच्चों की भावना और सद्-असद् समझने की वृत्ति को जागरूक बनाना भी आवश्यक है। गंदे और लड़ाई-झगड़े के खेल, अनुपयुक्त कहानियाँ, बुरी भाषा और अश्लील चित्रों का प्रतिरोध होना चाहिए। बच्चों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन, वस्त्र और व्यायाम की व्यवस्था होनी चाहिए। परंतु, अरस्तू दुर्बल और कुरूप बच्चों को मार डालने के पक्ष में हैं।

अरस्तू के शिक्षा-दर्शन में कई महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की विस्तृत विवेचना की गई है। एबी और ऐरोऊड ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऐंड फिलॉसफी आफ एड्केशन' के पृष्ठ ४४ पर लिखा है "शिक्षा-विधि के क्षेत्र में अरस्तू की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।" (In the field of educational method, Aristotle made the most positive contribution.—Eby and Arrowood—History and Philosophy of Education. Page 44) राज्य और जीवन-दर्शन की उन्होंने अच्छी मीमांसा की है। सद्वृत्तमूलक शील प्रसाधक जीवन-दर्शन के अभाव में राज्यकर्म समुन्नित रूप से नहीं हो सकता। अरस्तू की मान्यता है कि शीलपूर्ण कर्म ही व्यक्तियों और राज्यों का लक्ष्य है। उनका प्रस्ताव है कि भावी नागरिकों के स्वास्थ्य-वर्द्धन के साथ-साथ प्रारंभिक अवस्था से ही शील का अभ्यास कराना चाहिए। सत्य, न्याय, साहस, संयम, उदारता आदि गुणों को धारण करना परम आवश्यक है। भावी नागरिकों को वह पुष्ट, दृढ़ांग और उदाराशय बनाना चाहते हैं। बालक का शरीर पुष्ट और मजबूत हो, इसके लिए आवश्यक है कि उसके माता-पिता भी सबल और मजबूत हों। बर्बरता से हट कर समस्त विषयों में रसानुभूति का आस्वादन करना ही शिक्षित नागरिकों का स्वभाव होना चाहिए—ऐसा अरस्तू प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया है।

अरस्तू को वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति बहुत पसंद थी। उन्होंने इस तथ्य से अवगत कराया कि वास्तविक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव तथा रीति के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। शिक्षा प्रदान करने की उनकी दो पद्धतियाँ 'आगमन विधि' तथा 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' आज आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों द्वारा सर्वथा मान्य हैं। अरस्तू यह चाहते थे कि किसी विषय के संबंध में स्थायी ज्ञान प्रदान करने के हेतु सभी बातों का ज्ञान करा कर बालक द्वारा ही निष्कर्ष निकलवाया जाए। इस पद्धति को 'आगमन पद्धति' कहते हैं। अरस्तू की यह शिक्षा-पद्धति अनुभव, विचार और तर्क पर आधारित है। ज्ञान के अनुभवाश्रित होने के कारण ही उन्होंने इंद्रियों को ज्ञानार्जन का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। इंद्रियों के आधार पर ही हम वस्तुविशेष को पकड़ पाते हैं और इसके आधार पर ही सामान्य नियम का निरूपण करते हैं।

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति में दूसरा सिद्धांत 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' है। जब विद्यार्थी को किसी विषय की शिक्षा देनी हो, तो उसके लिए ज्ञात-ज्ञान के आधार पर अज्ञात विषय की ओर ले जाने की पद्धति प्रयोग में लायी जाए, जिससे बालक के समझने और तर्क करने की शक्ति को बल मिले।

प्रत्यक्ष अनुभव

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति का प्रधान आधार 'प्रत्यक्ष अनुभव' (Direct Experience) था। प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ज्ञान-ग्रहण पर अरस्तू ने सर्वाधिक वल दिया है। उनका विचार था कि वालक को जो भी ज्ञान प्रदान किया जाए, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के द्वारा हो। अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी और ठोस होता है तथा हमारे भावी जीवन में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण वना रहता है। पुस्तकीय ज्ञान का 'जीवन' से गहन संबंध नहीं स्थापित होता। अरस्तू का विचार था कि बालक की शिक्षा अनुभव के आधार पर निर्भर होनी चाहिए।

अरस्तू के इस विचार का पोषण परवर्त्ती युग में प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों ने किया है। अठारहवीं शताब्दी में प्रकृतिवादी शिक्षाशास्त्रियों ने भी इस तथ्य से असहमति प्रकट की है कि वालकों को पुस्तकें रटा कर उन्हें अत्यधिक पुस्तकीय ज्ञान प्रदान किया जाए। तत्कालीन प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में वालकों को 'ग्रीक' तथा 'लैटिन' की पुस्तकें रखनी पड़ती थीं। कभी-कभी ऐसा होता था कि वालक समझते विल्कुल नहीं थे, परंतु उन्हें पूरी पुस्तक जवानी स्मरण होती थी। प्रकृति-वादी शिक्षाशास्त्रियों ने इस वात का घोर विरोध किया। उन्होंने पुस्तकों की अपेक्षा प्रकृति के अध्ययन पर विशेष वल दिया। रूसो का तो यहाँ तक कहना था कि वालकों को पुस्तकें मत पढ़ाओ, उन्हें प्रकृति के अनुकूल वातावरण में विचरण करने दो। प्रकृति उन्हें शिक्षा प्रदान करेगी। पेस्तलॉजी ने जिस 'स्वानुभूति के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है, उसकी कल्पना अरस्तू अपने 'प्रत्यक्ष अनुभव' के सिद्धांत में पहले ही कर चुके थे। मुनरो के ये शब्द अरस्तू की शिक्षा-मर्मज्ञता को सर्वदा उद्घोषित करते रहेंगे :—

"Aristotle was one of those Greek educational theorists that had the greatest influence upon subsequent times."····Monroe.

मनोविज्ञान की प्रमुखता

अरस्तू ने शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करते समय वालक के स्वभाव और मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखा है। प्लेटो ने व्यक्ति के मनोविज्ञान का जो अध्ययन आरंभ किया था, उसे अरस्तू ने वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा पूरा किया। आरंभ में वालकों में इंद्रियजन्य संवेदन और भावनाओं की प्रधानता होती है। उनमें अनुकरण, उत्सुकता, स्पर्धा आदि की प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः, शिक्षा का उद्देश्य वालकों में इन प्रवृत्तियों का विकास करना है, जिनसे उनमें अच्छी आदतें पड़ें और वे ठीक से

कार्य कर सकें। अरस्तू के अनुसार एक बालक के अंदर सभी सभ्य बातें निहित रहती हैं। स्वामी विवेकानंदजी महाराज ने भी अपने शिक्षा-दर्शन में इस तथ्य का उल्लेख किया है। अरस्तू का कहना है कि अगर ये बातें नहीं हों, तो बालक पशु-जैसा बन जाए। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसमें विभिन्न प्रकार की भावनाएँ, इच्छाएं और विचार पाए जाते हैं। ये समस्त बातें बालक में विद्यमान रहती हैं, परंतु अल्पायु होने के कारण वह उनका प्रदर्शन प्रौढ़ों की भाँति नहीं कर पाता। स्पर्धा, अनुकरण, क्रोध, भय, सुख, दुःख आदि भावों से बालक के कार्य प्रभावित रहा करते हैं। सम्यक् शिक्षण का विधान कर हमलोग अपने वांछित लक्ष्य की पूर्ति कर सकेंगे।

चरित्र की महत्ता

अरस्तू ने चरित्र को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। अतः, उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया है कि बालक से हठात् कोई कार्य नहीं कराना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है। जन्म से ही प्रत्येक बालक में प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। सम्यक् शिक्षा का विधान ऐसा होना चाहिए कि 'विवेक' तथा 'आदतों' द्वारा इन प्रवृत्तियों को चरित्र-विकास की ओर लगाया जाए। शिक्षा के क्षेत्र में अरस्तू ने 'प्रकृति', 'विवेक' तथा 'आदत' को बहुत महत्त्व प्रदान किया है।

शिक्षा का संगठन

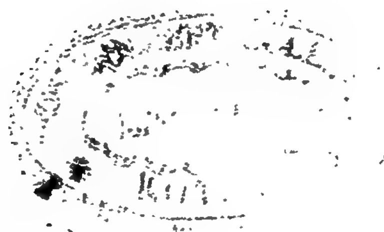
बालक-बालिकाओं में अच्छी आदतों को प्रादुर्भूत करने तथा चरित्र के सम्यक् विकास के लिए शिक्षा के विषय और संगठन को निश्चित किया। इस संबंध में अरस्तू के शिक्षा-संबंधी उन प्रमुख विचारों से परिचित हो जाना चाहिए, जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'पॉलीटिक्स' में व्यक्त किए हैं। अरस्तू का मत था कि शिक्षा पर राज्य (State) का नियंत्रण होना चाहिए। जिन वस्तुओं के द्वारा शासन के विधान को शक्ति मिले, उन्हें शिक्षा में स्थान देना चहिए। नागरिक की शिक्षा भी शासन के अनुरूप होनी चाहिए। जब विद्यालयों पर राज्य (State) का नियंत्रण होगा, उस समय यह संभव होगा कि आवश्यकतानुसार लोगों को वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधे से हटाकर कृषि-कार्य में लगा दिया जाए। शिक्षा के द्वारा मनुष्य को यह भी सिखाया जाए कि वह अपनी संपत्ति का पूर्णाधिकारी होते हुए भी, दूसरों के साथ मिलकर उसका उपभोग कर सके। दूसरे शब्दों में अरस्तू इस पक्ष में थे कि आवश्यकतानुसार व्यक्ति अपनी संपत्ति को समाज के सुख के लिए व्यय करें। लेकिन, इन सबसे अधिक अरस्तू भावी नागरिक के लिए अनुशासन की शिक्षा आवश्यक मानते थे। शिक्षा के विषय और संगठन ऐसे हों, जो अनुशासन और नियम-पालन

की भावना का विकास करें। उनका विश्वास था कि योग्य अधिकारी वही व्यक्ति बन सकता है, जिसमें अनुशासन और नियम-पालन की भावना हो। इसलिए बालक की शिक्षा में अनुशासन और नियम-पालन का पूरा ध्यान रखा जाए। जब बालक में अनुशासन की प्रवृत्ति होगी, तभी वह योग्य नागरिक बन सकता है। इस प्रकार के योग्य नागरिक बनाना तभी संभव होगा, जब कि शिक्षालयों पर राज्य का नियंत्रण हो। राज्य शिक्षा की योजना बनाकर शिक्षा का प्रबंध करे, तभी शासन-कार्य सफलतापूर्वक हो सकता है। इसलिए शिक्षा द्वारा युवक को यह भली-भाँति अनुभव करा देना चाहिए कि राज्य से ही उसे सुख प्राप्त होते हैं। यदि राज्य न हो, तो उसे सुख नहीं मिल सकता; क्योंकि राज्य ही समाज का संगठन करके उसकी रक्षा करता है और नियम-पालन करा कर स्वतंत्रता प्रदान करता है। अगर व्यक्ति नियम-पालन नहीं करें, तो सबका जीवन सर्वदा खतरे में रहे और किसी को किसी भी तरह की स्वतंत्रता नहीं मिले। इस प्रकार अरस्तू शिक्षा द्वारा व्यक्ति को राज्य की सेवा और रक्षा के लिए तैयार करना चाहते थे। अतः, शिक्षा के संगठन पर वे राज्य का नियंत्रण चाहते थे।

परंतु अरस्तू के शिक्षाविषयक प्रस्तावों में कतिपय त्रुटियाँ भी हैं। दास-प्रथा, स्त्रियों की अधीनता, मजदूरों की शिक्षा का अभाव, दुर्बल बच्चों को फेंक देना आदि अरस्तू के विचार अमान्य हैं। श्रमविषयक कार्य दासों द्वारा किए जाएँ, कृषक और शिल्पकार नागरिकों की सेवा के लिए हैं—ऐसे विचार मानवताविरोधी हैं। अरस्तू शिक्षा को राजकीय नियंत्रण में रखना चाहते हैं। शिक्षा का पूर्ण राज्यीकरण सर्वथा अलोकतांत्रिक प्रस्ताव है। वस्तुतः अभिरुचियों और प्राकृतिक गुणों के अनुसार शिक्षा में विभिन्नता होनी चाहिए और विभिन्न नागरिकों को गुण-स्वभावानुरूप शिक्षा-क्रम चुनने का अवसर मिलना चाहिए। राज्य द्वारा शिक्षा का निर्देशन और नियंत्रण एक राज्य सत्तावादी मंतव्य है। अरस्तू की मान्यता है कि नागरिकों को संविधान के मूल तत्त्व के अनुसार संस्कृत करना चाहिए। किंतु, ऐसा प्रस्ताव भी जनतंत्रात्मक नहीं। यूनानी परंपरा में पूर्णतया निमग्न होने के कारण अरस्तू कहते हैं कि नागरिक अपना मालिक आप नहीं है; क्योंकि सारे नागरिक राज्य के हैं। नागरिकों की वफादारी निश्चित ही राज्य के प्रति है किंतु सावयववाद (Organic Theory) की पूर्णता बताते हुए नागरिकों को राज्य की संपत्ति नहीं माना जा सकता। वे नागरिकों के शारीरिक सौंदर्य के इतने बड़े पोषक हैं कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि विकृतांग शिशुओं की हत्या कर दी जाए। उन्होंने यह भी कहा है कि जो लोग राज्य की अधीनता नहीं स्वीकार करते, उनका शिकार किया जाए। उनके ये प्रस्ताव अमानुषिक हैं। ऐसा करने से हमलोग अपने मानवोचित गुणों से विमुख हो जाएँगे।

अरस्तू की शिक्षा का भावी युग पर जितना अधिक प्रभाव पड़ा, उतना तत्कालीन समाज पर नहीं हो सका। तीसरी शताब्दी के प्रारंभ में उनकी रचनाएँ एशियामाइनर ले जाकर एक गुफा में बंद कर दी गईं। वहाँ से दो शताब्दी पश्चात् उन्हें एलैक्जेंड्रिया के पुस्तकालय में लाया गया। पुनः रोम में इनका प्रचार हुआ। रोम का सुप्रसिद्ध विद्वान् प्लूटार्क इससे बहुत प्रभावित हुआ था। अरबवासी अरस्तू के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। उनकी प्रायः सभी रचनाओं का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। उनके विचारों का प्रभाव स्पेन पर भी पड़ा और उनका वहाँ प्रसार भी खूब हुआ। स्पेन में मुस्लिम शिक्षा का सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। धीरे-धीरे अरस्तू के विचारों से समस्त यूरोपीय देश अवगत हुए। एक्विनास-जैसे विद्वान् उनके पूर्ण अनुगामी थे। मध्ययुग तथा आधुनिक युग की शिक्षा को अरस्तू के ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' ने बहुत प्रभावित किया है।





अध्याय ७

क्विंटीलियन

क्विंटीलियन का जन्म स्पेन के कैलागिरस नामक स्थान में सन् ३५ ई० में हुआ था। जिस प्रकार यूनानी शिक्षा के दीर्घकालीन इतिहास में सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) और अरस्तू (३८६-३२२ ई० पू०) को महत्त्व प्राप्त है, उसी प्रकार रोमी इतिहास के विस्तृत काल में क्विंटीलियन का सुनाम विख्यात है। आप रोम के महान् शिक्षाशास्त्री, कुशल वक्ता और गंभीर विचारक थे। आपने दर्शन, इतिहास और तर्क आदि विषयों के विशद् अध्ययन के आधार पर, अपने मौलिक सिद्धांतों के प्रतिपादन द्वारा तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षण-पद्धति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और वांछनीय सुधार प्रस्तुत किया। इनके द्वारा निर्धारित शिक्षा-सिद्धांत और प्रयोग परवर्त्ती यूरोपीय समाज को प्रायः अट्ठारहवीं शताब्दी तक पूर्णतः प्रभावित करते रहे। यही नहीं, उनके कतिपय सिद्धांत जैसे 'खेल द्वारा शिक्षा' अथवा 'शिक्षा में स्नेह और सहानुभूति का अवलंबन' तो आज भी शिक्षाशास्त्र की प्रमुख धारा हैं। अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ही सम्राट् वेसपासिन द्वारा वे राजकीय शिक्षक नियुक्त किए गए थे। पूर्ण खोज, मनन और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया गया बारह खंडों में उनका 'इन्सटिच्यूट्स ऑफ ऑरेटरी' (Institutes of Oratory) शिक्षा-संबंधी ज्ञान तथा शिक्षा के पूर्ण क्षेत्रों की व्यावहारिक व्याख्या के लिए श्रेष्ठ ग्रंथ है।

समस्त रोमी शिक्षा के इतिहास को प्रायः चार कालों में विभाजित किया गया है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक पाल मनरो ने चार काल के पक्ष में ही अपनी संमति दी है। यद्यपि कतिपय विद्वान रोमी शिक्षा के इतिहास को पाँच भागों में होना स्वीकार करते हैं। रोमी शिक्षा का प्रथम काल ७५३ ई० पू० से २५० ई० पू० तक माना जाता है। द्वितीय काल ईसा से लगभग २५० वर्ष पू० से ५० वर्ष पू० तक माना जाता है। तृतीय काल का समय ईसा से एक सौ वर्ष से लेकर

दूसरी शताब्दी तक है। रोमी शिक्षा के इस तृतीय काल में यूनानी प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया था। 'लूड्स' (रोमी समाज के प्रारंभिक विद्यालय) की शिक्षा पूर्ण व्यवस्थित हो चली थी। इसमें साहित्य और काव्य की भी पढ़ाई प्रारंभ हो चुकी थी। उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की व्यवस्था की गई थी। शिक्षा के इस तृतीय काल को रोमी इतिहास में 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा दी गई है। क्विटीलियन का जन्म इसी स्वर्ण-युग में हुआ था, यद्यपि इस स्वर्ण-युग के सूत्रपात में क्विटिलियन को ही बहुत बड़ा श्रेय उपलब्ध है।

जिस समय क्विटीलियन का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय रोमी शिक्षा में कतिपय बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ व्याप्त थीं। शिक्षा में बालकों को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। उनको कठोर शारीरिक दंड द्वारा विद्योपार्जन करने को बाध्य किया जाता था। विद्यार्थी वर्ग को छड़ी मार कर, कोड़े लगा कर अथवा अन्य शारीरिक यातना द्वारा डरा कर, भयभीत बना कर विषय पढ़ाया और रटाया जाता था। पाठ्य-क्रम में निर्धारित विषय रोचक है अथवा नहीं, उनको पढ़ाने का ढंग कैसा है, आदि बातों पर किसी का ध्यान नहीं था, केवल विद्यार्थी उनको किसी प्रकार रटंत-प्रणाली द्वारा स्मरणशक्ति पर पूरा-पूरा बल देकर मस्तिष्क में धारण कर ले, यही प्रधान कार्य था। विषय को रटने की प्रथा खूब प्रचलित थी। खेल आदि बाल-सुलभ एवं बाल-रुचिकर कार्यों का प्रचलन नहीं के बराबर था। ऐसी अवस्था में विद्यालयी-वातावरण बालक और किशोर विद्यार्थियों के लिए बड़ा डरावना और भयप्रद मालूम पड़ता था। शिक्षक का व्यवहार मधुर और स्नेहयुक्त नहीं होता था। माता-पिता भी, शैशवावस्था में अथवा बाल्यावस्था या किशोरावस्था में बालकों का कैसे पालन-पोषण किया जाए, कैसे परिवार में रखा जाए, उनके साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाए तथा उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की जाए आदि सिद्धांतों से अनभिज्ञ थे। बालकों में नैतिकता की अभिवृद्धि तथा चरित्र-निर्माण की शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। क्विटीलियन का ध्यान इन त्रुटियों की ओर गया और उन्होंने अपने मौलिक शिक्षा-सिद्धांतों के प्रस्तुतीकरण द्वारा उनको सुधारने का सफल प्रयास किया।

क्विटीलियन के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास था। नैतिकता तथा चरित्र-निर्माण व्यवस्थित और उचित शिक्षा द्वारा ही संभव है—ऐसा मत क्विटीलयन ने प्रतिपादित किया। आदर्श चरित्र तथा पवित्र नैतिकता के अभाव में मानव उन्नति नहीं कर सकता। प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए समाज के व्यक्तियों का चरित्र उज्ज्वल होना चाहिए, उनमें मानव-स्वभाव के निरीक्षण और

उनके गुण-अवगुण को समझने तथा तदनुकूल अपना दृष्टिकोण निर्धारित करने की क्षमता भी परमावश्यक है। क्विटीलियन के विचारानुसार बालकों के प्रारंभिक शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता एवं अभिभावकों पर होना चाहिए। प्रारंभ से ही बालकों में श्रेष्ठ चरित्र-निर्माण के लिए परिवार को उच्च आदर्श, वातावरण और प्रारंभ से ही बालकों में श्रेष्ठ चरित्र-निर्माण के लिए परिवार को उच्च आदर्श, वातावरण और परंपरा प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, जिसके सूक्ष्म प्रभाव में विद्यार्थियों की कोमल भावनाओं के उन्मुखीकरण और वर्द्धन तथा अपरिपक्व विचारों के मार्जन में सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष सहायता मिल सके। उन्होंने धात्रियों और संरक्षकों की नियुक्ति तक में माता-पिता को सावधानी बरतने को कहा है। जीवन की प्रारंभिक अवस्था में ग्रहण की हुई बातें विशेष बलवती, टिकाऊ और फलवती होती हैं। अतः, उनको प्रारंभिक अवस्था की शिक्षा विशेष ध्यानपूर्वक दिए जाने की आवश्यकता है। शिक्षालय में शिक्षकों का व्यवहार मधुर, स्नेहयुक्त और सहानुभूतिपूर्ण हो, इस पर क्विटीलियन ने बहुत बल दिया है। आधुनिक शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों के समान आज से कई शताब्दी पूर्व उन्होंने शिक्षा में इस सिद्धांत की घोषणा की कि शिक्षक वर्ग का सरस और आत्मीय बर्ताव ही बालकों के सर्वांगीण संतुलित विकास में पूरा-पूरा सहायक हो सकेगा। नीरस शिक्षक को विद्यार्थी बालकों से विलग करने की आवश्यकता है, अन्यथा ऐसे शिक्षकों के प्रभाव में विद्यार्थियों में मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाएगा और शीघ्र ही वे बौने सदृश हो जाएँगे (Specially for boys, dry master is to be avoided, not less than a dry soil, devoid of all moisture, for plants that are still tender. Under the influence of such a teacher, they atonce become dwarfish.—Quintilian)

क्विटीलियन ने बालकों को शारीरिक दंड देना अनुचित बतलाया है। तत्कालीन रोमी समाज के बालकों के साथ कठोर बर्ताव किया जाता था, उन्हें बहुत मारा-पीटा जाता था। उन्होंने इस ओर समाज और सरकार दोनों का ध्यान आकर्षित किया तथा बतलाया कि इस प्रकार का व्यवहार बालक और किशोरों को असामाजिक बना देगा। इस प्रकार अपमानित बालकों में समाज के प्रति ही नहीं, मानव-मात्र के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाएगी तथा जीवन की प्रारंभिक अवस्था से ही उनका व्यक्तित्व कुंठित और फीका पड़ जाएगा। उन्होंने यहाँ तक कहा कि बच्चे जैसे कमजोर तथा निःसहाय प्राणी को, जो कठोर व्यवहार सहने की अल्प क्षमता भी नहीं रखता, शारीरिक दंड देने के किसी को अधिकार उपलब्ध नहीं होना चाहिए। (No man should be allowed so much authority over an age so

weak and so unable to resist ill treatment—Quintilian) क्विटीलियन ने वतलाया कि विद्यार्थियों को शारीरिक दंड देकर उनकी कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने से उनकी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक या चारित्रिक उन्नति करने में हम समर्थवान् नहीं हो सकते। विद्यालय के वातावरण में मधुरता, प्यार और आदर का संचार कर शिक्षण-पद्धति को उनके मनोनुकूल तथा मनोरंजक वनाकर ही हम अपने इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकेंगे।

क्विटीलियन वच्चों की प्रारंभिक अवस्था की शिक्षा खेल द्वारा प्रदान करने के पक्ष में थे। शिक्षा के इस आधुनिक युग में जर्मन शिक्षाशास्त्री फ्रोमवेल (१७८२-१८५२ ई०) के किंडरगार्टेन, इटलीनिवासिनी मदाम मेरिया मांटेसोरी (१८७०-१९५२) की मांटेसोरी-पद्धति अथवा अन्य शिक्षा-पद्धतियाँ वालकों के मस्तिष्क, हाथ और हृदय तीनों के सहयोग से साथ-साथ उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए खेल के आधार पर शिक्षा प्रदान करने का सिद्धांत उपस्थापित करती है, परंतु शताब्दियों पहले क्विटीलियन ने वालकों के इस वहुत वड़े मनोवैज्ञानिक सत्य को समझा और पहचाना था तथा शारीरिक क्लेश वर्जित कर आनंद और प्रेमपूर्ण वातावरण में खेल को प्रमुखता प्रदान कर उनको शिक्षित वनाने के पक्ष में अपना निर्णय दिया था। इस प्रकार उनका यह विचार आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों से सर्वथा मिलता है। क्विटीलियन ने यह भी प्रतिपादित किया था कि किसी छात्र के लिए व्याकरण, संगीत, ज्यामिति आदि विभिन्न विषयों को एक साथ पढना और याद करना संभव है। अतः, यह आवश्यक नहीं कि लड़के एक ही विषय एक अवस्था में पढ़ें; क्योंकि इस प्रकार विषय अरुचिकर हो जाता है। अगर एक साथ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाए, तो अपने अध्ययन में छात्रों की रुचि वनी रहती है। अध्ययन के समय खेल तथा विश्राम भी परमावश्यक है। खेल न केवल मनवहलाव का साधन है, अपितु इसके द्वारा वालकों में आत्मविश्वास, आत्मानुशासन तथा ईमानदारी के गुण आविर्भूत होते हैं।

क्विटीलियन ने नैतिकता और चरित्र की श्रेष्ठ मर्यादा को अच्छी तरह अनुभव किया था। उन्होंने रोमी वालकों के नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर वड़ा वल दिया। उनका विश्वास था कि किसी व्यक्ति अथवा समाज का पतन नैतिक और चारित्रिक गिरावट के कारण ही होता है। वस्तुतः विशाल रोमी साम्राज्य का पतन नैतिक पतन के ही कारण हुआ भी। जव रोमी समाज के शोषक वर्ग का अत्याचार और दुर्व्यवहार चरम सीमा को पहुँच गया; सम्राट की इच्छा ही कानून हो गई, ईमानदारी और सचाई का नामोनिशान मिट गया, व्यापक शिक्षा के समस्त साधन असंगठित हो गए, शिक्षा के विषय अव व्यक्तिवादी और स्वार्थी प्रवृत्तियों को

विकसित करने लगे; कला, काव्य और साहित्य की शिक्षा आत्म-बोध तथा सौंदर्य-बोध के लिए नहीं होकर वासना के लिए हो गई, शिक्षा और समाज में धर्म का महत्त्व समाप्त हो गया, तभी रोमी समाज की प्रगतिशील शक्तियाँ दब गईं और प्रतिक्रियावादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को पूर्ण प्रश्रय मिला। बर्बर जातियों का रोम पर हमला हुआ, जिससे इस साम्राज्य का अंत हुआ। अनुभवी-दूरदर्शी क्विंटीलियन ने बहुत पहले विनाश की इस जड़ को समझा और पहचाना था तथा चेतावनीस्वरूप शिक्षा के उचित संगठन और उसके आधार पर मानव-स्वभाव के अध्ययन की आवश्यकता बतलायी थी।

भाषण-कला की शिक्षा को लक्ष्य बना कर मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति की जा सकती है—ऐसा क्विंटीलियन का विचार था। वे मानते थे कि वक्तृत्व-कला में वे समस्त मानवोचित गुण सन्निहित हैं, जो वास्तविक शिक्षा के उद्देश्य हैं। दूसरे शब्दों में वक्तृत्व-शक्ति अपने आदर्श और वास्तविक स्वरूप में उसी व्यक्ति के अंदर प्रादुर्भूत हो सकेगी जिसके मानसिक, नैतिक, चारित्रिक और शारीरिक गुण पूर्णतः विकसित हैं। उन्होंने रोम में भाषण-कला की शिक्षा द्वारा व्यक्ति में पर्याप्त सुधार करने की चेष्टा की। एफ० पी० ग्रेव्ज ने भाषणकर्त्ता के गुण के संबंध में क्विंटीलियन का एक उद्धरण दिया है, जिससे इस संबंध में उसकी कल्पना का अनुमान किया जा सकता है—"कोई योग्य और कुशल भाषणकर्त्ता श्रेष्ठ मनुष्य हुए बिना नहीं हो सकता। अतः, उससे केवल अच्छे भाषण की ही आशा नहीं की जाती अपितु मन की उच्चता, निर्मलता और श्रेष्ठता की आकांक्षा भी की जाती है। वस्तुतः ऐसा होना अवश्यंभावी होना समझना चाहिए। कतिपय लोगों के समान मैं यह मानने को कदापि तत्पर नहीं हूँ कि नैतिकता और चरित्र के सिद्धांत केवल दार्शनिकों के लिए हैं। जो व्यक्ति अपने नागरिक चरित्र को जानता है, जो समाज के शासन-कार्य के योग्य है, जो बुद्धि और विचार से राज्य-कार्य संपादित करने की क्षमता रखता है, न्याय से झगड़े-झंझट को सुलझा सकता है, वह व्यक्ति कुशल वक्ता के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।" इस प्रकार हम लोग देखते हैं कि कुशल वक्ता के लिए चरित्रवान, ज्ञानवान, विचारवान, न्यायशील, अधिकार तथा कर्त्तव्य पर दृढ़ रहनेवाला तथा बोलने की कला में दक्ष होना आदि अनिवार्य गुण थे। अतः, भाषण-कला में संपूर्ण उच्च शिक्षा संमिलित थी; क्योंकि विद्यार्थियों को, रोमी समाज के भावी नागरिकों को, अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना परमावश्यक था।

क्विंटीलियन ने कुशल वक्ता के लिए साहित्य, दर्शन, तर्क, न्याय, इतिहास, गणित तथा अन्य सामाजिक विषयों के अध्ययन को आवश्यक समझा था, जैसा कि

उनके ग्रंथ 'इन्स्टिट्यूट्स ऑफ ऑरेटरी' से स्पष्ट होता है। भाषा और व्याकरण का अध्ययन कुशल भाषणकर्त्ता के लिए आवश्यक था। पढ़ने-लिखने में कुशलता-प्राप्ति के पश्चात् बालकों को व्याख्यान की शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षा में पहले ग्रीक भाषा की शिक्षा शुरू होनी चाहिए, तत्पश्चात् लेटिन भाषा की। व्याकरण के अंतर्गत भाषा का शुद्ध प्रयोग और काव्य की आलोचना भी वह आवश्यक मानते थे। स्वर-साधन के लिए विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा भी आवश्यक थी, गणित विषय का अध्ययन भी उन्होंने उचित बतलाया; क्योंकि गणित मनुष्य में तर्क-शक्ति के विकास और विचार-प्रणाली में सुधार करने की क्षमता से संपन्न है।

क्विटीलियन के अनुसार साहित्यिक विषय वक्ता के लिए विशेष लाभप्रद थे। शारीरिक शिक्षा की वांछनीयता को उन्होंने वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक कुशल वक्ता के लिए उसकी उपयोगिता हो सकेगी। यदि युवक 'पेलेस्टरा' में शारीरिक प्रशिक्षण द्वारा शक्ति तथा सौष्ठव प्राप्त करता है, तो इससे उसे वक्ता बनने में सहायता मिलेगी। श्रोताओं के समक्ष वह विशेष शारीरिक आकर्षण के साथ उपस्थित हो सकेगा तथा शारीरिक भाव-भंगिमाओं के सहारे अपनी मनोभावनाओं एवं आकांक्षाओं का स्पष्टीकरण भी कर सकेगा। परंतु, उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शारीरिक पक्ष पर ही अत्यधिक ध्यान देने से मानसिक शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

बच्चों के संबंध में क्विटीलियन की यह धारणा थी कि उन्हें परिश्रम करने की अत्यधिक शक्ति उपलब्ध है, जैसा कि प्रौढ़ पुरुषों में है। अतः, उनके अध्ययन के संबंध में उन्होंने जो शिक्षा-सिद्धांत निरूपित किए, वे भविष्य में कठोर साबित हुए। उनका विचार था कि बच्चे अत्यंत छोटी अवस्था में ही शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं अतः विद्योपार्जन और वक्तृत्व-कला के गुण के विकास हेतु उनसे अधिक परिश्रम कराया जाए। शीघ्र ही साहित्यिक विषयों की ओर उनकी प्रवृत्ति उन्मुख हो, ऐसा यत्न किया जाए। ज्ञानोपलब्धि में उन्हें पूर्णतः सक्षम बनाने के लिए उन्होंने विषय को रटने पर भी पूरा बल दिया; क्योंकि उनके विचारानुसार बालकों में बुद्धि-तत्त्व की अल्पता तथा स्मृति-तत्त्व का आधिक्य है। आधुनिक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से उनके ये विचार युक्तिसंगत नहीं थे। शताब्दियों पश्चात् शिक्षाशास्त्री रूसो (१७१२-१७७८ ई०) और पेस्तालात्सी (१७४६-१८२७ ई०) ने इन विचारों का खंडन किया।

अध्याय ८

मार्टिन लूथर

अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत के सर्वप्रथम समर्थ जर्मन विद्वान् मार्टिन लूथर (सन् १४८३-१५४६ ई०) न केवल प्रसिद्ध धार्मिक सुधारक, निर्भीक साहसी सामाजिक कार्यकर्त्ता और दृढ़प्रतिज्ञ धैर्यवान विचारक ही थे, अपितु एक महान् शिक्षाशास्त्री भी थे। पाल मनरो (Paul Monroe) ने उनके संबंध में लिखा है—Martin Luther, the great Protagonist of the reformation, assumed the leadership of the educational movement that had begun in Germany even before the germs of the renaissance ideas took place."

शिक्षा-जगत् को प्रदत्त उनके मौलिक विचार आज भी हमारे लिए नूतन और हितकारी हैं तथा भविष्य में भी वे हमारा मार्ग-दर्शन करते रहेंगे। शिक्षा में यथार्थवाद का आविर्भाव उन्हीं के समय से होता है। वे शिक्षा में यथार्थवाद के पोषक थे। लूथर को सुधार-युग (Reformation-period) का सबसे बड़ा विचारक माना जाता है। मृत्युपर्यन्त वह अपने सुधारविषयक विचारों के चिंतन, मनन और समर्थन में यत्नशील बने रहे। मार्टिन लूथर धर्मसुधार के जन्मदाता थे। उनका जन्म जर्मनी के एक निर्धन किसान परिवार में १० नवंबर, १४८३ ई० को हुआ था। उनमें ट्यूटेनिक जाति के सभी लक्षण विद्यमान थे और बचपन से ही उन्हें निर्धन जीवन का अनुभव था। उनके माता-पिता उन्हें वकील बनाना चाहते थे अतः, उन्होंने एरफर्ट (Erfort) के विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त की १५०५ ई० में उन्हें एम० ए० की डिग्री मिली। किंतु, उनकी रुचि वकालत की ओर न थी। १६ वर्ष की अवस्था में माता-पिता की डाँट-फटकार के होते हुए भी वे ऑगस्टीनियन संप्रदाय में सम्मिलित हो गए। सन् १५०७ ई० में वे पादरी बनाए गए और दूसरे साल वे विटेनवर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र के

प्राध्यापक नियुक्त किए गए। १५११ ई० में उन्हें रोम भेजा गया। वह पहले से ही कौंसिलियर आंदोलन की ओर झुके हुए थे। रोम जाकर तथा वहाँ के उच्च धर्माधिकारियों के विलासपूर्ण एवं पाखंडी जीवन और उद्दंड वर्ताव को देखकर उनके हृदय में धर्मसुधार की प्रबल भावना जागृत हुई। जर्मनी से लौटकर उन्होंने अध्यापन का काम जारी रखा तथा धर्मशास्त्र के डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसी समय उन्होंने टेटजेल नामी एक धर्माधिकारी को क्षमा-पत्रों को बेचते हुए देखा। उसके वर्ताव में भी अन्य उच्च धर्माधिकारियों की उद्दंडता थी। लूथर के लिए यह एक उपयुक्त अवसर था। उन्होंने विटेनवर्ग के गिरजाघर के द्वार पर अपने धार्मिक विचारों के ९५ निबंध को टाँग दिया। यह काम 'ऑल सेंट्स त्योहार' के दिन किया गया था, जब गिरजाघर में अनेक यात्री आते थे। निबंधों का आधार मुख्यतः धार्मिक था, पर उनमें व्यक्तिवाद और विवेकवाद की अनेक बातों का भी समावेश था। लूथर की कार्रवाई यहीं पर समाप्त नहीं हो गई। उन्होंने आने-जाने वाले सभी व्यक्तियों को अपने निबंधों के खंडन की चुनौती दी। उन्होंने जर्मनी के विभिन्न भागों की यात्रा करके अपने विचारों के प्रचार का भी प्रयत्न किया। चर्च के विरुद्ध इस कार्रवाई के कारण उनमें किसी प्रकार का पश्चाताप न था। अतः, उन्हें अपने विचारों को सिद्ध करने का आदेश मिला। इस अवसर पर भी उन्होंने चर्च के प्रति किसी प्रकार की विनम्रता का परिचय न दिया। अतः, पोप ने उन्हें धर्म के संरक्षण से वंचित कर दिया। लूथर के ९५ निबंधों के परिणामस्वरूप जो वाद-विवाद हुआ, उसी से धर्मसुधार-आंदोलन और प्रोटेस्टेंट धर्म की नींव पड़ी।

धार्मिक विचार

आरंभ में लूथर का इरादा पोप के विरुद्ध विद्रोह करने का न था। किंतु, जब उनके विचारों के विरुद्ध तीव्र विष-वमन किया गया, तो उन्होंने रोमन चर्च के आधारभूत सिद्धांतों तथा पोप की स्थिति और उसके आचरण के विरुद्ध भी प्रचार-कार्य आरंभ कर दिया। उन्होंने कर्मकांड की अपेक्षा आस्था, वाह्य जीवन की अपेक्षा आभ्यंतरिक जीवन और दूसरों के निर्णय की अपेक्षा अपने निर्णय पर विशेष जोर दिया। उनके धार्मिक विचारों के आधार में नैसर्गिक विधि, धर्म विधि और विविध परिस्थितियों के लिए निर्भर मानव विधि की कल्पनाएँ थीं। किंतु, वे मानव विधि के विशेष समर्थक न थे। उनके मतानुकूल मनुष्यकृत विधि की अपेक्षा भी अच्छे न्यायाधीशों का स्थान उच्चतर था।

नैसर्गिक विधि के आधार पर ही उन्होंने मनुष्य की आधारभूत समता की घोषणा की और कहा कि पादरी लोग भी दूसरे मनुष्यों के समान थे। अतः, उन्हें न तो विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे और न सांसारिक सत्ता के आधिपत्य और दंड से विशिष्ट

उन्मुक्तियाँ हों। इस संबंध में उनका कहना था कि विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति में जो अंतर है, वह यथार्थ में प्रशासकीय सुविधा के लिए ही है अन्यथा सभी वर्गों के मनुष्य चाहे वे साधारण हों अथवा धर्माधिकारी, समाज के लिए उपयोगी किसी-न-किसी धंधे को करते हैं। अतः, इसमें कोई तुक नहीं है कि सांसारिक विषयों में धर्माधिकारी भी, साधारण व्यक्तियों की ही भाँति, क्यों न उत्तरदायी हों। लूथर का मत था कि चर्च को निर्धन होना चाहिए और यदि उसके पास किसी प्रकार की संपत्ति हो, तो उसे भी राज्य के नियंत्रण में होना चाहिए। वे चाहते थे कि राजा धर्माधिकारियों को उसी प्रकार और उन्हीं विधियों के अंतर्गत दंड दे, जिनके अंतर्गत वह तत्कालीन प्रमाणवाद को स्वीकार न करके मनुष्य की आत्मा और बाइबिल के अर्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था। उनका मत था कि सब मनुष्य ईश्वर को स्वयं प्राप्त कर सकते थे। चर्च के कर्मकांड के कारण एक कृत्रिम जीवन का उदय हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप वाह्य आडंबर में ईश्वर की महत्ता मनुष्य की आँख से ओझल हो गई थी। लूथर के उक्त विचार चर्च की एकता के लिए संघाती थे। आश्चर्य नहीं कि धर्माधिकारियों ने लूथर की कड़ी आलोचना करके उन्हें तथा उनके अनुयायियों को दबाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया।

लूथर ने उस तत्कालीन अवस्था की, जिसमें सांसारिक और धार्मिक सत्ताओं का अपमिश्रण हो गया था, तीव्र भर्त्सना की। उनका मत था कि वर्तमान समय में विशप अपने कर्त्तव्यों से विमुख होकर राजाओं से नास्तिकता समाप्त करने की याचना करते हैं और राजा लोग सूदखोरी, हत्या, चोरी आदि के अपराधियों को स्वयं दंड न देकर, उन्हें विशपों पर छोड़ देते हैं। आत्मा पर तलवार से शासन किया जा सकता है और शरीर पर वाक् से। सांसारिक अधिकारी धार्मिक के समान और धार्मिक अधिकारी सांसारिक के समान शासन करते हैं। उन्होंने इस दूषित व्यवस्था के अंत का निश्चय किया।

उनका कहना था कि राज्य का अधिकार केवल वाह्य और सांसारिक विषयों तक ही सीमित था। जहाँ तक विश्वास, श्रद्धा, धर्म आदि का संबंध था, राज्य का इनके साथ किसी प्रकार का सरोकार न था। इस विषय में नियम आदि बनाने का अधिकार चर्च को था। इसी प्रकार जिन प्रश्नों का संबंध अर्थ, संपत्ति तथा भौतिक हितों से था, उनमें चर्च को किसी प्रकार के हस्तक्षेप का अधिकार न था। चर्च का काम तो केवल ईसाइयों के रहन-सहन, आचार-विचार और धर्म-पालन का नियमन करना था। अतः, किसी भी अवस्था में धर्माधिकारियों को राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था।

राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक उन्नति के लिए मार्टिन लूथर शिक्षा को सभी वर्गों के लिए सुलभ बनाना चाहते थे। वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में थे। चाहे वह अभिजात वर्ग हो या किसान-मजदूर, शिक्षाप्राप्ति के अधिकारी सभी मनुष्य हैं—ऐसा लूथर का विश्वास था। वे अमीर-गरीब के भेद-भाव को शिक्षाप्राप्ति के क्षेत्र में अलग रखना चाहते थे। शिक्षा के इस प्रमुख सिद्धांत पर कॉमेनियस (सन् १५९२-१६७० ई०) और मार्टिन लूथर के विचारों में बहुत समानता है। कॉमेनियस भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा देने के पक्ष में था। उसे यह विचार सर्वथा अमान्य था कि केवल धनी वर्ग के व्यक्ति ही शिक्षा ग्रहण करें तथा निम्नवर्ग को इससे वंचित रखा जाए। शिक्षा के क्षेत्र में वह सबका समान अधिकार मानता था। समाज के सभी वर्ग के लोगों के लिए वह शिक्षा को सुलभ बनाना चाहता था। लूथर और कॉमेनियस के लिए मान्टेन (सन् १५३३-१५९२ ई०) के वे विचार अमान्य थे, जहाँ उसने शिक्षा को 'केवल अमीरों के लिए ही' बतलाया है। जॉन लॉक (सन् १६३२-१७०४ ई०) और रूसो भी (सन् १७१२-१७७८ ई०) इस बात का विरोध करते हैं कि शिक्षा का रूप सार्वलौकिक हो। लॉक गरीब बच्चों की शिक्षा, भद्र पुरुषों के बच्चों के साथ देने के विरुद्ध था। रूसो भी निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं था। उसका विचार था कि एक गरीब व्यक्ति को शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु लूथर ने सार्वलौकिक शिक्षा की बात बतला कर, शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष सबको है—ऐसी प्रेरणा देकर इस सिद्धांत का पोषण कर, भावी युग—जनतंत्र या प्रजातंत्र का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने पुरुष-स्त्री दोनों के लिए शिक्षा का विधान किया। पुरुष-स्त्री दोनों के लिए शिक्षा की अनिवार्यता बतलाने में उनके निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य हैं :—

"Were there neither soul, heaven, nor hell it would be still necessary to have schools for the sake of affairs here below, as the history of Greeks and Romans Plainly teachers. The world has need for educated men and women, to the end that the men may govern the country people, and the women may properly bring up their children care for their domestics and direct the affairs of their house holds."

जनतंत्र केवल शासन-प्रणाली ही नहीं, वह तो जीवन-शैली है, अतः अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष सबको शिक्षाप्राप्ति का अधिकार है। भावी पीढ़ी के कल्याणार्थ

लूथर के ये भाव और विचार सर्वथा स्तुत्य हैं।

मार्टिन लूथर बालक और बालिकाओं दोनों को शिक्षित बनाने के पक्षपाती थे। प्लेटो (४२० ई० पू०-३४८ ई० पू०) ने भी अपनी शिक्षा-व्यवस्था में बालक बालिकाओं को समान रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था की है। प्लेटो स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं मानते थे। इसलिए प्लेटो ने नारी-शिक्षा की कोई अलग व्यवस्था नहीं की तथा बालक-बालिकाओं को एक ही प्रकार की शिक्षा देने का विधान किया। कॉमेनियस भी बालक-बालिकाओं की शिक्षा एक साथ देने के पक्षपाती थे। उनका कहना था कि अगर उनकी शिक्षा साथ-साथ नहीं हुई, तो वे एक दूसरे को समझ नहीं सकेंगे।

लूथर प्राचीन रूढ़िवाद और अंधविश्वास का अंत चाहते थे। उन्होंने रूढ़ि परंपरा, बनावटीपन और औपचारिकता का विरोध किया है। प्राचीन आदर्शों तथा परंपराओं से उसे श्रद्धा अवश्य है, उनके नैतिक तत्त्वों की वह मान्यता देता है, परंतु उनके प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपना कर चलने की भी वह सिफारिश करते हैं। लूथर मनुष्यों के अंदर विवेक-बुद्धि की क्षमता उत्पन्न करना चाहते थे। शिक्षा में सुधार युग की परंपरा उन्हीं से प्रारंभ होती है।

उनके उपर्युक्त सिद्धांतों ने उनकी शिक्षा-संबंधी धारणाओं को पूर्णतः प्रभावित किया। उन्होंने शिक्षा को चर्च के अधिकारियों के हाथों से मुक्त करना चाहा बाइबिल को वे सर्वसाधारण की पहुँच का विषय बनाना चाहते थे। उन्होंने स्वयं १५२२ ई० में जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया। शिक्षा-संस्थाओं में बाइबिल के चुने हुए अंशों को रखा गया। उन्होंने मध्य युग की शिक्षा की कटु आलोचना की है। जब शिक्षा पर चर्च का पूर्ण अधिकार था, उनके ही सत्प्रयत्न के फलस्वरूप शिक्षालयों का नियंत्रण राज्य ने अपने हाथों में ले लिया।

मार्टिन लूथर बालक के उन्नयन के लिए परिवार को बहुत बड़ा श्रेय देते हैं। शैक्षणिक दृष्टिकोण से वे परिवार को स्कूल से भी उच्च बतलाते हैं। उनका कहना है कि वास्तविक शिक्षा तो बालक को अपने परिवार में ही प्राप्त होती है। वे शिक्षा का क्षेत्र केवल स्कूल तक ही सीमित नहीं मानते। वस्तुतः बालक की उन्नति में परिवार का अत्यधिक सहयोग है। आज आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्री भी परिवार का बहुत महत्त्व मानते हैं। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल अपनी पुस्तक 'ऑन एडुकेशन' में बालक की शिक्षा की प्रारंभिक अवस्था उसकी एक वर्ष की अवस्था मानते हैं। उनका विचार है कि बालक एक वर्ष की अवस्था में उन गुणों और अवगुणों को धारण कर लेता है, जिनसे उसका भावी जीवन प्रभावित होता है। आज आधुनिक विचारों की पृष्ठभूमि में जब हमलोग परिवार और बालक के संबंध में लूथर के विचारों की विवेचना करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कई सौ वर्ष

पहले उन्होंने समाज के लिए जो सिद्धांत दिया, उससे हमारा मार्ग-दर्शन हो रहा है। आधुनिक युग को उसे सर्वथा अपनाना है।

मार्टिन लूथर ने 'ग्रीक' तथा 'लैटिन' भाषाओं के अध्ययन के साथ-ही-साथ 'हिब्रू' के अध्ययन पर भी वल दिया है। हिब्रू को वे सर्वसाधारण की पहुँच का विषय वनाना चाहते थे। उन्होंने अपने पाठ्यक्रम में 'हिब्रू' के पठन-पाठन को आवश्यक वतलाया। सुधार-युग के शिक्षाशास्त्रियों की यह प्रमुख विशेषता है। उन्होंने तर्कशास्त्र, गणित, इतिहास, विज्ञान तथा संगीत को भी पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया। वे संगीत के प्रेमी थे। प्लेटो और अरस्तू के समान उनका भी विचार था कि संगीत से वालकों का भावनात्मक विकास होता है। शारीरिक शिक्षा के लिए भी उन्होंने आवश्यक नियम वनाए। वे वालकों की मानसिक, भावनात्मक और शारीरिक उन्नति चाहते थे।

मार्टिन लूथर वालकों को धार्मिक शिक्षा देने के पक्ष में थे, परंतु शिक्षा पर चर्च के अधिकार के पक्षपाती नहीं थे। धर्म को उन्होंने व्यापक रूप में लिया है। उनके अनुसार धर्म संकीर्णता का द्योतक नहीं, अपितु मन, वचन और कर्म में विशालता का परिचायक है। धर्म का रहस्य हमारे जन-जीवन तक पहुँच सके, इसके लिए वे जीवन-पर्यन्त यत्नशील और चेष्टावान् वने रहे। इसी उद्देश्य से उन्होंने वाइविल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। उनका अनुवाद वड़ा ही प्रामाणिक माना जाता है। वे वस्तुतः धार्मिक शिक्षा के आधार पर वालकों को संतुलित व्यक्ति वनाना चाहते थे। उन दिनों यूरोप में धार्मिक संकीर्णता व्याप्त थी। धर्म के नाम पर वड़ी-वड़ी लड़ाइयाँ हो रही थीं। धार्मिक शिक्षा का मार्मिक रहस्य वतलाकर लूथर वालकों का नैतिक, चारित्रिक और भावनात्मक विकास चाहते थे।

अध्यापक के संवंध में लूथर के विचार वड़े उच्च थे। वे शिक्षक को समाज का सवसे सम्मानजनक व्यक्ति मानते थे। उनकी इच्छा थी कि अध्यापकों को राज्य के मंत्री के समान आदर की उपलब्धि हो। वे इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि योग्य और श्रेष्ठ कोटि के शिक्षक से ही सर्वतोमुखी विकसित वालकों का निर्माण हो सकेगा। शिक्षक समाज और राष्ट्र के प्राण हैं। उनके हाथों में समाज का नव-निर्माण संभव है, अतः उन्हीं व्यक्तियों के हाथों शिक्षा का यह कार्य, यह गुरुतर भार, यह महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व दिया जाए, जिन्हें इसके लिए लगन हो और जो शैक्षणिक आदर्शों के ज्ञाता हैं।

मार्टिन लूथर ने शिक्षकों के प्रशिक्षण की चर्चा करते हुए 'शिक्षक-प्रशिक्षण' को आवश्यक वतलाया। जिस सिद्धांत को भारत में आज अनिवार्य वनाया गया है, उसकी चर्चा लूथर ने करीव चार सौ वर्ष पूर्व की थी। भारत में समय-समय पर आयोजित

विभिन्न शिक्षा-कमीशनों ने शिक्षक-प्रशिक्षण को आवश्यक बतलाया था। वुड डिस्पै (१८५४ ई०), हण्टर-कमीशन (१८८२ ई०), हर्टोग कमिटी (१९२९ ई०): सार्जे रिपोर्ट (१९४४ ई०) ने स्पष्टतः सिफारिश की कि अध्यापकों के प्रशिक्षण पर ध्या दिया जाए। परंतु, गणतंत्र भारत में ही इसको विकसित करने की चेष्टा हुई है।

मार्टिन लूथर ने शिक्षालय-भवनों को आकर्षक बनाने की सलाह दी है सौंदर्य की ओर आकर्षण मानव-प्रवृत्ति है। सौंदर्य सभी मानव के भावनात्मक विका का चिह्न है। हमारा ध्यान उन वस्तुओं की ओर अनायास आकर्षित होता है, जिन हम सुंदरता का अनुभव करते हैं। सौंदर्य के लिए ही दूसरी संज्ञा कला है। क के आधार पर हम अपनी सौंदर्यानुभूति की मूक शब्दों में अभिव्यंजना करते हैं। अत हमारे विद्यालय-भवन आकर्षक हों, बालकों का चित्त उस ओर स्वाभाविक रूप में लगे इसके लिए आवश्यक है कि वहाँ कला मूर्त्तिमान हो। इससे बालकों के भावनात्म विकास में सहायता मिलेगी।

अनुशासन के विषय में मार्टिन ने लूथर बतलाया कि शिक्षण-संस्थाओं अनुशासन बहुत कठोर नहीं होना चाहिए। अनुशासन के संबंध में उनका दृष्टिको प्रकृतिवादियों के समान है। शिक्षण-संस्थाओं में वे शारीरिक दंड के विरोधी थे वे बालकों के प्रति स्नेह और सरकार के दृष्टिकोण के समर्थक थे। वस्तुतः अनुशास की समस्या तभी उपस्थित होती हैं, जब परिवार के संगठन का धरातल कमजो होता है तथा शिक्षकों की स्थिति में ह्रास का प्रारंभ होना शुरू होता है। उन्हों परिवार के गठन और शिक्षकों की स्थिति में वृद्धि के लिए आवश्यक सुधार के निय निर्धारित किए। इस प्रकार बालकों का दृष्टिकोण जीवन के सभी पक्ष और प्रवृत्ति में रचनात्मक होने लगा। उनकी आदत, विचार-शक्ति, योग्यता और प्रवृत्ति व विकसित होने के लिए पर्याप्त और उपयुक्त वातावरण उपलब्ध हुआ।

१४ फरवरी, १५४६ ई० को मार्टिन लूथर अपने विचारों से शिक्षा-जगत व प्रकाशित कर इस धराधाम से चले गए।

अध्याय ६

रॉवेल

शिक्षा में मानवतावादी यथार्थवाद(Humanistic Realism) के पोषक रॉवेल (१४८३—१५५३ ई०) ने अपने मौलिक निबंधों के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतकारी परिवर्तन किया। रॉवेल ने तत्कालीन सामाजिक एवं शैक्षणिक विषम परिस्थितियों के पूर्ण परीक्षण के पश्चात् अपनी शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा तदनुकूल निर्मित और निर्धारित करने की सफल चेष्टा की। उन्होंने अपने व्यंग्यात्मक लेखों द्वारा मानवतावाद का खंडन किया तथा शैक्षणिक पक्ष में सुधार के निमित्त आवश्यक रीतियों की प्रवर्त्तना की, जिसके फलस्वरूप शिक्षा में एक वास्तविक चित्र का प्रदर्शन हमें उपलब्ध होता है। उन्होंने शिक्षा के आधार पर व्यक्ति के सामाजिक, नैतिक,धार्मिक तथा शारीरिक पक्षों के साथ-साथ शिक्षण-पद्धति में भी सुधार की चेष्टा की और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तदनुकूल नियमों का प्रतिपादन कर भावी युग का मार्गदर्शन किया। शिक्षा में सार्वभौमिकता-सार्वलौकिकता का प्रतिपादक कॉमेनियस (१५९२—१६७०ई०), शिक्षा में यथार्थवाद के पोषक जॉन लॉक (१६३२-१७०४ ई०), तथा शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रणेता रूसो (१७१२–१७७८ ई०) रॉवेल से वहुत प्रभावित हुए थे।

रॉवेल तत्कालीन शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त इस सिद्धांत के विरुद्ध थे कि वालकों को केवल पुस्तकीय शिक्षा दी जाए। उनकी सर्वांगीण उन्नति के लिए वे चाहते थे कि वातावरणजन्य वस्तुओं का उन्हें ज्ञान हो तथा उनकी शिक्षा व्यावहारिक हो, जिससे उनका भावी जीवन सुखमय एवं आनंददायक वन सके। वे इस सिद्धांत में विश्वास करते थे कि अच्छी शिक्षा प्राप्त कर वालक अपना संपूर्ण जीवन सुख से व्यतीत कर सकता है। सुख से उनका तात्पर्य यह नहीं था कि वालक विलासी जीवन व्यतीत करने लगें। सुख से उनका विचार वही था, जो अरस्तू का था। अरस्तू,

के अनुसार शिक्षा का कार्य है, मनुष्य के जीवन को सुखी बनाना। अरस्तू ने बतलाया है कि सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य की समस्त शक्तियों में एक प्रकार का सामंजस्य हो। अरस्तू के विचार से सुंदर स्वास्थ्य, श्रेष्ठ पारिवारिक गठन, समान अवकाश का सदुपयोग, सुंदर चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास होने पर ही सच्चे सुख की प्राप्ति की आशा की जा सकती है। शिक्षा का कार्य है—व्यक्ति में इन गुणों का विकास। अतः, शिक्षा और सुख का बड़ा गहरा संबंध है। रॉवेल शिक्षा के इसी उद्देश्य के समर्थक थे।

तत्कालीन समाज में बालकों को बौद्धिक और सैद्धांतिक बातों की विशेष शिक्षा दी जाती थी। व्याकरण का नियम रटाया जाता था। बालकों को वस्तुओं की वास्तविक जानकारी नहीं हो पाती थी, केवल शिक्षकों द्वारा ज्ञान का जो रूप और सिद्धांत बालकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था, वही शेष रहता था, इसलिए उनका ज्ञान किसी ठोस आधारशिला पर अवस्थित नहीं था। इस शिक्षा के परिणामस्वरूप बालक अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते थे। रॉवेल इस विचार के पोषक थे कि शिक्षा बालकों को उनके वास्तविक जीवन के लिए तैयार करे। उनकी शिक्षा ऐसी हो कि जब वे समाज में प्रवेश करें, तो उन्हें किसी दुःख का सामना नहीं करना पड़े तथा शांति एवं सरलतापूर्वक अपनी समस्याओं का वे समाधान कर सकें। वे शिक्षा को बालकों के जीवन को सुखमय बनाने का एक साधन मानते थे।

रॉवेल का विचार था कि बालकों को पुस्तकों द्वारा जो ज्ञान प्रदान किया जाए, उसका माध्यम और उसकी प्रणाली इस प्रकार गठित हो कि वह उनके वास्तविक जीवन का मार्गदर्शन करे तथा उन्हें उनकी भावी समस्याओं के समाधान में सहायता प्रदान करे। वे पुस्तकीय ज्ञान की उपयोगिता बालक के दैनिक जीवन में देखना चाहते थे। इसलिए वे विषय को रटने तथा सिद्धांतों को बिना समझे-बूझे स्मरण कर लेने के विरोधी थे। उन्होंने स्वकीय ज्ञानप्राप्ति के सिद्धांत का समर्थन किया है। अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान चिरस्थायी एवं हितकारी होता है तथा आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग करने में हम समर्थ होते हैं। अरस्तू ने भी शिक्षा में स्वकीय अनुभव का महत्त्व स्वीकार किया है। पेस्तालात्सी भी चाहता था कि ज्ञानराशि की खोज बालक स्वयं करें। वह बालक में अन्वेषण-शक्ति उत्पन्न करना चाहता था। यदि बालक दूसरे द्वारा बताए ज्ञान को चुपचाप स्वीकार कर लेता है, तो उसमें खोज या जिज्ञासा की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव रहेगा। यदि बालक को अनुशासनबद्ध जीवन-यापन करने की शिक्षा देनी है, तो अनुशासन को केवल महत्त्व या अनुशासनहीनता के दोष तथा क्रमशः इनसे लाभ और हानियों का मात्र मौखिक विश्लेषण या सैद्धांतिक विवेचन करना ही पर्याप्त नहीं होगा, अपितु

वालकों के समक्ष एक ऐसा वातावरण उपस्थित करना होगा कि उन्हें यह अनुभव हो कि अनुशासनहीनता एक भयानक दुर्गुण है तथा इससे हमारी व्यक्तिगत सामाजिक एवं राष्ट्रीय शक्तियों की आधारशिला हिल जाएगी। अनुशासनहीनता के दुर्गुण को दूर करने के लिए वालकों को कुछ उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य देना होगा, जिसके कहने-करने में वे इसकी महत्ता को समझ सकें। वालकों को इसकी अच्छाई एवं बुराई स्वतः विदित हो सके। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्वकीय अनुभव को महत्त्व देते थे। महात्मा गांधी की वुनियादी तालीम एवं डाक्टर डिवी की प्रोजेक्ट-प्रणाली का एक प्रमुख उद्देश्य है कि वालकों के समक्ष ऐसा आदर्श उपस्थित किया जाए कि वे स्वयं ज्ञान-ग्रहण करने की ओर उन्मुख हों। अरस्तू की शिक्षा-पद्धति का प्रधान आधार अनुभव था। उनका विचार था कि शिक्षा की पद्धति वालक के अनुभव के आधार पर निर्भर होनी चाहिए।

रॉवेल शिक्षा में जिज्ञासा की भावना तथा रुचि के सिद्धांत के पोषक थे। स्वकीय अनुभव की ओर वालक तभी प्रवृत्त होगा, जव उसके अंदर जिज्ञासा और उत्सुकता की प्रवृत्ति जाग्रत होगी, उसमें विषय को जानने तथा समझने की रुचि का विकास होगा। यूनानी शिक्षा के स्वरूप में निखार लाने का श्रेय यूनानी लोगों की जिज्ञासु प्रवृत्ति को है। वे सभी विषयों के संवंध में जानना चाहते थे। वे किसी भी वात को अंधविश्वास के आधार पर स्वीकार नहीं करते थे। वे वही वातें मानते थे, जो उनकी वुद्धि स्वीकार करती थी। इस संवंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यूनानियों को इतनी स्वतंत्रता प्राप्त थी कि वे अपना वौद्धिक विकास कर सकें। उन पर कोई वात लादी नहीं जाती थी। न तो राज्य अथवा न धर्म उनके वौद्धिक विकास में रुकावटें डालता था। अगर यूनानी समाज में इस सिद्धांत का प्रचलन नहीं होता, तो उनके लिए अपना वौद्धिक विकास कर सकना अत्यंत कठिन था। वस्तुतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य विवेक और विचार से कार्य करे, अपनी वुद्धि का प्रयोग करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहे तथा नई-नई वातों के संवंध में जिज्ञासा करे, तभी वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। विना जिज्ञासा के हम कभी भी ज्ञान प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त नहीं होंगे। जव तक हमें किसी विषय को जानने की ओर रुचि नहीं होगी, तव तक हम ज्ञानी नहीं हो सकते। ज्ञानोपलव्धि की जिज्ञासा या ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा ही वालक को विषय जानने एवं समझने के लिए उद्यमशील वनाती है। रुचि का होना ज्ञान के लिए अत्यंत आवश्यक है। रुचि के अभाव में किसी प्रकार ज्ञान किसी भी शिक्षा-प्रणाली से नहीं प्रदान किया जा सकता, अतः उस विषयविशेष की ओर वालकों की रुचि जाग्रत करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वालकों को रुचि के अनुसार ही उनकी विशेष पढ़ाई की व्यवस्था की

जाए। यथार्थवादी रॉवेल की शिक्षा-विचारधाराओं में आधुनिक शिक्षण-पद्धति का वीज मिलता है। शिक्षा में आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इस सत्य का प्रतिपादन करते हैं कि वालकों की उनकी रुचि के अनुसार शिक्षा दी जाए तथा वातावरण को भी उनकी रुचि के अनुसार निर्मित किया जाए।

रॉवेल ने प्राच्य साहित्य के पठन-पाठन को आवश्यक वतलाया। वे प्राच्य साहित्य में धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक तत्त्वों को देखते थे। उनका विचार था कि पर्याप्त ज्ञान की उपलब्धि प्राच्य साहित्य से ही हो सकेगी। प्राचीन रोम एवं ग्रीक साहित्य के अध्ययन में जीवन के समस्त पहलुओं का समाधान है, ऐसा उनका विचार था। व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए यूरोप के सांस्कृतिक साहित्य—ग्रीक तथा लैटिन का अनुशीलन, अध्ययन तथा अध्यापन अत्यंत आवश्यक है। इसमें जीवन का सत्य निहित है। रॉवेल अरवी साहित्य के ग्रंथों के अध्ययन के भी हिमायती थे।

रॉवेल ज्ञानोपलब्धि के लिए प्राचीन साहित्य के पोषक अवश्य थे, परंतु प्राचीन प्रणाली के विरोधी थे। उनका विचार था कि ग्रीक तथा लैटिन साहित्य की शिक्षा इस प्रणाली से प्रदान की जाए कि विद्यार्थी इसमें निहित सत्य की प्राप्ति कर सकें। केवल वे साहित्यिक चमत्कार, शैली या भाषाजनित विशेषताओं के चक्कर में ही नहीं उलझ जाएँ, जैसा कि तत्कालीन शिक्षण-संस्थाओं में व्यवस्था थी। रॉवेल वस्तुतः वैज्ञानिक पद्धति के समर्थक थे।

रॉवेल इतिहास, भूगोल, अंकगणित, रेखागणित, खगोलविद्या तथा संगीत को अपने पाठ्य-क्रम का प्रमुख विषय मानते थे। वे वालकों को उन प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान कराना चाहते थे, जो उनके वातावरण के सन्निकट हों। विज्ञान का अध्ययन वे वालकों की उनकी प्रारंभिक अवस्था से ही मानते थे। वे यथार्थवादी थे। यथार्थवाद वैज्ञानिक विचारधारा की उपज है। इसलिए उनका दृष्टिकोण समस्त शिक्षा-सिद्धांतों में, शिक्षा के प्रत्येक पहलू में गवेषण का प्रतिपक्षी है, निरीक्षण एवं परीक्षण का समर्थक है।

रॉवेल वालकों का सर्वांगीण विकास चाहते थे। वे उनकी नैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक उन्नयन के पोषक थे। अन्य गुणों के विकास के साथ-साथ शरीर का विकास भी होना चाहिए; क्योंकि स्वस्थ शरीर के आधार पर ही उन्नति के निमित्त हमारे समस्त कार्यकलाप होते हैं। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। अरस्तू ने जिमनास्टिक तथा व्यायाम की शिक्षा पर वल दिया है। उनका कहना था कि जिमनास्टिक और व्यायाम द्वारा शारीरिक विकास तो

होता ही है, बालकों में कतिपय अन्य अच्छी आदतें भी प्रादुर्भूत होती हैं। जिमनास्टिक द्वारा शारीरिक सुगठन के साथ-साथ उत्तेजनाओं को वशीभूत करने की क्षमता भी उत्पन्न होती है। रॉबेल ने अपने पाठ्य-क्रम में शारीरिक विकास को यथोचित महत्त्व दिया है।

रॉबेल बालकों को धार्मिक शिक्षा देना चाहते थे। धार्मिक शिक्षा द्वारा बालकों की भावनाओं में उदारता, संकीर्ण धार्मिक विचारधाराओं के प्रति उनका एक स्वस्थ दृष्टिकोण निर्मित हो, ऐसा उनका विचार था। रुढ़िवाद और अंधविश्वास का उन्मूलन तभी होगा, जब बालकों को विवेक उत्पन्न करने वाली धार्मिक शिक्षा प्रदान की जाएगी। धार्मिक शिक्षा का अर्थ सभी धर्म के मर्म को समझना है न कि केवल एक सिद्धांत के प्रति आस्था मात्र। तत्कालीन यूरोपीय समाज में धार्मिक रुढ़िवादिता एवं संकीर्णता प्रवेश कर गई थी। अतः, रॉबेल का बालकों में धर्म की वास्तविकता के प्रति स्पष्ट एवं सुलझी हुई विचारधारा के व्याप्तिकरण की क्षमता उत्पन्न करने का प्रयास सर्वथा उचित तथा समयोचित था। मार्टिन लूथर और जॉन कालविन ने भी धार्मिक शिक्षा को आवश्यक बतलाया है। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानंद तथा डॉ० राधाकृष्णन का भी ऐसा विचार है कि शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का व्यवहार हो। स्वामी विवेकानंद ने धर्म को शिक्षा का मेरुदंड बतलाया है। धार्मिक शिक्षा के आधार पर मनुष्य की भौतिक तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ परिशोधित हो सकेंगी तथा वह मानवता के उच्च आदर्शों से अपना हार्दिक संबंध स्थापित कर सकेगा—ऐसा डॉ० राधाकृष्णन महोदय का भी विचार है और जिसका समर्थन आज से प्रायः सवा चार सौ वर्ष पहले रॉबेल की विचारधाराओं में हमें उपलब्ध होता है।



अध्याय १०

रिचार्ड मुलकास्टर

रिचार्ड मुलकास्टर (१५३१ ई०—१६११ ई०) स्वानुभववादी यथार्थवाद के प्रमुख पोषक और उन्नायक थे। इनके शिक्षा-संबंधी विचार 'एलिमेण्टरी' और 'पोजिसन्स' नामक उसके ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। मुलकास्टर ने इंगलेंड के 'मर्चेन्ट टेलर्स स्कूल' तथा 'सेन्ट पाल स्कूल' में प्राय: सैंतीस वर्षों तक प्रधान अध्यापक का काम किया था। इसके फलस्वरूप उन्हें बालक एवं विद्यालय के संबंध में प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त था। शिक्षा के क्षेत्र में उनके मौलिक विचार पर्याप्त प्रगतिशील हैं तथा शताब्दियों पश्चात् आज भी वे हमारा मार्ग-दर्शन करने में पूर्ण सक्षम एवं समर्थ हैं।

मुलकास्टर का विचार था कि शिक्षा का प्रमुख केंद्र बालक है। बालक को शिक्षा का केंद्र-बिंदु बतलाने का सिद्धांत सर्वथा आधुनिक है। सभी आधुनिक शिक्षा-शास्त्री इससे सहमत हैं कि बालक को केंद्र-बिंदु मानकर शिक्षा का समस्त विधान किया जाए। यह सर्वथा एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अत:, बालक को ध्यान में रख कर---उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की चेष्टा के लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। प्लेटो ने भी बालक के महत्त्व को स्वीकार किया है। अपनी पुस्तक 'दि रिपब्लिक' में शिक्षा की परिभाषा देते हुए प्लेटो ने लिखा है, "शिक्षा बालक के उन्नयन और विकास का प्रयत्न है, अत: बालक की यदि उपेक्षा कर दी जाएगी, तो फिर उन्नयन और विकास का काम कैसे हो सकेगा? हमलोगों के लिए बालकों के नैसर्गिक गुणों एवं प्रवृत्तियों की जानकारी तथा उनके मनोवैज्ञानिक विकास के नियमों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। रूसो, पेस्तालात्सी, फ्रोयबेल-जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने 'बाल केंद्रित शिक्षा' का महत्त्व प्रतिपादित किया है तथा बतलाया है कि बालक को शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। हमें उनके व्यक्तित्व के प्रति स्नेह और आदर की भावना रखनी है। मुलकास्टर ने बालकों को मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने की बात बतला कर, बाल-मनोविज्ञान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित

कर, बालकों को शिक्षण-जगत में प्रधानता देकर जगत का बहुत बड़ा कल्याण किया।

बालकों का मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अध्यापन कार्य केवल योग्य शिक्षक ही संपादित कर सकते हैं। तत्कालीन शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षकों का बालकों के प्रति व्यवहार अत्यंत रुखा होता था। वे पुस्तकीय ज्ञान को ही महत्ता देते थे, विषय को रटने पर बल देकर व्याकरण के नियमों का पाठन ही उनकी दृष्टि में प्रमुख था। उन्हें आगमन-निगमन प्रणाली का ज्ञान नहीं था, इंद्रिय प्रशिक्षण और प्रकृति की उपेक्षा की जाती थी। विषय को किस प्रकार रुचिवर्द्धक बनाया जाए, इच्छानुकूल वांछित विषयों को पढ़ाया जाए, तर्क-वितर्क की महत्ता स्वीकार की जाए अथवा व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जाए आदि बातें शिक्षकों द्वारा प्रायः उपेक्षित थीं। इसको ध्यान में रखकर मुलकास्टर ने योग्य शिक्षकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, शिक्षकों को आधुनिकतम नई शिक्षण-प्रणालियों से अवगत कराने के लिए उन्हें बाल-मनोविज्ञान की जानकारी देने के लिए शिक्षक-प्रशिक्षण को वांछनीय बतलाया। मुलकास्टर का विचार था कि शिक्षकों को अध्यापन-विधि का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि अध्यापन-विधि से परिचित अध्यापक ही बालकों को मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर शिक्षा प्रदान कर सकते हैं। अतः, शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। अप्रशिक्षित शिक्षकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए नियुक्त करना ठीक नहीं। मुलकास्टर का ऐसा विचार सर्वथा आधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक है। आज विश्व के प्रायः सभी प्रगतिशील देशों की शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शिक्षकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता बतलायी गई है। प्रशिक्षण के माध्यम से शिक्षकों को विद्यालय-संगठन या विद्यालय-प्रबंध के साथ-साथ मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं से साक्षात्कार और अन्य शिक्षण-प्रणालियों का ज्ञान होता है। मार्टिन लूथर ने भी शिक्षकों के प्रशिक्षण की बात बतलायी है। भारत में समय-समय पर आयोजित विभिन्न 'एडुकेशन-कमीशनों' ने शिक्षकों के प्रशिक्षण को आवश्यक बतलाया है। बुडडिस्पेच (१८५४ ई०), हंटर कमीशन (१८८२ ई०), हर्टोग कमिटी (१९२७ ई०) औ सार्जेंट रिपोर्ट (१९४४ ई०) सभी ने एक मत से शिक्षकों के प्रशिक्षण के सिद्धांत पर अपनी सहमति देते हुए शैक्षणिक विकास और प्रगति के लिए इसको प्रमुखता प्रदान की है। मुलकास्टर ने 'इंगलिश-युनिवर्सिटीज' के सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किया तथा प्रत्येक युनिवर्सिटी में एक प्रशिक्षण-कालेज स्थापित करने को आवश्यक बतलाया।

शिक्षा के माध्यम के संबंध में मुलकास्टर ने मातृभाषा का होना स्वीकार किया है। मार्टिन लूथर, जॉन कालविन, रॉबेल, मिल्टन, मांटेन, बेकन, रॉट्के, कॉमेनियस, जान लॉक और पेस्तालात्सी-जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने भी कहा है कि शिक्षा के माध्यम के

रूप में मातृभाषा की अपेक्षा अन्य भाषा में शिक्षा देना मनुष्य के शीघ्र विकास में अवरोध और त्रुटि उत्पन्न करता है। शिक्षाशास्त्री कॉमेनियस लिखता है—"मातृभाषा की शिक्षा के पूर्व विदेशी भाषा की शिक्षा प्रदान करना उतना ही विवेक-रहित है जितना बच्चे के चलने के पूर्व चढ़ना सिखाना।" (To attempt to teach a foreign language before the mother tongue has been learned is as irrational as to teach a boy to ride before he can walk.) मातृभाषा बालकों के स्वाभाविक विकास में सहायता प्रदान करती है। उसके द्वारा विद्यार्थी भली-भाँति अपना भाव प्रकाशित करता है। प्रारंभ में जितनी शीघ्र योग्यता मातृभाषा की हो सकती है, उतनी शीघ्र अन्य भाषा की नहीं हो सकती; क्योंकि विद्यार्थी अपनी बाल्यावस्था से ही मातृभाषा में सीखता रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने बेसिक शिक्षा-प्रणाली में मातृभाषा पर सर्वाधिक बल दिया है। उनका विचार था कि मातृभाषा द्वारा प्रदान की गई शिक्षा ही स्कूलों को समाज के सन्निकट ला सकेगी। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी को समाज, परिवार एवं स्कूल में वैषम्य दृष्टिगत नहीं होगा। जाकिर हुसैन कमिटी ने शिक्षा में मातृभाषा के स्थान के संबंध में लिखा है—"संपूर्ण शिक्षा का आधार मातृभाषा ही होनी चाहिए। जो सरलता से लिख-पढ़ सकता है, उसी के पास सुलझे और स्पष्ट विचार होते हैं। मातृभाषा के ही माध्यम से अपनी जाति की परंपरा, संस्कृति एवं भावनाओं को समझा जा सकता है। अतः, यह सामाजिक शिक्षा का अमूल्य साधन हो सकती है तथा इसके द्वारा सभी नैतिक और धार्मिक गुण प्राप्त हो सकते हैं। बच्चों के भाव-प्रकाशन का मातृभाषा एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। मातृभाषा के उचित अध्ययन से बालकों में साहित्य के प्रति तथा मौलिक रचना के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है।" अतः, रिचार्ड मुलकास्टर का मातृभाषा पर सर्वाधिक बल सर्वथा समयानुकूल था, जिसने भावी पीढ़ी के तत्संबंधी विचार को संपुष्ट किया।

मुलकास्टर बालकों का सर्वांगीण विकास चाहते थे। उनका विचार था कि बालक शिक्षोपार्जन के पश्चात् सुखी जीवन व्यतीत करें, अतः वे शिक्षा को मात्र बौद्धिक नहीं, अपितु व्यावसायिक भी बनाना चाहते थे। बालकों का वे मानसिक और शारीरिक विकास दोनों चाहते थे। उन्होंने मानसिक विकास के लिए पढ़ना-लिखना, ड्राइंग तथा संगीत को अपने पाठ्य-क्रम में स्थान दिया। उनके अनुसार विज्ञान की शिक्षा भी आवश्यक एवं उपयोगी है। यथार्थवाद का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हो चुका था। लोगों को वैज्ञानिक आविष्कार अधिक प्रभावित करने लगे थे। व्यक्तियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होने लगा था। स्वानुभववादी यथार्थवादियों को भी विज्ञान ने प्रभावित किया है। मुलकास्टर ने अपनी पुस्तक

'पोजिसन्स' में, जिसका प्रकाशन १५८१ ई० में हुआ था, उन परिस्थितियों की विवेचना की है, जो बच्चे के स्वास्थ्य एवं वृद्धि के लिए आवश्यक होती है।

मुलकास्टर ने प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता पर अत्यधिक बल दिया है तथा बालिकाओं की शिक्षा को भी आवश्यक बतलाया है। प्राथमिक शिक्षा के संबंध में उनका विचार था कि इसको सर्वव्यापक बनाया जाए। तत्कालीन यूरोपीय समाज में बड़ी विषमता फैली हुई थी। अमीरों को ही विशेष सुविधा प्राप्त थी। शिक्षा के साथ भी ऐसी ही बात थी। गरीबों के बालकों के पढ़ने के लिए कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। मुलकास्टर के पहले मार्टिन लूथर तथा जॉन कालविन ने शिक्षा को सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक बनाने की बात बतलायी थी। मुलकास्टर ने भी व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए, इसकी उन्नति एवं प्रगति के लिए, नई चेतना एवं नवीन स्पंदन के लिए, नई भावना एवं नए विवेक के लिए, नई जागृति एवं नई सभ्यता के लिए, संस्कृति एवं जीवन-रक्षा के लिए शिक्षा को सर्वव्यापी बनाना आवश्यक समझा।

मुलकास्टर को प्रकृति से विशेष प्रेम था। उनका विचार था कि शिक्षा एक प्राकृतिक परिपाटी है, न कि एक कृत्रिम वस्तु मात्र। उनके अनुसार शिक्षा-प्रणाली प्राकृतिक विधियों पर आधारित होनी चाहिए—तभी विद्यार्थियों का पूर्णरूपेण विकास संभव है।



अध्याय ११

मांटेन

सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री मांटेन का जन्म १५३३ ई० में फ्रांस में हुआ था। वे शिक्षा में सामाजिक यथार्थवाद के पोषक थे। उनके शिक्षा-संबंधी विचार उनके ग्रंथ (१) 'ऑफ पेडांटरी', (२) 'ऑफ दि एडुकेशन ऑफ दि चिल्ड्रेन' तथा (३) 'ऑफ दि अफेक्शन ऑफ फादर्स टु देयर चिल्ड्रेन' में प्राप्त होता है।

मांटेन शिक्षा द्वारा बालक में विवेक उत्पन्न करना चाहते थे। विवेक की उपलब्धि से हमारे समस्त कार्य-कलाप सुव्यवस्थित हो जाते हैं। समस्त मानवोचित गुणों का विकास विवेक के माध्यम से ही संभव है। अविवेकी अच्छाई तथा बुराई में अंतर नहीं कर पाता। परिस्थितिजन्य दुरुहताओं का सामना विवेक से ही संभव है। अतः, यथार्थवादी मांटेन बालकों को वास्तविक जगत का सच्चा नागरिक बनाना चाहते थे, ताकि समाज में जाने पर बालकों को कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी होगी, जब बालकों में विवेक की शक्ति उत्पन्न होगी, ज्ञान के आधार पर जब वे अपना व्यक्तिगत सामाजिक मार्ग प्रशस्त करेंगे। मांटेन का विचार था...."कोई बात बिना समझे स्वीकार नहीं करनी चाहिए।" वे चाहते थे कि व्यक्ति अपना कार्य बुद्धि की कसौटी पर करें। ज्ञान, ज्ञान के लिए है—इस शक्ति का वे विरोध करते थे। उनका विचार था कि ज्ञान वस्तुतः हमारे लिए है। वह हमारे सामाजिक कार्यों के लिए है। हमें समाज में कैसे रहना और चलना है, इसके लिए है। ज्ञान हमारी सामाजिक विषम परिस्थितियों एवं कठिन समस्याओं के समाधान के लिए है।

उपयुक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे बालकों को व्यावहारिक ज्ञान देना चाहते थे। उनके जीवन को सरल बनाने के लिए, केवल खामख्याली दुनिया में वे भ्रमण नहीं करें, बल्कि जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से भी पूर्णतः अवगत बने रहें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे बालकों को वैसी शिक्षा देना चाहते थे, जो

जीवनोपयोगी हो, विवेकपूर्ण हो। शिक्षाशास्त्री लॉक ने भी विवेक को मानव-जीवन में श्रेष्ठ पद पर आसीन किया है। उनका विचार था कि सच्चे ज्ञान की उपलब्धि विवेक के माध्यम से ही हो सकेगी, अतः बालकों की शिक्षा-व्यवस्था ऐसी हो कि वे विवेकशील जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं से अवगत हों, अन्यथा उनका समस्त भावी व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन कठिन हो जाएगा। विवेकशील व्यक्ति ही संसार में सफल जीवन व्यतीत करते हैं। अच्छाई का चयन एवं बुराई का परित्याग विवेक के द्वारा ही हो सकेगा।

लॉर्ड मांटेन ने सद्गुण पर बड़ा बल दिया है। बालकों में इस पवित्र गुण के प्रादुर्भाव के वे बहुत बड़े समर्थक और पोषक थे। उनके अनुसार सद्गुण मानवीय गुणों का स्रोत है। समस्त मानवीय गुण सद्गुण पर आधारित है। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी एवं आध्यात्मिक राजदूत स्वामी विवेकानंद बालकों में सद्गुण के विकास को आवश्यक मानते थे। हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि सद्गुण का प्रयोग भी विवेकशील व्यक्ति ही कर सकेंगे। अतः, बालकों को विवेकशील बनाने की शिक्षा के व्यवहार पर मांटेन का बल अत्यंत उपयोगी है; क्योंकि 'अवकाश का सदुपयोग करना चाहिए,' 'समय का नाश जीवन का नाश है' आदि सिद्धांतों का सफल प्रयत्न तभी होगा, जब बालकों में क्षमता उत्पन्न कर सकेंगे कि अपने विवेक का सहारा लेकर वे अपने जीवन में इसे उतार सकें। जीवन-सिद्धांत का सफल चित्रण और कार्यान्वियन विवेकशील प्राणी ही कर पाते हैं। अतः, मांटेन का शिक्षा द्वारा बालकों को विवेकशील बनाने का विचार सर्वथा उपयुक्त था; क्योंकि तत्कालीन समाज के व्यक्ति रूढ़ि एवं परंपरा को ही विशेष महत्त्व देने लग गए थे। पुस्तकीय ज्ञान को रट लेने में ही उनकी कुशाग्रता एवं कुशलता शेष रह गई थी। उपयुक्त जीवन-यापन करने की महिमापूर्ण शैलियों पर उनका अध्ययन नहीं था, अतः उन्होंने विवेक को शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य बतला कर जन-जीवन का बड़ा कल्याण किया।

मांटेन ने बतलाया कि विवेक की उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारा ज्ञान सुलझा हुआ और स्पष्ट होगा। स्पष्ट ज्ञान को ही समयानुकूल एव परिस्थितिजन्य समस्याओं में हमलोग प्रयोग कर सकने में समर्थ होंगे। अतः, ज्ञान का स्पष्ट और हितकारी होना ही श्रेष्ठ है। हमें भावाभिव्यंजना की शक्ति तभी प्राप्त होगी, जब हमारा ज्ञान स्पष्ट होगा, अतः शिक्षा-प्रणाली इस आधार पर सुगठित होनी चाहिए, जिससे बालकों का ज्ञान उनकी बाल्यावस्था से ही उनके जीवन में हितकारी होने के निमित्त स्पष्ट हो। मात्र पुस्तक को रट लेने से अथवा सिद्धांत को बिना समझे मस्तिष्क में धारण कर लेने से इस उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं होगी। इसके लिए आवश्यकता है कि विद्यालयीय जीवन का संगठन ऐसा हो कि बालकों को तर्क-वितर्क करने का अवसर मिले। तर्क-

वितर्क की प्रणाली ज्ञानोपलब्धि के निमित्त अत्यंत आवश्यक है, सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। महर्षि स्वामी दयानंद ने शिक्षा ग्रहण करने के लिए तर्क-वितर्क प्रणाली को आवश्यक और हितकारी स्वीकार किया है। तर्क-वितर्क प्रणाली से मस्तिष्क में किसी अस्पष्ट भाव के शेष रह जाने के लिए अवसर नहीं रहता। तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसी कथा आई है कि वरुण ने जब अपने पुत्र भृगु को अध्यात्म-संबंधी विशेष ज्ञान दे दिया, तब उन्होंने भृगु को आदेश दिया कि अब तुम इस पर स्वयं विचार कर मनन करो तथा इस विद्या को आत्मसात् करो, पुनः अपने कठिन पहलुओं पर मुझसे तर्क-वितर्क करना। बौद्ध विहारों में भी शिक्षा की प्रायः तीन प्रणालियाँ प्रमुख थीं :—

(१) व्याख्यान प्रणाली,
(२) व्याख्या प्रणाली और
(३) प्रश्नोत्तर प्रणाली।

इस प्रकार बौद्ध विहारों तथा उसकी अन्य उच्च संस्थाओं में भी प्रश्नोत्तर प्रणाली को प्रश्रय देकर तर्क-वितर्क की महत्ता को स्वीकार किया गया था।

मांटेन शिक्षा में इस प्रणाली के विरोधी थे कि बालक शिक्षकों द्वारा कही हुई बातों को अक्षरशः स्वीकार करते जाएँ, ज्ञान की उपलब्धि में वे अपने मस्तिष्क का कोई सहारा नहीं लें। इस दृष्टिकोण से शिक्षकों के लिए उन्होंने विधान किया कि बालकों को वे जो ज्ञान देते हैं, उसको समझ लें कि उन्होंने कितना उसमें से ग्रहण किया है। ज्ञान का अनावश्यक संपादन उन्हें स्वीकार नहीं था। उनका कहना था कि बालकों को ज्ञान इस प्रकार दिया जाए कि वे समझें। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में विषय को रट लेने का ही महत्त्व था। बालकों ने उसमें से कितना समझा अथवा प्राप्त ज्ञान उनके जीवन में कितना शुभ प्रदान करेगा, इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मांटेन ने अपनी शिक्षण-धारा को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। निःसंदेह शिक्षा-जगत का अपने प्रदत्त विचारों से उन्होंने बड़ा कल्याण किया।

लार्ड मांटेन सच्चे अर्थ में बालक को एक मनुष्य बनाना चाहते थे, अतः बालक की शिक्षा-व्यवस्था वे इस प्रकार निर्धारित करना चाहते थे कि इस उद्देश्य की सहज पूर्ति हो सके। उनका विचार था कि बालक एक सफल मनुष्य बनें, समाज के आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक उन्नति में सहयोग दें एवं स्वतः उनका व्यक्तिगत जीवन ऐसा हो कि समाज में वे अपना सफल अस्तित्व बना सकें। सोफिस्टों के समान बालकों को वे न केवल एक सफल वक्ता बनाना चाहते थे और न 'एपीक्यूरियन दर्शन' की विशेषताओं के अनुसार 'खाओ, पियो, मौज करो' के सिद्धांत के पोषक

थे, अपितु बालक को वे आदर्श समाज का एक आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते थे। अपनी पुस्तक, 'एथिक्स' में अरस्तू ने एक आदर्श व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—"एक आदर्श व्यक्ति बिना प्रयोजन अपने को संकट में नहीं डालना चाहता; क्योंकि ऐसी वस्तुएँ बहुत कम हैं, जिनके लिए उसे चिंता करनी पड़ती है। लेकिन, अवसर आने पर वह अपनी जान भी देने को तैयार रहता है; क्योंकि वह जानता है कि किन्हीं परिस्थितियों में मृत्यु जीवन से भी श्रेयस्कर है। वह दूसरों की सेवा के लिए भी तत्पर रहता है तथा दूसरों से अपनी सेवा कराने में लज्जित होता है। किसी पर दया करना श्रेष्ठता है तथा किसी का दयापात्र बनना लघुता। वह क्या पसंद करता है तथा वह क्या चाहता है, यह स्पष्ट होता है। वह बिना हिचक के बातें करता है तथा कार्य की संपन्नता की ओर उन्मुख बना होता है। वह प्रशंसा से कभी फूलता नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई वस्तु बड़ी नहीं है। सबसे मित्रता का व्यवहार रखता है तथा किसी का दास बनना नहीं चाहता। वह अपने मन में नीच विचारों को नहीं रखता तथा दूसरों द्वारा की गई हानियों को भूल जाता है। उसे बातचीत करने का शौक नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि उसकी प्रशंसा हो और दूसरों की निंदा। वह दूसरों को, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी निंदा नहीं करता, उनकी बुराई की कामना नहीं करता। उसकी वाणी में गंभीरता होती है तथा वह नपे-तुले शब्दों का प्रयोग करता है। वह कभी जल्दी नहीं करता; क्योंकि वह किसी वस्तु के संबंध में चिंतित नहीं होता। वह किसी बात को बहुत जोर देकर भी नहीं कहता; क्योंकि वह किसी भी बात को बहुत महत्त्व नहीं देता। वह जीवन के संघर्षों का सामना गौरव और गरिमा से करता है तथा परिस्थितियों से यथासंभव लाभ उठाकर अपनी शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है, जैसे युद्ध में एक सेना-नायक। वह अपना सबसे बडा मित्र होता है तथा एकांत में बड़े आनंद के साथ रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति गुणहीन एवं अयोग्य है, वह अपना सबसे बड़ा शत्रु है तथा एकांत से घबड़ाता है।" अरस्तू की आदर्श व्यक्ति की यह कल्पना मांटेन के आदर्श समाज के विवेकशील व्यक्ति से सर्वथा समतुल्यता स्थापित करती है।

मांटेन ने बालकों के लिए उन्हीं विषयों की शिक्षा आवश्यक बतलायी है, जिनसे उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो। दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के पश्चात् मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन एक बडी सीमा तक सरल हो जाता है। अतः, यथार्थवादी मांटेन शिक्षण-संस्थाओं में उन विषयों का प्रचलन आवश्यक मानते थे, जिनसे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। वे परंपरागत अच्छे विषयों की शिक्षा आवश्यक मानते थे, परंतु उन विषयों का बहिष्कार भी वांछित समझते थे, जिनसे बालकों को उनके भावी दैनिक एवं सामाजिक जीवन में कोई

सहायता नहीं मिलेगी। अतः, प्राचीन तथा नवीन विषयों का समन्वय कर उन्होंने भावी युग का बहुत बड़ा हित किया। इतिहास, भूगोल, कानून, गणित, हथियार चलाना, घुड़सवारी, नृत्य, व्यायाम, बहादुरी के काम, प्रदर्शन, अनुभव और यात्रा आदि को उन्होंने बहुत आवश्यक बतलाया है। अनुभव, यात्रा, (पर्यटन) पर उन्होंने विशेष बल दिया है। पर्यटन से हमें विशेष व्यावहारिक अनुभव होता है। यात्रा के क्रम में देश-विदेश के विभिन्न रस्म-रिवाज, सभ्यता, संस्कृति को देखने का अवसर मिलता है। यात्रा में भावों का आदान-प्रदान सहज संभव होता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने भी पर्यटन की शिक्षा को आवश्यक अंग स्वीकार किया है। वस्तु के यथार्थ दर्शन का अवसर हमें पर्यटन के समय ही होता है। आँखों देखा ज्ञान विशेष टिकाऊ एवं हितकारी होगा। मांटेन केवल पुस्तकीय ज्ञान एवं रटने के विरोधी थे। वे मस्तिष्क में वस्तु का यथातथ्य चित्र देना चाहते थे। विषय को पुस्तक के माध्यम से अथवा शिक्षक के भाषण से रट अथवा जान लेने पर जिस विवेक की उत्पत्ति होगी, वह हमारे भावी जीवन का मार्ग-दर्शन सरलता एवं सुगमतापूर्वक नहीं कर पाता है। अतः, विभिन्न स्थानों में जाकर, ज्ञानार्जन के प्रमुख स्रोत पर्यटन को माध्यम स्वीकार कर हम अपना विशेष लाभ कर सकेंगे। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् प्लेटो ने विश्व के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया, विभिन्न व्यक्तियों से साक्षात्कार किया, विभिन्न सभ्यता-संस्कृति का दर्शन किया, फलस्वरूप उनका ज्ञान विशेष परिपक्व हुआ। अतः, पर्यटन के प्रचलन पर मांटेन का बल देना सर्वथा हितकारी एवं मनोवैज्ञानिक है।

मांटेन शिक्षा के किसी विषय को बालकों पर जबरदस्ती नहीं लादना चाहते थे, अपितु उनका विचार था कि बालक शनैः-शनैः ज्ञान ग्रहण कर, समझ-बूझकर आगे बढ़ें, अनुभव एवं तर्क-वितर्क का माध्यम स्वीकार करें। विषय को केवल रट लेने से उनका कार्य सिद्ध नहीं होगा। उन्होंने कहा था—"यदि शिक्षा से मस्तिष्क का विकास नहीं हुआ, विचारशक्ति सबल नहीं हुई, तो मैं समझूँगा कि मेरे विद्यार्थी ने टेनिस खेलने में अपना समय गँवाया है।" साथ-ही-साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जब बालक एक सामान्य ज्ञान की प्राप्ति कर लें, तो उन्हें उनकी रुचि के मुताबिक विषय पढ़ाए जाने की व्यवस्था की जाए। यथार्थवादी विचारधाराओं के पोषक मांटेन शिक्षा में मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के प्रतिपादक थे। यथार्थवादी होने के कारण उनकी दृष्टि वैज्ञानिक पहलुओं को स्वीकार करती थी। वे इंद्रिय प्रशिक्षण में आस्था रखते थे।

विवेक के सफल कार्यान्वीकरण में भाषा पर अधिकार बहुत बड़ा सहायक है। अतः, आवश्यक है कि मातृभाषा के द्वारा ही बालकों को शिक्षित बनाया जाए।

विदेशी भाषा का सहारा लेने से ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। अतः, मांटेन ने बालकों को उनकी प्रारंभिक अवस्था में मातृभाषा का ज्ञान आवश्यक माना है। मातृभाषा का ज्ञान हो जाने पर बालकों को अन्य भाषाओं ग्रीक, लैटिन आदि का ज्ञान दिया जा सकता है। व्याकरण का नियम भी भाषा सीखने के बाद ही बतलाया जाए, ऐसा मांटेन मानते थे।

मांटेन मस्तिष्क के साथ-साथ शरीर का भी पूरा-पूरा विकास चाहते थे। वस्तुतः वे मनुष्य के संपूर्ण विकास के समर्थक थे। वे मनुष्य में मानवोचित गुणों के समन्वय के पोषक थे। उन्होंने मस्तिष्क और शरीर को अलग-अलग नहीं स्वीकार किया है। वस्तुतः मनुष्य में मानवोचित गुणों का विकास तभी होगा, जब उसका मस्तिष्क और शरीर पूर्णतः विकसित रहे। एक के अभाव में दूसरा कमजोर पड़ जाएगा। केवल शारीरिक विकास से ही हमारी बौद्धिक चिंतनशील प्रवृत्तियाँ सबल और सफल नहीं हो सकेंगी, हमारी सांस्कृतिक तथा भावात्मक उन्नति शेष रह जाएगी। अतः, मन एवं मस्तिष्क के साथ-साथ शरीर का पुष्ट होना भी परमावश्यक है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। सोफिस्टों ने व्यायाम की उपेक्षा की है। सोफिस्ट शिक्षकों का विचार था कि व्यायाम से शरीर को कष्ट होता है, परंतु उनकी यह एक बहुत बड़ी भूल थी। "शरीर मद्य खलु धर्म साधनम्"— अर्थात् शरीर धर्म साधन का माध्यम है, उपनिषद् के इस वाक्य को वे भूल गए थे। अरस्तू ने शारीरिक विकास के लिए शिक्षा को आवश्यक बतलाया है। अरस्तू के विचारानुसार शरीर एक ऐसी संपत्ति है कि व्यक्ति समाज की अधिकाधिक सेवा कर सकने में समर्थ हो सकेगा। स्वस्थ शरीर, मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों के परिशोधन में सफल सहायक होता है। अतः मांटेन का यह विचार कि हम—"शरीर और मस्तिष्क की शिक्षा नहीं देते, अपितु हम तो मनुष्य को शिक्षा देते हैं।" सर्वथा उपयोगी एवं युक्तिसंगत है।

मांटेन का विचार था कि बालकों की शिक्षा ऐसी हो, जिसमें सामाजिक तत्त्वों का समावेश हो सके। उनकी शिक्षा समाज से अलग नहीं हो; क्योंकि अपना भावी जीवन तो उन्हें समाज में ही व्यतीत करना है। अतः, सामाजिक नियमों का ज्ञान होना उनके लिए परमावश्यक है। बालकों में सामाजिक भावना एवं सामाजिक गुणों की चेतना का होना अत्यंत आवश्यक है। मांटेन वस्तुतः शिक्षा का सामाजीकरण चाहते हैं।

भारत के प्रमुख शिक्षाशास्त्री श्री सैयदेन ने अपनी पुस्तक 'स्कूल ऑफ दि फ्युचर' (School of the future) में बड़ा क्षोभ प्रकट किया है कि स्कूल और समाज में एक बड़ी खाई उत्पन्न हो गई है। इस कुव्यवस्था को दूर करने के लिए श्री सैयदेन का विचार है कि विद्यालयी-वातावरण एवं विद्यालय-संगठन इस व्यवस्थित आधार पर सुनिर्मित किए जाएँ कि बालकों को वहाँ सामाजिक जीवन

का अनुभव हो। समस्याएँ एवं विचारधाराएँ समाज में बलवती हों, उनका समावेश स्कूल में होना वांछनीय है। बालकों को इसका अनुभव हो कि समाज के वे एक प्रमुख अंग हैं तथा अपना भावी जीवन उन्हें समाज में ही व्यतीत करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सामाजिक समस्याओं एवं कठिनाइयों की जानकारी विद्यार्थियों को अपने विद्यालय में ही हो जानी चाहिए। समाजवादी लार्ड मांटेन का भी ऐसा ही विचार था। वे चाहते थे कि शिक्षा का ध्येय ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति को दुनिया की वास्तविकता की जानकारी हो, वह विस्तृत संसार में सरलता एवं सफलतापूर्वक रहना जान सके। समाजवादी यथार्थवादियों की शिक्षा की यह विशेषता थी कि उनके उद्देश्य सर्वथा व्यावहारिक थे, मानवीय अथवा सांस्कृतिक नहीं।

लार्ड मांटेन सन् १५९२ ई० में काल-कवलित हुए। उनके शिक्षा-संबंधी विचार आज भी हमारे लिए सर्वथा हितकारी हैं।



फ्रांसिस बेकन

शताब्दियों तक निरंतर आध्यात्मिकता को सर्वप्रधानता और प्रश्रय देने तथा उसकी गहराई तक पहुँचने के अविरल प्रयत्नों के बावजूद मानव-मन को संतोष एवं शांति नहीं मिल सकी। आध्यात्मिकता की अपेक्षा अर्थ को प्रधानता दी जाने लगी। आर्थिक और धार्मिक स्वार्थों का संघर्ष प्रारंभ हुआ। विज्ञान की जड़ें जमने लगीं। शिक्षा भी इससे पूर्णतः प्रभावित हुई। शिक्षा के धार्मिक और आध्यात्मिक उद्देश्य के स्थान पर भौतिक एवं बौद्धिक जीवन को उन्नत एवं उपयोगी बनाने वाली शिक्षा के उद्देश्य को प्रश्रय प्राप्त हुआ। फ्रांसिस बेकन इस विचारधारा के प्रथम प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उनका जन्म १५६१ ई०में इंगलैंड में हुआ था। ज्ञानप्रिय यथार्थवादी अथवा स्वानुभववादी यथार्थवादी शिक्षा-दार्शनिकों में इनका नाम अग्रगण्य है। उनके शिक्षा-संबंधी विचार उनकी पुस्तक (१) 'एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग' (Advancement of Learning) तथा 'दि न्यू एटलांटिक' (The New Atlantic) नामक ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं।

फ्रांसिस बेकन ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है कि शिक्षा को समाजोपयोगी होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को वह ज्ञान प्रदान करना है, जिससे वह प्रकृति पर ऐसा अधिकार प्राप्त करे कि वह समाजोपयोगी बने। इस प्रकार वे शिक्षा को वैज्ञानिक स्वरूप देना चाहते थे।

बालक समाज का प्रमुख अंग है। विद्योपार्जनोपरांत उसे समाज में ही जाना है; क्योंकि वही उसका कार्य-क्षेत्र है। विद्यार्थी ने जो कुछ भी सीखा है, उसका प्रकटीकरण समाज में ही करेगा। अपनी अर्जित ज्ञान एवं भावनाओं का वास्तविक चित्रण उसके लिए समाज द्वारा ही संभव है। समाज ही उसका वास्तविक कर्म-क्षेत्र है, जहाँ उसके विचार कार्य-रूप में प्रकट होंगे तथा सुदृढ़ एवं परिपक्व बनेंगे। अतः, शिक्षा का उद्देश्य समाजीकरण होना चाहिए। शिक्षा के आधार पर बालकों का समाजी-

करण हो। समाज की सुदृढ़ नींव पर ही व्यक्ति और राष्ट्र का कल्याण संभव है। समाज में व्याप्त उच्छृंखलताओं एवं अनुशासनहीनता के लिए एक बड़ी सीमा तक शिक्षा-प्रणाली को उत्तरदायी कहा जाता है। अतः, हमारे लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि शिक्षा की रूपरेखा और शिक्षा का आदर्श समाजोपयोगी अथवा समाज-हितार्थ एवं समाज-कल्याणार्थ हो। स्कूल को सामाजिक संस्था की संज्ञा दी जाती है—इसी उद्देश्य से डॉ० डिवी ने शिक्षा को सामाजिक प्रक्रिया के नाम से अभिहित किया है तथा स्कूल को समाज का प्रतिरूप कहा है। अरस्तू, हरबर्ट स्पेंसर आदि विद्वानों का विचार है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसका विकास नहीं हो सकेगा। व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रह कर ही होती है। समाज से पृथक् उसके अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। शिक्षा-शास्त्री रेमांट का कहना है कि 'निस्समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है।' इस संबंध में प्रसिद्ध शिक्षाविचारक नन (Nunn) लिखता है—"व्यक्तित्व का विकास सामाजिक रुचियों एवं सामाजिक क्रियाओं से भोजन प्राप्त करता है" (Individuality developes only in a social atmosphere where it can feed on common interests and common activities) समाज की घटनाओं एवं समस्याओं की प्रबल छाप शिक्षा-संस्थाओं में उपस्थित होती है। अतः, शिक्षा और समाज के संबंध को सुदृढ़ करना आवश्यक है। यह हमारा उद्देश्य, यह हमारी चेष्टा, मातृशिक्षा के माध्यम से ही संभव है। यथार्थवादी बेकन का वस्तुतः यही उद्देश्य था। वे यही चाहते थे कि शिक्षा और समाज में गहन संबंध स्थापित किया जाए। उनकी धारणा थी कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति सामाजिकता का प्रादुर्भूतीकरण हो, जिससे समाज का उत्थान एवं कल्याण हो। उन्होंने अपनी प्रदत्त शिक्षा-प्रणाली में इस चित्र को चित्रित करने का सफल प्रयास किया।

बेकन ने शिक्षा का रूप धार्मिक नहीं, अपितु सामाजिक दिया। वे यथार्थवाद के समर्थक थे, जिसकी आधारशिला वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्क-विचार तथा परिणाम पर अवस्थित थी। मध्ययुग में चर्च की शक्ति बहुत प्रबल हो गई थी। चर्च शक्ति-शाली साम्राज्य से भी टक्कर ले सकता था। वह अपने प्रथम भाग में तो बहुत लोकोपयोगी था और केवल पूजा-पाठ का ही स्थान नहीं, अपितु एक उपयुक्त शिक्षा-लय भी था और शिक्षित एवं विद्वान रहते थे तथा लैटिन द्वारा शिक्षा दी जाती थी। पादरी राज्य के बड़े-बड़े पदों पर आसीन होते थे। टामस बेकट, वूल्जे आदि राजनीतिज्ञ पादरी ही थे। प्रत्येक नगर में कई चर्च थे तथा धार्मिक केंद्र के अतिरिक्त शिक्षा तथा सामाजिक केंद्र भी थे। जन्म-मरण, विवाह-शादी सभी उत्सवों से चर्च

का संबंध था। एक लेखक के शब्दों में—'मठ', विद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छापाखाना तथा साहित्यिक केंद्र मध्यकाल के कार्य-घर थे। परंतु, कालांतर में गिरजाघरों तथा मठों में कई बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं। वे सांसारिकता तथा भ्रष्टाचार के केंद्र बन गए। पादरी तथा महंथ भोग-विलास एवं कुत्सित जीवन व्यतीत करने लगे। उनका जीवनादर्श परिवर्तित हो गया। समाज में गिरजे तथा मठों के प्रति श्रद्धा कम हो गई। परंतु काल-क्रम में विद्वान् समाज सुधारकों और धार्मिक विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ तथा उन्होंने धर्म के आडंबर की आलोचना प्रारंभ की। अंग्रेज पादरी जॉन विकलिफ, लूथर, कालविन आदि ऐसे ही महापुरुष थे। इधर वैज्ञानिक जगत् के विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप नई चेतना एवं नई विचार-धाराओं का सृजन हुआ। विचारों में क्रांति हुई। तर्क की कसौटी पर जो वस्तु खरी साबित हुई, वही ठीक समझी गई। शिक्षा का रूप भी केवल अब धार्मिक नहीं रह गया। समाज-हितकारी शिक्षा ही शिक्षा मानी गई है। विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के धार्मिक रूप की आलोचना-प्रत्यालोचना की। शिक्षा का वास्तविक रूप माना गया कि वह समाज का सर्वप्रकारेण कल्याण करे। विद्वान बेकन इसी विचार-धारा के अनुमोदक थे।

बेकन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वास्तविकता एवं सचाई की कसौटी पर जो विचार खरा उतरता था, वह उन्हें मान्य था। उनमें प्राचीन साहित्य एवं आदर्शों के प्रति आस्था नहीं थी, जो केवल ज्ञानवाद की झूठी हामी भरते थे। वे मातृभाषाओं के पठन-पाठन के समर्थक नहीं थे। वे ग्रीक और लैटिन की शिक्षा को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते जितना मातृभाषा का ज्ञान। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में बालकों को 'ग्रीक' तथा 'लैटिन' की पुस्तकें रटनी पड़ती थीं। कभी-कभी ऐसा होता था कि विद्यार्थियों की समझ में कुछ भी नहीं आता था, परंतु रट कर वे समूची पुस्तक याद कर डालते थे। बेकन का विचार था कि मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाए। मातृभाषा के माध्यम द्वारा ही विज्ञान और मनोविज्ञान, सामाजिक विज्ञान अथवा अन्य की शिक्षा दी जाए। ग्रीक और लैटिन की शिक्षा उन्हीं लोगों को प्रदान की जाए, जो इसे ग्रहण करना चाहें।

बेकन नहीं चाहते थे कि व्याकरण की शिक्षा भाषा के ज्ञान के पूर्व ही दी जाए। शिक्षा में उन्होंने निगमन-प्रणाली का विरोध किया है। उनके विचार से आगमन-प्रणाली का प्रचलन होना चाहिए। अतः, बेकन मातृभाषा की महत्ता स्वीकार करते हुए देश-भाषा की शिक्षा आवश्यक बतलाते हैं। व्याकरण का ज्ञान मातृभाषा के पश्चात् होना चाहिए। मांटेन, मुलकास्टर, लॉक, कॉमेनियस के साथ-साथ स्वयं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी मातृभाषा की महत्ता स्वीकार की है। महात्मा गांधी

ने २५-८-४६ ई० को 'हरिजन' में लिखते हुए मातृभाषा को माता के स्तन के समान वतलाया है। वेकन ने आज से तीन सौ वर्ष पूर्व मातृभाषा की महिमा की चर्चा कर भावी युग का मार्ग-दर्शन किया।

बेकन का विचार था कि ज्ञान अनुभव का परिणाम है। ज्ञान की उपलब्धि अनुभव के आधार पर ही संभव है। अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान विशेष स्थायी एवं हितकारी होता है। लॉक, जो वेकन के विचारों से पर्याप्त प्रभावित मालूम पड़ते हैं, वेकन के इस विचार का अनुमोदन करते हैं कि अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान विशेष स्थायी एवं हितकारी है। लॉक इसके समर्थक थे कि ज्ञान अनुभव द्वारा ही ग्रहण किया जाना चाहिए। अरस्तू ने भी शिक्षा-व्यवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव को बहुत महत्त्व दिया है। उनका विचार था कि वालक को जो भी सिखाया जाए, उसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। महात्मा गांधी, हरवर्ट, डा० डिवी आदि शिक्षाशास्त्रियों ने भी अनुभवजनित ज्ञान की प्रमुखता वतलाई है। डा० डिवी के अनुसार वही ज्ञान की वृद्धि होती है। वे ज्ञान और अनुभव में कोई अंतर नहीं मानते। स्वानुभव के आधार पर मनुष्य जो ज्ञान ग्रहण करता है, वही सत्य है। रॉवेल का विचार था कि वालक को स्वकीय अनुभव से ज्ञानप्राप्ति के लिए उत्साहित करना चाहिए। पेस्तालात्सी चाहते थे कि वालक ज्ञान-राशि की स्वयं खोज करे, जिससे उनके अंदर अन्वेषण-शक्ति की उत्पत्ति हो। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक नवीन पाठन-विधि को जन्म दिया, जिसे 'आंशावांग-थियोरी' (Anschaunng-Theory) या स्वानुभूति का सिद्धांत कहते हैं। स्वानुभूति से पेस्तालात्सी का यह अभिप्राय था कि वालक अपने अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करे; क्योंकि दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रदत्त ज्ञान स्थिर होता है, उसमें वालक की पूर्ण आस्था नहीं होती परंतु स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान पर वालक का पूर्ण विश्वास होता है। शिक्षाशास्त्री रस्क भी ज्ञान को अनुभव का परिणाम मानते हैं। ज्ञान अनुभव का परिणाम है—वेकन की ऐसी उक्ति, सर्वथा स्वाभाविक है।

अन्य यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों के समान वेकन ने भी तत्कालीन शिक्षा-विधि का विरोध किया। वर्त्तमान प्रचलित विधि में शिक्षण-संस्थाओं द्वारा 'निगमन-प्रणाली' (Deductive Method) से शिक्षा दी जाती थी। वेकन ने इसका विरोध किया। उन्होंने 'आगमन-प्रणाली' (Inductive Method) को मान्यता प्रदान की। उनका कहना है कि सत्य के अन्वेषण के दो रास्ते हो सकते हैं। एक तो ज्ञानेंद्रियों से हट कर सामान्य प्रमाणों की ओर जाना तथा उससे मध्यम प्रमाणों का अन्वेषण करना। आजकल इसी मार्ग का अनुसरण होता है। द्वितीय मार्ग ज्ञानद्रियों से प्रमाणों का निर्माण करना है, जिसका लगातार शनैः-शनैः

अनुसरण कर सामान्य प्रमाण पर पहुँचा जा सकता है। 'मुख्य से सामान्य'—यदि सत्य मार्ग है जिसका अभी प्रयत्न नहीं किया गया है। परंतु, प्रयोगवादी आगमन-प्रणाली की अपेक्षा निगमन-प्रणाली को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। शैक्षणिक दृष्टि से यद्यपि आगमन एवं निगमन—दोनों विधियाँ अपने-अपने उचित स्थान पर उपयोगी हैं, तथापि नए ज्ञान का अर्जन आगमन-विधि के अनुसार ही होना चाहिए। शिक्षाशास्त्री राइवर्न ने भी इसी विचार का समर्थन किया है।

("Deductive must follow inductive. It is not sufficient to lead children to arrive at general conclusion from particular experiences, but they must go on further and apply those general rules in order to increase knowledge and in order to test the rules." Principles of Education, Page 56, Rybern.)

वेकन ने 'केवल आध्यात्मवाद' का विरोध किया। उन्होंने प्रकृति-निरीक्षण के आधार पर ज्ञान-ग्रहण और शिक्षा की प्रमुखता को प्रश्रय दिया। यद्यपि शिक्षा में प्रकृतिवादी भावना का प्रादुर्भाव अट्ठारहवीं शताब्दी में रूसो द्वारा माना जाता है, परंतु सर्वप्रथम वेकन ने ही इसकी विवेचना की थी। कॉमेनियस, वेसवे, पेस्तालात्सी, रूसो, हरवर्ट स्पेंसर और फ्रॉयवेल आदि शिक्षाशास्त्रियों ने प्रकृतिवादी भावना को आगे बढ़ाया है।

वेकन को प्रकृति के प्रति वहुत आकर्षण था। उनका विचार था कि शिक्षा एक प्राकृतिक परिपाटी है, न कि एक कृत्रिम वस्तु मात्र। उनके विचारानुसार शिक्षा-प्रणाली को प्राकृतिक विधियों पर आधारित होना चाहिए। उनका विचार था कि प्रकृति ही समस्त शक्तियों का स्रोत है। प्रकृति का ज्ञान निरीक्षण एवं परीक्षण से प्राप्त किया जा सकता है। निगमन-प्रणाली की अपेक्षा आगमन-प्रणाली को प्रश्रय देने का मूल कारण यही था कि वहाँ विद्यार्थियों को अनुभव प्राप्त होगा।

हम कल्पना से ही सच्चे ज्ञान के परिणाम एवं निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकेंगे। यथार्थ की खोज करने की प्रेरणा सच्ची ज्ञानोपलब्धि में हमारा मार्ग प्रशस्त करती है। वस्तुतः वेकन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था, वे वास्तविकता की प्राप्ति के लिए उद्यमशील वने रहे। उन्होंने शिक्षा-जगत में वैज्ञानिक विधि को अपनाने पर वल दिया। वे चाहते थे कि वालकों का दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक वने। इसीलिए वे विज्ञान की शिक्षा के पक्षपाती थे कि विज्ञान का अध्ययन परीक्षण एवं प्रत्यक्ष निरीक्षण पर ही आधारित है। वस्तुतः विज्ञान का अध्ययन स्वतः प्रकृति का ही अध्ययन है। इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के लिए उन्होंने यथार्थवादी ऐंद्रिय प्रशिक्षण पर वल दिया

है। यथार्थवाद का कहना है कि हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रकृति से। प्रकृति हमारे ज्ञान का भंडार है, परंतु उस ज्ञान-भंडार का लाभ हमें इंद्रियों के माध्यम से ही मिलता है। इस धारणा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि व्यक्तियों की प्रवृत्ति शिक्षाशास्त्र के साथ-साथ प्रकृति-विज्ञान एवं मनोविज्ञान की ओर हुई।

बेकन तर्क एवं परिणाम के आधार पर विद्यार्थियों को शिक्षित करने के पक्षपाती थे। उन्होंने केवल पुस्तकीय ज्ञान का विरोध किया है। प्रकृति के निरीक्षण पर बल देने में उनकी यही भावना छिपी थी कि बालक ज्ञान की वास्तविकता का पता लगावें। समस्त ज्ञान प्रकृति में ही निहित है। जब हम प्रकृति के गूढ़ एवं दुरुह पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो हमें ज्ञान की उपलब्धि होती है। अतः, तर्क और परिणाम का आश्रय लेकर वे चाहते थे कि प्रकृति का निरीक्षण किया जाए तथा अनुभव के आधार पर शनैः-शनैः उसे पुष्ट एवं सबल बनाया जाए।

बेकन शिक्षा को व्यावहारिक बनाना चाहते थे। केवल शिक्षा की प्राप्ति कर लेने का कुछ अर्थ नहीं होता, अगर हमारी शिक्षा; हमारा प्राप्त ज्ञान; जीवन के लिए लाभकारी एवं हितकारी नहीं हो सका। शिक्षा को उपयोगी होने की आवश्यकता है। कोरा ज्ञान जीवन को सफल नहीं बना सकता है। प्रत्येक यथार्थवादी शिक्षाशास्त्री के समान बेकन ने भी इस विचार को प्रमुखता दी कि हमारा ज्ञान जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक हो। सम्राट् औरंगजेब शिक्षा को व्यावहारिक बनाना चाहता था। शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में उसने जो विवेचना प्रस्तुत की है, उससे यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

तत्कालीन यूरोपीय सामाजिक अवस्था ऐसी थी कि समाज में केवल कुछ धनी व्यक्ति ही पढ़-लिख सकते थे, शिक्षा और ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शिक्षा का रूप न तो सार्वभौमिक था, न व्यावहारिक। बेकन यथार्थवादी थे। यथार्थवाद उस विचार-धारा की प्रतिक्रिया की उपज थी, जो शताब्दियों से मनुष्य को अध्यात्मवादी बना रहा था। धार्मिक कारणों पर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती थीं, ज्ञान केवल पुस्तकीय साधन के अवलंबन पर आधारित था, जो एक कठोर वातावरण में विद्यार्थियों को प्रदान किया जाता था। प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं के कारण समस्त विद्यालयीय वातावरण में एक ऐसी विषम स्थिति व्याप्त थी, जो निश्चित रूप से अमनोवैज्ञानिक थी। बालकों की रुचि का कोई विचार नहीं किया जाता था। बालक केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर जीवन में सफल नहीं हो सकते थे। उन्हें किसी व्यवसाय का ज्ञान नहीं होता था। अतः, उनका जीवन सुखी नहीं होता था। बेकन ने अपनी जिस शिक्षा-प्रणाली

का प्रतिपादन एवं सुनियोजन किया, उसमें अपनी इन समस्त बातों का ध्यान रखा है।

बेकन ने शिक्षा को धार्मिक रूप के बदले सामाजिक रूप दिया, बालकों को प्रकृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया, व्यावहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया, जिसे तर्क एवं ज्ञान के माध्यम से दिया जाना चाहिए। बेकन प्राचीन साहित्य एवं प्राचीन आदर्शों को ही सब कुछ नहीं मानते थे। वे बालकों की सामाजिक उन्नति चाहते थे और चाहते थे कि उन्हें व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि हो, जिससे उनका जीवन सुखी बन सके।

विद्वान् बेकन के शैक्षणिक विचार आज भी हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं। वे सच्चे अर्थ में एक दार्शनिक थे। उन्होंने अपनी मौलिक विचारधाराओं एवं सिद्धांतों से शिक्षा-जगत का कल्याण किया।

●

अध्याय १३

कॉमेनियस

शिक्षा में स्वानुभववादी यथार्थवाद के प्रमुख पोषक जॉन एमॉस कॉमेनियस (१५९२ ई०-१६७० ई०) पौलैंड के एक साधारण परिवार में पैदा हुए थे। उनका जीवन अनवरत् संघर्ष, तपस्या और बलिदान का जीवन था। अल्पायु में ही उन्हें माता-पिता की मृत्यु का दारुण दुःख सहना पड़ा। इनका पालन-पोषण 'बोहेमियन चर्च' में हुआ। उन्हें पारिवारिक सुख का भी आनंद अधिक दिनों तक नहीं मिल सका। सन् १६१८ ई० में उनकी शादी हुई। इस समय उनकी अवस्था छब्बीस वर्ष की थी। सन् १६२१ ई० में तीसवर्षीय युद्ध शुरू हो गया, जिसमें कॉमेनियस की पत्नी और पुत्र मारे गए तथा उनका निजी पुस्तकालय और घर भी विनष्ट हो गया। विश्व का यह सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जिसने १७० ग्रंथों की रचना की और अपनी मौलिक चिंतनधारा से जन-जीवन का मार्ग प्रशस्त किया, सामाजिक विषमता के विलीनीकरण के लिए सार्वलौकिक एवं सार्वभौमिक ज्ञान-प्राप्ति की ओर लक्ष्य किया, विभिन्न विषयों के अध्यापन की विधियों का वर्णन किया, शिक्षा का कार्य अपने पर नैतिक नियंत्रण स्थापित करना है—ऐसा विचार दिया, साथ-ही-साथ शांत एवं अनुकूल वातावरण द्वारा शिक्षा दी जाए, पाठन-विधि में मनोरंजन को स्थान देकर अनुशासन की समस्या का निदान हो, प्रकृति का अनुसरण कर शिक्षा दी जाए, ज्ञानेंद्रियों को विकसित होने का अवसर दिया जाए, शिक्षा बालकों की रुचि के अनुसार प्रदान की जाए आदि सिद्धांतों की विवेचना प्रस्तुत की—१५ नवंबर, सन् १६७० ई० को एमस्टरडम के निकट समाज के तत्कालीन और भावी नर-नारियों को अपनी विचाराधाराओं पर मनन एवं अवलंबन करने को छोड़ संसार से विदा हो गया।

कॉमेनियस एक दूरदर्शी, विकसित मस्तिष्क के बुद्धिवादी एवं प्रयोगशील लेखक थे। उन्होंने शिक्षा-जगत में एक नवीन कला-प्रधान एव प्रायोगिक शिक्षा का अनावरण किया। बटलर ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है, "शिक्षा में कॉमेनियस

का वही स्थान है, जो विज्ञान में कापरनिकस एवं न्यूटन का है।" एच० जी० गुड ने कॉमेनियस की प्रशंसा निम्नांकित शब्दों में की है :—"Comenius is the broadest minded, the most far seeing, the most comprehensive and most practical of all writers."

"The master mind of Comenius attempted to fashion the master key of universal education or to create the art of teaching." —H. G. Good.

कॉमेनियस के अनुसार जीवन का लक्ष्य मानव का ईश्वर से चिर-सहवास होकर परमानंद की प्राप्ति करना है। उन्होंने ईश्वर से सहवासप्राप्ति हेतु ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया है। अतः, जीवन के लक्ष्य पर पहुँचने के लिए ज्ञानार्जन ही एक साधन है। ज्ञान के साथ सद्गुण एवं पवित्रता का योग भी मानवीय कल्याण के लिए अपेक्षित है। ज्ञानप्राप्ति के तीन स्रोत हैं :—

(१) अंतर्ज्ञान,

(२) निरीक्षण तथा

(३) विचार एवं परीक्षण।

ज्ञान के इन तीनों स्रोतों को हृदयंगम करने के लिए कॉमेनियस ने सार्वलौकिक शिक्षा योजना की कल्पना की, जिससे प्रत्येक मानव को अध्ययन करने का सुअवसर और सुयोग मिल सके। मानव ज्ञान, गुण एवं ईश्वर—तीनों की अनुभूति प्रकृति-कक्ष से ग्रहण करता है। ज्ञान उसे जीवन में सफलता देता है, गुण से नैतिक एवं चारित्रिक विकास होता है एवं ईश्वरभक्ति से उसके लक्ष्यों की पूर्ति होती है। इस प्रकार ज्ञान एवं गुणों का चयन, जिसे निःसंदेह ईश्वरभक्ति से पूर्णतः युक्त होने की आवश्यकता है, मानव-जीवन के लक्ष्य-वेध में उपयुक्त और वास्तविक साधन होंगे।

कॉमेनियस ने विद्यालयों की रूपरेखा का एक चित्रण निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है :—

(१) विद्यालय मानव-चरित्र-निर्माण की कसौटी है। वह एक ऐसी अंगीठी है, जहाँ मानव-चरित्र को तपा कर उज्ज्वल किया जाता है।

(२) विद्यालय एक वर्गरहित समाज है, जहाँ समानता एवं सार्वलौकिकता का सुराज्य है।

(३) विद्यालय वह सार्वभौमिक स्थल है, जिसके द्वारा प्रत्येक मानव के पारस्परिक मिलन एवं उपयुक्त विकास का अवसर मिलता है। बालकरूपी पौधे के विकास के लिए वह उर्वरा स्थल है। विद्यालय का आंतरिक स्वरूप, कमरों की सज्जा तथा बाह्य क्रीडांगन अत्यंत मनोहर एवं शांतिदायक होना चाहिए।

कॉमेनियस जर्मन शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर के विचारों से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने लूथर के समान ही सार्वलौकिक एवं सार्वभौमिक शिक्षा देने की बात बतलायी। वे नहीं चाहते थे कि केवल धनी वर्ग के बालक ही शिक्षा के अधिकारी बनें तथा निर्धन इस अधिकार से वंचित और वर्जित रखे जाएँ। पेस्टा-लात्सी भी शिक्षा को सार्वभौमिक रूप देना चाहते हैं। इनके विचार से प्रत्येक के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। कॉमे-नियस ने देखा कि सामाजिक विषमता के पारावार में वर्त्तमान समाज की मनो-वृत्ति निमग्न हो रही है। धनी एवं गरीब की भावना मानव-समाज में सर्वत्र व्याप्त है। उस समय अमीर वर्ग की शिक्षा का आकार-प्रकार, उसकी रूपरेखा निम्न वर्ग से पूर्णतः भिन्न थी। इसके अतिरिक्त तत्कालीन शिक्षा बालक के भावी जीवन के निर्माण में भी सहायक नहीं थी। इस सामाजिक दुरूहता की समाप्ति के लिए शिक्षा ही एक-मात्र साधन बन सकती है—ऐसा कॉमेनियस का विचार हुआ। वस्तुतः कोई भी विचारवान एवं मनुष्योचित गुण से संपन्न व्यक्ति ऐसी ही धारणा रख सकता था। अतः, तत्कालीन वर्ग-भेद की समाप्ति एवं उसमें वांछित सुधार हो, कॉमेनियस की शिक्षा का प्रथम लक्ष्य था। मनरो ने कॉमेनियस की शिक्षा-योजना के संबंध में लिखा है :—

"Immediate regeneration of society was the aim of his education."—Monroe; History of Education

एच० जी० गुड ने कहा है—

"Education for Comenius was not a matter of being this or that, it was the means to reclaim mankind from the evils which made the life worthless and unbearable."—H. G. Good.

कॉमेनियस समाज के सभी वर्गों के लिए शिक्षा को सुलभ बनाना चाहते थे। उन्होंने 'ग्रेट डाइटेक्टिक' में लिखा है—"शिक्षा केवल धर्म एवं प्रभावशाली लोगों के लिए ही नहीं है, वह तो लड़के और लड़की, भद्र और अभद्र, धनी और गरीब, शहर और देहात, भवन और झोपड़ी सबके लिए समान है।" कॉमेनियस मार्टेन के इस विचार की आलोचना करते हैं, जिसमें यह बतलाया गया है कि अमीर व्यक्ति ही शिक्षित होने के अधिकारी हैं। शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रणेता रूसो भी निम्न वर्ग के बालकों को शिक्षा देने के सिद्धांत पर असहमति प्रकट करते हैं। प्लेटो ने भी श्रमिक वर्ग की प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् ज्ञान देने की बात नहीं कही है। परंतु, कॉमेनियस मानव-मात्र का कल्याण चाहते थे, उनकी बाल्यावस्था एक चर्च के पवित्र वातावरण में समाप्त हुई थी, जहाँ उन्होंने प्रेम, श्रद्धा, मानवता, सद्गुण एवं विवेक के महत्त्व का दर्शन किया था। यही कारण था कि वे शिक्षा को सार्वलौकिक

और सर्वसुलभ बनाना चाहते थे, जिससे मानव में मानवोचित गुणों का विकास हो। प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हों और ज्ञानार्जन कर सुख के भागी बनें।

कॉमेनियस ने देखा कि शिक्षालयों में भय का साम्राज्य व्याप्त है। वहाँ के वातावरण से बालक प्रसन्नचित नहीं, अपितु त्रस्त रहते हैं। शिक्षालय शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते। अध्यापक की दशा बड़ी दयनीय है, उन्हें बाल-मनोविज्ञान का कोई ज्ञान नहीं। वे अध्ययन-अध्यापन में बाल-रुचि को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। विभिन्न विद्यालयों में विभिन्न पाठन-विधियाँ भी अपनायी जाती हैं। अध्यापक बालकों के साथ नम्रता और प्रेम का व्यवहार नहीं करते थे। वे अपने समय की, छात्रों को यातना देने की विधि; का सहारा लेते थे। अपने समय के विद्यालयों की कटु आलोचना करते हुए कॉमेनियस लिखते हैं—"शिक्षालय बालक के लिए एक भय का स्थान है। वह मस्तिष्क का कसाईघर है। वहाँ पर साहित्य तथा पुस्तकों के प्रति घृणा खरीदी जाती है।"

कॉमेनियस ने विद्यालयों में वांछित सुधार के लिए विद्यालयीय वातावरण के समस्त अवयवों पर दृष्टि दौड़ाई और उनके निराकरण का सफल मार्ग-दर्शन किया, जो निःसंदेह शताब्दियों पश्चात् भी हमारे लिए नूतन और हितकारी है। शिक्षण-पद्धति में उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धांत बड़े लाभप्रद हैं।

कॉमेनियस ने बतलाया कि शिक्षा प्रकृति के नियमों का अनुसरण कर प्रदान की जाए। प्रकृति में प्रत्येक पदार्थ का विकास निश्चित और उपयुक्त समय पर होता है, उसी प्रकार बालकों का विकास भी समय आने पर ही होगा। हमारा कर्त्तव्य है कि उनकी रुचि एवं समय के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें। डा० डिवी का विचार है कि प्रत्येक बालक की शिक्षा उसकी रुचि के अनुकूल हो, तभी उनका वांछित विकास संभव होगा। जो विषय कठिन होंगे, उनकी अवस्था के अनुकूल नहीं होंगे अथवा उनकी पढ़ाई का ढंग विपरीत प्रणाली का होगा, तो इसका परिणाम भी विद्यार्थियों के लिए सर्वथा अशुभसूचक होगा। जबरदस्ती ज्ञान लादने से उनका लाभ नहीं हो पाएगा। प्रकृति शनैः-शनैः परंतु निरंतर गति से विकास-क्रम को प्राप्त होती है। यही दृष्टिकोण शिक्षा के साथ भी लागू होना चाहिए।

बालकों को अनावश्यक दंड देने से उनका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। वे प्रगति नहीं कर सकेंगे। प्रेम और स्नेह के नैसर्गिक वातावरण में बालकों का स्वतः विकास होगा। अतः, शिक्षकों को बालकों के साथ कड़ाई और दंड के आधार पर शिक्षा देने को उद्यत नहीं रहना चाहिए, अपितु विद्यालय और उसकी शिक्षा को मनोरंजक और रुचिवर्द्धक बनाने के लिए पुरस्कार, उत्साह, स्नेह, सहानुभूति और

सद्व्यवहार का सहारा लेना चाहिए। प्राचीन रोम के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री क्विंटीलियन ने शिक्षक के गुणों की चर्चा करते हुए उन्हें स्नेह और सहानुभूति का भंडार बतलाया है। बालकों के प्रति उनके हृदय में स्नेह की सतत धारा प्रवाहित होनी चाहिए। शिक्षकों के संबंध में यही कल्पना कॉमेनियस की भी थी। विद्यालयों में प्रेमपूर्ण वातावरण एवं मनोरंजनप्रधान शिक्षा की आयोजना ज्ञानार्जन का ठोस मार्ग प्रस्तुत करने में समर्थ हैं, ऐसी प्रेरणा देकर कॉमेनियस ने तत्कालीन एवं भावी समाज का बड़ा उपकार किया। वस्तुतः वे चाहते थे कि बालकों को क्रोध तथा भय के स्थान पर प्रेम प्रदान किया जाए। प्राचीन भारतीय गुरुकुलों का गठन इसी आधार पर किया गया था।

कॉमेनियस के उद्योग के फलस्वरूप विद्यालयों में दंड का प्रचलन कम हो गया। पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन कर शिक्षकों ने जर्मन भाषा का प्रचार किया। कार्य के घंटे कम कर दिए गए। विश्राम का भी प्रबंध होने लगा। धार्मिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षा का प्रचार बढ़ा। अनिवार्य शिक्षा के लिए ५ से १५ वर्ष तक की उम्र निश्चित की गई। चर्च और राज्य का पारस्परिक संबंध सुदृढ़ हो गया। बाइ-बिल के उद्धरणों को गीतों के रूप में अपनाया गया। कॉमेनियस के आधार पर संक्षिप्त पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया गया जिनमें प्राकृतिक, सामाजिक एवं राज-नीतिक विषयों का चयन किया गया।

विद्यालय-भवन की स्थिति के संबंध में कॉमेनियस अपना यह विचार व्यक्त करते हैं—"शिक्षालय एकांत में होना चाहिए, जहाँ पर बाजार का शोरगुल उसके कार्य में बाधा नहीं डाले। शिक्षालय-भवन आकर्षक तथा आनंदवर्द्धक हों। कमरे बड़े सुंदर और साफ हों, दीवारों पर महापुरुषों के चित्र टंगे हों, जिनसे बच्चों को दैव प्रेरणा मिलती रहे। शिक्षालय के निकट एक सुंदर वाटिका तथा मैदान ... चाहिए, जहाँ बच्चे क्रीड़ा का आनंद ले सकें। इस मैदान का वातावरण प्राकृ-तिक हो जहाँ पर बच्चे पशु-पक्षियों, पौधों, पुष्पों आदि का निरीक्षण कर सकें।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनकी भावना विद्यालयों की स्थिति के संबंध में कितनी पवित्र थी। वे प्रकृति की रमणीयता में, शांत-एकांत वातावरण की पवित्र स्थिति में विद्यार्थियों को शिक्षित बनाना चाहते थे। वस्तुतः वे बालकों का नैसर्गिक विकास चाहते थे। वातावरण का प्रभाव हमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, हमारे मस्तिष्क को परिष्कृत बनाता है, हमारी ज्ञानतंतुओं का स्पंदन करता है और तब हम अनायास उस शिक्षा को प्राप्त करते हैं, जो पुस्तकीय ज्ञान से परे की वस्तु है। प्राचीन भारतीय गुरुकुल इसी सिद्धांत पर गठित और अवस्थित थे।

कॉमेनियस का विचार था कि जो कुछ पढ़ाया जाए, उस विषय के सामान्य नियमों का ज्ञान पहले करा दिया जाए। विषय का विशेष एवं गहन अध्ययन कुछ काल पश्चात् होना चाहिए। अपने इसी सिद्धांत के अनुसार उन्होंने बतलाया कि बालकों को व्याकरण के नियमों को रटाने एवं अध्ययन कराने के पहले आवश्यक है कि उन्हें मातृभाषा की शिक्षा अच्छी तरह दी जाए। तत्कालीन समाज में ऐसा प्रचलन था कि बालकों को पहले व्याकरण का नियम बतलाया जाता था। परंतु, स्वानुभववादी यथार्थवादियों ने मातृभाषा की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। रिचार्ड मुलकास्टर ने मातृभाषा की शिक्षा पर सर्वाधिक बल दिया। मुलकास्टर का विचार था कि बच्चों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम द्वारा ही होनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक पद्धति यही है। कॉमेनियस ने मातृभाषा के अध्ययन के प्रचलन को विशेष आवश्यक बतलाया। उनका विचार था कि बालक जब तक मातृभाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं कर ले, उसे कोई भी विदेशी भाषा नहीं पढ़ाई जाए। उन्होंने इस प्रसंग में लिखा है—"किसी विदेशी भाषा का मातृभाषा की शिक्षा के पूर्व शिक्षा प्रदान करना उतना ही विवेकरहित है, जितना बच्चे को चलने के पूर्व चढ़ना सिखाना।'

कॉमेनियस ने शिक्षा की संपूर्ण अवधि को चार प्रमुख स्तरों में विभक्त किया है। प्रथम स्तर—शिशु-शिक्षण या मातृस्कूल की अवधि, (१ से ६ वर्ष की अवस्था) द्वितीय स्तर—किशोर-शिक्षण या वर्नाक्यूलर स्कूल की अवधि, (६ से १२ वर्ष की अवस्था)। तृतीय स्तर—कुमार शिक्षण या जिमनाजियम या लैटिन स्कूल की अवधि, (१२ से १८ वर्ष की अवस्था)। चतुर्थ स्तर—युवा-शिक्षण या विश्वविद्यालयीय शिक्षा की अवधि, (१८ से २४ वर्ष की अवस्था)। प्रथम स्तर—जन्म से लेकर छह वर्ष की अवस्था शिशु-शिक्षण या मातृस्कूल की अवधि मानी गई है। इस स्तर का शिक्षा-विधान माता द्वारा किया जाना चाहिए। शिशु अवस्था में माता-पिता को अपने बच्चों का पालन-पोषण किस प्रकार करना चाहिए, इसका विवेचन कॉमेनियस ने अपनी एक छोटी पुस्तिका 'स्लोका मेंटर्नी ग्रेमी' में किया है, यद्यपि वे पूर्णरूपेण माता-पिता पर शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं सौंपना चाहते थे। वे माता-पिता को बालक की शिक्षा में अवरोधक मानते थे। प्लेटो के उस विचार से कॉमेनियस समता रखते मालूम पड़ते हैं, जब प्लेटो ने अपनी 'आदर्श समाज—यूटोपिया' के आदर्श नागरिक की शिक्षा की कल्पना करते हुए कहा है कि जन्म से लेकर दस वर्ष तक बालक अपने माता-पिता के प्रभाव से मुक्त रखे जाएँ। उनका विचार था कि माता-पिता का कुप्रभाव बालकों के अविकसित मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालेगा तथा वे सभी दुर्गुण उसके अंदर उत्पन्न होंगे, जो उनके अंदर वर्त्तमान हैं। अतः, बालकों के

लिए माता-पिता से अलग रख कर नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था की जाए। शिक्षाशास्त्री रूसो भी माता-पिता को शिक्षा में बाधक मानते थे। परंतु, कॉमेनियस के विचार उतने उग्र नहीं हैं। उनके अनुसार जन्म से छह वर्ष के काल में बाह्य इंद्रियों के प्रशिक्षण पर जोर देना चाहिए। इस अवधि में वस्तुओं को देखना, स्पर्श करना एवं उठाना, वर्षा, भूमि, हवा एवं पत्थर आदि का ज्ञान होना चाहिए। प्रारंभिक पुस्तकों को पढ़ना, शब्दों का प्रयोग वाक्य में करना आदि इस अवधि में सिखाना चाहिए। इसके अतिरिक्त बच्चों को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन गुणों की जरूरत है; उन्हें प्रदान किया जाए। कॉमेनियस इस बात के पोषक थे कि इसी अवस्था से बच्चों को सभी विज्ञानों तथा कलाओं का अध्ययन प्रारंभ करा दिया जाए। उनके इस विचार की आलोचना करते हुए इसे अमनोवैज्ञानिक और श्रमसाध्य बतलाया गया है।

द्वितीय स्तर—वर्नाक्यूलर स्कूलों में उन विषयों की शिक्षा बच्चों को दी जानी चाहिए, जो उनके लिए जीवनपर्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। यहाँ उनकी कल्पना एवं स्मरणशक्ति के उत्थान के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। मातृभाषा का पढ़ना-लिखना, गणित, नापतौल, गाना, इतिहास, भूगोल तथा धर्म एवं नैतिकता उनकी शिक्षा के मुख्य विषय के रूप में रखे जाएँ। वर्नाक्यूलर स्कूलों में छह कक्षाओं के कार्य क्रमिक रूप में संगठित रहने चाहिए। प्रत्येक कक्षा के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता है। इस स्तर पर उनके लिए विकासात्मक शिक्षा की आयोजना होनी चाहिए। प्रचलित प्रथा के विपरीत कॉमेनियस ने लैटिन के बदले मातृभाषा की शिक्षा की सिफारिश की, जो शैक्षणिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी।

तृतीय स्तर—शहरों में जिमनाजियम अथवा लैटिन विद्यालय स्थापित किए जाएँ। इस स्तर पर बालकों को पूर्ण व्यापक ज्ञान देने की व्यवस्था की जाए। यहाँ बालकों की कल्पना, विचार-शक्ति एवं निर्णय-शक्ति का विकास किया जाए। आधुनिक भाषा, लैटिन, ग्रीक तथा हिब्रू आदि चार भाषाओं का ज्ञान दिया जाए। व्याकरण का अभ्यास कराया जाए तथा गणित एवं नीतिशास्त्र का परिचय दिया जाए।

चतुर्थ स्तर—यह स्तर विश्वविद्यालयीय शिक्षा का काल है। विश्वविद्यालयों में वे ही छात्र भरती किए जाएँ, जो कुशल या प्रखर बुद्धि के छात्र हों। ऐसे विद्यार्थियों का चुनाव एक सार्वजनिक परीक्षा के आधार पर हो। यह परीक्षा जिमनाजियम की पढ़ाई की समाप्ति के साथ ली जाए। अधिकांश छात्र विशेष विषय का विशेषीकृत अध्ययन करेंगे। इस स्तर पर उनकी व्यवस्थापन-शक्ति का विकास किया जाए।

कामेनियस सह-शिक्षा के पक्षपाती हैं। वे वालक-वालिकाओं को एक साथ शिक्षा देना चाहते थे, ताकि वे एक दूसरे को अच्छी तरह जान सकें और समझ सकें, चूँकि भावी जीवन में उन्हें एक साथ जीवन व्यतीत करना है। समाज की धारा को शांतिपूर्ण ढंग से प्रवाहित करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझें। वे अपने भावी जीवन में अपरिचित-से नहीं मालूम पड़ें। प्रकृतिवादियों का भी विचार है कि वालक तथा वालिकाओं को अलग-अलग शिक्षा देना अस्वाभाविक है। वालक-वालिकाओं की शिक्षा एक साथ होनी चाहिए। स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही शिक्षा दी जानी चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों के समान प्रायः सव कार्य करने की क्षमता रखती हैं, यद्यपि वे पुरुषों से निर्वल अवश्य हैं। परंतु, भारत के प्रसिद्ध संन्यासी महर्षि स्वामी दयानंद ने सह-शिक्षा का विरोध किया है। उन्होंने वालकों के शिक्षालय को वालिकाओं के शिक्षालय से छह मील की दूरी पर रखने की संमति दी है। प्राचीन रोमवासी बालिकाओं को बालकों के समान शिक्षा देने के विरोधी थे। उनकी ऐसी धारणा थी कि यदि वालक-वालिकाओं को एक समान शिक्षा दी जाएगी, तो बालिकाओं में योग्य माता बनने की क्षमता नहीं रह जाएगी। रोमवासी वालिकाओं को गृहस्थी-संबंधी शिक्षा देने के पक्ष में थे। माताएँ अपनी पुत्रियों को गृहस्थी-संबंधी शिक्षा व्यावहारिक रूप में दिया करती थीं। पुनरुत्थान काल (Period of Renaissance) और सुधार-काल (Period of Reformation) में स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिल गया था। वे विश्वविद्यालयों में पुरुषों के साथ अध्ययन करने लग गई थीं। मार्टिन लूथर, मांटेन और रिचार्ड मुलकास्टर ने सह-शिक्षा के संबंध में अपनी सहमति प्रकट की है। महात्मा गांधी सह-शिक्षा के पूर्ण समर्थक थे। उनका विचार था कि स्त्री और पुरुष दोनों को जब एक दूसरे का सहयोगी वनना है, जीवन की तैयारी एक साथ करनी है, तब वालक-वालिकाओं के शिक्षा का विधान अलग-अलग नहीं किया जाए। परंतु, किशोरावस्था में सह-शिक्षा को प्रश्रय नहीं देना ही श्रेयस्कर है।

●

अध्याय १४

लॉक

जॉन लॉक (१६३२ ई०-१७०४ ई०) का जन्म इंगलैंड के एक धनी परिवार में हुआ था। वे एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। उन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्यापन, लेखन, डाक्टरी, समाज-सुधार और राजनीति आदि विभिन्न कार्यों का कुशलतापूर्वक संपादन कर अपनी योग्यता और क्षमता का कुशल परिचय तत्कालीन समाज को दिया। उनकी रचित पुस्तकों में 'सम थॉट्स कनसर्निंग एडुकेशन' (Some Thoughts Concerning Education) तथा "ऑफ दि कंडक्ट ऑफ दि अंडरस्टैंडिंग" (Of the Conduct Of the Understanding) से शिक्षा-विषयक उनके विचारों की हमें जानकारी प्राप्त होती है। अपनी रचनाओं तथा विचारों के कारण वे एक जगतप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

जॉन लॉक शिक्षा में यथार्थवाद के पोषक थे। शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रणेता रूसो लॉक की रचनाओं से बहुत प्रभावित हुए थे। लॉक का विश्वास और विचार था कि किसी तथ्य को निरीक्षण और परीक्षण के पश्चात् ही विद्यार्थी ग्रहण करें। परंपरागत विचारों एवं मान्यताओं को मात्र एक भावनात्मक सम्मान के कारण ही स्वीकार कर लिया जाए, वे ऐसी धारणा के विरोधी थे। शिक्षाशास्त्री मांटेन भी इस विचार के अनुमोदक थे। प्राचीन परंपराएँ और प्रथाएँ जो 'सत्य और कारण' (Truth and Reason) की कसौटी पर समर्थन प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं, वे अवश्य त्याज्य हैं। बालकों के मस्तिष्क पर कोई बात दबाव देकर नहीं रखी जाए। उन्हें भी सोचने-समझने, विचारने और मनन करने का अवसर दिया जाए। लॉक का विचार था कि अगर हम अपने किशोरों को एक शिष्ट व्यक्ति (Gentleman) और एक आदर्श नागरिक (a good citizen) बनाना चाहते हैं, तो उनके मस्तिष्क को बंधनहीन रखा जाए। उनका यह विचार प्रकृतिवादियों के समान है।

जॉन लॉक बालकों के सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व के पोषक थे। वे शरीर, मन और मस्तिष्क का संतुलित विकास चाहते थे। केवल एक के वर्द्धन और गठन से हमारा काम सुचारू रूप से संपन्न नहीं हो सकेगा। इससे बालकों एवं किशोरों का भावी व्यक्तित्व एकांगी हो जाएगा। अतः, बाल्यावस्था से ही उनकी शिक्षा का प्रबंध उस प्रणाली और माध्यम के आधार पर किया जाए कि उन्हें शिक्षा के इस वास्तविक तथा वांछित उद्देश्य की प्राप्ति हो।

जॉन लॉक एक युवा पुरुष का जीवन सुखी, शांत और व्यवस्थित देखना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि उनमें सानंद रहने की कला और स्वस्थ जीवन-यापन करने की वृत्ति का विकास आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि उनके माता-पिता उनकी बाल्यावस्था से ही इसके लिए तत्पर और क्रियाशील रहें। प्रारंभिक व्यवस्था की शिक्षा का उत्तरदायित्व लॉक माता-पिता का आवश्यक कर्त्तव्य बतलाते हैं। माता-पिता इस कार्य को विशेष जिम्मेवारी और लगन के साथ वहन कर सकेंगे। वस्तुतः लॉक यहाँ परिवार के शैक्षणिक महत्त्व का प्रतिष्ठापन करते हैं। उन्होंने परिवार की मर्यादा स्वीकार की है। वे चाहते थे कि बालक अपने माता-पिता को देवतुल्य समझें, उनकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करें तथा उनके विचारों को सम्मान दें। इससे उनके अंदर अनुशासनात्मक जीवन-यापन करने की आदत पड़ेगी तथा उनका भावी जीवन सुव्यवस्थित होगा। इस प्रकार शैक्षणिक दृष्टिकोण से लॉक ने एक सुनियोजित और संयमित जीवन की कल्पना की है। इस स्थल पर हमलोग लॉक और प्लेटो के दृष्टिकोण में अंतर पाते हैं। प्लेटो का विचार था कि राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह बालकों की शिक्षा का प्रबंध करे। प्लेटो ने जिस आदर्श समाज (यूटोपिया) की कल्पना की है, उसके लिए योग्य नागरिक निर्माण करने के लिए उन्होंने बतलाया है कि जन्म से लेकर दस वर्ष तक बालक अपने माता-पिता के प्रभाव से मुक्त रखे जाएँ। परंतु, लॉक शैशवावस्था से ही माता-पिता के संरक्षण में बालक को सौंपते हैं। प्राचीन रोमनिवासी इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि बालक के विकास में उसके कौटुंबिक जीवन को सबसे बड़ा श्रेय उपलब्ध है। इसी कारण वहाँ बालकों का पालन-पोषण माताएँ स्वयं करती थीं। बालकों को दासियों के हाथ नहीं सौंपा जाता था, पिता बालकों को स्वयं शिक्षा प्रदान करता था। माता-पिता स्वयं सदैव इस बात को ध्यान में रखते थे कि बालकों का व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता रहे।

लॉक ने शैक्षणिक मनोविज्ञान के उन कई सिद्धांतों की विवेचना आज से प्रायः तीन सौ वर्ष पहले की थी, इसकी मान्यता आज सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकार करते हैं तथा जिनका आधार लागू कर आज पठन का कार्यारंभन होता है। उन्होंने बतलाया

कि वालकों के अविकसित मस्तिष्क पर वातावरण (Environment) का वड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। सुंदर वातावरण से वालकों का भावी जीवन सुखी बनेगा तथा उनमें एक सुयोग्य नागरिक के गुणों का आविर्भाव होगा, ऐसा लॉक ने वतलाया। अतः, वालकों के समुचित विकास के लिए एक अच्छे वातावरण का होना वांछनीय है। पेस्तालात्सी ने विद्यालय के वातावरण को घर-जैसा ही बनाने पर वल दिया है। घर में वालक निद्वंद्व, स्वच्छंद और सानंद रहता एवं वढ़ता है तथा उसमें वहाँ प्रेम, स्नेह, सहानुभूति एवं आत्मविश्वास के भाव उत्पन्न होते हैं। ऐसे वातावरण में उसके अंतर्युक्त गुणों का स्वतः विकास होता है। लॉक ने इसी उद्देश्य से वातावरण की महत्ता स्वीकार की है।

लॉक शिक्षा को अत्यधिक महत्ता प्रदान करते हैं। उनका विश्वास है कि अच्छी शिक्षा का आधार वना कर, व्यवस्थित शिक्षा के माध्यम से हम वालकों में अपने मनोनुकूल गुणों का विकास संभव कर सकते हैं। उनका विचार था कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का ९/१० भाग उसकी शिक्षा का प्रतिफल है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा की महत्ता उन्होंने किस वड़ी सीमा तक स्वीकार की है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का माप-दंड उसकी शिक्षा है। अगर व्यक्ति का व्यक्तित्व असंतुलित तथा विशृंखलित है, अगर उसके अंदर सामाजिक गुणों का अभाव है, दूसरों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना की कमी है, अगर उसमें वे सामाजिक तत्त्व विराजमान हैं, जिससे समाज और राष्ट्र की हानि संभव है, तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने जो शिक्षा ग्रहण की थी, वह दूषित थी अथवा उसने शिक्षा ग्रहण ही नहीं की है। उस व्यक्ति के लिए शिक्षा का कभी संयमित, सुनियोजित विधान ही नहीं हुआ। लॉक कहते थे कि वालक का मस्तिष्क 'मुलायम मिट्टी के समान' अथवा उजले कागज या मोम के सदृश है। मुलायम मिट्टी से एक कुंभकार जिस प्रकार का चाहे वर्तन तैयार कर सकता है, उसी प्रकार व्यवस्थित और वास्तविक शिक्षा-प्रणाली का अव-लंवन कर एक शिक्षक जैसा चाहे, वैसा नागरिक तैयार कर सकता है। शिक्षा वह अमोघशक्ति है, वह प्रकाशपुंज है, जिसके सहारे हम कल्याणकारी समाज और स्वतंत्र देश की रक्षा के लिए, उसकी प्रगति और उन्नयन के लिए चरित्रवान नवयुवक तैयार कर सकते हैं। अतः, व्यक्ति के विकास के लिए उत्तमोत्तम शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। लॉक का विश्वास था कि व्यक्ति का स्वभाव शिक्षा द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। वे शिक्षा को वंशानुक्रम (Heredity) से भी अधिक मानते हैं। उनके ये विचार शिक्षा-जगत को अमूल्य देन हैं।

लॉक ने वालकों की व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत को स्वीकार किया है तथा तदनुकूल शिक्षा-व्यवस्था की वात भी वतलायी है। वे एक वालक को दूसरे से भिन्न

मानते हैं। अतः, वे उनकी शिक्षा के लिए भी विभिन्न विधियों की मान्यता देते हैं। वे विभिन्न वर्गों के बच्चे को विभिन्न प्रकार से शिक्षा देना चाहते हैं। उनका विचार था कि प्रत्येक बालक के लिए उसके घर पर अध्यापक की व्यवस्था की जाए।

लॉक का विचार था कि बच्चों को उतना ही ज्ञान दिया जाए, जितना उनके आचरण तथा व्यवहार के लिए पर्याप्त है। अनावश्यक और अनुपयोगी विषयों के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं, परंतु जो विषय उपयोगी और हितकर हों, जिनसे भावी जीवन सुखमय और शांतिपूर्ण बने, उन विषयों की शिक्षा अवश्य दी जाए। इसी उद्देश्य से उन्होंने बालकों के लिए व्यावसायिक शिक्षा का भी विधान किया है। वे हिसाब-किताब रखने के लिए 'मुनीमत' पढ़ाना आवश्यक समझते थे। उनके अनुसार बालकों को बढ़ई के काम तथा माली के काम की शिक्षा भी देनी चाहिए। उन्होंने गरीबों के बच्चों के लिए उपयोगी कलाओं की शिक्षा देने के विचार से कर्मशालाओं की स्थापना की योजना की; क्योंकि समुचित शिक्षा के अभाव में गरीब बालक इधर-उधर घूमा करते थे।

लॉक केवल सिद्धांत रटाने के पक्ष में नहीं थे, अपितु मानसिक उन्नयन के लिए अभ्यास और अनुभव को प्रमुख मानते थे। उन्होंने अभ्यास पर अधिक बल दिया है। बालकों को अभ्यास और अनुभव के आधार पर शिक्षा दी जाए। जिस प्रकार बेकन ने बालकों की ज्ञानप्राप्ति में अनुभव के महत्त्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार लॉक का भी कथन है कि बालकों को ज्ञान ग्रहण करने में उनके अनुभव पर बल दिया जाए। निस्संदेह इन सिद्धांतों की तह में उनकी यह धारणा कार्य कर रही थी कि युवकों का भावी जीवन सुखमय हो। अभ्यास में उन्हें तर्क करने का अवसर मिलता है, वे तत्क्षण अपनी त्रुटियों का समाधान कर लेते हैं। इस प्रकार उनका ज्ञान स्थायी और भावी जीवन में लाभकारी होता है। लॉक का कहना है—"हमें सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि उन वस्तुओं का ज्ञान, जो हमारे जीवन से संबद्ध हों।"

तत्कालीन समाज में भाषा की शिक्षा को परमावश्यक समझा जाता था तथा भाषा की शिक्षा देने के पूर्व व्याकरण का नियम रटाया जाता था। लॉक ने इसका विरोध किया। उन्होंने बताया कि व्याकरण भाषा सीखने के बाद की चीज है। बच्चों को सैद्धांतिक ज्ञान देने के पूर्व व्यावहारिक ज्ञान देने की आवश्यकता है। भाषा निरीक्षण अथवा स्वानुभूति से संबंधित होनी चाहिए। वे यह नहीं चाहते थे कि भाषा की शिक्षा देने के पूर्व बालक को केवल व्याकरण के नियम रटाये जाएँ। बालकों को बातचीत एवं आलाप-संलाप तथा खेल आदि के माध्यम से भाषा का ज्ञान करा दिया जाए, तत्पश्चात् उन्हें नियम आदि का ज्ञान दिया जाए। लॉक ज्ञात से अज्ञात की ओर

बढ़ने के सिद्धांत के पोषक थे। रटने की यह प्रथा बहुत पुरानी है। भारतीय गुरुकुल के छात्र भी विषयों को रट लेते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि रटने से स्मरण-शक्ति का विकास होता है। रोमी शिक्षाशास्त्री क्विटिलियन भी छात्रों के स्मरणशक्ति के विकास एव मानसिक उन्नयन के लिए चाहते थे कि उन्हें अत्यधिक सूचनाओं, प्रमाणों तथा विचारों पर पूर्ण अधिकार रहे और यह गुण विद्यार्थियों को विषय रटने पर बहुत बल देता था। ऐसी धारणा यूरोप में प्रायः अट्ठारहवीं शताब्दी तक वर्त्तमान रही। यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों ने 'विषय को रटने की प्रथा' को अहितकर बतलाया। समझ कर विद्याध्ययन करने से विषय जीवन भर उपयोगी बना रहेगा तथा मस्तिष्क और स्मरणशक्ति का विशेष विकास होगा। बालकों में कुशाग्रता की शक्ति उत्पन्न होगी।

लॉक मानव-जीवन में विवेक को श्रेष्ठ स्थान देते हैं। विवेक ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य, मनुष्य की संज्ञा पाता है। मनुष्योचित गुणों का विकास विवेक से ही संभव है। वास्तविकता की परख विवेक के आधार पर ही की जाती है। संयमित सफल जीवन के लिए एक नागरिक को विवेक से काम लेना चाहिए। विवेक के अभाव में हमलोग अपना जीवन कष्टमय बना लेते हैं। अतः, शिक्षा के विधान में विवेक को महत्त्वपूर्ण स्थान उपलब्ध है। लॉक विवेक द्वारा व्यक्ति में सद्गुणों के आविर्भाव पर विश्वास करते हैं। विवेक द्वारा व्यक्ति अपनी इंद्रियों को वशीभूत करता है। उसमें तार्किक बुद्धि उत्पन्न होती है। 'विवेक मानव के संवेगात्मक जीवन में एकीकरण लाने तथा अंतर्द्वंद्व को समाप्त करने में सफल होता है।'

लॉक का विचार था कि एक स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। अस्वस्थ व्यक्ति भावावेश का शिकार होता है और भावावेश की अवस्था अर्द्ध-पागलपन की अवस्था है। कॉमेनियस ने शारीरिक शिक्षा को बालकों के लिए आवश्यक बतलाते हुए जिमानाजियम स्थापित करने को कहा है। बालकों का शरीर बलवान और पुष्ट हो, ताकि वे भावावेशात्मक परिस्थितियों का सामना कर सकें। इसके लिए लॉक विद्यालयों को सावधान रहने की सिफारिश करते हैं। बालकों के स्वास्थ्य की महत्ता के संबंध की चर्चा वे अपनी पुस्तक 'सम थॉट्स कनसर्निंग एडुकेशन' (Some Thoughts Concerning Education) के प्रथम पृष्ठ पर ही करते हैं। उन्होंने बालकों की भोजन-व्यवस्था, वस्त्र, व्यायाम तथा शयन आदि की चर्चा की है। जहाँ तक बालकों के शारीरिक विकास का प्रश्न है, वे उनके लिए एथेंस के नगर राज्य स्पार्टा के नवयुवकों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जहाँ व्यायाम, खेल-कूद आदि के कारण बालक का शरीर यूनानी मूर्तियों की भांति

सुडौल, संगठित तथा पुष्ट रहता था। अगर वालक के शरीर के किसी भाग में मोटापा आ जाता था, तो उसे दंड का भागी वनना पड़ता था। लॉक का विचार था कि वालकों को शारीरिक प्रशिक्षण इस भाँति दिया जाए कि उनके अंग-प्रत्यंग गर्मी-सर्दी, धूप, हवा, पानी आदि को वर्दाश्त करने में अभ्यस्त बनें। शारीरिक उन्नयन के लिए उनका कहना था कि बालकों को घोड़े की सवारी, तलवार चलाने तथा कुश्ती लड़ने की शिक्षा देनी चाहिए। अरस्तू ने भी अपनी संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था में शारीरिक शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया है। व्यक्ति के लिए शरीर एक ऐसी संपत्ति के रूप में है, जिससे वह समाज की अधिकाधिक सेवा कर सकता है। अरस्तू चाहते थे कि जिमनास्टिक और व्यायाम द्वारा वालकों में अच्छी आदतें डाली जाएँ। वालकों में उत्तेजनाओं को वशीभूत करने की क्षमता उत्पन्न की जाए।

लॉक ने वालकों के चारित्रिक उन्नयन के लिए भी चेष्टा की। उस शिक्षा को वे कोई महत्त्व नहीं देते थे, जिससे चारित्रिक विकास नहीं हो। चरित्र मनुष्यत्व की आधारशिला है। चरित्रविहीन पुरुष समाज का कीड़ा है। उन्होंने चरित्र की परिभाषा व्यापक रूप में की है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि वह नवयुवकों को चरित्रवान वनावे। लॉक के विचारानुसार वालकों को नैतिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। नैतिक शिक्षा के माध्यम से ही उनके अंदर सद्‌विचार, सद्‌गुण, दया, करुणा, संवेदना और सहानुभूति आदि गुणों का विकास होगा। वालकों के चारित्रिक विकास के लिए लॉक वहुत उद्यमशील बने रहे। उनका विचार था कि शिक्षा-संस्थाओं का संगठन इस पद्धति से किया जाए कि उसके प्रवल प्रवाह में विद्यार्थियों के चारित्रिक उन्नयन की सवल लहर व्याप्त हो। चरित्रहीनता पशुता का द्योतक है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में अंतेवासिन ब्रह्मचारी के चारित्रिक उन्नयन एवं गठन के लिए आचार्य अत्यधिक सचेष्ट करते थे। पाठ्य-प्रणाली का प्रणयन संयमित नियमों के सुसंचालन पर आधारित था; क्योंकि प्राचीन आर्य चरित्र की महिमापूर्ण महत्ता एवं गरिमापूर्ण धवलता से पूर्णतः प्रभावित और आकर्षित वने रहे। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी महर्षि स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, स्वामी श्रद्धानंद तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने शिक्षा में चरित्र की महत्ता स्वीकार ही नहीं की, वरन् शिक्षा संस्थाओं में पूर्णरूपेण इसके प्रचलन पर वल भी दिया। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर, जॉन कालविन, माण्टेस्क्यू आदि सभी वालकों में चरित्र की उज्ज्वल मर्यादा वर्द्धन हेतु सचेष्ट रहे हैं। चीन के प्रसिद्ध समाज-सुधारक, नीति-उपदेशक एवं शांति के पुजारी कनफ्यूसियश ने लगभग ढाई हजार वर्ष पहले चरित्र-विकास को सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक वतलाया था। चरित्र के अंतर्गत कनफ्यूसियश ने सदाचार और सद्‌व्यवहार, सभ्यता और शिष्टता

तथा शील आदि बातों को स्वीकार किया। दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि दूसरों से अपने प्रति व्यवहार की आशा रखी जाए—इस नैतिक व्यक्तिगत गुण को भी कनफ्यूसियश चरित्र का एक आवश्यक अंग मानते थे। शिक्षाशास्त्री क्विंटिलियन ने नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर बहुत बल दिया था। उन्होंने कहा था कि रोमी साम्राज्य का पतन उसी समय होगा, जब रोम के निवासियों का नैतिक पतन हो जाएगा।

लॉक ने विद्यार्थियों के लिए गणित विषय की शिक्षा को अत्यंत आवश्यक बतलाया है। उनका विचार था कि गणित से विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास और ज्ञानवर्द्धन तो होता ही है, उनमें तर्कशक्ति और मानसिक अनुशासन के गुण का भी आविर्भाव होता है। व्यक्ति में समझ कर कार्य करने की शक्ति आती है तथा उनका विवेक जाग्रत होता है। लॉक के विचारानुसार गणित की शिक्षा विद्यार्थियों के लिए अत्यंत आवश्यक है। प्लेटो, बेकन, हरबर्ट स्पेंसर और हक्सले-जैसे प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों ने भी बालकों के लिए गणित विषय के पठन-पाठन को आवश्यक बतलाया है। प्लेटो ने तो गणित को भी दर्शन का एक अंग माना है। उनका मंतव्य था कि गणित के द्वारा व्यक्ति स्पष्ट रूप से विचार कर सकता है। गणित के विषय मनुष्य के लिए दार्शनिक सत्य समझने में सहायक होते हैं।

लॉक ने बालकों के लिए नृत्य-शिक्षा का तो विधान किया ही है, परंतु संगीत की शिक्षा का वे विरोध करते हैं। उन्होंने संगीत को विषय नष्ट करने वाला बतलाया है। यहाँ लॉक का सुकरात, प्लेटो और अरस्तू से विरोध है। सुकरात ने बौद्धिक विकास तथा जीवन की सफलता के लिए संगीत को आवश्यक बतलाया है। प्लेटो ने मानसिक विकास, चरित्र-निर्माण, साहस और मृदुल स्वभाव के विकास के लिए संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी। प्लेटो ने संगीत को बड़े व्यापक रूप में लिया है। अरस्तू ने सात वर्ष से चौदह वर्ष तक के बालकों के लिए जिन विषयों के अध्ययन का विधान किया, उसमें प्रमुख थे—'लिखना-पढ़ना, संगीत और साधारण ज्ञान।' उन्होंने संगीत को चरित्र-निर्माण करने वाला बतलाया है। इससे बच्चों का संवेगात्मक विकास होता है। संगीत संवेगों को परिष्कृत कर समुन्नत बनाता है। ("Music has the power of forming the character and could, therefore be introduced into the education of the young." Politics, VIII.s)

संगीत के संबंध में लॉक के विचार कुछ कठोर अवश्य हैं, तथापि अत्यधिक संगीत का प्रचलन निःसंदेह बालकों को कायर बना देता है। अतः, मध्यम मार्ग का अनुसरण ही ठीक होगा। शिक्षा-क्षेत्र में लॉक ने शिक्षकों की महान् मर्यादा को पूर्ण-

रूपेण स्वीकार किया है। उनका विचार है कि कुशल और योग्य शिक्षक सरल ढंग से ही बालकों को शिक्षा देता है। उसके पढ़ाने का रहस्यात्मक ढंग यही है कि उसने किस सीमा तक बालकों को पढ़ने-लिखने की ओर प्रवृत्त किया, उनके मस्तिष्क को प्रशिक्षित किया तथा उनमें विवेकशक्ति की वृद्धि की। प्राचीन रोम के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री क्विटिलियन ने शिक्षकों के संबंध में बतलाया है कि एक शिक्षक को सहानुभूति और स्नेह का भंडार होना चाहिए। उसके हृदय से बालकों के प्रति स्नेह की धारा प्रवाहित होनी चाहिए। जिस प्रकार कोमल अंकुर के लिए जलविहीन धरती हानिकारक होती है, उसी प्रकार बालकों के लिए प्रेमविहीन शिक्षक भी लाभप्रद नहीं होते। जॉन लॉक का भी शिक्षकों के संबंध में यही विचार था।

जॉन लॉक बालकों को शारीरिक दंड देने के विरोधी थे। उनके मतानुसार शारीरिक दंड से बालकों के अविकसित मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा उनमें क्रोध की भावना घर कर लेती है। बालकों का भावी व्यक्तित्व असंयोजित बन जाता है। रोमी शिक्षाशास्त्री क्विटिलियन तथा जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन लूथर ने भी बालकों को शारीरिक दंड दिए जाने का विरोध किया है।

लॉक अमीर व्यक्तियों के बच्चों के साथ गरीब बच्चों को शिक्षा देने का विरोध करते हैं। गरीबों के साथ उनकी विशेष सहानुभूति नहीं मालूम पड़ती है। मांटेन ने भी शिक्षा को अमीरों के बच्चों के लिए ही बतलाया है। सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो भी निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे। वे केवल उच्च वर्ग के लोगों को ही शिक्षा देना चाहते थे। उनका विचार था कि एक गरीब व्यक्ति को शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु, कॉमेनियस के विचारों से उपर्युक्त शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का खंडन होता है। कॉमेनियस समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा देने के पक्ष में थे। मार्टिन लूथर ने भी अनिवार्य शिक्षा की महत्ता को स्वीकार किया है। जनतंत्र की नींव सार्वभौमिक शिक्षा की आधारशिला पर ही अवस्थित और दृढ़ रह सकती है, अतः शिक्षाप्राप्ति के अधिकार में गरीब और अमीर का प्रश्न सर्वथा अयुक्तिसंगत और वर्त्तमान समय के प्रवाह के सर्वथा विरुद्ध है।

❀

अध्याय १५

रूसो

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक अधिकारों के दमन के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ। इस विद्रोह के प्रमुख प्रणेता रूसो थे, जिन्होंने शिक्षा में प्रकृतिवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। चर्च की बढ़ती हुई निरंकुशता एवं सामाजिक शोषण की सीमा के फलस्वरूप विरोधात्मक एवं प्रतिक्रियात्मक ध्वनि का उठना स्वाभाविक ही था। वे विरोध श्रेष्ठ जन-आंदोलन के रूप में खड़े हुए। बुद्धि द्वारा विरोध के सहारे नैसर्गिक आंदोलन का आरंभ हुआ एवं जनवर्ग की सहानुभूति द्वारा उन्होंने प्रकृतिवादी शिक्षा का उद्घोषण किया एवं अपेक्षित सामाजिक सुधार कर एक नए युग का आविर्भाव किया। वे एक महान् विचारक थे। उनके शिक्षासंबंधी विचारों ने समस्त जगत को आंदोलित और प्रभावित किया। उनका स्थान विश्व के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों में माना जाता है।

रूसो का पूरा नाम जॉन जैकस रूसो (Jean Jacques Rousseau) था। उनका जन्म २८ जून, १७१२ ई० को इटली के जेनेवा नामक शहर में हुआ था। इनके पिता घड़ीसाज का व्यवसाय करते थे। रूसो के जन्म के कुछ समय पश्चात् ही उनकी माता का देहांत हो गया। इनके पिता उत्तरदायित्वहीन पुरुष थे। उन्होंने रूसो के पालन-पोषण की जिम्मेवारी अपनी भावज के हाथ दे डाली। रूसो का नाना एक पादरी था। अपने नाना के यहाँ रूसो को इतिहास तथा काल्पनिक कहानियाँ और जीवन-वृत्त संबंधी पुस्तकें अल्पायु में ही पढ़ने का मौका मिला, जिसके परिणामस्वरूप वे अत्यधिक भावुक बन गए। बाल्यावस्था से ही उनमें कई बुरी आदतें पड़ गईं और संयम की भावना उनके अंदर से समाप्त हो गई। सोलह वर्ष की अवस्था में वे घर छोड़ कर भाग गए तथा छत्तीस वर्ष की आयु तक इधर-उधर भटकते रहे। जब वे बत्तीस वर्ष के थे, तो उन्होंने थेरसी लेवेजियर नामक एक लड़की से अपनी शादी की। उनको पाँच संतानें उत्पन्न हुईं।

रूसो का जीवन कष्ट और अनिश्चितता का जीवन था। उन्हें अमन-चैन नसीब नहीं हुआ, परंतु विलक्षण बुद्धि का यह विचारक अपनी साधना के फलस्वरूप जो कुछ समाज को दे गया, वे सर्वथा अलौकिक हैं। उनके मौलिक विचार आज भी हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। उनके जीवन के अंतिम वर्ष भी सुख नहीं से बीते। अव्यवस्थित जीवन, बीमार, कमजोर, जर्जर तथा राज्याभियोग अस्त-व्यस्त एवं दुखी अवस्था में विश्व का महान् क्रांतिकारी रूसो २ जुलाई १७७८ ई० को इस संसार से चला गया। ब्रह्मदत्त दीक्षित ने रूसो के व्यक्तिगत जीवन के संबंध में लिखा है—'स्वस्थ पारिवारिक जीवन का सुख न तो रूसो को बाल्यावस्था में ही मिला और न युवावस्था में और न वृद्धावस्था में ही। जीवन भर उसे सच्चे घर के दर्शन नहीं हुए। न बचपन का प्यार मिला, न युवावस्था का सुख और न वृद्धावस्था का शांति और संतोष।' किंतु, रूसो के विचारों में वह अद्भुत शक्ति थी जिससे संपूर्ण फ्रांस में ही नहीं, अपितु समस्त यूरोप में भी एक क्रांति उत्पन्न हो गई तथा आज समस्त विश्व उनका प्रभाव स्वीकार करता है। वे सर्वदा अमर हैं।

जैसा कि मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में इसकी चर्चा की है कि रूसो को सोलह वर्ष की आयु से छत्तीस वर्ष की आयु तक इधर-उधर भटकना पड़ा—इस अवधि में उन्हें संगीत-शिक्षक, कम्पोजिटर एवं नाटककार आदि के रूप में जीवन-निर्वाह करना पड़ा। इन वर्षों में उन्होंने हाब्स, लॉक, मांटेन फेनेला, एडीसन, वाल्टेयर, डेकार्ट एवं न्यूटन की रचनाओं को पढ़ा तथा उनसे वे प्रभावित हुए। उन्होंने पुस्तकों की रचना प्रारंभ कर दी तथा शिक्षा के क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन कर समाज का कल्याण किया एवं भावी युग का मार्ग सुगम बनाया। उनकी निम्नलिखित रचनाएं प्रसिद्ध हैं—

(१) दि प्रोग्रेस ऑफ आर्ट्स ऐंड साइंस (१७५० ई०)
(२) सोशल इन-इक्वेलिटी (१७५४ ई०)
(३) डिसकोर्स ऑन पोलिटिकल इकोनॉमी (१७५५ ई०)
(४) दि न्यू एलोइज
(५) सोशल कांट्रेक्ट (१७६२ ई०)
(६) एमिल (१७६२ ई०)
(७) कंसीडरेशन ऑन दि गवर्नमेंट ऑफ पोलैंड (१७७३ ई०)
(८) कॉनफेशन ऑफ दि विकार ऑफ सेवाय।

रूसो के दर्शन का प्रमुख अंग है, उनकी प्रकृतिवादी विचारधारा। समाज की तत्कालीन परिस्थितियों से पीड़ित रूसो के हृदय में प्रकृति के प्रति अपार श्रद्धा थी। अतः, प्रकृति को ही उन्होंने अपने दर्शन का केंद्र बनाया। 'एमिल' की प्रारंभिक पंक्तियों में उन्होंने लिखा है :—

"Every thing is good that comes from the hands of the author of the nature, but every thing degenerates in the hands of men." Emile. Book I, Page 5.

रूसो में इस प्रकार की भावनाओं का मूल कारण उनके वैयक्तिक विचार एवं परिस्थितियाँ थीं। समाज के प्रतिकूल व्यवहार के कारण उनकी धारणा व्यक्तिवादी शिक्षा की ओर हो गई। अतः उन्होंने प्रकृति के एकांत नीड़ में, समाज से दूर बालक की शिक्षा-व्यवस्था पर बल दिया।

रूसो ने तत्कालीन सामाजिक सभ्यता की कटु आलोचना की। उन्होंने बतलाया कि कृत्रिम तथा बनावटी सभ्यता ने समाज एवं मानव को बिगाड़ दिया है। प्रकृति से दूर होकर मानव, कृत्रिम सभ्यता से अपना संबंध स्थापित कर, अपने जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था को कलुषित कर चुका है। रूसो को समाज की कृत्रिमता से बहुत विरोध है। उनकी सम्मति में वही वस्तु अच्छी है, जो प्राकृतिक है। जो कृत्रिम है, वह बुरी है। अपनी पुस्तक 'एमिल' के प्रारंभिक पृष्ठों में ही उन्होंने अपने विचारों के आधारभूत सिद्धांत को स्पष्ट कर दिया है। प्रकृति के स्रष्टा के हाथों से जो भी रचा जाता है वह शुभ है, किंतु जो भी मनुष्य के हाथ का स्पर्श पाता है, वह कलुषित हो जाता है। समाज मनुष्यों का बनाया हुआ है। यह एक कृत्रिम संगठन है, अतः आलोचना का विषय है। इस प्रकार प्रकृति तथा समाज एक दूसरे के विरोधी हैं। जो प्राकृतिक है, वह सामाजिक नहीं। अतः, प्रकृति समाज का विरोध करती है अथवा समाज का विरोधी अर्थ रखती है।

इस अर्थ के अनुसार शिक्षा का कार्य सामाजिकता का विरोध होना चाहिए। प्राकृतिक शिक्षा अशिक्षा नहीं, अपितु यह ऐसी शिक्षा है, जो असामाजिक है। प्राकृतिक शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को कृत्रिम समाज के प्रभावों से बचाना है। इस प्रकार रूसो की प्राकृतिक या नकारात्मक शिक्षा निरोधक शिक्षा है। यह बच्चों को उनके भावी जीवन के लिए तैयार नहीं करती, बल्कि यह उन्हें उन सामाजिक स्थितियों के विरुद्ध तैयार करती है, जिनमें उन्हें आगे चलकर रहना है। समाज स्वभावतः बुरा है, किंतु इससे विलग भी नहीं हुआ जा सकता। 'एमिल' को अंततः ऐसे ही समाज में रहना है तथा इसके लिए तैयार होना है।

चूँकि एमिल को समाज में रहना है, इसलिए वह असामाजिक नहीं हो सकता। रूसो इस तथ्य को नहीं भूलते हैं। अतः, एमिल को वे इस योग्य बनाना चाहते हैं कि समाज में रहकर भी वह अप्राकृतिक नहीं हो। उसके नैतिक तत्त्व पूर्णतः प्रस्फुटित और विकसित होकर उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के अंग बन जाएँ तथा उसको एक सफल नागरिक बनने की यथार्थ क्षमता प्रदान करें।

अपनी प्रमुख पुस्तक 'एमिल' में उन्होंने शिक्षा के दो रूपों की चर्चा की है—

(१) निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) एवं

(२) निश्चयात्मक शिक्षा (Positive Education)।

(१) निषेधात्मक शिक्षा वह है, जिसमें बालकों को किसी प्रकार का नवीन ज्ञान नहीं दिया जाता, अपितु उसे समाज की बुराइयों एवं पाप से बचाने में सावधानी रखी जाती है। नकारात्मक शिक्षा में सीधे ज्ञान देने के पहले ज्ञान के साधक अवयवों को पूर्ण बनाने की चेष्टा की जाती है। इसमें ज्ञानेंद्रियों को विकसित होने का अवसर प्रदान किया जाता है। निषेधात्मक शिक्षा के संबंध में श्री मनरो अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन' में इस प्रकार लिखते हैं—"It consists, not in teaching the principles of virtue or truth, but in guarding the heart against vice and the mind against error."–'Monroe; History of Education.'

निषेधात्मक शिक्षा की कुछ विशेषताएँ—

(१) पुस्तकीय ज्ञान का अभाव (No book),

(२) सभी प्रकार की आदतों का बहिष्कार (No habit)

(३) प्रत्यक्ष नैतिक सिद्धांतों का अभाव (No moral)

(४) सामाजिक संबंधों की उपेक्षा (No society),

(५) शिक्षक की अनावश्यकता (No teacher),

(६) बौद्धिक ज्ञान की अवहेलना (Childhood is the sleep of reason)।

२. निश्चयात्मक शिक्षा वह है, जो समय से पहले मस्तिष्क को बनाना चाहती है और बालकों को प्रौढ़ पुरुषों का कर्त्तव्य सिखलाती है। वस्तुतः निश्चयात्मक शिक्षा से रूसो का तात्पर्य उस शिक्षा से है, जो बालकों को उन शक्तियों को प्राप्त कराने की चेष्टा करता है, जिसके अभाव में वे स्वतंत्र नहीं बन सकते। ऐसा प्रशिक्षण शक्ति का साधन नहीं, अपितु स्वतंत्रता का साधन होना चाहिए। स्वतंत्रता का अर्थ मनमाना करना नहीं होता। स्वतंत्रता के उन्नायक रूसो का विचार था कि जो स्वतंत्रता इच्छाओं के वशीभूत है, तो वह स्वतंत्रता का एक विकृत रूप है। अतः, बालकों को उनकी प्रारंभिक अवस्था से ही सही कार्य करने का अभ्यास होना चाहिए। यही उनके नैतिक जीवन का प्रथम सोपान है। जैसा कि अरस्तू ने बहुत दिनों पहले कहा था—"अच्छाई क्या है, इसके जानने के पहले बालक इसके प्रमुख पाठ का अभ्यास करेगा।" किंतु, प्रचलित प्रणालियों में शिक्षा का हंकारात्मक स्वरूप विकृत हो गया। इसके अनुसार, हंकारात्मक शिक्षा मस्तिष्क को समय के पूर्व ही गठित करने

की चेष्टा करती हैं। यह बच्चों को उन कर्त्तव्यों की जानकारी कराती है, जो कि बड़ों के होते हैं। ("I call a positive education one that tends to form the mind prematuraly, and to instruct the child is the duties that belong to a man."—Emile.)

निश्चयात्मक शिक्षा की कुछ विशेषताएँ—

(१) स्वतंत्रता की प्राप्ति होना,

(२) जीवन-संबंधी अनुभवों का ज्ञान होना और

(३) शरीर का स्वस्थ होना।

रूसो के समय में प्रचलित शिक्षा दोषों से पूर्ण थी। विद्यालयों में बच्चों को अनेकों विषयों की शिक्षा दी जाती थी। बच्चों को बहुत विषय तो पढ़ने पड़ते थे, परंतु उनमें इसकी क्षमता नहीं होती थी। इस समय पुस्तक बालक के लिए नहीं, अपितु बालक पुस्तकों के लिए माना जाता था। बच्चों को कठोर दंड दिया जाता था। रूसो स्वयं जिन दिनों स्कूल में लैटिन पढ़ते थे, उन पर बहुत मार पड़ती थी। इसी के परिणामस्वरूप वे दंड के विरोधी बन गए। उन्होंने विद्यालयों में प्रचलित इन बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठायी। वे प्राचीन रुढ़िग्रस्त बातों के विरोधी थे। उनका कहना था कि बच्चों की स्वाभाविक प्रकृति को ध्यान में रखकर शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। प्राचीन शिक्षा की पद्धति का विरोध करते हुए उन्होंने आधुनिक शिक्षा-विधि का विधान किया।

अपनी पुस्तक 'एमिल' द्वारा रूसो ने समाज के सामने ऐसी शिक्षा-योजना प्रस्तुत की, जो बालक की पूरी स्वतंत्रता प्रदान कर उसके प्राकृतिक विकास में सहायक थी। इसमें उन्होंने बताया कि शिक्षा प्रकृति के विषयों के अनुसार होनी चाहिए। बच्चे को अपने माता-पिता, स्कूल तथा समाज से दूर हटा कर 'आदर्श अध्यापक' के हाथों सौंपना चाहिए, जो प्रकृति के आश्चर्यजनक एवं सौंदर्यपूर्ण दृश्यों से उसका संबंध स्थापित करे। प्रकृति को रूसो आडंबररहित तथा पवित्र मानते हैं। उनका विचार है कि "प्रकृति के यहाँ से प्रत्येक वस्तु स्वस्थ और यथार्थ रूप में आती है, परंतु मनुष्य के हाथ में पड़ कर वह दोषपूर्ण हो जाती है।" इस प्रकार मनुष्य उस सरल एवं साधारण वस्तु को जटिल एवं आडंबरपूर्ण बना देता है। अतः, बालक की शिक्षा समाज द्वारा स्थापित स्कूल पर आधारित नहीं होकर, बालक की प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। इसी प्रकार की शिक्षा बालक के विकास में सहायक होगी। रूसो का विचार है कि शिक्षा कोई ऐसी बाहरी वस्तु नहीं, जो विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भरी जाए, अपितु शिक्षा विद्यार्थियों की आंतरिक शक्तियों को विकसित करने का नाम है। उनका कहना था कि "बालक की आंतरिक स्वाभाविक प्रवृत्तियों का

विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है।" उनके विचारानुसार "शिक्षा का प्रमुख कार्य मनुष्य को उसके वास्तविक रूप में मनुष्य बनाना है।"

रूसो का विचार था कि "बालक को बालक समझना चाहिए, उसको प्रौढ़ व्यक्तियों की भाँति शिक्षा देना व्यर्थ है।" वे नहीं चाहते थे कि बालक को प्रारंभ से ही पढ़ना-लिखना सिखाया जाए। वे बालक को प्रौढ़ व्यक्ति से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार बालक को प्रौढ़ व्यक्तियों के समान शिक्षा देना व्यर्थ है। उसे तो प्रकृति के स्वच्छंद एवं उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने देना चाहिए, तभी उसका समुचित विकास हो सकेगा। सर्वप्रथम वे बालक के अंग-प्रत्यंग एवं उसकी अन्य शक्तियों को विकसित करना चाहते थे। इन शक्तियों का विकास प्रकृति के वातावरण में ही संभव हो सकेगा। वे 'एमिल' (Emile) को प्रकृति से दूर रख कर शिक्षा देना श्रेष्ठ नहीं समझते।

रूसो बालक पर बचपन से ही शिक्षा का बोझ नहीं लादना चाहते। वे बालक की अभिरुचि के अनुसार ही प्रगति करना श्रेष्ठ समझते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक भी शिक्षाक्षेत्र में रुचि (Interest) के महत्त्व को सर्वोपरि मानते हैं। रूसो यह जानते थे कि बच्चे को पुस्तकों से उतना प्रेम नहीं होता, जितना कि खेल आदि से। आज खेल के शैक्षणिक महत्त्व को सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकार करते हैं तथा विद्यालयों में अपनाए जाने पर बल देते हैं। अतः, रूसो बचपन में किसी भी प्रकार की बौद्धिक शिक्षा की बात नहीं करते। बालक को पुस्तकों के निकट तभी ले जाया जाए, जब उसमें स्वतः पढ़ने की अभिरुचि जाग्रत हो। रुचि के अभाव तक शिक्षा प्रदान करने से उसे अलग रखा जाए। उसे प्रकृति के निकट रखा जाए, जहाँ उसे स्वतः शिक्षित होने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार रूसो शिक्षा पर पूरा बल देते हैं। बालक अपने-आप प्रयास एवं खोज के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह अध्यापक नहीं प्रदान कर सकता।

रूसो बालक को एक निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट श्रोता के रूप में नहीं देखना चाहते। वे अध्यापक के उपदेश से बच्चे को दूर रखने की बात बतलाते हैं। वे बच्चों के समक्ष शिक्षक द्वारा प्रदत्त लंबे-चौड़े व्याख्यान के विरोधी हैं। बालक स्वभावतः अकर्मण्य एवं निश्चेष्ट रहना पसंद नहीं करते। वे सदैव किसी-न-किसी क्रिया के संपादन में लगे रहना चाहते हैं। अतः, जब अध्यापक वर्ग में विद्यार्थियों के समक्ष व्याख्यान देना प्रारंभ करते हैं, तो बच्चों की उसमें विशेष रुचि नहीं रह जाती। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि उपदेश और भाषण कम करें तथा विद्यार्थियों को स्वतंत्र रूप से ज्ञानप्राप्ति की चेष्टा की ओर उन्मुख बनावें।

रूसो वालकों के लिए अभावसूचक शिक्षा (Negative Education) की वात वतलाते हैं। वे वालकों को सैद्धांतिक शिक्षा नहीं देना चाहते। वे वारह वर्ष की उम्र तक वालकों को वौद्धिक शिक्षा देने का विरोध करते हैं। चूँकि वाल्यावस्था में विवेक सुसुप्तावस्था में रहता है, अतः उस अवधि तक वालकों के मस्तिष्क को ज्ञान के अनावश्यक वोझ से दूर रखना ही श्रेयस्कर होगा। रूसो वालक को ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

शारीरिक शिक्षा के महत्त्व को रूसो ने पूर्णतः स्वीकार किया है। वे जानते थे कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। इसी कारण उन्होंने 'एमिल' (Emile) में वालकों के शारीरिक विकास पर अधिक वल दिया है। रूसो का विचार है कि वालक की शारीरिक शक्तियों के विकास पर ही व्यक्तित्व का विकास संभव है। अतः, माता-पिता का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वालक को स्वस्थ वनाने का प्रयत्न करें। स्वस्थ शरीर का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए उन्होंने 'एमिल' में लिखा है :—

1. "A feeble body makes a feeble mind." (Emile, Page 21)

अर्थात् (१) कमजोर शरीर में कमजोर मस्तिष्क निवास करता है।

2. "All wickedness comes out of weakness. A child is bad because he is weak, make him strong and he will be good." (Emile, Page 33)

(२) अर्थात् समस्त दुर्गुण कमजोरी के परिणाम हैं। एक वच्चा इसलिए वुरा है कि वह कमजोर है, उसे वलवान वना दिया जाए, उसमें अच्छाइयों का प्रादुर्भाव हो जाएगा।

इस संवंध में रूसो पुनः लिखते हैं—

"A healthy body is not only the condition of a healthy kind, but also the basis of moral character." (Emile, Page 144)

इस प्रकार रूसो स्वस्थ शरीर को नैतिक चरित्र के उत्थान की आधारशिला स्वीकार करते हैं।

रूसो शरीर-विकास हेतु उसको स्वस्थ एवं पुष्ट वनाने के दृष्टिकोण से वारह वर्ष की आयु तक वालकों को पुस्तकीय ज्ञान अथवा वौद्धिक शिक्षा देने के विरोधी थे।

स्त्री-शिक्षा के संबंध में रूसो का विचार है कि स्त्री को पुरुष की सहगामिनी बन कर सहयोग देना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। 'एमिल' के पाँचवें भाग में वे स्त्री-शिक्षा के सिद्धांतों की विवेचना करते हैं। रूसो के विचारानुसार पुरुष, स्त्री को कड़े नियंत्रण में रखे। मनुष्य के जीवन में यौन एक घटना मात्र है, किंतु स्त्री के जीवन का यह स्थायी गुण या भाव है—"स्त्री सर्वदा स्त्री ही रहेगी।" अतः, पुरुष की शिक्षा पूर्ण तथा व्यापक होनी चाहिए। संभवतः इसीलिए 'एमिल' में उन्होंने केवल अपने नायक एमिल की शिक्षा का पूर्ण विवरण दिया है। तत्कालीन युग की स्त्रियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—

"A woman of culture is the plague of her husband, her children, her family, her servants every body."

अर्थात शिष्ट समझी जाने वाली नारी अपने पति, बच्चे, परिवार, नौकर सभी के लिए कंटक स्वरूप हैं।

रूसो किसी भी स्त्री का स्वतंत्र विकास नहीं चाहते थे, अपितु उसे मानव की प्रवृत्तियों का साधन मात्र मानते हैं। वे कहते हैं—

"A woman is for obedience and man is for rebellion" (Emile)

अर्थात् नारी आज्ञापालन के लिए है तथा पुरुष, शासन के विरुद्ध बगावत करने या आवाज उठाने के लिए।

"A man seeks to serve, a woman seeks to please, one needs knowledge other needs a taste." (Emile)

अर्थात् पुरुष कार्य करने की इच्छा और प्रयत्न करता है, परंतु नारी प्रसन्न करना चाहती है। पुरुष को ज्ञान की आवश्यकता है, नारी को रस और आनंद की।

वस्तुतः रूसो चाहते थे कि स्त्री का जीवन पुरुष के जीवन को सुखी बनाने में व्यतीत हो। उन्हें दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषय पढ़ने की जरूरत नहीं। स्त्री को संगीत तथा नृत्य की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे वे पति को पूर्णतः प्रसन्न कर सकें। पति के आदेशों का पालन उनका प्रमुख धर्म होना चाहिए। स्त्री को पुरुष की सहगामिनी बन कर उसको सहयोग देना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य है।

रूसो निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा देने के विरोधी थे। उन्होंने लिखा है—"The poor has no need of education."—'Emile.' गरीबों के लिए वे किसी शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं समझते हैं। वे उन्हें श्रमिक बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लोगों के लिए ही है।

रूसो के विचारानुसार शिक्षा की समस्त अवधि, छात्रों की अवस्था के अनुसार निम्नलिखित चार भागों में बाँटी जानी चाहिए :—

(१) शैशवावस्था (Infants) जन्मकाल से पाँच वर्ष तक।
(२) बाल्यावस्था (Childhood), पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक।
(३) किशोरावस्था (Adolescence) बारह वर्ष से पंद्रह वर्ष तक।
(४) युवावस्था (Adulthood) पंद्रह से बीस वर्ष तक।

(१) मानव-जीवन की प्रारंभिक अवस्था, शैशवकाल बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। भावी व्यक्तित्व का विकास इस अवधि में प्राप्त लालन-पालन एवं शिक्षा-व्यवस्था पर आधारित है। अतः, बालक की शिक्षा इस समय की मूल आवश्यकता के अनुकूल होनी चाहिए। रूसो शैशवकालीन शिक्षा का उद्देश्य बालक का शारीरिक विकास स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास संभव है। स्वस्थ मस्तिष्क ही स्वस्थ विचार एवं आचार का उत्तम स्रोत होता है। अस्वस्थ शरीर कलुषित विचार एवं कुभावना, कुप्रवृत्ति आदि की सर्जना करता है। रूसो ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपनी पुस्तक 'एमिल' में बतलाया है कि बालक इसीलिए बुरा है कि वह कमजोर है। उसे स्वस्थ और मजबूत बना दीजिए, वह अच्छा हो जाएगा। समस्त शैतानियों का आविर्भाव कमजोरी का फल है। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानंद ने भी इस प्रकार की शिक्षा दी है। अपने शिक्षा-दर्शन में उन्होंने स्पष्ट आदेश दिया है कि बालक-बालिकाओं का शरीर सबल और स्वस्थ होना चाहिए। अगर उनका शरीर स्वस्थ और बलवान हो गया, तो अन्य शक्तियाँ स्वतः उनमें विकसित हो जाएँगी। अतः, इस अवधि में बच्चों के शारीरिक विकास का ध्यान माता-पिता और शिक्षकों को रखना चाहिए। इसके लिए उन्हें अपने अंग-प्रत्यंग के संचालन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं उपस्थित हो। इस अवधि में इंद्रिय-शक्ति के विकास की ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। इंद्रिय शक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों को विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव का अवसर प्राप्त हो। उन्हें अपने कार्यों के संपादन-हेतु स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। किसी प्रकार के दबाव और अधिकार लाभप्रद नहीं होते। प्राकृतिक वस्तुओं तथा स्थितियों से प्राप्त अनुभव ही सार्थक तथा बोधगम्य होते हैं।

शैशवकाल में जो शिक्षा बच्चे को दी जाए, उसमें उसकी बुद्धि तथा नैतिक विकास पर अधिक बल नहीं दिया जाना चाहिए। शब्दों का अधिक ज्ञान बच्चों के लिए हानिकारक हो सकता है। इस समय उनको इतनी ही शिक्षा मिलनी चाहिए, जिसको वे समझ सकें। इस काल में बच्चों को नगर से हटा कर गांव तथा प्रकृति

के मध्य रखने की कोशिश की जाए। उनको खेलने को खिलौने भी अधिक नहीं दिए जाएँ। उनके खेलने के लिए प्राकृतिक खिलौना श्रेष्ठ होगा। उनको तो फलों और छोटी-छोटी टहनियों के साथ खेलना चाहिए। इससे उनमें प्रकृति के प्रति प्रेम बढ़ेगा। रूसो बच्चे को प्रकृति की गोद में छोड़ देना चाहते हैं। उनके अनुसार बच्चे को दवाएँ नहीं दी जानी चाहिए। उनको डाक्टरों से दूर रखा जाए। प्रकृति के अनुकूल चलने पर बालक कभी बीमार नहीं पड़ेगा। प्रकृति के प्रतिकूल जीवन-यापन करने पर ही अस्वस्थता घर दबाती है। इस अवस्था में वे बच्चे में किसी भी प्रकार की आदत नहीं डालना चाहते। बालक को बुराइयों से दूर रखा जाए, जिससे उसका स्वाभाविक विकास हो सके। आरंभ में बच्चे को बहुत कसा तथा तंग वस्त्र नहीं पहनाना चाहिए। इससे उसके शारीरिक विकास में बाधा उपस्थित होती है।

(२) बाल्यावस्था (Childhood) का समय पाँच से बारह वर्ष तक की अवस्था निर्धारित किया गया है। इस अवस्था में उसके मस्तिष्क की क्रियाएँ इंद्रियों से ही प्रभावित रहती हैं। उसमें विचार-शक्ति अच्छी तरह विकसित नहीं हुई रहती है। उसकी आवश्यकताएँ मुख्यतः शारीरिक क्रिया-कलापों तक केंद्रित रहती हैं। इस समय बालक के विभिन्न अंगों को कसरत करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। इस समय तक वह सामाजिक तथा नैतिक बातों को समझने योग्य नहीं हुआ रहता। इस अवस्था में नैतिक शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि बालक नैतिक बातों को समझने की क्षमता नहीं रखता।

पाँच से बारह वर्ष की अवस्था के बालकों की शिक्षा नकारात्मक होनी चाहिए। इस समय बालकों के मस्तिष्क को सूचनाओं तथा विचारों से अनावश्यक भरने की आवश्यकता नहीं। शिक्षक को जबरदस्ती ज्ञान लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, अपितु बालक अपने 'स्वानुभव' द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करें। प्रकृति ने बचपन के वर्ष एक उद्देश्य से बनाया है। "प्रकृति यह चाहती है कि बच्चे बड़े होने के पहले बच्चे ही रहें।" इस अवस्था में उन सभी चेष्टाओं तथा प्रवृत्तियों के कार्यान्वयन का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए, जो बच्चों के लिए प्राकृतिक हैं, जो बालसुलभ हैं।

यह अवस्था ज्ञानेंद्रियों को शिक्षित करने का काल है। पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक की आयु में दी जाने वाली शिक्षा का उद्देश्य बालक की ज्ञानेंद्रियों का विकास होना चाहिए। इंद्रियाँ ही ज्ञान का आधार हैं। बालक को सर्दी-गर्मी सहन करने देनी चाहिए, ताकि प्रकृति से उसका निकटस्थ संबंध स्थापित हो सके। ज्ञानेंद्रियों के समुचित विकास के लिए घूमना, खेलना, कूदना, तैरना, दौड़ना इत्यादि

आवश्यक हैं। आत्मरक्षा के लिए बालक को पैरों पर खड़ा होने की शिक्षा देनी चाहिए।

रूसो की सम्मति में पाँच से बारह वर्ष तक के बालकों को अनुशासन की शिक्षा प्राकृतिक परिणामों द्वारा मिलनी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा उनके लिए सार्थक होगी तथा वे इसके प्रयोजन से पूर्णतः अवगत होंगे। भले-बुरे की गुणात्मक परख उनकी शक्ति के बाहर रहती है। अतः, 'यह कार्य बुरा है अथवा भला' इस प्रकार की आध्यात्मिक एवं सैद्धांतिक शिक्षा को ग्रहण करने में वे सर्वथा असमर्थ रहेंगे। इस अवस्था में नीति अथवा आचरण-संबंधी ज्ञान छात्रों को प्राकृतिक परिणामों के आधार पर ग्रहण कराया जाना चाहिए। ज्योंही वह प्रकृति के नियमों की अवहेलना या उल्लंघन करेगा, प्रकृति उसे तत्काल दंड देगी। अग्नि को छूते ही उसका हाथ जल जाएगा और वह फिर कभी अग्नि को स्पर्श करने की कोशिश नहीं करेगा। इस अवस्था में पुस्तकीय शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है।

(३) किशोरावस्था (Adolscence) का समय रूसो बारह से पंद्रह वर्ष की अवस्था निर्धारित करते हैं।

किशोरावस्था मानव-जीवन का ऐक ऐसा भाग है, जिस अवधि में उसकी मानसिक स्थित ऐसी रहती है कि वह अपने को स्वावलंबी एवं शक्तिशाली बनाने की ओर प्रवृत्त होता है। उसमें जिज्ञासा की भावना प्रबल हो उठती है तथा वह विषयों की जानकारी की ओर विशेष उन्मुख बनता है। किशोरावस्था के आगमन के पश्चात् बालक में 'कल्पना शक्ति' तथा 'विवेक शक्ति' का भी समुचित विकास हो जाता है। अतः, इस स्थिति की शिक्षा के निमित्त माता-पिता एवं शिक्षकों को ऐसी शिक्षण-विधि का अनुसरण करना चाहिए, जिससे बालकों की अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति का विकास हो। बालक में इस समय तर्क करने की शक्ति आ जाती है। वह विभिन्न विषयों के संबंध में जानकारी प्राप्त करना चाहता है। अतः, यह अवस्था ज्ञानार्जन तथा बौद्धिक विकास के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इस ज्ञानार्जन का तात्पर्य ऐसे ज्ञान से है, जो बालक की मूल प्रवृत्तियों के अनुरूप हो तथा जिसके प्रति उसकी स्वाभाविक एवं प्राकृतिक रुचि हो। रुचि के अनुसार बालकों को शिक्षा दी जाए, इस बात पर रूसो बल देते हैं। बालक की रुचि के अनुसार ही उसे श्रम करने एवं अध्यवसायी बनने की व्यवस्था होनी चाहिए। अध्ययन एवं निरीक्षण का अवसर भी उसकी रुचि के अनुसार ही प्रदान किया जाए। परंतु, रूसो इस अवस्था के लिए बालकों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति को ही विशेष रूप से जाग्रत करने पर बल देते हैं। जिज्ञासा के समाधान की प्रक्रिया में ही बालक की तर्क-शक्ति विकसित होगी तथा वह ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत्त होगा। इस अवस्था में बालकों को समाज का थोड़ा ज्ञान हो जाता है, अतः

इस अवस्था में शिक्षा द्वारा जिज्ञासा के साथ-साथ स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता का विकास होना चाहिए। बालक की शिक्षा ऐसी हो कि उसे श्रम करने का अवसर प्राप्त हो। रूसो बालकों को व्यावहारिक ज्ञान देना चाहते थे। वे पुस्तकीय शिक्षा के बड़े विरोधी थे। वे कार्य के आधार पर शिक्षा ग्रहण करने के समर्थक थे। वे किशोरों को वास्तविकता से परिचित कराना चाहते थे।

(४) युवावस्था (Adulthood) की अवधि पंद्रह से बीस वर्ष की अवस्था है। रूसो के विचारानुसार युवावस्था शिक्षा की दृष्टि से सभी अवस्थाओं से महत्त्वपूर्ण है। वास्तविक शिक्षा के लिए यह अवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पंद्रह से बीस वर्ष की अवधि में शिक्षा का उद्देश्य हृदय-पक्ष तथा भावनाओं का विकास प्रमुख होना चाहिए, जिससे बालक में नैतिक तथा धार्मिक गुण उत्पन्न हो सकें। रूसो का कहना है कि अब तक 'एमिल' के शरीर तथा ज्ञानेंद्रियों का विकास होता रहा, अब उसके हृदय-पक्ष की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस अवधि तक उसने अपने-आपको शिक्षा दी, अब युवावस्था में उसे समाज के लिए अपना संवेगात्मक विकास करना है, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक शिक्षा ग्रहण करनी है। शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था तक उसकी रुचियाँ उसी तक सीमित बनी रहीं, अपने-आप में वे केंद्रीभूत थीं; क्योंकि वह समाज से दूर, जन-संपर्क से विलग किया गया था, परंतु अब उसे समाज में लाना है; जिससे वह सामाजिक संबंधों तथा रीति-रिवाजों से पूर्णतः अवगत और परिचित हो सके। अब वह समाज का पूरा-पूरा अंग बन गया है। अतः, उसका समाजीकरण होना आवश्यक है; क्योंकि बालक अब समाज के मध्य प्रवेश करेगा और वहाँ संयमित, मर्यादित एवं उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक के रूप में जीवन-यापन कर एक आदर्श प्रस्तुत करेगा। युवकों को सामाजिक संबंधों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त करने के लिए इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा धर्म का अध्ययन अपेक्षित है। सामाजिक संबंधों के परि-ज्ञान से किशोरों का नैतिक विकास होगा, जिसके लिए वे अब प्रस्तुत हैं। इस अवस्था में मानव-जाति के साथ अपने संबंधों को जानना, युवकों के लिए आवश्यक है। नैतिक गुणों के विकास के लिए दीन, दुखी, पीड़ित, अनाथ और भिखारियों से उनका संबंध स्थापित होना चाहिए। इससे उनका भावनात्मक विकास होगा। रूसो इस अवस्था में बालक को भलाई और बुराई का ज्ञान कराना चाहते हैं। वे उनमें सहानुभूति तथा दया की भावना उत्पन्न करने के इच्छुक हैं। वे चाहते हैं कि किशोर अस्पताल में जाकर रोगियों को देखें। इससे उनमें करुणा तथा मानवता के गुणों का प्रस्फुटन होगा। उनका जीवन की सचाइयों से साक्षात्कार होगा और समाज में प्रवेश करने पर वे गुणयुक्त नागरिक बन सकेंगे। किशोरों में धार्मिक भावना

के विकास के लिए उन्हें प्रकृति के निकट ले जाया जाना चाहिए, ताकि वे प्राकृतिक धर्म को समझ सकें तथा अपने जीवन में धारण कर सकें। रूसो के विचार से धार्मिक शिक्षा का आधार भी विवेक और तर्क होना चाहिए।

किशोरावस्था में यौन-प्रवृत्ति के उदय के कारण महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। उसके मन में उद्वेगों और आवेशों का तूफान उठने लगता है। उसकी मानसिक प्रवृत्ति विषम-लिंगी बन जाती है। समवयस्क बालिकाओं में वह विशेष रुचि लेने लगता है। उनसे मिलने और बात करने की उसकी इच्छा होती है। अब वह अकेला जीवन नहीं व्यतीत करना चाहता। रूसो 'एमिल' के लिए कहता है—जब एमिल को साथी की आवश्यकता होगी, तो उसे अकेला नहीं छोड़ा जाएगा। किशोरों के समाजीकरण की व्यवस्था इसीलिए निर्मित की गई है, ताकि उनका विवेक विकसित हो तथा उनकी यौन-संबंधी प्रवृत्ति संयमित बनी रहे।

रूसो के शिक्षा-दर्शन की विशेषताएँ

पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में रूसो को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। उन्होंने अपने युग के मौलिक विचारक तथा प्रमुख दार्शनिक के रूप में परवर्ती युग का सर्व-प्रकारेण मार्ग-दर्शन किया। फ्रांस की राज्य-क्रांति में उनके निबंधों को प्रमुख श्रेय दिया जाता है।

शिक्षा और शैक्षणिक जगत में भी रूसो ने बड़ी क्रांति की। शिक्षा में राष्ट्रीय धारा का अभ्युदय तथा रुढ़िवाद का अंत हुआ। वे पुस्तकस्थ विद्या अथवा पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी थे। रटंत-विद्या, उपदेश-प्रणाली तथा शिक्षक और पाठ्य-क्रम को त्याग कर प्रकृति के नैसर्गिक वातावरण के मध्य स्थित होकर स्वच्छंद रूप में प्रकृति का निरीक्षण करते हुए वे बालकों एवं किशोरों के शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, नैतिक तथा धार्मिक उन्नति के पोषक थे। अब शिक्षक या विषय की अपेक्षा शिक्षा का केंद्र-बिंदु बालक बन गया। उसकी रुचि की महत्ता स्वीकार की गई। उन्होंने तत्कालीन विद्यालयों के कठोर एवं दुरुह वातावरण में सुधार कर हमारा बहुत हित-चिंतन किया। मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचलन हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में क्रियाशीलता, खेल एवं प्रयोगात्मक विधियों को अपनाया गया। रूसो क्रिया और स्वानुभव के आधार पर बालकों का सर्वांगीण उन्नयन चाहते थे। उन्होंने बालकों के समाजीकरण की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। नकारात्मक शिक्षा की उनकी कल्पना तत्कालीन समाज के लिए सर्वथा उपयोगी सिद्ध हुई। 'एमिल' पुस्तक के आधार पर समाज की स्त्रियाँ अपनी बालक-बालिकाओं का पालन-पोषण करने लगीं तथा पिता उनकी शिक्षा-व्यवस्था की ओर उन्मुख हुए। रूसो स्त्रियों में मातृत्व के गुण का विकास देखना चाहते थे। उन्होंने नारी का क्षेत्र उसका अपना घर ही निर्धारित किया है। व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से इस आदर्श की

कल्पना हमारे लिए रूसो की बहुत बड़ी देन है। बालकों के मर्यादित संतुलन एवं व्यवस्थित जीवन का विकास माता की अवधानता में ही संभव है। इसी दृष्टिकोण से 'सोफी' को वे एक आदर्श महिला बनाना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने लिखा है— "स्त्री सर्वदा स्त्री रहेगी" और "स्त्री की शिक्षा पत्नीत्व तथा मातृत्व तक ही सीमित रहनी चाहिए।" पुरुष की शिक्षा पूर्ण एवं व्यापक होनी चाहिए।

इस प्रकार रूसो की विचारधारा का बहुमुखी प्रभाव तत्कालीन एवं भावी समाज पर दृष्टिगत होता है। पेस्टालॉजी (१७४६ ई०-१८२० ई०) की उद्योग-प्रधानता, हरबर्ट (१७७६ ई०-१८४१ ई०) की नैतिकता एवं फ्रॉबेल (१७८२ ई०-१८५२ ई०) की सहकारिता पर रूसो की स्पष्ट छाप है।

रूसो की पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक 'एमिल' शिक्षा-जगत के लिए एक अमूल्य देन है। 'एमिल' प्रथम पुस्तक है, जो प्रकृति के अध्ययन एवं शारीरिक शिक्षा पर बल प्रदान करती है: 'ब्वॉएड' (Boyd) अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एडुकेशन' (History of Weatern Education) में 'एमिल' के संबंध में विचार व्यक्त करता है कि "रूसो की 'एमिल' कुछ विरोधाभासों तथा अतिशयोक्तियों के बावजूद अठारहवीं शताब्दी की शिक्षा-संबंधी सबसे उत्कृष्ट कृति है और यदि इसके प्रभावों को हम ध्यान में रखें, तो संभवतः यह शिक्षा पर रची गई पुस्तकों में प्रथम स्थान रखती है।" प्रकाशित होते ही पुस्तक 'एमिल' ने तत्कालीन प्रचलित विचारधारा में एक हलचल उत्पन्न कर दी। पोप की आज्ञा हुई—'एमिल जनपथ पर जला कर नष्ट कर दिया जाए।' परंतु, कॉन्ट एमिल पढ़ने में इतने एकाग्रचित्त हो गए कि अपना दैनिक कार्यक्रम भी भूल गए। पीछे कॉन्ट ने स्वीकार किया कि "रूसो ने ही मुझे सच्चे मार्ग पर लाया।"

रूसो-कृत पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक 'एमिल' के पाँच भाग हैं। यह एक काल्पनिक कृति है, जिसके चार पात्र हैं। प्रथम बालक एमिल, द्वितीय पात्री सोफी, तृतीय एमिल का शिक्षक तथा चतुर्थ स्वयं लेखक हैं, जो किसी-न-किसी रूप में समस्त पुस्तक में दिखलायी देते हैं। सोफी से एमिल की शादी हो जाती है तथा वह उसकी जीवनसंगिनी बनती है। पुस्तक के प्रथम भाग में शैशवावस्था की शिक्षा, द्वितीय भाग में बाल्यावस्था की शिक्षा, तृतीय भाग में किशोरावस्था की शिक्षा तथा चतुर्थ भाग में युवावस्था की शिक्षा की विवेचना की गई है। पुस्तक का पाँचवाँ भाग स्त्री-शिक्षा के विषय में प्रकाश डालता है। इस भाग में सोफी, एमिल के साथ व्याह दी जाती है, ताकि वे अपने भावी जीवन में सुख-शांति के साथ रहें; क्योंकि दोनों की शिक्षा अब समाप्त हो चुकी '

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि रूसो ने शिक्षा के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। समाज और शिक्षा-जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा। प्रायः सभी परवर्त्ती शिक्षाशास्त्री उनका प्रभाव स्वीकार करते हैं। तथापि रूसो-प्रदत्त उनकी शिक्षा-प्रणाली में कुछ त्रुटियाँ बतलायी जाती हैं, जिन्हें हम निम्नांकित रूप में देख सकते हैं—

(१) रूसो के विचारानुसार बालकों को अनुशासन की शिक्षा प्राकृतिक परिणामों के आधार पर मिलनी चाहिए। उनका विचार है 'लेट् दि चाइल्ड सफर' (Let the child suffer) अर्थात् बच्चे को अपने कार्य का परिणाम भोगने दें। अगर किसी बालक ने खिड़की का शीशा तोड़ दिया, तो उसको खिड़की के पास बैठने और सोने दिया जाए, जिससे वह ठंढक और ठंढक के परिणाम एवं क्लेश को भोगे। तत्पश्चात् इससे उदाहरण ग्रहण करे। अगर बच्चा एक तेज चाकू ले लेता है, तो उसे मना नहीं किया जाए तथा यह नहीं बतलाया जाए कि तुम्हारा हाथ इससे कट जाएगा तथा तुम्हें क्लेश और पीड़ा होगी। ऐसा संभव नहीं हो सकता। प्राकृतिक दंड-विधान-पद्धति संकुचित और अविचारपूर्ण शिक्षा-योजना है। हम अपने बालकों को प्राकृतिक दंड भुगतने के लिए नहीं छोड़ सकते। वाह्य नियंत्रण आवश्यक और स्वाभाविक है।

(२) रूसो ने बतलाया कि बारह वर्ष की उम्र तक बालकों का केवल शारीरिक विकास किया जाए। उन्हें स्वानुभव के आधार पर शिक्षा दी जाए तथा पुस्तकीय विद्या से बिलकुल अलग रखा जाए। परंतु, हमलोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि शारीरिक और मानसिक विकास साथ-साथ होता रहता है। रूसो मनोविज्ञान से पूर्णतः भिन्न नहीं मालूम पड़ते। शारीरिक और मानसिक उन्नति साथ-साथ होती रहती है।

फिर अगर बारह वर्ष तक बच्चों के मानसिक उन्नयन की ओर हम ध्यान नहीं देंगे, तो सामाजिक अहित के भागी बनेंगे। बच्चे आवारा बन जाएँगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि बालकों का शारीरिक विकास इस अवस्था में पूर्णरूपेण हो, परंतु उनका मानसिक विकास भी अछूता नहीं रहे।

(३) रूसो निम्न वर्ग (Poors) के लोगों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे। गरीबों के लिए वे किसी शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वे उन्हें केवल श्रमिक बनाना चाहते हैं। निम्न वर्ग के व्यक्तियों के साथ वे बहुत संकीर्ण मनोवृत्ति रखते हैं। जनतांत्रिक युग के लिए ऐसी बात सर्वथा अशोभनीय तो है ही, असंभव भी है। शिक्षाशास्त्री मांटेन (१५३३-१५९२ ई०) ने भी शिक्षा को अमीर और धनी व्यक्तियों के लिए बतलाया है। परंतु, लूथर (१४८३-१५४६ ई०) तथा कॉमेनियस (१५९२-१६७० ई०)-जैसे जगतप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा को

सार्वलौकिक रूप देने की बात बतलायी है। जनतंत्र की आधारशिला आज प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित बना कर ही अवस्थित रह सकेगी। शिक्षा को किसी एक वर्ग के लिए बनाना सामाजिक पाप है। अतः, रूसो का का यह विचार आलोचना का विषय है।

(४) रूसो स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। स्त्री-शिक्षा संबंधी उनके विचार भी बड़े संकीर्ण हैं। जहाँ जगतविख्यात दार्शनिक प्लेटो (४२० ई० पू०-३४८ ई० पू०) स्त्री-पुरुष की प्रकृति में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते तथा यह विश्वास करते हैं कि पुरुष जिन कार्यों को करने की क्षमता रखते हैं, उसके लिए स्त्रियाँ भी समर्थ हैं, वहाँ रूसो बतलाते हैं कि स्त्रियों का मुख्य कार्य आज्ञापालन है और उन्हें पुरुषों को प्रसन्न बनाए रखने की कोशिश करनी चाहिए। रूसो ने स्त्रियों का क्षेत्र मात्र घर तक रख कर संकुचित कर दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्रियों का स्वभाव कोमल और विनम्र होता है तथा वे शारीरिक दृष्टि से पुरुषों से कमजोर होती हैं, परंतु इसी से उन्हें हम शिक्षित बनने से वंचित नहीं रख सकते। स्त्रियाँ पुरुष के समान ही दक्षता और चतुराई से वीरतापूर्ण कार्य कर सकती हैं, अगर उन्हें शिक्षित बनाया जाए। अशिक्षित माता अपने बालकों को कभी वीर, बलवान, स्वस्थ और सफल नागरिक नहीं बना सकेगी। प्रथम शिक्षिका तो माता ही है। अशिक्षित माता से राष्ट्र का बहुत अहित होगा, अतः रूसो का यह विचार जनतंत्रात्मक युग के अनुकूल नहीं।

(५) रूसो के अनुसार बच्चों को सामाजिक वातावरण से दूर रखना चाहिए। समाज से अलग उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाए। परंतु, हमलोग जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे समाज में रहना है। सामाजिक हित के लिए उसके समस्त कार्य-कलाप होने चाहिए। बालक को समाज से दूर रखने का सिद्धांत त्रुटिपूर्ण है। समाज से अलग रखने पर उसे जीवन की परि-स्थितियों से साक्षात्कार और अनुभव का अवसर नहीं मिलेगा और अंततोगत्वा उसे अपने भावी जीवन में कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। अगर समाज में त्रुटि है, तो उसका ही सुधार श्रेष्ठ है।

(६) रूसो का विचार आशावादी नहीं, अपितु निराशावादी है। वे समाज के संबंध में अपना निराशावादी विचार देते हैं।

(७) प्रकृति शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। इसके कई अर्थ बतलाए जाते हैं।

(८) रूसो की निषेधात्मक शिक्षा दोषयुक्त है। वे पुस्तकों, शिक्षकों एवं समाज की अवहेलना कर पूर्वसंचित अनुभवों का बहिष्कार चाहते हैं।

(९) रूसो बालक को 'स्वानुभव' द्वारा ज्ञान प्राप्त कराने की बात बत हैं, परंतु भौतिकवादी सभ्यतायुक्त समाज एवं विस्तृत संसार की समस्त बातें स्वानु के आधार पर सीखना असंभव है। ज्ञान का मार्ग-दर्शन होना चाहिए। भार शास्त्र में भी बतलाया गया है—"महाजनो येन गतः स पंथाः।"



अध्याय १६

पेस्टालॉजी

"शैक्षिक क्रांति के आधार पर समाज और जन-जीवन में आमूल परिवर्तन किया जा सकता है"—इस सिद्धांत के प्रमुख पोषक जॉन हेनरी पेस्टालॉजी (John Henery Pestalozzi) का जन्म १२ जनवरी, सन् १७४६ ई० में स्विटजरलैंड के जूरिख (Zurick) नामक स्थान में हुआ था। पेस्टालॉजी के पिता, जो एक चिकित्सक का कार्य करते थे, असमय में ही काल-कवलित हो गए। पेस्टालॉजी की अवस्था इस समय मात्र पाँच वर्ष की थी। उनके एक भाई और बहन भी थे। इन तीन बच्चों के भरण-पोषण की जिम्मेवारी विधवा माँ को ही करना पड़ा। पेस्टालॉजी की माँ को एक दाई ने, जिसका नाम बबेली था, बड़ी सहायता पहुँचायी। बबेली, पेस्टालॉजी के पिता के समय से ही उसके यहाँ कार्य करती थी। पेस्टालॉजी के पिता ने अपने अंतिम क्षण में बबेली को बुला कर कहा था—"तुम मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरी धर्मपत्नी को नहीं छोड़ना, नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद उसका क्या होगा ?" बबेली ने जीवन-पर्यन्त इस उत्तरदायित्व को निभाया।

पेस्टालॉजी के पिता की मृत्यु के पश्चात् इसके परिवार की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई। पेस्टालॉजी की माँ ने धैर्यपूर्वक बबेली की सहायता से इन कष्टों का वहन करते हुए उसके पढ़ने-लिखने और उन्नति करने की सुव्यवस्था की, जिसके फलस्वरूप वह हमलोगों के समक्ष विश्व का एक महान् मानवतावादी एवं प्रमुख शिक्षाशास्त्री के रूप में उपस्थित है।

पेस्टालॉजी आधुनिक योरोपीय शिक्षाशास्त्र के जनक के रूप में सम्मानित किए जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अत्यंत उल्लेखनीय कार्य किए हैं। प्रसिद्ध विद्वान बेल (Bell) उनकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं "पेस्टालॉजी महाद्वीपीय पद्धति का अति उदारमति पिता है।" मनरो लिखते हैं—"शिक्षा के क्षेत्र में उसने इतनी महान्

क्रांति उत्पन्न कर दी कि 'उसके गुरु, अपने अध्यापकों तथा अनुयायियों ने उसे 'पित पेस्टालॉजी' कहा है।"

"........... he may yet be costed, as he was, be his own teachers and followers; Father Pestalozzi."

—Monroe

फ्रॉबेल, और हरबार्ट-जैसे विद्वान पेस्टालॉजी के शिष्य थे। इनलोगों ने उनसे अध्यापन-कला का ज्ञान प्राप्त किया था। नूतन कक्षा-वातावरण-संगठन, इंद्रिय शिक्षण स्वानुभूति के सिद्धांत, (आंशवांग थ्यूरी) आदि का सूत्रपात पेस्टालॉजी ने ही किया। वे प्रथम शिक्षाशास्त्री थे, जिसने सामान्य जनता के समक्ष यह स्पष्ट किया कि शिक्षा की संपूर्ण समस्याओं का निर्धारण बालक के मस्तिष्क के विकास को भी केंद्र-बिंदु मान कर किया जाए।

शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के साथ-साथ समाज की पुनर्व्यवस्था को भी पेस्टालॉजी ने प्रभावित किया।[1] उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य में हमें वैयक्तिक एवं सामाजिक लक्ष्यों का समन्वय मिलता है।

पिछले पृष्ठों में मैंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि पेस्टालॉजी अल्पायु में ही पितृविहीन हो गए तथा उनकी माँ ने दासी बबेली की सहायता से उनका लालन-पालन कर पढ़ने-लिखने की सुव्यवस्था की तथा प्यारपूर्ण एवं स्वस्थ वातावरण में उनको पुष्पित-पल्लवित होने का सुअवसर दिया। अपनी माँ एवं बबेली से प्राप्त प्यार के फलस्वरूप पेस्टालॉजी बड़े ही भावुक, कल्पनाशील, स्वप्नद्रष्टा एवं लज्जाशील व्यक्ति बन गए। पेस्टालॉजी का विचार है कि माता के संरक्षण ने उनमें अत्यधिक सुकुमारता उत्पन्न कर दी। पिता की आकस्मिक मृत्यु ने उनके व्यक्तित्व-गठन को बहुत प्रभावित किया था।

पेस्टालॉजी के पितामह, जो उनके पिता की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित थे, उनकी उन्नति में बड़े सहायक सिद्ध हुए। वे एक किसान थे और ज़ूरीख से तीन मील की दूरी पर एक गाँव में रहते थे। पेस्टालॉजी उनके पास अपनी छुट्टियाँ व्यतीत करने जाते थे। यहाँ आकर वे प्राकृतिक छटा का आनंद लेते थे। रूसो के समान पेस्टालॉजी के जीवन में भी प्रकृति की मनोहारिता और अकृत्रिम सौंदर्यलीला ने बहुत बड़ी छाप छोड़ी तथा उनके शिक्षा-दर्शन को प्रभावित किया। अपने पितामह के पास बाल्यावस्था में ही उनको समाज में व्याप्त गरीबी का नग्न रूप देखने का अवसर मिला। वे अपने पितामह के साथ गरीब और बीमारों को देखने जाते थे।

1. vide, 'History of Education.'—M. M. Thomption.

दुःख देखने के फलस्वरूप उनको एक प्रेरणा मिली और उन्होंने निश्चय किया कि भविष्य में वे एक समाज-सुधारक बनेंगे।

पेस्टालॉजी ने प्रारंभिक विद्यालय और तब लैटिन स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। जूरीख में लैटिन स्कूल के बाद उच्च शिक्षा का भी प्रबंध था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में यहाँ आ सके, नामांकन हुआ। उन्होंने यहाँ ऐसा अनुभव किया कि प्रशिक्षण अधूरा है। उच्च शिक्षा उस समय दो चक्रों में विभक्त थी। प्रथम चक्र में दो वर्ष की अवधि की साहित्यिक शिक्षा और द्वितीय चक्र में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था थी। उन्होंने दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त की। कालेज की शिक्षा में वे व्याकरण पठन में बहुत कम रुचि लेते थे। उनके कथनानुसार उनमें उच्च शिक्षा को क्रमबद्ध रूप से ग्रहण करने की क्षमता नहीं थी; क्योंकि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पहले से उनकी शिक्षा अपूर्ण थी। यहाँ उन्होंने ऐसा भी विचार किया कि प्रशिक्षण 'व्यावहारिक योग्यता के समुचित ठोस प्रशिक्षण' की अवहेलना करता है। उनके इस विचार ने व्यावहारिक पुस्तकीय शिक्षा तथा अक्रियाशील विचारों के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना को जन्म दिया। जूरीख में उन्होंने रूसो की रचनाओं का अध्ययन किया और वे उनकी पुस्तक 'एमिल' से बहुत प्रभावित हुए। इस समय उनकी अवस्था मात्र पंद्रह वर्ष की थी। इस स्थल पर हमें यह जान लेना चाहिए कि वे रूसो से बहुत प्रभावित हुए थे और रूसो की विचारधारा ने उनके जीवन-दर्शन, सामाजिक दर्शन एवं शिक्षा-दर्शन पर स्पष्ट छाप छोड़ी है।

पेस्टालॉजी अपनी प्रारंभिक अवस्था में वकील बनने की इच्छा रखते थे, परंतु वे कृषि की ओर मुड़े। एक आदर्श किसान बन कर उन्होंने कृषकों के दुःखमय जीवन में सुधार लाना चाहा। अतः, वे कृषि-कार्य में लगे। उन्होंने जूरीख के निकट ही न्यू हॉफ (Neuhof) में सौ एकड़ भूमि कर्ज लेकर खरीदी और नई कृषि-प्रणाली के आधार पर वह खेती करने लगे। न्यू हॉफ में ही १७६९ ई० में उन्होंने अनाशुलथेसस नाम की एक बुद्धिमान स्त्री से विवाह किया और १७७० ई० में उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यहाँ उन्होंने अपने शिक्षा-सिद्धांत के कई आधारभूत तत्त्वों का अनुभव किया तथा अपने बालक को 'एमिल' के आधार पर प्रशिक्षित एवं विकसित करने का यत्न किया। अपने बालक की शिक्षा के समय प्राप्त होने वाले नए अनुभवों को वे लिखते जाते थे। इन प्रयोगों के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि रूसो के सिद्धांत में संशोधन की आवश्यकता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि स्वाभाविक वातावरण बालक को अपने घर में ही प्राप्त होता है। यदि बालक के उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाए, तो उसके जीवन और चरित्र में अवश्य विकास होगा। खेती के कार्य के लिए वे अनुपयुक्त साबित हुए। सन् १७७५ ई० तक न्यू-

हॉफ में उनका 'कृषि-कार्य' प्रयोग पूर्णतः असफल हो गया। इस घटना से उनकी आर्थिक स्थिति को बहुत धक्का लगा।

औद्योगिक विद्यालय

सन् १७७५ ई० से १७८० ई० तक पेस्टालॉजी निर्धन वालकों के लिए एक स्वालंवी औद्योगिक विद्यालय का संचालन करते रहे। इस विद्यालय में निर्धन एवं अनाथ बालकों को संपूर्ण कलाओं तथा कताई-बुनाई एवं खेती की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ बालकों के लिए नैतिक और धार्मिक शिक्षा की भी व्यवस्था की गई थी। इस विद्यालय में गर्मी के समय विद्यार्थी खेती का काम करते थे तथा शीत ऋतु में कताई-बुनाई की शिक्षा पाते थे। अवकाश के समय वे पढ़ना-लिखना तथा गणित सीखते थे। इस शिक्षा से वालकों को बहुत लाभ हुआ और अल्प समय में ही उनके शरीर, मस्तिष्क एवं नैतिक जीवन में आशातीत उन्नति हुई। परंतु, अर्थाभाव के कारण विद्यालय वहुत दिनों तक चल नहीं सका और बंद हो गया। पेस्टालॉजी ने इस प्रसंग में लिखा—"वर्षों तक लगभग पचास भिखारियों के मध्य मैंने अपना जीवन-यापन किया। मैं अपने भोजन को बाँट कर खाता था तथा उन भिखारियों को मनुष्यों के समान जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने के लिए स्वयं भिखारी वन गया।"

स्टैंज नामक गाँव में

सन् १७९८ ई० में पेस्टालॉजी को स्विटजरलैंड की सरकार ने एक प्रशासनिक पद पर नियुक्त किया, परंतु उनको यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ और उन्होंने एक शिक्षक बनने की इच्छा प्रकट की। पेस्टालॉजी ने कहा—"मैं एक अध्यापक बनना चाहता हूँ" और 'स्टैंज' (Stang) नामक गाँव में वे अध्यापक का कार्य करने लगे। यहाँ उन पर अस्सी अनाथ बच्चों का उत्तरदायित्व था। वे यहाँ बहुत प्रसन्न थे। इस विद्यालय का उन्होंने इस स्वाभाविक गति पर गठन किया कि यहाँ बालकों का सर्वप्रकारेण विकास संभव था। उन्होंने अनुभव एवं निरीक्षण द्वारा बालकों की शिक्षा का प्रबंध किया। पेस्टालॉजी के शिक्षा के आधारभूत सिद्धांतों का बीज इसी विद्यालय में अंकुरित हुआ। यहाँ का समस्त वातावरण घर (परिवार)-जैसा था। परंतु, पेस्टालॉजी केवल पाँच महीने ही इस विद्यालय में रह पाए और वर्गडार्फ (Burgdorf) में सहायक शिक्षक होकर चले गए।

वर्गडार्फ में

वर्गडार्फ में पेस्टालॉजी १८०० से १८०४ ई० तक रहे। यहाँ उन्होंने अपनी शिक्षा के लक्ष्य का उद्घाटन किया और लिखा—"मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ।" ट्रेनिंग कॉलेजों की स्थापना की दिशा में पेस्टालॉजी का यह

प्रारंभिक प्रयास था। १८०० से १८०४ ई० तक वर्गडार्फ में उनका प्रयोग चलता रहा, परंतु १८०४ ई० के आसपास इस विद्यालय को बंद करना पड़ा; क्योंकि जिस पुराने किले की इमारत में वर्गडार्फ का विद्यालय चलता था, उसे अधिकारियों ने ले लिया। इस चार वर्ष की अवधि में पेस्टालॉजी ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'हाउ गर्ट्रूड टीचेज हर चिल्ड्रेन' (How Gertrude Teaches Her Children) की रचना की। इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि कैसे माताओं को अपने बालकों का निरीक्षण करना चाहिए।

यवर्डन में

वर्गडार्फ विद्यालय के बंद होने के पश्चात् १८०५ ई० में पेस्टालॉजी ने यवर्डन (Yverdon) में दूसरे विद्यालय की स्थापना की। यवर्डन में वे १८०५ ई० से १८२५ ई० तक रहे तथा अपनी पत्नी और कुछ अविवाहित अध्यापिकाओं के साथ एक परिवार के समान इस विद्यालय को चलाते रहे। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य था—'शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा शैक्षिक सुधार के लिए प्रयोगात्मक रूप का प्रस्तुतीकरण।' इस विद्यालय की बहुत प्रसिद्धि हुई। देश-विदेश के शिक्षक इस संस्था में मार्ग-दर्शन हेतु आने लगे। यवर्डन, समस्त यूरोप में एक 'शिक्षा-तीर्थ' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। हरवार्ट, फ्रॉबेल, रावर्ट, ओवेन, डॉ० मेयो-जैसे विद्वानों ने यहाँ की शिक्षा-पद्धति एवं अध्यापन-कला से अनुभव ग्रहण किया था।

पेस्टालॉजी का यह विद्यालय कई वर्षों तक बहुत शांतिपूर्ण वातावरण में चलता रहा, परंतु कालांतर में कलह ने यहाँ घर कर लिया। पेस्टालॉजी और उनके सहयोगियों में मतभेद हो गया। मतभेद का रूप शनैः-शनैः विकृत ही होता चला गया और अंत में निराश होकर पेस्टालॉजी ने अपनी संस्था बंद कर दी। इस घटना से उनकी भावनाओं को गहरी ठेस लगी। अपने विरोधियों के प्रत्युत्तर में उन्होंने क्लिरॉडी में यद्यपि पुनः नए विद्यालय की स्थापना की, परंतु उनकी अवस्था अब अधिक हो चली थी। उन्हें इन घटनाओं से मानसिक क्लेश भी हुआ। उनके जीवन के अंतिम दिन कष्ट में वीते। पेस्टालॉजी की पत्नी पहले ही दिवंगत हो गई थी। सन् १८२७ ई० की १७ फरवरी को निर्धनों के संरक्षक, मानवता के शिक्षक, अनाथों के पिता विश्व के इस महान् शिक्षाशास्त्री का देहांत हो गया।

पेस्टालॉजी की रचनाएँ

१. पेस्टालॉजी की सर्वप्रथम पुस्तक 'दि ईवनिंग आवर ऑफ ए हरमिट' (The Evening Hour of a Hermit) १७८० ई० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक से पेस्टालॉजी पर रूसो के प्रभाव और प्रकृतिवाद की छाया का पता लगता है। इस पुस्तक की भाषा कठिन थी।

२. पेस्टालॉजी की लोकप्रिय पुस्तक 'ल्योनार्ड एँड गर्ट्रूड' (Leonard and Gertrude) १७८१ ई० में प्रकाशित हुई। पेस्टालॉजी ने इस पुस्तक में शिक्षा की प्रबल शक्ति को प्रतिपादित करते हुए ऐसा वतलाया है कि इसके माध्यम से हमलोग अपनी और अपने समाज की उन्नति करने में पूर्ण समर्थ हो सकते हैं। यह पुस्तक एक उपन्यास के रूप में लिखी गई है। इसमें साधारण ग्रामीण जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पेस्टालॉजी ने इस पुस्तक में सामान्य जनता को नवीन शिक्षा के रूप से परिचित कराया है तथा इस तथ्य का उल्लेख किया है कि ग्रामों के उत्थान में शिक्षा ही सहायक हो सकती है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् वे एक महान् शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हो गए। अव इनके पास देश-विदेश के दार्शनिक और विद्वान् आने लगे। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के राजकुमार इस शिक्षाशास्त्री से ज्ञान ग्रहण करने के लिए भेजे गए।

३. 'क्रिस्टोफर एँड एलिजाबेथ' (Christopher and Elizabeth) का प्रकाशन १७८२ ई० में हुआ। यह भी पेस्टालॉजी की एक प्रसिद्ध पुस्तक मानी जाती है।

४. पेस्टालॉजी १८०० ई० से १८०४ ई० तक वर्गडार्फ में विद्यालय चलाते रहे। यहाँ उन्होंने 'हाउ गर्ट्रूड टीचेज हर चिल्ड्रेन' की रचना की।

५. अपनी पुस्तकों के प्रकाशन के कारण पेस्टालॉजी की प्रसिद्धि हो रही थी। पुस्तकों के कारण ही १७९२ ई० में वे प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक फिखटे के संपर्क में आए। फिखटे ने पेस्टालॉजी से किसी अवसर पर कहा था–"समाज के पुनरुद्धार के लिए शिक्षा का ही अव सहारा रह गया है।" फिखटे की प्रेरणा से पेस्टालॉजी ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "माई इनवेस्टिगेशन्स इन टु दि कोर्स ऑफ नेचर इन दि डेवलपमेंट ऑफ दी ह्यूमन रेस" (My Investigations into the course of Nature in the Development of the Human Race) की रचना की।

६. 'दि आन्शवांग' (The Anschaunng)

७. 'माई एक्सपिरिएन्सेज' (My Experiences) नामक दो रचनाओं में पेस्टालॉजी ने अपने शैक्षणिक अनुभवों का उल्लेख किया है।

पेस्टालॉजी का शिक्षा-सिद्धांत

१. शिक्षा मानव-विकास और सामाजिक उत्थान का सर्वश्रेष्ठ साधन

(क) मानव-विकास :

पेस्टालॉजी ने इस तथ्य पर वहुत वल दिया है कि शिक्षा ही एकमात्र वह अलौकिक शक्ति है, जिसके द्वारा वालकों को पूर्ण मानव वनाया जा सकता है। उनका

हृदय मानव-प्रेम से भरा हुआ था और वे सच्ची एवं संपूर्ण निष्ठा से मानव का कल्याण चाहते थे। अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने कठिनाइयों का सामना किया था, अतः दुःख-तकलीफ क्या है, इसका उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया था। गरीबी से मानवता के कल्याणार्थ उन्होंने 'शिक्षा'-की शक्ति को पहचाना। पेस्टालॉजी के शब्दों में-'शिक्षा मानव की संपूर्ण शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील तथा सामंजस्यपूर्ण विकास है।'[1] पेस्टालॉजी शिक्षा को प्रकृतिगत विकास मानते थे। उनके अनुसार यह विकास सर्वांगीण और संतुलित होना चाहिए। सर्वांगीण विकास से उनका तात्पर्य है—मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति। सर्वांगीण के साथ-साथ वे सामंजस्य-पूर्ण विकास चाहते हैं, शिक्षा द्वारा ही ऐसा संभव है। बालकों एवं किशोरों को 'मानव' बनाने की क्षमता एकमात्र उचित शिक्षा में ही है। अतः, विकास के लिए 'शिक्षा'-जैसे साधन को अपनाना चाहिए।

(ख) सामाजिक अभ्युत्थान :

पेस्टालॉजी में समाज-सुधार की भावना थी। समाज-सुधार की भावना से पूर्ण होने के कारण ही उन्होंने शिक्षा को सामाजिक अभ्युत्थान का प्रभावशाली माध्यम स्वीकार किया। उन्होंने जन-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया और बतलाया कि शिक्षा समाज के अभ्युत्थान का सर्वश्रेष्ठ साधन है। शिक्षा सामाजिक एवं सार्वभौमिक व्यवस्था है।

२. शिक्षा का स्वरूप सार्वलौकिक

पेस्टालॉजी शिक्षा को सभी के लिए सुलभ बनाने के पक्ष में थे। उनका विचार था—शिक्षा का स्वरूप सार्वलौकिक हो। अमीर-गरीब सभी शिक्षित बनें। अगर शिक्षा में बालक को मानव बनाने की क्षमता है, अगर शिक्षा द्वारा समाज-सुधार संभव है, तो शिक्षा का स्वरूप सार्वलौकिक होना ही चाहिए। पेस्टालॉजी ने मांटेन, लॉक और रूसो के उस सिद्धांत का खंडन किया है कि 'शिक्षा केवल अमीरों के लिए है।' रूसो निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा देने के पक्ष में नहीं थे।[2] मांटेन शिक्षा को अमीरों की थाती बना देना चाहते थे। लॉक भद्र पुरुषों के बच्चों के साथ गरीब बच्चों को शिक्षा देने के विरुद्ध थे। मानवतावादी पेस्टालॉजी ने मार्टिन लूथर और कॉमेनियस के साथ सहमति प्रकट करते हुए बतलाया है कि प्रत्येक बच्चे के

1. "Education is the natural progression and harmonious development of all the powers and faculties of the human being."
—Pestalozzi.

2. "The poor has no need of Education............" —Emile.

शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए उसकी शिक्षा की कल्पना की जाए। रूसो जो 'एमिल' के लिए करना चाहते हैं, पेस्टालॉजी उसे समाज के प्रत्येक बच्चे के लिए करना चाहते हैं।

३. मानव-जीवन सुखी बने

पेस्टालॉजी चाहते थे कि मानव का जीवन सुखी हो। पिछले पृष्ठों में मैंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उनका बाल्यकाल ही नहीं, अपितु प्रौढ़ावस्था भी दुःखपूर्ण ही बीता। उनके जीवन में सुख के क्षण बहुत कम आए। गरीबी और कष्टमय जीवन का उन्हें स्वतः अनुभव था। अतः, वे चाहते थे कि समाज के व्यक्ति सुखी हों। सुख की प्राप्ति हेतु उन्होंने शिक्षा की अलौकिक शक्ति को माध्यम बनाया। शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए उन्होंने 'मानव-जीवन को सुखी बनाना' बतलाया। पेस्टालॉजी देखते थे कि उनके निकट के व्यक्ति दुःखी हैं। उनके दुःख से इस महान् शिक्षाशास्त्री को बहुत क्लेश होता था और उनके दुःख को उन्होंने दूर करने की चेष्टा की। वे अपने विद्यार्थियों के मध्य बैठ कर भोजन करते थे। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है—'आह।.........युवावस्था से ही मेरा हृदय मेरे एकमात्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उद्वेलित हो उठा है और वह उद्देश्य है उन क्लेशों के मूल कारण को नष्ट करना, जिनमें चारों ओर लोग डूबे हुए हैं।"[1] क्लेश के निवारणार्थ उन्होंने शिक्षा की शक्ति को आधार माना। सार्वलौकिक शिक्षा के लक्ष्य को प्रतिपादित करने में उनका यही लक्ष्य था कि समाज के सभी व्यक्ति शिक्षित बनें। शिक्षा द्वारा मानव-जीवन सुखी बने—इस सिद्धांत का पोषण अरस्तू ने भी किया है। अरस्तू का विचार है कि सुंदर स्वास्थ्य, अच्छे परिवार, सम्मान, अवकाश का सदुपयोग, सुंदर चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास से ही हमें सच्चे सुख की प्राप्ति होगी। शिक्षा का काम है कि इन शक्तियों को वह व्यक्ति में उत्पन्न करे।

४. समस्त शक्तियों का सर्वांगीण विकास

पेस्टालॉजी ने हमारी समस्त शक्तियों के विकास की चेष्टा की। कोई व्यक्ति सुखी तभी रह सकता है, जब व्यवस्थित शिक्षा के माध्यम द्वारा उसकी मानसिक,

---

1. "Ah! ...... ever since my youth, has my heart moved on like a mighty stream alone and lonely, towards my one sole end—to stop the sources of the misery in which I sow the people around me sunk."—Pestalozzi, How Gertrude Teaches Her Children. Page 9. Translated by L. E. Holland and F. C. Turner, Syracuse, C. W. Bardun, 1894

शारीरिक और नैतिक तीनों प्रकार की शक्तियों का समुचित विकास हो। पेस्टालॉजी ने शिक्षा की परिभाषा "मनुष्य की समस्त शक्तियों एवं गुणों के नैसर्गिक, प्रगतिशीलएवं सर्वांगीण विकास के रूप में दी है।" उनके विचारानुसार बालक की प्रवृत्ति का विशिष्ट एकांगी विकास सर्वथा अप्राकृतिक एवं निराधार है। मनुष्य की संपूर्ण शक्तियों की पूर्णता में ही—'शिक्षा' नाम की सार्थकता है। बालक को मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक सभी रूप में पूर्णतः विकसित होने में सहायता पहुँचाना ही वास्तविक शिक्षा का प्रमुख और एकमात्र उद्देश्य है। शिक्षा की सफलता उसी में है जब कि हमारे मस्तिष्क, हृदय और हाथ का उचित प्रशिक्षण हो।

५. नैतिक पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण

पेस्टालॉजी ने मानव-जीवन को सुखी-संपन्न बनाने के लिए जन-शिक्षा के सिद्धांत द्वारा हमारे मानसिक, शारीरिक और नैतिक तीनों पक्षों को परिष्कृत करने की बात तो बतलायी है, परंतु इन तीनों में नैतिक पक्ष ही उन्हें विशेष मान्य है। नैतिक पक्ष को वे समस्त गुणों का केंद्र-बिंदु मानते हैं। उनका विचार है कि मानव का नैतिक जीवन सर्वप्रमुख है तथा मानसिक एवं शारीरिक गुण सहायक हैं। मनुष्य को अपने बौद्धिक गुण का पूर्ण विकास करना चाहिए। उसे निर्माणात्मक कार्यों में भी रत होना चाहिए तथा उत्पादन की क्रिया को सीखना चाहिए, किंतु उपरोक्त दोनों गुण ही मानव-जीवन के लक्ष्य नहीं। पेस्टालॉजी कहते हैं कि "मनुष्य के नैतिक और धार्मिक पक्ष का विकास ही मेरी संपूर्ण शिक्षा-विधि की आधारशिला है।" शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करने में है। पूर्ण व्यक्तित्व में अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व से तथा चरम सत्ता से संबंध स्थापित करने का गुण वर्त्तमान रहता है। नैतिक और धार्मिक जीवन का ही यह कार्य है कि वह अन्य शक्तियों में परस्पर संबंध स्थापित करे तथा एकात्म कर दे।

पेस्टालॉजी के ये उपयुक्त विचार सुप्रसिद्ध भारतीय शिक्षाशास्त्री राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, योगीराज अरविंद और भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् से मिलते हैं। उन लोगों ने भी नैतिक और धार्मिक शिक्षा को अपने पाठ्य-क्रम का आवश्यक अंग माना है। राधाकृष्णन् नैतिक शिक्षा के संबंध में बतलाते हैं कि इससे जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हुए बिना जीवन अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी देश की महानता उसकी भौतिक सभ्यता से नहीं, बल्कि उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति से आँकी जानी चाहिए। शिक्षा में व्यावसायिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए चाहे कितने ही प्रयास किए जाएँ, नैतिक शिक्षा के बिना शिक्षा का वास्तविक और उचित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। आजकल नैतिक शिक्षा का महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया है कि संसार को भावी विश्वयुद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए मानव प्राणियों की नैतिकता ही एकमात्र आधार है। नैतिकता की शिक्षा के लिए परिवार और विद्यालय दो प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ संस्थाएँ हैं।

राधाकृष्णन् ने लिखा है—"हमें उचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए, किंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न मनुष्य नहीं बन जाए। पूर्ण मनुष्य के लिए आत्मा का आनंद एवं सौंदर्य आवश्यक है जो प्रेम, आस्था तथा पुनर्जीवित मानवता के लिए कार्य करने की क्षमता से परिपूर्ण हो।"[1]

अरस्तू ने साहस, सहिष्णुता, उदारता, दया, विशालता, उच्च विचार, सत्य, तीव्र बुद्धि, मित्रता, विनय एवं शुभाचरण को मनुष्य के नैतिक गुणों के अंतर्गत बतलाया है।

६. शिक्षा में व्यावहारिकता

पेस्टालॉजी प्रथम शिक्षाशास्त्री हैं, जिन्होंने शिक्षा में व्यावहारिकता के मूल्य को स्वीकार किया। वे व्यवसाय और शिक्षा को एक साथ रख कर व्यावहारिकता से विद्यार्थियों को परिचित कराना चाहते थे। उन्होंने व्यवहार रूप में इस सिद्धांत के प्रचलन की भी व्यवस्था अपने विद्यालयों में की। उनका स्पष्ट विचार है कि पाठ्यक्रम को पूर्ण व्यावहारिक होना चाहिए। इस स्थल पर हमें यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि पेस्टालॉजी इस सिद्धांत के पोषक थे कि बौद्धिक शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण दोनों की व्यवस्था एक साथ की जाए, किंतु सामान्य शिक्षा, धनोपार्जन-संबंधी शिक्षा से विशेष महत्त्वपूर्ण है। अतः, हमलोग इसको सर्वप्राथमिकता दें। किसी विशेष उद्योग में प्रशिक्षित होने से पूर्व मानवीय प्रकृति के उत्थान और उसकी आधारभूत शक्तियों पर विचार का ज्ञान आवश्यक है।

७. शिक्षालय में परिवार का रूप-चित्रण

पेस्टालॉजी इस सिद्धांत के पोषक थे कि विद्यालय का रूप, परिवार-जैसा होना चाहिए। विद्यालय के कार्यों का संगठन इस प्रकार किया जाए कि विद्यार्थी यहाँ आकर भयभीत नहीं हो। उन्होंने समाज की ओर दृष्टि दौड़ायी, तो देखा कि विद्यालय में विद्यार्थियों के साथ स्नेह का व्यवहार नहीं किया जाता। शिक्षक कठोरता की मूर्ति बन जाते हैं। उन्होंने इस अमानवीय तथ्य एवं मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने बताया कि किशोरों के अंदर सहानुभूति एवं आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके साथ सद्व्यवहार करें। इस आदर्श को परिलक्षित करने के लिए उन्होंने अपने विद्यालयों में पूरा-पूरा प्रयत्न किया। स्टेंज नामक स्थान में जब वे अपना विद्यालय चला रहे थे, तो एक अभिभावक ने आ कर कहा था—"इस स्कूल का वातावरण तो बिलकुल घर-जैसा है।" यह सुन कर पेस्टालॉजी को अतिशय प्रसन्नता

1. My Search for Truth, Shivlal Agrawal, Page. 20.

हुई थी और प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा था—"आपका कथन सत्य है। मैं ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे दुनिया को यह दिखलाने का अवसर दिया कि स्कूल और घर के वातावरण में समानता की जा सकती है।"[1] पेस्टालॉजी ने सदैव इसकी कोशिश की, जिसमें विद्यालय का रूप परिवार-जैसा दृष्टिगत हो। उन्होंने लिखा है—"जैसे वृक्ष बिना जड़ के नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार बालक बिना विश्वास और प्रेम के उन्नति नहीं कर सकता।" वे प्रेम और विश्वास द्वारा बालक का नैतिक एवं बौद्धिक विकास करना चाहते थे। उनका कहना था—"आदर्श शिक्षालय का रूप घर-जैसे स्नेहमय वातावरण द्वारा ही संभव है।"

८. शिक्षालय और मनोविज्ञान

अपनी शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए सन् १८०० ई० में वर्गडार्फ में पेस्टालॉजी ने कहा था—"मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ।" उनका विचार था कि बालक की संपूर्ण शिक्षा का आधार मनोविज्ञान है। शिक्षकों को मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। वे स्त्रियों को उत्तम शिक्षण-कार्य करने वाली मानते थे; क्योंकि वे स्वभाव से सरल एवं बालकों के मनोविज्ञान से एक सीमा तक परिचित होती हैं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में मैंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि पेस्टालॉजी विद्यालय को एक घर का रूप देना चाहते थे, अतः शिक्षकों के उत्तरदायित्व को स्थिर करते हुए उन्होंने उन्हें बालकों के साथ एक पिता के समान व्यवहार करने वाला व्यक्ति माना है। उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रत्येक बालक की ओर व्यक्तिगत ध्यान देकर उनसे स्नेह का व्यवहार करें। इस तथ्य में बहुत मनोविज्ञानिक सत्य छिपा है। रोम के सुप्रसिद्ध वक्ता-विचारक और शिक्षाशास्त्री क्विटीलियन संभवतः इसी दृष्टिकोण से क्रोधी तथा शुष्क हृदय वाले व्यक्ति को अध्यापक बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका स्पष्ट विचार है—"बच्चे को एक शुष्क हृदय वाले अध्यापक से उतनी ही दूर रखना चाहिए, जितना कि शुष्क मिट्टी को एक कोमल पौधे से; क्योंकि ऐसे अध्यापकों का संसर्ग बच्चों को भी शुष्क बना देता है।"[2] पेस्टालॉजी ने यह अच्छी तरह समझा था कि अगर हम विद्यार्थियों को मनोवैज्ञानिक वातावरण में मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षित करने का प्रयास करेंगे, तो वे अवश्य ही योग्य

---

1. This is the greater praise you can give me. I have succeeded thank God, in showing the world that there must be no gulf between the home and the school."—De Guimps, Roger, Pestalozzi: His Life and Work, Page 210.
2. "Above all.........dry master is to be avoided, not less than a dry soil for plants that are still tender."

—Institutes of Oratory.

व्यक्ति बनेंगे। उन्होंने शिक्षा को प्रजातांत्रिक और व्यावहारिक रूप दिया है। वे शिक्षा में निरीक्षण तथा प्रयोग-विधि को स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वकीय अनुभव के आधार पर विद्यार्थियों की प्रारंभिक शिक्षा का विधान किया है। उनके मतानुसार शिक्षण का आधार 'ज्ञानेंद्रिय अनुभव' (Sense Impression) तथा निरीक्षण है। इसी के आधार पर उन्होंने 'आंशवांग विधि' (The Anschanung Theory) का निर्माण किया है, जिसके आधार पर वे बालकों को इंद्रिय अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त कराना चाहते हैं। इंद्रिय अनुभव तथा प्रत्यक्ष ज्ञान को ही वे विकास की आधारशिला स्वीकार करते हैं। वस्तु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में बालकों की रुचि का परिवर्तन होता है। उनकी कल्पनाशक्ति सजग होती है एवं विभिन्न तुलनात्मक अध्ययन से स्वानुभूति को प्रश्रय प्राप्त होता है।

९. शिक्षालय और अनुशासन

पेस्टालॉजी बालक को दैवी कृति मानते थे। वे इनकी उन्नति में सहज विकास के सिद्धांत के पोषक थे। सीखना एवं ज्ञान ग्रहण करना एक सहज क्रिया एवं मौलिक उत्पत्ति है, अतः बालक पर किसी प्रकार के निर्देशन अथवा नियंत्रण का अनावश्यक भार नहीं लादा जाना चाहिए। अतः, विद्यालयों में वे स्वाभाविक अनुशासन चाहते थे। उन्होंने विद्यालयों को पारिवारिक रूप देने की बात बतलायी है। उनका विचार था कि दंड देने से अनुशासन की समस्या का निदान नहीं हो सकता, बल्कि इससे शिष्य के मन में शिक्षक के प्रति दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। तथापि उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि बालकों के अनैतिक आचरणों को रोकने की आवश्यकता पड़े, तो दंड अवश्य दिया जाए। इससे बुरे आचरण पुनः नहीं होंगे। वे विद्यालय को घर का रूप देना चाहते हैं, परंतु घर में भी तो बच्चे को अपराध के लिए दंड देने का विधान है। प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रथा में भी दंड का विधान था। किसी अक्षम्य अपराध पर बालक-बालिकाओं को दंड देना ही पड़ेगा। रूसो अनुशासन में प्रकृति का अनुसरण करने वाले थे, परंतु पेस्टालॉजी प्रेम एवं शक्ति द्वारा अनुशासन के निर्माता थे।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सत्य को चरितार्थ करने के लिए ही पेस्टालॉजी चाहते थे कि शिक्षक प्रशिक्षित हों। प्रशिक्षित होने से वे बाल-मनोविज्ञान को अच्छी तरह समझ सकेंगे तथा तदनुकूल शिक्षा की भी व्यवस्था करेंगे। अध्यापन-कला को वे एक पवित्र उद्योग एवं नैतिक व्यवसाय मानते थे।

विद्यालय का संगठन

पेस्टालॉजी ने विद्यालय का रूप बदलने के साथ-साथ इसके संगठन की जो व्यवस्था की, वह इस प्रकार है—

(क) प्राइमरी कक्षा—इसमें आठ वर्ष तक के बच्चे पढ़ा करते थे।
(ख) लोअर कक्षा—इसमें आठ से ग्यारह वर्ष तक के बच्चे पढ़ा करते थे।
(ग) अपर कक्षा–इसमें ग्यारह से तेरह वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था की गई थी।

पेस्टालॉजी ने वस्तुतः अपने विद्यालयों को 'बोर्डिंग स्कूल' का रूप दिया था। प्राइमरी कक्षा में समयसारिणी की व्यवस्था नहीं थी, परंतु लोअर और अपर कक्षाओं में साठ मिनट के दस घंटे होते थे। पढ़ाई का रूप ज्ञानात्मक और व्यावहारिक दोनों था। विद्यालय के संपूर्ण वातावरण में एक स्वाभाविकता थी। अध्यापक बालकों को प्रेमपूर्वक रहना सिखाते थे। रूसो के समान ही पेस्टालॉजी भी शिक्षा में मौलिकता और स्वाभाविकता के सिद्धांत के पोषक थे।

पेस्टालॉजी की शिक्षण-विधि : आंशावांग थियरी

पेस्टालॉजी केवल सिद्धांतों के प्रतिपादन में विश्वास नहीं करते थे, अपितु वे अनुभव और व्यवहार के पोषक थे। जिस समय पेस्टालॉजी का अभ्युदय हुआ था, उस समय शिक्षा का विषय अत्यंत संकुचित था। शिक्षण-पद्धति रूढ़िग्रस्त, परंपरावादी तथा शाब्दिक थी। विद्यालयी वातावरण अमनोवैज्ञानिक था। शिक्षक पठन-पाठन कार्य में कोई अभिरुचि नहीं रखते थे। विद्यालय-भवनों की स्थिति भी बहुत दयनीय थी। शिक्षण-विधि का कोई व्यवस्थित ढंग नहीं था। शिक्षक होने की योग्यता का कोई निश्चित विधान नहीं था। कोई भी व्यक्ति शिक्षण-कार्य कर सकता था। शाब्दिक ज्ञान की ही प्रमुखता थी। पेस्टालॉजी ने इन समस्त दोषों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया। शिक्षा को, मानव-मस्तिष्क के विकास हेतु उन्होंने प्रधान आधार माना और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक नई शिक्षण-विधि 'आंशावांग थियरी' का निर्माण किया।

पेस्टालॉजी प्रदत्त आंशावांग सिद्धांत (Anschanng Theory) का तात्पर्य है 'इंद्रिय अनुभव', 'निरीक्षण', 'अंतर्ज्ञान' अथवा 'प्रथम अनुभव।' उनका विचार है कि 'निरीक्षण' ही संपूर्ण शिक्षा अथवा निर्देश का आधारभूत अंग होना चाहिए। रूसो के समान पेस्टालॉजी का भी विचार था कि हमें बालकों को शब्दों की अपेक्षा वस्तुओं द्वारा अधिक ज्ञान कराना चाहिए। ज्ञानराशि की खोज बालक स्वयं करें। वे बालक को प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ज्ञान देना चाहते हैं। यह स्थायी ज्ञान होगा। अगर शिक्षक द्वारा बतलाए गए ज्ञान को बालक सत्य मान कर स्वीकार कर लेता है, तो उसकी अन्वेषण की शक्ति समाप्त हो जाएगी और वह अपने भावी जीवन में भी किसी कार्य में निर्णय नहीं ले सकेगा। इससे समुचित व्यक्तित्व-

विकास में बाधा उत्पन्न होगी। अतः, उन्होंने 'आंशावांग' अथवा स्वानुभूति नामक एक नवीन पाठन-विधि का सूत्रपात किया। शिक्षा-जगत को यह उनकी मौलिक देन है। पेस्टालॉजी के 'आंशावांग' को रस्क (Rusk) ने शिक्षा में एक नवीन देन बतलाया है।

'आंशावांग' क्या है? पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव आंशावांग के सिद्धांत के अंतर्गत आता है। बालक किसी पदार्थ का जब निजी अनुभव प्राप्त करता है, तो इंद्रियों द्वारा उसका मस्तिष्क पदार्थ की एक छाप ग्रहण करता है। यही छाप आंशावांग है। इन्हीं छापों पर समस्त बौद्धिक उपलब्धियां निर्भर हैं। पेस्टालॉजी के अनुसार ज्ञान अनुभवाश्रित है। अतः, स्वयं का अनुभव छात्र को अवश्य करना चाहिए। प्रेम सीखने के लिए, प्रेम की बातों से काम नहीं चलेगा, वस्तुतः प्रेम करना पड़ेगा। इसी प्रकार किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उसका अभ्यास करना होगा। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह ऐसे ही अनुभवों को चुने, जिनसे छात्र निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न वस्तुओं को एक दूसरे से अलग किया जाए, जिससे मस्तिष्क की छाप अलग हो सके और अंत में वस्तुओं के संबंध में निश्चित प्रत्यय प्राप्त कराए जाएँ। शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों की ओर से ही विभिन्न क्रियाएँ न होकर एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं। उदाहरणतः संख्या, रूप एवं भाषा को लें। अंकगणित के मूल में संख्या ही है, अतः गणित की शिक्षा गिनती से प्रारंभ होनी चाहिए, किंतु यह गिनती आसपास की चीजों को गिन कर सीखी जाए, लिखने की शिक्षा रूप की शिक्षा है। रूप के मूलतत्त्व रेखाएँ तथा कोण हैं। अतः, रेखाओं तथा कोणों से ही लिखना सिखाना चाहिए। भाषा के मूलतत्त्व ध्वनियां हैं, न कि अक्षर। अतः भाषा की शिक्षा ध्वनि, बोली, अक्षर, शब्द और वाक्य के क्रम से ही दी जानी चाहिए।''[1]

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम के संबंध में भी पेस्टालॉजी ने सामंजस्यपूर्ण विकास की नीति को अपनाया है। उन्होंने पाठ्यक्रम निर्माण के लिए निम्नलिखित सिद्धांतों को अपनाया है—

(क) विकास का सिद्धांत,

(ख) उपयोगिता का सिद्धांत,

(ग) वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं का सिद्धांत और

(घ) रुचि का सिद्धांत।

पेस्टालॉजी ने पाठ्यक्रम को छह भागों में बाँटा है—

(१) बौद्धिक (Intellectual),

१. डॉ० रामसकल पांडेय : महान पश्चिमी शिक्षाशास्त्री, पृष्ठ ९३।

(२) व्यावसायिक (Industrial),
(३) नैतिक (Moral),
(४) धार्मिक (Religious),
(५) कलात्मक—(i) (ललितकला चित्र, संगीत),
(ii) हस्तकला संबंधी (कताई बुनाई),
(६) शारीरिक प्रशिक्षण (Physical).

पेस्टालॉजी का विश्वास था कि सामान्य शिक्षा के आवश्यक तत्त्व हैं—भाषा (अभिव्यक्ति एवं पढ़ना), गिनती (अंकगणित) तथा रूप या आकार (चित्र खींचने की शिक्षा तथा लिखना)। आंशावांग पर आधारित विषयों जैसे विज्ञान तथा भूगोल की मान्यता वे स्वीकार करते हैं, परंतु उन विषयों को उन्होंने महत्त्व कम नहीं दिया है, जिनका अनुभव से सीधा संबंध नहीं होता। ऐसे विषयों में इतिहास की प्रधानता है। रूसो के समान पेस्टालॉजी ने भी यह माना है कि इतिहास के तथ्य प्रत्यक्षीकरण से बाहर हैं, अतः वे अनुभव से बहुत दूर होते हैं। पाठ्यक्रम को वे पूर्ण व्यावहारिक बनाना चाहते थे।

पेस्टालॉजी के अनुसार संख्या, रूप एवं भाषा पाठ्यक्रम के प्रारंभिक घटक हैं। इस प्रारंभिक पाठ्यक्रम से अग्रिम बौद्धिक पाठ्यक्रम का विकास होता है। आगे के पाठ्यक्रम में गणित का स्थान प्रमुख है। गणित के अध्ययन से चिंतन शुद्ध हो जाता है। भारत के सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी रामतीर्थ भी गणित के माध्यम से वेदांत-दर्शन की शिक्षा दिया करते थे। प्लेटो भी गणित को दर्शन का एक अंश मानते थे। इनकी धारणा थी कि व्यक्ति गणित द्वारा स्पष्ट विचार करने की शक्ति प्राप्त करता है। गणित के नियमों द्वारा मनुष्य को दार्शनिक सत्य समझने में सहायता मिलती है, ऐसा ही विचार बर्ट्रेंड रसेल का भी है।

इसके अतिरिक्त पेस्टालॉजी भूगोल, रेखागणित, चित्रकला तथा संगीत आदि विषयों की प्रमुखता स्वीकार करते हैं। वे भाषा को, यथार्थ जगत में अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन मानते हैं, अतः ललित कला में वे इसको स्थान नहीं देते। धर्म, नैतिकता, खेल और व्यायाम आदि को उन्होंने अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है, परंतु प्रकृति-अध्ययन और विज्ञान की ओर उनका विशेष आकर्षण है।

पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों का अध्यापन

विभिन्न विषयों के अध्ययन के लिए पेस्टालॉजी ने अपने सुप्रसिद्ध सिद्धांत 'आंशावांग' के प्रयोग का प्रशंसनीय प्रयास किया है। उनकी नई विधि ने विद्यार्थी को कार्य तथा मौखिक अध्यापन के उपयोग करने तथा वास्तविक वस्तुओं को अध्ययन और सीधे अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। उनके इस सिद्धांत में निम्न

लिखित मौलिकता एवं नवीनता है : मौखिक अभिव्यक्ति तथा भाषा-संबंधी का में शाब्दिक विधि का प्रयोग, प्रारंभिक तथा मानसिक अंकगणित, प्रत्यक्ष नैसर्गि वातावरण से भूगोल एवं प्रकृति का अध्ययन आदि।

१. भाषा-शिक्षण

(अ) मौखिक भाषा—पेस्टालॉजी ने मौखिक भाषा को अपनी शिक्षा-पद्धति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। आधुनिक प्रारंभिक अध्ययन में जो मौखिक भाषा-पद्धति अति महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है, उसका सर्वप्रथम श्रेय पेस्टालॉजी को ही है। आधुनिक समय के कुछ श्रेष्ठ भाषा अध्यापकों ने पेस्टालॉजी के ही इस सिद्धांत को ग्रहण किया है कि पढ़ने की अपेक्षा बातचीत करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब तक कि बालक विचार तथा अनुभव करना नहीं सीख जाते और जब तक अपने चारों ओर व्याप्त विश्व के संबंध में ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक पढ़ कर सीखने का कोई महत्त्व नहीं है। बालक जो कुछ भी देखता, अनुभव करता एवं सुनता है, उसके वर्णन करने में लगातार अभ्यास करने से वह भाषा के शब्दसमूह एवं रचना पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा। अतएव, भाषा-शिक्षण बालक के उचित स्तर तक उचित अभिव्यक्ति के अभ्यासों में निहित है। व्याकरण का अध्ययन बहुत समय तक भाषा-संबंधी प्रयोग के क्रमिक, सतर्क एवं आद्योपांत अध्ययन के पश्चात् होना चाहिए।

(ब) पढ़ना—पढ़ने में पेस्टालॉजी ने शाब्दिक विधि का अनुसरण किया। उन्होंने स्वर-ध्वनियों (Vowel sounds) को भाषा का सरलतम तत्त्व माना है। स्वर-ध्वनियों एवं व्यंजनों (Consonants) को जोड़ देने से शब्दों का निर्माण तथा वाक्यसमूहों का संयोजन होता है। फलस्वरूप उन्होंने बालकों को अर्थहीन वाक्य-समूहों को अथक रूप में दुहराने के लिए कहा। उन्होंने बालकों से वर्णमालाओं का अभ्यास कराना प्रारंभ किया तथा इसी अभ्यास के माध्यम से बालकों को स्वर ध्वनिसमूह तथा शब्द और शब्द से वाक्यांशों एवं पूर्ण वाक्यों की ओर ले जाने का प्रयास किया। परंतु, यह उनकी भूल थी; क्योंकि इस पद्धति से 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' सिद्धांत का विरोध होता है। उनका ध्यान इस बात का ओर नहीं था कि भाषा का मनोवैज्ञानिक मूल उद्गम पूर्ण शब्द अथवा अभिव्यक्ति है, जिसमें उसका अर्थ भी सम्मिलित है। भाषा का विकास अर्थहीन ध्वनिसमूहों के अभ्यास पर आधारित नहीं है, वरन् वह तो विचारों को व्यक्त करने वाले शब्दों से ही होता है।

(स) लिखना—लिखने के तत्त्वों को विभाजित करने एवं उसके वैज्ञानिक विकास के प्रयत्न के निमित्त बालकों ने सीधे, तिरछे आदि रूप में रेखाओं को खींचने का अभ्यास करना प्रारंभ कर दिया। आधारभूत कोण या रेखा द्वारा अभ्यास करने

लिखना अति शीघ्रता से सीखा जा सकता है तथा इसके द्वारा लिखने की बुरी आदतों के विकास को रोका जा सकता है, ऐसा उनका विश्वास था। फिर भी उन्होंने लिखने को यांत्रिक अभ्यास से अधिक कुछ और नहीं समझा। लेखन एक ऐसी कला है जिससे भाषण को लिखा जा सकता है, विचारों को विस्तृत एवं स्पष्ट किया जा सकता है तथा कल्पना का अभ्यास किया जा सकता है।

अंकगणित

पेस्टालॉजी के समय में गणित की शिक्षा का वास्तविक अर्थ कुछ 'अंकों को यंत्रवत्' लिखने से था। उन्होंने इस विधि का विरोध किया। उन्होंने लिखित गणित की अपेक्षा मौखिक एवं मानसिक गणित को अधिक उपयोगी समझा। अंकगणित के अध्ययन के लिए तथा बालकों को ठीक प्रकार के अंकों को समझाने के निमित्त उन्होंने सरलतम मार्ग खोजना प्रारंभ कर दिया। पेस्टालॉजी के पूर्व नियमों को याद कर *लिया जाता था तथा 'उदाहरणों' का प्रयोग निश्चित नियमों के आधार पर होता* था। उन्होंने इस प्रथा का स्थानांतर वस्तुओं के जोड़, वर्गीकरण आदि से संबंधित अति शीघ्र मानसिक गणित के रूप में कर दिया। 'प्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा शिक्षा' तथा 'मौखिक शिक्षा' ने संपूर्ण अंकगणित-शिक्षण के क्षेत्र में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। इस प्रकार वे एक नए विषय 'प्राथमिक अंकगणित' (Primary Arithmetic) के जन्मदाता बन गए। उन्होंने यह चाहा कि बालक स्वयं अपने इंद्रिय अनुभव पर आधारित क्रियाशीलता द्वारा सामान्य गणितीय नियमों को खोज निकाले। 'कोई भी अंक चाहे उसका जो भी नाम हो' पेस्टालॉजी लिखते हैं कि 'वह और कुछ नहीं' वरन् गिनने के सामान्य पद्धति का सीमित रूप है।' अतएव, प्रत्यक्ष वस्तुओं का गिनना, वर्गीकरण करना तथा उन्हें क्रमबद्ध करना, अंकों को जोड़ना, घटाना आदि प्रारंभिक कार्यों के लिए मूलभूत आवश्यक कार्य हैं। अंकों के स्पष्ट शिक्षण के लिए उन्होंने तिनकों, गुट्टियों, छड़ियों तथा अन्य पदार्थों का उपयोग किया है। आज के शिशु एवं बाल-शिक्षा-केंद्रों में जो हमें ये उपरोक्त वस्तुएँ अंक-गणित-शिक्षण में देखने को मिलती हैं, वे पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के ही परिणामस्वरूप हैं। जोड़ने, घटाने, विभाजन तथा अंश को समझाने को सरल रूप देने के लिए पेस्टालॉजी ने 'इकाइयों की सूची' (Table of Units) प्रतिपादित की। यह बालक के लिए उपरोक्त बातों को शीघ्रता से सीखने में सहायक हैं। प्रत्येक पग पर अध्ययन को ठीक प्रकार से समझने के लिए उन्होंने कहा कि प्रत्येक कार्य पेंसिल या कागज के बिना केवल मानसिक रूप में होना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास ने मानसिक अंकगणित पर एक नए ढंग से प्रकाश डाला।

३. भूगोल

कदाचित पेस्टालॉजी के एक उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री होने का ज्वलंत प्रमाण उनका भूगोल-अध्यापन-संबंधी कार्य भी है। उनके समय से पूर्व भूगोल का तात्पर्य तार्किक, शब्द कोषीय रूप में तथ्य संग्रह था। संपूर्ण प्रकार के ज्योतिषीय, प्राकृतिक और राजनीतिक तथ्यों का प्रश्नोत्तर रूप में स्मरण करने तक भूगोल का विस्तार था। विद्यार्थी इसके अंतर्गत परिभाषा, सीमाओं राजधानियों, उत्पादन, आयात और निर्यात, जनसंख्या आदि का अध्ययन करते थे। अध्यापक विद्यार्थी से इन्हीं स्मरण की गई बातों को सुनते थे। पेस्टालॉजी ने बड़े जोरदार शब्दों में इस प्रकार की भौगोलिक शिक्षण का विरोध करते हुए एक नई पद्धति को विकसित किया, जिसका अनुसरण आज भी भूगोल के अच्छे अध्यापक करते हैं। यह पद्धति है स्थानीय क्षेत्रों का निरीक्षण करना तथा मानचित्र से परिचय भी कराना। ये दूसरों के द्वारा निर्मित न होकर स्वयं अपने श्रम द्वारा बड़े पैमाने में निर्मित आकृतियों एवं मानचित्रों में होना चाहिए। उनके एक शिष्य ने उनकी शिक्षा-पद्धति का सजीव उल्लेख किया है "हमें एक संकीर्ण घाटी जो कि 'वरडन' से अधिक दूर नही थी, में ले जाया गया...... सामान्य दृश्य देखने के पश्चात् हमें उसके विस्तार का परीक्षण उस समय तक करना पड़ा, जब तक कि हमलोगों ने उसका ठीक-ठीक और पूर्ण विचार ग्रहण नहीं कर लिया। तब हमें घाटी के तट के एक ओर पड़ी मिट्टी को लेने का आदेश दिया गया......लौटने के पश्चात् एक लंबी मेज पर बैठकर जिस घाटी का हमने अध्ययन किया था, उसे पुनः निर्मित किया। जब हमलोगों का कार्य पूर्ण हो चुका, तब हमें मानचित्र दिखाया गया। इसके द्वारा हमने विषय को ठीक प्रकार से ग्रहण किया। प्रॉजेक्ट पद्धति पर आधारित स्थानीय भूगोल अथवा गृह-भूगोल को पेस्टालॉजी ने प्रस्तावित किया। उन्होंने कहा कि यह पद्धति मनुष्यों के जीवन, उनके देश तथा जीवन यापन करने के साधनों से संबंधित होगी। यह वास्तव में एक नितांत नवीन विषय था तथा इसे मानवीय भूगोल (Human Geagraphy) के नाम से अभिहित किया गया।"

४. प्रकृति-अध्ययन, चित्र खींचना तथा संगीत

प्रकृति-अध्ययन में स्थूल निरीक्षणात्मक कार्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। पेड़ों, फूलों, पक्षियों आदि को दिखाया जाता था, उनका चित्र खींचा जाता था। चित्र खींचने की शिक्षा तथा संगीत का अध्यापन यंत्रवत् एवं जीवनहीन ढंग से कराया जाता था। चित्र खींचने की शिक्षा को कार्यरूप में परिणत करने के पूर्व पेस्टालॉजी यह चाहते थे कि बच्चे 'ज्यामितीय रूपों की वर्णमाला' भी सीख लें। इस प्रकार चित्र खींचने की शिक्षा में वर्षों तक रेखा, कोण, वृत्त, समकोण,

चतुर्भुज, त्रिभुज आदि ज्यामितीय रूपों एवं आकारों का अध्ययन करना होता था। पेस्टालॉजी ने यह अनुभव करना आवश्यक नहीं समझा कि भाषा के समान बालकों के लिए चित्र खींचने की शिक्षा भी मुक्त अभिव्यक्ति का माध्यम होना चाहिए। संगीत में भी बालकों को ताल, लय, गति, सम आदि के आधार पर अभ्यास कराया जाता था। बालक जब तक कि गीत को ठीक प्रकार से गा नहीं लेते थे, तब तक उनसे अभ्यास कराया जाता था। परिणामस्वरूप वे गीत पूर्ण रूप से सीखने तक अत्यधिक थक जाते थे।

पाठ्यक्रम—पेस्टालॉजी का यह अपना विश्वास था कि सामान्य शिक्षा के आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित हैं—भाषा (अभिव्यक्ति एवं पढ़ना), गिनती (अंकगणित) तथा रूप या आकार (चित्र खींचने की शिक्षा तथा लिखना)। 'आंशावांग' पर आधारित विषयों तथा सामान्य विज्ञान एवं भूगोल को पेस्टालॉजी ने मान्यता दी और उन विषयों को कम महत्त्व दिया, जिसका सीधा संबंध अनुभव से नहीं होता, यथा इतिहास। हस्तकला, कला अन्य मानवीय कार्यों यथा बागवानी, पुस्तककला, मॉडेल-निर्माण करने की कला आदि को अन्य विषयों के बराबर ही मान्यता दी। उन्होंने अपनी योजना में शारीरिक शिक्षा को भी उचित स्थान दिया तथा घर के बाहर जाकर कार्य करने पर अधिक समय देने के लिए कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पाठ्यक्रम में नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा—नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा के रूप स्थिर करने में भी पेस्टालॉजी ने अपने द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक शिक्षा के मार्ग का ही अनुसरण किया, अर्थात् उन्होंने इसका प्रारंभ भी अनुभव प्राप्त करने में ही किया। वे स्पष्ट उदाहरणों द्वारा बालकों में 'विवेक' का विकास करना चाहते थे। नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा की नींव माता द्वारा ही डाली जाती है। माता अपने बालकों में धार्मिक शिक्षा की नींव, प्यार की भावना, विश्वास, संतोष और आज्ञा पालन आदि गुणों को उत्पन्न करती है। अध्यापक का यह महान् कर्त्तव्य है कि वह अपने में उपरोक्त महान् गुणों को सुरक्षित रखे तथा उन गुणों का विकास बालक में करे। पेस्टालॉजी ने धर्म को एक ऐसा संवेग माना है, जिसको पढ़ाया नहीं जा सकता। अपने सिद्धांतों के ही अनुरूप उन्होंने कहा, "मैं न तो धर्म को पढ़ाता हूँ और न तो नैतिकता को।" उनका ऐसा विश्वास था कि संवेग का प्रकाशन अपनी व्यक्तिगत स्थिति द्वारा करना चाहिए तथा उसका अनुभव करना चाहिए।

पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांत के मूल तत्त्व

पेस्टालॉजी के चरित लेखक मार्फ (Morf) के अनुसार उनके शिक्षा-सिद्धांत के मूल तत्त्व निम्नांकित हैं—

१. निरीक्षण एवं इंद्रिय ज्ञान ही निर्देशन का आधार है।
२. भाषा का संबंध किसी वस्तु अथवा आत्मानुभूति से होना चाहिए।
३. सीखने के समय बालक की आलोचना नहीं की जाए।
४. शिक्षा का क्रम सरल से कठिन की ओर होना चाहिए।
५. अध्ययन के पश्चात् ज्ञान-प्रस्थापन हेतु पर्याप्त विश्राम का समय दिया जाना चाहिए।
६. शिक्षा का उद्देश्य बालक का विकास होना चाहिए। अनावश्यक तर्क-विवाद त्याज्य है।
७. शिक्षक को बालक के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए।
८. प्रारंभिक शिक्षा का उद्देश्य, बालकों का ज्ञानवर्द्धन नहीं, अपितु मानसिक शक्तियों का विकास है।
९. ज्ञान द्वारा शब्द का विकास होना चाहिए एवं अभ्यास द्वारा कौशल का परिमार्जन होना चाहिए।
१०. शिक्षक एवं विद्यार्थी के प्रेमपूर्ण मधुर संबंध के आधार पर ही शिक्षा का वास्तविक अर्थ चरितार्थ होगा।
११. निर्देशन शिक्षा के उच्चतर उद्देश्यों के अनुकूल हो।
१२. आदर्श विद्यालय का रूप घर-जैसे स्नेहमय वातावरण द्वारा ही संभव है।
१३. शिक्षक का प्रथम कर्त्तव्य निम्न वर्ग का उत्थान करना ही है।
१४. शिक्षा एक सामाजिक एवं सार्वभौमिक व्यवस्था है।
१५. पाठ्य पूर्ण व्यावहारिक हो।
१६. अध्यापन-कार्य एक पवित्र एवं नैतिक व्यवसाय है।

पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांत की आलोचना

दोष :

१. पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांत अध्यापन के प्रारंभिक रूप से ही मुख्यतः संबंधित हैं।
२. प्रत्यक्ष अनुभव पर अत्यधिक बल दिया गया है। इससे बालकों की कल्पना-शक्ति का ह्रास होगा।
३. पेस्टालॉजी अपने सिद्धांतों को पूर्णतः प्रयोग रूप में नहीं ला सके।
'Pestolozzi was a new man with new ideas which he found himself unable to formulate or to put

effectively into practice."[1]

४. भाषा-शिक्षण की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। रस्क ने भी इसकी आलोचना की है। पेस्टालॉजी अर्थपूर्ण वाक्यों की अवहेलना कर अर्थहीन ध्वनियों द्वारा भाषा-शिक्षण की बात बतलाते हैं।

पेस्टालॉजी का शिक्षा-जगत पर प्रभाव

गुण :

पेस्टालॉजी एक मौलिक विचार संपन्न श्रेष्ठ कोटि के शिक्षाशास्त्री थे। उन्होंने शिक्षा-जगत को एक नए दृष्टिकोण से परिचित कराया। उनकी शिक्षण-पद्धति में कुछ दोषों के होते हुए भी मौलिकता की स्पष्ट छाप है। उनका प्रभाव सदैव अक्षुण्ण बना रहेगा।

पेस्टालॉजी ने यह अनुभव किया कि शिक्षा द्वारा ही समाज का कल्याण हो सकेगा।

"Pestalozzi made education the remedy for corruption in society."[2]

अतः, विस्तृत व्यावहारिक पाठ्यक्रम द्वारा अपनी नई शिक्षण-पद्धति का उन्होंने निर्माण किया। उन्होंने सार्वभौमिक तथा गरीब बच्चों की शिक्षा की बात बतलाकर विद्यालय को परिवार का रूप दिया तथा नम्र सहानुभूतिमूलक अनुशासन की नवीन व्यवस्था से हमें परिचित कराया। उनके कार्यों द्वारा धर्मनिरपेक्षिता के आधार पर एक नवीन वातावरण का विद्यालय में सूत्रपात हुआ, जहाँ शिक्षण-कार्य एक बौद्धिक क्रिया एवं नैतिक उद्योग माना जाता था। उनकी शिक्षण-पद्धति में प्रत्यक्ष वस्तु के अध्ययन द्वारा इंद्रिय प्रशिक्षण की व्यवस्था एवं प्रत्यक्ष ज्ञान अनुभव की बात बतलायी गई। यहाँ बालकों के विचारों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति, उनकी क्रियाशीलता तथा क्रमिक रूप में विकास पर बल देने की योजना बनी। औद्योगिक एवं बौद्धिक शिक्षा में संतुलन स्थापित कर बालकों के भावी व्यक्तित्व की रक्षा का विधान हुआ।

पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांतों का प्रभाव स्विटजरलैंड में ही नहीं, अपितु संपूर्ण यूरोप एवं संयुक्तराष्ट्र पर पड़ा। जर्मनी पर तो अत्यधिक पड़ा। यहाँ पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांतों के अनुरूप विद्यालयों का गठन हुआ। रूस, पोलैंड स्पेन और इटली जैसे देशों में भी इनके शिक्षा-संस्थानों का अनुमोदन हुआ। इनके विचारों ने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारंभिक विद्यालयों का उद्देश्य निश्चित कर दिया।

---

1. Rusk : Doctrines of Great Education, Page 176.
2. Grave : History of Western Education; Page 314.

अध्याय १७

हरबार्ट

जीवन-प रचय

"शिक्षा के एकमात्र एवं संपूर्ण कार्य का सार नैतिकता में निहित है"—इस सिद्धांत के प्रमुख पोषक जॉन फ्रेडरिक हरबार्ट (John Frederic Herbert) का जन्म जर्मनी के ओल्डनबर्ग (Oldenburg) नामक स्थान में सन् १७७६ ई० में हुआ था। हरबार्ट एक कुलीन परिवार के बालक थे। इनके पिता वकालत करते थे और माता एक पढ़ी-लिखी महिला थीं। हरबार्ट के सफल व्यक्तित्व के विकास में उनकी विदुषी माँ का स्थान बहुत बड़ा है। अपनी माँ की कुशाग्रता से वे अपनी अल्पावस्था में ही गणित, भाषा एवं संगीत आदि विषयों के ज्ञाता बन गए। बाल्यावस्था से ही उनमें दर्शनशास्त्र के प्रति अभिरुचि थी। संभवतः ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने तर्कशास्त्र और बारह वर्ष की अवस्था में दर्शनशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था। इन्होंने अपनी माँ के प्रभाव से विद्योपार्जन किया और ज्ञानार्जन की ओर इतना अधिक अभिमुख हो चुके थे कि सोलह वर्ष की आयु में ही प्रसिद्ध दार्शनिक कांट की रचनाओं का गंभीर अध्ययन संपन्न कर दिया। परिवार, वह भी मुख्यतः माँ का प्रभाव, बालक की उन्नति में कितना अधिक सहायक होता है, हरबार्ट का जीवन इसके लिए स्पष्ट उदाहरण है।

जेना विश्वविद्यालय में

बारह से अठारह वर्ष की अवस्था के बीच हरबार्ट अपने नगर ओल्डेनबर्ग में डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि पायी और वहीं पर वे दर्शन एवं शिक्षा के प्राध्यापक का कार्य करने लगे। यहाँ पर शिक्षा और दर्शन-जैसे विषयों पर कई पुस्तकों की रचना की। 'दि साइंस ऑफ एडुकेशन' जो उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है, यहीं से

प्रकाशित हुई। वे यहाँ सन् १८०९ ई० तक अध्यापन-कार्य करते रहे। इस समय तक उनकी रचनाओं एवं विद्वत्ता की प्रसिद्धि समस्त यूरोप में फैल चुकी थी।

कॉनिग्जवर्ग विश्वविद्यालय में

अपनी प्रसिद्धि के कारण ही हरबार्ट सन् १८०९ ई० में कॉनिग्जवर्ग विश्वविद्यालय में वह प्रतिष्ठित अध्यक्ष-पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किए गए, जिसे विश्व के महान् विद्वान इमेनुअल काण्ट ने सुशोभित किया था। मात्र तैंतीस वर्ष की अवस्था में हरबार्ट कॉनिग्जवर्ग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बन गए और पच्चीस वर्ष तक इस गौरवमय पद को गौरवान्वित करते रहे। कॉनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करते समय ही सन् १८११ ई० में इंगलैंड के एक व्यापारी की पुत्री 'मेरी ड्रेक' से उन्होंने शादी भी की।

कॉनिग्जवर्ग विश्वविद्यालय में ही हरबार्ट की श्रेष्ठ पुस्तकें लिखी गईं। यहीं उन्होंने अपने अध्यापन की ऐतिहासिक पद्धतियों के प्रयोग एवं शिक्षकों के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए 'प्रशिक्षण अकादमी' नामक विद्यालय की भी स्थापना की। इस विद्यालय से पढ़े हुए विद्यार्थी जर्मनी में बड़े-बड़े पदों पर आसीन हुए। कार्ल फॉकमार स्टाय, टुस्कान जिलर और विल्हेम रीन इस प्रशिक्षण अकादमी के विद्यार्थी थे। १८३१ ई० में जब सुप्रसिद्ध दार्शनिक हेगेल की मृत्यु हो गई, तो हरबार्ट की इच्छा हुई कि उनके रिक्त स्थान पर उनकी नियुक्ति हो जाए, परंतु ऐसा नहीं हो सका। तब, हरबार्ट पुनः 'गॉटिन्जेन विश्वविद्यालय' में दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष के रूप में वापस आ गए और जीवनपर्यन्त (सन् १८४१ ई० तक) यहीं कार्य करते रहे।

हरबार्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ

(१) पेस्टालॉजीज आइडिया ऑफ ऐन ए० बी० सी० (१८०२ ई०)
(२) ए० बी० सी० ऑफ आन्शावांग (१८०४ ई०)
(३) सेवरल आर्टिकिल्स ऑन साइकोलॉजी (१८११ ई०)
(४) साइंस ऑफ पैडागॉजी (१८०६ ई०)
(५) टेक्स्ट बुक इन साइकोलॉजी (१८१६ ई०)
(६) रिलेशन ऑफ स्कूल टु लाइफ (१८१८ ई०)
(७) साइकोलॉजी इज ए साइंस (१८२४ ई०)
(८) दि आउट लाइंस ऑफ एडुकेशनल डाक्ट्रिन्स (१८३५ ई०)

हरबार्ट का शिक्षा-दर्शन

दर्शन और मनोविज्ञान के गंभीर अध्ययन एवं चिंतन के आधार पर हरबार्ट ने शिक्षा के निम्नांकित मुख्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है—

(१) नैतिकता का सिद्धांत,

(२) रुचि का सिद्धांत,
(३) पूर्वानुवर्त्ती प्रत्यक्षज्ञान का सिद्धांत,
(४) विचार-वृत्त तथा साहचर्य का सिद्धांत और
(५) सांस्कृतिक युग का सिद्धांत।

उपर्युक्त सिद्धांतों पर हमलोग एक-एक कर विचार करेंगे।

(१) नैतिकता का सिद्धांत

हरबार्ट शिक्षा का उद्देश्य हमारा चारित्रिक विकास बतलाते हैं। चरित्र का विकास नैतिकता की आधारशिला पर अवस्थित है। हरबार्ट के विचारानुसार शिक्षा की संपूर्ण चेष्टा का फल, एक शब्द में नैतिकता है। नैतिकता ही जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है तथा आंतरिक स्वतंत्रता का द्योतक है। अतः, हमारी शिक्षा का लक्ष्य नैतिकता और चारित्रिक विकास है। शिक्षा का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने निम्नांकित भाव व्यक्त किया है—"शिक्षा के एकमात्र एवं संपूर्ण कार्य का सार नैतिकता में निहित है।"

(The one task and the whole task of education may be summed up in the concept of morality)[1]

हरबार्ट विद्यार्थियों में महान् कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करना चाहते हैं और यह तभी होगा, जब उनके विचार उच्च हों। उच्च विचारों की जननी नैतिकता है। अतः, हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे बालकों और किशोरों में नैतिकता एवं सदाचार (Morality and Virtues) का आविर्भाव हो। हरबार्ट ने शिक्षा के उद्देश्य को नीतिशास्त्र से तथा उसकी पद्धति को मनोविज्ञान से ग्रहण किया। शिक्षा के उद्देश्य में सामंजस्य लाने के लिए वे सौंदर्यानुभूति तथा नीतिशास्त्र का संबंध स्थापित करते हैं। शिक्षाशास्त्री रस्क लिखता है—"क़ांट के समान हरबार्ट की नैतिकता अनियमित आज्ञा (Catagorical Imperative) नहीं। उन्होंने नीतिशास्त्र को सौंदर्यविज्ञान के अंतर्गत रखा है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में हरबार्ट द्वारा नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र के समन्वय हेतु पाँच सद्गुणों का उल्लेख मिलता है, जो निम्नलिखित है—

१. आंतरिक स्वतंत्रता,
२. सिद्धि,
३. परोपकारिता,
४. अधिकार तथा

---

1. Boyd : History of Western Education; Page 362

५. प्रतिकार या समानता ।[1]

उपर्युक्त तत्त्व एक आचारवान मानव के प्रमुख और उचित गुण हैं। इनके अभाव में मनुष्य दानव का रूप ले सकता है। चरित्र और नैतिकता (आत्म-संयम) के नियमों से अपने को आब्द्ध करने वाला पुरुष ही 'आंतरिक स्वतंत्रता' की दृष्टि से समाज का अवलोकन करेगा। उसके जीवनोद्देश्य परोपकारिता की भावना से युक्त, न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होंगे। प्लेटो भी एथेंसवासियों के नैतिक उत्थान और सोफिस्टों की शिक्षा से उत्पन्न अहितकर प्रभाव के विनाश हितार्थ आदर्श समाज (यूटोपिया) के लिए ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते थे, जो चारित्रिक गुणों से संपन्न हों तथा अपने कार्य को विवेक और सहृदयता से कर सकें। अतः, शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए वे बतलाते हैं कि इसके माध्यम से व्यक्ति में 'गुण' का विकास किया जाए। गुणी व्यक्ति ही नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। विवेक, साहस, धैर्य, सहनशीलता, विचार-कौशल जैसे तत्त्व 'गुणी व्यक्ति' के जीवन में वर्तमान होते हैं। जब शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि गुणों का समुचित विकास हो जाता है, तो व्यक्ति नैतिक जीवन के अनुकूल हो जाता है। रोमन शिक्षा के जनक क्विंटीलियन (३५ ई० सन् ११८ ई० के आसपास), जिसके विचारों का प्रभाव यूरोपीय शिक्षा के इतिहास में पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक अत्यधिक बना रहा, चारित्रिक निर्माण और व्यक्तित्व को विकास ही अपने शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित करते हैं। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने इस प्रसंग में कहा है—"भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का संबंध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से नहीं रह कर, केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।"

(The trouble of the whole world including India are due to the fact education has become a mere intellectual exercise and not the ecquisition of moral and spiritual values.)

संसार और भारत के कष्टों को दूर करने का मात्र यही उपाय है कि शिक्षा द्वारा बालकों में नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का विकास करके उनका चरित्र-निर्माण किया जाए। शिक्षाविशारद रोमान्ट बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रसंग में कहते हैं—"शिक्षक का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य शरीर को स्वस्थ, ज्ञान को पूर्ण और भावना को

1. Inner freedom, Perfection, Benevolance, Right, Retribution or Equity.

शिष्ट बनाना नहीं है, अपितु चरित्रको शक्तिशाली और पवित्र बनाना है।" हरवार्ट स्पेंसर के अनुसार तो मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता और सबसे बड़ा रक्षक चरित्र है, शिक्षा नहीं। भारतीय मनीषियों और शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण पर बहुत बल दिया है। महात्मा गांधी से किसी प्रसंग में पूछा गया था कि भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा में आपका क्या उद्देश्य होगा ? इस प्रसंग में बड़े स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा था—'चरित्र-निर्माण।' हरवार्ट चरित्र-निर्माण और नैतिकता के विकास के लिए शिक्षा पर अत्यधिक बल देते हैं। वे इस आशय के शब्द लिखते हैं —"नैतिकता मानव जाति का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है, जो शिक्षा द्वारा उपलब्ध हो सकेगी।"

हरवार्ट शिक्षा में नैतिकता का सिद्धांत सर्वोपरि मानते हैं अवश्य, परंतु इसमें शिक्षा का अर्थ संकुचित नहीं होता। नैतिकता और चरित्र के विकास में वे धार्मिक संकीर्णता को कोई स्थान नहीं देते। नैतिकता के विकास से छात्रों में धर्मांधता, कट्टरता और संकीर्णता नहीं आनी चाहिए। हरवार्ट विद्यार्थियों का दृष्टिकोण उदार बनाना चाहते हैं।

(२) रुचि का सिद्धांत

हरवार्ट ने रुचि के मनोवैज्ञानिक सत्य का अच्छी तरह मूल्यांकन किया और अपनी शिक्षा-पद्धति का उसे आधार माना। रुचि मन में स्थित ऐसी क्रियाशील शक्ति है, जो इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि हमें किन अनुभवों और विचारों की ओर विशेष ध्यान देना है। सहज रुचि के अभाव में शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह बालकों को ऐच्छिक रुचि की उत्प्रेरणा दे। हरवार्ट के अनुसार हमारी रुचि बहुमुखी (Many-sided-interest) होनी चाहिए। उनका विश्वास था कि नैतिक व्यक्तित्व के चरम उद्देश्य को हम रुचियों के सर्वांगीण विकास द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। आदर्श व्यक्ति वही है, जिसने बहुमुखी रुचि की सहायता से उच्चतम नैतिक चरित्रकी उपलब्धि की है।

बालक की अभिरुचि के अनुसार ही पाठ का संपादन होना चाहिए। आज का मनोविज्ञान भी इस तथ्य पर बहुत बल देता है। यदि शिक्षा अपनी पाठन-विधि द्वारा बालक में उत्प्रेरणा उत्पन्न कर सकती है, तो बालक को उस पाठ के ग्रहण में विशेष रुचि होगी। बालक उन्हीं वस्तुओं एवं घटनाओं में रुचि रखता है, जिनका संबंध उसकी मूल-प्रवृत्तियों से होता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु में बालक की मूल-प्रवृत्तियों की क्रियात्मकता बढ़ती है, उसमें वह स्वाभाविक रूप से रुचि लेता है। सभी आधुनिक शिक्षाशास्त्री शिक्षा में बालक की रुचि को ही प्रधानता देते हैं। हरवार्ट ने अपनी शिक्षा-संबंधी नीतियों का निर्धारण करते हुए शिक्षकों को बतलाया

है—"उन्हें बालक की रुचि का सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। जब बालकों की रुचि पढ़ने की ओर नहीं हो, तो उन्हें नहीं पढ़ाना चाहिए। इससे उनके विकास में बाधा पड़ती है। पाठ पढ़ाने के पूर्व उन्हें बालकों में पाठ के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए, जिससे वे पाठ को उचित ढंग से समझ सकें। अध्यापक को चाहिए कि वह बालक के विचार-वृत्त (सर्किल ऑफ थॉट) को जान कर उसी के अनुकूल उसे शिक्षा प्रदान करें।" पाठ्य-विषय इतना रोचक होना चाहिए कि उससे बालक का ध्यान अपनी ओर सहज ही आकर्षित हो। विषय की वास्तविक उपयोगिता ऐसी ही अवस्था में सार्थक हो सकेगी।

हमारे प्राचीन शास्त्रों में भी बालकों की रुचि के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था का विधान है। ऋग्वेद का मंत्र इस संबंध में आदेश देता है। यथा—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सुखायः,
मनोजवेष्वसमा बभूवः।
आदघ्नास उपकक्षा स वे,
हृदा इव स्नात्वा उत्व दद ओस। ऋग्वेद १०।७१।८

एक ही कक्षा में पढ़नेवाले बालक शारीरिक दृष्टि से समान होने पर भी समान योग्यता वाले नहीं होते। कोई घुटने तक जल वाले जलाशय के समान होते हैं और कोई डुबकी लगाने योग्य जल वाले जलाशयों के समान होते हैं—इस महान् अंतर का कारण 'मनोजव' अर्थात् सबका भिन्न-भिन्न रुचि का होना है।

इसलिए वेद-मंत्र बतलाता है कि शिक्ष्य की शिक्षा उसकी मानसकि रुचि के अनुरूप होनी चाहिए। जिसको जिस विषय में रुचि हो, उसको उसी विषय की शिक्षा दी जानी चाहिए और उसको अपने अभिलषित विषय का विशेषज्ञ बनने का अवसर देना चाहिए। मंत्र ने स्पष्ट शब्दों में पुनः बतलाया है कि—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्,
गायत्रं त्वो गायति शक्करीपु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्या,
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः। ऋग्वेद १०-७१-१२

एक व्यक्ति, ज्ञान-विज्ञान में रुचि रखने वाला अपनी योग्यता से ज्ञान-विज्ञान को परिपुष्ट करने में लगा रहता है और एक दिन बड़ा भारी ज्ञानवान बन कर श्रोता का आसन ग्रहण करता है।

एक और व्यक्ति है, जो गान-वादन में अभिरुचि रखता है तथा उद्गाता बन जाता है।

एक और है, जो विद्या का जानकार बनकर महान् शिक्षक और व्याख्याता बन जाता है तथा ब्रह्मा की पदवी पाता है। एक विद्वान् और है, जो गणित-विद्या की प्राप्ति में पूर्ण मनोयोग लगाकर महान् गणितज्ञ बन जाता है तथा एक दिन यज्ञ के अध्वर्यु का स्थान प्राप्त कर लेता है। ये सब 'मनोजव' अर्थात् मानसिक शक्ति के विकास और अभिरुचि के चमत्कार हैं। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में रुचियों का समावेश अवश्य होना चाहिए। आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों को भी यही तथ्य स्वीकार है।

३. पूर्वानुवर्त्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का सिद्धांत

हरबार्ट का कथन है कि विद्यालय में मात्र तथ्यों का ज्ञान कराना ही शिक्षा-संबंधी और नैतिक साध्यों के लिए पर्याप्त नहीं है। उन्होंने पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' का अनुसरण करते हुए इसको विशेष विकसित किया और यह निष्कर्ष निकाला कि नवीन ज्ञान का सूत्रपात विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान द्वारा होना चाहिए। इस नए को पुराने द्वारा समन्वित करने की धारणा को हरबार्ट ने 'पूर्वानुवर्त्ती प्रत्यक्ष ज्ञान' की संज्ञा प्रदान की है। पूर्व अनुभवों एवं ज्ञान के साथ नवीन विचारों का संबंध स्थापित करने को हरबार्ट शिक्षकों के लिए एक महान् कला मानते हैं।

फ्रोबेल की 'जीवन केंद्रित शिक्षा', डिवी का 'समस्या सिद्धांत' तथा महात्मा गांधी का 'बुनियादी तालीम' जीवन और बालक के पूर्व अनुभवों के साथ संबंध स्थापित करने पर पूरा बल देते हैं। हरबार्ट के शिष्य जिलर ने तो इस सिद्धांत को विशेष विस्तार दिया है।

४. विचार-वृत्त तथा साहचर्य का सिद्धांत

हरबार्ट के अनुसार शिक्षा के तीन अंग हैं—

(क) बाह्य नियंत्रण अथवा शासन—बालकों के नैतिक चरित्र की दृढ़ता और उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनके अभिभावकों एवं शिक्षकों द्वारा बाह्य नियंत्रण बना रहे। इससे उन्हें एक उपयुक्त वातावरण प्राप्त होगा, जिसके माध्यम से उनकी वांछित उन्नति हो सकेगी।

(ख) प्रशिक्षण—आत्म-नियंत्रण एवं आत्म-संयम के समुचित गठन और व्यवस्थित विकास के लिए प्रशिक्षण आवश्यक होता है। प्रशिक्षण का संबंध हमारे मस्तिष्क से चरित्र-विकास में प्रशिक्षण की अत्यधिक आवश्यकता है।

(ग) निर्देश—चरित्र-विकास के लिए निर्देश की भी आवश्यकता है। निर्देश से हरबार्ट का लक्ष्य है—'शैक्षिक निर्देश'। इस संबंध में हरबार्ट कहते हैं, "मेरे लिए बिना निर्देश के शिक्षा का कोई रूप ही नहीं है। निर्देश द्वारा अवश्य ही चरित्र-निर्माण

होगा। प्रथम के विना अंतिम अस्तित्वहीन है। यही मेरे शिक्षा-सिद्धांत का मूल तत्त्व है।" यही शैक्षिक निर्देश जो इच्छा तथा चरित्र के रूप का निर्माण करता है, शिक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य है। निर्देश का कार्य है कि अत्यंत कुशलतापूर्वक ध्यान में लाए जाने वाले विचारों को एकत्र कर उन्हें परस्पर समीप लाने एवं संगठित करने की चेष्टा करे तथा नवीन विचारों से मन का निर्माण करे। इस प्रकार हरबार्ट के 'विचार-वृत्त' का निर्माण किया जाता है। पूर्वानुवर्त्ती ज्ञान की प्रक्रिया ही इस विचार-चक्र के निर्माण में सहायक होती है। इस प्रकार ज्ञान, विचार तथा कार्य का एक चक्र है, जिनके सम्मिलित प्रभाव से चरित्र बनता है। चरित्र का आरंभ ज्ञान तथा अन्य क्रिया में होता है।

(५) सांस्कृतिक युग का सिद्धांत

हरबार्ट का 'सांस्कृतिक युग सिद्धांत' (Caltural Epoc Theory) में बड़ा विश्वास था। प्रत्येक बालक को वह आदिकालीन मानव-विकास की प्रवृत्तियों से युक्त मानते हैं। शनैः-शनैः उसका विकास होता है। यह विकास-क्रम मानव-विकास-क्रम के ही समान होता हैं। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालकों के लिए पाठ्य-क्रम, शिक्षा-विधि एवं पाठन-सामग्री को वे इस प्रकार सुनियोजित करें कि उनका मानव-सभ्यता के विकास-क्रम से स्पष्ट संबंध हो अर्थात् सांस्कृतिक विकास का ध्यान रखा जाए। वस्तुतः बालक की शिक्षा मानव-संस्कृति के विकास-क्रम पर आधारित होनी चाहिए।

हरबार्ट द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य

१. सामाजिक विकास

हरबार्ट पेस्टालॉजी के शिक्षा-सिद्धांत से बहुत प्रभावित थे। पेस्टालॉजी के समान ही वे शिक्षा द्वारा समाज केउत्थान की बात बतलाते हैं। शिक्षा का विधान इस प्रकार किया जाए, जिससे बालक समाज का एक प्रमुख अंग बने और इसके गठन एवं संवर्द्धन में अपनी समस्त शक्ति लगा दे। इसीलिए रूसो के उस विचार का वे खंडन करते हैं, जिसमें कहा गया है—'बालक की शिक्षा प्रकृति की गोद में हो।' हरबार्ट का विचार है कि बालक तत्काल समाज में जीवन-यापन करने योग्य व्यक्ति बने। समाज से दूर, व्यक्ति का वे अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। डॉ० डिवी के अनुसार व्यक्ति को सामाजिक बनाना शिक्षा का प्रथम कर्त्तव्य है। व्यक्ति में जब तक सामाजिकता के गुणों का आविर्भाव नहीं हो जाता, तब तक समाज का वह सफल अंग नहीं बनेगा। डॉ० डिवी के इस विचार का हरबार्ट अनुमोदन करते हैं, जिसमें कहा गया है कि यदि व्यक्ति में सामाजिक गुण वर्त्तमान है, तो उसका चरित्र

अवश्य अच्छा होगा। एक अच्छे चरित्र वाले व्यक्ति से समाज का सदैव उपकार होता है। हरबार्ट द्वारा निर्धारित उनके पाठ्यक्रम के विषय भी वैसे ही हैं, जिनसे बालक के सामाजिक जीवन में मानवीय गुणों का समन्वय हो।

२. सदाचार की शिक्षा

बालकों के समुचित विकास के लिए हरबार्ट उनके नैतिक और सामाजिक विकास की व्यवस्था करना चाहते थे। उन्होंने उनके नैतिक और सामाजिक विकास पर बहुत बल दिया। उनकी दृष्टि में 'नैतिकता ही शिक्षा की एक और केवल एक समस्या है।' शिक्षा का संपूर्ण उद्देश्य एक ही शब्द 'सद्गुण' में निहित है। आदेश का अंतिम उद्देश्य सद्गुण की प्राप्ति है। अतः, विद्यालयों में वे सदाचार और धार्मिक तत्त्वों की व्यवस्था चाहते थे।

३. रुचि का अध्ययन

हरबार्ट का विश्वास था कि सदाचार तथा धार्मिकता के सद्गुण, शिक्षा द्वारा उपलब्ध होंगे, परंतु इसके लिए बालकों की रुचि अर्थात् विचारों, प्रवृत्तियों तथा मानसिक क्षमता आदि का विकास और अध्ययन आवश्यक है। उनका कहना था कि बालक सदाचार तथा गुणों को तब तक नहीं ग्रहण करेंगे, जब तक ये गुण उनके विचारों से समतुल्यता नहीं स्थापित करते। अतः, हरबार्ट की शिक्षा का तीसरा प्रमुख उद्देश्य 'बहुमुखी रुचि' उत्पन्न करना है।

पाठ्यक्रम

पिछले पृष्ठ में मैंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि हरबार्ट ने अध्ययन की ाखाओं का निर्धारण किया–प्रथम, ऐतिहासिक और द्वितीय वैज्ञानिक। वे हमारे ारों के भी दो उद्गम-स्रोत स्वीकार करते हैं—मानव जाति तथा प्रवृत्ति। विचारों के इन दो उद्गम-स्रोतों के आधार पर उनके पाठ्यक्रम के भी दो प्रमुख विभाग हैं :—

(क) ऐतिहासिक और (ख) वैज्ञानिक।

(क) ऐतिहासिक शाखा में—इतिहास, साहित्य, भाषा तथा
(ख) वैज्ञानिक शाखा में—गणित, भूगोल, प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइंस) कला, उद्योग-धंधा जैसे विषयों को रखा गया है।

हरबर्ट द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम माध्यमिक शिक्षा पर विशेष बल देता है। इसमें वैज्ञानिक शाखा की प्रधानता है; क्योंकि मानव-जीवन हितार्थ विषय यहीं प्रतिपादित किए गए हैं। हरबार्ट सांस्कृतिक युग-सिद्धांत में विश्वास करते थे। अतः, उनकी दृष्टि में इतिहास का अध्ययन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'ओडेसी' (Odessey)

को वे आत्मकथाओं और कहानियों के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मानते हैं। वे ग्रीक और लैटिन की शिक्षा का आधार इतिहास को बनाना चाहते थे। वे क्विंटीलियन के इस विचार से सहमत थे कि ग्रीक की शिक्षा लैटिन की शिक्षा के पूर्व होनी चाहिए।

हरबार्ट की शिक्षण-विधि : पंचपदीय सोपान

पाठ को विधिवत् बनाने के लिए हरबार्ट का पंचपदीय सोपान, शिक्षाशास्त्र के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। शिक्षा-जगत् को उन्होंने वस्तुतः स्पष्टता, साहचर्य, व्यवस्था और विधि चार ही पद दिए हैं। परंतु, उनके शिष्य जिलर और अन्य लोगों ने कुछ वर्ष पश्चात् 'स्पष्टता' पद को प्रस्तावना तथा प्रस्तुतीकरण नामक दो भागों में विभाजित किया तथा साहचर्य, व्यवस्था, विधि के नामकरण में भी परिवर्तन कर क्रमशः तुलना, नियमीकरण तथा प्रयोग कर दिया और तब से इसमें पाँच पद हो गए। इस प्रकार हरबार्ट के चतुष्पदी ने पंचपदी का रूप ले लिया। निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत पंचपदी के रूप को विशेष स्पष्ट किया गया है—

चतुष्पदी	पंचपदी
१. स्पष्टता (Clearness)	(क) प्रस्तावना
	(ख) प्रस्तुतीकरण
२. साहचर्य (Association)	(ग) तुलना तथा तत्त्व-निरूपण
३. व्यवस्था (System)	(घ) नियमीकरण
४. विधि (Method)	(ङ) व्यावहारिक प्रयोग

पंचपदी

(क) प्रस्तावना (Preparation)—विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान को प्रश्नों की सहायता से शिक्षक यहाँ नवीन रूप से उनका संबंध स्थापित कराते हैं। नवीन ज्ञान देने के पूर्व प्रत्यानुवर्त्ती ज्ञान को विकसित करना सर्वदा अपेक्षित और मनोवैज्ञानिक है। इसमें ज्ञात से अज्ञात के सिद्धांत को अपनाया जाता है। शिक्षकों को इस कार्य में विशेष समय देने की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तावना के अंत में 'उद्देश्य-कथन' भी होना चाहिए।

(ख) प्रस्तुतीकरण (Presentation)—शिक्षक यहाँ अपने विद्यार्थियों के समक्ष पाठ्य-वस्तु को प्रस्तुत करता है। वह विषय को विशेष स्पष्ट करने के लिए उसे खंडों में विभक्त कर क्रमबद्ध करता है और श्रव्य-दृश्य साधनों की सहायता से उसे विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करता है। पाठ्य-वस्तु को प्रस्तुत करने में शिक्षकों को कुशलता और मनोवैज्ञानिकतापूर्वक पाठ के प्रति बालकों की रुचि आकर्षित करनी

चाहिए। उनकी ऐसी सफल चेष्टा होनी चाहिए, जिससे बालक प्रस्तुत पाठ को भली-भाँति समझ सकें।

(ग) तुलना तथा तत्त्व-निरूपण (Comparision and Abstraction)—इस पद में बहुत्व में एकत्व की खोज की जाती है। शिक्षक यहाँ प्रत्येक तथ्य को एक दूसरे से मिलाने की चेष्टा करते हैं तथा तुलना (उदाहरण) का आधार लेते हैं।

(घ) नियमीकरण अथवा साधारणीकरण (Generalisation)—इस पद में विद्यार्थियों को विशेष सक्रिय रहना पड़ता है। शिक्षक विद्यार्थियों की सहायता करते हुए, प्रस्तुत पाठ से संबद्ध नियम निर्धारित कराते हैं।

(ङ) प्रयोग (Application)—यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद है। शिक्षक की सफलता यहीं आँकी जाती है। इसमें विद्यार्थियों को नए विचारों का अभ्यास तथा नियमों का प्रयोग सिखाया जाता है।

गृह-कार्य का विधान भी इसी पद के अंतर्गत होता है।

हरबार्ट और शिक्षक

हरबार्ट के शिक्षा-दर्शन में शिक्षकों का महान् उत्तरदायित्व है। योग्य एवं कर्त्तव्यपरायण शिक्षकों के अभाव में हरबार्ट की शिक्षा-योजना अधूरी रह जाएगी।

हरबार्ट ने नैतिकता और चरित्र को शिक्षा का आधार स्वीकार किया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के संपादन में शिक्षकों का ही सर्वोपरि योग हो सकेगा। उन्होंने बाल-मसोविज्ञान एवं रुचि की भी अत्यधिक महत्ता स्वीकार की है। उनका विचार है कि पाठ्य-विषयों में सर्वप्रथम बालकों की रुचि जाग्रत की जाए। अपने 'पंचपदीय सोपान' में वे स्पष्ट कहते है कि पूर्ण सतर्कता, कुशलता और मनोवैज्ञानिकतापूर्वक पाठ के प्रति बालकों की रुचि आकर्षित करने की आवश्यकता है। इस कार्य को भी शिक्षकों को ही करना है। हरबार्ट के अनुसार शिक्षकों को बालकों के विचार-वृत्त का ज्ञान रख कर पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्षज्ञान (समवाय) के माध्यम से उन्हें ज्ञानपिपासु बनाना है।

हरबार्ट वातावरण पर बल देते हैं और बालक के चरित्र, रुचि, मूल-प्रवृत्ति आदि के विकास के लिए 'उचित वातावरण' निर्माण करने का सुझाव देते है। शिक्षकों को विद्यार्थियों में स्व-अनुशासन और स्व-क्रियाओं की प्रवृत्ति के निर्माण का उत्तरदायित्व वे अवश्य सौंपते हैं, परंतु कक्षा-शिक्षक के लिए 'अनुशासन की व्यवस्था' का भी पूर्ण समर्थन करते हैं तथा शिक्षकों को इस कार्य के लिए सावधान करने की बात बतलाते हैं।

हरबार्ट और मनोविज्ञान

हरबार्ट ने अपने मौलिक शैक्षणिक विचारों से मनोविज्ञान के क्षेत्र को भी प्रभावित किया। 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) को अस्पष्ट बतलाते हुए उन्होंने इसका बहिष्कार किया। उनका विचार था कि मानव-मस्तिष्क में विभिन्न केंद्र नहीं हैं तथा आत्मा (मन) की कोई जन्मजात प्रवृत्तियाँ या शक्तियाँ नहीं हैं। शक्ति-मनोविज्ञान के समर्थकों का विचार है कि बच्चा संपूर्ण मानसिक क्रियाओं के साथ उत्पन्न होता है, यद्यपि ये मानसिक क्रियाएँ अविकसित दशा में ही रहती हैं। इसके अनुसार मानव-मस्तिष्क स्वतंत्र विचारों का समूह है। परंतु, हरबार्ट ने इसका विरोध किया है। उन्होंने इस सिद्धांत का पोषण किया है कि मानव-मस्तिष्क 'एक' है और बहुत से विभागों द्वारा नहीं बना है।

हरबार्ट ने मानसिक प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया है—

१. ज्ञानात्मक (Knowing)

२. भावात्मक (Feeling) और

३. इच्छा एवं क्रियात्मक (Willing)।

इनमें वे अंतिम स्थिति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इच्छा ही प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि है। अतः, इसे निर्णयशील एवं विचारशील होना आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान भी उनके इस विचार से सहमति प्रकट करता है। अंतर केवल इतना ही है कि हरबार्ट इन तीनों को अलग-अलग स्वीकार करते हैं, परंतु आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा में इन तीनों का सम्मिलित प्रकटीकरण होता है।

हरबार्ट और अनुशासन

हरबार्ट बालकों के चारित्रिक और नैतिक विकास के लिए बालकों को स्वतंत्रता देने के पक्षपाती हैं, परंतु वे पूर्ण स्वतंत्रता का विरोध करते हैं। इस संबंध में उनका स्पष्ट विचार है कि जब तक उन्हें स्वतंत्रता नहीं मिलेगी, तब तक उनमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक तथा नैतिक गुणों का प्रादुर्भूतीकरण नहीं होगा। वे इतना अवश्य चाहते हैं कि यह स्वतंत्रता सीमा के अंदर ही बनी रहे। प्रकृतिवादियों के समान वे दंड के विरोधी हैं, परंतु बालकों की सफल नागरिकता की शिक्षा के लिए वे 'ट्रेनिंग', 'निर्देश' तथा 'अनुशासन' इन तीनों का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'ट्रेनिंग' द्वारा बालक का चरित्र निर्मित किया जाता है, 'निर्देश' द्वारा उसका गठन होता है तथा अनुशासन उसके चरित्र को नियंत्रित करता है। वे 'ट्रेनिंग' को अनुशासन की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं; क्योंकि ट्रेनिंग का संबंध बालकों के भविष्य से है।

अनुशासन बनाए रखने के लिए हरबार्ट बालक-बालिकाओं को दंड देने के भी पक्षपाती हैं। उसके लिए अनुशासन एक आवश्यक बुराई (A necessary evil) है। वर्ग में शांति-स्थापना एवं बालकों के मन की दूषित भावनाओं के परिष्करण हेतु अनुशासन को वे एक अत्यंत प्रभावशाली माध्यम मानते हैं। अनुशासन को वे वस्तुतः बहुत आवश्यक मानते हैं।

हरबार्ट के शिक्षा-दर्शन की आलोचना

अपनी मौलिक विचारधाराओं के आधार पर समाज को हरबार्ट ने अपना एक मौलिक शिक्षा-दर्शन दिया, परंतु इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं, जो निम्नांकित हैं :—

(१) शिक्षक की प्रमुखता

हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-सिद्धांत में शिक्षक की प्रधानता है। प्रमुखता वस्तुतः बालक की होनी चाहिए। 'शिक्षा का केंद्र-बिंदु बालक है'—आधुनिक मनोविज्ञान इसी सिद्धांत का पोषक है।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण की प्रधानता

हरबार्ट ने अपने पाठ्यक्रम में विद्यार्थियों के सामाजिक दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया है।

(३) सैद्धांतिकता की प्रधानता

हरबार्ट प्रदत्त पंचपदीय शिक्षण-पद्धति मुख्यतः सैद्धांतिक ही अधिक है, व्यावहारिक कम। शिक्षण-अवधि की समाप्ति के पश्चात् शिक्षक अपने कर्मक्षेत्र में इन नियमित पदों को विशेष महत्त्व नहीं देते। वे पुस्तक और भाषण-प्रणाली को ही अधिक अपनाते हैं।

(४) वैयक्तिक भिन्नता का अभाव

आधुनिक मनोविज्ञान इस सिद्धांत का पोषक है कि बालकों में वैयक्तिक भिन्नता है। उनकी भावात्मक, मानसिक, बौद्धिक आदि मनोवृत्तियाँ एक समान नहीं होतीं। परंतु, हरबार्ट की पंचपदीय शिक्षण-पद्धति वर्ग के समूचे बालक को एक समान मान कर पठन-पाठन का विधान करती है। इस संबंध में डॉ०जॉन डिवी का विचार है कि पंचपदीय शिक्षण-विधि का व्यावहारिक पक्ष बहुत ही नीरस है तथा इसमें बालकों की रुचि का दुरुपयोग कर उन्हें अनुशासन के कठोर नियमों में बाँध दिया जाता है।

(५) स्वतंत्रता एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ह्रास

पंचपदीय पद्धति द्वारा शिक्षकों की स्वतंत्रता का हनन होता है; क्योंकि उन्हें नियमों में आबद्ध रह कर शिक्षण-कार्य करना पड़ता है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ एवं प्रेरणा-शक्ति का भी ह्रास होता है।

(६) क्रियाशीलता का अभाव

हरबार्ट के पंचपदीय सोपान में क्रियाशीलता का महत्त्व कम है।

(७) शारीरिक शिक्षा का अभाव

हरबार्ट ने अपनी शिक्षा-पद्धति में शारीरिक शिक्षा एवं मनोरंजन के लिए विधान नहीं किया है।

शिक्षाशास्त्र को हरबार्ट की देन

गुण

हरबार्ट के शिक्षाशास्त्र का देश-विदेश सभी जगह गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों द्वारा अमेरिका में भी उनके शिक्षा-सिद्धांतों का व्यापक प्रचार हुआ। डॉ० स्टाप ने जेना में अध्यापकों के प्रशिक्षण-हेतु एक महान् केंद्र स्थापित किया। अमेरिका में पाठ्यक्रम-निर्माण करते समय 'इतिहास' को अब महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। शिक्षण में समन्वय और केंद्रीकरण की पद्धति भी वहाँ अपनायी गई।

कतिपय त्रुटियों के वावजूद हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धांत हमारे लिए सर्वथा उपयोगी हैं। वालकों के चारित्रिक, नैतिक और सामाजिक भावना को सजग करने के लिए यहाँ पर्याप्त व्यवस्था की गई है। पंचपदीय सोपान पूर्णतः वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति है। शिक्षा देने का यहाँ एक निश्चित विधान (क्रम) है। पाठ में वालकों की रुचि वनी रहे, इस पर वहुत ध्यान दिया जाता है। पाठ्यक्रम में सामाजिक एवं साहित्यिक विषयों के अध्यापन की व्यवस्था है। निर्धारित पाठ्यक्रम को पढ़ाने के लिए 'पंचपदीय सोपान' की विधि पर्याप्त उपयुक्त मानी गई है। आज प्रशिक्षण विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में इसका पर्याप्त प्रचार है। विचार-चक्र के निर्माण एवं वालकों में मानवीय गुणों के प्रस्फुटिकरण की कल्पना राष्ट्र के विकास की मौलिक योजना है।

अध्याय १८

फ्रोबेल

फ्रोबेल का पूरा नाम फ्रेडरिक विलियम ऑगस्ट फ्रोबेल (Friedrich William Augast Froebel) था। शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल ने अपनी शिक्षा-पद्धति की प्रवर्तना 'किंडरगार्टन-पद्धति' द्वारा की है।

संक्षिप्त जीवन-परिचय

फ्रोबेल का जन्म दक्षिण जर्मनी के एक ग्राम ओबरवीसबैच में एक विख्यात पादरी के घर सन् १७८२ ई० में हुआ था। इनकी माता का देहांत उसी समय हो गया, जब वे मात्र नौ माह के थे। सौतेली माता द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने के कारण इन्हें अपनी बाल्यावस्था में ही दुःख का अनुभव हुआ। स्नेह के अभाव में वे चिंतनशील एवं भावुक बन गए। कल्पनाप्रधान एवं भावुक व्यक्तित्व ने प्रकृति के सुरम्य दृश्यों में मन रमा कर उससे मानव का तादात्म्य ढूँढ़ निकाला। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इनके मामा ने इनकी स्कूली शिक्षा की व्यवस्था की। इनकी गणना वहाँ पिछड़े हुए छात्रों में की जाती थी। इनका अधिक समय जंगलों में घूमने तथा जंगली पशु पक्षियों, पेड़-पौधों, फल-फूलों तथा विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों के निरीक्षण में व्यतीत होता था। 'प्रकृति के सभी पदार्थ एक-दूसरे से संबद्ध हैं और सबमें एक व्यापक अभिन्नता और आत्मीयता विद्यमान है।' इस मंगलमय सूत्र का अभ्यास फ्रोबेल को इसी अवस्था में संभवतः हो गया था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में इनको वन-रक्षक का कार्य सौंपा गया। वहाँ भी उन्होंने प्रकृति के साथ एक प्रकार का आध्यात्मिक संबंध स्थापित कर वनस्पति तथा वन से व्यावहारिक परिचय बढ़ाया। इसके पश्चात् सन् १७९९ ई० में ये जेना विश्वविद्यालय में प्रकृति-विज्ञान के अध्ययनार्थ गए। वहाँ के आदर्शवादी दर्शन तथा प्रगतिवादी विज्ञान के परिपूर्ण वातावरण से वे बहुत प्रभावित हुए। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे की काव्य-कृतियों ने उन

पर अच्छा असर डाला, परंतु कुछ समय तक अध्ययन करने के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्हें विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। विश्वविद्यालय में उन पर कुछ ऋण भी हो गया, फलस्वरूप उन्हें नौ सप्ताह तक जेल में रहना पड़ा था। तत्पश्चात् जीविकोपार्जन के लिए वे फ्रेंक फोर्ट-एन-मेन (Frank fort-en-main में शिल्प-विद्या सीखने गए। इसी बीच डॉ० ग्रूनर से उनकी मित्रता हो गई। डॉ० ग्रूनर ने उन्हें एक शिक्षालय में शिक्षक के पद पर नियुक्त कर दिया, परंतु मनोविज्ञान और शिक्षण-विधि का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से १८०८ ई० में उन्होंने पेस्तालॉजो (Pestalozzi) के स्कूल, यवर्डन में दो वर्ष तक शिक्षक का कार्य किया। प्रकृति-विज्ञान का विशेष ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से सन् १८११ ई० में गाटिनमेन विश्वविद्यालय में पुनः उन्होंने अध्ययन-कार्य प्रारंभ किया और फिक्टे के दर्शन का मनन किया। परंतु अध्ययन काल की समाप्ति के पहले ही सन् १८१३ ई० में वे सेना में भर्ती हो गए। सैनिक जीवन ने उनके अंदर अनुशासन एवं व्यवस्था के प्रति अनुराग को जन्म दिया। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् वे पुरात्व-संग्रहालय के अधिकारी पद पर कार्य करने लगे।

सन् १८१६ ई० में फ्रोबेल पुनः शिक्षा की ओर अभिमुख हुए और अपने शैक्षणिक दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप देने के लिए कीलहाऊ (Keillhau) में उन्होंने एक स्कूल की स्थापना की, जिसका नाम था "युनिवर्सल जर्मन एडुकेशनल इंस्टिच्यूट" (Universal German Educational Institute)। यह स्कूल एक झोपड़ी में लगता था, जिसमें पढ़ने वाले केवल पाँच बच्चे थे। इस स्कूल में उन्होंने नई प्रणाली से शिक्षा देना प्रारंभ किया। यहाँ केवल खेल द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था थी। फ्रोबेल ने खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने की विधि को सर्वोत्तम माना है। पर, आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह विद्यालय प्रगति नहीं कर सका और बंद हो गया। १८२६ ई० में फ्रोबेल ने अपनी पुस्तक 'दि एडुकेशन ऑफ मैन' प्रकाशित करायी। इस पुस्तक में छोटे शिशुओं एवं बालकों की शिक्षा-व्यवस्था का उल्लेख है। कई स्थानों पर अध्ययन-कार्य करने के पश्चात् उन्होंने सन् १८३७ ई० में ब्लैकेन-वर्ग में एक स्कूल खोला। इस विद्यालय का नाम उन्होंने 'किंडर-गार्टन' रखा। किंडरगार्टन जर्मन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'बच्चों का बाग' अथवा 'बालोद्यान'। उनके अनुसार स्कूल बालकों (Kinder) का उद्यान (Garden) है। यहाँ उपयुक्त मिट्टी, सिंचाई और देखभाल प्राप्त कर शिशुरूपी पेड़ विकसित होता है। शिक्षक उस उद्यान का माली (Gardener) है, जिसके अवधानता, निरीक्षण और निर्देशन में बालकुसुम को पुष्पित और पल्लवित होने का अवसर मिलता है। परंतु, प्राचीन विचारधारा के पोषक रुढ़िवादी शिक्षकों ने फ्रोबेल

के शिक्षा-संबंधी इस विचार का घोर विरोध किया। जर्मन-सरकार को भी उनकी शिक्षा-पद्धति में समाजवादी प्रवृत्ति के प्रविष्ट होने का संदेह उत्पन्न हो गया। वे एक क्रांतिकारी ठहराए गए और उनकी समस्त किंडरगार्टनशालाओं को बंद कर दिया गया। इन विरोधों से उनको बहुत दुःख हुआ और १८५२ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

दुर्भाग्यवश फ्रोबेल की किंडरगार्टन-पद्धति का प्रसार उनके जीवन में उतना सफलतापूर्वक नहीं हो सका, जितना उनकी मृत्यु के पश्चात् हो रहा है। विश्व के अधिकांश देशों में छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए किंडरगार्टन स्कूल स्थापित हुए हैं। फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धांतों की छाप विश्वविख्यात् शिक्षाशास्त्री डॉ० जॉन डिवी और मांटेसरी पर स्पष्ट परिलक्षित है।

फ्रोबेल के शैक्षणिक विचार उनकी निम्नांकित पुस्तकों से हमें प्राप्त होते हैं:—

(१) 'एडुकेशन ऑफ मैन' (१८२६ ई०)--इस पुस्तक में छोटे शिशुओं एवं बालकों की शिक्षा-व्यवस्था का उल्लेख है।

(२) 'मदर प्ले एँड नर्सरी साइंस' (१८५३ ई०)—फ्रोबेल की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित इस पुस्तक में माता द्वारा शिशु एवं शिशु-गीतों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

(३)'एडुकेशन बाई डेवलपमेन्ट' (१८९९ ई०)-- इसमें विकास द्वारा शिक्षा की योजना का मौलिक चित्रण है।

(४) 'पैडागॉजी ऑफ दि किंडरगार्टन' (१९०२ ई०)-- इस पुस्तक में किंडरगार्टन के मूल उद्देश्यों एवं उसकी पद्धतियों का विश्लेषण किया है।

(५) फ्रोबेल की आत्मकथा का प्रकाशन (१८९९ ई०)।

किंडरगार्टन-पद्धति

किंडरगार्टन-पद्धति का वातावरण इस प्रकार निर्मित होता है कि उसमें बालक को स्वतंत्रतापूर्वक स्वतः क्रिया द्वारा विकास करने का अवसर प्राप्त हो सके। यहाँ के वातावरण में क्रीड़ा, स्वतंत्रता और आनंद व्याप्त रहता है। निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें या बौद्धिक विषयों या कार्यों का विधान नहीं रखा जाता। बालकों को खेलने अथवा स्वरुचि के अनुसार विभिन्न क्रियाओं में भाग लेने की स्वतंत्रता होती है। तीन से सात वर्ष तक के बच्चों के लिए यह बहुत उपयोगी शिक्षा-पद्धति है।

खेल का स्थान सर्वप्रमुख

किंडरगार्टन-पद्धति में खेल को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बालक शैशवकाल से ही खेल में रुचि रखता है। खेल द्वारा उसे आत्म-प्रकाशन

(Self-exqression) का अवसर मिलता है और उसका विकास होता है। खेल द्वारा सिखायी हुई बात को बालक शीघ्र ही सीख लेते हैं। अतः, फ्रोबेल ने 'खेल द्वारा शिक्षण' पर अपनी शिक्षा-पद्धति की बुनियाद डाली है। किंडरगार्टन प्रणाली में बालकों को आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करने के लिए उचित खेलों की व्यवस्था की जाती है। अतः, शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों की खेल की प्रवृत्ति को उचित मार्ग पर लगाने के दृष्टिकोण से तत्पर हों। यथा—

(१) उनको खेलने की प्रेरणा देकर उन्हें अपनी प्रवृत्तियों के समझने में सहायता दें।

(२) उन्हें उन कार्यों के लिए प्रोत्साहित करें, जो उनके भावी जीवन के विकास में उचित और लाभदायक हैं तथा

(३) उन्हें अनुचित और हानिकारक बातों से खेलों में ही बचावें।

खेल में आत्म-प्रकाशन के लिए निम्नांकित तीन साधनों का प्रयोग किया जाता है :—

(१) गीत (Songs),
(२) अभिनय या गति (Gesture) और
(३) रचनात्मक कार्य (Construction)।

फ्रोबेल को बालकों के जीवन का निरीक्षण करने से यह ज्ञात हुआ कि वे 'गाने गाकर', 'संकेत करके' तथा 'निर्माण द्वारा' अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं। अतः, शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल ने अपनी किंडरगार्टन-पद्धति में बालक-बालिकाओं के उचित विकास के लिए उनकी उपर्युक्त प्रवृत्तियों को साधन के रूप में अपनाया है।

आत्माभिव्यक्ति के ये तीनों साधन पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक ही हैं। सभी क्रियाओं में पारस्परिक संबद्धता पायी जाती है। गीत, गति एवं निर्माण एक साथ चलते हैं। बालक उनके सहारे अपने को अभिव्यक्त करने की शिक्षा ग्रहण करते हैं। तीनों जब साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं,तो बालकों की कल्पना शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है और उनकी ज्ञानेंद्रियों का उचित प्रशिक्षण होता है एवं इन्हीं के सहारे भाषा सिखायी जाती है।

मातृ-खेल एवं शिशु-गीत इस प्रकार से रचे गए हैं कि उनकी भाषा सरल हो और वे खेल-ही-खेल में बालकों के ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता दें तथा बालकों की मांसपेशियों का अभ्यास करावें। किंडरगार्टन-पद्धति में ऐसे पचास गीतों का संकलन किया गया है, जिनमें से प्रत्येक किसी-न-किसी खेल से संबंधित हैं। उन गीतों का प्रयोजन बालक की मानसिक अथवा नैतिक आवश्यकता की पूर्ति करना है। किस

क्रम में ये गीत रखे जाएँ, इसका निर्णय विद्यार्थी के विकास के अनुसार शिक्षक करता है। यहाँ शिक्षक की कुशलता खेल, गीत एवं चित्र के चुनाव में ही देखी जाती है।

प्रत्येक शिशु-गीत के तीन भाग होते हैं :-

(१) माता या शिक्षक का पथ-प्रदर्शन करने का आदर्श।

(२) पद के साथ संगीत।

(३) चित्र, जो गीत पर प्रकाश डाले।

किंतु, उन्हीं तक शिक्षा सीमित नहीं रहती। बालकों के व्यक्तित्व-निर्धारण एवं मस्तिष्क के प्रशिक्षण हेतु फ्रोबेल ने कुछ 'उपहारों' (Gifts) तथा 'व्यापारों' (Occupations) को भी किंडरगार्टन में विशेष महत्त्व दिया है।

'उपहारों' की संख्या बीस है, जिनमें सात प्रमुख हैं।

फ्रोबेल की तीसरी शिक्षण-वस्तु 'व्यापार' है। व्यापार की व्यवस्था उस समय की जाती है, जब उन्हें सभी उपहार प्राप्त हो जाते हैं। व्यापारों की संख्या तथा परिधि अधिक है। जितने भी कार्य या व्यापार बालकों को दिए जाते हैं, उन सबका स्पष्ट शैक्षिक मूल्य होता है। व्यापार के अंतर्गत जो कार्य आते हैं, उनके संबंध में आर० आर० रस्क ने लिखा है — "किंडरगार्टन बच्चों के लिए एक स्कूल है, जिसमें बच्चों को उचित प्रकार से तह करने, चटाई बुनने, मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने, सांकेतिक खेलों तथा क्रियात्मक गानों को उचित ढंग तथा क्रम से सिखाया जाता है।"

किंडरगार्टन-पद्धति के गुण :

(१) यह पद्धति बाल-केंद्रित है। *बालक और उनकी रुचि शिक्षा के प्रधान* अंग माने गए हैं। बालक यहाँ दंड के भय से नहीं, अपितु पारिवारिक प्रेम के वातावरण में ज्ञान ग्रहण करते हैं। शिक्षक उन पर अपने विचारों को आरोपित नहीं करता, बल्कि इसका उन्हें अवसर देता है कि बालक स्वतः क्रिया द्वारा स्वयं सीखें तथा अपने में आत्मशक्ति और आत्मविश्वास उत्पन्न करें।

(२) इस पद्धति में खेल को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। उन्हें यहाँ के स्वतंत्र वातावरण में गेंदों, पटरियों छड़ियों, छल्लों तथा डोर आदि के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलने का अवसर दिया जाता है।

(३) बालोद्यान-प्रणाली में फ्रोबेल ने बाल-शिक्षणार्थ विभिन्न खेलों, उपहारों और व्यापारों की कल्पना की है। खेलों का रूप यहाँ सामूहिक होता है, जिसके कारण बालक-बालिकाओं में सामाजिकता का विकास होता है तथा वे अपने सहपाठियों से प्रेम करना सीखते हैं। उनमें भ्रातृ-भावना, त्याग एवं रचनात्मक कल्पना आदि का

विकास होता है। उनमें सत्य एवं न्याय आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है। किंडरगार्टन संस्था समाज का एक छोटा नमूना होती है।

(४) फ्रोवेल ने वालक के नेत्र, स्पर्शेंद्रिय आदि इंद्रिय-शिक्षण पर वल दिया है। इस पद्धति के उपहार ज्ञानेंद्रियों के शिक्षणार्थ अत्यंत उपयोगी हैं।

(५) इस पद्धति के अनुसार 'एकता के नियम' (Law of Unity) का ज्ञान देने की चेष्टा की जाती है। "विश्व की समस्त वस्तुओं में विभिन्नता होने पर भी एकता है"- इसकी जानकारी बालक-बालिकाओं को यहाँ करायी जाती है।

(६) उपहारों तथा व्यापार द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से बालक एक निश्चित क्रम से कार्य करना सीखता है, जिससे उसे अपनी बाल्यावस्था में ही भावी जीवन में अनुशासित जीवन-यापन करने की शिक्षा मिलती है।

(७) फ्रोवेल ने प्रकृति-अध्ययन पर विशेष वल दिया है। प्रकृति-अध्ययन द्वारा बालक ईश्वरीय सुषमाओं के सन्निकट होते हैं और उनमें पर्यवेक्षणशक्ति, तर्कशक्ति एवं विचारशक्ति-जैसे गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

(८) किंडरगार्टन-प्रणाली में शारीरिक श्रम की महत्ता स्वीकार की गई है। यहाँ बालक कार्य करते हुए सीखते हैं। वे बागवानी करते हैं, चटाई बुनते हैं, सीते और पिरोते हैं। इस प्रकार यहाँ आत्मक्रिया और आत्मविश्वास-जैसी शक्तियाँ विकसित की जाती हैं।

आलोचकों ने इस प्रणाली में निम्नांकित दोष बतलाए हैं :-

(१) यह प्रणाली मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अधिक दार्शनिक हो गई है।

(२) इस प्रणाली में 'एकता' और 'विकास' का सिद्धांत भली-भाँति स्पष्ट नहीं होता।

(३) इस प्रणाली में खेल द्वारा शिक्षा दी जाती है। खेल कुछ यंत्रवत् हो जाते हैं। शिक्षा की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है; क्योंकि बालक उपहारों और कार्यों की सीमा के अंदर ही शिक्षा ग्रहण करते हैं।

(४) किंडरगार्टन-प्रणाली में बच्चे सामाजिकता का पूर्ण विकास कर लेते हैं, परंतु उनके व्यक्तिव का विकास नहीं हो पाता है। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में एक बड़ी सीमा तक असफलता मिलने की संभावना रहती है। प्रत्येक बालक एक दूसरे से भिन्न होता है। अत: उनकी रुचियों, अभिरुचियों, योग्यताओं और क्षमताओं आदि में अंतर होता है। अतएव, उनको शिक्षा देने में व्यक्तिगत विकास पर वल देना अनिवार्य है।

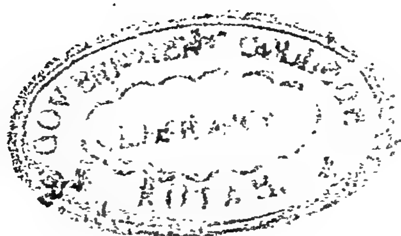
(५) आधुनिक शैक्षणिक मान्यताओं के फलस्वरूप बालकों को समन्वयात्मक ज्ञान दिया जाता है, परंतु खेल के माध्यम से विषयों का सह-संबंध नहीं रह जाता।

(६) किंडरगार्टन प्रणाली व्यय-साध्य है। इस प्रणाली द्वारा समाज के सभी श्रेणी के बालकों को ज्ञान देना संभव नहीं है।

(७) इस प्रणाली के बहुत गीत और उपहार पुराने पड़ गए हैं, अतः देश और काल की रीति के अनुसार उनमें परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद इस शिक्षा-प्रणाली में लाभ एवं शुभ के परिणाम परिलक्षित होते हैं, जिसके फलस्वरूप इसका विश्वव्यापी प्रसार और प्रचार हो रहा है। भारत में भी इस पद्धति का बहुत प्रचार है।





हरबर्ट स्पेंसर

संक्षिप्त जीवन-परिचय

शिक्षा के उद्देश्य को 'पूर्ण जीवन के निर्माण की तैयारी' अथवा 'पूर्ण जीवन की प्राप्ति' (For complete living) बतलाने वाले तथा 'शिक्षा के वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि' हरबर्ट स्पेंसर का जन्म इंगलेंड के डरबी नामक शहर में २७ अप्रिल, सन् १८२० ई० को एक सुसंस्कृत और संभ्रांत परिवार में हुआ था। स्पेंसर के पिता जार्ज विलियम स्पेंसर रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र के अच्छे विद्वान थे और अध्यापन-कार्य करते थे। स्पेंसर के पितामह और चाचा भी शिक्षण-कार्य ही करते थे। अतः, स्पेंसर को अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था में ही एक स्वस्थ और शैक्षिक पारिवारिक वातावरण उपलब्ध हुआ। फलतः उनकी गणना आज विश्व के श्रेष्ठतम शिक्षाशास्त्रियों में ही नहीं, अपितु एक महान् तत्त्ववेत्ता, समाजशास्त्री, राजनीतिविज्ञानविशारद और प्राणिशास्त्रप्रणेता के रूप में भी की जाती है।

हरबर्ट स्पेंसर के पिता रीति-रिवाज की अपेक्षा स्वतंत्र निर्णय से निर्देशित होने वाले व्यक्ति थे। वे स्व-शिक्षा में विश्वास करते थे। अतः, स्पेंसर को भी मुख्यतः इसी प्रणाली द्वारा ज्ञान ग्रहण करने का अवसर मिला। स्वाध्याय के द्वारा ही उन्होंने गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र, भवन-निर्माण कला, इंजीनियरिंग, प्रकृति-अध्ययन एवं समाजशास्त्र-जैसे गूढ विषयों का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सन् १८३६ ई० में (सोलह वर्ष की अवस्था में) ही उन्होंने विद्यालय छोड़ दिया था और अपने चाचा टामस स्पेंसर के पास रह कर विद्योपार्जन किया था। उनके ये चाचा डरबी से ११५ मील दूर 'हिटन' नामक स्थान में अध्यापन-कार्य करते थे। जब पहली बार स्पेंसर हिटन गए, तो वहाँ उनका मन नहीं लगा और वे अपने पिता के पास

हरबी भाग आए। कहा जाता है कि वे अपने चाचा के यहाँ से पैदल ही चल दिए थे। पहले दिन उन्होंने अड़तालिस मील की यात्रा की, दूसरे दिन संतालिस मील की तथा तीसरे दिन बीस मील की। इस प्रसंग में अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं :

"The next morning revealed my meaning. Rising soon after six I started off; having resolved to return home. Reaching Bath in little more than, an hour and buying a penny roll just before leaving the city on the other side, I took the Cheltenham road; and as I ascended the long hill and for some time afterwards, kept glancing over my shoulder to see if I was pursued. Presently, getting on to the high broad back of the Cotswold Hill and increasing my distance from Hinton, I ceased to fear that I should see the pony-carriage coming when I tunned my head. But now as I walked on under the hot sun, I began fully to perceive my torlorn state; far away from anyone I knew, without possibility of going back, with scarcely any money, and with an immense journey before me. No wonder I burst into tears from time to time as I trudged on. However my speed, judging by the result was not much diminished by the occasional fits of grief. Pursuing the monotonous road, varied only by here and there a cottage or a too-gate, I came in the afternoon to the end of the high lands and descended into the Stroud valley; walking though its picturesque scenes in a widely different mood from that in which I had seen them a few weeks before. Reaching Stroud between 5 and 6, I remember asking a man on the other side of the town, which was my way to Cheltenham. He pointed out the way and said—"But you are not going there to-night, are you ?" He would have been greatly astonished to hear that I had already walked from five miles on the other

side of Bath. To Cheltenham I did go. However, reaching it, I suppose, between 9 and 10 in the evening, and finding a small suburban tavern where I got a bed for six pence. I had only two shillings pocket money, which I saw I should have to make last me during the journey. On that day and on succeeding days I repeated my occasional purchase of a penny roel twice or thrice during the journey stopping to get a glass of beer. Bread and water , with perhaps three glasses of beer, were the only things I tasted between Hinton and Derby.

I could not sleep a wink at Cheltenham. The physical excitement produced by walking 48 miles, kept me tossing about till it was time to rise. Next morning, however, I early started off again, undismayed by my bad night. I got a ride out of Cheltenham for some two miles in a cart; and then resumed my weary walk seeing from time to time the Malvern Hills, which, I first caught sight of them the previous evening, had given me a thrill of pleasure as being old friends, Mile after mile was traversed during the sulty August day, along roads thickly covered with dust—through Tewkesbuy and worce ster, on to Droitwich and on to Bromsgrove, which I reached and passed in the evening. I intended to walk that night to Birmingham, but an occurrence deterred me. While resting some miled beyond Bromsgrove I was accosted by one of those wandering Italian image, —sellers, common in my boyhood—men who went about carrying on their heads boards covered with plaster casts, and calling out 'Finees!' This man sat down by me and when I walked on he joined me. After a time he pulled out a large pocket-knife with a blade of some eight inches long or so and spoke of it admiringly. This

as may be imagined, made me shudder. I do not suppose he meant anything but still his act suggested the thought that he might murder me. Presently we arrived at the little inn on the Lickey called the Rose and Crown, and I asked for a bed. Luckily they let me have one and to my great delight they would not let the Italian have one. He had to go on.

That night, like the preceding one, was sleepless. The exertion of walking about the same distance as before (for I believe from Cheltenham to the Rose and Crown is 49 miles, and deducting the 2 in the cart leaves 47) had maintained that feverish state of body which always keeps me awake. Next morning after a few miles walking, I came up with one of those heavy wagons, common in the days before railways, carrying goods between chief towns–wagons now no longer seen–grat lumbering vehicles with large hoods to them. I made friendship with the wagoner; and he let me ride on the soft straw as far as Birmingham, where he stopped. Thence I walked on to Kichfield. At Lichfield I happened to be passing the chief hotel just as the Derby coach drew up: and, getting hold of coachman told him my story. No doubt he saw in my worn face and parched lips how much I had been suffering. He tock pity on me, and, the coach having plenty of room, let me ride for nothing. I asked to ride as far as Burton. when we reached Burton, I offered him the few coppers I had left to let me go on. He, good fellow, refused to have them, but allowed me to keep my seat; and so I reached Derby 3 O'clock in the afternoon of Saturday having left Hinton on Thursday morning. That day, I had walked not more that 20 miles, if so much.

Here, before passing to subsequent incidents, I may remark on the physical effects of this escapade. It can; I think, scarcely be doubted that my system received a detrimental shock. That a boy of 13 should, without any food but bread and water and two or three glasses of beer, and without sleep for two nights, walk 48 miles one day, 47 the next, and some 20 the third, is surprising enough. It is strange that the exertion was at all; and it is highly improbable that it was borne without injury. At an age so far short of maturity, a tax so freat necessarily tells upon the subsequent development. The cost has to be met somehow; and is met, no doubt, by a falling short of ultimate perfection of structure. However, there was no manifest sign of mischief, either then or during subsequent years.

As may be imagined great consternation was caused at home when I made my appearance. No expectation of seeing me had arisen, for no letter had arrive. At that time it took two or three days a letter to go from Hinton to Derby; and some hours had elapsed before information was given at the parsonage which made it clear what had become of me. The following is from my aunts letter, written not to my father but to my uncle William, announcing my flight :—

"Herbert early this morning left us, and without in the slightest degree considering out feelings; as not any one in the house was here until several hours afterwards of his having left Hinton. We however heard from a person who met him before 7 o'clock that he was walking exceedingly fast, and making the best of his way to Bath : from whence we have not the least doubt he intended to proceed to Derby. But as he may not

arrive at his home for some days yet, we are anxious his parents may not hear of this, that they may be spared the very great anxiety which would be caused by the thought of so young a creature travelling so long a distance, friendless and pennyless ! Had there been any cause for his strange conduct we should not have been so much surprise: but nothing in the world has occurred to give him any reason for such a step. He has been treated with the greatest kindness and has not been in any instance punished; indeed he has been much more indulged than before his Father left us.

"It is may decided opinion that unless his Parents punish him severely, and return him again to us immediately, it will not only be insulting to us, but ruinous to the boy himself !"[1]

स्पेंसर की अकेले, इतनी लंबी पैदल यात्रा, मात्र तीन दिनों में उसकी दृढ़ता और निर्भीकता का एक बहुत बड़ा उदाहरण है। उसके भावी कर्मठ जीवन की यह पहली झलक है।

उनके पिता ने अपने भाई के पास उन्हें पुनः भेजा। दूसरी वार स्पेंसर वहाँ रहे और पढ़े। सत्रह वर्ष की अवस्था में ही वे अनेक समस्याओं पर मौलिक ढंग से विचार करने लगे थे। 'चिंतन' उनके प्रारंभिक जीवन की विशेषता थी। वे दार्शनिकों की भाँति चिंतन किया करते थे। चिंतनशील प्रवृत्ति के कारण ही शिक्षा के विविध पहलुओं पर उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए, जो आज तो हमारा मार्ग-दर्शन कर ही रहे हैं, भविष्य में भी शिक्षा-जगत् को अनुप्राणित करते रहेंगे।

स्पेंसर के व्यक्तित्व पर उनके पिता की गहरी छाप थी। वे भी एक स्वतंत्र विचार के पुरुष थे। सन् १८५८ ई० के लगभग उनके चाचा की मृत्यु हो गई। इनकी कुछ संपत्ति स्पेंसर को भी मिली, जिससे उनकी आर्थिक कठिनाई की समस्या के निदान में मदद मिली। सन् १८६८ ई० में वे इटली गए, फिर वहाँ से वे रोम गए। शहर के सौंदर्य से वे बहुत प्रभावित हुए थे। अपनी आत्मकथा (खंड--२) में वहाँ के सौंदर्य का उन्होंने जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है :—

1. Spencer's Autobiography; Vol. I; Page-95 to 98.

"A tedious railway-journey took me to Rome. Here the aspect of things, and chiefly of the City itself., impressed me very differently. Especially charming was the colouring which seemed everywhere harmonious; each turn round a street-corner disclosing a combination of lints such as an artist might have devised."[1]

१८७६ ई० में वे मिस्र गए थे। १८८२ ई० में उन्होंने अमेरिका की यात्रा की थी। १८८३ ई० में वे 'फ्रेंच अकाडमी आफ मोरल एंड पोलिटिकल साइंसेस' के सदस्य निर्वाचित हुए थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि वे जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहे। १९०३ ई० के ८ दिसंबर को ब्राइटन नामक स्थान में उनकी मृत्यु हुई। अपने जीवन के अंत समय तक वे बौद्धिक क्रियाशीलता और साहित्य-सृजन में संलग्न रहे।

सत्रह वर्ष की अवस्था में उर्वा नगर में उन्होने चार-पाँच महीने तक अध्यापन-कार्य भी किया था। विभिन्न विपयों के पर्याप्त ज्ञान के पश्चात् उन्होंने पत्रकारिता-क्षेत्र में कार्य प्रारंभ किया। उस क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त सहायता मिली। सन् १८४८ ई० से प्रायः दस वर्प तक वे 'इकनामिस्ट' नामक पत्रिका में सहायक संपादक का कार्य करते रहे। यहाँ उनका संपर्क इलियट और हक्सले-जैसे विद्वानों से हुआ। हक्सले स्पेंसर की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रधान पोषक था। सन् १८५८ ई० तक स्पेंसर का यश एक पत्रकार और लेखक के रूप में सर्वत्र फैल गया। तत्पश्चात् उन्होंने सहायक संपादक से पद-त्यागकर स्वतंत्र रुप से पुस्तक-प्रणयन कार्य प्रारंभ किया। उन्होंने स्वतंत्र रूप से दर्शनशास्त्र का चिंतन और मनन किया था और 'सिन्थेटिक फिलासफी' नाम से समाज को अपना निजी दर्शन दिया है।

प्रकाशित पुस्तकें

स्पेंसर की प्रथम पुस्तक 'सोशल स्टैटिक्स' १८५० ई० के लगभग प्रकाशित हुई। उन्होंने इस पुस्तक का प्रणयन तत्कालीन समाज की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के गंभीर अध्ययन के पश्चात् किया है। इसमें समाज के विकास का विवेचन है। उन्होंने मनोविज्ञान, जीव–विज्ञान, आचारशास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर प्रायः बीस पुस्तकों की रचना की। सन् १८५५ ई० में 'उन्होंने मनोविज्ञान के सिद्धांत' नामक पुस्तक की रचना की। १८५८ ई० में दर्शनशास्त्र पर लिखना प्रारंभ किया।

---

1. Spancer's, Autobiography, Vol. II, Page 186–187.

१८६१ ई० में शिक्षा पर उनकी पुस्तक 'एडुकेशन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उनके चार निबंध हैं, जो समय-समय पर पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। इन चारों निबंधों के शीर्षक निम्नांकित हैं —

(क) सबसे अधिक उपयोगी ज्ञान कौन है ?
(ख) बौद्धिक शिक्षा,
(ग) नैतिक शिक्षा,
(घ) शारीरिक शिक्षा।[1]

एडुकेशन के अलावा स्पेंसर की अन्य प्रमुख पुस्तकें हैं:--प्रथम सिद्धांत, जीव-विज्ञान के सिद्धांत, नीतिशास्त्र के सिद्धांत, समाजशास्त्र के सिद्धांत, लेख संग्रह, तथ्य और आलोचनाएँ, आत्मकथा (२ खंड) आदि।[2]

प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य

हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—"पूर्ण और सफल जीवन की तैयारी।" वे तत्कालीन समाज की शिक्षा-प्रणाली का विरोध करते हैं। उनके जीवन-परिचय से ही हमें यह सहज ही ज्ञात होता है कि उनका परिवार स्वतंत्र चिंतन का पक्षपाती था। वहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार किया जाता था। स्पेंसर पर भी इस मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक सत्य का प्रभाव पड़ा। शिक्षा-क्षेत्र में उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है तथा यथार्थवाद का पोषण किया है। उन्होंने लिखा है कि हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि वह फूल पाने की शीघ्रता में पौधे की कुछ भी फिक्र नहीं करती। वह शोभा और शृंगार के पीछे मूल वस्तु की उपेक्षा करती है। आज की शिक्षा-प्रणाली इतनी त्रुटिपूर्ण है कि आत्मरक्षार्थ जिस शिक्षा की आवश्यकता है, उसकी वह व्यवस्था नहीं करती। स्पेंसर शिक्षा को एक वैसा साधन मानते थे, जिससे बालक अपने भावी जीवन में जीवन-निर्वाह करने में सक्षम हो। इसलिए वे पूर्ण और सफल जीवन की तैयारी की कामना, शिक्षा द्वारा करते हैं।

"According to Spencer the aim of education is to

---

1. A. What knowledge is of most worth. B. Intellectual Education, C. Moral Education, D. Physical Education.

2. First Principles. The Prinliples of Biology, The Principles of Ethics, The Principles of Sociology. Essays, Facts and Comments,

enable to lead a complete and successful life." Some Great Western Educationists, Page, 135.

स्पेंसर ने शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण अपने निवंध 'सवसे अधिक उपयोगी ज्ञान कौन है' में किया है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन की तैयारी है। इसका तात्पर्य है कि हमलोग अच्छी तरह यह जान सकें कि जीवन की विभिन्न परि-स्थितियों में तदनुकूल आचरण किस प्रकार किया जाए। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे हमारे जीवन के सभी अंगों का विकास तथा हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इससे व्यक्ति का जीवन पूर्णता की ओर वढ़ेगा। दूसरे शब्दों में हम कहेंगे कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। ऐसा विकास उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति के लिए तैयार करता है। उसे अपने समाज और देश के प्रति उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है। स्पेंसर का विचार है—"हमारे लिए सवसे आवश्यक प्रश्न यह जानना है कि हम किस प्रकार रह सकें। इसे केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं, अपितु व्यापक अर्थ में हमें इस प्रक्रिया से अवगत होना है। एक सामान्य समस्या जिसके अंतर्गत प्रत्येक विशेष समस्या आती है, वह यह है कि हम सभी परिस्थितियों तथा दिशाओं में किस प्रकार उचित नियंत्रण करें। पूर्ण जीवन के लिए हमें तैयार करना ही ऐसा कार्य है, जिसे शिक्षा को संपन्न करना है।" स्पेंसर इस आशय के शब्द लिखते हैं— "शिक्षा को हमें पूर्ण जीवन के नियमों और ढंगों से परिचित कराना चाहिए। शिक्षा का सवसे महत्त्वपूर्ण कार्य हमें जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करना है कि हम उचित प्रकार का व्यवहार कर सकें तथा शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा का सदुपयोग कर सकें।"

मानव-जीवन के कार्यों के पाँच भाग

सफल जीवन व्यतीत करने के लिए हरवर्ट स्पेंसर चाहते हैं कि वालक को आत्मरक्षा, जीविकोर्पाजन, सततिपोषण, नागरिकता और अवकाश-काल-सदुपयोग जैसे पाँच प्रकार के गुणों से सक्षम और समर्थ वनाया जाए, जिससे भविष्य में वे पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। स्पेंसर वस्तुतः मानव-जीवन के कार्यों को पाँच भागों में विभक्त करते हुए तदनुरूप ही शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। शिक्षा के उद्देश्यों का प्रतिपादन भी वे मानव-जीवन के इन्हीं पाँच भागों के आधार पर करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के ये पाँच उद्देश्य निम्नांकित हैं :—

(१) आत्मरक्षा-संवंधी उद्देश्य,
(२) जीविकोपार्जन-संवंधी उद्देश्य,
(३) संतति-पालन-संवंधी उद्देश्य,

(४) नागरिकता या सामाजिक सामंजस्य-संबंधी उद्देश्य तथा
(५) अवकाश-काल-सदुपयोग संबंधी उद्देश्य।

स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उपर्युक्त उद्देश्यों पर हमलोग क्रमशः एक-एक कर विचार करें।

(१) आत्मरक्षा-संबंधी उद्देश्य

आत्मरक्षा की जरूरत हमें सर्वदा पड़ती है, अतः बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाए, जिससे वे अपनी स्वतः रक्षा कर सकें। ऐसी अवस्था में जीवन-रक्षा के कार्यों में जो विषय सहायक हों, उनसे विद्यार्थियों को परिचित कराया जाए। उसके निमित्त शरीर-विज्ञान तथा स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य है।

(२) जीविकोपार्जन-संबंधी उद्देश्य

आज का बालक कल प्रौढ़ बन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा, अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि उसमें भविष्य में परमुखापेक्षिता की भावना नहीं रहे और वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रोजी-रोटी कमा सके। जब वह पराश्रित नहीं रहेगा, तभी एक सद्‌गृहस्थ बन कर समाज में रह सकेगा। महात्मा गांधी अपने बुनियादी शिक्षा-दर्शन में इस तथ्य पर बहुत बल देते हैं। भोजन, वस्त्र तथा आवास की सुविधा तो प्रत्येक मानव के लिए होनी ही चाहिए। अतः, भावी जीवन को सफल तथा सुखमय बनाने के लिए जीविकोपार्जन की विधियों का ज्ञान प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हरबर्ट स्पेंसर का विचार है कि बालकों एवं किशोरों को विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाए। वे कहते हैं—"बालक को विज्ञान की शिक्षा दो; क्योंकि विज्ञान बालक को भावी जीवन के लिए तैयार करता है।"

(३) संतति-पालन-पोषण संबंधी उद्देश्य

हरबर्ट स्पेंसर शिक्षा-संस्थाओं में बालकों और किशोरों के लिए सफल पितृत्व की शिक्षा की व्यवस्था चाहते थे। वंश-वृद्धि एवं संतति-पालन-पोषण संबंधी ज्ञान द्वारा किशोर नवयुवक एक दिन अपने बच्चों को सफलतापूर्वक शिक्षित कर सकेंगे।

(४) नागरिकता या सामाजिक सामंजस्य-संबंधी उद्देश्य

नागरिकता की शिक्षा का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज के योग्य सदस्य बनने की शिक्षा दी जाए। आज के समाज का रूप बहुत हद तक राजनीतिक है। समाज से राष्ट्र का अर्थ लिया जाता है। नागरिकता की शिक्षा द्वारा बालक-बालिकाओं को राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक बनने के लिए प्रेरित किया

जाता है। हरवर्ट स्पेंसर वालकों को सफल और सुयोग्य नागरिक वनाना चाहते थे। जनतंत्र की परंपरा जिम्मेवार नागरिकों पर ही सफल और सवल होती है। प्लेटो और अरस्तू वरावर यही चाहते थे कि राज्य में सुयोग्य नागरिक उत्पन्न हों। जव तक अच्छे नागरिक नहीं उत्पन्न होंगे, तव तक राज्य के सुशासन में वाधाएँ उपस्थित होती रहेंगी। इसलिए कुशल नागरिक वनाने के लिए उन दोनों विद्वानों ने अपनी; शिक्षा-व्यवस्था की रचना की।[1] प्लेटो ने अपने आदर्श समाज (यूटोपिया) के लिए नागरिकता की शिक्षा को आवश्यक वतलाया है। अतः, वालकों और किशोरों के लिए हम ऐसी शिक्षा-व्यवस्था करें जिससे वे अपने उत्तर-दायित्व को समझने वाले सुयोग्य नागरिक के रूप में एक दिन समाज के समक्ष उपस्थित हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्पेंसर 'इतिहास'-जैसे विषय की पढ़ाई चाहते हैं। वे उसे, वर्णनात्मक समाजशास्त्र मानते हैं। वे वर्णनात्मक समाज-शास्त्र के अध्यापन पर वहुत वल देते हैं। इतना ही नहीं, वल्कि वे अपने समय के इतिहास की पुस्तकों को पुनः वैज्ञानिक ढंग से लिखने का समर्थन करते हैं। विज्ञान के नियमों के विना इतिहास का ज्ञान व्यर्थ है। जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान द्वारा वतलाया गया समाज तथा वातावरण का रूप वास्तविक है। हरवर्ट स्पेंसर का विश्वास है—"विज्ञान इतिहास की कुंजी है।"

(५) अवकाश-काल-सदुपयोग संवंधी उद्देश्य

हरवर्ट स्पेंसर अवकाश-काल का सदुपयोग चाहते थे। अवकाश-काल का सदुपयोग मनुष्य की संस्कृति का परिचायक है। हम अपने अवकाश का समय कहाँ और किस प्रकार व्यतीत करते हैं, इससे हमारे चरित्र और नैतिकता का पता लगता है। प्राचीन मिस्रवासियों की व्यापक उन्नति का मूल कारण यही रहा कि उन्होंने अपने अवकाश के समय का सदुपयोग किया। समय को व्यर्थ खोना प्राचीन मिस्र के लोग जानते ही नहीं थे। उस जमाने में प्राचीन मिस्रवासियों का प्रधान कार्य खेती करना था। अतः, वालकों को खेती करने की शिक्षा दी जाती थी। परंतु, अवकाश के समय का सदुपयोग करने के लिए उन्हें चित्रकला, दस्तकारी तथा लेखन-कला की शिक्षा भी दी जाती थी। सभ्यता और संस्कृति का विकास अवकाश के समय में ही होता है। मनुष्य को जव अवकाश मिलता है, तो वह चिंतन करता है। चिंतन करते समय उसका ध्यान केवल वर्त्तमान की ओर ही नहीं रहता, वल्कि वह भविष्य की ओर भी दृष्टि दौड़ाता है। इस प्रकार वह प्रत्येक कार्य के महत्त्व और उसके वास्तविक मूल्य का अनुमान करता है। प्राचीन

१. प्लेटो और अरस्तू के शिक्षा-संवंधी विचारों की सम्यक् विवेचना, अध्याय ५ एवं ६ में की गई है।

मिस्रवासियों को भी जब अवकाश मिला, तो वे चिंतन करने लगे। चिंतन के समय ही उन लोगों का ध्यान नक्षत्र आदि की ओर गया और अवकाश एवं चिंतन के आधार पर ही उन्हें आकाश, नक्षत्र, वर्षा, विद्युत् तथा प्रकृति के अन्य स्वरूपों का ज्ञान हुआ। अध्यात्म की ओर भी इनका ध्यान इसी समय गया था।

अवकाश के समय में किस प्रकार का कार्य किया जाए, इसके लिए स्पेंसर काव्य और कला को प्रमुख स्थान देते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अवकाश के सदुपयोग के लिए वे मनुष्य की सौंदर्यानुभूति का समुचित विकास चाहते हैं। काव्य और कला का आधार भी वे विज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। अतः, उनके विचारानुसार अवकाश के सदुपयोग के लिए काव्य और कला की शिक्षा देते समय वैज्ञानिक आधार की उपेक्षा नहीं की जाए। वे जीवन के सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक करने के लिए विज्ञान का अध्ययन आवश्यक मानते थे।

स्पेंसर और पाठ्यक्रम

स्पेंसर जीवन की पूर्णता के लक्ष्य के उपलब्धि-हेतु उसकी समान क्रियाओं को पाँच भागों में बाँटते हैं और तदनुकूल ही अपने पाठ्यक्रम का भी निर्धारण करते हैं। परंतु, विज्ञान को वे प्रत्येक विषय का आधार मानते हैं। शिक्षा को वस्तुतः पूर्णतः वैज्ञानिक रूप देना चाहते हैं। वे ग्रीक एवं लैटिन आदि भाषाओं को भी विज्ञान की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण बतलाते हैं। विज्ञान को वे मानसिक शक्तियों के विकास का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं।

स्पेंसर ने पाठ्यक्रम को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(१) उपयोगी एवं (२) आभूषक।

अपने लेख 'सबसे अधिक उपयोगी ज्ञान कौन है?' में वे 'विज्ञान' को सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं। इस संबंध में वे कहते हैं—एक मनुष्य, जिसका किसी तरह के उद्योग-धंधों से संबंध रहता है, किसी-न-किसी तरह गणित, भौतिक-विज्ञान तथा रसायन-विज्ञान की बातों से अवश्य संबद्ध होता है; क्योंकि जितने भी व्यवसाय हैं, उनमें काम आनेवाली एक भी ऐसी वस्तु नहीं, जिनका कुछ-न-कुछ लगाव इन शास्त्रों से नहीं हो। विज्ञान को वे सबसे अधिक उपयोगी विषय बतलाते हैं। विज्ञान से स्मरण-शक्ति, विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति एवं निर्णय-शक्ति आदि का विकास होता है। आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, बुद्धि-परता, सत्य के प्रति प्रेम आदि सद्गुण विज्ञान की शिक्षा से प्रादुर्भूत होते हैं। वे वैज्ञानिक ज्ञान एवं वैज्ञानिक पद्धति को पुस्तकीय ज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं। विज्ञान की शिक्षा को वे नैतिक और

बौद्धिक विकास के लिए अनिवार्य बतलाते हैं। वस्तुतः विज्ञान उनके शिक्षा-दर्शन का केंद्र-बिंदु है।

स्पेंसर द्वारा निर्धारित जीवन के पाँच भागों के अनुकूल उसके पाठ्य-विषय इस प्रकार हैं:—

(१) आत्मरक्षा के लिए—शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान और रसायन-विज्ञान को पढ़ाने के वे पक्षपाती हैं।

(२) जीविकोपार्जन के लिए— गणित, यंत्र-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, भूगोल, भूगर्भ-विज्ञान एवं भाषा आदि विषयों की शिक्षा वे देना चाहते हैं।

(३) परिवार के पालन-पोषण के लिए—बाल-मनोविज्ञान, गृह-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान एवं जीव-विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा वे चाहते हैं।

(४) सामाजिक शिक्षा के लिए— इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति-विज्ञान की शिक्षा के स्पेंसर हिमायती हैं।

(५) अवकाश-काल के लिए— साहित्य, संगीत, कला, काव्य, व्यावसायिक कार्य-जैसे विषयों के स्पेंसर समर्थक हैं।

स्पेंसर और शिक्षा-सूत्र

स्पेंसर अपने प्रसिद्ध लेख बौद्धिक शिक्षा (इन्टेलेक्चुअल एडुकेशन) में अपने शिक्षा-सिद्धांतों की विवेचना करते हैं। उनके ये सिद्धांत सूत्र-रूप में हैं, जिन पर पेस्टालॉजी और हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धांतों का प्रभाव पूर्णतः परिलक्षित होता है। स्पेंसर की शिक्षा-पद्धति में निम्नांकित शिक्षण-सूत्रों की प्रधानता बतलायी गई है :—

(१) सरल से जटिल की ओर,
(२) ज्ञात से अज्ञात की ओर,
(३) अनिश्चित से निश्चित की ओर,
(४) स्थूल से सूक्ष्म की ओर,
(५) प्रयोगात्मक से बुद्धि की ओर,
(६) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर,
(७) सांस्कृतिक-युग-सिद्धांत पर बल,
(८) स्व-शिक्षा और आत्मविकास पर बल तथा
(९) शिक्षण-विधि रुचिकर हो।

स्पेंसर और शिक्षा का स्वरूप

स्पेंसर के शिक्षा के स्वरूप तथा शिक्षा—गठन-संबंधी विचार उनके 'नैतिक

शिक्षा' शीर्षक निबंध में व्यक्त किए गए हैं। वे शिक्षा के स्वरूप को वैयक्तिक बनाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे वैयक्तिक शिक्षा-विधि के पोषक थे। पिछले पृष्ठों में मैंने इस बात की चर्चा की है कि स्पेंसर के व्यक्तित्व पर उनके पिता का प्रभाव है। उनके पिता स्व-शिक्षा के पक्षपाती थे। स्पेंसर ने भी इसी सिद्धांत का पोषण किया है तथा बतलाया है कि बालकों को अधिकाधिक ज्ञान स्वयं भोग कर प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षक उनको स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं प्रकृति-प्रदत्त रूचि की जानकारी प्राप्त कराने की चेष्टा करें तथा तदनुरूप उनकी सहायता मात्र करें। वे बालक-बालिकाओं को स्वयं ज्ञान-प्राप्ति करने के लिए प्रोत्साहित करें। स्पेंसर लिखने को एक प्राकृतिक प्रक्रिया मानते हैं। अपनी आत्मकथा में वे इस प्रसंग की चर्चा भी करते हैं, जो इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

"My father's method, as already intimated, was that of self-help carried out in all directions. Beyond such self-help as I have already examplified, there was always a promoting to intellectual self-help." Spencer, Autobiography Vol. II. Page 89.

स्पेंसर ने राज्य द्वारा शिक्षा में हस्तक्षेप का विरोध किया है। राज्य का कार्य है, बाह्य आक्रमणों से हमारी रक्षा करना तथा आंतरिक सुव्यवस्था करना। माता-पिता ही आवश्यकतानुकूल उदार शिक्षा की व्यवस्था करने में पूर्व सक्षम एवं समर्थ हैं। स्पेंसर शिक्षा, उद्योग आदि में चुनाव की स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं।

स्पेंसर और अनुशासन

स्पेंसर स्वतंत्रता के परम पोषक थे। उनका विचार था कि कानूनों की बहुलता से स्वतंत्रता को खतरा है। उनके अनुशासन-संबंधी विचार रूसो, पेस्टालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल से मिलते-जुलते हैं। वे 'नैतिक शिक्षा' शीर्षक अपने लेख में अनुशासन-संबंधी विचार प्रकट करते हुए प्राकृतिक दंड-व्यवस्था का पक्ष लेते हैं। प्राकृतिक दंड तथा कार्यों का प्राकृतिक ढंग से मिला फल ही उचित है। प्रकृति के विरूद्ध कार्य का फल बालक को अवश्य मिले। वे इस संबंध में बतलाते हैं—"बालक को अपने आचरण के अनिवार्य परिणामों तथा अवांछनीय प्रतिक्रियाओं को भुगतने देना चाहिए, जिनसे उसे उन लाभप्रद नियंत्रणों का अनुभव होता है, जो यथार्थतः उसके शारीरिक कल्याण से भिन्न कार्य होते हैं।" वस्तुतः स्पेंसर 'स्वाभाविक प्रणाली द्वारा' दंड की व्यवस्था करना चाहते हैं। पेस्टालॉजी भी विद्यालयों में स्वाभाविक अनुशासन चाहते थे। हरबार्ट चारित्रिक और नैतिक विकास के लिए बालकों को

वतंत्रता देने के पक्षपाती हैं, किंतु वे पूर्ण स्वतंत्रता का विरोध करते हैं।

स्पेंसर बालकों को इस तथ्य से अवश्य भिज्ञ बनाना चाहते थे, जिससे वे आकस्मिक दुर्घटनाओं से अपने को अलग रख सकें। इस प्रसंग में वे इस आशय के शब्द व्यक्त करते हैं—" आकस्मिक घटनाओं में जहाँ अंग-भंग तथा अन्य गंभीर परिणामों का भय होता है, वहाँ बालकों को खतरे से बचाने के लिए अवश्य सावधान किया जाए। उनको किसी भीषण परिणाम से बचाने के लिए यह सर्वोत्तम प्रणाली है।" उन्होंने दंड के विरुद्ध में लिखा है—"सच तो यह है कि कठोरता से कठोरता और स्नेह से स्नेह उत्पन्न होता है। जिन बालकों के साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है, वे निष्ठुर हो जाते हैं। सहानुभूतिपूर्वक सद्व्यवहार बच्चों में विनम्रता के गुण प्रस्फुटित करता है।" अतः, स्पष्ट है कि उन्होंने सहानुभूति एवं प्रेम के आधार पर अनुशासन को चरित्र का अंग बनाना चाहा है और "कृत्रिम एवं दमनपूर्ण शिक्षा का गहरा खंडन किया है।" [1]

स्पेंसर और शारीरिक शिक्षा

अपने शारीरिक शिक्षा-संबंधी विचार को स्पेंसर ने अपने निबंध 'शारीरिक शिक्षा' (फिजिकल एडुकेशन) में व्यक्त किया है। वे शारीरिक स्वस्थता को पर्याप्त महत्त्व देते हैं तथा शिक्षासंस्थाओं के पाठ्य-क्रमों में इसके विधान की व्यवस्था करते हैं। माता-पिता को वे सावधान करते हैं कि वे बच्चों के स्वास्थ्य के लिए सचेष्ट बनें। उन्होंने विद्यार्थियों की शारीरिक शिक्षा के प्रति अभिभावकों की उदासीनता को दुःखद बतलाया है। वे लिखते हैं -"सभी लोग गाय, बैल, भेड़, घोड़े आदि पशुओं के खाने-पीने की पूरी-पूरी व्यवस्था करते हैं, उनके निरीक्षण में भी लगे रहते हैं, किंतु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वे अपने बच्चों के पालन-पोषण पर अधिक ध्यान नहीं देते।" बालकों और किशोरों के सुंदर स्वास्थ्य, व्यायाम, स्वच्छता तथा पौष्टिक भोजन को उन्होंने बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने बालकों और किशोरों के भोजन के निमित्त विटामिन तथा प्रोटीन की मात्रा भी निर्धारित की है। व्यायाम और ऋतु के अनुकूल भोजन को वे आवश्यक बतलाते हैं—विद्यार्थियों को सर्वदा एक ही प्रकार का भोजन नहीं दिया जाए तथा खाते समय उनके साथ डाँट-डपट नहीं की जाए। स्वास्थ्यविषयक बातों से किशोर अवश्य परिचित बनें। रूसो के समान स्पेंसर भी मानते थे कि "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है।" स्वस्थ शरीर में ही तो सफलता का रहस्य छिपा हुआ है।

१— डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, विश्व-राजनीति : पर्यवेक्षण, अध्याय, १७, पृष्ठ १४७।

स्पेंसर के शैक्षिक विचारों की आलोचना

अपनी मौलिक विचारधाराओं एवं चिंतनशील प्रवृत्तियों के आधार पर स्पें ने समाज को एक नूतन शैक्षणिक विचार से अवश्य परिचित कराया है, परंतु विद्वा आलोचकों को इसमें कुछ त्रुटियाँ भी परिलक्षित होतीं हैं। कुछ त्रुटियाँ निम्नांकित है :

(१) 'पूर्ण और सफल जीवन की तैयारी' को स्पेंसर शिक्षा का लक्ष्य बतला हैं, परंतु यह निर्धारित करना कठिन है कि पूर्ण और सफल जीवन क्या है ? वस्तुत हम जीवन के किस लक्ष्य को पूर्ण और सफल कहें - यह सर्वदा एक विचारणीय त है। अतः, 'पूर्ण जीवन का लक्ष्य' संकुचित है।

(२) स्पेंसर विज्ञान को मानसिक शक्तियों के विकास का सर्वश्रेष्ठ साध मानते हैं। यदि व्यक्ति को प्रत्यक्ष आत्मरक्षा करनी है, तो विज्ञान आवश्यक है। उ यदि परोक्ष आत्मरक्षा करनी है, तो विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। यदि संतान का पालन-पोषण करना है, तो विज्ञान पढ़ना चाहिए, यदि कुशल नागरिक बनना है, तो विज्ञान की आवश्यकता है। अवकाश में अगर सांस्कृतिक-कार्य करना है, तो भी विज्ञान पढ़ना चाहिए। वस्तुतः स्पेंसर के दृष्टिकोण में विज्ञान की सर्वाधिक उपयोगिता है। धर्म, नैतिकता और आध्यात्मिकता की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। पहले कहा जा चुका है कि विज्ञान की तुलना में लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं को भी वे कम महत्त्व देते हैं। इसके फलस्वरूप साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा की अवश्य अवहेलना हुई। विज्ञान को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण तालस्ताय ने भी स्पेंसर की आलोचना की है।

(३) अनुशासन के संबंध में स्पेंसर 'प्राकृतिक दंड-व्यवस्था' के पक्षपाती थे, परंतु इस प्रकार के कठोर दंड से बच्चों और अभिभावकों को विशेश क्लेश ही उठाना पड़ेगा।

(४) स्पेंसर की शिक्षा-पद्धति पर रूसो, पेस्टालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। कई पहलुओं पर वे कान्ट से भी प्रभावित थे। उन्होंने किसी विषय को समाज और व्यक्तिगत दृष्टि से उपयोगी समझ कर ही पढ़ने-पढ़ाने की अनुमति दी है। इस प्रकार वे अत्यधिक व्यावहारिक हो गए हैं।

(५) स्पेंसर का ध्यान केवल वर्तमान पर ही है, भविष्य पर नहीं। हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारे लिए लोक-परलोक दोनों की शिक्षा-व्यवस्था आवश्यक है। वैदिककालीन भारतीय शिक्षा में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों का विधान था। भारतीय परा-अपरा, दोनों विद्या में आस्था रखते हैं।

(६) शिक्षा में संतति-पालन के उद्देश्य की बात भी एक सीमा तक हास्यास्पद ही है।

शिक्षाशास्त्र पर स्पेंसर का प्रभाव

गुण :

कतिपय आलोचनाओं के बावजूद हरबर्ट स्पेंसर अपने युग के एक महान् शिक्षाशास्त्री हैं। शिक्षाशास्त्र को उन्होंने बहुत कुछ दिया है। शिक्षा में वे यथार्थवाद तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति के पोषक थे। उनकी यह तीव्र इच्छा थी कि वे समाज को एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली दें, जिससे व्यक्ति का व्यवहार और आचरण श्रेष्ठ कोटि का हो। इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका में उनके शिक्षा-संबंधी विचारों का अच्छा अनुमोदन हुआ। किशोरों के सफल और पूर्ण जीवन की तैयारी हेतु उन्होंने विज्ञान पर अत्यधिक बल अवश्य दिया है। परंतु, हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने विज्ञान को एक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। वैज्ञानिक विषयों और वैज्ञानिक पद्धति को उनके द्वारा बहुत बल मिला। उनके द्वारा विज्ञान पर बल देने के फलस्वरूप, विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई तथा इंगलैंड के विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप का वातावरण वैज्ञानिक हो चला था। इंगलैंड में (१८६४ ई०) पब्लिक स्कूल कमीशन ने विज्ञान के कम-से-कम दो विषयों को अनिवार्य करने की सलाह दी। १८६८ ई० में पब्लिक स्कूल के नियमों में एक संशोधन हुआ, जिससे विज्ञान की पढ़ायी विद्यालय में संभव हो सके।

(१) विज्ञान के विषयों की महत्ता, (२) प्रकृति के प्रति आदर, (३) पाठ्यक्रम को जीवन के अनुरूप बनाने की आवश्यकता (४) स्व-शिक्षा की महत्ता तथा (५) शिक्षा को वैज्ञानिक आधार दिलाने में स्पेंसर ने बड़ी मदद की है। उन्होंने आत्मरक्षा, जीविकोपार्जन, नागरिकता और अवकाश-काल के लिए शिक्षा-व्यवस्था कर निःसंदेह वर्त्तमान भौतिकवादी जगत् के कल्याण की शुभकामना का जबरदस्त परिचय दिया है। राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र के विश्वविख्यात् उद्‌भट् विद्वान डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, हरबर्ट स्पेंसर के प्रभाव के संबंध में लिखते हैं–"हरबर्ट स्पेंसर का अध्ययन गंभीर और विशाल था। उसकी मेधाशक्ति अत्यंत बलवती थी। यह ठीक है कि उनकी मेधा का वैशिष्ट्य मौलिकता की अपेक्षा समन्वय की प्राप्ति में अधिक प्रकटित हुआ था। समन्वयदर्शी होने के नाते उनकी तुलना अरस्तू, हेगेल और कान्ट से की जा सकती है। आज जनता में मार्क्स का नाम, स्पेंसर की अपेक्षा अधिक है, किंतु इसका कारण है कि जगत् की दो प्रचण्ड क्रांतियाँ–रूसी और चीनी–मार्क्स को पैगंबर मान कर की गई हैं। किंतु, जनकोलाहल को भूल कर यदि बौद्धिक विशदता की ओर ध्यान दें, तो मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि

हरबर्ट स्पेंसर, कार्ल की अपेक्षा बड़ा विद्वान था। यदि मार्क्स ने तीन खंडों में 'कैपिटल' लिखा है, तो स्पेंसर ने तीन खंडों में 'समाजशास्त्र' के सिद्धांत लिखा है। आधुनिक ज्ञान और दर्शन के प्रकाश में स्पेंसर का अध्ययन करना आवश्यक है।[१]



१. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, विश्व–राजनीति : पर्यवेक्षण, अध्याय-१७, पृष्ठ, १४७-१४८।

मांटेसरी

मांटेसरी का पूरा नाम डॉ० मेरिया मांटेसरी (Dr. Maria Montessori) था। इन्होंने अपने शिक्षाशास्त्र की प्रवर्तना अपनी 'मांटेसरी पद्धति' में की है।

संक्षिप्त जीवन-परिचय

मांटेसरी का जन्म जुलाई, १८७० ई० में इटली के एनकोना नगर के समीप चिरायवेल में हुआ था। इन्होंने रोम विश्वविद्यालय से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस प्रकार की उपाधि पाने वाली ये प्रथम महिला थीं। तत्पश्चात् उनको उसी विश्वविद्यालय में पिछड़े हुए तथा मंद बुद्धि वालकों के शिक्षणार्थ नियुक्त किया गया। यहाँ उन्होंने चिडचिड़े, हताश, शरारती एवं समस्या-बालकों (Problem Children)को अपनी शिक्षा-विधि द्वारा सुधारा। इन वच्चों के स्वभाव में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। १९०० ई०--१९०६ ई० तक रोम विश्वविद्यालय में इन्होने मानव-शरीर-रचना तथा शिक्षा के संबंधों पर वक्तव्य दिया। अपने अनुभव द्वारा उन्हें यहाँ यह ज्ञात हुआ कि बालकों के पिछड़ने का कारण उनकी ज्ञानेंद्रियों की क्षीणता होती है। अतः, ऐसे वालकों को उचित ज्ञान देने के लिए उन्होंने उनकी ज्ञानेंद्रियों के प्रशिक्षण पर वल दिया। उन्होंने अनुभव किया कि मानसिक शून्यता एक शिक्षा-संबंधी प्रश्न है, जिस पर शोध होना चाहिए। उस समय प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का जन्म हो चुका था। अतः, उन्होंने मनोवैज्ञानिक आधार पर अपनी शिक्षा-विधि का परीक्षण करना भी प्रारंभ कर दिया। वाद में साधारण वालकों की शिक्षा में भी रुचि लेने लगीं।

अपनी धारणाओं को मूर्त रूप देने के लिए मांटेसरी ने अपना पहला स्कूल खोला, जिसका नाम 'बच्चों का गृह' (Children-House) रखा गया। वहाँ

इस सिद्धांत पर बल दिया गया है कि—ज्ञानेंद्रियों के प्रशिक्षण से ही बालकों में ज्ञान का विकास किया जा सकता है। इस पद्धति का मूल तत्त्व इंद्रियों का प्रशिक्षण ही है। मांटेसरी शिक्षा-प्रणाली पर जीवन के प्रायोगिक अनुभवों की गहरी छाप है। पहले २ से ७ वर्ष के बालकों के लिए शिशु-गृह खोले गए, परंतु बाद में मांटेसरी ने ७ से १२ वर्ष की बालक-बालिकाओं के लिए भी उच्च मांटेसरी शालाओं की व्यवस्था की। लेकिन, मांटेसरी शालाओं को चलाने की अपेक्षा उन्हें शिशु-गृहों को चलाने में अधिक सफलता मिली।

सन् १९१३ ई० में मांटेसरी ने प्रथम अंतर्राष्ट्रीय व्याख्यान माला प्रारंभ किया। इसी क्रम में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और नीदरलैंड की यात्रा की। सन् १९१९ ई० में उन्होंने लंदन की यात्रा की और अंतर्राष्ट्रीय शिविर का उद्‌घाटन किया। उन्होंने भारत का भी भ्रमण किया था। कश्मीर, अहमदाबाद एवं पूना आदि स्थानों में प्रशिक्षण-शिविरों की उन्होंने आयोजना की थी। उनका देहावसान ६ मई, १९५२ ई० में नीदरलैंड में हुआ।

मांटेसरी-पद्धति का प्रचार विश्व के अनेक देशों में हुआ है। इंगलैंड और हालैंड आदि देशों ने इसे अनिवार्य रूप से अपनाया है। भारत में इसका प्रचार और प्रसार हो रहा है। तीन से सात वर्ष तक के बालकों के लिए यह पद्धति बहुत उपयोगी है। इस पद्धति के निम्नांकित प्रमुख सिद्धांत हैं —

(१) शिक्षा : बालक का आंतरिक विकास

फ्रोबेल के समान मांटेसरी का भी विश्वास है कि शिक्षा बालक का आंतरिक विकास है। उनका कहना है कि बालक की उन्नति की समस्त शक्तियां उसी प्रकार उसमें समाहित रहती हैं, जिस प्रकार किसी पेड़ के बीज में उस पेड़ के विकास की संपूर्ण शक्तियां निहित रहती हैं। बालकों में समाहित इन जन्मजात शक्तियों को उभारना ही शिक्षक का प्रमुख कर्त्तव्य है।

(२) स्वतंत्रता का सिद्धांत

मांटेसरी का विचार है कि बालकों को अपनी भावनाओं, संवेगों, विचारों, योग्यताओं, रुचियों आदि को व्यक्त करने में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। स्वतंत्रता के अभाव में उनकी स्वाभाविक शक्तियों का विकास अवरुद्ध और कुंठित हो जाता है। ऐसी स्थिति में उनमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलंबन आदि गुणों का अभाव हो जाता है। अतः, इस पद्धति में बालक की मूल-प्रवृत्तियों तथा सामान्य प्रवृत्तियों को आधार माना गया है।

(३) शिक्षा का आधार : खेल

मांटेसरी-पद्धति में खेल द्वारा शिक्षा देने पर वल दिया जाता है। खेल में वालक अधिक स्वतंत्र रहते हैं और स्वतंत्र रहने पर ही आंतरिक शक्तियों का विकास संभव है। मांटेसरी का विश्वास था कि खेल द्वारा बालक थोड़े समय में स्थायी रूप से जो कुछ सीख लेते हैं, वह उन्हें कितावों द्वारा महीने भर में नहीं सिखाया जा सकता। खेल में ही वालक की रचनात्मक शक्तियों को देखा जाता है। वालक प्रारंभिक जीवन में क्रियाशीलता को पसंद करते हैं और खेलों की योजनाओं के आधार पर उन्हें क्रियाशील रखा जा सकता है।

मांटेसरी ने वालकों के खेल के लिए अनेक प्रकार के शिक्षा-यंत्रों तथा सामग्रियों का निर्माण किया है, जिनसे खेलते समय बालक-वालिकाओं का शारीरिक और मानसिक विकास होता है। खेल-ही-खेल में बालकों को वर्णमाला, गणित एवं रेखागणित आदि की शिक्षा दी जाती है तथा उनकी विभिन्न ज्ञानेंद्रियों का प्रशिक्षण होता है। उनकी श्रवण-शक्ति, दृष्टि-शक्ति, स्पर्श, वोध एवं स्वाद इत्यादि में परिपक्वता आती है।

(४) मांसपेशियों की साधना

मांटेसरी-पद्धति में वालक के शारीरिक अंगों तथा मांशपेशियों की वृद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के शारीरिक खेल-कूद आदि को आवश्यक माना गया है। चूँकि लिखने-पढने, चलने, दौड़ने तथा अन्य शारीरिक कार्य करने में वालक-वालिकाओं को इन्हीं की सहायता की आवश्यकता होती है; अतः उन्हें इसकी उचित जानकारी होनी चाहिए।

(५) ज्ञानेंद्रियों का शिक्षण

ज्ञानेंद्रियाँ ही हमारे ज्ञान का द्वार हैं। हमारी ज्ञानेंद्रियाँ तीन से सात वर्ष तक अधिक सक्रिय रहती हैं। अतः, इस काल में उनका उचित विकास किया जाना चाहिए। ज्ञानेंद्रियों के विकास में मांटेसरी-पद्धति के शिक्षा-यंत्रों का वस्तुतः बहुत वड़ा योगदान है।

(६) स्वानुभव शिक्षण

मांटेसरी का विचार था कि स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान वालकों को उनके भावी जीवन में अधिक सहायता प्रदान करता है। अतः, अपनी पद्धति में स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर उन्होंने वहुत वल दिया। स्वानुभव या आत्म-शिक्षण अथवा स्वयं-शिक्षा द्वारा सीखने में वालकों के ऊपर किसी प्रकार का वाह्य हस्तक्षेप

या अवरोध नहीं होता। बालक अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। शिक्षक का स्थान यहाँ मात्र सहायक और पथ-प्रदर्शक का होता है।

(७) पाठ्य-वस्तु का निर्धारण

मांटेसरी ने इस बात का विरोध किया है कि बालकों की पाठ्य-वस्तु का निर्धारण पहले ही कर दिया जाए। आवश्यकतानुकूल ही इसका निर्माण होना चाहिए तथा उसमें वांछित परिवर्तन होते रहना चाहिए।

(८) शारीरिक दंड का विरोध

मांटेसरी ने बाल-मनोविज्ञान के इस सिद्धांत का पोषण किया है कि—'बालकों को शारीरिक दंड नहीं दिया जाए।' वे स्नेह एवं प्रेम द्वारा ही बालकों पर विजय प्राप्त करना चाहती हैं।

(९) व्यक्तित्व का विकास

मांटेसरी-पद्धति में बच्चे-बच्चियों के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा की जाती है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही व्यक्तिगत शिक्षा का विधान किया गया है। स्वतंत्रतापूर्वक, स्वानुभव द्वारा आंतरिक विकास के लिए खेल एवं सौहार्द्र-पूर्ण वातावरण में बालक-बालिकाओं को छोड़ दिया जाता है, जहाँ वे व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व का विकास स्वाभाविक है।

मांटेसरी विद्यालय की शिक्षण-व्यवस्था

मांटेसरी ने अपने स्कूल का नाम 'चिल्ड्रेन-हाउस' (Children House) रखा। भारत में इसको मांटेसरी विद्यालय के नाम से पुकारते हैं।

मांटेसरी विद्यालय का वातावरण प्रचलित अन्य विद्यालयों के वातावरण से सर्वथा भिन्न है। यहाँ बच्चों को परिवार के वातावरण में रखा जाता है। यह विद्यालय बच्चों का घर है। अध्यापिका का वात्सल्यपूर्ण व्यवहार बच्चों में प्रेम तथा विश्वास आदि गुणों को विकसित करता है।

मांटेसरी विद्यालय में बालकों की शिक्षा के लिए बहुत अच्छी व्यवस्था है। यहाँ के भवन साधारण विद्यालयों के भवनों से सर्वथा भिन्न होते हैं। इनका निर्माण स्वच्छ, खुले और हवादार स्थान में किया जाता है। भवन के चारों ओर छायादार वृक्ष और फुलवारी की व्यवस्था रहती है। विद्यालय-भवन के बीचोबीच एक बड़ा कमरा होता है। उसमें एक ओर रसोई घर तथा दूसरी ओर स्नानागार बना रहता है। विद्यालय-भवन की सजावट, फर्नीचर, खेल-कूद के सामान और खेल के मैदान आदि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

पूर्व विद्यालय काल में मांटेसरी ने इंद्रिय-प्रशिक्षण को ही संपूर्ण शिक्षा का आधार माना है। उनका विश्वास है कि ज्ञानेंद्रियाँ ही बालकों के ज्ञान की आधार हैं। अतः, मांटेसरी विद्यालयों में ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरणों अथवा यंत्रों की व्यवस्था रहती है। इन यंत्रों (शिक्षोपकरणों) को उपदेशात्मक यंत्र (Didectic Apparatus) कहते हैं; क्योंकि इन्हीं के द्वारा बालकों के मस्तिष्क को प्रशिक्षित किया जाता है। प्रमुख उपकरणों की सूची इस प्रकार है :—

(१) लकड़ी के टुकड़ों के तीन सेट,
(२) लकड़ी के विभिन्न रंगों तथा आकारों के वेलन (Cylinder),
(३) लकड़ी के बने हुए वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज, वर्ग और आयत आदि,
(४) आयताकार टिकियाँ,
(५) एक ऐसा संदूक जिसमें 'ड्रावर' होते हैं। इसमें बहुत-सी टिकियाँ भरी रहती हैं,
(६) भिन्न-भिन्न वजन की टिकियाँ,
(७) दो ऐसे संदूक, जिनमें प्रत्येक में ६४ टिकियाँ होती हैं,
(८) कार्डों का सेट एवं
(९) घंटियाँ।

मांटेसरी-पद्धति में बालकों को अपने कार्य के लिए स्वयं उत्तरदायी बनाया जाता है ताकि उनमें स्वावलंबन, आत्मनिर्भरता, अध्यवसाय एवं नैतिकता आदि गुणों का विकास हो सके। अपना कार्य स्वयं करने के फलस्वरूप उन्हें व्यावहारिक कार्य का अनुभव और प्रशिक्षण होता है। बालकों के शारीरिक विकास के लिए उन्हें खेल द्वारा अनेकों प्रकार के व्यायाम भी कराए जाते हैं। कुछ ड्रिल इस प्रकार की होती हैं, जिन्हें ताल और लय के साथ कराया जाता है। इनमें बालक आनंद का अनुभव करते हैं और इनसे उनके शारीरिक विकास में भी अच्छी सहायता मिलती है। इन विद्यालयों में उच्च कोटि का अनुशासन देखने को मिलता है।

डॉ० मांटेसरी की शिक्षा-पद्धति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) कर्मेंद्रियों की शिक्षा,
(२) ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा और
(३) भाषा-शिक्षण।

(१) कर्मेंद्रियों की शिक्षा—कर्मेंद्रियों की शिक्षा बालक के उचित शारीरिक विकास तथा व्यावहारिक जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है।

विचारों की उच्चता विकसित तथा स्वस्थ मन पर निर्भर है। इसके लिए मांस-पेशियों तथा शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन का पर्याप्त अभ्यास आवश्यक है। अतः, इस पद्धति में सबसे पहले कर्मेंद्रियों का शिक्षण किया जाता है। 'बाल घर' में बालक अपना कार्य स्वयं करते हैं।

(२) ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा—मांटेसरी शाला में विभिन्न इंद्रियों के शिक्षा हेतु छब्बीस उपकरणों (Didactic Apparatus) की व्यवस्था की गई है। इन उपहारों द्वारा बच्चों की दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, गंध एवं स्वादेंद्रियों को प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर प्रशिक्षित किया जाता है।

(३) भाषा की शिक्षा —अपने भावों को प्रकट करने एवं समाज से संबंध स्थापित करने हेतु भाषा एक अत्यंत प्रभावशाली एवं सुंदर माध्यम है। बुद्धि के विकास, विचारों की प्रौढ़ता तथा भावों की दृढ़ता के लिए भी भाषा की शिक्षा आवश्यक है। मांटेसरी-पद्धति में भाषा-ज्ञान के लिए वर्ग २ में लिखने का अभ्यास डलवाया जाता है, वर्ग ३ में पढ़ने की शिक्षा दी जाती है तथा वर्ग ४ में लिखना-पढ़ना एवं ध्वनि-अंगों के अभ्यास की शिक्षा दी जाती है।

लिखने की क्रिया पहले

मांटेसरी विद्यालयों में भाषा की शिक्षा पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से दी जाती है। इस पद्धति में लिखने का अभ्यास शिक्षोपकरणों की सहायता से तथा पढ़ने की शिक्षा पूर्व परिचित वस्तुओं से संबंधित करके दी जाती है। यहाँ हमें यह सर्वदा स्मरण रखना है कि शताब्दियों से चली आती हुई यह धारणा कि 'पढ़ने की शिक्षा के पश्चात् लिखने का ज्ञान देना चाहिए'—मांटेसरी को मान्य नहीं हुआ। मांटेसरी-पद्धति में लिखने की क्रिया पहले तथा पढ़ने की क्रिया बाद में होती है। उनका कहना है कि लिखने की क्रिया पढ़ने की क्रिया से सरल होती है; क्योंकि लिखने में केवल अक्षरों की आकृतियों का अनुकरण करना होता है, जबकि पढ़ने में शब्दों एवं वाक्यों का अर्थ भी समझना आवश्यक होता है।

आलोचना

मांटेसरी-पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ (गुण) इस प्रकार हैं :

(१) अनुभव तथा परीक्षण पर बल देने के कारण यह पद्धति वैज्ञानिक है। इस प्रणाली में बच्चों के विकास-क्रम को ध्यान में रखा जाता है। विकास-क्रम के अनुकूल ही कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा का विधान है।

(२) यह पद्धति मनोवैज्ञानिक भी है। इसमें स्थूल से सूक्ष्म के सिद्धांत की ओर ध्यान दिया गया है। स्वयं-शिक्षा के सिद्धांत में बालकों की रुचि, प्रवृत्ति स्वभाव और नैसर्गिक शक्ति का प्रयोग होता है। बच्चे अपनी शक्ति, क्षमता एवं योग्यता के अनुसार सीखते हैं।

(३) इस पद्धति में बालकों की स्वतंत्रता पर पर्याप्त बल दिया गया है। वे बिना बाह्य हस्तक्षेप के, परंतु नियंत्रित एवं अनुशासित होकर शिक्षिका की अवधानता में ज्ञान ग्रहण करते हैं। वे स्वतंत्र वातावरण में स्वतंत्र रीति से शिक्षा-प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं।

(४) मांटेसरी-पद्धति में अध्यापिका खेल-ही-खेल में बालक-बालिकाओं को शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करती है। खेल के माध्यम से ही वर्णमाला, भाषा का ज्ञान तथा जोड़ना, घटाना आदि की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा-यंत्रों (Dideotic Apparatus) के प्रयोग से बालक में क्रियाशीलता आती है तथा खेल में ही वे कठिन कार्य कर लेते हैं।

(५) इस पद्धति में स्व-शिक्षा पर बल दिया गया है। हमलोग इस तथ्य से अवगत हैं कि स्व-शिक्षा अर्थात् क्रिया करके सीखने से बालकों में आत्मानुशासन, आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, अनुसंधान-प्रवृत्ति तथा अपनी त्रुटियों को सुधारने के गुण प्रादुर्भूत होते हैं। किलपैट्रिक ने लिखा है—"जितना ही अधिक बालक अपनी अनुभूति से बिना किसी अध्यापक की सहायता के सीखता है, उतना ही अधिक वह ज्ञान का अधिकारी बनता है।" स्वयं क्रिया के द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वाभाविक, दृढ़ और स्थायी होता है।

(६) मांटेसरी-पद्धति में पुरस्कार एवं दंड का विधान नहीं है।

(७) यहाँ समय-सारिणी तथा पाठ्यक्रम की कठोरता नहीं। विद्यार्थियों को पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाती है।

(८) मांटेसरी-पद्धति में कर्मेंद्रियों की शिक्षा पर बल दिया जाता है। कर्मेंद्रियों की शिक्षा से बच्चों का शारीरिक विकास होता है।

(९) इस पद्धति में इस बात पर बल दिया गया है कि बालक मिलजुल कर रहें और सहयोग के आधार पर कार्य करें। 'बाल-गृह' शब्द से ही यह स्पष्ट है कि मांटेसरी-पद्धति द्वारा संचालित विद्यालय बच्चों का घर होता है। एक साथ रहने और कार्य करने से उनमें सामाजिकता की भावना आती है। समाजोपयोगी व्यवहार तथा शिष्टाचार से वे अपनी बाल्यावस्था में ही परिचित होने लगते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में उनका अवचेतन (Subconcious) प्रभावित होता है, जिसमें भावी जीवन

में वर्ण-भेद एवं वर्ग-भेद उन्मूलन में सहायता मिलती है।

(१०) इस पद्धति में शिक्षक का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनका रूप एक निर्देशक और निरीक्षक के समान होता है।

दोष :

मांटेसरी-पद्धति में गुण के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं। किलपैट्रिक एवं विलियम स्टर्न ने इस पद्धति की आलोचना करते हुए निम्नांकित दोष बतलाए हैं:—

(१) मांटेसरी-पद्धति में व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रश्रय मिलता है। परिणामस्वरूप बालक के व्यक्तित्व-विकास में तो सहायता मिलती है, परंतु समाजवादी भावना का विकास नहीं हो पाता। मांटेसरी विद्यालय में सामूहिक खेलों का सर्वथा अभाव है।

(२) मांटेसरी-पद्धति का आविर्भाव गरीब एवं पिछड़े हुए सामान्य वर्ग के छात्रों के उत्थान हेतु हुआ था, परंतु वर्त्तमान अवस्था में यह पद्धति इतना अधिक व्यय-साध्य है कि धनी वर्ग के छात्र ही इसके लाभ उठा सकेंगे।

(३) मांटेसरी का कहना है कि काल्पनिक जगत से बच्चों को दूर रखा जाए, परंतु बच्चे जिज्ञासा और कल्पना से पूर्ण होते हैं। कल्पना को दबाने से जिज्ञासा भी दब जाती है तथा बालक का एकांगी बौद्धिक विकास होता है।

(४) यह पद्धति अमनोवैज्ञानिक है। किसी वस्तु के संपूर्ण आकार को विभिन्न ज्ञानेंद्रियों द्वारा एक साथ अनुभव करके ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, न कि पृथक्-पृथक्। इसके अतिरिक्त लिखने-पढ़ने पर यहाँ छोटी उम्र में ही अधिक बल दिया जाता है।

(५) मांटेसरी कुछ निश्चित क्रियाओं द्वारा बालकों को शिक्षा देने की व्यवस्था करती हैं। परंतु, जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में बालकों को प्रशिक्षित करने की शक्ति निहित है। जीवन स्वयं ही शिक्षा है। अतः, कुछ निश्चित क्रियाओं द्वारा दी गई शिक्षा की व्यवस्था आलोचना का विषय है।

(६) व्यक्ति को ऐसा संदेह हो सकता है कि यंत्रों द्वारा दी गई शिक्षा असामान्य बालकों के लिए ही उपयुक्त होगी।

उपसंहार

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह पद्धति शिक्षा-क्षेत्र में प्रचलित और लोकप्रिय होती जा रही है। वस्तुतः अन्य आधुनिक शिक्षा-पद्धतियों की अपेक्षा इसे

विशेप लोकप्रियता प्राप्त हुई है। छोटी बच्चे-बच्चियों के लिए मांटेसरी-पद्धति एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-प्रणाली है। यदि इसके अंदर कुछ त्रुटियाँ हैं, तो उन्हें परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार दूर कर अपनाने में कोई हानि नहीं।

मांटेसरी-पद्धति की महत्ता इस बात में है कि यह ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा पर उचित बल देती है। यह पद्धति प्रत्येक स्थल पर खेल द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न करती है। इसके सिद्धांत में रूसो, पेस्टालॉजी एवं फ्रोबेल आदि विश्व के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का अनुसरण किया गया है।

अध्याय २१

शात्सकी

शिक्षा में 'कॉम्पलेक्स मेथड (Complex Method) के प्रणेता स्टैनलिसलैस शात्सकी (Stanlislas Shatsky) का जन्म सन् १८७८ ई० में पश्चिमी रूस के स्मोलेन्सक नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता रूसी सेना में कार्य करते थे और कठोर अनुशासन के अनुयायी थे। अतः, बालक शात्सकी की बाल्यावस्था भी स्वभावतः अनुशासनपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुई।

बालक शात्सकी की बाल्यावस्था अपने पितृ-गृह में तो कठोर अनुशासन में व्यतीत हुई ही, उसे विद्यालय में भी सैनिक वातावरण से साक्षात्कार करना पड़ा। उस समय रूसी स्कूलों में सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। स्कूल का समस्त वातावरण सैन्य भाव से प्रेरित था। यहाँ आध्यात्मिकता का अभाव था। विद्यालय में उच्च आदर्शों एवं जीवन के उदात्त मूल्यों की अवहेलना होती थी; क्योंकि यहाँ का मुख्य लक्ष्य सामान्य नागरिक के गुणों को प्रादुर्भूति करना नहीं था, अपितु 'एक सैनिक तैयार करना था।' इसका फल हुआ कि विद्यार्थियों के बाह्य आचरण तो बहुत मर्यादापूर्ण बने, परंतु आंतरिक अनुशासन का पूर्णतः विकास नहीं हो सका। छात्र एक दूसरे को धोखा दे सकते थे। उनमें घृणा एवं आतंक था। उनकी इच्छाओं का दमन किया जाता था। वे सर्वत्र एक बंधन का अनुभव करते थे। रूसी शिक्षा के तत्कालीन वातावरण में हमें वे समस्त बातें दृष्टिगत होती हैं, जो स्पार्टी शिक्षा में वर्त्तमान थीं। स्पार्टी शिक्षा में अनुशासन और आज्ञापालन पर बड़ा बल दिया जाता था; क्योंकि सेना में अनुशासन के बिना कार्य नहीं चल सकता था। अगर प्रत्येक सैनिक मनमानी करने लगें तो युद्ध में सफलता असंभव हो जाए, अतः स्पार्टी शिक्षा का उद्देश्य अनुशासन तथा आज्ञापालन की प्रवृत्ति का विकास करना था। रूस की यह हालत देख कर शात्सकी को बड़ी निराशा हुई। सन् १९०५ ई० में

रूस में राजनैतिक क्रांति हुई, परंतु क्रांतिकारियों को असफलता मिली। इस क्रांति की असफलता ने शात्सकी को प्रेरणा दी कि वह शिक्षा के क्षेत्र में पदार्पण करे, अतः वे शिक्षक वने।

शिक्षक वनने पर उन्होंने शिक्षा में कई प्रयोग किए। यह प्रयोग विभिन्न विद्यालयों पर किया गया। प्रयोग की प्रारंभिक अवस्था में शात्सकी को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। कुछ समय पश्चात् उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि उनके ये प्रयोग जो विभिन्न विद्यालयों में चल रहे हैं, उन्हें किसी एक 'केंद्रीय-प्रायोगिक-संस्थान' के नियंत्रण में होना चाहिए, ताकि प्रायोगिक निष्कर्षों को अधिक व्यापक रूप में वैध एवं विश्वस्त वनाया जा सके। इस धारणा के फलस्वरूप सन् १९१२ ई० में एक योजना तैयार की गई। इस योजना के अनुसार एक 'वाल-प्रयोगात्मक संस्थान' की स्थापना हुई। सन् १९१५ ई० में नारकंप्रोस नामक स्थान में सर्वप्रथम प्रयोगात्मक संस्थान स्थापित किया गया। शात्सकी के प्रयत्नों के फलस्वरूप 'लोक शिक्षा परिषद्' (Peoples Board of Education) की स्थापना भी इसी उपनिवेश में की गई। यह शात्सकी के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि सन् १९१५ ई० में मास्को नगरपालिका से शैक्षिक प्रयोगों को आर्थिक सहायता मिली।

शैक्षिक उद्देश्य

शात्सकी मौलिक प्रतिभासंपन्न एक कुशल विचारक थे। रूस में उनके शिक्षा-संवंधी विचारों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। वर्त्तमान रूस में वहाँ की साम्यवादी सरकार ने शात्सकी के शैक्षिक उद्देश्यों में कुछ संशोधन एवं परिवर्तन अवश्य किया है, तथापि वे सर्वमान्य हैं। शात्सकी तात्स्ताय से वहुत प्राभावित थे। तात्स्ताय का प्रभाव शात्सकी के शैक्षिक विचारों पर भी पड़ा है। शिक्षा के क्षेत्र में 'काम्प्लेक्स मेथड' विश्व में अपना एक विशेष स्थान रखता है।

शात्सकी ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए थे। उन्होंने अपने प्रयोगों और तत्संवंधी अपने विचारों का वर्णन अपनी पुस्तक 'उल्लासमय जीवन' (The Cheerful Life) में सविस्तर किया है। उनके शिक्षा-संवंधी विचार निम्नांकित हैं।

१. वाल-केंद्रित शिक्षा

शात्सकी वालक के विकास को सर्वोपरि मानते हैं। शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण करते समय उन्होंने कहा है कि "वालक का सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का लक्ष्य है।" शिक्षा वालक के लिए है, न कि वालक शिक्षा के लिए। अतः, वालक-वालिकाओं की रुचियों के विकास के लिए ही शिक्षा का निर्धारण होना चाहिए।

वे ऐसा मानते थे कि बालकों का जीवन विद्यालय में संगठित होता हैं। उनमें यहाँ योग्यताओं के प्रस्फुटिकरण का अवसर मिलता है, जो अन्यत्र संभव नहीं है। अतः, हम बालक की रुचियों एवं प्रवृत्तियों का उचित मूल्यांकन करें और इनके विकास का वास्तविक मार्ग प्रशस्त करें।

शात्सकी ने बालक को अपनी शिक्षा का लक्ष्य अवश्य बनाया है, परंतु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि बालक समाज के लिए है। समाज से अलग बालक का कोई अस्तित्व नहीं। अतः, उनके विचारानुसार बाल-केंद्रित शिक्षा समाजोपयोगी होनी चाहीए। हमें बालकों की उन्हीं रुचियों का विकास करना है, जो सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल हों।

२. शिक्षा समाजोपयोगी हो

शात्सकी बालकों का सर्वांगीण विकास चाहते थे और उनके सर्वांगीण विकास को लक्ष्य करके ही उन्होंने अपने शैक्षिक उद्देश्यों का प्रतिपादन किया है। निःसंदेह उनके शैक्षिक विचारों को हम रूस की तत्कालीन सामाजिक अवस्था से प्रभावित पाते हैं। ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक था। वे बालकों के व्यक्तित्व का विकास चाहते थे, अतः उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि हमारी शिक्षा-योजना ऐसी बने, जिससे हम अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकें। उनके अनुसार शिक्षा प्रक्रिया के अंदर ही शिक्षा के उद्देश्यों को ढूंढना उचित है। किसी भिन्न क्षेत्र से शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करके बालकों पर लादा जाना उनको अमान्य था। वे इतना चाहते थे कि शिक्षा समाजोपयोगी हो।

३. विद्यालय में समाज की प्रतिच्छाया

बालक विद्यालय में अध्ययनार्थ आता है। अध्ययन के साथ-साथ वह विद्यालय के समस्त वातावरण से प्रभावति होता है। वह यहाँ मात्र साहित्य और हिसाब ही नहीं सीखता, अपितु उन बातों को भी ग्रहण करता है, जो उसके भावी जीवन को आंदोलित और प्रकंपित करती हैं। उसका भावी जीवन समाज में ही व्यतीत होगा, अतः विद्यालय और समाज में स्वभावतः अटूट संबंध है। शात्सकी के अनुसार व्यक्ति और समाज अततः एक ही हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की चेष्टा होनी चाहिए। विद्यालय सामान्य वातावरण का एक भाग है। अत; विद्यालय में जो कार्य हों, वे उस वातावरण से संबंधित हों। विद्यालय का संगठन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाए। यहाँ हम शात्सकी और डॉ० डिवी के विचारों में पर्याप्त समानता पाते हैं। डॉ० डिवी विद्यालय को समाज का एक छोटा रूप मानते हैं तथा उसे शिक्षा

के लिए आवश्यक साधन के रूप में समझते हैं। शिक्षा देने के लिए विद्यालय, परिवार तथा समाज के उपयुक्त हैं, क्योंकि; समाज विकसित प्रौढ़ों का संघटन होने के नाते बहुत जटिल होता है। अतः, अविकसित कोमल एवं सुकुमारमति बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए ऐसा स्थान आवश्यक है, जहाँ समाज की जटिलताओं तथा दूषित अनुपयोगी बातों को अलग करके रखा जाए। अतः डॉ० डिवी समाज, परिवार, संघों तथा कारखानों आदि के सरल रूपों को विद्यालय में स्थित कर यहाँ के वातावरण को बालकों की रुचियों एवं भावनाओं को जाग्रत करके समाज की उन्नति के योग्य बनाने पर बल देते हैं।

शात्सकी और पाठ्यक्रम

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में ही शात्सकी ने शिक्षा पर अनेक प्रयोग प्रारंभ किए थे। उनके अनुसार शिक्षा उपयोगी होनी चाहिए। वे देश और समाज के अनुसार शिक्षा-व्यवस्था के पोषक थे। उनकी प्रारंभिक अवस्था में रूस के सामाजिक जीवन में महान् परिवर्तन हो रहे थे। वहाँ का राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन क्रांति चाहता था। अतः, शात्सकी ने भी पाठ्यक्रम को देश एवं समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाना चाहा और पाठ्यक्रम में उन्होंने कृषि एवं सामाजिक सहयोग को प्राथकिकता दी। रूस में नई आर्थिक क्रांति हो रही थी। अतः, उन्होंने अर्थशास्त्र को भी शिक्षा का आधार बनाया। उनके जीवन-दर्शन में हम आदर्शवाद नहीं, अपितु प्रयोजनवाद का आधिक्य पाते हैं। वे जीवन के मूल्यों को उपयोगिता की कसौटी पर उतारना चाहते थे और प्रयोगात्मक सत्य को ही सत्य मानते हुए चिरंतन सत्य के विरोधी थे। अतः, वे उपयोगी विषयों को ही पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहते थे। वैज्ञानिक विषयों के पढ़ाने में उनकी विशेष रुचि थी। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने अन्य विषयों का समर्थन नहीं किया। हाँ, विज्ञानविषयक शिक्षण पर उन्होंने विशेष बल डाला है।

कॉम्पलेक्स मेथड की शिक्षण-विधि

शात्सकी ने शिक्षण-विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। जिस प्रकार महात्मा गांधी ने 'बुनियादी शिक्षण-पद्धति' और किलपैट्रिक ने 'योजना-पद्धति' का निर्माण किया, उसी प्रकार शात्सकी ने 'कामप्लेक्स मेथड' का सूत्रपात किया। रूसी शिक्षा में यह एक नई शिक्षण-विधि है। 'प्रोजेक्ट मेथड' और 'कांप्लेक्स मेथड' में पर्याप्त समानता है। कामप्लेक्स मेथड में विभिन्न समस्याएँ एवं योजनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। योजना-पद्धति में निम्नांकित पाँच सोपान प्रमुख हैं—

१. परिस्थिति का निर्माण करना अथवा समस्या की उत्पत्ति करना।

२. समस्या के संबंध में आवश्यक विचार-विमर्श तथा समस्या का चुनाव करना।

३. समस्या-पूर्ति की योजनाएँ प्रस्तुत करना।

४. समस्या-पूर्ति तथा तद्जनित ज्ञान की उपलब्धि।

५. समस्या-समाधान के पश्चात् मूल्यांकन अथवा निर्णयात्मक निरीक्षण।

'कॉम्प्लेक्स मेथड' में भी उपर्युक्त पाँचों सोपानों का समन्वय किया गया है। बालक के सामने जब कोई समस्या प्रस्तुत की जाती है, तो वह उसके समाधान में प्रयत्नशील बनता है। अपनी तर्कशक्ति, चिंतनशक्ति एवं निर्णयशक्ति का प्रयोग कर वह समस्या के समाधान में सक्रिय मस्तिष्क से जुट जाता है। इस प्रकार शनैः-शनैः उसमें सक्रिय शिक्षा का उदय होता है। सक्रिय शिक्षा उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। बालकों को यहाँ कार्य करके सीखना पड़ता है। कॉम्प्लेक्स मेथड में समस्याएँ बालकों की रुचि के अनुसार ही प्रस्तुत की जाती हैं। अतः, वे सक्रिय ज्ञान की ही नहीं, अपितु उपयोगी ज्ञान का भी आधार बनती हैं; क्योंकि यहाँ विद्यार्थियों का झुकाव रहता है। स्वेच्छापूर्वक उनका मस्तिष्क और शरीर सक्रिय बना रहता है। बहुत प्रयत्नशील रहने पर भी समस्याएँ उनके लिए प्रेरणा का स्रोत ही बनी रहती हैं। वे थकते नहीं। कॉम्प्लेक्स मेथड में जो विभिन्न समस्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनका पारस्परिक संबंध होता है। ये सभी अवस्थाएँ बालकों के सामूहिक एवं सहयोगात्मक विकास में अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों रूप में सहायक बनती हैं।

कॉम्प्लेक्स मेथड में बालक-बालिकाओं के बौद्धिक, शारीरिक एवं कलात्मक विकास के लिए शिक्षा के निम्नांकित पहलुओं का समन्वय किया गया है—

१. कार्य एवं परिश्रम,

२. सामाजिक जीवन,

३. संवेगात्मक जीवन और

४. खेल।

उपर्युक्त पहलुओं की शैक्षणिक महत्ता पर हम क्रमशः विचार करें, ताकि विषय का सारतत्त्व अधिकाधिक स्पष्ट हो जाए।

कार्य एवं परिश्रम

ज्ञानोपलब्धि की अवधि में जिन विधियों के आधार पर विद्यार्थी क्रियाशील बन कर विधेयात्मक या रचनात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं, उन्हें 'क्रिया-पद्धति' की संज्ञा दी जाती है। क्रिया-पद्धति शिशु-शिक्षा का आधार है। बच्चे स्वभाव से ही

चंचल तथा क्रियाशील होते हैं, वयस्कों के समान उन्हें शांत और एकांत वातावरण अप्रिय है। वस्तुतः क्रियाशीलन उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है।

शिक्षा में क्रिया-पद्धति का पर्याप्त महत्त्व है। क्रिया-पद्धति के निश्चित योजना और निर्धारित उद्देश्य होते हैं, जो बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। क्रिया द्वारा बच्चों के सर्वांगीण विकास में बड़ी सहायता मिलती है और उनकी मानसिक शक्तियों को विकसित एवं उन्नत होने का अवसर दिया जाता है। बालक स्वयं कार्य करके अनुभव ग्रहण करते हैं, फलस्वरूप उनका बौद्धिक विकास तो होता ही है, उनमें आत्मविश्वास, कार्य के प्रति रुचि, उत्तरदायित्व की भावना, विवेक, निरीक्षण, स्वयं निर्णय करने की शक्ति एवं रचनात्मक प्रवृत्ति आदि गुण भी प्रादुर्भूत होते हैं। क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करने से बच्चों में ईमानदारी की भावना जगती है और उनका प्रत्यक्ष रूप से चारित्रिक विकास होता है। कार्य करने में गलतियाँ होती हैं, पुनः वे उनका सुधार करते हैं और आगे बढ़ते हैं। अवरोधों से वे घबड़ाते नहीं। क्रिया द्वारा शिक्षा में प्रायः कार्य सामूहिक रूप में संपन्न किए जाते हैं, जिससे बालकों में पारस्परिक प्रेम, श्रद्धा, सहानुभूति एवं अनुशासन आदि गुणों का समावेश होता है तथा उनका समाजीकरण (Socialization) भी होता है। मौखिक उपदेश-प्रणाली वाली शिक्षा-पद्धति में ये गुण संभव नहीं हैं। क्रिया-पद्धति में कार्य भी खेल के रूप में किए जाते हैं, जिससे बच्चे विषय-बोध में पर्याप्त रुचि रखते हैं। जैसे शिशु-कविता (नर्सरी-राइम्स) के संगीतमय पाठन द्वारा बालक सहज ही उस कविता को स्मरण कर लेते हैं तथा क्रमशः भाषा से भी अवगत हो जाते हैं। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में वेदवाक्यों या अन्य मंत्रों का ध्वनिपूर्ण ढंग से पाठ किया जाता था, फलस्वरूप वे भावपूर्ण वाक्य भाषा का मार्जन करते हुए जीवन में सदैव उपयोगी होते थे। उच्चरित ध्वन्यात्मक वाक्य बालकों के मस्तिष्क पर अनोखा प्रभाव डालते हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी प्रकार क्रिया-पद्धति में अभिनयात्मक क्रियाओं द्वारा बालकों के मानवीय गुण तथा मानसिक शक्तियों के विकास का प्रयत्न किया जाता है। विभिन्न खेलों द्वारा उनकी भावनाओं का परिष्कार होता है तथा उनमें सहयोग, भ्रातृभावना, उदारता एवं सामाजिकता आदि गुणों के विकसित होने का अवसर मिलता है। घरेलू बातों का ज्ञान तथा श्रेष्ठ आदतों का निर्माण भी सरलतापूर्वक ही कराने का नियम है। क्रिया-पद्धति द्वारा बालकों को जीवन के अनेक उपयोगी तथ्यों से अवगत होने का अवसर प्रारंभिक अवस्था में मिलता है।

क्रिया-पद्धति शारीरिक विकास के दृष्टिकोण से भी अत्यंत उपयोगी है। नियमित रूप से स्वतंत्र क्रियाओं को करने तथा खेलों से स्वास्थ्य-लाभ भी होता है। क्रिया करने से बच्चे अपने अंगों का संचालन करते हैं, जिससे उनकी मांसपेशियों का

विकास होता है तथा उन्हें अपने अंगों पर नियंत्रण की शक्ति मिलती है।

सर्वप्रथम प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो (१७१२-१७७८) ने क्रिया-पद्धति का उल्लेख करते हुए हमें इस तथ्य से अवगत कराया कि 'बच्चे स्वभावतः सक्रिय' होते हैं। अतः, उनके इस गुण के विकास के लिए आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा-प्रणाली की रूपरेखा इस प्रकार तैयार करें कि उनको मात्र पुस्तकों के आधार पर ही नहीं, वरन् सक्रिय होकर समाज और देश की वास्तविक वस्तुओं के निरीक्षण द्वारा भी ज्ञानोपलब्धि का अवसर प्राप्त हो। निष्क्रिय पुस्तकीय प्रणाली द्वारा उनका ज्ञान शाब्दिक होता है, मस्तिष्क को सोच-विचार कर ज्ञान ग्रहण करने का अवसर नहीं मिलता, परंतु क्रिया-प्रणाली यथार्थ ज्ञान का आधार है। प्रत्यक्ष वस्तु से संबंध होने के कारण उनके भावों और विचारों को जाग्रत होने में सहायता मिलती है।

रूसो के बाद पेस्तालात्सी (१७४६-१८२७ ई०) ने यह बतलाया कि बच्चे निष्क्रिय श्रोता नहीं, बल्कि कार्यशील प्राणी और अन्वेषक हैं। अतः, उनके वास्तविक विकास और उनकी ज्ञानोपलब्धि के लिए उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक कार्य में संलग्नशील कर नई बातों की खोज के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष रूप से किसी क्रिया द्वारा अगर वे निरीक्षण-परीक्षण और अनुभव प्राप्त करें, तो उनका ज्ञान अधिक स्थायी और जीवनोपयोगी होगा।

ऐक्टिविटी (Activity) स्कूल का संस्थापक पागोविन ने भी बच्चों के संतुलित विकास के लिए 'करके सीखने' को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए उन्हें क्रियाशील रख कर शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया है।

फ्रोबेल (१७८३-१८५२) का कथन है कि अंतर्निहित शक्तियों के प्रकटीकरण के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। उन्होंने लिखा है "क्रियाशीलता के अवसर पर अपनी प्रेरणाओं तथा भावनाओं को पूर्ण करने के लिए बालक अपने मन से सक्रिय हो कर कार्य करें।" बच्चों के लिए क्रियाशीलता के आधार पर ही उन्होंने किंडरगार्टन प्रणाली की रूपरेखा तैयार की है और बतलाया है कि बालकों में रचनात्मक शक्ति और निर्माणकारी नैसर्गिक बुद्धि होती है, जिसके प्रयोग के आधार पर उनका सर्वांगीण विकास संभव है। अतः बालोद्यान, खेल और सहायक सामग्रियों को किंडरगार्टन में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है।

अन्य मनोवैज्ञानिक विचारधारा वाले शिक्षाशास्त्रियों के समान डॉ० मांटेसरी (१८७०-१९५२) ने भी क्रियाशीलता को उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बतलाया है। मांटेसरी-पद्धति में खेलों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन खेलों की विशेषता है कि ये शारीरिक क्रियाशीलता और स्फूर्ति के साथ-साथ मानसिक ज्ञान और अनुभव का भी संवर्द्धन करते हैं।

क्रियात्मक शिक्षा के श्रेष्ठ उन्नायक डॉ० डिवी की प्रोजेक्ट पद्धति 'क्रिया और ज्ञान की एकता' के सिद्धांत पर ही आश्रित है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो ज्ञान क्रियात्मक होता है, वह ठोस और स्थायी होता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी बुनियादी शिक्षा-पद्धति में बालकों की आत्म-निर्भरता एवं स्वावलंवन की भावना आदि के विकास के लिए कार्य अर्थात् उद्योग या हस्तकला (क्राफ्ट) को ही शिक्षोपलब्धि का केंद्रबिंदु मानते हैं।

क्रिया-पद्धति के मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

(क) आंतरिक क्रिया का सिद्धांत,
(ख) मूल प्रवृत्तियों तथा प्रेरणा का सिद्धांत,
(ग) क्रिया-तंतुओं का सिद्धांत और
(घ) स्वतंत्रता का सिद्धांत।

अब हम उपर्युक्त सिद्धांतों पर क्रमशः विचार करेंगे।

(क) आंतरिक क्रिया का सिद्धांत—सभी प्राणियों में एक प्रकार की आंतरिक क्रिया होती रहती है। इस क्रिया के कारण ही प्राणी कार्य में लगे रहते हैं। अगर यह क्रिया नहीं हो, तो बालक अपनी आंतरिक बातों को प्रकट ही न कर पावें। यह स्वाभाविक क्रिया है, जिसके कारण बच्चे अपनी आंतरिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। इसका मूल बालक को सृजनात्मक प्राणी मानने में है। इसलिए अपनी सृजन-शक्ति का प्रयोग बच्चे स्वाभाविक रूप में करते हैं, वे यंत्रवत् कार्य नहीं करते। अतः, क्रियात्मक सिद्धांत को शिशु-शिक्षा में व्यवहृत किया जाता है।

(ख) मूल प्रवृत्तियों तथा प्रेरणा का सिद्धांत—प्रारंभ में मूल प्रवृत्तियों के आधार पर ही ज्ञान ग्रहण किया जाता है। विकास में दृढ़ता होने पर ज्ञान का स्तर विचारात्मक होने लगता है। छोटे बच्चों में मूल प्रवृत्तियाँ कार्य करने की प्रेरणा भरती हैं। अतः, उनका क्रियाशील होना स्वाभाविक है। स्वाभाविक प्रेरणा तथा उत्तेजना पाने पर वे कार्य में रुचि लेने लगते हैं। ऐसी अवस्था में क्रिया-पद्धति के आधार पर उनको शिक्षित बनाने की चेष्टा आवश्यक है।

(ग) क्रिया-तंतुओं का सिद्धांत—प्राकृतिक रचना के अनुसार हमलोगों के शरीर के अंदर आरंभ से ही ज्ञान-तंतुओं के साथ क्रिया-तंतु भी होते हैं। ये क्रिया-तंतु विकास की आरंभिक अवस्था में अधिक क्रियाशील होते हैं इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व ही उसकी एक क्रिया हो जाती है, जिससे हमें अनुभव कहा करते हैं। इसी कारण वयस्कों की अपेक्षा दिन भर दौड़ने, खेलने और कार्यरत रहने के बावजूद बच्चे थकते नहीं हैं। कतिपय मनोवैज्ञानिकों के विचारानुसार ज्ञान से पूर्व क्रिया एक

स्वाभाविक क्रम है। अतः, बालक पहले काम करते हैं, फिर विचार करते हैं। इसी लिए बच्चों की शिक्षा में प्रत्यक्ष इंद्रिय ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है। क्रिया-तंतुओं के इस सिद्धांत का ध्यान रख कर ही बच्चों की शिक्षा में क्रियाशीलता का नियम प्रयोग में लाया जाता है।

(घ) स्वतंत्रता का सिद्धांत—आंतरिक शक्तियों के समुचित विकास आत्माभिव्यंजना एवं कार्य में उत्साह के लिए स्वतंत्र वातावरण की बहुत आवश्यकता है। अतः, क्रिया-पद्धतियों में स्वतंत्रता को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया गया है। किंडरगार्टन, माँटेसरी और प्रोजेक्ट प्रणालियों में स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया गया है। बुनियादी तालीम में भी स्वतंत्रता का सिद्धांत मान्य है।

क्रियात्मक शिक्षा में जिस 'क्रिया' का प्रयोग किया जाता है—चाहे वह खेल, आर्ट या क्राफ्ट हो या कोई अन्य दस्तकारी या प्रोजेक्ट हो, हमें सर्वदा यह स्मरण रखना होगा कि उनका एक अभिप्राय हो, जो बच्चों के धैर्य, ध्यान, एकाग्रता एवं रुचि आदि से संबद्ध हो तथा जिनके संपादन में बालक अंतःप्रेरणा से कार्य करते हुए उस क्रिया में स्वानुभूति और आनंद का अनुभव करें। इसके लिए आवश्यक है कि क्रियात्मक शिक्षा में जिन क्रियाओं द्वारा बच्चों को शिक्षा प्रदान की जाती है, उनके चुनाव के समय उनकी अवस्था को ध्यान में रखा जाए। शिशुओं के लिए ऐसे कार्य और सामान प्रयोग में लाए जाए, जिनसे उन्हें किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं हो। उनके खेलने के लिए आकर्षक रंगीन और कुछ आवाज करने वाले रबर तथा हल्के टीन के खिलौने उपयुक्त हैं। उनकी अवस्था के क्रमिक विकास के साथ ही खिलौने आदि में भिन्नता होती जाएगी। धीरे-धीरे कताई-बुनाई तथा कला के कार्यों का प्रयोग किया जाएगा।

२. सामाजिक जीवन

व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय संबंध है। व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है और समाज में व्यक्तियों की ही प्रधानता होती है। एक दूसरे के पूरक सदृश्य हैं, इनकी विभिन्नता में इनका संबंध लुप्तप्राय मालूम होता है। अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकीवर ने लिखा है—"सामाजिक संबंधों के जाल को हम समाज कहते हैं और इन सामाजिक संबंधों के निर्माता होते हैं मनुष्य।" मनुष्य अकेला ही अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता, उसे दूसरों की सहायता भी लेनी पड़ती है। इसी अपूर्णता के कारण आदान-प्रदान का संबंध स्थापित होता है। मनुष्य का एक दूसरे से संबंध स्थापित करने के और भी कई कारण हैं—जैसे मनोविनोद के लिए, आवश्यकताओं, आर्थिक अथवा नैतिक उद्देश्य

की पूर्ति के लिए। इसलिए समाज, मनुष्यों के उस पारस्परिक संबंध को कहते हैं, जिसको वे अपनी विविध आवश्यकताओं को पूर्ति के हेतु जन्म देते हैं। मैकीवर ने अपनी पुस्तक 'कम्युनिटी' के पृष्ठ बाईस पर लिखा है "समाज का मुख्य लक्षण यह है कि यह जान-बूझकर मनुष्यों द्वारा स्थापित किया हुआ संबंध है।" अरस्तू ने भी अपनी पुस्तक 'राजनीति' के प्रथम पृष्ठ के दूसरे अनुच्छेद में ही लिखा है "मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है।" प्रायः सभी समाजशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। इसका तात्पर्य है कि केवल समाज में ही मनुष्य की उन्नति तथा विकास संभव है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री मेकेंजी ने अपनी पुस्तक 'समाज-दर्शन' में कहा है कि "भाषा यह सिद्ध करती है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है।"

मानव जाति का क्रमबद्ध इतिहास मानव-समाज के विकास का इतिहास है। प्राथमिक मानवों की उत्पत्ति कैसे हुई और किस प्रकार उनका विकास हुआ, यह विषय प्राणिशास्त्र और प्राचीन मानवशास्त्र में वर्णित हुआ है। महाभारत तथा दघिनिकाय में मनुष्यों के पीड़ा, कष्ट, उत्पात आदि का वर्णन आता है, किंतु यह अवस्था भी अकेले रहने वाले मनुष्य का वर्णन नहीं है। जब मानव शिकार अथवा अन्य उपायों से जीवन-यापन करता था, उस समय भी वह झुंड में या श्रेणी या समूह में रहता था। अब तक दुनिया में प्राचीन मानवों के जो अवशेष मिले हैं, उनसे मनुष्य की सामूहिकता ही प्रमाणित होती है। शनैः-शनैः बर्बरता और असभ्यता की अवस्था को छोड़ कर कृषि-कर्म और ग्राम-निर्माण के सहारे मानव-सभ्यता का विकास आरंभ हुआ। शारीरिक कौशल, बल तथा आयुध-प्रदर्शन के प्राबल्य के बदले मानव-समाज के बीच सामाजिक नियंत्रण और राजकीय दंड-विधान की व्यवस्था हुई। मिस्र, बाबुल, भारत और चीन आदि देशों में बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का सूत्रपात एवं विकास हुआ। समाज का विकास मनुष्य की समूहशीलता का ऐच्छिक परिणाम था। यह मानव-संबंधों और अंतःक्रियाओं के स्वाभाविक विकास एवं मनोभाव का प्रतिफल था। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ही समाज के निर्माण का मूल है। मानव का अन्य मानवों के साथ अत्यंत स्वाभाविक पारस्परिक संबंध है और उनके कारण जो अंतःक्रियाएँ होती हैं, उनके समन्वित एकीकरण का नाम ही 'समाज' है।

जब अनेक मानव एक साथ रहते हैं, तब उनके पारस्परिक संबंध से ही समाज बनता है। मानव समाज की इकाई है तथा समाज के बिना वह पूर्ण विकसित नहीं बन सकता। समाज का विकास मूलतः परिवार पर आश्रित है और परिवार रक्त-संबंध पर आश्रित है, आधारित है। निःसंदेह मानव के विकास में समाज का बहुत बड़ा श्रेय है।

समाज मानव की अपेक्षा अधिक कालव्यापी है। इतिहास तथा धर्म का परिलक्षण और परिदर्शन भी जो किसी समाज के व्यक्ति के विकास के मूल रक्षक हैं, समाज के द्वारा ही हो सकता है। एक व्यक्ति इसकी रक्षा नहीं कर सकता, चाहे वह कितना बलवान् और महान् क्यों न हो। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए गीता में कहा गया है कि "प्रजापति ने यक्ष के साथ ही प्रजाओं की सृष्टि की।"

समाज एक समग्रता है और विशिष्ट उपादानों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। समाज का भौतिक रूप संबंधग्राही मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म एवं दर्शन आदि के द्वारा व्यक्त होता है। समाज एक क्रियाशीलता समग्रता है और इस क्रियाशीलता के पीछे वर्त्तमान आध्यात्मिक आधार की स्वीकृति, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषता है। अन्य भौतिक वस्तुओं के समान, समाज का भी देशकालव्यापी एक स्वरूप है। सभ्यता समाज की ही देन है। सभ्यता का अर्थ मनुष्य की उन्नति तथा उसकी सफलताओं से है। सभ्यता मनुष्य के मानसिक तथा भौतिक विकास की उपज है। मनुष्य ने सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की है। उसने प्रकृति की शक्तियों को अपने वश में किया है। वह समुद्र में जहाज चलाता है, आकाश में उड़ता है तथा पृथ्वी के वक्षस्थल पर रेल, मोटर आदि से दौड़ता है।

इस प्रकार हमें इस सत्य का परिलक्षण और परिदर्शन होता है कि मनुष्य के सभी गुण समाज की ही देन हैं। एतदर्थ, समाज केवल जीवन को सुरक्षित तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करता, वरन् हमारी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक-राजनीतिक उन्नतियों का भी घोषणा, संवर्द्धन, उत्कर्षण और उन्नयनीकरण भी करता है। मनुष्य तथा समाज में इतना घनिष्ठ संबंध है कि मैकीवर के शब्दों में "वह समाज में जन्म लेता है और समाज की अपेक्षाएँ उसमें जन्म लेती हैं।" हम एक दूसरे को अलग नहीं कर सकते; क्योंकि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं।

विद्यालय को इस विस्तृत और व्यापक समाज का एक छोटा रूप मानना चाहिए। विद्यालय में विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता है, जिससे वह एक सुसंस्कृत नागरिक के रूप में जीवन-यापन करने योग्य बनता है। वहाँ उसे शिक्षा मिलती है, जिससे उसके चरित्र का निर्माण होता है, नैतिकता की अभिवृद्धि होती है, उसमें मानसिक और आध्यात्मिक गुणों का सन्निहितिकरण होता है। विद्यालय में समाज के विभिन्न पहलुओं से सरल क्रियाओं को चुन लिया जाता है तथा विद्यार्थियों को उनके वास्तविक अर्थ और महत्त्व का बोध कराया जाता है। विद्यालय के

वातावरण का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना होता है तथा समाज की उन बातों को, जो उपयोगी हैं तथा शिक्षा के दृष्टिकोण से लाभप्रद हैं, प्रतिबिंबित करना होता है। विद्यालय समाज को सुदृढ़ बनाते हैं और पारस्परिक विरोधी हितों में विरोध उत्पन्न करते हैं। समन्वय और सहयोग की भावनाएँ ही समाज के अंदर से संघर्ष दूर करती हैं। विद्यालय वस्तुतः समाज के सामाजिक संस्था हैं। चूंकि शिक्षा एक सामाजिक पद्धति है, अतः विद्यालय सामाजिक जीवन का वह प्रतिरूप है, जिससे बालक जातिगत समस्त प्रसाधनों में भाग लेने योग्य बन सकता है तथा समाज के कल्याण के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।

वस्तुतः विद्यालय अपने-आप में एक पूर्ण समाज का स्वरूप प्रतिबिंबित करता है। डॉ० डिवी ने कहा है —"स्कूल इज एमीनियेचर ऑफ सोसायटी"—अर्थात् विद्यालय समाज का एक सूक्ष्म चित्र है; एक लघु रूप है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री राइबर्न ने भी इस विचार का पोषण करते हुए लिखा है—"स्कूल इज़ ऐन एपीटोम ऑफ सोसाइटी"। सेकेंड्री एडुकेशन कमीशन रिपोर्ट अथवा मुदालियर कमीशन रिपोर्ट ने भी इस ओर अपनी मान्यता प्रकट की है। अमेरिका के विद्यालय सामाजिक जीवन के अंग माने जाते हैं। लंदन विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र के प्राध्यापक डॉ० नन का कथन है—"विद्यालयों को ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक विशेष स्थान मात्र नहीं समझना चाहिए, वरन् वह एक ऐसा स्थान है, जहाँ नवीन अवस्था वाले बालक उन क्रियाओं और कार्यों को सीखते हैं, जो बाह्य जगत् की बड़ी-बड़ी और महत्त्वपूर्ण बातों से संबद्ध हैं और वे इन कार्यकलापों के करने का सफल ज्ञान प्राप्त करते हैं।"

विद्यालय का व्यक्ति और समाज के साथ बड़ा ही गहरा और अटूट संबंध है। यह व्यक्ति और समाज के संबंध की कड़ियों को सुदृढ़ बनाने के हेतु महती शक्ति है।

शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह प्रगतिशील समाज का सुयोग्य और उत्तरदायी नागरिक बन सके और अपनी शक्ति द्वारा समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। शिक्षा व्यक्ति और समाज के संबंध का सदा निर्माण करती है तथा व्यक्ति को समाज की आवश्यकताओं का ज्ञान कराती है। सत्य, अहिंसा, सद्भावना, प्रेम, त्याग और इच्छाशक्ति आदि सद्गुण व्यक्ति को शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो पाते हैं। इन्हीं गुणों से समन्वित-विभूषित होकर व्यक्ति उन महान् कार्यों के संपादन में समर्थ हो पाता है, जिनका समाज में ही नहीं, इतिहास में भी मूल्य होता है। विद्यालय एक ऐसी संस्था है, जिसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण और सुसंगठित रूप में विकसित करना होता है। फोर्डन

नामक शिक्षाशास्त्री ने भी इसी आशय का मत व्यक्त किया। व्यक्ति का पूर्ण विकास तब तक नहीं हो पाता, जब तक वह समाज के हित की बात नहीं सोचता। जो व्यक्ति अपने स्वार्थसाधन की अपेक्षा समाज के स्वार्थसाधन का ध्यान रखता है, उसी का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित माना जाता है। व्यक्ति का विकास उसके सामाजिक उत्तरदायित्व में निहित है। विद्यालय अपनी शिक्षा द्वारा व्यक्ति और समाज के विकास *को उस इष्ट स्थल पर पहुँचाता है, जिसकी मनुष्य कामना करता है।*

विद्यालय में विभिन्न संगठन समितियाँ और उप-समितियाँ होती हैं, जैसे समाज और राष्ट्र में हम देखते हैं। विद्यार्थी स्वशासनस्वरूप उनका स्वत: परिचालन और परिवहन करते हैं, फलतः उनमें सहयोग और संगठन, सहकारिता और सामाजिकता, नागरिकता और नैतिकता, श्रद्धा एवं धैर्य आदि की भावना जाग्रत होती है। उन्हें वहाँ अधिकार और कर्त्तव्य का भान होता है। विद्यालय में विद्यार्थी अनुशासनवद्ध होते हैं। उन्हें दंड और पुरस्कार की प्राप्ति होती है और उनमें जीवन को परिष्कृत कर आगे बढ़ने की भावना दृढ़ होती है। खेलों और प्रतियोगिताओं में भाग लेने से उनके अंदर प्रत्यक्षीकरण निर्णय, साहस और दक्षता तथा शीघ्र निर्णय लेने के गुणों का विकास होता है। विद्यालय की विभिन्न संस्थाओं के परिचालन से उनमें नायकत्व का गुण विकसित होता है, संगठन-शक्ति, सहनशीलता, विनम्रता और व्यवहार-कुशलता आदि गुण प्रादुर्भूत होते हैं और भविष्य में समाज के एक कालनिष्ठ, श्रमनिष्ठ और संयमनिष्ठ आदर्श नागरिक के रूप में अपना आदर्श पेश करते हुए वे अपना जीवन-यापन करते हैं। इस तरह विद्यालय सर्वप्रकारेण समाज का प्रतिरूप है। डॉ० डिवी ने कहा है—"स्कूल शुड वी ऐन आइडियलिस्टिक सोसाइटी" अर्थात् *विद्यालय को एक आदर्श समाज के रूप में होना चाहिए। जीवन एक सामाजिक* कार्य है और विद्यालय समाज का एक छोटा रूप।

वर्त्तमान समाज में स्कूलों का अस्तित्व जीवन और समाज के व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है। इंगलैंड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री नन महाशय ने लिखा है—"शिक्षा-संबंधी प्रत्येक प्रयत्न के लिए ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करें, जिनमें व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो और वह यथाशक्ति अपने योग्यतानुसार समाज और मानव-जीवन के हितार्थ मौलिक सहायता दे सके।" डॉ० डिवी भी विश्वास करते हैं कि सच्चे अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य है "आंतरिक पवित्रता, जो सामाजिक स्वभाव या रुचि से ही आती है।" व्यक्ति, समाज और विद्यालय में अटूट अंत:संबंध है। एक दूसरे की और दूसरा तीसरे की पूर्ति में सहायक होता है। एक का विकास दूसरे की उन्नति के बिना असंभव है। आज के विद्यालय का एक किशोर अथवा विश्व-विद्यालय का युवक कल के राष्ट्र का कर्णधार होगा। शिक्षाशास्त्री शासकों ने भी

इसी विचार का पोषण किया है कि आज के विद्यालयों का संघटन ऐसा हो, जो अपने अंदर समाज का एक वास्तविक चित्र उपस्थित करें, ताकि वहाँ से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् नौजवान विद्यार्थियों को इस विस्तृत समाज में किसी प्रकार के अनूठेपन का वोध नहीं हो। उनके अंदर किसी प्रकार की अहम्न्यता की भावना नहीं हो। इस प्रकार एक व्यक्ति विद्यालय के माध्यम से समाज का उत्तरदायित्व-पूर्ण और स्वावलंवी नागरिक होगा। शात्सकी के ये विचार शिक्षा-जगत् में सर्वदा अनुकरणीय वने रहेंगे।

३. संवेगात्मक जीवन

मूल प्रवृत्तियों के समान सभी प्राणियों में संवेग (Emotion) पाया जाता है। प्रत्येक जीवन को सुख-दुःख, पीड़ा आदि की अनुभूतियाँ होती हैं। ये अनुभूतियाँ जव तक अपनी साधारण अवस्था में रहती हैं, तव तक इन्हें हम राग (Feeling) कहते हैं। परंतु, जव किसी कारणवश ये प्रवल, तीव्र अथवा विशिष्ट रूप धारण कर लेती हैं, तव हमलोग इन्हें 'संवेग' कहते हैं।

'इमोशन' शव्द की उत्पत्ति लैटिन शव्द 'इमोशियो' (Emotio) से हुई है, जिसका अर्थ होता है—उत्तेजित करना अथवा घवड़ा देना। संवेग हमारे वर्त्तमान अनुभूति तथा व्यवहारों में उद्वेग या उपद्रव उत्पन्न कर देता है। इसलिए उडवर्थ ने कहा है—"संवेग मन की उद्वेगपूर्ण अवस्था होती है।" जेम्स लौंग के अनुसार "संवेग की उत्पत्ति शारीरिक क्रियाओं से होती है।" शरीर में विभिन्न ग्रंथियाँ (Glands) होती हैं, जिनसे रस निकलता है, जो संवेग उत्पन्न करती हैं। रॉस के अनुसार "संवेग हमारी सभी क्रियाओं का संचालक है।"

नवयुवकों के शारीरिक, वौद्धिक, नैतिक एवं भावात्मक आदि प्रमुख गुणों के विकास मे संवेगों का अत्यधिक महत्त्व है। अतः, विद्यार्थियों को जीवन में संवेगों का महत्त्व ज्ञात होना चाहिए। व्यक्तित्व के विकास में, चरित्र के निर्माण में तथा क्रियाशीलता की प्राप्ति के लिए संवेगों को वड़ा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। वालकों का चरित्र-गठन, वौद्धिक विकास, किसी विषय को पढ़ने में रूचि तथा ध्यान की एकाग्रता उनके संवेगों की उचित शिक्षा पर निर्भर है। संवेगों के उचित विकास से वालकों में उत्साह, वीरता, सहानुभूति, प्रेम, दया एवं विद्यानुराग आदि भाव सहज ही विकसित किए जा सकते हैं। यही नहीं, संवेगावस्था में व्यक्ति श्रेष्ठ एवं महान् कार्य कर सकने में समर्थ होता है। संवेग एक प्रकार की प्रेरक शक्ति है। यह हमारे विकास के मार्ग को प्रशस्त करने में वड़ी सहायता करती है।

सम्यक् संवेगात्मक विकास के अभाव में किशोर अपने भावी जीवन में असफल हो जाते हैं। संभव है कोई वहुत वड़ा तत्त्ववेत्ता, विद्वान या राजनीतिज्ञ

हो, परंतु अगर उसे अपने क्रोध पर नियंत्रण नहीं है, तो दूसरों के साथ सद्व्यवहार करने में वह सर्वथा असफल होगा और अंततोगत्वा उसे बहुत हानि उठानी पड़ेगी। भय, कामुकता, घृणा एवं आत्महीनता आदि संवेगों के साथ भी यही बात है। आत्मनियंत्रण के अभाव में यह हमें सहज मानवीय गुणों से असंपृक्त कर देगा।

संवेग ही क्रियाशीलता के स्रोत हैं। अतः, यदि संवेगों का मार्ग अशुद्ध है, तो क्रियाशीलता का भी रूप अशुद्ध होगा। बालकों के संवेगों को उपयुक्त मार्ग पर ले चलने के लिए यह आवश्यक है कि उनके आसपास का वातावरण स्नेहपूर्ण हो। स्नेहपूर्ण वातावरण संवेगों के अभ्यास के लिए बहुत आवश्यक है। स्नेह एवं सौहार्द्र पूर्ण व्यवहार बालकों में एक प्रकार का बल उत्पन्न करता है। घृणा एवं क्रोध आदि के द्वारा वे इस बल से वंचित रह जाएंगे। प्यार के अभाव में ही अनेक बालक अपने को उपेक्षित महसूस करते हैं और आवारा बन जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से उनके मन में यह धारणा घर कर जाती है कि यदि उनकी कोई परवा नहीं करता, तो वे ही क्यों किसी की परवा करें और उनकी यही प्रवृत्ति आवारापन के रूप में फूट पड़ती है। सहानुभूति का अभाव ही भग्न घरों के बालकों को पागल कर देता है। अल्पावस्था में मातृ-पितृविहीन तथा छात्रावासों एवं अनाथालयों में पले हुए बच्चे कभी-कभी कठोर तथा आत्म-केंद्रित (Self-Centered) होते हैं। इस त्रुटि का मुख्य कारण यह है कि अपने पालन-पोषण में वे जीवन-शक्ति प्रदान करने वाली सहानुभूति एवं प्रेमपूर्ण वातावरण से विलग रखे गए। अनिश्चित अवस्था तथा भयग्रस्त रहने से बालकों के जीवन के संवेगात्मक पक्ष का विकास संभव नहीं होता।

बालक-बालिकाओं को अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। अध्यापकों एवं अभिभावकों को बालकों पर अपनी भावनाओं को लादने का यत्न नहीं करना चाहिए। भावनाओं को बलपूर्वक दबाने का परिणाम भावी जीवन में अशुभकर होता है। ये समाज में विषम स्थितियाँ उत्पन्न कर सकती हैं। शिक्षाशास्त्री थिंग ने लिखा है—"ढक्कन को जबरदस्ती नीचे मत दबाए रखो, वरन् केतली फट जाएगी। संवेगों का दमन बालकों के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास एवं भावी जीवन के लिए बड़ा हानिकर होता है।"

शात्सकी ने अपने शिक्षाशास्त्र में प्रेरणात्मक शक्ति को स्वीकार किया है। आज के सुप्रसिद्ध शिक्षा-मनोवैज्ञानिक संवेग तथा सीखने में घनिष्ठ संबंध स्वीकार करते हैं। बौद्धिक विकास एवं संवेग, जीवन के ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। भय अथवा क्रोध के कारण बालक सीखी हुई बात अथवा ग्रहण किया हुआ ज्ञान भी भूल जाता है। विद्यालयों में बालकों एवं किशोरों के संवेगात्मक विकास की ओर

पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त उद्देश्य के कारण ही शातसकी ने अपने 'कॉम्प्लेक्स मेथड' में क्रिया द्वारा ज्ञान, खेल को महत्ता, सामाजिक पहलुओं को विद्यालयी जीवन में प्रादुर्भूतिकरण के सिद्धांत की मान्यता आदि विचारों को प्रश्रय दिया है।

४. खेल

खेल नवजीवन संचार की प्राकृतिक प्रक्रिया है, स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्टर्न के अनुसार "खेल ऐच्छिक स्वतःप्रेरित क्रिया है।" प्राणी जब कुछ अपनी अंतःप्रेरणा से, अपने आनंद या सुख के लिए करता है तो वह खेल हो जाता है। मेग्डूल की यह धारणा है कि "खेल में प्राणी को स्वतंत्रता और आनंद की अनुभूति होती है, जो किसी अन्य कार्य में उसे उपलब्ध नहीं होता। खेल एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसे हम सभी प्राणियों में देखते हैं। मानव नहीं, मानवेतर जीव भी खेलते हैं। बालक से लेकर बूढ़े तक, चींटीं से लेकर हाथी तक सभी में खेल की प्रवृत्ति पायी जाती है। खेल निर्देशन एवं अनुकरण के समान ही एक प्रवृत्ति है, जिसके अभाव में बालक का विकास रूक जाता है। वस्तुतः खेल मानव-जीवन के लिए एक आवश्यक अंग बन गया है।"

खेल हमारी रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का प्रमुख माध्यम है। वस्तुतः बालक की रचनात्मक शक्ति का प्रकटीकरण ही खेल है। खेल से मूल प्रवृत्तियों एवं भावों का रेचन होता है। इससे आदत और चरित्र का निर्माण होता है। आत्म-विश्वास, सहयोग, अनुशासन, साहस, सहिष्णुता एवं सौजन्यता आदि सामाजिक गुण खेल द्वारा बालकों में सहज ढंग से आविर्भूत किए जा सकते हैं। उनमें उद्योग-शीलता, क्रियाशीलता तथा समाजीकरण के गुण के विकास के लिए खेल एक प्रमुख साधन है। हमें इसको इसी रूप में अपने छात्र-छात्राओं के निमित्त अपनाना है। खेल द्वारा बालक-बालिकाओं का स्वाभाविक एवं सर्वांगीण विकास संभव है; क्योंकि उनकी अंतःशक्तियों को प्रस्फुटित तथा विकसित होने का अवसर प्राप्त होता है। खेल शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास का साधन है। विलियम स्टर्न ने खेल द्वारा शिक्षा की उपयोगिता इस प्रकार व्यक्त की है—"खेल द्वारा बालक के शारीरिक अंग पुष्ट एवं पूर्ण बनते हैं तथा उसे वह ज्ञान एवं क्षमता प्राप्त होती है, जो उसके भावी जीवन के लिए आवश्यक है। खेल द्वारा शारीरिक शक्ति, कलात्मक ज्ञान, वस्तुओं की व्यवस्था एवं प्रयोग, धैर्य, आत्मनिर्भरता, सहिष्णुता, विचार एवं निर्णय-शक्ति के साथ-साथ सामाजिक कल्याण, उत्तरदायित्व तथा सहयोग की भावना आदि विभिन्न गुणों एवं शक्तियों का विकास होता है। इसके द्वारा विद्यार्थी योजना बनाना, उसे पूर्ण करना, बुद्धि का तत्काल प्रयोग करना आदि गुण सीख जाते हैं। इस अभ्यास से भावी जीवन सुखी तथा सफल बनता है।"

शिक्षा में खेल-विधि का प्रतिपादन करने वाले शिक्षाशास्त्री कॉल्डवेल कुक माने जाते हैं। कॉल्डवेल कुक ऐसे सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अंगरेजी शिक्षण में खेल का सर्वप्रथम प्रयोग किया। उनका कहना है कि शिक्षण में जितने साधन हैं, वे सब अस्वाभाविक हैं। खेल ही एकमात्र स्वाभाविक साधन है। उनका यह भी कहना था कि विभिन्न खेलों की ओर झुकाव और रुचियों से यह भी पता लगाया जा सकता है कि वे भविष्य में किस प्रकार के व्यक्ति बनेंगे। जिन व्यक्तियों का ऐसा विचार था कि खेल केवल मनोरंजन का साधन मात्र है तथा इसमें गंभीरता का अभाव है, अतः खेल को शिक्षा में स्थान नहीं दिया जाए—ऐसे लोगों को काल्डवेल कुक ने बताया कि खेल द्वारा ही शिक्षा को मनोरंजक बनाया जा सकेगा। इसलिए बालकों को ड्रामा में पाठ दे कर, वे उसे उन्हें याद कराया करते थे। उन्होंने सर्वदा इस बात पर बल दिया कि शिक्षा में अमनोवैज्ञानिक विधि का अनुकरण करने से बालकों की रुचि विद्यालयों के प्रति समाप्त हो जाती है तथा वे उसे बंदीगृह समझने लगते हैं।

काल्डवेल कुक के पूर्व भी अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने प्राचीन शिक्षण परिपाटी का विरोध करते हुए किसी-न-किसी रूप में बालक की स्वच्छंद क्रिया को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इंगलैंड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन लॉक खेल-ही-खेल में बालकों को बहुत कुछ पढ़ा देना चाहते थे। रूसो तथा पेस्टालॉजी ने खेल को शिक्षा का आवश्यक अंग माना है। रूसो ने प्रकृति में विचरण तथा ज्ञान-प्राप्ति को उपयुक्त माना। पेस्टालॉजी ने बालक के मानसिक विकास के अनुरूप शिक्षण की प्रक्रिया को बनाने पर अधिक जोर दिया है। फ्रोबेल तथा मांटेसरी ने भी अपनी शिक्षा-पद्धति का आधार खेल को बनाया है। फ्रोबेल ने बालक की क्रिया को दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार दे कर खेल-विधि के तत्त्वों का समावेश अपनी किंडर-गार्टन विधि में किया। उनका विश्वास था कि खेल के द्वारा बालक अपनी शक्तियों को स्वतंत्र एवं स्वाभाविक रूप से प्रकट करने में समर्थ होते हैं।

ग्युलिक (Gulick) ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ प्ले' में खेल की परिभाषा करते हुए लिखा है,—"जो कार्य हम अपनी इच्छा से, स्वतंत्रतापूर्वक करें, वही खेल है।" वेलेंटाइन का कहना है कि "खेल कार्य की एक प्रकार की आनंद-दायक भावना है।" खेल के संबंध में टामसन का विचार है कि "खेल मूल-प्रवृत्तियों से संबंधित क्रिया को करने की प्रेरणा है।" इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान लूई स्टीवेंसन ने खेल को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है तथा स्वानुभव के आधार पर कहा है कि खेल का उचित प्रयोग बालकों के भावी व्यक्तित्व-निर्माण एवं इंद्रियों के विकास के लिए सर्वोत्तम साधन है। एनी बेसेन्ट बाल्यावस्था की शिक्षा खेलों के माध्यम से

ही प्रदान करने के पक्ष में हैं। परंतु, कॉल्डवेल कुक ने खेल-विधि का विशेष रूप से विस्तार एवं परिमार्जन किया। अतः, उन्हें खेल-विधि का प्रतिपादनकर्त्ता माना जाता है। खेलना बालक की स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्ति है। अतः, अन्य स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा खेल का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीनकाल से अब तक खेल-कूद को बुरी दृष्टि से देखा जाता रहा है। आज भी बूढ़े लोग बच्चों को यह कहावत सुनाते हुए पाए जाते हैं, "पढ़ोगे-लिखोगे, होगे नवाब, खेलोगे-कूदोगे, होगे खराब"। प्रायः लोगों ने यह धारणा बना रखी है कि खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं। पढ़ना और खेलना दो अलग-अलग और विरोधी बातें हैं। आधुनिक युग में शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और हो रहे हैं, उनके परिणामस्वरूप खेल का महत्त्व बढ़ता जा रहा है पढ़ने के साथ-साथ खेल को उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है, जितना पुस्तक को। कुछ शिक्षाचार्यों ने तो खेल को पढ़ायी का माध्यम मानने की सम्मति प्रकट की है। इसके फलस्वरूप अब तो एक ऐसी शिक्षण-विधि का जन्म हो गया है, जिसके द्वारा बालक खेल के सहारे पढ़ते हैं।

खेल देश, काल, समाज, व्यक्ति तथा प्राणि-भेद से परे एक जन्मजात सामान्य प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति समस्त प्राणिवर्ग में पायी जाती है। खेल का नाम सुनते ही हमारा चित्त प्रसन्न, हृदय उमंगपूर्ण, मन उत्साहपूर्ण तथा शरीर प्रफुल्लित हो जाता है। "क्रीड़ा का नाम प्रकृति की प्राणी के लिए सबसे महान शिक्षिका है। वातावरण वह शिक्षणशाला है, जहाँ पर प्रकृति की यह शिक्षिका अपने शिक्षार्थी को स्वाभाविक रीति से शिक्षित करके भावी जीवन के लिए तैयार करती है।"

वास्तविक जीवन की कठिनाइयों, विषमताओं, कुंठाओं तथा संघर्षों से ऊब कर व्यक्ति कल्पना का संसार निर्मित करता है, जिसे वह सरल तथा सुंदर समझता है। खेल इन कल्पित संसारों का कार्यानुवाद है। इसके द्वारा बालक अपनी कल्पनाओं को सार्थक करके आनंदित होता है। इसके विपरीत कार्य का संबंध वास्तविक संसार से है। पर, खेल में भी गंभीरता का अभाव नहीं रहता। किसी निश्चित उद्देश्य के न होने पर भी बालक पूरा मन लगा कर खेलते हैं। यहाँ तक कि अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं भूख-प्यास आदि को भी भूल जाते हैं।

खेल अपनी इच्छा पर आश्रित है, काम दूसरे की इच्छा पर। खेल में बालक स्वतंत्रता का अनुभव करता है,। यदि कुछ बंधन रहते भी हैं, तो वे अपने बनाए हुए या अपने माने हुए। जो काम अपनी इच्छा पर निर्भर है, उसमें मन लगता है। जो दूसरों की इच्छा पर निर्भर है, उसमें मन नहीं लगता है। बंधन रहने पर उससे मुक्त

होने की भावना बनी रहती है। नौकरी करने वाले इसी फेर में रहते हैं कि कब ऑफिस बंद हो कि ये घर भागें। पर, बनिये को अपनी दुकान खोलने और बंद करने की स्वतंत्रता है। इसलिए वे अधिक देर तक काम करते हैं। यही कारण है कि जब बच्चों के लिए खेल आवश्यक कर दिया जाता है, तब वे उससे जी चुराते हैं, तब खेल ही उनके लिए काम के समान भार बन जाता है।

खेल की प्रक्रिया में प्रारंभ से ही आनंद का स्रोत प्रवाहित होता रहता है। खेलते समय तो बच्चों का अंग-प्रत्यंग उछलता रहता ही है, हारने पर भी उनके मुखमंडल पर प्रसन्नता दिखायी पड़ती है। काम में आनंद तभी आता है, जब उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। अतः, हम देखते हैं कि 'परिणाम की चिंता का न होना', 'स्वतंत्रता' तथा 'आनंद' ये तीन बातें हैं, जिनसे प्रेरित होकर बालक खेल में लगा रहता है और उससे थकता नहीं। स्पष्ट है कि यदि इन तीनों प्रेरक तत्त्वों को काम के साथ जोड़ दिया जाए, तो बालक काम में भी लगा रहेगा, इससे थकेगा नहीं। काम के साथ इन तीनों भावनाओं का संबंध जोड़ देना ही काम को खेल बना देता है और इसी को 'खेल द्वारा शिक्षा देना' कहा जाता है।

खेल की मुख्य विशेषताएँ

१. आनंद— यह खेल की प्रथम विशेषता है। खेल का यदि कोई प्रमुख उद्देश्य हो सकता है, तो वह आनंद की प्राप्ति ही। "खेल का उद्देश्य खेल ही होता है"—ऐसा ड्रेवर का विचार है। आनंद के कारण खेल में रुचि बनी रहती है। बच्चे स्वेच्छा से खेलते हैं तथा आनंदोपलब्धि करते हैं। जो खेल मनोरंजक नहीं होगा अथवा जिसके द्वारा हमें आनंद की प्राप्ति नहीं होगी, उसे हम खेल नहीं कह सकते।

२. स्वतंत्रता— यह खेल की दूसरी विशेषता है। खेल में बंधन नहीं होता। खिलाड़ियों के मस्तिष्क बंधनमुक्त होते हैं। खेल की क्रिया आत्मस्फूर्ति से उत्पन्न होती है।

३. स्वाभाविकता— यह खेल की तीसरी विशेषता है। खेल हमारी इच्छा पर निर्भर होता है। अतः, यह स्वाभाविक है। शिक्षाशास्त्री पर्सी नन का विचार है कि "खेल अपनी इच्छा पर आरंभ किया जा सकता है और छोड़ा जा सकता है।" यह बच्चों की अंतःस्फूर्ति है, जो स्वतः व्यक्त होती है।

४. तन्मयता— यह खेल की चौथी विशेषता है। खेलने वाला खेल में ध्यान और रुचि के साथ इतना तल्लीन हो जाता है कि अपना दुःख-शोक तक भूल जाता है।

५. कल्पना—खेल की पाँचवीं विशेषता है—कल्पना का विकास। खेल से हमारे संवेगों और भावों का प्रकाशन काल्पनिक क्षेत्र में होता है। बालक अपनी भावनाओं का प्रकाशन खेल में करता है, जिसमें वह कल्पना का आधार लेता है।

६. आत्मगौरव की भावना— यह खेल की छठी विशेषता है। खेलों द्वारा बालकों की आत्मगौरव की भावना संतुष्ट होती है। उन्हें व्यक्तिगत और सामाजिक महत्त्व की उपलब्धि होती है। डॉ० केमरन के मतानुसार "बालक वयस्क जनों की भाँति शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। खेल में वे अपनी इस प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। निर्बल होते हुए भी शक्तिशाली राजा और योद्धाओं या अन्य व्यक्तियों के अनुकरण में उन्हें अपूर्व आनंद आता है।"

७. सामूहिकता की भावना–यह खेल की सातवीं विशेषता है। खेलों द्वारा सामूहिकता की भावना का विकास होता है। खेल के समय समस्त बालक एक दूसरे के साथ मिल कर खेलते हैं, जिससे उनके अंदर सहयोग की भावना प्रादुर्भूत होती है। उन्हें सहज ही ऐसा अनुभव होता है कि वे भी किसी समुदाय के अंग हैं। सामूहिक खेलों में भाग लेने से बालकों में सामाजिकता एवं 'एक होने' अर्थात् 'वी फ़िलिंग' (We Feeling) की भावना का उदय होता है।

खेल और कार्य में अंतर

१. खेल एक स्वेच्छित क्रिया है। उसकी क्रिया कार्य से भिन्न होती है। इसे स्वेच्छा से आरंभ कर स्वेच्छा से छोड़ा जा सकता है, परंतु कार्य बाह्य आदेश से निर्देशित और संचालित होता है। खेल की क्रिया आत्मस्फूर्ति से उत्पन्न होती है, जबकि कार्य प्रायः अधिकारी वर्ग द्वारा नियंत्रित होता है।

२. खेल का उद्देश्य खेल तथा आनंदोपलब्धि दोनों होता है; क्योंकि वह आत्मगौरव एवं आत्मस्फूर्ति से किया जाता है, परंतु कार्य में आनंद और रुचि की कमी होती है। जब कोई व्यक्ति बाह्य दबाव के कारण खेल खेलता है तब उसका खेल, खेल नहीं हो कर कार्य की श्रेणी में आ जाता है। इसी प्रकार जब किसी कार्य में कोई आत्मस्फूर्ति या स्वतंत्रता की अनुभूति करता है, तो उसका काम खेल हो जाता है। विश्व की श्रेष्ठ रचनाएँ खेल-ही-खेल में रची गई हैं। "स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा"—के दृष्टिकोण से समस्त भारतीय परिचित हैं। स्वांतः सुख के लिए लिखी गई कृतियाँ अमर बन गई हैं। आनंद की अनुभूति में ही मानव-जीवन की मौलिकता छिपी रहती है।

३. खेल में शारीरिक श्रम विशेष रूप से होता है। यहाँ शारीरिक शक्तियों के ह्रास की विशेष गुंजाइश होती है, परंतु कार्य में मानसिक श्रम का आधिक्य रहता है।

४. खेल में एक सीमा तक स्वतंत्रता रहती है, परंतु कार्य को विशेष नियम तथा कानून से सीमाब्द्ध हो कर समाप्त करना पड़ता है। अतः, खेल मस्तिष्क के लिए बोझिल नहीं मालूम पड़ता, पर कार्य बोझिल और जटिल मालूम पड़ता है।

५. इच्छा, आनंद और रुचि के सहयोग से खेल में थकावट का अनुभव देर से होता है। परंतु, तुलनात्मक दृष्टि से इसके अभाव के कारण कार्य में हमलोग शीघ्र थकान अनुभव करते हैं।

६. कार्य में उस समय आनंद की प्राप्ति होती है, जिस समय इसको हमलोग पूरा करते हैं, जबकि खेल में सदैव प्रत्येक कदम पर हमलोग एक आनंद की अनुभूति करते चलते हैं।

७. कार्य करने वाले का अवधान कार्य की प्रक्रिया और उसके परिणाम में बँट जाता है, जबकि खेलने वाले का ध्यान खेल में ही रहता है।

८. खेल का उद्देश्य खेल में ही निहित रहता है, इसका प्रयोजन वही है। किंतु, किसी भी कार्य का प्रयोजन वह कार्य नहीं होता। प्रत्येक कार्य उद्देश्य की प्राप्ति के साधन मात्र होता है। यह उद्देश्य आर्थिक हो सकता है अथवा अन्य किसी प्रकार का। व्यक्ति धनोपार्जन के साथ-साथ समाज में उत्तम स्थान प्राप्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति किसी-न-किसी प्रकार के काम से ही हो सकती है।

९. खेल में व्यक्ति एक कल्पित संसार में भ्रमण करता है। बालकों के खेल में कल्पित भावनाओं का आधिक्य रहता है, जबकि कार्य में ऐसी कोई बात नहीं होती।

कार्लग्रूम ने खेल को निम्नांकित पाँच मुख्य श्रेणियों में रखा है—

१. परीक्षणात्मक खेल,

२. गतिशील खेल,

३. रचनात्मक खेल,

४. लड़ाई-झगड़े वाले खेल और

५. मानसिक खेल।

उपर्युक्त लिखित पाँचों श्रेणियों को हमलोग सविस्तर इस प्रकार देख सकते हैं—

१. परीक्षणात्मक खेल—इस प्रकार के खेलों से जिज्ञासा-प्रवृत्ति की पूर्ति होती है। इसमें लड़के वस्तुओं को निरुद्देश्य छूते तथा इधर-इधर रखते-उठाते हैं, वातावरण से परिचय प्राप्त करते हैं और इस प्रक्रिया द्वारा उन वस्तुओं के रहस्य को समझते हैं। विज्ञान के प्रयोग इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

२. गतिशील खेल—इसमें लड़के इधर-उधर आते-जाते तथा दौड़-धूप करते हैं जिससे इनकी शारीरिक-क्रिया वढ़ती है, इनके शरीर के अंगों का संचालन एवं संघटन होता है तथा उनमें भावनात्मक गुणों की अभिवृद्धि होती है।

३. रचनात्मक खेल—इसमें विद्यार्थी कुछ रचनात्मक कार्य करते हैं। कुछ बनता है, कुछ विगड़ता है। बुनियादी तालीम के उद्योग-संवंधी कार्य, किंडरगार्टन में उपहार-संवंधी कार्य, प्रोजेक्ट पद्धति में रचना करना आदि रचनात्मक खेलों के उदाहरण हैं। इन रचनात्मक खेलों से विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना, सहयोग, सामाजिक चेतना, आत्मनिर्भरता तथा कार्यक्षमता के गुण उत्पन्न होते हैं।

४. लड़ाई-झगड़े वाले खेल—इसमें लड़के अपनी प्रवृत्तियों की संतुष्टि करते हैं। जैसे—कुश्ती, फुटवॉल, हॉकी, क्रिकेट तथा मुक्केवाजी आदि खेलों में उनकी उत्साह की प्रवृत्ति शांत होती है। इन सव खेलों से वे जीवन की कई समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक गुणों को सीख सकते हैं।

५. मानसिक खेल—इसमें वालकों को मानसिक श्रम, क्षमता एवं वुद्धि-शक्ति लगानी पड़ती है। मानसिक खेल की भी कई श्रेणियाँ हैं। जैसे—

(क) विचारात्मक (बौद्धिक खेल)—ताश, शतरंज, शव्द-रचना एवं पहेलियाँ आदि की गणना होती है। इसमें वुद्धि, विचार, तर्क एवं स्मृति आदि का उपयोग होता है। ऐसे खेल मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक होते हैं।

(ख) संवेगात्मक (भावात्मक खेल)—इसके अंतर्गत अभिनय, प्रहसन, संगीत, कविता-पाठ जैसे क्रिया-कलाप आते हैं। इसमें वालकों को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है।

(ग) क्रियात्मक—इनके अंतर्गत भ्रमण, कहानी कहना आदि कार्य आते हैं। इसमें क्रिया-शक्ति के विकसित होने का अवसर मिलता है।

खेल-संवंधी प्रमुख सिद्धांत

खेल क्या है, किस प्रकार की यह मूल-प्रवृत्ति है, इसके आधार क्या हैं तथा किन मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों से इसे उत्तेजना मिलती है, इसकी विवेचना हमें विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांतों में प्राप्त होती है। वच्चे क्यों खेलते हैं? इसे समझने के लिए इन सिद्धांतों की जानकारी आवश्यक है। इन सिद्धांतों का एक संक्षिप्त परिचय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) 'अनावश्यक शक्ति' का सिद्धांत (Surplus Energy Theory)

वालकों में अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होती ही रहती है। उन्हें न तो कोई

मानसिक श्रम करना पड़ता है, न शारीरिक। ऐसी दशा में उनके भीतर संचित शक्ति के व्यय होने का कोई साधन नहीं है। भाप के इंजन में हर समय शक्ति तैयार होती रहती है। अनावश्यक भाप के निकलने का मार्ग भी बना रहता है। यदि भाप को निकलने न दिया जाए, तो इंजन के ब्वायलर के फट जाने का भय बना रहता है। बालकों के भीतर संचित शक्ति को यदि बाहर न निकाला जाए, तो उनके व्यक्तित्व के बिगड़ने का भय बना रहता है। ऐसी दशा में खेल ही एक मात्र ऐसा साधन दिखायी पड़ता है, जिसमें उनकी अनावश्यक शक्ति व्यय होती है। बालकों के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए खेल बहुत आवश्यक है। हरबर्ट स्पेंसर ने भी इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

आलोचना : इस सिद्धांत के अनुसार खेल इंजन की सुरक्षा-नली के समान है; क्योंकि प्राणी की अतिरिक्त शक्ति उसी प्रकार खेल द्वारा निकल जाती है, जिस प्रकार इंजन की अतिरिक्त शक्ति सुरक्षा-नली द्वारा। यह सिद्धांत केवल शारीरिक शक्ति के विचार पर आधारित है, मानसिक शक्ति पर कोई ध्यान नहीं देता। अतिरिक्त शक्ति का निकलना आवश्यक ही है, तो वह निरर्थक क्रियाशीलता द्वारा भी निकल सकती है। उसके लिए सुगठित क्रीड़ा की क्या आवश्यकता है? विभिन्न प्राणियों के बच्चों के खेल में भिन्नता क्यों होती है? इससे यह सिद्ध होता है कि खेल में शारीरिक तत्त्व के अलावा प्राणी का मानसिक तत्त्व भी उपस्थित रहता है। दूसरी बात यह है कि इस सिद्धांत के अनुसार थके होने पर कोई प्राणी खेलना न चाहेगा। फिर प्रश्न यह उठता है कि दिन भर के अध्ययन से थका बालक खेलने की तीव्र इच्छा क्यों प्रकट करता है? नन (Nunn) के अनुसार इंजन की अतिरिक्त शक्ति निकल जाने पर उसकी शक्ति या कार्यक्षमता नहीं बढ़ पाती। परंतु, बच्चों के खेल में यह प्रक्रिया उनके शारीरिक और मानसिक विकास में सहायक होती है।

(२) पुनरावृत्ति का सिद्धांत (Recapitulatory Theory)

इस सिद्धांत की रचना स्टेनले हॉल (Stanley Hall) नामक विद्वान ने की है। मानव जाति ने अपने विकास-क्रम में जिन-जिन चरणों को पार किया है, उन्हीं को प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में दुहराया है। रॉस (Ross) का कथन है कि बालक छिपना एवं खोजना, पीछा करना, शिकार करना एवं मछली मारना, पत्थर फेंकना, घर तथा अन्य प्रकार का निर्माण करना, वृक्षों पर चढ़ना, गुफाओं के प्रति प्रेम दिखलाना आदि क्रियाएँ करता है। ये सारी क्रियाएँ मानव के विकास की प्रारंभिक अवस्था की द्योतक हैं। बचपन के सीधे-सादे खेलों में हमें आदिम मनुष्य की क्रियाएँ देखने को मिलती हैं। आदिम मनुष्य खानाबदोश था। वह निरुद्देश्य इधर-उधर मारा फिरता था। इसी प्रकार बालक भी निरुद्देश्य घूमा

करते हैं। खेल के द्वारा बच्चों के मानसिक विकास की एक झलक मिलती है। अतः, उनकी शिक्षा का प्रबंध उनके वैकासिक नियमों के आधार पर होना चाहिए। बच्चों के मानसिक विकास के अनुकूल खेल एक ऐसा सामाजिक माध्यम है, जिसके द्वारा उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए।

प्रश्न यह उठता है कि यह पुनरावृत्ति होती ही क्यों है? प्राणिशास्त्रज्ञों ने इसका अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि माँ के गर्भ में भ्रूण क्रमशः प्रधान प्राणियों की सभी अवस्थाओं के रूपों को धारण करता हुआ सबसे अंत में मानव का आकार ग्रहण करता है। आकार-परिवर्तन की यह प्रक्रिया उसके विकास के लिए अनिवार्य है। हॉल (Hall) के अनुसार मानसिक विकास के लिए बालक को उन सभी क्रियाओं को करना अनिवार्य है, जिन्हें उसके पूर्वजों ने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में की है।

(४) पूर्वाभास का सिद्धांत (Anticipatory Theory)

कार्लग्रूप (Karlgroos) कुछ दूसरी ही बात कहते हैं। उनके अनुसार खेल द्वारा हमें बालक के भावी जीवन का पूर्वाभास मिलता है। महापुरुषों के जीवन-चरित् को पढ़ने से इस बात की पुष्टि होती है। बच्चों के खेल हमें इस बात का आभास देते हैं कि वे भविष्य में क्या बनने जा रहे हैं। खेल भावी जीवन की तैयारी है। चंद्रगुप्त मौर्य अपने बाल्यकाल में पशु चराया करता था। उस समय भी वह चरवाहों के बीच राजा का अभिनय किया करता था। विश्वविख्यात जलसेना नायक नेलसन भी बचपन में जहाजों के मॉडल बनाकर खेलता था। इस प्रकार के उदाहरण तो थोड़े हैं, पर प्रत्येक बालक के खेल हमें उसके भावी जीवन की सूचना देते हैं। बालक मिट्टी के घरौंदे बना कर खेलते हैं। भविष्य में भी उन्हें गृह-निर्माण का कार्य करना पड़ता है। छोटे-छोटे बालक और बालिकाओं का समूह कपड़े के गुड्डे बनाकर ब्याह रचाता है। भविष्य में भी उन्हें विवाह करना पड़ता है। जो बालक बचपन में सुस्त दिखायी पड़ता है, वह भविष्य में क्रियाशील और कर्मठ नहीं बन पाता। अतः, खेल द्वारा बालकों की शिक्षा में लाभ उठाना उचित है।

जो प्राणी बाल्यावस्था में जितना असहाय होता है, उसका क्रीड़ाकाल उतना ही लंबा तथा उसके खेलों का स्वरूप भी उतना ही जटिल होता है। साथ ही, उसकी मानसिक शक्ति पर उसके वंशानुक्रम और वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। बालक की यह मानसिक शक्ति कुछ कल्पित भावनाओं को जन्म देती है। इन्हीं कल्पित भावनाओं को वह अपने खेलों में व्यक्त करता है। इस प्रकार खेल उसकी कल्पना के मूर्त रूप हैं। इस कल्पना को कार्य में रूपांतरित करके वह अपने-आपको

यथार्थ संसार के उपयुक्त बनाता है। कार्लग्रूस का कहना था कि क्रीड़ा वास्तव में प्रकृति की शिक्षणशाला है। इसके द्वारा बालक अपने-आपको भावी जीवन के लिए तैयार करता है। जीवन के रंगमंच पर सफल अभिनेता के समान वास्तविक प्रदर्शन में सफल होने के हेतु वह अपने कार्यों का पूर्वाभिनय कर लेता है। जंगल में रहने वाली जातियों के बच्चे तीर-कमानों से तथा अन्य ऐसे हथियारों से बचपन में ही खेलने लगते हैं, जिनका उपयोग उन्हें आगे चलकर जीविकोपार्जन के लिए करना होता है।

चूँकि विभिन्न प्राणियों के वयस्क समाज का जीवन भिन्न-भिन्न होता है, अतः उनके खेलों में भी विभिन्नता होती है। ग्रूस की दृष्टि में खेल बाल्यकाल का लक्षण नहीं है, बल्कि बाल्यकाल खेल का लक्षण है। "वह बालक है इसलिए नहीं खेलता, अपितु हमें समझना चाहिए कि चूँकि उसे बहुत खेलना है, इसीलिए वह बालक है।" "A child does not play because it is young, but it is young in order that it may play."

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि जिसका जीवन जितना जटिल होगा, उसकी शिक्षा भी उतनी ही सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं दीर्घकालीन होनी चाहिए। प्रकृति खेल द्वारा शिक्षा देती है, अतः विकास के स्तर के अनुसार विभिन्न प्राणियों की क्रीड़ा-विधि में भिन्नता होगी। छोटे-छोटे जीवों की क्रीड़ाविधि नहीं के बराबर है। विकास-क्रम में मानव सर्वोच्च स्तर पर है। उसका जीवन जटिलतम है। यही कारण है कि उसका क्रीड़ा-काल (बाल्यकाल) सबसे अधिक है।

आलोचना : इस सिद्धांत के आधार पर हम अनेक प्रकार के खेलों की व्याख्या कर सकते हैं। इस पर आधारित यह शैक्षिक निष्कर्ष है कि "खेल प्रकृति की शिक्षणविधि है, जिसके अभ्यास के द्वारा प्राणी के संवेदनात्मक व शारीरिक अंग संपुष्ट एवं दीक्षित होते हैं। यह दीक्षा तथा पुष्टि उनके वयस्क जीवन के लिए अति आवश्यक है।" इस बात के विरुद्ध भी कुछ आपत्तियाँ हैं। प्रथम, ऐसे अनेक खेल हैं, जिनका समाधान यह वाद में नहीं कर पाता। उदाहरणार्थ, वन्य जातियों के बच्चों के वे खेल, जो आदिम निवासी या प्रागैतिहासिक मानव खेला करता था जैसे तीर चलाना मनोरंजनात्मक खेल यथा फुटबाल, ताश आदि। द्वितीय आपत्ति यह है कि वयस्कों तथा वृद्धों को तो किसी जीवन की तैयारी नहीं करनी पड़ती, फिर भी वे अनेक जटिल खेल खेलते हैं। इन सब के उत्तर में ग्रूस का यही कहना है कि ये भावी जटिल परिस्थितियों के प्रतीक हैं।

(४) रेचन का सिद्धांत (Chathartic Theory) :

जिस प्रकार दवा खाने से (जुलाव द्वारा) रोगी का पेट साफ हो जाता है, उसी प्रकार खेल द्वारा बालकों की भावात्मक उत्तेजना (Emotional Tension) और आवेग को शांत होने का अवसर मिलता है। यदि खेल न हो, तो बालकों को शांति न मिले और उनका मानसिक संतुलन बिगड़ जाए। इस दृष्टि से पढ़ाई में खेल का समावेश आवश्यक है।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू को इस सिद्धांत का वास्तविक प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। रेचन का यूनानी रूपांतर 'Catharsis' है, जिसका अर्थ है शुद्ध करना। इस महान् दार्शनिक ने यह दिखाया कि जिस प्रकार औषधि हमारे शरीर को शुद्ध कर देती है, उसी प्रकार दुःखांत नाटक हमारी आत्मा को शुद्ध कर देते हैं। जब हम दुःखांत नाटक देखते हैं, तब हमारे एकत्र हुए संवेग अभिव्यक्त हो जाते हैं। हम अपने-आप को नायक तथा नायिका के समकक्ष देखते हैं। अतः, हम उनकी उन सभी भावनाओं तथा संवेगों का अनुभव करते हैं, जो वे प्रदर्शित करते हैं, उनके साथ हमारा साधारणीकरण हो जाता है। चूँकि हर सच्चे दुःखांत नाटक में अंतर्द्वंद्व अंत में हल हो जाता है, अतः दर्शक के संवेगों की अभिव्यक्ति के साथ उसकी अनेक आदि प्रवृत्तियाँ भी प्रकाशित हो जाती हैं और उसकी आत्मा शुद्ध हो जाती एवं व्यक्तित्व उन्नत हो जाता है। प्रहसन का भी यही रेचक प्रभाव होता है; क्योंकि जो कार्य देखते हैं, उन्हें स्वयं कर नहीं सकते। पर, करने की इच्छा अवश्य रखते हैं। यही कारण है कि दूसरों को करते देख कर हमें प्रसन्नता होती है और हम ऐसा सोचते हैं कि हम ही ऐसा कर रहे हैं। इस प्रकार, उन कार्यों को करने की हमारी प्रवृत्ति का रेचन हो जाता है।

क्रीड़ा का भी यही रेचक प्रभाव है; क्योंकि व्यक्तित्व को विषाक्त होने से बचाने के लिए उसके उन भावों, प्रवृत्तियों, इच्छाओं, संवेगों तथा विचारों का रेचन अनिवार्य है, जो समाज की दृष्टि में कलुषित हैं या उसके द्वारा तिरस्कृत हैं। अतः, व्यक्ति के लिए खेल अनिवार्य है। मनुष्य चाहे कितना ही सभ्य हो जाए, वह अपनी आदि प्रवृत्तियों को एकदम नहीं छोड़ सकता। "Men cannot shed altogether the ancient tendency to cruelty and vice but play is atonce a means by which the mischief may be taken out of them." खेल वह माध्यम है, जिसके द्वारा उन प्रवृत्तियों के विकास में सुविधा होती है। यदि ऐसा न होता, तो ये अवरुद्ध प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व का विनाश कर देतीं। यही कारण है कि वयस्कों के खेल बहुधा आदिमानव-सभ्यता का स्मरण कराते हैं।

प्रायः सभी खेलों में युयुत्सा, पलायन एवं आत्मप्रदर्शन आदि की मूल प्रवृत्तियों के प्रकाशन का अवसर मिलता है।

पुनर्प्राप्तिवाद—इस सिद्धांत के प्रतिपादक वर्लिन साजरस महोदय थे। इंगलैंड के लार्ड क्याप्स ने भी इस पर विशेष वल दिया है। जी० टी० डब्ल्यू० पैट्रिक को भी इसके समर्थन का श्रेय है। इस सिद्धांत के अनुसार खेल का मुख्य कार्य खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना है। दूसरे-दूसरे कार्यों के करने से श्रांत बालक देखकर अपनी कार्य-शक्ति को तरोताजा बना लेता है।

आलोचना : यह सिद्धांत आत्मविरोधी है। खेल में भी शक्ति का व्यय होता है और कार्य में भी। फिर शक्ति का व्यय करके शक्ति की पुनः प्राप्ति कैसे होगी ? थकान नहीं रहने पर भी बालक क्यों खेलता है ? यदि सभी प्राणियों का उद्देश्य शक्ति की पुनर्प्राप्ति है, तो सबका खेल एक ही स्वरूप क्यों नहीं धारण करता ? यह सिद्धांत भी अंशतः सत्य है कि खेल के पश्चात् हम अपने में एक नई स्फूर्ति का अनुभव करते हैं।

बहुत से खेल ऐसे हैं कि जिनके मूल में प्रतिस्पर्द्धा की भावना रहती है, जिससे बालक इन खेलों की ओर प्रवृत्त होता है। मानव जाति की सांस्कृतिक समुन्नति के लिए इस प्रवृत्ति का विकास परमावश्यक है। एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की भावना से प्रेरित हो कर ही मानव आज ज्ञान-विज्ञान एवं संस्कृति के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ सका है।

उपर्युक्त सिद्धांतों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करना संभव नहीं है। ये सिद्धांत जिन तर्कों पर आधारित हैं, वे एक सीमा तक अनुमान द्वारा स्थिर किए गए हैं। इनसे इतना लाभ अवश्य हुआ कि बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्रियों का दृष्टिकोण खेल के प्रति परिवर्तित हो गया। जॉन डिवी (John Dewey) ने अपनी पुस्तक 'Democracy and Education' में लिखा है कि फैकल्टी-सिद्धांत में विश्वास रखने वाले मनोवैज्ञानिकों ने बौद्धिक विषयों तथा मानसिक कार्यों का महत्त्व इतना अधिक बढ़ा दिया है कि शारीरिक कार्य को लोग हेय समझने लगे। खेल को केवल शारीरिक क्रिया माना जाता था और बौद्धिक कार्य के बाद उसे केवल मनोरंजन के रूप में ग्रहण किया जाता था। पुराने जमाने में खेल को सीखने वाली क्रियाओं में स्थान नहीं दिया जाता था। खेल को लोग एक साधारण काम समझते थे, जिसे सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। बौद्धिक विषयों की शिक्षा विद्यालयों में बड़ी तत्परता से दी जाती थी। परंतु, आज स्थिति बदल चुकी है। आज इंद्रिय-ज्ञान का महत्त्व बढ़ गया है। विज्ञान की उन्नति के चलते लोग बौद्धिक शिक्षा तो घर बैठे भी प्राप्त कर

सकते हैं। दूसरी ओर खेल को अब एक कला समझा जाने लगा है। यही कारण है कि समस्त शैक्षणिक कार्यों में खेलों को सम्मानपूर्ण स्थान मिलने लगा है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी खेल का महत्त्व कम नहीं। खेल में केवल शारीरिक क्रिया ही नहीं होती, वरन् मानसिक क्रिया भी होती है। खेल में उद्देश्य निर्दिष्ट करना, उसकी प्राप्ति के लिए योजना बनाना एवं उपकरण जुटाना आदि ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जिनमें मानसिक शक्ति का पूरा प्रयोग करना पड़ता है।

पुरानी धारणा यह थी कि लोग काम से बचने के लिए खेल का सहारा लेते हैं। अब लोग ऐसा मानते हैं कि खेल भी एक कार्य है और इसे भी शिक्षा का साधन बनाया जा सकता है। शिक्षा में खेलों के प्रयोग से यह तात्पर्य कदापि नहीं कि फुटबाल, वॉलीबाल आदि खेलों के द्वारा शिक्षा दी जाए। शिक्षा में खेल की भावना का प्रयोग अपेक्षणीय है। कहने का तात्पर्य है कि बालक को शिक्षा की वस्तु में भी वही आनंद आए, जो आनंद उसे खेल में आता है और तभी वह जिस लगन, उत्साह, रुचि और तन्मयता से खेल में पिल पड़ता है उसी लगन, उत्साह, रुचि और तन्मयता से पढ़ाई में भी पिल पड़ेगा। इन मानसिक गुणों के समावेश से शिक्षा भी खेल के समान सरस और हृदयग्राही प्रतीत होती है। खेल की इसी भावना को शिक्षा में भरने का प्रयत्न किया जा रहा है।

खेल द्वारा शिक्षण के सबसे बड़े समर्थक कॉडवेल कुक महोदय हैं। उनका कहना है कि शिक्षण के जितने साधन हैं, वे सब अस्वाभाविक हैं। खेल ही एकमात्र स्वाभाविक साधन है। जब किसी बालक को अकेले छोड़ दिया जाता है, तो हमें उसमें खेल द्वारा सीखने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। पशुओं के साथ भी यही बात है। बिल्ली का बच्चा किसी वस्तु को उछालता, फेंकता तथा जीर्ण-शीर्ण करता है। इन व्यापारों के द्वारा वह शिकार के लिए अपने को तैयार करता है। मौखिक कथन द्वारा जो बात बच्चे को बतायी जाती है, वह उसकी समझ में नहीं आती। खेल में सच्चा अनुभव प्राप्त होता है और खेल द्वारा प्राप्त ज्ञान भी स्थायी होता है।

खेल को हम एक छोटा-मोटा नाटक कह सकते हैं, जिसमें वही पार्ट अदा करता है, जिसे उन्हें जीवन के विशाल रंगमंच पर अदा करना है। प्रातःकाल बिस्तर पर ही बालक दिन भर के खेल की योजना बनाता है। कल्पना के सहारे वह वस्तुओं से खेलने में सच्चे जीवन का आनंद लेता है। वह एक छड़ी को अपनी टांगों के बीच रख कर घसीटता है। वह छड़ी को घोड़ा मान लेता है और वही आनंद प्राप्त करता है, जो एक वयस्क को घुड़सवारी में प्राप्त होता है।

बालकों के लिए खेल ही जीवन है। विद्यालयों में इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। खेल के अतिरिक्त ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे बालक स्वाभाविक ढंग से, सच्चे मन से, बिना किसी दबाव के अपने-आप करते हों। खेल में वे अपना उत्तरदायित्व बड़ी ईमानदारी से निभाते हैं, बंधन होने से उत्साह मंद पड़ जाता है। खेल में स्वतंत्रता है। अतः, बालक अपनी सारी शक्तियों का खुलकर प्रयोग करता है। खेल का महत्त्व कम करने में अध्यापकों का हाथ रहा है। वे बालकों की स्वाभाविक रुचियों का विचार न करके उन पर अपने और दूसरों के विचार लादने का प्रयत्न करते हैं। खेल को साधारण कार्य समझना भूल है। यह एक गंभीर कार्य है। खेल में न्याय, कर्त्तव्य-पालन, सच्चे प्रयत्न और सहयोग आदि गुणों की शिक्षा मिलती है। मनुष्य को जीवन में आचरण-संबंधी इन नियमों का पालन करना पड़ता है।

हृदय के सहज गुणों को समुन्नत बनाने में खेलों का बहुत बड़ा योग होता है। बालक को अपनी सहज प्रवृत्तियों और रुचियों का बोध होता है। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरप्रदत्त एक-न-एक विलक्षण गुण होता है। यह मनुष्य की चित्तवृत्ति से उत्पन्न होता है। सहज चित्तवृत्तियों का उद्गम हृदय है। यही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि मनुष्य इसे विकसित कर डाले, तो वह महानता के शिखर पर पहुँच सकता है।

जीवन में वर्त्तमान का उचित महत्त्व स्वीकार करना चाहिए। स्वर्ग, परलोक, एवं भविष्य आदि की कल्पना करके लोग भुलावे में पड़ जाते हैं और वर्त्तमान जीवन को कष्टमय बना डालते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। भविष्य के सुख के लिए वर्त्तमान के सुख का बलिदान करना कहाँ तक उचित जँचता है? खेल द्वारा बालकों को सुख मिलता है। उनका वर्त्तमान जीवन सुखमय बनता है। यदि वर्त्तमान जीवन सुखपूर्वक बीता, तो कोई कारण नहीं कि भविष्य आनंदमय न हो। जो आज मुस्कुरा रहा है, वही भविष्य में दुखों का सामना भी हँसकर करेगा। खेल मनुष्य की क्रिया को उत्तेजना प्रदान करते हैं। क्रियाओं के सहारे ही जीवन बढ़ता है। खेलों से मानव की कर्मण्य शक्ति पुष्ट होती है।

पुस्तक मनुष्य की क्रिया को कुंठित करती है। अपने भीतर अपूर्व शक्ति भरी रहने के कारण बालक चुपचाप बैठना पसंद नहीं करते। वे स्वभाव से ही जिज्ञासु होते हैं। जहाँ एक ओर पुस्तकों में ज्ञान भरा पड़ा है, वहाँ दूसरी ओर बालक में स्वभाव से ही नैसर्गिक गुण होते हैं। खेलों द्वारा उनके इन गुणों का विकास होता है। पुस्तकों के द्वारा इनका विकास संभव नहीं।

पुरानी मान्यताएँ बदल रही हैं। शिक्षा में पहले विचार पर बड़ा जोर दिया जाता था। ऐसा कहा जाता था "विचारान्मोक्षो भवति तस्मात् सदा विचारयेत्।"

यह विचारधारा अब बदल चुकी है। विचार का स्थान अब क्रिया ने ले लिया है। क्रिया द्वारा मनुष्य की मानसिक शक्तियों में एकत्व स्थापित होता है। क्रिया और खेल में बड़ा गहरा संबंध है। खेल में सिर्फ क्रिया-ही-क्रिया है—मानसिक क्रिया भी और शरीरिक क्रिया भी। इनके सिवा मेरे विचार से खेल में और कुछ है ही नहीं। साथ ही, खेल में मानसिक क्रिया और शारीरिक क्रिया में मेल होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम सोचें कुछ और करें कुछ। खेल कोरे आदर्श से कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें विचारों और सिद्धांतों का सुमेल होता है।

कॉडवेल (Cadwell) द्वारा कथित, 'खेल द्वारा शिक्षण-विधि' के साधारण सूत्र (Maxims) में पाठन-विधि का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना पाठ्य-सामग्री का। शिक्षक जब वर्ग में जाते हैं; तब उनका ध्यान केवल पाठ्य-सामग्री की ओर ही केंद्रित रहता है। न तो वे बालक का ध्यान रखते हैं और न पाठन-विधि का। यही कारण है कि एक ओर शिक्षक महोदय गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाए जा रहे हैं और दूसरी ओर बच्चे वर्ग के बाहर के मनोरंजक दृश्य देखने में संलग्न रहते हैं। वर्ग के बाहर जो भी नाटक हो रहा है, वह बालकों की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल है। इसीलिए शिक्षक के भाषण से वह ज्यादा आकर्षक भी है। यदि वर्ग की शिक्षा बाहर की वस्तुओं से अधिक आकर्षक होती, तो बच्चों का ध्यान कभी भी इधर-उधर न भटकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाठन-विधि का ध्यान होने से शिक्षक की पढ़ायी बेकार सिद्ध होती है। मौखिक शिक्षण से कहीं अधिक प्रभावशाली विधि खेल द्वारा शिक्षण है।

स्वायत्त:—शासन केवल अनुशासन नहीं है, वरन् यह एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें बालक अपने-आप बहुत कुछ व्यावहारिक ढंग से स्कूल के पाठ सीख सकते हैं। बालक यदि कोई काम एक बार कर लेते हैं, तो दूसरी बार उस कान को करने में अध्यापक की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि वे एक बार कोई नाटक खेल चुके हैं, तो दूसरे नाटकों के अभिनय में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। अत:, खेल एक प्रकार की स्वशिक्षा है।

यदि बालकों को खेल-विधि द्वारा पढ़ाना हो, तो पहले अध्यापक को खेल से सच्चा प्रेम करना उचित है। बालकों के लिए खेल द्वारा शिक्षा उपयुक्त है, इसमें संदेह नहीं। परंतु सभी अध्यापक इस विधि द्वारा शिक्षा दे सकेंगे, इसमें संदेह है। जो अध्यापक खिलाड़ी नहीं रहा है, उसमें कुछ ऐसी आदतें पैदा हो जाती हैं, जिन्हें किसी प्रकार की ट्रेनिंग दूर नहीं कर सकती। खेल-विधि द्वारा पढ़ाने में उसे आनंद नहीं आएगा। एक कक्षा के बालकों में कुछ समान गुण अवश्य होते हैं,

परंतु सभी बातों में दो बालक समान नहीं हो सकते। अध्यापक को बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए। खेल द्वारा बालकों के समुदाय को एक संगठित समाज का रूप दिया जा सकता है; क्योंकि खेल में अपना-अपना पार्ट अदा करते हुए भी सबको एक दूसरे से सहयोग करना पड़ता है। कुशल अध्यापक ही बालकों के समुदाय को संगठित समाज का रूप दे सकता है। तटस्थ भाव से दूर खड़ा हुआ अध्यापक खेल के आनंद को चौपट कर देगा। ऐसी स्थिति में छात्र खेल और अध्यापक दोनों से घृणा करने लगेंगे। अध्यापक को बाल-स्वभाव का पारखी होना चाहिए, ताकि जिस बालक का जैसा स्वभाव हो, उसके साथ वैसा ही व्यवहार वह कर सके।

स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत अनुशासन का कोई निश्चित आदर्श नहीं होता और अवसर के अनुसार आचरण का आदर्श बदलता रहता है। सच्चा अनुशासन स्वतंत्रता से उत्पन्न होता है। अध्यापक के भय से यदि बालक वर्ग में शांत बैठे हों, तो हम उसे अनुशासन नहीं कह सकते। खेलों में चुप रहना या एकाग्र भाव से बैठे रहना अनुशासन नहीं है। खेलों में नियम का पालन करना पड़ता है, संयम और त्याग करना पड़ता है। खेल को आनंदमय होने के लिए अनुशासन आवश्यक है। परंतु, इसे बाहर से लादने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बालक स्वयं ही अनुशासन का महत्त्व समझते हैं।

खेलों की मनोवैज्ञानिकता

मनोविज्ञान ने खेलों का महत्त्व अनेक प्रकार से सिद्ध किया है। मनोविश्लेषकों के अनुसार बालक खेल द्वारा अपनी वृत्तिसंतुष्टि करते हैं। डॉ० केमरन (Cameron) के मत में बालक वयस्कों की भाँति शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। खेल में वे अपनी इसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। शक्तिशाली व्यक्तियों का अनुकरण करने में उन्हें अपूर्व आनंद आता है। बी० रसेल (B. Russel) के अनुसार खेल बालकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत उपयोगी साबित होते हैं। खेल द्वारा बालक अपनी हीनता की भावना को दूर करते हैं। निर्बल प्राणी होते हुए भी वे शक्तिशाली राजा या योद्धा का अभिनय करके अपूर्व आनंद प्राप्त करते हैं। दूसरी बात यह है कि खेल द्वारा शिक्षण में हर बालक चाहे उसकी बुद्धि कितनी ही हो, भाग ले सकता है। इससे उसे आत्मसंतोष होता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह भी अपने समुदाय का एक अंग है। खेलों तथा खेल-संबंधी क्रियाओं के द्वारा बालकों में आत्मविश्वास की भावना का विकास होता है। खेलों में सफलता मिलने पर उन्हें इस बात का विश्वास हो जाता है कि वे जीवन में भी सफल होंगे। खेल

के द्वारा विद्यार्थियों में कुशलता का विकास होता है। उन्हें ऐसे अवसर मिलते हैं, जिनके द्वारा वे अपने गुणों का वर्द्धन कर सकते हैं। खेल के द्वारा विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास में सहायता मिलती है, उनके अनुभवों की वृद्धि होती है और सामाजिक भावना का भी विकास होता है। बालक एक दूसरे के साथ सहयोग करना सीखता है।

खेल बच्चे की मात्र रचनात्मक प्रवृत्ति का ही द्योतक नहीं, वरन् उसकी समस्त मानसिक शक्तियों एव व्यक्तित्व का भी सूचक है। अतः, शिक्षा में इसके प्रयोग से जहाँ हम उसकी रचनात्मक तथा आविष्कारात्मक प्रवृत्तियों को अभ्यास देंगे, वहाँ उसकी मानसिक शक्तियों की पुष्टि तथा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास भी होगा।

जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्रकृति के नियमों के ज्ञान प्राप्त करके हम प्रकृति पर ही नियंत्रण करते तथा उसको मानव-कल्याण के लिए सदुपयोग में लाते हैं, उसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन से 'क्रीड़ा को बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का प्राकृतिक नियम' जान लेने के बाद शिक्षा में (जो विकास की प्रक्रिया है) उसका व्यावहारिक प्रयोग करके हम बालक के सुदृढ़ तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं।

शिक्षण एक कला है और कला प्रकृति का मानवीयकरण है। यदि हम शिक्षण-कला की उन्नति, विकास, सदुपयोग तथा कार्यक्षमता की वृद्धि करना चाहते हैं, तो हमें प्रकृति की शिक्षण-विधि का मानवीयकरण करना होगा। खेल' प्रकृति की शिक्षण-विधि है। अतः, वास्तविक शिक्षण-कला इसके मानवीयकरण से ही विकसित होगी! इसके लिए विद्यालय में प्रकृति-शिक्षण-विधि अर्थात् खेल को अपनाना होगा।

बालक की मानसिक स्थिति तथा व्यक्तित्व के स्वरूप का ज्ञान कर लेने के बाद शिक्षक को उसके सम्मुख पाठ्य-विषयों को इस ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए कि उसकी रुचि सदैव जाग्रत रहे; क्योंकि खेल तथा रुचि दोनों साथ-साथ चलते हैं। कोई वस्तु रुचिकर है या नहीं, इसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण का अंतर होता है। अतः, वस्तुओं के प्रति स्नेहात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना ही उचित होगा और तभी वह रुचिकर एवं अरुचिकर के बीच संबंध स्थापित करने में सफल हो सकता है।

एक बार जब किसी विषय या कार्य में बालक की रुचि उत्पन्न हो जाए, तो उसमें बाधा उत्पन्न करना भारी भूल है। उसे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए; क्योंकि स्वतंत्रता खेल की प्रधान विशेषता है।

पर, शिक्षक को देखना चाहिए कि स्वतंत्रता उच्छृंखलता अथवा उद्दंडता का रूप न धारण कर ले। खेल में भी अनुशासन और स्वाभाविक उत्तरदायित्व की भावना सन्निहित रहती है।

खेल-विधि द्वारा शिक्षण की आलोचना

गुण :

१-खेल-विधि का प्रयोग करने से शिक्षण-प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। जिस प्रकार नदी की धारा के साथ-साथ नाव चलाने से उसकी गति तीव्रतर एवं अधिक सुविधासंपन्न हो जाती है, अपेक्षाकृत उस स्थिति से, जब हम धारा के विरुद्ध चलते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्ति की शिक्षण-विधि के साथ चलने से शिक्षण-प्रक्रिया की गति तीव्र हो जाती है। यह प्रक्रिया सुविधामय, क्षमतामय, प्रभावशाली, स्वाभाविक तथा रुचिपूर्ण होने से शीघ्र उन्मेषोन्मुख होती है।

२-चूँकि इसके द्वारा बालक की मूल प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर मिलता है तथा उसकी आदि भावनाओं और संवेगों का रेचन हो जाता है; फलतः उसके संवेगों का दमन नहीं होता और मार्गान्तरीकरण, शोधन द्वारा मूल प्रवृत्तियों का समाजीकरण हो जाता है। मानसिक विकार के बाहर निकल जाने से, स्वभावतः ही, स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास होता है।

३-इस प्रणाली के द्वारा शिक्षा पाने से बालकों में रचनात्मक आविष्कार-शक्ति, तर्कशक्ति, कल्पनाशक्ति, अनुसंधानशक्ति, अंतर्दृष्टि, उत्तरदायित्व, आत्मनियंत्रण, आत्माभिव्यक्ति, सामाजिकता और ज्ञान, प्रेम आदि गुणों का विकास होता है।

४-हमारे विद्यालयों तथा समाज में अनुशासनहीनता का मुख्य कारण आदि प्रवृत्तियों तथा संवेगों का दमन अथवा अनुचित अभिव्यक्ति है। खेल-विधि के द्वारा शिक्षण में उनका रेचन समाज द्वारा स्वीकृत रूपों में होता है। यह क्रिया जहाँ एक ओर बालक को विनयपूर्ण बनाती है, वहाँ दूसरी ओर उसका समाजीकरण भी करती है। खेल-विधि के प्रयोग ने विद्यालय के वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया है। अब विद्यालयों में ज्ञान का व्यापार नहीं होता। बालक यहाँ जीवन बिताने की कला सीखते हैं। खेल-विधि से शिक्षण में हमें जीवन का दृश्य भी दिखाई पड़ता है। बालक अपनी परिषद् बनाते हैं, उसका प्रबंध चलाते हैं। खेलों का आयोजन करते हैं और नियमों के अनुसार कर्त्तव्यपालन करते हैं।

खेलों में संलग्न बालकों की रुचियों और गुणों का अध्ययन करने के लिए अध्यापकों को पूरी सुविधा प्राप्त होती है। बालकों के स्वभाव का अध्ययन करने

के लिए मनोवैज्ञानिकों ने खेलों का अनेक प्रकार से प्रयोग किया है, जिन्हें प्रोजेक्टिव-टेकनीक (Projective Technique) कहते हैं। उनकी रुचियों का अध्ययन करने के बाद अध्यापक उन्हें शैक्षिक पथ-प्रदर्शन में सहायता पहुँचा सकते हैं।

खेल द्वारा शिक्षण में प्रत्येक बालक की ओर ध्यान दिया जा सकता है। यह विधि व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत के अनुकूल है। इसमें खेल और काम का सुंदर समन्वय होता है।

५—खेल की प्रक्रिया द्वारा पायी जाने वाली शिक्षा को हम 'स्व-शिक्षा' कह सकते हैं। आत्मशिक्षा का तथ्य आधुनिक शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। रूसो, फ्रोबेल एवं पेस्टालात्सी आदि शिक्षाविशारदों ने भी इस पर जोर डाला है। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी तथा ठोस होता है। स्वाध्याय की भावना का स्रोत कभी सूखने नहीं पाता। बालक विद्यालय से दूर भागने की अपेक्षा उससे प्रेम करने लगता है।

यह प्रणाली मौलिक है; क्योंकि इसमें बनावट की कोई गुंजाइश नहीं है। यह मनोविज्ञान पर आधारित है और व्यावहारिक भी है। बालकों की सभी प्रवृत्तियाँ जैसे, जिज्ञासा, रचना और प्रेम आदि संतुष्ट होती हैं।

दोष :

देखने और सुनने में यह विधि जितनी आसान है, व्यवहार में यह उतनी ही कठिन है। इसको प्रयोग में लाने वाले अध्यापक को कहीं अधिक समय और शक्ति व्यय करनी पड़ती है। खेल-विधि छोटे बालकों के लिए अधिक उपयोगी है, परंतु प्राथमिक कक्षाओं के अध्यापक इतना कम वेतन पाते हैं कि वे इस विधि को व्यवहार में नहीं लाना चाहेंगे; क्योंकि उनका समय जीविकोपार्जन के अन्य व्यवसायों में भी व्यतीत होता है।

कुछ आलोचकों का कथन है कि बालक कल्पित जीवन का आनंद लेते हैं। वे छड़ी को घोड़ा मान लेते हैं, दीवार के ऊपर बैठ कर रेलगाड़ी के सफर का आनंद लेते हैं और राजा का स्वांग रचते हैं। ऐसा करने से उनमें दिवा-स्वप्न की आदत पड़ जाती है और उनका मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है। परंतु, यह आरोप उचित नहीं जंचता। बालक खेल को खेल ही समझता है और वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करता। वास्तविकता के साथ कल्पना का संयोग होना आवश्यक है। यह तो अध्यापक का कार्य है कि वह उसे कल्पना से वास्तविकता की ओर ले जाए।

खेल-विधि में बालकों की रुचियों और प्रवृत्तियों को शिक्षण का केंद्र माना जाता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या बालकों की रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ सहज

और पवित्र हैं ? यह संभव नहीं लगता। प्रवृत्तियाँ जन्मजात तो होतीं नहीं। वे तो वातावरण की देन हैं। विद्यालय में विभिन्न परिस्थितियों में पले हुए बालक आते हैं। कुरुचिपूर्ण वातावरण में पले हुए बालक की प्रवृत्तियाँ विषाक्त हो जाती हैं। फिर कैसे उनकी रुचियों को शिक्षण का केंद्र माना जाए ? और यदि प्रवृत्तियों को पवित्र मान लिया जाए, तब फिर विद्यालय का क्या काम ? सद्प्रवृत्ति के लिए ही तो बालक विद्यालय आते हैं।

शिक्षा में खेल-विधि का समावेश कर देने से खेल की मनोरंजकता नष्ट हो गई। पढ़ायी का भाव आ जाने से कुछ बंधन का भाव आ ही जाता है। बालक काम करने के बाद खेल द्वारा मन बहलाते हैं, किंतु खेल में भी तो काम का ही समावेश हो गया। मनोरंजन और कार्य-व्यस्तता दोनों में अलग-अलग मानसिक स्थिति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों मनोदशाओं का एक दूसरे पर आरोप करना अनुचित और अस्वाभाविक है।

शिक्षा बालक को वास्तविक एवं व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करती है। खेल काल्पनिक जीवन की अभिव्यक्ति है। अतः, ये दोनों विरोधी कार्य-से प्रतीत होते हैं। काम में गंभीरता और बौद्धिकता चाहिए। खेल में इनका अभाव होता है। इस विधि से शिक्षा प्राप्त करने पर बालक केवल मनोरंजन पसंद करेगा और बौद्धिक कार्यों से दूर भागना चाहेगा। इस प्रकार नीरस और अरुचिपूर्ण कार्यों के प्रति वह उदासीन रहेगा।

इस विचारधारा के पोषक शिक्षा में नवीनता के विरोधी हैं और उन्हें बाल-मनोविज्ञान का कोई ज्ञान नहीं है

यह विधि सब विषयों में व्यावहारिक नहीं जान पड़ती। कुक ने अपनी पुस्तक 'The Play Way' में केवल साहित्यिक विषयों को पढ़ायी में खेलों के प्रयोग के उपाय बताए हैं, परंतु वैज्ञानिक विषयों की ओर उन्होंने संकेत तक नहीं किया।

शात्सकी एक महान् शिक्षाशास्त्री थे। उनके शैक्षिक उद्देश्य शिक्षा-जगत् का सर्वदा कल्याण करते रहेंगे। शिक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वदा वंदनीय है।

अध्याय २२

हेलेन पार्कहर्स्ट

अमेरिकावासिनी पार्कहर्स्ट का पूरा नाम कुमारी हेलेन पार्कहर्स्ट (Miss Helen Parkhirst) था। उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति को मूलतः बाल-केंद्रित बनाते हुए बालकों की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत भिन्नता, और बाल-मनोविज्ञान का परिदर्शन शिक्षा-जगत को कराया है। इन्होंने जिस शिक्षा-पद्धति का प्रतिपादन किया है, उसे हमलोग 'डाल्टन शिक्षा-पद्धति' की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

डाल्टन शिक्षा-पद्धति

इस शिक्षा-पद्धति का प्रयोग सबसे पहले डाल्टन नगर (मेसेच्यूसेट्स प्रांत के अंतर्गत) के विद्यालयों में हुआ, इसलिए इसका नामकरण 'डाल्टन-पद्धति' किया गया है। इस पद्धति का प्रारंभिक प्रयोग पार्कहर्स्ट ने सन् १९१३ ई० में ही डाल्टन नगर के हाई स्कूलों में किया, परंतु इसका स्पष्ट रूप सन् १९१९-१९२० में ही शिक्षा-जगत के समक्ष उपस्थित हुआ। यह शिक्षा-योजना माध्यमिक और उच्च वर्गों के लिए ही बनी है।

कुमारी पार्कहर्स्ट को डॉ० मेरिया मांटेसरी के साथ कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ था। यहाँ उन्हें इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास हो गया कि बालकों में व्यक्तिगत विभिन्नता होती है, अतः उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए व्यक्तिगत रूप से शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने डाल्टन-मेथड अथवा डाल्टन शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया।

(१) कुमारी पार्कहर्स्ट ने अपनी डाल्टन-पद्धति को 'बाल-केंद्रित' बनाया है। यहाँ बालक ही शिक्षा के प्रधान केंद्र हैं। उनको उनकी रुचि और मानसिक योग्यता के अनुसार स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा देने के निमित्त प्रोत्साहन देना और मार्ग-दर्शन करना इस पद्धति की प्रमुख विशेषता है। कुमारी पार्कहर्स्ट ने बालकों के सर्वांगीण

विकास को ध्यान में रख कर इस पद्धति का निर्माण किया है। यहाँ वालकों के व्यक्तित्व का आदर, उन्हें अपनी रुचियों तथा आवश्यकतानुसार अध्ययन करने की पूर्ण स्वतंत्रता, उनकी मानसिक, शारीरिक तथा अन्य शक्तियों के प्रति सहानुभूति आदि का ध्यान रखा गया है। डाल्टन-पद्धति का कार्यक्रम इस प्रकार व्यवस्थित और सुगठित है कि विद्यार्थियों में आत्मनिर्भरता, स्वावलंबन, उत्तरदायित्व एवं स्वयं कार्य करने की प्रेरणा आदि सद्गुण स्वतः विकसित होते हैं।

(२) कुमारी हेलेन पार्कहर्स्ट वालकों के लिए स्व-शिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार करती हैं। स्व-शिक्षा वालकों में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करता है तथा अनुभव-संचय द्वारा उनके मन, मस्तिष्क एवं विचार आदि की अभिवृद्धि करता है।

(३) कुमारी पार्कहर्स्ट वालक-वालिकाओं में स्वतंत्रता के भाव का विकास अथवा स्वतंत्रता की भावना की अभिवृद्धि चाहती हैं। उनका कहना है कि वालकों को आंतरिक प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। उन्हें समय या विषय की कल्पनाओं में नहीं वाँधना चाहिए।

(४) इस पद्धति में वालक-वालिकाओं की व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। वर्ग में तेज, साधारण और मंद तीनों प्रकार की बुद्धि वाले वालक होते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि, योग्यता, गति एवं क्षमता के अनुसार प्रगति करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(५) डाल्टन-पद्धति में क्रियाशीलता के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का अच्छा समावेश हुआ है। इसमें विद्यार्थी सदैव क्रियाशील वने रहते हैं। वे निष्क्रिय श्रोता के रूप में वर्ग के एक निश्चित-निर्धारित स्थान पर नहीं वैठे रहते, अपितु मन और मस्तिष्क से कार्य में डटे रहते हैं।

(६) डाल्टन-पद्धति में शिक्षा में समवाय के सिद्धांत का भी समावेश किया गया है। कुमारी पार्कहर्स्ट के अनुसार सभी विषयों में एकत्व होना चाहिए, ताकि वे अलग-अलग नहीं मालूम पड़ें।

डाल्टन विद्यालय की कार्य-पद्धति

डाल्टन-पद्धति के अनुसार वालक-वालिकाओं को शिक्षा प्रदान करने के लिए पाठ्य-विषयों का वर्गीकरण कर दिया जाता है। इस वर्गीकरण से प्रधानतः दो वर्ग वनते हैं :—

(१) मुख्य वर्ग और (२) साधारण वर्ग।

भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल एवं विज्ञान आदि विषय मुख्य वर्ग के अंतर्गत

रखे जाते हैं तथा संगीत, कला एवं गृह-विज्ञान आदि विषय साधारण वर्ग के अंतर्गत रखे जाते हैं।

डाल्टन-पद्धति में प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग कमरा होता है। इस कमरे में विषय से संबंध रखने वाली प्रायः समूची सामग्री चित्र, नक्शे, चार्ट एवं पुस्तकें आदि रहती हैं। विषय के अध्यापक अपने-अपने वर्ग में उपस्थित रहते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर विद्यार्थियों का मार्ग-निर्देशन करते हैं।

शिक्षक, बालकों की शक्ति और योग्यतानुसार पूरे वर्ष भर के काम की योजना और रूपरेखा तैयार कर देते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि डाल्टन विद्यालय में शैक्षिक वर्ष दस माह का ही होता है। प्रत्येक विषय के पाठ उस विषय के अध्यापक तैयार करते हैं। वर्ष भर के काम के संकेत को मासिक, साप्ताहिक और दैनिक कार्य-खंड को ठेका (Contract) साप्ताहिक कार्य-खंड के निर्दिष्ट पाठ (Assignment) तथा दैनिक कार्य-खंड को इकाई (Unit) के नाम से पुकारा जाता है। एक महीने के कार्य के चार निर्दिष्ट पाठ और प्रत्येक निर्दिष्ट पाठ की पाँच इकाइयों के हिसाब से बीस इकाइयाँ होती हैं। इस प्रकार पूरे माह का कार्य बीस इकाइयों अर्थात् बीस दिनों में विभाजित हो जाता है। ऐसी स्थिति में बालक-बालिकाओं को यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिदिन कितने कार्य का उत्तरदायित्व उनके समक्ष है।

अपने निश्चित और निर्धारित ठेके के काम की समाप्ति के लिए बालकों को स्वाध्याय अर्थात् अध्ययन, खोज एवं परीक्षण का आधार लेना पड़ता है। इस प्रणाली में लिखने का कार्य अधिक करना होता है। शिक्षक परीक्षणशाला में उपस्थित रहते हैं तथा समयानुसार बालकों को आवश्यक सहायता और मंत्रणा देते हैं। ठेके की समाप्ति पर, आधुनिक प्रणालियों के माध्यम से उनकी जाँच होती है और परिणाम के संतोषजनक होने पर बालकों को पुनः अपना कार्य जारी रखने का आदेश दिया जाता है।

विद्यालय में प्रत्येक दिन सुबह में प्रार्थना होती है। तब बालक अपने संबंधित शिक्षकों तथा अन्य साथियों से संपर्क स्थापित करता है। आवश्यक विचार-विमर्श और दिन भर के कार्य का एक प्लान बनाने के पश्चात् शिक्षक से आदेश-निर्देश लेकर विद्यार्थी अपना प्रयोगशाला में जाते हैं। प्रयोगशाला-कक्ष में वे अपनी रुचि के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते हैं। इस पद्धति में घंटी या समय-सारणी का विधान नहीं होता। कक्षाओं के स्थान पर विषय-विशेष के कक्ष या प्रयोगशालाएँ होती हैं। जैसे—भाषा-प्रयोगशाला, गणित-प्रयोगशाला, भूगोल-प्रयोगशाला,

इतिहास-प्रयोगशाला एवं संगीत-प्रयोगशाला आदि। विद्यार्थियों को प्रयोगशाला में अपनी इच्छानुसार पुस्तक तथा विषय-अध्ययन के लिए स्वतंत्रता होती है। एक निर्धारित समय तक प्रयोगशाला में कार्य करने के पश्चात् दिन के तीसरे पहर में शिक्षक और शिक्षार्थी पुनः मिलते हैं तथा दिन भर के अपने अनुभवों और आने वाली समस्याओं पर विचार करते हैं। इस सम्मेलन में शिक्षक बालकों के कार्य का निरीक्षण करता है तथा अगले कार्य का आदेश भी देता है। कभी-कभी इस समय योजनाएँ आदि भी बनायी जाती हैं। सुबह और शाम में 'शिक्षक-शिष्य सम्मेलन' (सभा) तथा उनका पारस्परिक विचार-विमर्श डाल्टन शिक्षा-पद्धति के विषय एवं आवश्यक अंग हैं। अपराह्न में ही छात्र-समूह संगीत, कला आदि का भी कार्य करता है।

डाल्टन विद्यालय में बालकों की प्रगति का विवरण रखने की भी अपनी विशेष प्रणाली है। यह विवरण ग्राफ़ के कागज पर अंकित रहता है। यह ग्राफ तीन प्रकार का होता है :—

(१) शिक्षक का प्रयोगशाला ग्राफ (Teachers' Laboratory Graph);

(२) बालक के ठेके का ग्राफ (Pupils Contract Graph) और

(३) गृह-ग्राफ (House Graph)।

(१) डाल्टन शिक्षा-पद्धति एक उच्चकोटि की व्यवस्थित और संगठित 'बाल-केंद्रित शिक्षा-प्रणाली' है। यहाँ सामूहिक शिक्षा देने के बदले वैयक्तिक शिक्षा दी जाती है। छात्र व्यक्तिगत भेदों के अनुसार कार्य करते हैं।

(२) आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सिद्धांतों पर आधारित शिक्षा की यह नवीन प्रणाली छात्रों के सर्वांगीण विकास के लिए सर्वथा सक्षम है। विद्यार्थी एक स्वतंत्र वातावरण में स्वच्छंदतापूर्वक बिना मानसिक दबाव के अन्वेषण-कक्ष में सहयोगपूर्वक स्वाध्याय करते हुए ज्ञान-ग्रहण करते हैं।

(३) यहाँ विद्यार्थी में कक्षा-प्रणाली के दुर्गुण प्रादुर्भूत नहीं होते। वे अपनी रुचि, सुविधा और इच्छा से व्यक्तिगत कठिनाइयों का समाधान करते हुए ज्ञान ग्रहण करते हैं। हाँ, मार्ग-दर्शन शिक्षकों द्वारा अवश्य होता है।

(४) शिक्षक का रूप यहाँ एक मित्र, दार्शनिक और निर्देशक का होता है। वह किशोरों की व्यक्तिगत भिन्नता का ध्यान रखता है। प्रत्येक छात्र को अपनी योग्यता और गति के साथ प्रगति करने में सहायता और निर्देश देता है।

(५) शिक्षक-शिष्य में पारस्परिक सहयोग उत्पन्न होने से बालकों में सामाजिकता, सद्‌भावना, उत्तरदायित्व, श्रम एवं निर्भयता आदि गुणों का प्रादुर्भाव तो होता ही है, अनुशासन की विकट समस्या का समाधान भी होता है।

(६) सुरुचि द्वारा क्रियाशीलन के आधार पर प्रयोग-कक्ष में स्वाध्याय के निमित्त संलग्नशील बने रहने के फलस्वरूप विद्यार्थी बाल-अपराध अथवा इस प्रकार के अन्य दुर्गुणों से बचे रहते हैं।

(७) यहाँ पाठ्यक्रम की जटिलता का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। कक्षा में पढ़ाए जाने वाले विषयों में परस्पर सहयोग करके विभागीय छूट दे दी जाती है। यदि इतिहास का अध्यापक ताजमहल पर एक लेख लिखवाता है, तो भाषा का अध्यायपक उसे भाषा का निबंध मान कर भाषा विषय के लिखित कार्य में उतनी कमी कर देता है। इस प्रकार यहाँ समवाय का क्रम भी चलता रहता है।

(८) डाल्टन-पद्धति में विद्यार्थियों के दैनिक, साप्ताहिक और माहवारी कार्यों के आधार पर उनके मानसिक उन्नयन एवं अन्य प्रगतियों का मूल्यांकन होता है। इसके कारण वे अपने सामयिक कार्य में सदैव दत्तचित्त एवं संलग्नशील बने रहते हैं।

परीक्षा की परंपरागत विधि में सुधार लाकर कुमारी पार्कहर्स्ट ने अपनी डाल्टन-पद्धति द्वारा छात्र-छात्राओं का बहुत बड़ा कल्याण किया।

डाल्टन-पद्धति की त्रुटियाँ

डाल्टन-पद्धति के आलोचकों का विचार है कि यह शिक्षा-पद्धति वस्तुतः रुढ़िगत प्राचीन शिक्षा का ही सुधारा हुआ रूप है। इस पद्धति में निम्नांकित दोष बतलाए जाते हैं:—

(१) इस पद्धति में निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें नहीं होती हैं, बल्कि अन्य पुस्तकों तथा तत्संबंधी सहायक सामग्रियों पर बहुत निर्भर करना पड़ता है।

(२) यह पद्धति वैयक्तिक विकास पर अधिक बल देती है। व्यक्तिगत शिक्षण पर विशेष बल दिए जाने के कारण बालक व्यक्तिवादी और अभिमानी बन जाता है।

(३) बालक में स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति प्रवेश कर जाती है, अतः इस प्रणाली द्वारा उनका समाजीकरण संभव नहीं। स्वतंत्रता पाकर विद्यार्थी उच्छृंखल बन सकते हैं।

(४) यहाँ मौखिक शिक्षा का अभाव है। मौखिक शिक्षा नहीं होने से भावाभिव्यंजना और आत्माभिव्यंजना की गुंजाइश बहुत कम होती है।

(५) सामान्य बालकों के लिए यह पद्धति उपयुक्त हो सकती है, परंतु

असामान्य बालकों के लिए नहीं। यहाँ विषय टालने वाले बालकों पर अधिकार पाना कठिन होता है।

(६) इस पद्धति को पूर्णतः सफल बनाने के लिए अपने विषय में दक्ष, पर्याप्त अनुभवी और विशेष प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता है।

(७) डाल्टन शिक्षा-पद्धति एक व्यय-साध्य (खर्चीली) योजना है। इसकी प्रयोगशाला, विभिन्न पुस्तकें, सहायक सामग्री आदि के सफल कार्यान्वियन के लिए अधिक धन की आवश्यकता है। सोवियत रूस में इसे पूँजीपतियों की शिक्षा-पद्धति माना गया है। अमेरिका में इसका विशेष प्रयोग हुआ है।

(८) जहाँ मांटेसरी और किंडरगार्टन शिक्षा-प्रणाली छोटे बच्चों और प्रारंभिक कक्षाओं के लिए उपयोगी है, वहाँ डाल्टन शिक्षा-प्रणाली माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं के लिए उपयोगी है। अतः, इसका क्षेत्र भी सीमित है।

उपसंहार

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह पद्धति मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विचारधाराओं से पूर्ण एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित शिक्षा-योजना है। कुमारी पार्कहर्स्ट के मौलिक विचारों एवं आधुनिक शिक्षा-सिद्धांत की आधारशिला पर अवस्थित डाल्टन-पद्धति किशोर वय के छात्रों के मानसिक विकास के लिए पर्याप्त सक्षम है।



अध्याय २३

आर्मस्ट्रांग

प्रोफेसर एच० ई० आर्मस्ट्रांग (Prof. H. E. Armstrong) ने अपनी शिक्षा-पद्धति की विवेचना ह्यूरिस्टिक मेथड (खोज-पद्धति) में की है ।

ह्यूरिस्टिक शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द ह्यूरिस्को (Heurisco) से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'मैं खोजता हूँ' अथवा 'मैं स्वयं ज्ञात करता हूँ ।' इसलिए इस पद्धति का नामकरण 'स्वयं-ज्ञान-विधि' भी किया गया है । हिंदी में यह 'खोज-प्रणाली' अथवा 'खोज-पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध है ।

ह्यूरिस्टिक मेथड (स्वयं-ज्ञान-विधि)

इस पद्धति में विद्यार्थी की स्थिति ज्ञान की साधना के निमित्त खोज करने वाले एक अन्वेषक की होती है, निष्क्रिय श्रोता की नहीं । शिक्षक शिक्षोपकरणों के माध्यम से (जिसमें 'प्रश्न' मुख्य होता है) सर्वप्रथम एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं, जहाँ विद्यार्थी स्वतंत्रतापूर्वक स्व-क्रिया में रत होकर अपने लक्ष्य की सिद्धि में साधनाशील बनें और अपने स्वयं अर्जित अनुभवों से लाभांवित हों ।

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रमुख समर्थक हरबर्ट स्पेंसर और थामस एच० हक्सले की विचारधाराओं से यह पद्धति विशेष प्रभावित है । हरबर्ट स्पेंसर के इस कथन का कि "बच्चों को जितना संभव हो, कम बताया जाए तथा जितना अधिक हो सके, उतना खोजने के लिए छोड़ दिया जाए" (Children should be told as little as possible and should be left to discover as much as possible)-- प्रो० आर्मस्ट्रांग ने अपनी इस पद्धति में अत्यधिक उपयोग किया है । वैसे तो प्रो० आर्मस्ट्रांग के इस "स्वयं-ज्ञान-विधि' का प्रयोग अनादिकाल से होता आया है । संसार की रचना के बाद मानव इसी विधि का उपयोग करके

ज्ञानराशि का संचय करता आया है। रूसो ने भी 'एमिल' के लिए प्रकृति में विचरण करके स्वयं ज्ञान प्राप्त करना ही उचित समझा है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की इंद्रियजनित ज्ञान तथा प्रकृति-पर्यवेक्षण विधियाँ ह्यूरिस्टिक पद्धति का प्रारंभ कही जा सकती हैं। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियाँ तो 'विज्ञान' की ही शताब्दियाँ हैं। अतः, स्वाभाविक था कि शिक्षा पर भी विज्ञान का प्रभाव पड़ता। प्रो० आर्मस्ट्रांग ने प्राचीनकाल से चली आती हुई 'स्वयं-ज्ञान-विधि' या 'खोज-प्रणाली' के आधार पर ज्ञान-संचय की प्रक्रिया को परिष्कृत तथा व्यवस्थित किया।

खोज-पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम विज्ञान की पढ़ाई के लिए किया गया था, परंतु शीघ्र ही यह विधि लोकप्रिय हो गई और भाषा, व्याकरण, इतिहास, भूगोल एवं गणित-जैसे वियों के लिए भी यह व्यवहृत होने लगी।

ह्यूरिस्टिक पद्धति में आगमन विधि (Inductive Method) का प्रयोग किया जाता है। इसमें विद्यार्थियों को स्वयं ही एक विशेष समस्या पर सूचनाएँ एकत्र करने के लिए कहा जाता है। वे पुस्तकों, प्रयोगों अथवा अध्यापक के निर्देशन से इन सूचनाओं को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। शिक्षकों का रूप यहाँ मित्र, सहयोगी एवं मार्ग-दर्शक (Friend, Co-operator and Guide) का होता है। कठिन और आवश्यक स्थलों पर वे छात्रों के साथ होते हैं और उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। कभी-कभी वे सामयिक पाठ में दुरुह स्थलों के लिए सूचनाओं के एकत्रीकरण का कार्य भी कर देते हैं।

इस शिक्षा-पद्धति में शिक्षक विद्यार्थियों को इस प्रकार कार्य की ओर प्रेरित करते हैं कि वे स्वयं प्रश्न करने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। इस स्थल पर कुछ आवश्यक प्रश्न शिक्षक भी करते हैं, जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों के मस्तिष्क को क्रियाशील रखना होता है।

ह्यूरिस्टिक मेथड के गुण :

(१) इस पद्धति में बालक स्वयं अन्वेषण करके सत्य का पता लगाता है। यहाँ इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि छात्रों का स्वयं-अनुभव ज्ञान का आधार हो। व्यावहारिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए इस प्रकार का दृष्टिकोण अत्यंत आवश्यक है।

(२) इस पद्धति में 'बालकों का मस्तिष्क अन्वेपक के समान सर्वदा क्रियाशील रखा जाता है' अतः, उनमें जिज्ञासा और अन्वेपण-वृत्ति का विकास होता है।

(३) इस पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है; क्योंकि यहाँ निरीक्षण, परीक्षण, तर्क, तुलना, निर्णय, सोचने, विचारने एवं करने का पर्याप्त अवसर है।

(४) वालक अपने कार्य की आलोचना स्वयं करते हैं। वे अपने कार्य के लिए स्वयं उत्तरदायी होते हैं। वे तव तक किसी सिद्धांत और नियम को नहीं मानते, जब तक वे स्वयं उसकी परख नहीं कर लेते। प्रो० आर्मस्ट्रांग वस्तुतः वालक-वालिकाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहते हैं।

(५) स्वयं-खोज करके अपने ज्ञान का विकास करने के फलस्वरूप वालकों में आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, आत्मसंतोष-जैसे गुण प्रादुर्भूत होते हैं। इससे वे जीवन की विभिन्न समस्याओं में मन की शक्तियों का उपयोग करना सीखते हैं। उनका व्यक्तित्व संतुलित और व्यवस्थित वनता है।

(६) 'वालक की स्मृति पर अधिक वल नहीं दिया जाए--' इस पद्धति में वाल-मनोविज्ञान की इस उक्ति का समावेश किया गया है। किसी पाठ को रट कर स्मरण करने की आवश्यकता वालक को नहीं है। वे स्वाध्याय द्वारा ही ज्ञानार्जन करते हैं।

(७) यहाँ विद्यार्थी और शिक्षक में निकट का संबंध स्थापित होता है। शिक्षक विद्यार्थियों की समस्या सुलझाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। उन्हें एक सक्रिय निरीक्षक की भाँति कार्य करना पड़ता है।

(८) इस पद्धति से ज्ञान ग्रहण किए हुए विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आलोचनात्मक प्रवृत्ति और स्वस्थ रुचियों का विकास होता है।

(९) इस विधि का प्रयोग करने से प्रारंभ में ऐसा ज्ञात होता है कि यहाँ समय अधिक लग रहा है तथा विद्यार्थियों की उन्नति भी कम हो रही है, किंतु जब एक कुशल, योग्य और अपने विषय में दक्ष अध्यापक इस पद्धति का प्रयोग करता है, तो वर्ष के अंत में विद्यार्थियों की प्रगति और उन्नति अन्य पद्धतियों से अधिक हो जाती है।

दोष :

(१) ह्यूरिस्टिक पद्धति में चिंतन और अन्वेषण पर विशेष वल दिया जाता है। परिणाम को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता।

(२) इस पद्धति में अर्थ और समय की विशेष आवश्यकता है। अर्थ के अभाव में निर्देश-पुस्तकें तथा अन्य सहायक साधनों की उपलब्धि कठिन होगी।

(३) योग्य और अपने विषय में दक्ष शिक्षकों के अभाव में यह पद्धति कदापि सफल नहीं हो सकती। पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो सकता। वैसे तो कोई भी प्राचीन अथवा आधुनिक पद्धति अपनायी जाए, योग्य शिक्षक की नितांत आवश्यकता

है। परंतु, यहाँ उनकी दक्षता की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि सर्वप्रथम अध्यापक द्वारा किया गया प्रश्न ही उन्हें खोज करने की प्रेरणा देकर उत्साहित करेंगे। यह कार्य योग्य, अनुभवी और दक्ष अध्यापक ही कर सकते हैं।

(४) इस पद्धति से उच्च वर्गों के बालक ही लाभांवित होंगे। निम्न वर्ग के बालकों के लिए यह पद्धति सफल और उपयोगी नहीं हो सकेगी। निम्न वर्ग के बालकों की मानसिक शक्ति और तर्कशक्ति अविकसित रहती है। उनका अनुभव सीमित होता है। परंतु, उच्च वर्ग के विद्यार्थी कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके रहते हैं, उनकी उम्र भी कुछ अधिक हो गई रहती है। अतः, अन्वेषक के रूप में वे शांतिपूर्वक अध्ययन-कक्ष में बैठ कर चिंतन कर सकते हैं।

ह्यूरिस्टिक प्रणाली एक व्यक्तिगत विधि है, जिसमें अध्यापक को प्रत्येक बालक के साथ वैयक्तिक संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है। भारतीय विद्यालयों के प्रत्येक वर्ग में विद्यार्थियों की संख्या तो लगभग चालीस-पचास तक होती है और अध्यापक की संख्या एक। ऐसी अवस्था में मात्र इसी प्रणाली को आधार मान कर हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था नहीं कर सकते। श्रेष्ठ होगा कि हम इसे साधक के रूप में अपनावें। उच्च वर्गों में हिंदी भाषा की शिक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी प्रणाली है।



हेनरी किलपैट्रिक

अमेरिकानिवासी विलियम हेनरी किलपैट्रिक (William Henery Kilpatrick) की शिक्षा-पद्धति उसके 'प्रोजेक्ट मेथड' (योजना-पद्धति) में साकार हुई है। १९१८ ई० में किलपैट्रिक ने जान डिवी, पारकर एवं मेरियन-जैसे शिक्षा-शास्त्रियों के शिक्षा-सिद्धांतों पर इस पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत की।

किलपैट्रिक डॉ० डिवी के प्रयोजनवाद (Pragmatism) से प्रभावित थे। डिवी का विचार है कि नवीन ज्ञान की प्राप्ति उन सक्रिय अनुभवों द्वारा होती है, जो हमें किसी वास्तविक समस्या अथवा कठिनाइयों के समाधान के समय उपलब्ध होती है। इससे व्यक्तियों के विचार संगठित होते हैं। किलपैट्रिक ने अपनी शिक्षा-पद्धति 'प्रोजेक्ट-पद्धति' को डिवी के इसी सिद्धांत पर आधारित किया है।

किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट मेथड अथवा योजना-पद्धति की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि "योजना वह सहृदय उद्देश्यपूर्ण कार्य है, जिसे पूर्ण संलग्नता के साथ सामाजिक वातावरण में संपन्न किया जाता है।" (A project is a whole hearted purposeful activity proceeding in a social environment)। योजना की परिभाषा करते हुए डॉ० स्टीवेंसन ने बतलाया है कि "यह एक समस्यामूलक कार्य है, जो उसकी प्राकृतिक परिस्थितियों में पूर्णतः समाप्त किया जाता है।" (A project is a problematic act carried to completion in its natural setting)। योजना के अंतर्गत अनेकों समस्याएँ होती हैं, जिनका समाधान करना ही योजना की पूर्ति करना होता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री बॉसिंग ने योजना-पद्धति के संबंध में कहा है—"प्रोजेक्ट स्वाभाविक रीति से बालक द्वारा नियोजित तथा पूर्ण की हुई समस्यामूलक क्रिया की ऐसी महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक इकाई है, जिसमें अनुभव की पूर्ति के लिए भौतिक साधनों तथा वस्तुओं का

उपयोग आवश्यक रहता है ।" विद्वानों द्वारा की गई उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रोजेक्ट (१) सीखने की समवायित प्रक्रिया है, (२) स्वाभाविक वातावरण में किया हुआ स्वाभाविक कार्य है,(३) समस्यामूलक कार्य तथा (४) स्वाभाविक रीति से किया हुआ उद्देश्यपूर्ण कार्य है ।

प्रोजेक्ट-पद्धति के निम्नांकित प्रमुख सिद्धांत

(१) प्रयोजन—बालकों के समक्ष जब कोई कार्य रखा जाए, तो उसका उद्देश्य होना चाहिए । अतः, योजना के प्रयोजनात्मक होने में ही उसकी महत्ता है ।

(२) क्रियाशीलता—योजना-पद्धति में क्रिया को प्रधानता दी जाती है । बालक यहाँ जो कुछ भी सीखते हैं, वह स्वयं सक्रिय रह कर सीखते हैं । 'कार्य द्वारा सीखना'—ज्ञान ग्रहण करने की सर्वोत्तम विधि है । इससे बालकों की बुद्धि, विचार-शक्ति, तर्कशक्ति इत्यादि गुणों का वर्द्धन होता है ।

(३) यथार्थता—योजना-पद्धति के समस्यामूलक कार्य में यथार्थता की उपस्थिति आवश्यक है, जिससे बालकों के भावी जीवन में वे उपयोगी और सार्थक सिद्ध हों । विद्यालय के वातावरण को भी अकृत्रिम होना चाहिए ।

(४) उपयोगिता—बालक उन्हीं कार्यों में रुचि लेते हैं, जो उनको उपयोगी लगते है । जो कार्य बालकों के लिए उपयोगी हैं तथा उनकी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित हैं, उन कार्यों के संपादन में उन्हें स्वतः प्रेरणा मिलती है, जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वे उनमें पूरी रुचि लेते हैं । अतः, योजनाओं का उपयोगी होना आवश्यक है ।

(५) स्वतंत्रता—योजनाओं के चुनाव और उनके समाधान में बालकों को स्वतंत्रता होनी चाहिऐ । वे किसी प्रकार के बोझ का अनुभव नहीं करें ।

योजना दो प्रकार की होती है :—

(१) सरल और (२) जटिल ।

(१) सरल योजना में केवल एक ही कार्य होता है । जैसे—खेत सींचना, भोजन परोसना आदि । इसको व्यक्तिगत योजना (Individual Project) भी कहते हैं ।

(२) जटिल या बहुमुखी योजना में एक से अधिक अथवा कहें कि बहुत से मिलेजुले कार्य होते हैं, जैसे--नाटक की आयोजना, विद्यालय में उत्सव की तैयारी; मकान बनाना, पार्सल करना आदि । इसको सामूहिक योजना(Group Project)

भी कहते हैं। प्रयोजनवादी जटिल अथवा सामूहिक योजना को ही प्रश्रय देते हैं।

प्रोजेक्ट-पद्धति के निर्माता किलपैट्रिक ने इसको निम्नांकित चार भागों में विभक्त किया है :—

(१) सृजनात्मक या रचनात्मक प्रोजेक्ट (Creative Project)। इसमें किसी विचार अथवा प्लॉन को वाह्य रूप में प्रकट करने पर बल दिया जाता है। जैसे- नाव या जहाज का मॉडल बनाना, चिट्ठी लिखना, नाटक खेलना आदि।

(२) रसास्वादन या आनंद की योजना (The Appreciation or Enjoyment Project) -इसमें सौंदर्य-संबंधी अनुभवों का आनद लेने पर बल दिया जाता है। जैसे—कहानी पढ़ना और सुनना, विद्यालय में रेडियो सुनना, चित्र देखना आदि।

(३)समस्यात्मक योजना (The Problem Project)—इसमें किसी बौद्धिक कठिनाई अथवा समस्या का हल ढूंढ़ा जाता है। जैसे—प्रथम अथवा द्वितीय पचवर्षीय योजना की प्रगति की तुलना आदि।

(४) अभ्यास या विशिष्ट सीखने की योजना (The Dril or Specific Learning Project)—इसमें किसी स्तर तक कार्य में दक्षता और निपुणता प्राप्त करने का ध्येय रहता है। जैसे—एक निश्चित सीमा तक लिखना या निश्चित स्तर तक जोड़ना अथवा शब्दों के विभिन्न अर्थों का ज्ञान प्राप्त करना आदि।

एलसवर्थ कोलिन्स के अनुसार योजना के प्रकार ये हैं:—

(१) खेल-योजना,
(२) कहानी-योजना,
(३) नैतिक योजना और
(४) सैर-सपाटों वाली योजना।

किलपैट्रिक के अनुसार योजना-पद्धति के चार प्रमुख सोपान हैं:—

(१) योजना-चयन अथवा उद्देश्य-निर्धारण,
(२) योजना का कार्यक्रम,
(३) योजना का कार्यान्वयन और
(४) योजना का मूल्यांकन।

एक योजना को पूरा करने के लिए शिक्षक और विद्यार्थी उपर्युक्त चार पदों का आधार लेकर आगे बढ़ते हैं।

(१) योजना-चयन —सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि शिक्षक और विद्यार्थी

अच्छी तरह विचार-विमर्श और वाद-विवाद के पश्चात् योजनाओं का चुनाव करें। शिक्षक एक ऐसी व्यवस्थित और अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करें, जिसमें लक्ष्यपूर्ण उचित योजना का चुनाव विद्यार्थी स्वयं कर लें। शिक्षक की सफलता इसी में है कि विद्यार्थियों का उचित पथ-प्रदर्शन करते हुए समस्या को इस प्रकार उनके समक्ष प्रस्तुत करे कि उसकी मनचाही योजना की ओर छात्र स्वतः आकर्षित होकर चुनाव कर लें। योजना को शैक्षणिक दृष्टिकोण से मूल्यवान् होना चाहिए। योजनाओं को त्यागने में बालकों की रुचि तथा आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाए।

(२) योजना का कार्यक्रम—योजना-चयन के पश्चात् योजना का कार्यान्वयन किस प्रकार हो, इसके लिए शिक्षक के मार्ग-दर्शन में विद्यार्थी कार्यक्रम तैयार करते हैं। कार्यक्रम बनाने के लिए भी विद्यार्थी और अध्यापक में विचार-विमर्श होता है। विद्यार्थी कार्यक्रम से अच्छी तरह अवगत हो जाते हैं; क्योंकि योजना की सफलता के निमित्त यह प्रमुख आधार है।

(३) योजना का कार्यान्वयन—योजना की पूर्ति के निमित्त विद्यार्थियों को सामूहिक क्रियाशीलन के आधार पर यत्नशील बनना पड़ता है। योजना अच्छी तरह सफल हो, इसके लिए उन्हें पुस्तक, सहायक पुस्तक एवं पत्र-पत्रिकाओं आदि का अध्ययन और मनन करना होता है। पुस्तकालय और वाचनालय की सहायता भी आवश्यक होती है।

(४) योजना का मूल्यांकन—योजना की समाप्ति के उपरांत कार्य का मूल्यांकन किया जाता है। *किसी योजना के मूल्यांकन* हेतु इन दो बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है—(१) प्रथम यह कि उस योजना के उद्देश्य की पूर्ति हुई अथवा नहीं। (२) दूसरा यह कि इस योजना का कार्य कहाँ तक उपयोगी और सफल सिद्ध हुआ।

योजना-कार्य का मूल्यांकन शिक्षक और विद्यार्थी दोनों मिल कर करते हैं। इससे विद्यार्थियों को अपनी समीक्षा और पुनरावलोकन करने का अवसर मिलता है तथा भविष्य में सावधान होने के लिए एक गति उपलब्ध होती है। किसी योजना के निर्णय में बालकों को अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

योजना-पद्धति के गुण

(१) योजना-पद्धति समस्यामूलक है। इसमें छात्र-छात्राओं के समक्ष समस्याएँ रखी जाती हैं, जिनके समाधान के निमित्त उनका मन-मस्तिष्क तैयार होकर कार्य करता है। इससे उन्हें भावी जीवन में भी अपनी समस्याओं के समाधान का

व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। वे सोच-समझ कर उत्तरदायित्व के साथ कदम उठाना सीखते हैं।

(२) योजना-पद्धति में बालक की कर्मेंद्रियाँ और ज्ञानेंद्रियाँ सदैव क्रियाशील रहती हैं, उनमें तर्कशक्ति तथा मूल्यांकनशक्ति का भी समुचित विकास होता है। उनकी आस्था शारीरिक श्रम की ओर बढ़ती है।

(३) योजना-पद्धति के अनुसार जो समस्या प्रस्तुत की जाती है, उसे पूरा करने का कोई प्रयोजन होता है। यहाँ बालक जो कुछ करते हैं, एक निश्चित उद्देश्य से करते हैं।

(४) इस विधि में बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता और उनकी रुचि का ध्यान रखा जाता है। यहाँ सभी मानसिक स्तर के छात्रों के विकास के लिए संभावना रहती है।

(५) इस पद्धति की रूपरेखा प्रजातांत्रिक आधार पर गठित है। यहाँ प्रत्येक कार्य इस प्रकार किया जाता है कि योजना सफल हो। अतः, बालकों में भिन्नता, सद्भावना, सामूहिकता, सहकारिता, दूसरों के विचारों एवं स्वतंत्रता का आदर तथा सदाचार-संबंधी गुणों का आदर करने की भावना विकसित होती है। निश्चय ही, किसी भी भद्र नागरिक के लिए ये गुण आवश्यक हैं।

(६) योजना-पद्धति के अंतर्गत जो कार्य किए जाते हैं, वे उपयोगी होते हैं। अपनी समस्या के समाधान में बालक तत्पर रह कर लगन के साथ कार्य करते हैं। यहाँ रटने की प्रवृत्ति नहीं होती।

(७) थार्नडाइक के 'सीखने के नियम' से योजना-पद्धति प्रभावित है। जिन कार्यों को करने में बालक को सफलता मिलती है, उनमें उन्हें संतोष होता है और उनकी प्रतिक्रियाओं को वे अपना लेते हैं।

(८) योजना-पद्धति में विभिन्न योजनाओं के सफल कार्यान्वयन के समय विद्यार्थी अनेक वस्तुओं का निर्माण करते हैं, जिससे उनकी रचनात्मक कार्यशक्ति का समुचित विकास होता है।

(९) योजना-पद्धति में परिश्रम के साथ निश्चित उद्देश्य की ओर बढ़ने तथा समय के सदुपयोग करने की आदत का विकास होता है। स्वयं कार्य करने से विद्यार्थियों में अन्वेषणशक्ति प्रादुर्भूत हो सकती है।

(१०) यहाँ बालक मर्यादित और अनुशासित जीवन-यापन करने की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते हैं; क्योंकि इसके अभाव में योजना पूरी ही नहीं होगी।

(११) योजना-पद्धति छोटे-बड़े, सभी उम्र के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त है। किंडरगार्टन, मांटेसरी-जैसी शिक्षा-पद्धतियाँ अल्पायु छात्रों के लिए ही उपयोगी हैं। बालकों की आयु और संख्या के अनुसार योजना का रूप छोटा या बड़ा भी हो सकता है।

महात्मा गांधी प्रदत्त बुनियादी शिक्षा-प्रणाली एवं किलपैट्रिक की योजना-पद्धति मूलतः एक ही विचार से प्रेरित हैं। ये दोनों शिक्षा-दर्शन बालकों में आत्म-विश्वास, आत्मनिर्भरता तथा मौलिकता के विकास में सहायक हैं।

प्रो० चार्ल्स हार्डी के अनुसार योजना-पद्धति की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

(१) जो कार्य बालक को करना है, उसका वह स्वतः चयन करे।

(२) बालकों को वही कार्य करने चाहिए, जिनसे उत्तम चित्तवृत्तियाँ उद्‌भूत हों।

(३) इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता हो, वही ज्ञान प्रदान किया जाए।

(४) भावी अनुभवों की अभिवृद्धि के निमित्त बालकों के समस्त कार्यों में सहायता और पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है।

प्रोजेक्ट-पद्धति के दोष

(१) इसके द्वारा पाठ्यक्रम सुसंगठित नहीं किया जा सकता। पाठ्यक्रम को समय पर पूरा करने में कठिनाई होती है। ऐसी अवस्था में ज्ञान की प्रगति भी मंद होगी।

(२) इस पद्धति द्वारा प्राप्त विषय-ज्ञान क्रमबद्ध तथा सुसंगठित नहीं होता; क्योंकि विषय-शिक्षा नियमित रूप से नहीं होती। पाठ्यक्रम के वांछनीय एवं महत्त्व-पूर्ण अंगों के छूट जाने की संभावना रहती है।

(३) सामूहिक योजना में व्यक्तिगत रूचियों तथा प्रवृत्तियों की अवहेलना की संभावना रहती है।

(४) इस पद्धति में प्रत्येक ज्ञान स्व-क्रिया तथा अनुभव से प्राप्त किया जाता है। अतः, समय का अपव्यय होता है।

(५) योजना-पद्धति में अनेकों बार बालकों के समक्ष प्रौढ़-जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए यह अनुचित है।

(६) मात्र इसी पद्धति को अपनाने से कक्षा-प्रबंध, समय-विभाग चक्र, शिक्षण विधि एवं परीक्षा-प्रणाली आदि सभी धारणाओं में उलट-फेर हो जाने की संभावना है। वर्ग में अनुशासन की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है। योग्य और निष्ठावान् शिक्षकों के अभाव में यह पद्धति सफल नहीं हो सकेगी।

उपसंहार

सर्वप्रकार गुणयुक्त होने की कल्पना, मात्र कल्पना तक ही सीमित रह जाती है। गुण और दोष साथ-साथ रहते हैं। पूर्ण दोषरहित न कोई व्यक्ति है और न पदार्थ। अतः, इस शिक्षा-पद्धति में कुछ दोष हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रोजेक्ट मेथड एक व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली है, इसमें कोई संदेह नहीं।

अध्याय २५

वाशवर्न

कार्लटन वाशवर्न की शिक्षा-पद्धति उनकी 'विनेटका योजना' में साकार हुई है। इस शिक्षा-पद्धति द्वारा उन्होंने शिक्षा में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जो मुख्यतः प्राथमिक शालाओं के लिए उपयोगी है। आइए, हम विनेटका योजना के संबंध में विचार करें।

विनेटका योजना

'विनेटका योजना' का नामकरण इलियानोंज के विनेटका नामक स्थान को ध्यान में रख कर किया गया है, जहाँ इसके प्रवर्त्तक कार्लटन वाशवर्न ने प्राथमिक पाठ-शालाओं में शिक्षा संबंधी एक नया प्रयोग किया था। इस योजना का विवरण वाशवर्न द्वारा लिखित पुस्तक 'ऐडजरिटंग दि स्कूल टु दि चाइल्ड' मे मिलता है। विनेटका योजना में बालक को प्रमुख स्थान दिया जाता है और इस बात पर बल दिया जाता है कि विद्यालय का संगठन इस प्रकार किया जाए कि 'वहाँ बालकों के व्यक्तिगत भेदों को प्रधानता देकर शिक्षा प्रदान की जाए।' इस योजना के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि इसे वाशवर्न ने केवल प्रयोगात्मक रूप में ही प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि इसका उचित विकास उस समय हो जाएगा और इसके गुण निखर आएँगे, जब इसके ऊपर व्यावहारिक रूप से प्रयोग किए जाएँगे और उनके आधार पर इसकी रूपरेखा में वांछित परिवर्तन लाए जाएँगे।

विनेटका योजना के सिद्धांत

विनेटका योजना में बालकों के व्यक्तिगत भेद के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया जाता है। परंतु इसके साथ ही, उनके सामाजिक अनुकूलन

को भी ध्यान में रखा जाता है। इस योजना के आधारभूत-सिद्धांतों का वर्णन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं--

(१) बालकों की शिक्षा की व्यवस्था विद्यालयों में इस प्रकार हो कि उनको अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं एवं प्रवृत्तियों के अनुसार विकास करने के अवसर मिल जाएँ। तात्पर्य यह कि व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर उन्हें शिक्षण देने का आयोजन हो।

(२) सुखी, संतोषप्रद एवं संतुलित जीवन-यापन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। अतएव, पाठशालाओं में इस प्रकार के स्वाभाविक एवं स्वस्थ वातावरण का निर्माण किया जाए कि बालक को आंतरिक एवं बाह्य अनुकूलन प्राप्त हो जाएँ।

(३) बालक के व्यक्तित्व के विकास में इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि वह समाज के हित में हो।

(४) बालक समाज में उत्पन्न होते हैं और उन्हें समाज में ही रहना होता है। अतएव, उनके लिए समाज में अपना अनुकूलन करना तथा समाज की उन्नति के लिए सदैव तत्पर रहना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए उन्हें (क) कुछ ज्ञान और कौशल प्राप्त होना चाहिए। उनमें लिखने-पढ़ने की योग्यता का विकास करना चाहिए तथा उन्हें गणित एवं सामान्य ज्ञान का प्रारंभिक ज्ञान देना चाहिए, जिनको ग्रहण करने के पश्चात् वे और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करें। (ख) बालकों को व्यक्ति और समाज के संबंध का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और यह जानना चाहिए कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक का दूसरे से घना संबंध है।

विनेटका योजना और पाठ्यक्रम

विनेटका योजना के पाठ्यक्रम की मुख्य विशेषता यह है कि इसका निर्माण बालक की व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया जाता है। शिक्षा के विषयों को दो भागों में बाँट दिया जाता है। एक भाग का ध्येय सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करना होता है तथा दूसरे का ध्येय बालक के व्यक्तित्व का विकास करना होता है।

इस योजना के पाठ्यक्रम में अनुभव के आधार पर परिवर्तन करने की अनुमति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि अनुभव द्वारा किन्हीं विषयों का पाठ्यक्रम में समावेश करना उचित हो, तो उन्हें सम्मिलित किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कुछ विषय अनावश्यक प्रतीत होते हैं, तो उन्हें पाठ्यक्रम से निकाला जा सकता है। तात्पर्य यह कि इस योजना में पाठ्यक्रम में किसी भी प्रकार के स्थायित्व को अस्वीकार किया जाता है। यह सदैव प्रगति के साथ-साथ चलता है।

विनेटका योजना का कार्यक्रम

विनेटका योजना में व्यक्तिगत शिक्षण पर बल दिया जाता है, किंतु जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, यह योजना सामूहिक विकास की क्रियाओं की भी अवहेलना नहीं करती। इसकी कार्य-विधि इस प्रकार से निर्धारित की जाती है कि बालक को व्यक्तिगत विकास के अवसर मिलें तथा सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने के लिए वे प्रोत्साहित हों।

इस योजना में प्रत्येक बालक को कुछ निर्धारित कार्य करना होता है। शिक्षक प्रत्येक बालक को एक 'ध्येय-पत्र' (Good Card) देता है, जिस पर निर्धारित कार्य लिखा होता है। बालक इसके अनुसार निर्धारित कार्य को करता है और जितना कार्य वह कर लेता है, वह सब 'ध्येय-पत्र' पर लिख लेता है। इस प्रकार 'ध्येय-पत्र' द्वारा यह पता रहता है कि बालक को कितना कार्य करने के लिए दिया गया तथा कितना कार्य उसने कर लिया।

कार्य-इकाई

योजना में कार्य-इकाई को अधिक महत्त्व—जितना कार्य बालक के लिए निर्धारित होता है, उसे कार्य-इकाई कहते हैं। इस योजना में बालक को अपनी गति से कार्य-इकाई को पूर्ण करने की स्वतंत्रता होती है। जब तक बालक एक कार्य-इकाई को पूर्ण नहीं कर लेता, तब तक उसे नवीन कार्य नहीं दिया जाता। यदि बालक कुशाग्र बुद्धि का है, तो वह कार्य-इकाई शीघ्र समाप्त कर लेता है और उसे दूसरी कार्य-इकाई मिल जाती है। उसे उस समय तक नए कार्य के लिए नहीं रुकना पड़ता, जब तक कि कक्षा के सारे बालक उस कार्य-इकाई को समाप्त नहीं कर लेते। इस योजना में प्रत्येक बालक अपनी व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर कार्य करने को स्वतंत्र रहता है। इसमें कोई निर्धारित समय नहीं दिया जाता।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक अध्ययन—व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रख कर शिक्षा का जो आयोजन इस योजना में किया जाता है, वह पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित कर देता है। ये दो भाग व्यक्तिशः अध्ययन (Individualised Study) तथा सामूहिक अध्ययन (Socialized Study) के रूप में होते हैं। विद्यालय के समय को दो बराबर भागों में बाँटा जाता है। एक भाग में व्यक्तिशः अध्ययन कराया जाता है और दूसरे भाग को सामूहिक अध्ययन में लगाया जाता है।

व्यक्तिशः अध्ययन की विशेषता यह है कि विभिन्न विषयों का शिक्षण बालकों की अपनी व्यक्तिगत प्रगति के अनुरूप होता है। विभिन्न विषयों को दो प्रकारों में बाँट दिया जाता है। एक प्रकार में लिखना, पढ़ना, गणित एवं इतिहास इत्यादि

विषय होते हैं, उनका रूप रेखात्मक होता है और प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य माना जाता है। दूसरे प्रकार में वे सब विषय होते हैं, जो सामाजिक भावना के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं तथा जिनका रूप सृजनात्मक होता है। ये विषय होते हैं कला, संगीत एवं साहित्य इत्यादि। बालक इन विषयों में जिनको चाहे, अपने पढ़ने के लिए चुन सकता है। यहाँ यह भी आवश्यक नहीं है कि सब बालकों में इन विषयों में समान स्तर को ही योग्यता हो। यह योग्यता व्यक्तिगत विभिन्नता पर निर्भर रहती है। कुशाग्र बुद्धि वाले बालकों में यह अधिक हो सकती है तथा मंद बुद्धि वाले बालकों में कम।

सामूहिक अध्ययन में सामाजिक अथवा सृजनात्मक कार्य कराए जाते हैं। ये कार्य भाषण या वाद-विवाद प्रतियोगिता के रूप में हो सकते हैं या कला, साहित्य एवं संगीत इत्यादि की रसानुभूति के रूप में हो सकते हैं। इन कार्यों में अभिनय, खेल-कूद, विद्यालय यूनियन की क्रियाएँ, अन्य प्रकार की गोष्ठियों, समितियों, क्लब इत्यादि की क्रिया भी आती है। इन सब कार्यों की परीक्षा नहीं ली जाती और न इन कार्यों की योग्यता पर पास या फेल होना निर्भर है। प्रत्येक बालक बिना किसी भय के अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार इन क्रियाओं में भाग ले सकता है।

योजना की समय-सारणी

इस योजना की समय-सारणी इस प्रकार निर्धारित होती है कि बालक को व्यक्तिशः एवं सामूहिक अध्ययन के अवसर प्राप्त हो सकें। इसके लिए विद्यालय के समय को दो भागों में बाँट दिया जाता है। इन भागों को हम पूर्वाह्न क्रमशः तथा अपराह्न का समय कह सकते हैं। इन दोनों भागों के बीच के समय में छुट्टी रहती है। प्रथम भाग को व्यक्तिगत कार्य एवं विषय-अध्ययन में लगाया जाता है तथा द्वितीय भाग को सामूहिक अध्ययन एवं सामूहिक क्रियाओं में लगाया जाता है।

योजना में स्वतः अध्ययन एवं स्वतः संशोधन की सामग्री का आयोजन—बालकों को अपनी गति से पढ़ कर प्रगति करनी होती है। यह उसी समय संभव है, जब वे स्वतः अध्ययन कर सकें और जहाँ वे त्रुटि करें, उसे स्वतः संशोधित कर सकें। इसके लिए उन्हें ऐसी सामग्री प्राप्त होना आवश्यक है, जिससे वे स्वयं अध्ययन एवं संशोधन कर सकें। विनेटका योजना ऐसी ही सामग्री का आयोजन करती है। इस योजना पर आधारित कार्य-पुस्तकें (Work Book) तथा प्रश्न-पत्र बालकों को उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षक पाठ्य-पुस्तकों को देख कर ही निर्दिष्ट-कार्य (Assignment) निश्चित करते हैं। वे पूरी प्रश्नावली, अभ्यास के जाँच-पत्र इत्यादि भी स्वयं तैयार करके बालकों को दे देते

हैं। इस प्रकार यह शिक्षक का उत्तरदायित्व रहता है कि बालकों के लिए स्वाध्याय एवं स्वतः संशोधन के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबंध करें।

बालकों की निदानात्मक जाँच—इस योजना में बालकों की निदानात्मक जाँच पर भी बल दिया जाता है। निदानात्मक जाँच द्वारा बालक के अध्ययन में जो त्रुटियाँ एवं कमियाँ रहती हैं, उनका पता लग जाता है। शिक्षक निदानात्मक जांच के लिए एक विशेष प्रकार के जाँच-पत्र को बनाते हैं। इस जाँच-पत्र में कक्षा की जितनी पाठ्य इकाइयों का अध्ययन किया है, अपनी छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग पर अत्यंत विश्वासपूर्वक प्रश्न किए जाते हैं। बालकों द्वारा पढ़ी हुई एक ही शिक्षण की इकाई पर विभिन्न दृष्टिकोण से पाँच-सात प्रश्न-पत्र बनाए जाते हैं। जैसे एक विषय की पठित इकाई पर एक प्रश्न-पत्र इस प्रकार का बनाया जाता है, जो उस पठित इकाई में कितना स्मरण कर लिया गया, इसकी जाँच कर सकें। दूसरा इस प्रकार का प्रश्न-पत्र हो सकता है, जो पठित इकाई-संबंधी बोध की जाँच करे। तीसरा प्रश्न-पत्र पठित इकाई को कैसे प्रयोगात्मक रूप में रखा जा सकता है, इसकी जाँच सकता है।

बालकों को जांच-पत्र देने की यह विधि है कि पहले दो-तीन जांच-पत्र अभ्यास के लिए दे दिए जाते हैं। बालक इन जाँच-पत्रों को अपने उत्तरों को शिक्षक द्वारा बनाए हुए आदर्शों, उत्तरों से मिलाते हैं और अपनी त्रुटियों को स्वयं संशोधित करते हैं। इसके पश्चात् वे पठित इकाई को अधिक ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं। बालक अपनी त्रुटियां जान जाते हैं और इनको दूर करने के लिए अध्ययन करते हैं। अब उनको अन्य तीन या चार जाँच-पत्र दिए जाते हैं, जो उनका परीक्षण करते हैं। ये जांच-पत्र विभिन्न बालकों के लिए विभिन्न हो सकते हैं।

एक कक्षा से दूसरी में उत्तीर्ण होने का नियम—विनेटका योजना प्राथमिक विद्यालयों में प्रयोग की जाती है। इसे पहली कक्षा से आठवीं तक कार्यान्वित किया जाता है। इस योजना में बालक को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में उत्तीर्ण करने की जो विधि अपनायी जाती है, वह प्रचलित विधियों से भिन्न है। बालक का उत्तीर्ण होना उसके बौद्धिक एवं सामाजिक विकास पर निर्भर है। परंतु, उसका नई कक्षा में चढ़ा देना उसके सामाजिक विकास पर ही केंद्रित होता है। एक बालक जो सातवीं कक्षा में बैठा है, कोई आवश्यक नहीं कि उसमें सब विषयों की योग्यता सातवीं कक्षा के ही योग्य हो। बहुत संभव है कि उसने किसी विषय में छठी कक्षा का कार्य पूरा नहीं किया हो और किन्हीं विषयों में आठवीं कक्षा का कार्य आरंभ कर दिया हो। इसे सातवीं कक्षा में बैठाने का कारण उसका सामाजिक

विकास तथा सातवीं कक्षा के वालकों की आयु के अनुकूल होना होता है। ऐसा करने से वालक को अपनी गति से सीखने की स्वतंत्रता भी होती है और उसके सामाजिक व्यवस्थापन में कोई कठिनाई नहीं होती। एक पिछड़ा हुआ वालक भी अपनी आयु के वालकों के साथ एक ही कक्षा में बैठता है, चाहे उसने सव विषयों में दूसरे वालकों की तुलना में योग्यता भले ही न प्राप्त की हो। इस पद्धति में परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर वालक को जो मानसिक क्लेश होता है, उसे दूर कर दिया जाता है; क्योंकि यहाँ कक्षा में फेल होकर नीची कक्षा में ही रह जाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त कुशाग्र वुद्धि वाले वालक प्राथमिक शिक्षा को छह वर्ष में ही समाप्त कर सकते हैं। इसमें दूसरे वालक अधिक समय लगा सकते हैं।

विनेटका योजना की शिक्षा में उपादेयता

योजना के गुण

विनेटका योजना में वे सव गुण होते हैं, जो डाल्टन योजना के संवंध में वर्णित किए गए हैं। इसके मुख्य गुणों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. यह योजना व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा देने पर वल देती है। इसमें सव वालकों को एक ही डंडे से नहीं हाँका जाता, वरन् उनकी अपनी वुद्धि के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था की जाती है।

२. वालक निर्दिष्ट कार्य को अपनी गति से पूरा कर सकते हैं। इसमें न तो मंद वुद्धि वालकों को साधारण वालकों के साथ शीघ्रता ही से कार्य करना आवश्यक होता है और न कुशाग्र वुद्धि वालकों को धीमे कार्य करने की आवश्यकता होती है।

३. सामाजिक अनुकूलन का विशेष ध्यान रखा जाता है। वालक उसी कक्षा में बैठते हैं, जिस कक्षा में वे अपने समान आयु वाले वालकों के संपर्क में आ सकें।

४. सामाजिक विकास के लिए सामूहिक क्रियाओं का उचित आयोजन होता है।

५. वालकों की निदानात्मक जाँच की जाती है। इस प्रकार उनके अध्ययन की त्रुटियों एवं कमियों का पता लगाया जाता है।

६. वालकों को स्वतः अध्ययन करने के लिए अवसर प्रदान किए जाते हैं।

७. वालक अपनी त्रुटियों का सुधार स्वतः करते हैं।

८. शिक्षक बालकों पर अपने विचार नहीं थोपता, वरन् वह उनका पथ-प्रदर्शक होता है। वह कक्षा में घूम कर बालकों के कार्य का निरीक्षण करता है और उनकी कठिनाइयों को दूर करता है। इस योजना में शिक्षक को न कापी जाँचनी होती है और न श्यामपट इत्यादि का उपयोग करके समझाने की आवश्यकता होती है। अतएव, उसको इस बात के लिए पर्याप्त समय प्राप्त होता है कि वह जांच-पत्र इत्यादि बना सके।

९. इस योजना में बालक धोखा नहीं दे सकते; क्योंकि जांच-पत्र द्वारा शीघ्र ही यह पता लगा लिया जाता है कि उन्होंने कार्य ठीक ढंग से किया भी है या नहीं।

१०. इस योजना में बालकों के उत्तीर्ण करने का ढंग अच्छा है। बालक कक्षा में फेल होने के दुष्परिणामों से बच जाते हैं।

योजना के दोष

इस योजना में कुछ दोष भी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. योजना में विषयों के शिक्षण में लिखित कार्य पर अधिक बल दिया जाता है। भाषा इत्यादि के शिक्षण में मौखिक कार्य का महत्व है, जिसकी अवहेलना की जाती है।

२. इस योजना में जाँच-पत्रों का बनाना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिए भी अत्यंत योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है।

३. योजना में पर्याप्त परीक्षण-सामग्री की आवश्यकता होती है; क्योंकि इसमें मौखिक आवृत्ति का कोई महत्व नहीं होता। इस सामग्री को जुटाना कठिन है।

४. बालक शिक्षक के व्यक्तित्व से कोई लाभ नहीं उठा पाते; क्योंकि वे उन्हें मौखिक रूप से कोई शिक्षण प्रदान नहीं करते। शुद्ध उच्चारण से तथा सरल भाषा में बोलना कुछ नहीं सीख पाते।

इस योजना को व्यावहारिक रूप में रखना कठिन है। प्रत्येक बालक किसी भी कक्षा में होकर दूसरी कक्षा का कार्य संपादित कर सकता है। इस प्रकार एक बालक जो पाँचवीं कक्षा में है, वह गणित के विषय में चौथी कक्षा का कार्य कर रहा हो सकता है और छठी कक्षा में भाषा का कार्य। इस प्रकार शिक्षक को प्रत्येक बालक की प्रगति के अनुसार जाँच-पत्र आदि बनाने पड़ेंगे। इसे प्रत्येक बालक की विभिन्न विषयों में प्रगति के अनुसार कार्य बाँटना होगा। यह विधि उन कक्षाओं में, जिनमें बालकों की संख्या अल्प है, तो सफल हो सकेगी, परंतु बड़ी कक्षाओं में

जहाँ छात्रों की संख्या अधिक है, संभव नहीं है। यद्यपि भारत में इस शिक्षा पद्धति को कार्यान्वित करना कठिन है, तथापि हिंदी-शिक्षणार्थ हम इसे अपनावें, तो श्रेष्ठ होगा। हिंदी भाषा-शिक्षण के लिए यह शिक्षा-पद्धति अवश्य उपयुक्त है।



अध्याय २६

विलियम बर्ट

विलियम ए० बर्ट ने 'गैरीशाला-योजना' के आधार पर अपनी शिक्षा-पद्धति को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

इस योजना का नाम 'गैरी' नामक स्थान, जो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के इंडियाना प्रदेश में है और जहाँ बर्ट महोदय शिक्षाधीश थे, के नाम पर रखा गया। इस योजना का प्रचलन सन् १९०८ ई० में हुआ था। गैरी नगर एक नया बसा हुआ नगर था। यहाँ के विद्यालयों में स्थानाभाव था तथा फर्नीचर इत्यादि की भी कमी थी। बर्ट महोदय ने इन कमियों को दूर करने के लिए जो योजना चलायी, उसे ही 'गैरी योजना' कहते हैं। इस योजना में जितने बालकों के लिए कक्षा में स्थान होता है उससे दुगने बालक भर्ती किए जाते हैं। जैसे यदि कक्षा में बीस बालक बैठकर उचित ढंग से कार्य कर सकते हैं, तो चालीस बालक तक उस कक्षा में प्रवेश पा सकते हैं। इन चालीस विद्यार्थियों के शिक्षण के लिए समय-सारणी इस प्रकार बनायी जाती है कि जब आधे विद्यार्थी कक्षा में भाषा, गणित एवं इतिहास इत्यादि का शिक्षण पा रहे हैं तो शेष आधे विद्यार्थी कक्षा के बाहर खेल-कूद, व्यायाम एवं बागवानी इत्यादि में लगे रहते हैं।

गैरीशाला योजना के आधारभूत सिद्धांत

(१) गैरीशाला योजना में विद्यालयों के भवनों एवं अन्य सामग्रियों पर व्यय किए हुए धन का समुचित उपयोग करने के सिद्धांत को मान्यता दी जाती है। यदि संपूर्ण कक्षा को एक समय में एक प्रकार के विषयों में शिक्षा दी जाए, तो कक्षा के कमरे एवं सामग्री का उपयोग दिन के केवल एक-तिहाई भाग में होता है। दो-तिहाई भाग में उस समय जब बालक कक्षा के बाहर काम करते हैं, वह बेकार पड़े रहते

हैं। इस योजना द्वारा इन कमरों इत्यादि के उपयोग का समय पहले से बढ़ा कर दुगुना कर दिया गया है।

(२) शिक्षा देने में कार्य, खेल तथा अध्ययन तीनों को महत्त्व देने के सिद्धांत के आधार पर शैक्षिक व्यवस्था होती है। बालकों को कक्षा से बाहर कार्य करने का अवसर दे कर इस योजना में उनके सर्वतोमुखी विकास की ओर ध्यान दिया जाता है।

(३) सामाजिक विकास के सिद्धांत को उचित स्थान दिया जाता है। कक्षा के बाहर बालकों से जो कार्य कराए जाते हैं, उनका समाज से संबंध होता है। वे इन कार्यों को करके सामाजिक अनुकूलन के लिए तैयार हो जाते हैं।

(४) विद्यालयों में अनुशासन रखने की व्यवस्था जनतंत्रीय होती है। इस कारण बालक आत्मनियंत्रण करना सीख जाते हैं।

गैरीशाला-योजना की मुख्य विशेषताएँ

(१) चार आदर्श—गैरीशाला-योजना में चार मुख्य बातों पर बल दिया जाता है—(क)खेल तथा व्यायाम(ख)विद्यालय की प्रयोगशालाओं में अथवा सहकारी वस्तु-भंडार एवं दुकान में विशेष कार्य के करने पर (ग) सामाजिक तथा सृजनात्मक क्रियाओं में विद्यालय के अथवा समाज में भाग लेने पर तथा (घ) विशेष पाठ्य-विषयों को शिक्षा प्रदान करने पर। इन चारों आदर्शों को प्राप्त करने में यह आशा की जाती है कि बालक का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार का समुचित विकास हो जाएगा।

(२) विद्यालय-संगठन—इस योजना में विद्यालय के भवन का, कई प्रकार से उपयोग किया जाता है। इसमें प्रत्येक बालक को विद्यालय के पूरे समय में कक्षा में ही नहीं बैठा रहना पड़ता, वरन् वह आधे समय कक्षा में कार्य करता है और आधे समय कक्षा से बाहर। विद्यालय का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि विद्यालय की इमारत, पाठ्यक्रम, समय-सारणी इत्यादि दो भागों में विभाजित हो जाए।

(अ) विद्यालय-भवन—विद्यालय-भवन को दो भागों में बाँटा जाता है। एक में कक्षाएँ होती हैं और विभिन्न क्रियाओं के लिए सुसज्जित कक्ष होते हैं। कक्षाओं में पाठ्य-विषयों एवं कौशल का अध्यापन होता है। विशेष सामग्री से सुसज्जित कक्ष में सामूहिक एवं सृजनात्मक कियाएँ की जाती हैं। इस प्रकार के कक्ष में होते हैं—प्रयोगशालाएँ, चित्रालय, श्रोतागृह, व्यायामशाला, सहकारी वस्तु-भांडार एवं दुकान, क्रीड़ाक्षेत्र, उद्यान, पुस्तकालय एवं वाचनालय आदि। विद्यार्थियों का एक भाग जब कक्षा में कार्य करता है, तो दूसरा विद्यालय के भवन के दूसरे भाग में कार्य करता है।

(आ) समय-विभाग—विद्यालय का समय दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। पहले भाग में कक्षा का एक समूह कक्षा में पढ़ता है और दूसरा कक्षा के बाहर दूसरे कार्यों में संलग्न रहता है। फिर विद्यालय के समय के दूसरे भाग में ये दोनों समूह अथवा स्थान बदल लेते हैं।

(इ) पाठ्यक्रम—प्रत्येक छात्र के लिए दो प्रकार का पाठ्यक्रम रहता है। इस प्रकार पाठ्यक्रम में साधारण विषय एवं कौशल रहते हैं। ये बालक के बौद्धिक विकास के लिए होते हैं और दूसरे प्रकार के पाठ्यक्रम में उन सब क्रियाओं का आयोजन होता है, जो बालक के शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक विकास के लिए आवश्यक होती हैं। इस योजना में पाठ्यक्रम को इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि बालक का न केवल बौद्धिक विकास हो वरन् संवेगात्मक, शारीरिक एवं सामाजिक उन्नयन भी हो।

(३) अध्यापक—इस योजना में अपने विषय के विशेषज्ञ अध्यापक होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अध्यापक भी होते हैं जो औद्योगिक, व्यापारिक एवं नागरिक शास्त्रीय विषयों तथा पिछड़े हुए छात्रों के लिए नियुक्त किए जाते हैं। उनका कार्य पिछड़े हुए बालकों की विशेष देखरेख करना होता है।

(४) विद्यालय-प्रबंध—इस योजना में किंडरगार्टन से माध्यमिक कक्षाओं तक के समस्त विद्यार्थी एक ही विद्यालय में पढ़ते हैं। इस विद्यालय का प्रबंध एक ही प्रधानाध्यापक द्वारा होता है। इस योजना में किंडरगार्टन, प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्तरों पर विद्यालय-प्रबंध के लिए अलग से प्रधानाध्यापक की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(५) छात्र एवं छात्राएँ—गैरीशाला-योजना में सहशिक्षा का प्रबंध है तथा छात्र-छात्राएँ दोनों को कार्य करने की समान सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(६) अनुशासन—इसमें प्रजातांत्रिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। प्रधानाध्यापक अध्यापकों तथा छात्रों की समितियाँ बनवाता है, जिनकी सहायता से वह विद्यालय में अनुशासन रखने में सफल होता है।

(७) विद्यालय के कार्य का समय– गैरीशाला-योजना में विद्यालयों का कार्यकाल बढ़ा दिया जाता है। उच्च कक्षाओं में विद्यालय प्रातः ८-३० बजे से आरंभ होता है और सायंकाल के ५ बजे बंद होता है। इतना समय बढ़ा देने से बालकों को अवकाश के समय की क्रियाओं को विद्यालय में ही करने का समय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को सायंकाल एवं शनिवार को कार्य करने को भी

कहा जाता है, परंतु इस समय कार्य करना अनिवार्य न होकर उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है। फिर भी यह देखा गया है कि विद्यालयों में से ३/४ वालक शनिवार के कार्य के लिए तैयार रहते हैं।

(८) छुट्टियाँ—इस योजना में छुट्टियाँ वहुत कम होती हैं। वड़ी आयु के छात्रों को यह सुविधा होती है कि वे अपनी १२ सप्ताह की छुट्टी, वर्ष की किसी भी तिमाही में, जिसमें उन्हें कोई जीविकोपार्जन का कार्य करने के सवसे अधिक अवसर मिल सकते हैं, ले सकते हैं।

(९) व्यावसायिक शिक्षा—गैरीशाला-योजना जीविकोपार्जन की शिक्षा पर विशेष वल देती है। इसके लिए विभिन्न व्यवसाय में कुशल विशेषज्ञ शिक्षक नियुक्त किए जाते हैं। वालक अपने शिक्षकों के साथ कार्य करके व्यवसाय को सीखते हैं।

(१०) समाज द्वारा विद्यालय के भवन का उपयोग – विद्यालय का कार्य समाप्त होने पर वस्ती के लोग इसके भवन क्रीड़ाक्षेत्र एवं अन्य सामग्री का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार विद्यालय एवं समाज में संपर्क वना रहता है और विद्यालय समाज का सांस्कृतिक केंद्र वन जाता है।

गैरीशाला-योजना के गुण निम्नलिखित हैं —

(१) आर्थिक दृष्टि से इस योजना में विद्यालय के भवन एवं फर्नीचर इत्यादि पर कम धन व्यय होता है और इनका अधिक उपयोग होता है।

(२) इस योजना में व्यक्तिगत एवं कक्षाध्यापन का समन्वय प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है है।

(३) वालक के वौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक विकास के लिए शिक्षा दी जाती है। वालक के व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास पर वल दिया जाता है।

(४) अनुशासन-व्यवस्था इत्यादि का रूप जनतंत्रीय होता है।

(५) विद्यालय तथा समाज में संपर्क वना रहता है।

(६) वालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने का आयोजन होता है।

(७) वड़े वालकों की छुट्टियाँ इस प्रकार दी जाती हैं कि वे छुट्टियों में कुछ व्यवसाय अपना कर धनोपार्जन कर सकें।

गैरीशाला-योजना के दोष

(१) विद्यालय के कार्यकाल को वढ़ाने से वालकों तथा उनके परिवार में

संपर्क कम हो जाता है।

(२) किंडरगार्टन से लेकर माध्यमिक विद्यालयों तक एक ही समय विभाग से कार्य करना ठीक नहीं है। वालकों की आयु के विभिन्न स्तर पर उनकी क्षमताओं एवं रूचियों में अंतर होता है। समय-विभाग इन्हीं के अनुसार होना चाहिए।

(३) इसमें ऐसे अनुभवी एवं योग्य अध्यापकों की आवश्यकता होती है, जो अध्यापन-कार्य के साथ-साथ प्रयोगशालाओं इत्यादि में भी कार्य कराने में दक्ष हों। परंतु, ऐसे अध्यापकों का मिलना कठिन हो जाता है।

(४) इस योजना में व्यक्तिगत अध्यापन पर अधिक बल दिया जाता है। इस कारण अध्यापकों, पाठ्य-सामग्री इत्यादि पर व्यय बढ़ जाता है, जिससे यह योजना उतनी अल्पव्ययी नहीं, जितनी कि समझी जाती है।

उपसंहार

अंत में हम कह सकते हैं कि यह प्रणाली अनेक गुणों से युक्त है, परंतु इसमें कुछ ऐसे दोष हैं, जिनके कारण यह सर्वमान्य नहीं हो सकती। यदि इसके समय-विभाग के दोष को तथा अन्य दोषों को दूर दिया जाए तथा अनुभवी शिक्षक इस योजना में रूचि लेने लगें, तो इस योजना को अपनाया जा सकता है।

डेक्रोले

ओविड डेक्रोले ने जिस शिक्षा-पद्धति में अपना विचार प्रकट किया है, उसे शिक्षा-जगत् में 'डेक्रोले-योजना' कहते हैं।

ओविड डेक्रोले बेलजियम के रहने वाले थे। इनकी शिक्षा-पद्धति की सर्व-प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने इस आधारभूत सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि "बालक जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा पाता है।"

डेक्रोले-योजना के सिद्धांत

(१) बालक एक जीवित प्राणी है, जिसको सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना है। शिक्षा द्वारा बालक की तैयारी इस रूप में होनी चाहिए कि वह आनंद का अनुभव करे।

(२) बालक जीवित, वृद्धि एवं विकास करने वाला प्राणी है। जीवन के प्रति उसका प्रतिक्षण वृद्धि एवं विकास होता रहता है। यही कारण है कि वह प्रत्येक आयु-स्तर पर दूसरे आयु-स्तरों से अपने शारीरिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक रूप में भिन्न होता है।

(३) एक ही आयु के विभिन्न बालकों में भिन्नता होती है।

(४) कुछ ऐसी रुचियाँ हैं, जो एक विशेष आयु-स्तर पर ही जागृत होती हैं और एक विशेष आयु की विशेषता होती है।

(५) बालक की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ उसकी गतिवाही क्रियाएँ हैं। यदि इन गतिवाही क्रियाओं को उचित ढंग से प्रेरित किया जाए तथा इन पर बुद्धि का

नियंत्रण रखा जाए, तो ये क्रियाएँ आवश्यक रूप से और सब क्रियाओं से संबंधित हो जाती हैं।

डेक्रोले-योजना में विद्यालय की विशेषताएँ

डेक्रोले महोदय के अनुसार एक अच्छे विद्यालय में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए। ये विशेषताएँ ऊपर वर्णित पाँच सिद्धांतों पर आधारित हैं।

(१) विद्यालय को प्रकृति के निकट एक प्राकृतिक वातावरण में स्थापित किया जाता है। प्राकृतिक वातावरण में विद्यालय होने के कारण ही बालक वहाँ पर किए जाने वाले कार्यों में आनंद लेते हैं और उन्हें स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने के अवसर मिल जाते हैं।

(२) विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती तथा इनमें सह-शिक्षा होती है। इनमें पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थियों की आयु चार वर्ष से उन्नीस वर्ष तक होती है। सह-शिक्षा दस या बारह वर्ष तक बड़े विद्यालयों में चलती है।

(३) विद्यालय में कमरे, स्टुडियो और प्रयोगशालाएँ होती हैं। इनमें अध्ययन-संबंधी सामग्रियाँ एवं कुर्सी-मेजों इत्यादि का पर्याप्त प्रबंध होता है।

(४) विद्यालयों में इस प्रकार का शिक्षण-मंडल होता है जो सक्रिय, बुद्धिमान, सृजनात्मक कल्पना से पूर्ण योग्य तथा बालकों से प्रेम करने वाला एवं उनको समझने में रुचि लेने वाला होता है।

(५) बालकों का विभाजन ऐसे समूह में किया जाता है, जो यथासंभव एक दूसरे के समान होते हैं।

(६) इस योजना द्वारा शिक्षण प्रदान करने वाले विद्यालयों में प्रातःकाल के कुछ घंटे गणित का कार्य करने में, लिखने-पढ़ने और भाषा-शिक्षण इत्यादि में लगाए जाते हैं। शेष प्रातःकाल के समय को अभ्यास-कार्य में, निरीक्षण-पाठ में, ड्राइंग में तथा गायन इत्यादि के खेलों में लगाया जाता है। दोपहर में बालकों से शारीरिक कार्य कराए जाते हैं तथा उन्हें विदेशी भाषाओं का शिक्षण दिया जाता है।

(७) विद्यालय के वातावरण में कृत्रिमता तथा औपचारिकता नहीं होती। बालक इस वातावरण को सरलता से समझ लेता है। वह बहुत शीघ्र ही सीख जाता है कि उसे इस वातावरण में किस प्रकार व्यवहार करना है और यहाँ उससे किन बातों को ध्यान में रखने की आशा की जाती है। इन बातों को सीखने से उसमें आत्मनियंत्रण एवं आत्मानुशासन का विकास हो जाता है।

(८) आत्मविश्वास एवं मौलिकता को प्रोत्साहित करने के लिए बालक दूसरे बालकों को व्याख्यान देते हैं। इन व्याख्यानों के विषय का चुनाव स्वयं बालक करते हैं। परंतु, इसकी स्वीकृति शिक्षक से ले ली जाती है। बहुत से विषय-निरीक्षण पाठ या संबंध स्थापित करने वाले पाठों से संबद्ध होते हैं।

(९) विद्यालयों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक— दोनों प्रकार के कार्यों को महत्त्व दिया जाता है। सामूहिक कार्यों में भाग लेने से बालकों में सहयोग की भावना का विकास होता है।

(१०) इस योजना में विद्यालय के कार्य में अभिभावकों का सहयोग प्राप्त कर लिया जाता है।

डेक्रोले शिक्षण-विधि के आधार

डेक्रोले महोदय बालक की आवश्यकताओं को चार प्रकारों में विभाजित करते हैं। वे हैं—(१) भोजन की आवश्यकता (२) ऐसे तत्त्व जैसे गर्मी, सर्दी इत्यादि पर विजय प्राप्त करने की अवश्यकता तथा उनका जीवन पर प्रभाव को समझने की आवश्यकता (३) अपने शत्रुओं से बचाव की आवश्यकता तथा (४) काम करने एवं सक्रिय रहने की आवश्यकता। इनमें से प्रत्येक आवश्यकता विद्यालय में बालक के एक साल के कार्य की रुचियों का केंद्र बन जाती है।

इस प्रकार चारों आवश्यकताओं को रुचियों का केंद्र बनने में चार वर्ष लग जाते हैं। इसी कारण शिक्षण का एक चक्र चार वर्ष में पूर्ण हो जाता है। योजना में 'रुचियों का केंद्र' एक बड़ी समस्या से संबद्ध कर दिया जाता है। इसी समस्या के हल करने के लिए बालक को गणित, भाषा, इतिहास एवं भूगोल इत्यादि के विषयों को सीखना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक का सीखना जब उसकी किसी-न-किसी आवश्यकता से संबद्ध हो जाता है, तो उसकी रुचि जाग्रत हो जाती है। प्रत्येक 'रुचियों के केंद्र' की तरह चेष्टा होती है कि वह बालक की किसी-न-किसी आवश्यकता को उसके सीखने से संबद्ध कर दे, ताकि बालकों की रुचि जाग्रत हो जाए। इस प्रकार डेक्रोले की शिक्षण-विधि का आधार रुचियों का केंद्रीकरण कहा जा सकता है।

(१) डेक्रोले-योजना में जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा का सिद्धांत अपनाया गया है। यह सिद्धांत शिक्षण प्रदान करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धांत को अपनाने से विद्यालय का वातावरण कृत्रिमता तथा औपचारिकता से भरा हुआ नहीं हो पाता।

(२) इस योजना में घर और शिक्षालय के वातावरण में एकता एवं समानता स्थापित की जाती है। इसलिए बालक को विद्यालय में आने में कोई दुःख नहीं होता। वह प्रसन्नतापूर्वक विद्यालय में आता है और अपना कार्य करने में आनंद का अनुभव करता है।

३. बालक को विद्यालय में स्वतंत्रता प्राप्त होती है। वह घर की तरह यहाँ भी स्वतंत्रता का अनुभव करता है।

४. बालकों की रुचि को प्रधानता दी जाती है। जो कार्य उनको दिया जाता है, वह इस दृष्टि से परख लिया जाता है कि वे उसमें रुचि लेंगे, अन्यथा नहीं।

५. इस योजना में एक गुण यह भी है कि विद्यालयों में निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर शिक्षा दी जाती है। पुस्तकीय ज्ञान को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है।

६. शिक्षक बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यवहार करता है। वह उनकी रुचियों को महत्त्व देता है तथा शिक्षण देने में उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण वर्ताव करता है।

दोष

डेक्रोले-योजना का मुख्य दोष यही है कि इस योजना द्वारा शिक्षण देने में विषयों की शिक्षा बहुत कम हो जाती है। बालक को अधिक स्वतंत्रता मिलने से वह कार्य की ओर कम ध्यान देता है और खेल-कूद में अधिक समय व्यतीत करता है। रुचियों के केंद्रीकरण को शिक्षण-विधि का आधारभूत सिद्धांत बनाने के कारण भी इस योजना द्वारा बहुत से महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन अपूर्ण एवं अधूरा रह जाता है। इसके अतिरिक्त इस योजना की सफलता के लिए कुशल शिक्षकों की आवश्यकता है, जिनका मिलना सरल बात नहीं है।

द्वितीय खंड

स्वामी दयानंद

महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती भारतीय समाज की अलौकिक विभूति थे। हिंदू जाति और भारत राष्ट्र के उन्नायक के रूप में आपका प्रादुर्भाव उस समय हुआ, जब भारतीय संस्कृति विदेशी प्रभाव से आक्रांत थी। शिक्षित वर्ग पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध से अपना स्वाभिमान, आत्मगौरव और अपनी प्राचीन गरिमा को भूल रहा था। आपने भारतवासियों की इस मोहनिद्रा को भंग किया। भारतीय जनता को राष्ट्रीयता का मंगलमय पाठ पढ़ाया। हिंदू धर्म को जड़ता तथा परंपरागत विचार-धाराओं से मुक्त करने के निमित्त आपने १८७५ ई० में बंबई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज के माध्यम से आपने अपने आंदोलन को एक सुव्यवस्थित दिशा और गति प्रदान की।

जीवन-परिचय

स्वामी दयानंद का जन्म गुजरात प्रदेश के मोरबी राज्यांतर्गत टंकारा नामक स्थान में सन् १८२४ ई० में हुआ था। बाल्यावस्था से अपने जीवन के इक्कीस वर्ष तक ये पिता के साथ रहे। स्वामीजी के वचपन का नाम 'मूलजी' अथवा 'मूलशंकर' था। इनके पिता का नाम कृष्ण जी था। पांच वर्ष की आयु में इनको संस्कृत-अध्ययन आरंभ कराया गया था। आठ वर्ष की आयु में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार संपन्न हुआ। चौदह वर्ष की आयु में ही मूलशंकर को वेदांग और पाणिनिकृत व्याकरण का यथेष्ठ ज्ञान हो गया। इक्कीस वर्ष की आयु तक ये पिता के घर पर ही रहे। इस उम्र तक आपने संस्कृत के कई मूल ग्रंथों का अभ्यास किया तथा समस्त यजुर्वेद को कंठस्थ कर निरुक्त, पूर्व-मीमांसा और कर्मकांड के कतिपय ग्रंथों की पर्यालोचना में आप प्रवृत्त हुए। एक समय शिवरात्रि की मध्य रात्रि में शिवलिंग पर चढ़ते हुए चूहे को देख कर

शिवलिंग परमेश्वर है, इस विषय में इन्हें जोरदार संशय उत्पन्न हुआ और उन्होंने संसार के कर्ता, धर्ता, हर्ता परम शिव के अनुसंधान का संकल्प किया। उनके चित्त में अपनी बहन और चाचा की मृत्यु से संसार की असारता का दारुण चित्र दृढ़ता से समा गया और वैवाहिक बंधनों से अपने को सदा के लिए मुक्त करने के आशय से वे पितृगृह से भाग गए। गृहत्याग के अनंतर पंद्रह वर्षों तक वे उत्तरी भारत के अनेक तीर्थस्थानों, नदियों एवं वनप्रांतों आदि में ज्ञान की खोज में परिव्रज्या करते रहे। वेदांत-सार तथा वेदांत-परिभाषा का ज्ञान उन्होंने परमानंद परमहंस से प्राप्त किया। तंत्र के ग्रंथों का भी कुछ अवलोकन उन्होंने किया, किंतु उनमें बीभत्स अनुष्ठानों का वर्णन पढ़ कर वे अत्यंत खिन्न हुए। 'हठयोगप्रदीपिका' एवं 'योगबीज' आदि पुस्तकों का भी स्वाध्याय किया। उन्होंने शिवानंदगिरि तथा ज्वालानंदपुरी से योग का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया और इस प्रकार योगाभ्यास में प्रवीणता प्राप्त की। अपने जीवन के छत्तीसवें वर्ष में वे मथुरा के विख्यात महावैयाकरण प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद के आश्रम में आए। इस महान् विद्वान की सेवा में ढाई वर्षों तक निरत रहे। उन्होंने प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में, विशेषकर अष्टाध्यायी और महाभाष्य असाधारण अधिकार पर प्राप्त कर लिया। इसके बाद भारत-भ्रमण कर उन्होंने वैदिक संदेश का उद्घोष किया। सन् १८६९ में, पैंतालीस वर्ष की आयु में, काशी में तीन सौ पंडितों की सभा में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि मूर्तिपूजा वेदसमर्थित नहीं हो सकती। इस शास्त्रार्थ में विशुद्धानंद, बाल-शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों से उनकी मुठभेड़ हुई थी। वैदिक प्रचार के क्रम में मोनियर विलियम्स, ब्लावत्सकी एवं आलकाट आदि पश्चिमी विचारकों से भी उनका शास्त्रालाप हुआ था। कलकत्ता में केशवचंद्र सेन तथा संभवतः रामकृष्ण परमहंस से भी उनकी चर्चा हुई थी। अध्ययनोपरांत स्वामीजी के जीवन के अंतिम बीस वर्ष प्रचार-कार्य, शास्त्र-चिंतन, योगाभ्यास और धर्मांदोलनों में व्यतीत हुए। इसी बीच उन्होंने वेदों का अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा, जो यजुर्वेद के चालीसों अध्याय का तथा ऋग्वेद के प्रायः तीन-चौथाई अंशों का सांगोपांग रहस्योद्घाटन करता है। 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' का प्रणयन कर उन्होंने बड़ी धर्मसेवा की। उन्होंने 'वेदांगप्रकाश', 'अष्टाध्यायी-भाष्य', 'संस्कार-विधि', तथा 'गोकरुणनिधि' आदि पुस्तकों की भी रचना की। स्पष्ट है कि बाल्यावस्था के बाद का स्वामीजी का समस्त जीवन ज्ञानार्जन, योगाभ्यास, स्वाध्याय, ईश्वरानुसंधान और धर्म-प्रचार में ही व्यतीत हुआ। निस्संदेह वर्त्तमान भारत में उनका जीवन शंकराचार्य और रामानुजाचार्य का स्मरण कराता है।

देशधर्मोद्धारक दयानंद की मानसिक पवित्रता परमोत्कृष्ट थी। किशोरावस्था में ही विरक्त होकर वे यावदायु वेदाध्ययन और योगानुष्ठान में लगे रहे और

महापुण्यात्मा सत्पुरुष हो, उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता क्रियात्मक रूप में व्यक्त की। वैराग्य, लोलुपतावर्जन, स्वत्वाभिमानराहित्य, सर्वविधशुद्धि, कष्ट-सेवन द्वारा भी वैदिक पुरुषार्थ प्राप्ति में अहर्निश उद्यमशीलता और ईश्वर-प्रणिधान उनके जीवन-दर्शन के मूलमंत्र थे। निर्मल, परिशुद्ध जीवन ही उनका सर्वश्रेष्ठ संबल था। उनकी जिज्ञासावृत्ति भी अदम्य थी। ज्ञान की खोज के लिए उन्होंने पारिवारिक सुखों से मुख मोड़ लिया और अंततः सर्वमेघ यज्ञ कर कोपीनधारी हो गए। किंतु, आत्यंतिक ज्ञान की खोज में अपना बलिदान करने में उनको प्रेरणा प्रदान करने वाला तत्त्व केवल जागतिक कुतूहल ही नहीं था। कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं परमात्मा, जो समस्त प्राणियों के हृदयप्रदेश में अवस्थित है, उन्हें प्रेरणा दे रहा था। गीता में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—गीता, १८/६१

वे प्राणयाम के महान् अभ्यासकर्त्ता और समर्थक थे और मानते थे कि प्राणायाम करने से अशुद्धियों का नाश होता है और निर्मलता की प्राप्ति होती है। बल, पुरुषार्थ, पराक्रम बढ़ता है और आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है। एकांत शुद्ध देश में प्रतिदिन प्राणायामादि कर्म करने से अंतःकरण की पवित्रता प्राप्त होती है और अंत में आध्यात्मिक उन्नति की चरमावस्था—मुक्ति प्राप्त होती है।

'सत्यार्थप्रकाश' में उन्होंने बताया है कि कम-से-कम एक घंटा ध्यान अवश्य करना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के अनुष्ठान में आत्मा और अंतःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। उनका जीवन उनके द्वारा समर्थित आदर्शों पर एक व्यावहारिक भाष्य है। उनमें पवित्रता की अतिशयता थी। उनके चरित्र पर किसी भी प्रकार का कलिल-कलंक-कल्मष कदापि नहीं आ सका। पवित्रता की इस अमोघ दुरतिक्रम्य शक्ति ने उन्हें वह निर्भीकता प्रदान की थी, जिसकी गरिमा और दृढ़ता के सामने कोई शत्रु नहीं टिक सका। जिसको वे सत्य मानते थे, उसके प्रति किसी भी भय या प्रलोभन से वे कदापि पराङ्मुख न हुए।

वे शास्त्रीय ज्ञान में भी पारंगत थे। आर्य वाङ्मय का उनका अध्ययन गहरा था। व्याकरणशास्त्र और वेद में उनकी अप्रतिहत गति थी, किंतु बुद्धि का उन्मेष प्रकटित करने की पूर्ण क्षमता के अधिकारी होकर भी समाधि-सिद्धि के मार्ग से वे कदापि विमुख न हुए।

ज्ञानयोगी और आध्यात्मिक ऋषि होते हुए भी स्वामी दयानंद शारीरिक उन्नति का बड़ा ही प्रेरक उदाहरण उपस्थित करते हैं। शरीर मोक्षमंदिर है। अतः,

जो लोग घोर तप के नाम पर शरीर और इंद्रियों को निरर्थक कष्ट देते हैं, वे गीता की भाषा में अंतःशरीरस्थ ईश्वर को भी कष्ट देते हैं। ऋषि दयानंद का शारीरिक बल बड़ा जबर्दस्त था। वार करने वाले कर्णसिंह के हाथ से तलवार छीन कर उन्होंने तलवार तोड़ डाली। एक बार धोखा देकर कुछ मतलबी साधु उन्हें देवी-मंदिर में ले गए। वहाँ उन लोगों ने चारों ओर के दरवाजे बंद कर दिए और उनकी हत्या करने के लिए खड्ग ठीक करने लगे। उसी समय दयानंद ने अपने मजबूत चरण-प्रहार से एक किवाड़ को तोड़ डाला और बाहर चले आए। काशी में दुष्टों ने उनके ऊपर कृष्ण सर्प फेंका, किंतु उन्होंने पाद-प्रहार से सर्प को मार डाला। उनका शारीरिक बल प्रभूत था।

दयानंद का सामाजिक और राजनीतिक दर्शन

ऋषि दयानंद का सबसे बड़ा योगदान है, हिंदू जनता को सशक्त और सप्राण बनाना। सदियों के आक्रमण से कमजोर बनी हुई जनता को उन्होंने पुनरपि शक्ति का संदेश दिया। 'बिना बलवान् बने धराधाम से हमारा अस्तित्व मिटने वाला है', ऐसा उन्होंने पुकार-पुकार कर कहा। वर्त्तमान भारत में शक्तिवाद का जो अखंड प्रचार दयानंद और विवेकानंद ने किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं। अछूतपन के शाप से हिंदू जाति को मुक्त करने में उनका बड़ा योगदान है। अछूतपन को उन्होंने वेद-विरुद्ध माना। शिक्षा का वे व्यापक प्रसार चाहते थे। स्त्रियों को भी समुचित शिक्षा प्रदान कर मनुस्मृति की भाषा में उन्हें पूजनीय माना जाए, ऐसा उनका मंतव्य था। उनमें स्वदेश-प्रेम पर्याप्त मात्रा में था। वे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को भारतीय वाङ्मय की गरिमा से प्रभावित करना चाहते थे। अपने ग्रंथ में हिंदी भाषा का प्रयोग बताता है कि वे जनजागरण के अग्रदूत थे और प्राचीन आदर्शों को जनजीवन की भित्ति बनाना उनका कार्यक्रम था। नैतिक आदर्शों से युक्त होने पर स्वतः ही सामाजिक और राजनीतिक समृद्धि प्राप्त होगी, ऐसा उनका विश्वास था। इस प्रकार वे सर्वविध लौकिक, नैतिक और सामाजिक अभ्युदय के प्रबल उद्घोषक थे।

दयानंद का शिक्षा-दर्शन

महर्षि दयानंद का वैदिक दर्शन उनकी शिक्षा का आधार है।[1] उनका सुप्रसिद्ध नारा था 'वेदों की ओर लौटें।' वे वेद और वैदिक संस्कृति के महान् पोषक थे।

---

१. स्वामी दयानंद के अनुसार ईश्वर सत्, चित् और आनंद का प्रतीक है और सृष्टि के अणु-अणु में उसकी सत्ता व्याप्त है। ईश्वर निराकार, अनंत एवं सर्वशक्तिमान् है। वही विश्व का कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता है। वही अपने न्याय के आधार पर सभी आत्माओं को कर्मों का फल प्रदान करता है।

प्राचीन वैदिक परंपरा में शिक्षा वह है, जिससे विद्या मिलती है। दयानंद के अनुसार शिक्षा उसे कहते हैं जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मायन और जितेंद्रियता आदि सद्गुणों का प्रस्फुटन हो तथा अविद्या का नाश हो। उनके अनुसार शिक्षा के पाँच लक्षण हैं—

आत्मा अमर है। आत्मा नित्य है। आत्मा की ज्ञानशक्ति सीमित है। आत्मा को वेदना और आनंद का अनुभव होता है। ईश्वर और आत्मा पृथक्-पृथक् दो सत्ताएँ हैं। दोनों के कुछ समान और कुछ असमान धर्म और गुण हैं। किंतु, वे एक विस्तारक और विस्तृत के रूप में संबंधित हैं अतः, उनका पृथकत्व असंभव है। विश्व का भौतिक आधार प्रकृति है। योग-दर्शन के आधार पर स्वामी दयानंद ईश्वर, आत्मा और प्रकृति को अनादि मानते हैं। वे और उनके धर्म नित्य हैं। सृष्टि की रचना ईश्वर की स्वाभाविक निर्माणशक्ति की क्रियाशीलता है। पाप से अज्ञान उत्पन्न होता है और वही अज्ञान आत्मा को लौकिक बंधनों में फँसाए रखता है। अज्ञानतावश मानव सत्य को नहीं पहचान पाता और अनुचित कर्म करने लगता है। मूर्तिपूजा भी इसी अज्ञानता पर आधारित है।

स्वामी दयानंद ने स्वर्ग और नरक को इसी पृथ्वी पर माना। उन्होंने कहा कि भौतिक सुखों का भोग करना स्वर्ग है और लौकिक यातनाओं के द्वारा प्रपीड़ित होना ही नरक है। इनको स्वतंत्र लोक मानने को वे तैयार न थे। आत्मा के दुःख और यातनाओं के बंधन से मुक्त हो जाने को ही वे मोक्ष मानते थे।

स्वामी दयानंद के दर्शन का आधार चार वेद हैं। इनको वे ब्रह्म-वाक्य मानते थे। इनके अतिरिक्त वे किसी और आधार को विश्वसनीय नहीं समझते थे। ब्राह्मणीय शास्त्रों में वे उन पर विश्वास करते थे जिनका आधार किसी-न-किसी रूप में वेद रहे हों तथा उनको ऐच्छिक रूप में ज्ञान का स्रोत समझा जाता हो।

स्वामी दयानंद के अनुसार धर्म मन, वचन और कर्म से सत्य और न्याय का पालन कराने वाला होता है। धर्म के अंतर्गत उन्होंने भक्ति को भी महत्त्व प्रदान किया। उसके अनुसार ईश्वरभक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव है। किंतु, साथ ही इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित कर्म, सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य-पालन और सत्संगति आवश्यक है। उन्होंने गुणवान् पुरुषों के सहवास को अत्यंत महत्त्वपूर्ण बतलाया, जैसा कि अन्य भारतीय महापुरुषों ने भी सदैव माना है।

मानव-जीवन में निर्देशित सोलह संस्कारों के महत्त्व को स्वामी जी ने भी स्वीकार किया और उनको शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में सहायक माना। सभी लोगों को ये संस्कार मानने चाहिए। सभी रुढ़िवादी परंपराओं की अवहेलना करने की आवश्यकता नहीं। किंतु, स्वामी दयानंद ने मृत व्यक्ति के प्रति किए जाने वाले संस्कारों का विरोध किया। उनके अनुसार जो मर चुके हैं, उनके प्रति कुछ करने से कोई लाभ नहीं।

उपर्युक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि स्वामी दयानंद का कोई अपना दर्शन नहीं था। उनका दर्शन पूर्णतः वेदों पर आधारित था। उन्होंने उन वैदिक उपदेशों को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करके उन्हें सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाते हुए उनके महत्त्व को प्रकाशित करने का प्रयास किया।

(१) विद्या प्रदान करना (२) सभ्य बनाना (३) धर्मात्मा बनाना (४) जितेंद्रियता बढ़ाना (५) अविद्या से मुक्ति दिलाना। इस प्रकार शिक्षा में इहलौकिक और पारलौकिक सभी विद्याएँ आ जाती हैं। 'व्यवहारभानु' में स्वामी जी ने लिखा है—"जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति करे और अविद्या आदि दोषों को छोड़कर सर्वदा आनंदित हो, वही शिक्षा है। जिससे वह पदार्थ का स्वरूप यथावत् जान कर ग्रहण करने योग्य गुणों को प्राप्त करके अपने और दूसरों को सुखी बना सके, उसे विद्या कहते हैं। जिससे पदार्थों के स्वरूप का प्रतिकूल ज्ञान हो और जिसे जान कर अपना और दूसरों का हित कर लिया जाए, वह विद्या है।" 'सत्यार्थप्रकाश' के नवें समुल्लास में उन्होंने विद्या और अविद्या में अंतर किया है। अविद्या के कारण ही मनुष्य अनित्य को नित्य तथा अपवित्र को पवित्र समझता है। वैदिक विचारों के अनुसार विद्या वह है—जिससे मोक्ष की उपलब्धि हो तथा मनुष्य माया-मोह के बंधन से त्राण एवं निर्वाण प्राप्त कर सके। 'सत्यार्थप्रकाश' में उन्होंने बतलाया है— "जो मनुष्य अविद्या तथा विद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को जीत कर विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।" [1]

भारतीय संस्कृति के पूर्ण पोषक

महर्षि स्वामी दयानंद भारतीय संस्कृति के पूर्ण पोषक थे। उन्हें प्राचीन भारतीय आदर्श सर्वथा मान्य था। प्राचीन मान्यताओं को अपनाने में ऋषियों, मुनियों एवं अपने पूर्व-पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के समर्थन ही वे भारतीय जनता का कल्याण देखते थे। उनका सुप्रसिद्ध नारा था—'वेदों की ओर लौटें।' इस एक सिद्धांत मात्र में ही उनका समस्त जीवन-दर्शन छिपा हुआ है। वे क्या चाहते थे और किन मान्यताओं एवं आदर्शों को अपनाने में भारत के सभी वर्गों का कल्याण है, इसका आभास—'वेदों की ओर लौटें' से स्पष्ट हो जाता है। वे सच्चे अर्थ में आदर्शवादी थे। जीवन के समस्त पहलू में उनका एक उचित आदर्श था। महात्मा गांधी का भी कहना था—"गाँवों की ओर लौटें।" सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जीन जैक्स रूसो ने भी 'प्रकृति की ओर लौटें' का नारा लगाया था।

सादा जीवन : उच्च विचार पर बल

भारतीय संस्कृति के पूर्ण पोषक होने के ही कारण स्वामी जी 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धांत को अपनाते हैं और प्रत्येक बालक, शिक्षक, अभिभावक, माता-पिता को भी अपने जीवन में इस परम उज्ज्वल आदर्श को अपनाने पर बल

१. सत्यार्थप्रकाश, नवम् समुल्लास. पृष्ठ १२७।

देते हैं। शिक्षा का आदर्श वे मानते हैं 'सादा जीवन, उच्च विचार के संस्कार का निर्माण।' भारतीय संस्कृति की रक्षा का उपाय वे इसी आदर्श को स्वीकार करने में देखते थे। उन्होंने बड़े स्पष्ट रूप में कहा है—"मानव-जीवन का कल्याण और प्रगति इसी में है।" उनका कहना अक्षरशः सत्य है। आज भारतीय समाज से यह आदर्श लुप्त होता जा रहा है। चूँकि समाज में इस आदर्श का लोप हो रहा है, अतः विद्यालयों में भी इसका ह्रास स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय-स्तर के किसी भी युवक का जीवन अब प्रायः न तो सादा है और न उच्च भावनाओं से ओतप्रोत। आदर्शवाद का सर्वथा ह्रास हो गया है। पूरा भारत 'अनुशासन की समस्या' से चिंतित है। इसका एक मूल करण यह भी है कि आज के विद्यार्थियों में ही नहीं, अपितु शिक्षकों एवं अभिभावकों में भी कृत्रिमता की भावना जड़ जमाती जा रही है। हमारे समक्ष ऊँचा आदर्श नहीं है और हमारा जीवन आडंबरपूर्ण हो गया है। इस सामाजिक और मनोवैज्ञानिक मनःस्थिति में आमूल परिवर्तन करना ही पड़ेगा। विश्व में जितने भी महान् पुरुष हुए हैं, सभी के सामने महान् लक्ष्य था और वे उच्च विचारों से आप्लावित थे। महान् लक्ष्यों का उत्स उच्च विचार ही होते हैं। स्वयं स्वामी दयानंद सरस्वती का व्यक्तिगत जीवन अत्यंत सरल और पवित्र था। उच्च आदर्श के कारण ही उन्होंने करोड़ों भारतीय जनता का कल्याण किया और आज भी उनकी संस्था 'आर्य समाज' हिंदू सभ्यता एवं संस्कृति के रक्षा तथा पुनरुद्धार में अनवरत् संलग्न है।

विद्यार्थियों को उच्च आदर्शों की प्राप्ति तभी होगी, जब वे सरल जीवन व्यतीत करेंगे। रूसो, रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के समान ही स्वामी दयानंद ने भी बालक-बालिकाओं में मिथ्याडंबर को अशोभनीय बतलाया है। विद्यार्थी-जीवन को पवित्र और आदर्श रखने के लिए दिखावटीपन अथवा अन्य सजावट को त्यागना पड़ेगा। सादे जीवन और उच्च विचार का प्रभाव बहुत सूक्ष्म तथा स्थायी होता है। स्वामीजी ने विद्यालय-वातावरण को भी सरल एवं पवित्र बनाने पर बल दिया है। सन् १९०२ ई० में हरद्वार के पास जो कांगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना की गई, वह इस पवित्र उद्देश्य की ही पूर्ति करती है।

स्वामी दयानंद विद्यार्थियों के खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा सभी जगह सादगी के सिद्धांत को अपनाने को बतलाते हैं। उनका विचार था कि प्रत्येक विद्यार्थी को एक समान भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा दी जाए और यह तभी संभव होगा, जब हमारा रहन-सहन सादा एवं पवित्र बनेगा। उन्होंने शिक्षकों को संबोधित करते हुए मनुस्मृति के उस उद्देश्य को धारण करने को कहा है, जिसमें बतलाया गया

है कि गुरु अपने शिष्यों के मस्तिष्क में यह भावना उत्पन्न करें कि धन और सांसारिक सुखों से विमुख हुए बिना वास्तविक धर्म का ज्ञान संभव नहीं—(मनुस्मृति,अध्याय-२)। पवित्रता के प्रादुर्भाव के लिए विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने नित्य-कर्म के पालन का विधान किया है।

विद्यार्थी को विद्यालय में आते ही गायत्री मंत्र का उपदेश करके संध्योपासन, स्नान, आचमन एवं प्राणायाम आदि क्रियाएँ सिखायी जानी चाहिए। स्नान से शरीर के बाहरी अवयवों की शुद्धि होती है। स्नान भोजन के पूर्व किया चाहिए। प्राणायाम से आंतरिक शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। इससे मन आदि इंद्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। केवल पुरुषों को ही नहीं, बल्कि स्त्रियों को भी योगाभ्यास करना चाहिए। संध्योपासन को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। आचमन में जल को हथेली में लेकर उसके मूल और मध्य देश में ओष्ठ लगाकर वह जल ओष्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचाया जाता है जिससे कंठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति होती है। इसके पश्चात् मार्जन, अर्थात् मध्यमा और अनामिका उँगली के अग्र भाग से नेत्र आदि अंगों पर जल छिड़कने से आलस्य दूर होता है। इसके बाद प्राणायाम, मनसा परिक्रमण, उपस्थान, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति समझनी चाहिए। संध्योपासन एकांत देश में एकाग्रचित्त से किया जाना चाहिए। जंगल में अर्थात् एकांत देश में जाकर सावधान होकर जल के समीप स्थिर होकर नित्य कर्म को करता हुआ गायत्री मंत्र का उच्चारण अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार अपने आचरण को करे। यह सब मन से करना उत्तम है। संध्या और प्रातःकाल दोनों समय अग्निहोत्र किया जाना चाहिए। इसमें कम-से-कम एक घंटा समाधिस्थ होकर ध्यान करने के लिए दिया जाना चाहिए। स्वामी दयानंद ने अग्निहोत्र की विधि का सविस्तर वर्णन किया और उनका प्रयोजन भी समझाया है।

सार्वभौमिक और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था

स्वामी दयानंद के शिक्षा-दर्शन में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद का सफल समन्वय परिलक्षित होता है। वे सच्चे अर्थ में मानवतावादी थे। वे मात्र स्वदेश का ही नहीं; बल्कि समस्त विश्व का कल्याण चाहते थे। मानव-कल्याणार्थ ही उन्होंने अपना जीवन-त्याग दिया। सत्तर वर्ष की अवस्था में यूनान के महान् चिंतक महात्मा सुकरात ने भावी युग के सत्य और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अविचलित और निर्विकार भावमुद्रा में अदालत की कठोर आज्ञा को अंगीकार करते हुए जहर का प्याला चूमा था और उसे गले के नीचे उतार मृत्यु का सहर्ष स्वागत किया था। ठीक उसी प्रकार भारत के तपस्वी स्वामी दयानंद ने भी उनसठ वर्ष की अवस्था में जनकल्याणार्थ अपने को उत्सर्ग कर दिया और मृत्यु का आलिंगन

करते हुए कहा—"ईश्वर तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" वे वस्तुतः भारतीयों को सर्व-प्रकारेण उन्नत और सुखी देखना चाहते थे। अतः, वे सार्वभौम शिक्षा का प्रचार-प्रसार चाहते थे। जर्मन-विद्वान मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०) और इंगलैंड के स्वानुभववादी यथार्थवाद के प्रमुख पोषक रिचार्ड कास्टर (१५३१-१६११ ई०), के समान स्वामी जी ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि किसी देश की उन्नति तब तक नहीं हो सकेगी, जब तक वहाँ के भावी नागरिकों को पूर्णतः सुशिक्षित नहीं किया जाएगा। बालकों के लिए प्राथमिक स्तर पर ही अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। उस समय भारत स्वतंत्र नहीं था। परंतु, स्वामी जी भविष्यद्रष्टा थे। उन्होंने परतंत्र भारत में ही यहाँ के निवासियों को यह मंत्र दिया कि देश के कल्याणार्थ सार्वभौमिक शिक्षा की व्यवस्था करें। वे स्त्री-पुरुष तथा प्रत्येक वर्ग के बालकों के लिए शिक्षा आवश्यक मानते थे। राज्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे।

गुरुकुल प्रथा के पोषक

स्वामी दयानंद प्राचीन भारत में प्रचलित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आदर्श को अपनाने पर बल देते हैं। शिक्षा-प्रणाली के क्षेत्र में उन्होंने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आदर्श को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उनका निश्चित विचार था कि गुरुगृह-प्रणाली के द्वारा ही आदर्श शिक्षा संभव है। अतः, इसका प्रचलन हो। उन्होंने बतलाया कि सर्वांग विकसित व्यक्तित्व के आदर्श नागरिको के निर्माण के लिए यह परम आवश्यक है कि अपने देश में हम गुरुगृह-प्रणाली (गुरुकुल शिक्षा-पद्धति) को प्रश्रय और प्रमुखता प्रदान करें। इस पवित्र आदर्श को आधार मान कर ही आर्य समाज द्वारा हरद्वार गुरुकुल, वृंदावन गुरुकुल, देहरादून तथा बड़ौदा गुरुकुल की स्थापना की गई है। प्राचीन भारतीय गुरुकुल के आदर्शमय जीवन के संबंध में पाठकों को यहाँ थोड़ा अवश्य जान लेना अच्छा होगा; क्योंकि स्वामी दयानंद इस प्रणाली को ही भारतीय समाज के लिए आदर्श मानते हैं।

प्राचीन भारतीय गुरुकुल का आदर्श

प्राचीन भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में बालकों के बहुमुखी विकास का प्रयत्न किया जाता था। यहाँ मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रकाशवान बनाने के लिए शिक्षा का विधान किया गया था।

गुरुकुल के शांत, एकांत वातावरण में धार्मिकता की प्रबल धारा प्रवाहित होती रहती थी। प्राचीन भारत का निर्माण धार्मिक तत्त्वों के आधार पर हुआ था। प्राचीन भारतीयों का धार्मिक और नैतिक जीवन जगतप्रसिद्ध है। धार्मिक

जीवन के कारण उनका दृष्टिकोण भी सर्वथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक होता था। अतः, शिक्षा का उद्देश्य भी धर्म से पूर्णतः प्रभावित होता था। विद्यार्थी के अंदर धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करना ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य था। विद्यार्थियों का गुरुकुल जीवन धार्मिक एवं आध्यात्मिक आधार पर इस प्रकार गठित था कि अपने भावी जीवन में आध्यात्मवाद, आत्मनिग्रह एवं आत्मसंयम आदि सद्गुणों की ओर वे स्वतः प्रवृत्त होते थे।

प्राचीन भारतीयों के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप गुरुकुल आश्रमों में धार्मिक साहित्य की प्रधानता थी। धार्मिक साहित्य के पठन-पाठन के अतिरिक्त बालकों में शुद्ध और पवित्र आदतों के निर्माण पर बल दिया गया था। मनुष्य-जीवन की उन्नति में आदतों का ही तो सर्वप्रमुख स्थान है। आधुनिक शिक्षाशास्त्री एवं शिक्षा-मनोवैज्ञानिक आदतों की शैक्षणिक महत्ता (Educational Values of Habits) को पूर्णतः स्वीकार करते हैं, बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था की आदत जीवन-पर्यंत अपना रूप दिखाती रहती है। ब्राह्मणकालीन गुरुकुलों में धार्मिक आदत के विकास के लिए अंतेवासिन् ब्रह्मचारियों को प्रातःकाल शय्या त्याग कर, गुरु-चरणस्पर्शोपरांत प्रार्थना और पूजा में संलग्न होना पड़ता था। पुनः सायंकाल सामूहिक पूजा-पाठ, चिंतन, मनन, संध्या और व्यायाम आदि का विधान था। पर्वों एवं धार्मिक उत्सवों के अवसर पर विशेष अनुष्ठान की आयोजना होती थी। उस दिन उन्हें उपवास तथा व्रत करना पड़ता था। इस प्रकार विद्यार्थी मनसा, वाचा और कर्मणा धार्मिक जीवन में संलग्नशील रह कर विद्याभ्यास तथा स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होते थे। चिंतन एवं मनन की क्रिया द्वारा प्राप्त विषय-संबंधी ज्ञान को तो वे पुष्ट करते ही थे, भावी जीवन के लिए भी उनमें स्वस्थ आदतों का निर्माण और विकास भी होता था।

धार्मिक प्रवृत्ति के विकास के साथ चारित्रिक एवं नैतिक विकास ब्राह्मणकालीन शिक्षा का प्रमुख वैशिष्ट्य था। आर्य चरित्र की मर्यादा एवं नैतिक संवर्द्धन को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते थे। उनके जीवन के समस्त कार्यकलाप श्रेष्ठ चारित्रिक निर्माणार्थ मर्यादा के लिए हुआ करते थे। अपने चारित्रिक उन्नयन के अभाव में प्राचीन भारतीय सब कुछ नीरस समझते थे। आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी चरित्र-गठन को परमावश्यक मान कर पाठ्यक्रम में उसे प्रमुख स्थान देते हैं। विद्यालय-प्रबंध आज ऐसा होना चाहिए कि उसकी धारा में विद्यार्थियों के चारित्रिक विकास की प्रबल लहर प्रवाहित हो। महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद अपने शिक्षा-दर्शन में चरित्र की महत्ता की सम्यक् विवेचना करते हुए विद्यार्थियों के लिए इसको आवश्यक मानते हैं। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर, जॉन कालविन, जॉन लॉक एवं मान्टेसयु आदि भी चरित्र

की उच्च मर्यादा के वर्द्धन हेतु शिक्षा-संस्थाओं को सर्वदा सचेष्ट रहने का आदेश देते हैं। चरित्र शिक्षा की कसौटी है। इमर्सन ने लिखा है— "किसी भी देश की सभ्यता की सच्ची कसौटी वहाँ की जनसंख्या या नगरों की विशालता या वहाँ की फसलें नहीं हैं, अपितु यह है कि वहाँ के मनुष्यों का चरित्र कैसा है।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मणकालीन शिक्षा सचेष्ट बनी रही।

गुरुकुल आश्रम के ब्रह्मचारियों की दैनिक दिनचर्या ही सत्य एवं तप की आधारशिला पर इस भाँति अवस्थित थी कि स्वतः चारित्रिक विकास होता था। पाठ्यक्रम तो धार्मिक तत्त्वों से भरा हुआ था ही, गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही प्रत्येक ब्रह्मचारी को वेद-मंत्र, प्रार्थना, संध्या आदि संबंधी श्लोक कंठस्थ करा दिए जाते थे। आश्रम का धार्मिक वातावरण, आचार्य के पवित्र जीवन का सहवास, धार्मिक ग्रंथों एवं धार्मिक उपदेशों का पठन-पाठन एवं श्रवण, धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों, प्रार्थना, हवन तथा सर्वोपरि गुरु-शिष्य का पिता-पुत्र के समान स्वाभाविक, पवित्र तथा आत्मीय निकट संबंध इस प्रकार सुनिर्दिष्ट था कि विद्यार्थी का आध्यात्यिक तथा बौद्धिक विकास तो होता ही था, साथ ही उनका चारित्रिक गठन एवं वैयक्तिक उत्कर्ष भी होता था। भारतीय संस्कृति आज अपने महिमामय स्वस्थ तथा गौरवपूर्ण उन्नत स्वरूप में, हजारों वर्ष पश्चात् भी जगत् के समक्ष उपस्थित है। इसके अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण यह भी है कि गुरुकुल आश्रम के ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का निर्मल-धवल चरित्र धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिपूर्ण होता था।

गुरुकुल आश्रमों के पवित्र जीवन का निर्माण, धार्मिकता, नैतिकता और चारित्रिक महत्ता की आधारशिला पर हुआ था। विद्यार्थी यहाँ आचार्यों के साथ रहते थे। विद्योपार्जन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता था। पाठ्यक्रम के विभिन्न बौद्धिक एवं व्यावसायिक; पारलौकिक विषयों का अध्ययन कर वे आत्म-सम्मान, आत्मविश्वास, आत्मनिग्रह आदि मानवोचित गुणों से अपने को पूरित कर एक श्रेष्ठ मानव के रूप में अपने को समाज के समक्ष प्रस्तुत करते थे।

गुरुकुल-जीवन अत्यंत सरल और धार्मिक होता था। विद्यार्थी भूमि या काठ पर सोते थे, ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्यागते थे। उनके भोजन और वस्त्र साधारण थे, परंतु दिनचर्या बहुत नियमित एवं असाधारण हुआ करती थी। गुरु-चरणों में विद्याध्ययन तथा नियमित दिनचर्या के फलस्वरूप उनमें उत्तरदायित्व की प्रबल भावना प्रस्फुटित होती थी। गुरुकुल आश्रम का जीवन समानता, सहानुभूति, भ्रातृत्व एवं सामूहिकता की भावना पर आधृत था। यहाँ अमीर तथा गरीब सभी समान रूप में रहते एवं विद्याध्ययन करते थे। यहाँ छात्रों के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न की जाती

थी कि धार्मिक जीवन, श्रेष्ठ नैतिक चरित्र तथा पवित्र ज्ञान के फलस्वरूप ही उनके व्यक्तित्व का आदर होगा और अपने भावी जीवन में वे अपनी सभ्यता-संस्कृति की रक्षा करते हुए लौकिक एवं पारलौकिक सुख के भागी बनेंगे।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में बालकों के समाजीकरण के तत्वों का पूरा-पूरा समावेश था। तत्कालीन विद्वानों और समाज के कर्णधारों ने यह अनुभव किया था कि अंततोगत्वा विद्यार्थी को समाज में प्रवेश करना है, वहाँ का सदस्य बन कर उन्हें जीवन-यापन करना है, अतः उनका शिक्षा-विधान ऐसी सुनिर्मित था कि उनमें समाजीकरण की भावना स्वतः आविर्भूत होती थी। शिक्षा का कार्य केवल सांस्कृतिक मानसिक एवं बौद्धिक उन्नयन ही नहीं था, अपितु इसके द्वारा विद्यार्थियों को इस योग्य बनाया जाता था कि वे समाज में जा कर एक सफल नागरिक का जीवन व्यतीत करें

आचार्य एवं शिष्य के सुमधुर, पवित्र और आत्मीय व्यवहार तथा गुरुकुल जीवन के सुसंगठन के फलस्वरूप उनमें अनुशासन, आज्ञाकारिता, नियमबद्धता सामाजिकता, सामूहिकता, भ्रातृभावना एवं परोपकारिता आदि गुण स्वतः जाग्रत होते थे। विद्यार्थी दूसरों के सुख-दुःख में भाग लेना अपनी बाल्यावस्था से ही सीख जाते थे। भिक्षाटन के लिए जाते समय वे समाज में प्रविष्ट होते थे तथा समाज के रहन सहन, रस्म-रिवाज, बर्ताव आदि से परिचित होते थे। इससे वे समाज की वास्तविक रूपरेखा से परिचित तो होते ही थे, उनमें विनय, शील एवं विवेक आदि गुणों का भी अभ्युदय होता था। इस प्रकार अपनी शिक्षा के पश्चात् जब ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे, तो शीघ्र ही समाज का अभिन्न अंग बन जाते थे। समाशत यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार गुरुकुल के इन सामाजिक नियमों एवं पहलुओं की गतिविधि के सफल परिचालन में भाग लेने में सफल और उत्तीर्ण होते थे।

गुरु-शिष्य संबंध

वैदिककालीन शिक्षा के समान ब्राह्मण-युग में भी गुरु और शिष्य का आत्मिक, आध्यात्मिक एवं सुमधुर संबंध बना रहा। पिता-पुत्र के समान, गुरु-शिष्य का यह पवित्र धार्मिक संबंध अत्यंत मधुर था। ("The relation between the teacher and taught were the happiest kind. The pupil loved up to his precepter as his father." Ancient Indian Educatoin. Radhakumud Mukerji, Page 101)

गुरु-शिष्य का यह संबंध वस्तुतः पारिवारिक था। शिष्य, गुरुगृह में परिवार के सदस्य के रूप में शिक्षा पाता था। जिस प्रकार पिता के संरक्षण में पुत्र जीवन-

यापन करता है, सीखता है और सयाना होता है, उसी प्रकार आचार्य की अवधानता में शिक्षार्थी का जीवन सर्वथा सुरक्षित था। वह गुरु के यहाँ रहता और उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान ग्रहण करता था। शिक्षक अपने शिष्य को स्वस्थ एवं अस्वस्थ सभी अवस्थाओं में उसके हित की कामना करते थे तथा भोजन, वस्त्र और आवास आदि की व्यवस्था करते थे। शिक्षा निःशुल्क मिलती थी, अतः विद्यार्थी बदले में गुरु-आश्रम में श्रम और शारीरिक सेवा करते थे। गुरु-सेवा में किसी प्रकार की भी त्रुटि उसकी कर्त्तव्यहीनता का सूचक थी। वैदिककालीन शिक्षा-प्रणाली के समान ब्राह्मणकाल की शिक्षा-व्यवस्था में भी आचार्य का पद सर्वाधिक श्रेष्ठ बना रहा। 'आचार्य देवो भव'—की पवित्र भावना आज भी वर्तमान बनी रही। गुरुगृह का समस्त कार्य-भार सँभालना ब्रह्मचारी का दायित्व था। साथ ही, उसको गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना पड़ता था। शिष्य गुरु का कभी विरोध नहीं कर सकता था। उसे गुरु की पत्नी और पुत्रों का भी आदर करना होता था।

शिष्य की इस महान् कर्त्तव्यनिष्ठा के बदले में गुरु को भी शिष्य से पुत्रवत् व्यवहार करने का विधान था। गुरु की वाणी विनम्र होनी चाहिए, उसे अपने शब्दों अथवा कार्यों से शिष्य को किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिए। गुरु का यह पवित्र कर्त्तव्य था कि अपने यहाँ योग्य छात्र के पहुँचने पर वह बिना किसी दुराव-छिपाव के उसे सच्चा ज्ञान प्रदान करे।

गुरुकुल की शिक्षण-पद्धति

वैदिक युग के समान शिक्षण-पद्धति इस समय भी प्रमुखतः मौखिक ही बनी रही। विषयों को कंठस्थ करा दिया जाता था; क्योंकि तब भी ग्रंथ लिखित रूप में नहीं थे। इस प्रकार शिक्षा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप में हस्तांतरित होती थी। विद्यार्थी, आचार्य के समीप बैठते थे और आचार्य व्याकरण, वेदमंत्रों, न्याय आदि के मंत्रों का उच्चारण करते थे तथा विद्यार्थीगण इसका अनुकरण करते थे। विद्यार्थियों द्वारा मंत्र के कंठाग्र कर लेने पर गुरु उसकी व्याख्या करते थे। भाष्य, दृष्टांत, कथा-कहावतों तथा तुलना आदि द्वारा विषयों को समझाया भी जाता था।

ब्राह्मणकाल में सूत्र-पद्धति, प्रश्नोत्तर-पद्धति और शास्त्रार्थ-पद्धति भी पठन-पाठन की प्रमुख विधियाँ थीं।

शिक्षा-प्रणाली व्यक्तिगत थी। प्रत्येक शिष्य को अलग-अलग शिक्षा दी जाती थी, परंतु सामूहिक रूप में भी समय-समय पर उन्हें विषय रटाया और समझाया जाता था। एक आचार्य के पास दस से अधिक विद्यार्थी नहीं होते थे।

अतः, उन पर व्यक्तिगत ध्यान देते हुए उनके आंतरिक और वाह्य विकास के लिए वे उन्हें सुविधापूर्वक शिक्षित करते थे। शिक्षा-विधि का मौखिक रूप इसी से संभव भी था।

मानसिक परीक्षण के लिए शास्त्रार्थ की पद्धति प्रचलित थी। इसके अलाव बड़े छात्र छोटे छात्र को विषय समझाते थे। इसका नाम 'आग्रिम-शिष्य-पाठन-पद्धति' था। परीक्षा का रूप भी मौखिक ही था।

गुरुकुल के शारीरिक दंड

प्राचीन गुरुकुल आश्रम का शिक्षक-शिष्य संबंध धार्मिक, नैतिक, सहयोग, विनय तथा शील के उच्च आदर्श पर अवस्थित होने के फलस्वरूप श्रेष्ठ कोटि का माना जाता था। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों को दंडित करने की समस्या ही नहीं उपस्थित होती थी; क्योंकि छात्रों में अनुशासनहीनता और आचरणहीनता नहीं के बराबर थी। ये सादा जीवन एवं उच्च विचार (Simple living and high thinking) के सिद्धांत को अपनाते थे। आधुनिक शिक्षा का यह मनोवैज्ञानिक तत्व भारतीयों को उसी युग में मान्य था। मनु, गौतम, विष्णु-जैसे आचार्यों ने शारीरिक दंड का निषेध किया है। तथापि याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों ने विशेष परिस्थिति में शारीरिक दंड देने को कहा है। दंड के लिए पतली बेंत या रस्सी काम में लायी जाती थी। आपष्तंव में दंड की निम्नांकित विधियाँ बतायी गई हैं—उपवास, शीतल जल में स्नान तथा गुरुदृष्टि में निर्वासन। ग्राम पाठशालाओं में कपड़े के कोड़े, फटे हुए बाँस के टुकड़े तथा तलहथी पर मारने का विधान था। यह ताड़ना बुरी नहीं थी। गुरुकुल में कभी-कभी ऐसे छात्र भी आ जाते थे, जिनका कुल-शील तथा अन्य संस्कार अच्छा नहीं होता था और वे विद्यालयीय वातावरण में दूषण उत्पन्न करते थे। ऐसी अवस्था में दंड का प्रयोग आवश्यक हो जाता था।

प्राचीन गुरुकुलों की विशेषता

गुरुकुल में विद्यार्थियों की संख्या कम होती थी। अतः, शिक्षक उन पर व्यक्तिगत ध्यान दे कर उनका व्यक्तिगत विकास कर पाते थे। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा वैयक्तिक शिक्षा होने के कारण छात्रों के लिए अत्यंत लाभदायक थी और उनमें संपूर्ण गुणों के विकास एवं उत्थान की गुंजाइश थी। आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी वालकों के समुचित व्यक्तित्व-विकास के लिए व्यक्तिगत ध्यान की बात बतलाते हैं। शिक्षा-जगत में अनुकरण के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत की आज सर्वत्र चर्चा है। बालक अनुकरण द्वारा सीखते हैं। प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में भी आचार्य के धार्मिक, नैतिक श्रेष्ठताओं से युक्त उज्ज्वल चरित्र तथा निश्छल व्यवहार और आश्रम का

पवित्र वातावरण युवकों के मस्तिष्क पर अत्यंत स्थायी छाप छोड़ता था। प्राचीन आर्यों ने ऐसा अनुभव किया था कि छात्रों के सुगठित, संयमित और मर्यादित व्यक्तित्व के निर्माण में अनुकरणशीलता तथा सहवास का बड़ा महत्त्व है।

वर्त्तमान काल में प्रचलित 'योजना-पद्धति' (प्रोजेक्ट मेथड) उस काल में भी प्रचलित थी। गुरु अपने गुरुकुल में अपने शिष्यों द्वारा कुछ न कुछ आवश्यक योजना संपादित कराते थे। यज्ञ की तैयारी में वेदी के लिए ईंट बनाना, वेदी की लंबाई-चौड़ाई के आधार पर आकृति निश्चित करना, विभिन्न आवश्यक सामग्रियों को इकट्ठा करना, समिधा के लिए लकड़ी लाना तथा यज्ञशाला की सजावट आदि की व्यवस्था शिष्यों को ही करनी पड़ती थी। विद्यार्थी आश्रम का मकान भी बनाते थे। यहाँ हम देखते हैं कि शिक्षा का रूप सामूहिक था। इस प्रकार विद्यार्थी वास्तुकला, गणित, रेखागणित, सामान्य विज्ञान, धातु और लकड़ी आदि का ज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेते थे।

इन गुरुकुलों की व्यवस्था आचार्यों द्वारा की जाती थी। कोई बाहरी सत्ता हस्तक्षेप नहीं करती थी। आचार्यों की तेजोमय आभा के समक्ष राजा और महाराजा तक नतमस्तक होते थे। इन लोगों के दिए दान और जनता के सहयोग से विद्यालय का व्यय-वहन होता था।

प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली वैदिक और ब्राह्मण दोनों कालों में निःशुल्क बनी रही। सूर्यपुराण और मनु दोनों ने द्रव्य लेकर विद्या-दान करने वाले शिक्षकों को धिक्कारा है तथा उन्हें पाप का भागी होने वाला बतलाया है।

इस प्रकार प्राचीन गुरुकुलों में हमें उन कतिपय मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का दर्शन होता है, जिनकी महत्ता का प्रतिपादन वर्त्तमान शिक्षा-मनोवैज्ञानिक करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि ई० पू० २००० वर्ष पहले भारतीय समाज मनोविज्ञान की आधुनिक महत्ता से अवगत था तथा अपनी शिक्षा-संस्थाओं में उसका सफल प्रयोग भी करता था। महर्षि दयानंद इस आदर्श के पोषक हैं।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में भी 'उपनयन संस्कार' सर्वथा आवश्यक था। वैदिक एवं ब्राह्मणकालीन शिक्षा में बालक-बालिकाओं की शिक्षा के पूर्व सर्वप्रथम उनका उपनयन-संस्कार होता था। वैदिककालीन शिक्षा में गुरु को यह आदेश था—"उपनीय गुरुः शिष्ये शिष्टाचारस्य शिक्षयेत" अर्थात् गुरु का यह धर्म था कि शिष्य का उपनयन करके शिष्टाचार की शिक्षा प्रदान करे। शिष्टाचार के अंतर्गत उठना-बैठना, चलना, बातचीत करना, अभिवादन करना, साधारण एवं दैनिक जीवन में सहपाठियों एवं गुरुजनों के साथ व्यवहार एवं बर्ताव करना, परिवार एवं समाज के

श्रेष्ठजनों का आदर आदि बातें हुआ करतीं। वस्तुतः शिष्टाचार ही शिक्षा का प्रथम दर्शन है तथा मनुष्यता का पहला रूप है।

दयानंद और उपनयन-संस्कार

उपनयन का अर्थ है—समीप जाना। इस संस्कार के द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिए उनका शिष्य बनता था। उपनयन चिरकाल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अनिवार्य नहीं था, परंतु वैदिक साहित्य के अध्ययन और संरक्षण के लिए उसे आवश्यक बना दिया गया था। ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्र-ग्रंथों के निर्माण के बाद धार्मिक साहित्य इतना विशाल हो गया कि उसकी रक्षा के लिए समूचे समाज का सहयोग आवश्यक प्रतीत हुआ। अतः, उपनयन-संस्कार को तीनों वर्गों के लिए आवश्यक बना दिया गया। इसको नहीं मानने पर व्यक्ति समाज से वर्जित एवं बहिष्कृत समझा जाता। (मनु २/३९)। आज शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाता है, परंतु उस समय धर्म ने इसे आवश्यक बनाया था। स्वामीजी उपनयन-संस्कार को बालक-बालिकाओं के लिए आवश्यक मानते थे। उनके विचारानुसार माता-पिता तथा शिक्षकों को सर्वप्रथम बालकों को गायत्री मंत्र सिखलाना चाहिए और उपनयन-संस्कार कराना चाहिए। तत्पश्चात् संध्योपासन की पूर्ण रीति स्नान, आचमन और प्राणायाम का ज्ञान कराया जाए। संध्योपासन की क्रिया ... स्थान में एकाग्र मन से की जाए। स्वामीजी ने बालक-बालिकाओं दोनों के लिए प्राणायाम की उपयोगिता बतलायी है।

चरित्र-निर्माण पर बल

महर्षि दयानंद के कथनानुसार शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य उच्च चरित्र-निर्माण है। मनुष्य का चरित्र उसके विभिन्न कार्यों और इच्छाओं की समष्टि, उसके मन के समस्त झुकावों का योग है। सुख और दुःख उसकी आत्मा पर होकर क्रमशः जिस प्रकार धारावाहित होते हैं, वे उस पर अपनी छाप तथा संस्कार अपना छोड़ जाते हैं। इन विभिन्न छापों की समष्टि का फल ही मनुष्य का चरित्र है। हम वही हैं, जैसे हमारे विचार हैं। अतः, बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में विद्यार्थियों के चरित्र-बल अत्यधिक विकसित हों, इसके लिए माता-पिता, अभिभावकों एवं शिक्षकों को पूर्ण सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कांगड़ी गुरुकुल की स्थापना (१९०२) हरद्वार के पास गंगातट पर की गई। स्वामीजी ने खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा, सभी जगह सादगी के सिद्धांत को अपनाने के लिए कहा है। उनका विचार था कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक समान भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था हो। यह तभी सभव होगा, जब हमारा रहन-सहन सादा और पवित्र होगा। उन्होंने शिक्षकों को संबोधित करते हुए मनुस्मृति के उस उद्देश्य को धारण करने को

कहा है, जिसमें बतलाया है कि गुरु अपने मस्तिष्क में यह भावना उत्पन्न करें कि धन और सांसारिक सुखों से विमुख हुए विना वास्तविक धर्म का ज्ञान संभव नहीं।

सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री हरवर्ट (१७७६–१८४१ ई०) ने भी शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य 'आदर्श चरित्र-निर्माण' ही माना है। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस आशय के शब्द लिखे हैं "शिक्षा का उद्देश्य मानव को नैतिक गुणों से सपन्न करना है। नैतिकता का आशय धार्मिकता से भिन्न है। मानवीय गुणों की संपन्नता ही नैतिकता हैं।" उनके विचारानुसार—शिक्षा के एकमात्र एवं संपूर्ण का सार नैतिकता में निहित हैं। हरवर्ट शिक्षा को गुणों के विकास एवं परिमार्जन का आधार मानते हैं। उनकी नैतिकता में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तथा धर्म की प्राप्ति के भाव निहित हैं।

दयानंद और पाठ्यक्रम

ब्राह्मणकालीन शिक्षा केवल आध्यात्मिक, धार्मिक एवं चारित्रिक उन्नयन के लिए ही नहीं, वल्कि भौतिक समृद्धि के लिए भी सचेष्ट थी। अतः, पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों के साथ-साथ भौतिक विषयों को भी यथोचित स्थान दिया गया था। प्राचीन आर्यों ने अपने पाठ्यक्रम में चारो वेद (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद), राशि (संख्या-विज्ञान), देव (शकुन-विज्ञान), तिथि, वाकेवाक्य (तर्क), एकायण (नीति), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, (स्वरविद्या), छंदस्, भूतविद्या, शस्त्र-विद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवता जन विद्या (विषविज्ञान तथा प्रेतविद्या, जिसमें सुगंध बनाना, नृत्य, गायन, प्रमोद आदि विषय सम्मिलित थे) तथा श्राद्ध आदि विषयों के पठन-पाठन का विधान किया था। तत्कालीन शिक्षकों ने तर्क, कानून एवं दर्शन आदि की शिक्षा के साथ-साथ न्याय की शिक्षा के भी प्रवंध किए थे। इस प्रकार ब्राह्मणकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम धार्मिक तत्त्वों से पूर्ण था। हस्तकला, चित्र-कला एवं नृत्यकला की शिक्षा शूद्रों को दी जाती थी। अतः, इसका विशेष विकास नहीं हुआ।

प्राचीन भारतीयों ने अपने विस्तृत पाठ्यक्रम के द्वारा अपना धार्मिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक, नैतिक आत्मिक, तार्किक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन का संवर्द्धन एवं उन्नयन किया। वालक के संपूर्ण जीवन की तैयारी के लिए शिक्षा की रूपरेखा वनायी गई थी।

स्वामी दयानंद ने कहा कि वालक का प्रथम उपनयन-संस्कार घर पर और द्वितीय पाठशाला में संपन्न होना चाहिए। माता-पिता तथा गुरु—को सर्वप्रथम

वालक को गायत्री मंत्र सिखलाना चाहिए। तत्पश्चात् संध्योपासना की पूर्ण रीति इसके अन्य आवश्यक आचरणों सहित आचमन, स्नान और प्राणायाम का ज्ञान कराया जाता। संध्योपासना की क्रिया एकांत स्थान में एकाग्र मन से की जाए। उन्होंने प्राणायाम को वालकों तथा वालिकाओं—दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी वताया है।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा तथा व्यवहारकुशलता के लिए शिक्षक को उत्तरदायित्व वतलाया है।

स्वामी दयानंद ने देवयज्ञ[1] की रीति का वृहत् वर्णन करते हुए वालकों को इसे नित्य प्रति करने का अनुरोध किया। साथ ही विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य-व्रत[2] का मनुस्मृति[3] के अनुसार पालन करना आवश्यक वतलाया। उनके अनुसार वेद तथा उनसे संवंधित विषयों का अध्ययन ९, १२, ३६ वर्ष तक अथवा उन पर पांडित्य प्राप्त करने तक करते रहना चाहिए।

तैत्तरीय उपनिषद्[4] से विवरण प्रस्तुत करते हुए स्वामी दयानंद ने अध्यापक को वालकों में विद्यार्थी-जीवन-संवंधी गुणों को उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित सुझाव रखे हैं:—शिक्षक विद्यार्थियों से कहें, "मेरे बच्चो—सदा सत्य वोलो। सदाचारी वनो। पढ़ने-पढ़ाने के लिए सदैव तत्पर रहो। पदार्थ-ज्ञान तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में जीवनपर्यंत लगे रहो। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत अपने गुरु को उसकी आवश्यकतानुसार कुछ अर्पित करो। तत्पश्चात् अपने घर जाकर विवाह करो। किंतु, सत्य से कभी विमुख न होना और स्वास्थ्य के प्रति सदैव सचेष्ट रहना। धन-संचय की प्रवृत्ति न अपनाना। पढ़ने से जी न चुराना। माता-पिता, गुरु और अतिथि की सेवा करना। गुणों से प्रेम करना और पापों से दूर रहना हमारे गुणों को आत्मसात् कर लो। हमारी त्रुटियों और अपूर्णताओं को अपने में न आने दो। दानशील वनो। सर्वदा सुशिक्षित और पवित्र ब्राह्मणों के सत्संग में रहो तथा उन पर पूर्ण विश्वास करो। विश्वास या अविश्वास से देना सीखो। नाम के लिए या लोक-लज्जा के डर से देना सभी प्रकार से उचित है। अपने वचन का पालन करने के लिए ही दो, लेकिन सर्वदा देना उचित है। किसी प्रकार का संदेह होने पर उन

1. The feeding of fire with boiled pure butter and aromatix substances or sanitary purposes.
2. Observance of perfect celibacy and abstance from the eight types of intercourse with the opposite sex as mentioned above.
3. Manusmriti, Chapter III.
4. Taitreya Upanishd (VII 9. 1-4).

ब्राह्मणों का अनुकरण करो, जो ईर्ष्या से परे परित्यागी और दानी हैं तथा जिनको प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान की पूर्ण जानकारी है और सत्य की रक्षा के लिए सदैव निरंतर प्रयास करते रहते हैं। यही वैदिक सिद्धांत है। इसका पालन करना चाहिए। वेदों के इस परामर्श पर ही मानव-जीवन गुणसंपन्न बन सकता है।"[1]

स्वामी दयानंद ने शिक्षकों के लिए कहा कि उनको अपने शिष्यों के मस्तिष्क में यह भावना उत्पन्न करनी चाहिए कि बिना धन और सांसारिक सुखों से मुख मोड़े वास्तविक धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।[2] शिक्षकों को ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्ग और वर्ण के बालकों को भी शिक्षा देनी चाहिए। समाज के किसी भी वर्ग के बालक शिक्षा से वंचित न रखे जाएँ—चाहे वह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी हो। सभी वर्गों में शिक्षा और संस्कृति का प्रसार होने पर ही अनुचित कर्मों के अभिशाप से समाज रक्षित रह सकता है। अतः, आवश्यक है कि सभी वर्गों के बच्चों को उत्तम शिक्षा और वास्तविक धर्म के सिद्धांतों से अवगत कराया जाए।

स्वामी दयानंद के अनुसार निम्नांकित पाँच परीक्षाओं द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता-परीक्षा लेनी चाहिए :—

(१) वेद तथा ब्रह्म का स्वरूप।

(२) प्राकृतिक नियम।

(३) सुशिक्षित तथा पवित्र व्यक्तियों के सत्संग और उपदेश।

(४) निजी आत्मिक विश्वास और पवित्रता। स्वयं के लिए जो अच्छा है, वही जगत के लिए अच्छा है और स्वतः जिससे कष्ट का अनुभव हो, वह अन्य के लिए भी कष्टप्रद है। किसी के भी चारित्रिक निर्देश के निमित्त ये सिद्धांत नितांत उपयोगी हैं।

(५) निम्नांकित आठ प्रमाण—

(१) प्रत्यक्ष ज्ञान, (२) अनुमान, (३) सादृश्य, (४) इतिहास, (५) व्यापक से व्याप्त का तर्क, (६) संभावना, (७) निषेध और (८) साक्ष्य।

न्यायशास्त्र के आधार पर स्वामी दयानंद ने उपर्युक्त पाँच बौद्धिक प्रमाणों का सविस्तर वर्णन किया है और बताया है कि इन्हीं प्रमाणों के आधार पर कोई भी अपने कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। शिक्षकों को इन्हीं पाँचों प्रमाणों के अनुसार विद्यार्थियों को दी गई शिक्षा की परीक्षा करते रहना

---

१. (१) तैत्तरीय, ०७ अनु० ११ कं १—४

२. म[illegible] ़सरा अध्याय, १३।

चाहिए। साथ ही, विद्यार्थियों को भी कोई ज्ञान प्राप्त करने में इन्हीं प्रमाणों को आधार मानना चाहिए। अन्यथा वे केवल रट्टू मात्र बन कर रह जाएँगे और योग्य विद्यार्थी न बन सकेंगे। किसी भी पुस्तक को पाठ्यविषयों में सम्मिलित करने से पूर्व शिक्षक को इन प्रमाणों के आधार पर उसका भी परीक्षण कर लेना चाहिए।

अब आगे हम स्वामी दयानंद के अनुसार शिक्षा-व्यवस्था के विषय पर प्रकाश डालेंगे।

अध्ययन की व्यवस्था

(१) सर्वप्रथम बालक को माता-पता या गुरु द्वारा पाणिनि के ध्वनि-सिद्धांत की शिक्षा देनी चाहिए तथा उसके शुद्ध उच्चारण के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए।

(२) ध्वनि–सिद्धांत के उपरांत बालक को व्याकरण का अध्ययन कराना चाहिए। व्याकरण में अष्टाध्यायी, धातुपथ, गणपथ, आनाद्विकोष और महाभाष्य हो। इस प्रकार पाणिनि और पतंजलि के व्याकरण-संबंधी उपर्युक्त पाँच ग्रंथों का अध्ययन तीन वर्ष में पूरा होना चाहिए।

(३) तत्पश्चात् आठ मास के भीतर बालक को यास्क के निघंटु और निरुक्त की शिक्षा देनी चाहिए।

(४) इसके बाद चार मास के अंतर्गत ही विद्यार्थी को छंदशास्त्र की शिक्षा देनी चाहिए। ग्रन्थ पिंगल के अनुसार काव्य के निर्देशक सिद्धांतों का अध्ययन करना चाहिए।

(५) फिर मनुस्मृति, बालमीकि रामायण और विदुरनीति तथा महाभारत के चुने हुए अंश पढ़ने चाहिए। इनके अध्ययन में एक वर्ष से अधिक समय नहीं लगना चाहिए।

(६) इसके पश्चात् विद्यार्थियों को छह शास्त्रों का उनके प्राचीन सिद्ध पुरुष ऋषियों द्वारा की गई व्याख्यासहित अध्ययन करना चाहिए। किंतु, वेदांत के अध्ययन में दो वर्ष का समय लगाना चाहिए।

(७) तत्पश्चात् विद्यार्थी वेदों का चारों ब्राह्मणों (ऐत्तरेय, शतपथ, सम और गोपथ) के साथ अध्ययन करें। इसके अध्ययन में उच्चारण एवं अर्थ का विशेष ध्यान रखा जाए। इस अध्ययन में छह वर्ष से अधिक समय लगना चाहिए।

(८) वेदों के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी, उपवेदों का अध्ययन करें। उपवेद चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद, अथर्ववेद।

इस प्रकार स्वामी दयानंद ने भावात्मक और क्रियात्मक अध्ययन द्वारा सभी सारतत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने पर बल दिया। फलतः यह अध्ययन विद्यार्थी को गुणवान बनाने के अतिरिक्त उसकी राष्ट्रीय समृद्धि और संपन्नता में भी पर्याप्त योग प्रदान कर सकता है।

उपवेदों के अध्ययन के पश्चात् स्वामी दयानंद ने कहा कि विद्यार्थियों को ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्योतिषशास्त्र के अंतर्गत गणित, बीजगणित, रेखागणित, भूगोल, भूतत्त्वविद्या तथा खगोलविद्या आदि सम्मिलित हैं। इन सबका अध्ययन दो वर्ष के अंतर्गत हो जाना चाहिए।

स्वामी दयानंद के कथनानुसार बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में लगभग सभी विज्ञान और कलाओं में पांडित्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इसी प्रकार वे अपना जीवन सुखी एवं सभ्य बना सकते हैं। अध्ययन के लिए स्वामी दयानंद ने केवल ऋषियों की पुस्तकों को पढ़ने के लिए कहा है। अन्य पुस्तकों को वे व्यक्तिगत ईर्ष्या के प्रतिफल मानते एवं उन्हें ज्ञान का वास्तविक आधार नहीं समझते थे।

स्वामी दयानंद ने विद्यार्थियों और शिक्षकों के ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में जो भी बाधाएँ उपस्थित हों, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया है। दुष्ट प्राणियों की संगति, बुरी आदतें, बचपन में विवाह, पूर्ण ब्रह्मचर्य की कमी, शासकों, अभिभावकों और विद्वानों के ज्ञान-प्रसार के प्रति उदासीनता, अधिक भोजन, रात्रि में अधिक समय तक जागरण, मंद अध्ययन-गति आदि ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में बाधाएँ प्रस्तुत कर सकते हैं। इन पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। उन्होंने तत्कालीन सांप्रदायिक और स्वार्थी ब्राह्मणों की कटु आलोचना की; क्योंकि ये ब्राह्मण अपने समय में क्षत्रिय और अन्य वर्गीय व्यक्तियों को अशिक्षित रख कर उन पर अपने स्वार्थी फंदे को डाले रहना चाहते थे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन ब्राह्मणों ने असत्य और मिथ्या शिक्षा के प्रचार का आश्रय ग्रहण किया था।

स्वामी दयानंद ने इस बात पर बड़ा बल दिया कि शासक और जनसाधारण दोनों को ही इस प्रकार की बाधाओं के निराकरण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए, जिससे सभी स्त्रियों और पुरुषों के लिए शिक्षा द्वारा उचित ज्ञान, सत्य और वास्तविक धर्म को समझने की व्यवस्था हो सके।

दयानंद और स्त्री-शिक्षा

स्वामी दयानंद स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। उन्होंने कहा कि वेदों में कहीं पर भी ऐसा निर्देश नहीं है कि नारियाँ वेदों के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त हैं। अतः,

स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप में शिक्षा-प्राप्त करने का समान अधिकार है। उन्होंने अथर्ववेद का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बालिकाओं को भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि राज्य-संबंधी व्यापारों के निर्वाह, न्याय-व्यवस्था के संचालन तथा वैवाहिक जीवन के कर्त्तव्यों का उचित पालन कर सकने के लिए आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष दोनों के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो। ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियों को सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वैश्य स्त्रियों को व्यापार और अर्थ-संबंधी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा शूद्र स्त्रियों को पाकशास्त्र में पारंगत होना चाहिए।

जिस प्रकार पुरुष व्याकरण, धर्म और अपने व्यवसाय-संबंधी ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के लिए भी व्याकरण, धर्म, चिकित्सा, गणित और अर्थ-शास्त्र आदि का अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार अध्ययन द्वारा वे सत्य, उचित व्यवहार, अपने पति के प्रति सद्व्यवहार, अपने बच्चों को पालने तथा उनकी व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा के निरीक्षण और गृहकार्य की कुशलता का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। इसीलिए स्वामी दयानंद ने उन अभिभावकों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, जो अपनी संतान की शिक्षा, ब्रह्मचर्य-पालन और चरित्र-निर्माण के लिए समुचित प्रयास करते हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' में उन्होंने लिखा है—"माता-पिता, आचार्य अपनी संतान और शिष्य को सदा उपदेश करें और यह भी कहें कि सत्कर्मों को ग्रहण और अपकर्मों का त्याग करो। जो सत्य जानें, उनका प्रकाश और प्रचार करें।" शिक्षा के लक्ष्य बतलाते समय दयानंद ने उसके सामाजिक पहलू पर भी ध्यान रखा है। शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत विकास ही नहीं है, बल्कि समाज में ऐसे नर-नारियों का निर्माण करना है, जो अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति पूरा कर सकें। उन्होंने समाज में सभी के लिए शिक्षा का समर्थन किया है। शिक्षित व्यक्ति समाज का सफल सदस्य होता है। दयानंद के शब्दों में, "जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, सुंदर शील, स्वभाव युक्त, सत्य भाषण आदि नियम-पालन युक्त और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्या-दान से संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से परोपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं!"

दयानंद और सह-शिक्षा

उपर्युक्त विचारों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी तथा आधुनिक अन्य शिक्षाशास्त्रियों के समान ही स्वामी दयानंद ने भी बालिकाओं की शिक्षा को आवश्यक बतलाया है। माँ प्रथम शिक्षिका होती है। उन्होंने अथर्ववेद

का विवरण प्रस्तुत करते हुए वतलाया है कि बालिकाओं को भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए शिक्षा की उपलब्धि करनी चाहिए। परंतु, उन्होंने सह-शिक्षा का विरोध किया है। उनके विचारानुसार बालक-बालिकाओं के विद्यालयों की दूरी प्रायः छह मील होनी चाहिए। पुरुष विद्यालयों में स्त्री अध्यापिका का होना भी उन्हें अमान्य था। वस्तुतः वे चाहते थे कि बालक-बालिकाएँ मनसा, वाचा, कर्मणा से अखंड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करें। ब्रह्मचर्य-व्रत में उन्होंने अलौकिक चमत्कार देखा था। अतः, सह-शिक्षा का उन्होंने विरोध किया है।

भारत में सह-शिक्षा का प्रश्न आज सर्वथा विवादास्पद है। कुछ लोगों का विचार है कि सह-शिक्षा अनिवार्य है, जबकि कतिपय विचारशील व्यक्ति इसका विरोध करते हैं। सह-शिक्षा का विरोध करते हुए कहा जाता है कि इसमें लड़कियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता; क्योंकि लड़कों की संख्या अधिक होने के कारण वे विद्यालय के विभिन्न कार्यक्रमों में स्वच्छंदतापूर्वक भाग लेने में असमर्थ हो जाती हैं। कारण, दोनों में स्वभावतः अंतर है। इस परिस्थिति में उनमें हीन भावना (Inferiority Complex) का समावेश प्रारंभ होता है। स्त्री--पुरुष का कार्य--स्थान सर्वथा भिन्न है। अत;, बालिकाओं को उनके भावी पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन--यापन के निमित्त उन्हीं विषयों की शिक्षा दी जाए, ताकि वे एक आदर्श पत्नी एवं आदर्श नारी के रूप में अपना स्थान बना सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति होने से ही आदर्श समाज और आदर्श राष्ट्र की कल्पना संभव है। सह--शिक्षा के विरोधियों का यह विचार है कि बालक-बालिकाओं के साथ- साथ पढ़ने-लिखने और रहने से उनका नैतिक और चारित्रिक पतन भी संभव है; क्योंकि उनकी अपरिपक्व बुद्धि एवं उनका असंतुलित मस्तिष्क जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से सर्वथा अनभिज्ञ है। उनके असामाजिक कार्यों के क्या भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं, वे इसको गंभीरतापूर्वक सोचने में अक्षम होते हैं।

सह-शिक्षा के समर्थकों का विचार है कि समाज में स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, अतः एक साथ की शिक्षा उनके भावनात्मक जीवन को संतुलित रूप में विकसित करने में सहायक सिद्ध होती है। सह-शिक्षा से बालक अधिक संयत एवं सौजन्यमय व्यवहार की चेष्टा करते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जब युवक-युवतियों को अलग-अलग रखा जाएगा, तो उनमें एक दूसरे से मिलने की चाह अधिक बलवती होगी तथा इस इच्छा के दमन के कारण उनमें कुंठा तथा मानसिक विकृतियों का सूत्रपात होगा। सह-शिक्षा के कारण युवक-युवतियों में पारस्परिक समझ और सद्भावना की जागृति होती है तथा उनका भावनात्मक संबंध ठीक प्रकार से

विकसित होता है। जहाँ तक मात्र सह-शिक्षा के कारण नैतिक और चारित्रिक पतन का प्रश्न है, विद्यालय के बाहर भी इसका ज्वलंत उदाहरण देखने को खूब मिलता है। वस्तुतः विद्यालय के बाहर समाज में ही यह अधिक देखने को मिलता है। देश-विदेश की ऊँची डिग्रियाँ प्राप्त समाज के तथाकथित महान् एवं प्रौढ़ व्यक्तियों में भी अनैतिकता और चरित्रहीनता पायी जाती है। अतः, यह प्रश्न 'चरित्र, नैतिकता और धर्म' तथा व्यक्ति को पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ उसकी शिक्षा-दीक्षा की योजना से संबद्ध है। इसके लिए सह-शिक्षा दोषी नहीं। फिर चरित्र और नैतिकता एक बड़ी व्यापक चीज है। इसका अर्थ उस परिवार में जो पच्छिमी सभ्यता से अधिक प्रभावित है, उस परिवार से जो रूढ़िवादी सभ्यता में अत्यधिक आस्था रखता है तथा उसके पालन में ही अपना कल्याण देखता है, भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त भारत की आर्थिक दशा ठीक नहीं। अतः, लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग विद्यालयों की स्थापना तथा उनके विद्यालय-संगठन (अध्यापक, विद्यालय-भवन-निर्माण, आवासगृह, विद्यालय की अन्य आवश्यक सामग्रियों के साथ-साथ प्रबंध में खर्च आदि) के लिए अतिरिक्त आर्थिक स्रोत जुटा पाना संभव नहीं होगा।

सह-शिक्षा का प्रश्न द्वंद्वात्मक है। पक्ष और विपक्ष दोनों मतावलंबियों का कहना बहुत हद तक ठीक है। प्राचीन गुरूकुल शिक्षा-प्रणाली में सह-शिक्षा का विरोध किया गया है। वहाँ छात्रों को छात्राओं से सर्वथा अलग रहने का विधान है। लड़के और लड़कियों की तुलना क्रमशः आग और मक्खन से की गई है। आग और मक्खन दो विरोधी तत्त्व हैं। आग की गर्मी में मक्खन अपने रूप में स्थित नहीं रह जाता है। भगवान बुद्ध भी संघारामों में स्त्रियों को रखने के पक्ष में नहीं थे। जैसा कि हमलोग पीछे देखते हैं, बौद्ध धर्म के नाश के कारणों में एक प्रमुख कारण स्त्रियों का संघों में प्रवेश और विलासी जीवन था। परंतु, महात्मा गांधी सह-शिक्षा के पूर्ण समर्थक थे। उनका विचार था कि स्त्री और पुरूष दोनों को जब एक दूसरे का सहयोगी बनना है, जीवन की तैयारी जब एक साथ करनी है, तब बालक-बालिकाओं की शिक्षा का विधान अलग-अलग नहीं किया जाए। उन्होंने अपनी बुनियादी तालीम में अलगाव का कोई विधान नहीं रखा है। उनका कहना था कि जब शिक्षक-शिक्षिकाएँ उच्च चरित्र धारण कर पवित्र जीवन-यापन करेंगे, विद्यालय का वातावरण पूर्णतः पवित्र रखा जाएगा तथा युवक-युवतियों पर निगरानी बरती जाएगी, तब चारित्रिक पतन की संभावना स्वतः कम होगी। प्रकृतिवादी भी सह-शिक्षा के पक्षपाती हैं। बालक-बालिकाओं को अलग-अलग रख कर शिक्षा की व्यवस्था करना वे अस्वाभाविक मानते हैं। उनका विश्वास है कि स्त्री-पुरूष का सहवास प्रकृति के नियमानुकूल

है। इस स्वाभाविकता को जान-बूझकर विद्यालयों में नष्ट करना अप्राकृतिक और हानिकर है। प्रकृतिवादियों की धारणा है कि इस प्रकार के प्रयत्नों से बालक तथा बालिकाओं में अनावश्यक ही अभद्र उत्सुकता, कल्पना, इच्छा तथा क्रिया आदि का उत्प्रेरण होता है। निरंतर का सहवास असभ्य, अमंगल और अस्वस्थ उत्सुकताओं-कामनाओं को अधिकांश में उत्पन्न ही नहीं होने देता। इस सिद्धांत के आधार पर ही प्रकृतिवादी सह-शिक्षा का समर्थन करते हैं।

सह-शिक्षा के संबंध में एक निश्चित नियम निर्धारित करना मुश्किल है। किशोरावस्था में सह-शिक्षा को प्रश्रय नहीं देना ही श्रेयस्कर है। जहाँ विद्यालय की कोई व्यवस्था नहीं हो, वहाँ की बात परिस्थितिविशेष में कुछ भिन्न हो सकती है। अगर माता-पिता की इच्छा हो, तो वे ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं। प्राथमिक वर्गों तथा विश्वविद्यालयों की शिक्षा में सह-शिक्षा का प्रचलन किया जा सकता है। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के पृष्ठ ५६ पर इस आशय का अपना मंतव्य प्रकाशित किया है कि बालिकाओं के शारीरिक, सामाजिक और मानसिक दृष्टिकोण की उन्नति एवं प्रगति के लिए प्रत्येक प्रांत में जहाँ तक संभव हो, बालिका विद्यालयों की अलग स्थापना की जाए; क्योंकि मिश्रित विद्यालयों की अपेक्षा उन्हें यहाँ अधिक सुविधा मिलेगी।

("It seems to us, therefore that there can be no hard and fast policy with regard to co-education and that in this respect the pattern of education in our schools cannot be very much in advance of the social pattern of the community where the school is located. We are of opinon that where it is possible separate school for girls should be established as they are likely to offer better opportunity than in mixed schools to develop their physical, social and mental aptitudes and all states should open such schools in adequate numbers. But it should be open to girls whose parents have no objection in this matter, to avail themselves of co-educational facilities in boys schools." S. E. C. R. Page 59.)

दयानंद और अवकाश का सदुपयोग

महर्षि दयानंद के मतानुसार अभिभावकों को अपने बालकों के संबंध में सर्वदा सावधान रहना चाहिए कि वे अपने अवकाश के समय को किस प्रकार और

कहाँ समाप्त करते हैं। सत्संगति को उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है। विद्यार्थियों के लिए एकांत-सेवन की भी उन्होंने आलोचना की है। जीवन में उन्नति के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा को अत्यधिक आवश्यक बतलाया है। पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। वासनाओं को वश में कर लेने पर शुभ फल प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण ही हमारे देश में प्रत्येक वस्तु नष्टप्राय हो रही है। ब्रह्मचर्य के पालन से कोई भी विद्या थोड़े समय में प्राप्त की जा सकती है, एक बार सुनी अथवा जानी हुई बात को याद रखने की अचूक स्मरणशक्ति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रबल कार्यशक्ति तथा अमोघ इच्छाशक्ति रहती है। ब्रह्मचर्य द्वारा अद्भुत प्रभुता प्राप्त होती है। अतः प्रत्येक बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य के अभ्यास की शिक्षा देनी चाहिए, तभी उनमें श्रद्धा एवं विश्वास की उत्पत्ति होगी। सदैव तथा सभी अवस्थाओं में मन, वचन तथा कर्म से पवित्र रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपवित्र कल्पना उतनी ही बुरी होती है, जितना कि अपवित्र कार्य। ब्रह्मचारी को मन, वचन तथा कर्म से शुद्ध रहना चाहिए। स्वामी दयानंद को मनुस्मृति के मंगलमय उपदेश मान्य हैं, जिनके अनुसार ब्रह्मचारी नित्य स्नान से पवित्र होकर देव, ऋषि तथा पितृ-तर्पण और देवताओं का पूजन एवं अग्नि-होत्र करे। ब्रह्मचारी शहद, मांस, सुगंधित वस्तु, फूलों के हार तथा सिरके की भाँति बनी हुई कोई वस्तु और प्राणियों की हिंसा आदि कर्मों को त्याग दें।

"नित्य स्नात्वा शुचिः कुर्याद्वियेवार्पितृतर्पणम्।
देवताऽयर्चनं चैव समिदा धान मेव च।
वर्जयेन्मधु मासं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।"

(मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक-संख्या १७६ तथा १७७)

दयानंद और 'धर्म की साधना के लिए स्वास्थ्य'

स्वामी दयानंद ने मन, वचन और कर्म से भारतवासियों का उत्थान चाहा। उन्होंने अखंड ब्रह्मचारी रह कर अपना समस्त जीवन अपने समाज के कल्याणार्थ व्यतीत किया। समाज के प्रत्येक पहलू को उन्होंने अपनी अलौकिक दृष्टि से देखा और कल्याणार्थ मार्ग प्रशस्त किया। किशोर नौजवानों के दुर्बल शरीर पर भी उनकी दृष्टि गई। भारतीय बालक-बालिकाओं के कमजोर स्वास्थ्य को देख उन्हें बहुत दुःख होता था।

'स्वास्थ्य' को उन्होंने जीवन का एक आवश्यक अंग तो माना ही, धर्म की साधना के लिए भी इसे आवश्यक बतलाया है। कमजोर, कायर, हतप्रभ किशोर या

नवयुवक अपने धर्म का पालन नहीं कर सकता। पापलीला से वह अपने को तो बचा ही नहीं पाएगा, फिर समाज और राष्ट्र की क्या रक्षा करेगा ? इसी दृष्टिकोण से उन्होंने सह-शिक्षा का विरोध किया है। वस्तुतः वे चाहते थे कि बालक और किशोर बलवान बनें। अतः, ब्रह्मचर्य पर उन्होंने बल दिया। दिव्य शरीरयुक्त ब्रह्मचारी नौजवान ही भारतमाता की लाज की रक्षा कर सकेगा। धार्मिक जीवन भी वही बिता सकेगा, जो शरीर से स्वस्थ है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ विचारों का प्रस्फुटि-करण होता है। भारतीय शास्त्र मंडुकोपनिषद् का वाक्य है—"शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्"—धर्म की साधना के लिए पुष्ट, बलवान और स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। अस्वस्थ अपने धर्म और मर्यादा की रक्षा करने में भी असमर्थ होता है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। शरीर से क्षीण और दुर्बल व्यक्ति स्वस्थ बातों को सोच भी नहीं सकते। स्वामी विवेकानंद ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है, "शारीरिक दुर्बलता ही हमारे दुःखों के कम-से-कम एक तिहाई भाग का कारण है। हम आलसी हैं, हम मिल कर कार्य नहीं करते, हम कई आदर्शों को तोते की भाँति दुहराते हैं, परंतु तदनुकूल काम नहीं करते। केवल कह देना परतु उसके अनुसार आचरण वरतना हमारा स्वभाव नहीं। इसका कारण क्या है ? शारीरिक दुर्बलता। इस तरह के दुर्बल मस्तिष्क से कोई कार्य संपादित नहीं होता, सफलता ग्रहण नहीं होती। हमें उसको सशक्त बनाना होगा। सर्वप्रथम हमारे नवयुवकों को बलवान बनना चाहिए। धर्म पीछे आ जाएगा। मेरे नवयुवक मित्रो ! अभ्यास की अपेक्षा फुटबॉल के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच जाओगे। अपनी कलाई तथा भुजाएँ अधिक मजबूत होने पर तुम गीता को अच्छी तरह समझोगे। अपने रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ जाने पर तुम श्रीकृष्ण की महान् प्रतिभा तथा अपार शक्ति को अच्छी तरह समझने लगोगे। जब तुम अपने पाँवों पर दृढ़तापूर्वक खड़े हो जाओगे, जब तुम्हें यह प्रतीत होने लगेगा कि हम भी मनुष्य हैं, उस समय तुम उपनिषदों को और भी अच्छी तरह समझोगे तथा आत्मा की महिमा को जान सकोगे।" प्लेटो प्रथम दस वर्ष तक बालकों को व्यायाम और खेल-कूद की शिक्षा विशेष रूप से देने के पक्ष में हैं; क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य को रोगी नहीं रहना चाहिए। प्लेटो चाहते थे कि आदर्श समाज के नागरिक स्वस्थ हों, अस्वस्थ होना वे लज्जाजनक समझते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि आदर्श समाज के लिए स्वस्थ व्यक्तियों का होना अनिवार्य है। अतः, शिक्षा की प्रारंभिक अवस्था में ही शारीरिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। रूसो बालकों को शारीरिक सुदृढ़ता प्रदान करना चाहते हैं। वे

नहीं चाहते कि वालकों को सर्वदा गर्म कपड़ों और टोपी-मोजों में लपेट कर निर्बल बना दिया जाए। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एमिल' में वे लिखते हैं "दुर्बलता ही दुष्टता की जन्मदायिनी शक्ति है। बालक केवल निर्बल होने के कारण ही अनैतिक होता है। उसे पुष्ट बनाओ और देखो कि वह बुराई छोड़ देगा। जो स कुछ कर सकने में समर्थ है, वह बुरा नहीं होता।"

प्राचीन भारत में सुंदर, पुष्ट और बलवान शरीर तथा स्वास्थ्य की शिक्षा व अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। उनका विश्वास था कि व्यक्ति का मानसि शारीरिक तथा नैतिक विकास एक दूसरे से इस प्रकार संवद्ध है कि उन्हें विलग न किया जा सकता। वस्तुतः वे सर्वथा अभिन्न हैं। 'शरीर को स्वस्थ रखने की पवि दृढ़ भावना' एक ऐसा केंद्र-विंदु है, जिसकी परिधि के अंतर्गत अन्य गुण मँडराते हैं जिस किसी विद्यार्थी के अंदर, जिस क्षण, अपने शरीर को बलवान, पुष्ट और स्व रखने की इछा जाग्रत हुई, उसी क्षण, समझ लेना चाहिए कि अपनी उन्नति मंजिल की आधी दूरी को तो वह अवश्य ही पार कर गया। उसी क्षण, उसके आ से अधिक दुर्गुण समाप्त हो गए। अपने शरीर को बलवान एवं पुष्ट बनाने के लि तत्काल उसकी मनःस्थिति होगी—"व्यायाम शुरू करूँ, दंड-बैठक-कुश्ती प्रारंभ करु फुटबॉल-हॉकी आदि खेलों में भाग लूँ।" निःसंदेह उसकी मानसिक अवस्था सोचने के लिए उसको बाध्य करेगी कि "बीड़ी, सिगरेट, पान, जर्दा, चाय आ उन्मादक और स्वास्थ्यनाशक पदार्थों का जीवन में कभी सेवन नहीं करना चाहिए, व्यायाम करने के लिए नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममुहुर्त्त में शय्या-त्याग करूँगा और स्ना आदि दैनिक कर्मों से निवृत्त होकर यह कार्य प्रारंभ करूँगा। प्रातःकाल उठने लिए मुझे ९ अथवा १० बजे तक अवश्य ही सो जाना चाहिए। इसके लिए आवश्य है कि छह बजे सायंकाल तक फुटबॉल के मैदान से खेल कर घर लौट आऊँ तथ पढ़ने बैठ जाऊँ, अतः सिनेमा देखना, अनावश्यक घूमने तथा समय का नाश कर वाली, अपने वर्त्तमान और भावी जीवन को वर्वाद करनेवाली सभी आदतों व छोड़ता हूँ—इनको अपने पास फटकने नहीं दूँगा, जीवनपर्यंत विषय-वासना के इ समस्त दुर्गुणों को अलग रखूँगा।" शरीर को स्वस्थ वनाने की तीव्र इच्छा से अभिभूत उस विद्यार्थी की अंतर्वस्था इस बात को भी अवश्य ध्यान में लावेगी कि "उपर्युक्त समस्त कार्यों को शांतिमय तथा सुव्यवस्थित रूप से संपन्न करने के लिए मैं अप आचरण को निर्मल और पवित्र तथा चरित्र को दुर्गुणरहित बनाऊँ। अतः मन वचन और कर्म से कठोर ब्रह्मचर्य की साधना प्रारंभ करता हूँ।" इस प्रकार शरी को बलवान, पुष्ट और स्वस्थ बनाने की एक तीव्र इच्छा ने विद्यार्थी के समस् जीवन को आंदोलित किया तथा अब वह बलवान, स्वस्थ, निरोग, पुष्ट शरीर क

लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अपना चरित्र आदर्श बनावेगा। मन और मस्तिष्क की वृद्धि करेगा तथा आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख होगा।

भारत के प्राचीन गुरुकुल आश्रमों का जीवन इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर ही गठित किया गया था। शांत, एकांत, पवित्र और स्वस्थ स्थानों में अवस्थित हमारे गुरुकुल विद्यार्थियों के मन, मस्तिष्क आचरण और चरित्र का विकास तो करते ही थे, अपने शरीर को भी मजबूत और बलवान बनाते थे। जिस प्रकार भारतीय गुरु-कुलों में शारीरिक उन्नयन को पूरा-पूरा महत्त्व प्रदान किया गया था, उसी प्रकार प्राचीन यूनानी शैक्षिक पद्धति से भी मालूम पड़ता है कि स्पार्टा के नगर-राज्य में शारीरिक विकास को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। महाभारतकालीन भारत में राजकुमारों को मल्ल-युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। वज्रांग पांडव भीम ने जरासंध को मल्ल-युद्ध में ही मारा था। मध्यकालीन भारत की शैक्षिक योजना में भी शारी-रिक विकास को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया था। वस्तुतः मानव तथा मानस का भौतिक आधार ही पुष्ट स्वस्थ शरीर पर आधारित है। यदि शरीर रुग्ण और दुर्बल है, तो उसमें पुष्ट और प्रखर मानस का विकास संभव नहीं। व्यथित और खिन्न मानस, शरीर को भी खिन्न बना देगा। जिस व्यक्ति को नित्य सरदर्द होता है और आँखें दुखती हैं, भोजन नहीं पचता, वह स्वधर्म का पालन ही नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही करेगा जिसे बलवान, पुष्ट और स्वस्थ शरीर प्राप्त है। एक समय की घटना है कि दो आततायी महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती को, जब वे प्रातःकाल अकेले गंगा किनारे घूम रहे थे, छुरा मारने गए। परंतु, स्वामी जी ने उन दोनों को अपने शारीरिक बल से परास्त कर दिया। पर, तत्क्षण ही उन कायर आततायियों को हँसते हुए अभय दान भी दे दिया। यह है बलवान शरीर का रहस्य --जो अपने धर्म का आसानी से पालन करता ही है, छुरा मारने वालों को भी हँसते हुए जीवन-दान देता है। पाश्चात्य देशों में विद्यार्थियों के शरीर को बलवान बनाने की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा है "जर्मनी-निवासी नित्य प्रति एक घंटा सुबह और एक घंटा सायंकाल व्यायाम करना नहीं भूलते और यही है उनकी उन्नति का एक बड़ा रहस्य।"

आज भारत के नौजवान विद्यार्थियों का स्वास्थ्य दुर्बल और कमजोर है। बहुत कम अवस्था में ही वे बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। इसकी जड़ में एक सीमा तक भारत की आर्थिक विपन्नता जिम्मेवार है, तथापि इसे कोई पूर्णतया अस्वी-कार नहीं कर सकता कि भारतीय विद्यार्थियों को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पता नहीं। स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा उन्हें मिलती ही नहीं अथवा मिलती भी है, तो बहुत

क्रम। किस प्रकार शरीर को बलवान और पुष्ट रखा जाएगा—इसकी ओर शिक्षक तो उदासीन हैं ही, अभिभावक भी विशेष उन्मुख नहीं।

वर्त्तमान अवस्था में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि दैनिक व्यायाम करने तथा नियमित–संयमित जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता और उपायों की शिक्षा उन्हें बाल्यकाल से ही दी जाए। अतः, बालकों के माता-पिता एवं अभिभावकों के साथ शिक्षा-संस्थाओं के शिक्षकों की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है कि वे विद्यार्थियों को स्वास्थ्य-रक्षा के उपायों से पूर्णतः अवगत करावें। मुदालियर कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट के पृष्ठ १४५ पर इस संबंध में लिखा है, जो निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"Every student in the school requires to be trained in health habits both at school and house. The instruction should be practical so that may not only appreciate the value of health education but also learn the ways in which he can effectively maintain and improve his health. This is essential not only for physical reasons but because sound mental health depends on good physical health. It should therefore, be a responsibility of all schools to see that their children keep healthy so that they can get the maximum benifit possible from their education"

शिक्षकों एवं माता-पिता को ही नहीं, अपितु सरकार को भी अपना एक प्रमुख कर्त्तव्य समझ कर इस ओर आवश्यक कदम उठाना चाहिए; क्योंकि आज के बच्चे कल के नागरिक हैं। राष्ट्र के नवयुवक किशोरों का, नागरिकों का स्वास्थ्य जब तक पुष्ट और बलवान नहीं होगा, तब तक वहाँ के नागरिक प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन करने में तो असमर्थ रहेंगे ही, वहाँ प्रजातंत्र की रक्षा भी असंभव है। विद्यालयों में विद्यार्थी स्वास्थ्य-शिक्षा को कहाँ तक ग्रहण करते हैं तथा उसका व्यावहारिक उपयोग करने में कहाँ तक सक्षम होते हैं, आदि का स्पष्ट निरीक्षण होना चाहिए।

विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की कमी का मूल कारण है—उपेक्षा। इस उपेक्षा के लिए माता-पिता, अभिभावक, विद्यालय और सरकार सभी जिम्मेवार हैं। अधिकांश माता-पिता स्वास्थ्य के नियमों या रहस्यों को जानते ही नहीं; क्योंकि वे

अनपढ़ हैं। अतः, न तो वे अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान देते हैं और न अपने बच्चों के स्वास्थ्य की ओर। इसके अतिरिक्त बहुत तथाकथित शिक्षित अभिभावक अपने बच्चों को पान, बीड़ी, सिगरेट आदि जैसी उन्मादक वस्तुएं खरीदने के लिए दुकान भेजते हैं, फलस्वरूप उन बच्चों का अपरिपक्व मस्तिष्क इन वस्तुओं से प्रभावित होता है और धीरे-धीरे उनमें अप्रत्यक्ष रूप में इन नशीली वस्तुओं के सेवन की आदत लग जाती है। बालकों में सहज अनुकरणशील प्रवृत्ति होती है, अतः परिवार के उन आदर्शों को वे सहज ही धारण कर लेते हैं, जो वहाँ प्रचलित हुआ करते हैं। कहावत भी है—"Charity begins at home." उदारता का प्रारंभ काल अपना परिवार होता है। अतः, माता-पिता एवं अभिभावकों का बहुत आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे अपने और अपने बच्चों के स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं करें, वरन् उनके उत्कर्ष तथा वर्द्धन पर पूरा-पूरा ध्यान दें। रोग को दैवी प्रकोप अथवा ईश्वरीय विधान नही मानें, अपितु अपने रहन-सहन के ढंग और त्रुटियों को ही इसका प्रमुख कारण मानें। स्वतंत्र भारत में सामाजिक शिक्षा-प्रचार द्वारा सरकार ने भी इस त्रुटि को दूर करने का प्रयास किया है जिसमें शिक्षण-संस्थाओं एवं शिक्षकों ने सक्रिय सहयोग दिया है। सार्जेंट कमिटी रिपोर्ट (१९४४) ने भी इस संबंध में अपना मंतव्य प्रकाशित करते हुए लिखा है कि "विद्यालयों में छात्रों की शिक्षा के साथ-साथ स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए। खेल-कूद की शिक्षा को पूर्ण रूप से संगठित करके अनिवार्य बना देना चाहिए। स्कूलों तथा कॉलेजों में समय-समय पर उचित डॉक्टरी जाँच अवश्य हो। छात्रों के कमरों तथा निवास-स्थानों की सफाई पर पूर्ण ध्यान दिया जाए, छात्रों को पौष्टिक भोजन प्रदान करने की व्यवस्था की भी आवश्यकता हैं।"

शिक्षण संस्थाओं में स्वास्थ्य-शिक्षण के लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं—

(१) बालकों, किशोरों और युवकों को इस ढंग से शिक्षित करना कि उन्हें अपने स्वास्थ्य का सही मूल्यांकन करने की क्षमता प्राप्त हो तथा उनका उत्तरोत्तर विकास हो।

(२) जीवनपर्यंत उनकी ऊर्जाओं एवं चेतनाओं को सजीव रखने के निमित्त उनके विद्यालयीय जीवन में ही सफाई के नियमों और आदतों की स्थापना करना।

(३) बालकों के स्वास्थ्य--शिक्षण के विशिष्ट कार्यक्रमों द्वारा उनके अभि-भावकों एवं वयस्क व्यक्तियों को भी सफाई और स्वच्छता की अच्छी आदतों एवं उचित दृष्टिकोण की ओर प्रेरित करना।

(४) सामयिक जीवन की प्रगति, भावी संतानों का उचित विकास तथा स्वास्थ्य, बलवान एवं पुष्ट शरीर से युक्त योग्य राष्ट्र और प्रबल जाति का निर्माण करना (Educational Diagnosis, Page 349. N. S. S. E. Year Book 1935. Quoted by Sri M. Siddhelingaiye in his chapter on 'Health Instruction' of the School Organisation and Management.)

श्री एम० सिद्धालिंगेया ने स्कूलों में स्वास्थ्य-शिक्षण के कार्यक्रम को तीन भागों में बाँटा है–

(१) स्वास्थ्य-संबंधी सूचनाएँ,
(२) स्वस्थ आदतों का विकास तथा
(३) स्वस्थ चेतना की जागृति।

(१) स्वास्थ्य-संबंधी सूचनाएँ— इस अवस्था में बालकों को स्वास्थ्य-संबंधी नियमों की जानकारी कराना, सफाई के नियम समझाना, स्वस्थ ढंग से जीवन-निर्वाह करने की विधियाँ आदि सिखलाना आवश्यक है। इन नियमों, सिद्धांत एवं व्यवस्थाओं का आचरण करने से बालक सबल, स्वस्थ और सुदृढ़ बनगे तथा सुखी जीवन और राष्ट्र की सेवा के लिए त्याग का सौम्य बीजारोपण होगा। प्रायः सभी उपायों के आधार पर विद्यार्थियों को स्वस्थ जीवन की शिक्षा अपेक्षित है।

(२) स्वस्थ आदतों का विकास—इस अवस्था में स्कूल-अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि बालकों में स्वस्थ आदतों के विकास का सत्प्रयत्न करें। स्कूल में आने वाले बालक भिन्न-भिन्न स्तर के परिवारों से संबंधित होते हैं। कतिपय बालक उन परिवारों से आते हैं जहाँ साफ, स्वस्थ रहने के तरीकों को अपनाया जाता है। अतः, इन विद्यार्थियों पर भी अपने परिवार के इस आदर्श वातावरण का प्रभाव अनायास पड़ा होता है। परंतु, ऐसे बालकों की संख्या ही विशेष मिलेगी, जहाँ उन्हें स्वास्थ के नियमों के अनुकूल वातावरण नहीं प्राप्त हो सका है। वे सफाई आदि बातों से सर्वथा अनभिज्ञ-से हैं। इसके लिए उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक परिस्थितियाँ कारण हो सकती हैं, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि उन्हें स्वास्थ्य के नियमों से भिज्ञ कराया जाए और शिक्षकों का यह एक आवश्यक उत्तरदायित्व है। हमलोग जानते हैं कि किशोरावस्था निर्माणकाल है। इस अवस्था में जिस वातावरण में जैसी शिक्षा बालकों को मिलेगी, तदनुकूल उनका भावी जीवन निर्मित होगा। साथ ही, यह बहुत तीव्र विकास की अवस्था है। अतः, दूसरे प्रयोजनों के लिए शक्ति का अभाव रहता है तथा वयस्क बीमारियों के बीज इसी

समय जम जाते हैं। नर्वस विश्लेषण होने के कारण विचित्र गति होती है। परंतु, इस अवस्था में सबसे बड़ा परिवर्तन लिंग-क्रिया संबंधी विकास है। मानसिक दृष्टि से इस अवस्था में सामाजिक मूल प्रवृत्ति जैसे भय, क्रोध, ईर्ष्या, अभिलाषा, दया, सहानुभूति जाग्रत होते हैं, ऐसी अवस्था में किशोर-विद्यार्थी आत्म-केंद्रित और असामाजिक नहीं रहता। इस काल में मूल प्रवृत्तियों के जाग्रत होने के कारणप्रवृत्ति बहुत शक्तिशाली होती हैं तथा इस अवस्था में रुचि के अनुकूल कार्य करने से बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

(३) स्वास्थ्य-चेतना की जागृति--जब तक बालकों और किशोरों में स्वास्थ्य-चेतना की जागृति नहीं होगी, स्वास्थ्य के प्रति स्थायित्व की भावना का विकास नहीं होगा, तब तक स्वास्थ्य-शिक्षण का उद्देश्य अधूरा ही रहेगा। यदि विद्यार्थियों में उपर्युक्त उद्देश्यानुसार प्रस्तुत चेतना जाग उठे, प्रत्येक विद्यार्थी रोगों के भय से नहीं, सुख और आनंद की अभिलाषा से साफ-सुथरा रहने की शिक्षा लें और स्वस्थ क्रियाएँ उनका बाहरी नहीं, अपितु अतिरिक्त स्वभाव बन जाएँ, तो यह निश्चित है कि भावी परिवार, समाज विद्यालय तथा स्वतः वह व्यक्ति 'सबलता एवं स्वास्थ्य' के आदर्श उदाहरण होंगे। वर्गाध्यापक को चाहिए कि वह व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से बालकों की सफाई और स्वास्थ्य का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें, ऐसा कार्यक्रम तैयार करें कि विद्यार्थी उसे बोझ नहीं समझ कर, अपितु प्रसन्नतापूर्वक संपादित करते रहें। विद्यार्थियों द्वारा वर्ग-कक्ष, विद्यालय, विद्यालय-क्रीड़ांगण, उद्यान और जलाशय आदि की सामयिक सफाई करायी जाए। छात्रों में इन समस्त कार्यों को पूरा करते समय कर्त्तव्य की भावना रहे, तो इसका शुभ प्रतिफल यह होगा कि कर्त्तव्य की निरंतर पूर्ति सद्गुण में परिवर्तित हो जाएगी। विद्यार्थियों को ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देने का सरल और सुगम उपाय यह है कि उनके सम्मुख स्वतः शिक्षकों द्वारा भी इस आदर्श का प्रस्तुतीकरण किया जाए, जिससे मनोवांछित इच्छाओं की पूर्ति सुविधाजनक रीति से हो।

अध्याय २६

एनी बेसेंट

ब्रह्मवादी समाज की प्रधान स्तंभ, वक्तृत्व-कला एवं संगठन की अलौकिक शक्ति से विभूषित, उदारहृदया एनी बेसेंट ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में भी उसी प्रकार अपने मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है, जिस प्रकार उन्होंने धर्म, नीति, पत्रिका-प्रकाशन, राजनैतिक तथा सामाजिक सुधार-संबंधी कार्यों में चमत्कारिक प्रयोगों का हमें दिग्दर्शन कराया है। हिंदू धर्म के लिए जिस प्रकार उनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी, उसी प्रकार भारत के अशिक्षित वर्ग को समग्ररूपेण शिक्षित बनाने के लिए उनके मन में महान् कल्पना थी।

शिक्षा के क्षेत्र में वे प्राचीन भारतीय आदर्शों की पोषिका थीं। उन्होंने शिक्षा-संबंधी आधुनिक वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का भी अपने शिक्षा-सिद्धांत में समान रूप से प्रतिपादन किया है। परंतु, उनका विचार था कि प्राचीन भारतीय आदर्शों को हमें आधुनिक रूप में ग्रहण करना चाहिए। उनका कहना था कि भारतीय जनता को शिक्षा-संबंधी प्रेरणा अथवा शिक्षा-संबंधी आधार के लिए पाश्चात्य देशों की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि स्वयं उनके प्राचीन गौरवशाली देश में ज्ञान की अतुल संपत्ति भरी पड़ी है।

भारतीय आश्रमों का तपोमय जीवन

प्राचीन भारतीय गुरुकुल आश्रमों का संगठित एवं पवित्र तपोमय जीवन जो ब्रह्मचर्य की मनसा, वाचा, कर्मणा की पवित्रता की आधारशिला पर अवस्थित था, एनी बेसेंट को स्वीकार था। उनके विचारानुसार प्राचीन ब्रह्मचर्य के आदर्श को पुनः अपनाने की आवश्यकता है। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी श्रद्धानंद-जैसे महापुरुषों के समान ही एनी बेसेंट ने भी विद्यार्थियों के लिए

ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हुए विद्योपार्जन का विधान किया है। ब्रह्मचर्य से एकाग्रता, आत्मनियंत्रण, धीरता एवं तेजस्विता-जैसे सद्‌गुणों का आविर्भाव होता है। ये सद्‌गुण ही तो सफलता की कुंजी हैं। भारतीय शिक्षा-संस्थाओं में व्याप्त ब्रह्मचर्य के सर्वथा अभाव को देख कर उनको बहुत दुःख होता था। उनके विचारानुसार विद्यार्थियों में आज्ञा-पालन, शारीरिक एवं नैतिक साहस, सहनशीलता, प्रतिद्वंद्विता तथा आत्मनियंत्रण के गुण होना आवश्यक है। प्राचीन आर्यों की शिक्षण-योजना इन्हीं गुणों के आविर्भूतिकरण के निमित्त नियोजित थी। ब्राह्मणकालीन, वैदिककालीन अथवा उत्तर वैदिककीन शिक्षित नवयुवकों में उन समस्त मानवोचित सद्‌गुणों का समन्वय था, जिनको कल्पना एनी वेसेंट आधुनिक युग में करती हैं। इनकी सम्मति में भारतीय नवयुवकों को उन सभी भावों से उत्तेजित करना है, जो हमारे प्राचीन गुरुकुल आश्रमों में वर्त्तमान थे।

शिक्षा का रूप : 'एक विज्ञान'

एनी वेसेंट शिक्षा को 'एक विज्ञान' का रूप देती हैं। शिक्षा को वे एक अनुशासन मानती हैं। विद्यार्थियों के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का यह केवल एक व्यवस्थित ढंग ही नहीं है, अपितु यह एक ऐसा विज्ञान भी है, जिससे वालकों की जन्मजात शक्तियाँ प्रस्फुटित एवं पल्लवित होंगी।

वालकों के अंदर जन्मजात शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों को विकसित करना ही शिक्षा एवं शिक्षक का कर्त्तव्य है। अतः, अपनी शिक्षा-संस्थाओं के साथ-साथ परिवार एवं समाज का वातावरण हमें इस प्रकार निर्मित करना है, जिससे इस लक्ष्य की उपलब्धि हो सके। वातावरण का प्रभाव वालक के अविकसित मस्तिष्क पर वड़ा गहरा होता है। सभी मनोविज्ञानशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री टी० पी० नन अपनी पुस्तक 'एडुकेशन, इट्स डाटा ऐंड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स' के पृष्ठ १५३ पर इस आशय के मनोवैज्ञानिक भाव व्यक्त करते हैं —"वालक में अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह किसी प्रकार की मौलिकता में वाधक नहीं होती, इसलिए एक अच्छे शिक्षक को स्वाभाविक नेताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा वालकों को आज्ञाकारी वनाने के लिए इस प्रवृत्ति का उपयोग करना चाहिए। अनुशासन और अच्छी आदतों का अभ्युदय इन्हीं कारणों से संभव होगा। सलाह तथा प्रचार का प्रभाव भी वालकों पर पड़ता है।" एनी वेसेंट की भी यही धारणा है कि वच्चों की जन्मजात शक्तियों के विकास के निमित्त प्रसन्नता एवं प्रेम का वातावरण निर्मित किया जाए। प्रसन्नता एवं प्रेम के वातावरण के अभाव में विद्यार्थियों का व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है। अतः, शिक्षकों एवं अभिभावकों को इस संवंध में पूर्णतः सावधान रहना चाहिए।

एनी बेसेंट परिवार और विद्यालय के बीच अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित करना चाहती हैं। परिवार और विद्यालय के वातावरण के बीच समानता होनी चाहिए। समानता अथवा समतुल्यता के अभाव में ऐसा नहीं हो पाता। अतः, उनका भावी व्यक्तित्व संयमित नहीं बनता। इन दोषों के निराकरणार्थ एनी बेसेंट का विचार है कि हमलोग अपनी शिक्षा-योजना इस प्रकार सुसंगठित करें तथा कार्यक्रम के निर्धारण का विधान ऐसा बनावें कि बालकों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, भावात्मक और संवेगात्मक आदि सद्गुणों का स्वतः विकास हो।

भारतीय शिक्षा एकांगी है

एनी बेसेंट की धारणा है कि भारतीय शिक्षा की रूपरेखा एकांगी है, बहुमुखी नहीं। शिक्षा के एकांगी होने के कारण ही भारतीय पाश्चात्य देशों की तुलना में ज्ञान–विज्ञान में पिछड़े हैं। भारतीय शिक्षा-संस्थाओं की रूपरेखा ऐसी नियोजित है कि विद्यार्थियों का मात्र बौद्धिक विकास ही होता है। शिक्षा का ऐकमात्र उद्देश्य यहाँ परीक्षोत्तीर्णता है। बौद्धिक विकास अथवा ज्ञानात्मक संवर्द्धन के साथ-साथ विद्यार्थियों में आत्मसम्मान, आदर्श चरित्र, सामाजिक भावना, सरलता, सदाचार एवं आत्मनियंत्रण आदि सद्गुणों का प्रस्फुटिकरण नहीं होता। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के समान एनी बेसेंट विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास चाहती थीं। प्लेटो के समान उनका विचार था कि आदर्श समाज (Utopia) के आदर्श नागरिक (Good Citizen) के लिए उनकी बौद्धिक या मानसिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक, संवेगात्मक नैतिक और आध्यात्मिक विकास वांछनीय है। मध्यकाल के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री कॉमेनियस ने शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना है, जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, ज्ञान और नीति-संबंधी गुणों का विकास करके मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनता है। कांट ने भी शिक्षा को पूर्ण विकास माना है। उन्होंने शिक्षा के संबंध में बतलाया है --"शिक्षा व्यक्ति में उन सब पूर्णताओं का विकास है, जिसके लिए वह योग्य है।" पेस्टालॉजी ने शिक्षा का तात्पय बतलाते हुए लिखा है--"शिक्षा का अर्थ सब शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और व्यवस्थित विकास है।" शिक्षाशास्त्री टी० पी० नन ने इस प्रसंग में अपने भाव प्रकट किए है -"शिक्षा व्यक्ति का पूर्ण विकास है, ताकि वह अपनी सर्वोत्तम सामर्थ्य के अनुसार मानव-जीवन में एक मौलिक योगदान प्रदान कर सके।" शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना है। एनी बेसेंट ने भी हमें यह बतलाया है कि शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य मस्तिष्क की आंतरिक

शक्तियों को विकसित करना तथा उन्हें शिक्षित एवं अनुशासित करना ही है। इस संबंध में विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपना विचार प्रकट करते हुए बतलाया है कि भारतीय शिक्षा के अभाव में ही आज हम इतने कष्टमय जीवन का अनुभव कर रहे हैं। भारतीय जनता अज्ञानी है। यहाँ शिक्षा का प्रसार तेजी से नहीं हो रहा है। अशिक्षा ही विभिन्न समस्याओं का मूल कारण है। जनसाधारण में चिंतनशीलता लाने के लिए शिक्षा आवश्यक है। अतएव, जनसाधारण की शिक्षा की विशेष आवश्यकता है। गुरुदेव का विचार था कि जनशिक्षा के द्वारा ही आपसी भेदभाव समाप्त होंगे और समाज उन्नतशील होगा।

जनशिक्षा के संबंध में रवि बाबू के विचार से इस प्रकार की शिक्षा समाज-कल्याण के हेतु दी जानी चाहिए। साथ ही, शिक्षा समाज की परंपराओं और समाज के जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई होनी चाहिए। जनसाधारण की शिक्षा की व्यवस्था दो रूपों में की जा सकती है :—

१. प्रारंभिक एवं अनिवार्य शिक्षा के द्वारा और
२. समाज या प्रौढ़ शिक्षा के द्वारा।

रवि बाबू का विचार था कि सभी बालकों के लिए प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। साथ ही, समाज या प्रौढ़ शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए और इस हेतु भी अनेक विद्यालय खोले जाने चाहिए। जनशिक्षा मातृ-भाषा में ही दी जा सकती है। प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं में इस प्रकार की शिक्षा प्रदान करने के साधन अपनाए जाते थे। कीर्तन, भजन, संगीत कार्यक्रम, धर्ममेला, सम्मेलन, रामायण और महाभारत की कथाओं का आयोजन आदि जनशिक्षा के उपयोगी साधन हैं। जनशिक्षा हेतु कुछ नवीन साधन यथा प्रदर्शनियाँ, गोष्ठियाँ एवं सभाएँ आदि भी आयोजित की जानी चाहिए। जनशिक्षा समाज के सहयोग से ही दी जानी चाहिए।

जनशिक्षा केवल पुस्तकीय ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक होनी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा स्थानीय व्यवसायों और उद्योग-धंधों की उन्नति की जानी चाहिए। यह शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए। समाज या प्रौढ़ शिक्षा के लिए रात्रि पाठशालाओं, ग्रामीण पुस्तकालयों और शिक्षा के अन्य अविधिक साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इस प्रकार की शिक्षा के प्रचार में व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए और इसका आयोजन शिक्षकों, समाजशास्त्रियों और शिक्षार्थियों के संमिलित प्रयत्नों के द्वारा ही किया जाना चाहिए। शिक्षार्थियों और शिक्षकों में

मित्रवत् व्यवहार होना चाहिए और शिक्षकों को अत्यंत प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्वक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। शिक्षकों को शिक्षाकार्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सेवा-कार्यों के लिए भी तत्पर रहना चाहिए।

शिक्षा का समाजीकरण

एनी वेसेंट शिक्षा का समाजीकरण चाहती हैं। ये डॉ० डिवी के उस सिद्धांत का पोषण करती हैं, जिसमें उन्होंने शिक्षा को एक बहुत आवश्यक सामाजिक प्रक्रिया माना है। डॉ० डिवी विद्यालय को सामाजिक प्रयोगों की प्रयोगशाला मानते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रसिद्ध शहर शिकागो में उन्होंने प्रयोगात्मक विद्यालय स्थापित किया; जिसमें सामाजिक अनुभवों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न सामाजिक क्रियाओं को वहाँ समन्वित किया था। डिवी महोदय ने इस आशय के शब्द लिखे हैं—"विद्यालय को सामाजिक अनुभवों की प्रयोगशाला होना चाहिए, जिसमें बालक एक दूसरे के साथ रह कर जीवन-यापन की सर्वोत्तम प्रणाली को ग्रहण कर सकें।"

रूसो द्वारा प्रतिपादित विचारों के विरोध में डॉ० डिवी ने कहा है कि "व्यक्ति का विकास एकांत में अथवा केवल प्रकृति से संपर्क स्थापित करने से नहीं हो सकता। मनुष्य के विकास की प्राकृतिक स्थितियों में एक आवश्यक तत्त्व है, शेष मानव जाति। वह अपनी शक्तियों का विकास केवल सभ्य जीवन के आधार पर सामाजिक वातावरण में ही कर सकता है। समाज अपने रीति-रिवाजों, संस्थाओं, विचार-पद्धतियों तथा क्रियाओं द्वारा बालक का चरित्र गठित करता है। अतएव, बालक को 'अंत-क्रियाओं एवं संबंधों की विस्तृत ग्रंथि के मध्य विचार करते हुए तथा पल्लवित होते हुए नागरिक के रूप में अध्ययन करना चाहिए।" एनी वेसेंट का भी कहना है कि बालक को अंतोगत्वा समाज में ही रहना है। उसे अपना जीवन-यापन समाज का एक प्रमुख और आवश्यक अंग बन कर करना है। उसके कार्य-कलाप, विचार एवं उसकी भावनाओं का असर समाज के अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ेगा। अतः, हमारी शिक्षा-योजना ऐसी होनी चाहिए, जिससे आज का बालक काल-क्रम में युवा और प्रौढ़ होने पर समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सके; क्योंकि समाज भी तो व्यक्तियों का ही एक समूह है। जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा समाज होगा। एनी वेसेंट विद्यार्थियों को एकांतवासी बनने से बचाती हैं। विद्यार्थियों को अपने कर्त्तव्य एवं अधिकार का ज्ञान होना चाहिए। यही नहीं, विद्यार्थियों को अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व का ज्ञान होना आवश्यक है। उत्तरदायित्व की भावना के विकास पर वे बहुत बल देती हैं। उनका कहना है कि शिक्षा का समाजीकरण बालकों के उत्तरदायित्व की गुणरूपी आधारशिला पर ही स्थित रह सकेगा। अपनी शिक्षा-

योजना में उन्होंने विद्यार्थियों में उत्तरदायित्व की भावना सजग करने को बहुत आवश्यक बतलाया है। भारत के नवयुवकों में आज इस सद्गुण का बहुत अभाव हो रहा है। हमलोगों की सामाजिक अव्यवस्था का यह एक बहुत बड़ा कारण है। इसका सुधार शिक्षा द्वारा ही होगा।

एनी बेसेंट और शिक्षा का लक्ष्य

१. शारीरिक शिक्षा

एनी वेसेंट के मतानुसार शिक्षा-संस्थाओं में वालकों के लिए शारीरिक, मानसिक, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का विधान आवश्यक है। स्वस्थ शरीर ही तो समस्त साधनों का आधार है। "शरीरमाध्यं खलु साधनम्"-उपनिषद् का वाक्य है। "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है"—ऐसा विचार है सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो का। प्लेटो ने वालकों के शारीरिक उन्नयन पर अत्यधिक वल दिया है। स्पार्टी-निवासियों का वालकों के स्वास्थ्य एवं शारीरिक परिपुष्टता पर अत्यधिक ध्यान—विश्व-इतिहास का अनोखा उदाहरण है। अतः, जव भी हम वालकों के बहुमुखी उन्नयन की चर्चा करेंगे, हमें शारीरिक शिक्षा की ओर प्रथमतः ध्यान देना होगा। अतः, एनी वेसेंट-जैसे शिक्षाशास्त्री का इस ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

२. मानसिक उन्नयन

वालकों के सर्वांगीण विकास के लिए उनकी मानसिक शक्तियों के उन्नयन की भी अत्यधिक आवश्यकता है। मनुष्य को पशु की श्रेणी से विलग उसकी वुद्धि ही तो करती है। आज अणु एवं परमाणु-युग में हम निवास करते हैं, अहिंसा-जैसी महान् महौषधि का सफल प्रयोग साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के अंत के लिए करते हैं, यह हमारी वुद्धि एवं विवेक के ही सुपरिणाम हैं। मानव-मस्तिक को परिष्कृत करने में उनकी शिक्षा ही एकमात्र आधार है। उसमें सोचने-विचारने की शक्ति, शिक्षित होने पर ही आ सकती है। वालकों की स्मरणशक्ति, तर्कशक्ति, निर्णयशक्ति, कल्पना-शक्ति, विचारों की स्पष्टता एवं भावाभिव्यंजना आदि गुणों के विकास का आधार शिक्षा ही तो है। अतः, शिक्षा-संस्थाओं को सुसंगठित कर हमें अपने वालकों के मानसिक उन्नयन का सद्प्रयास करना है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर एनी वेसेंट ने शिक्षा को तीन स्वाभाविक कालों में विभाजित किया है। प्रथम १ से ७ वर्ष की अवस्था तक, द्वितीय, ८ से १४ वर्ष की अवस्था तक, तृतीय, १५ से २१ वर्ष की अवस्था तक। व्यक्ति की समुचित शिक्षा इन तीन कालों में होनी चाहिए और अंत में इक्कीस वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जानी चाहिए। एनी वेसेंट इक्कीस वर्ष की

अवस्था में युवकों को, अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदयित्वों को निभाने में पूर्णतः समर्थवान् मानती हैं।

३. धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की भी हमें उतनी ही आवश्यकता है, जितनी शारीरिक एवं मानसिक शिक्षा की। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के अभाव में हमारी पाशविक प्रवृत्तियों का परिशोधन नहीं हो सकेगा। धर्म के मर्म को समझने के लिए भी धार्मिक शिक्षा परमावश्यक है। विश्व के प्रत्येक प्राणी का सम्मान, हम धार्मिक शिक्षा के ही आधार पर कर सकेंगे। विश्व-बंधुत्व की कल्पना तभी साकार होगी, अणु-अस्त्रों पर रोक लगाने में हमारी बुद्धि तभी समर्थ होगी, जब हमलोग धार्मिक शिक्षा को अपने विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रमुख मान कर अंगीकार करेंगे। स्वामी विवेकानंद ने धर्म को शिक्षा का मेरूदंड बतलाया है। उनके मतानुसार शिक्षित वही है, जिसने धर्म का अवलंबन किया है और इसके रहस्य को समझ कर अपने जीवन में धारण किया है। धर्म से हमारे संकीर्ण विचारों का नाश होता है।

नैतिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य संवेगात्मक शक्तियों को समुचित रूप से विकसित एवं नियंत्रित करना है। नैतिक शिक्षा का अंतिम परिणाम मन, वचन एवं कर्म में सामंजस्य स्थापित करना है। इससे विद्यार्थियों में सामाजिक गुण, कर्त्तव्यपरायणता एवं उत्तरदायित्व की भावना का सृजन तथा सर्वसाधारण के प्रति प्रेम-भाव की उत्पत्ति होगी। बच्चे और किशोर सद्व्यावहारिक बनेंगे। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की ओर एनी बेसेंट का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु उन्होंने विद्यालयीय शिक्षा को चार भागों में विभक्त किया है। ये चार भाग निम्नांकित हैं—

१. प्रारंभिक,
२. लघु माध्यमिक,
३. उच्चतर माध्यमिक और
४. उच्च कक्षा।

धार्मिक और नैतिक शिक्षा का विधान

धार्मिक शिक्षा

१. प्रारंभिक कक्षाओं में जहाँ पाँच से सात वर्ष तक के बालकों को शिक्षा दी जाएगी, धार्मिक शिक्षा विशेषकर कहानी-कला द्वारा प्रदान की जाए।

२. एनी बेसेंट लघु माध्यमिक स्कूल में सात से दस वर्ष तक के बालकों की शिक्षा-व्यवस्था का विधान करती हैं। इस अवस्था के बालकों की धार्मिक शिक्षा

के लिए उन्होंने वतलाया है कि चूँकि इस अवस्था में संवेगों की प्रवलता रहती है, अतः, धार्मिक भावना को सजग वनाने के लिए वालक-वालिकाओं को धार्मिक कहानियों, प्रार्थनाओं, महान् धार्मिक पुरूषों के जीवन-चरित् से शिक्षा देनी चाहिए।

३. उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में जहाँ प्रायः दस वर्ष से चौदह वर्ष तक के वालक अध्ययन करते हैं, धार्मिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विभिन्न धर्मों की एकता के मूल तत्त्वों को समझना है।

४. उच्च कक्षा के वालकों में जहाँ प्रायः चौदह से सोलह वर्ष तक के वालक अध्ययन-कक्ष में वैठते हैं, धार्मिक शिक्षा का अर्थ छात्र-धर्म के प्रमुख सिद्धांतों की पूर्ण शिक्षा से है। यह अवस्था मुख्यतः मानसिक विकास का काल है। अतः, इस समय विद्यार्थियों को इस तथ्य से अवगत कराया जाना चाहिए कि सभी धर्म अपने लिए महान् हैं।

नैतिक शिक्षा

एनी वेसेंट के विचारानुसार प्रारंभिक कक्षाओं में (५-७ वर्ष) नैतिक शिक्षा का सर्वप्रमुख माध्यम कहानी को वनाना चाहिए। लघु माध्यमिक विद्यालयों में(७-१० वर्ष) नैतिक शिक्षा के अंतर्गत सचाई से संवंधित कहानियाँ, भक्ति, साहस और सम्मान, आत्मत्याग, वड़ों एवं छोटों के प्रति कर्त्तव्य तथा जीवों एवं पौधों के प्रति दया का भाव सन्निहित है। उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में (१०-१४ वर्ष) एक आदर्श मानव एवं आदर्श नागरिक के लिए अपेक्षित संपूर्ण गुणों की शिक्षा नैतिक शिक्षा का विषय है।

सेवा-भावना का विकास

एनी वेसेंट का विचार है कि विद्यालय तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में सेवा-भावना का विकास किया जाए। उनमें ऐसी सद्भावना उत्पन्न की जाए, जिससे वे अपने देशहित के प्रति जागरूक हों। वे अपने समाज के लाखों अनपढ़ गरीव भाइयों के लाभ की वातें सोच सकें। शिक्षा के माध्यम से उन्हें ऐसा प्रोत्साहन मिले, उनकी मनोभावनाओं का इस प्रकार परिशोधन हो कि वे दीन-दुःखियों की सेवा के लिए स्वतः उत्प्रेरित हों। उनके विचारानुसार विद्यार्थियों को मेला, धर्मोत्सव-स्थलों, समाजकल्याण हेतु आयोजित गोष्ठियों और अस्पतालों आदि स्थानों पर ले जाया जाना चाहिए, जिससे जनता की सेवा के लिए वे जागरूक एवं सचेष्ट हों। 'विद्यार्थियों को प्रारंभिक पाठशालाओं एवं रात्रि पाठशालाओं में शिक्षक के रूप में सहयोग प्रदान करने के लिए भी प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। भारत के प्राचीन गुरुकुलों में कई प्रकार की शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, जिनमें एक

यह भी थी कि उच्च वर्ग के विद्यार्थी निम्न वर्ग में जा कर पाठन-कार्य संपादित करते थे। बड़े छात्रों द्वारा छोटे छात्रों को ज्ञान देने की इस क्रिया को 'अग्रिम शिष्य-पाठन-पद्धति' कहते हैं। वर्त्तमान समय में भी 'मोनोटोरियल सिस्टम' की प्रथा जिसके जन्मदाता इंगलैंड के शिक्षाशास्त्री डॉ० बेल कहे जाते हैं, 'अग्रिम शिष्य-पाठन-पद्धति' का स्मरण कराती है। एनी वेसेंट ने भी अपनी शिक्षा-योजना में सेवा-भावना के साथ-साथ सहयोग, सामूकिता एवं ज्ञानवर्द्धन के विकास निमित्त इस पद्धति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं।

ग्रामीण शिक्षा-संस्थाएँ :

एनी बेसेंट ने भारत में ग्रामीण विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के संगठन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर अपनी मौलिक सूझ एवं भारतहित की अपनी प्रबल सद्भावना का परिचय दिया। वृटिश साम्राज्यशाही के युग में भारतवासियों के हित की ऐसी कल्पना उनकी दूरदर्शिता के साथ-साथ महानता का मूर्त्त रूप है। उनका विचार था कि ग्रामीण विद्यालयों की स्थापना स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए।

इस प्रसंग में एनी वेसेंट का कहना है कि आठ या नौ वर्ष की आयु से विद्यार्थियों को विद्यालय से संबद्ध अन्य कार्यों में लगाया जाए। इस अवस्था में बच्चों को उनकी बुद्धि के अनुसार, कृषि-विज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए। कृषि उच्च शिक्षा के सभी विषयों की शिक्षा से संबंधित होनी चाहिए। यही नहीं, विषयों के अध्ययन में ग्रामीण जीवन का संबद्ध व्यवसायों से संबंध प्रकट करते हुए गणितशास्त्र, प्रायोगिक पदार्थ-विज्ञान, गृह-विज्ञान, यंत्र-विज्ञान के तत्त्वों की जानकारी, प्रकृति-विज्ञान एवं उद्यान-कला की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। कृषि के सूक्ष्म क्षेत्रों के अतिरिक्त विद्यालयों में छात्रों की आवश्यकतानुसार वढ़ई एवं जुलाहों की कर्मशाला की व्यवस्था भी होनी चाहिए। दस वर्ष की आयु में ग्रामीण वालक-वालिकाओं को प्राथमिक चिकित्सा तथा आरोग्यशास्त्र के सिद्धांतों की शिक्षा देनी चाहिए। भूगोल एवं गणित आदि विषयों की शिक्षा वे व्यावहारिक रूप में देना चाहती हैं। भूगोल की शिक्षा का प्रारंभ ग्रामीण मानचित्र से होना चाहिए। उनका विचार था कि वालक जिस समय कर्मशाला में काम करें, उस समय वालिकाओं को घरेलू स्वास्थ्य-विज्ञान, पाकशास्त्र एवं धुलायी की शिक्षा दी जानी चाहिए। वस्तुतः वे गाँवों को सर्वप्रकारेण आत्म-निर्भर वनाना चाहती थीं। इसका एकमात्र आधार ग्रामीण ढंग की शिक्षा-संस्थाएँ ही हैं। इस प्रसंग में स्वयं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने लिखा है—"भारत गाँव में वसता है।" अतः, 'गाँवों की ओर लौटें'—उनका नारा था।

भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या ग्रामीणों की है। ग्रामीणों की तुलना में शहरों में रहने वाले व्यक्ति बहुत कम हैं। शहरों में वे लोग ही अधिक रहते हैं, जो नौकरीपेशा हैं। नौकरीपेशे में अधिकांश वैसे लोग हैं, जो किसी-न-किसी प्रकार ग्रामों से अवश्य ही संबद्ध हैं। परंतु, खेद की बात है कि इतनी बड़ी जनसंख्या जिस जगह जीवन-यापन करती है, वह अपनी दैनिक समस्याओं का समाधान भी सुविधाजनक रीति से करने में असमर्थ है। उसके समक्ष अभाव-ही-अभाव है। उसका रहन-सहन अत्यंत निम्नकोटि का है; क्योंकि आर्थिक हीनता, अज्ञानता एवं असुविधा आदि जीवन के अभ्युत्थान में दुर्भेद्य दीवार बन कर इस प्रकार खड़ी हैं कि हर्षोल्लास और आनंदपूर्ण समय उनको स्वप्नवत् मालूम पड़ता है। नित्यप्रति के भोजन तक की समस्या उनके मस्तिष्क को इस प्रकार मजबूर बना देती है कि स्वास्थ्य का हनन करके भी उनको मिहनत-मजदूरी के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनकी 'समस्याएँ' समस्याएँ ही रह जाती हैं। उनका समाधान नहीं हो पाता; क्योंकि वे इसके लिए सर्वथा अक्षम हैं।

भारतीय गाँवों की समस्या का निराकरण अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि जब तक विशाल जनसमूह में जीवन का संचार नहीं होगा, तब तक किसी भी प्रकार की उन्नति से हमलोग वंचित रहेंगे। भारत के गाँवों से जब दुःख-दारिद्र्य का बादल छँटेगा तथा वहाँ नवजागृति की लहर का संचार होगा, तभी हमलोग अपने को सभ्य कह सकते हैं अथवा कुछ लोगों के विश्वविद्यालयीय उपाधियों से विभूषित हो जाने के कारण ही अपने को सुसंस्कृत और उन्नत समझना, अपनी अज्ञानता का ही परिचायक होगा।

गाँवों की समस्या के समाधान का एकमात्र अमोघ अस्त्र है 'ग्रामीण भाइयों के निमित्त विद्या का प्रचार' अर्थात् ग्रामीण विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का संगठन। अविद्या और अशिक्षा के कारण ही गाँवों की समस्या जटिल हो गई है तथा वहाँ के निवासी जीवन-निर्वाह ही नहीं, बल्कि स्वच्छंदतापूर्वक सोचने-विचारने तक के लिए भी मुँहताज-सा बन गए हैं। वे विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों एवं मत-मतांतरों के शिकार हैं। अतः, यथाशीघ्र ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है, जिससे भारतीय विशाल जनसमूह शिक्षित बन सके। परंतु, इन लोगों के लिए निष्क्रिय परंपरागत शिक्षा-प्रणाली का आयोजन हितकर और समयानुकूल नहीं हो सकेगा। विद्यालयीय और विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्राप्त युवक तो गाँवों में प्रवेश करना भी नहीं चाहते, वहाँ रह कर जीवन-यापन करना तो भिन्न बात है।

विद्यालयीय और विश्वविद्यालयीय, बौद्धिक और पुस्तकीय शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर कुछ ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि

देहाती वातावरण में उनको भावी जीवन व्यतीत करना हीनताबोधक मालूम पड़ता है। वे शहरी जीवन के पोषक बन जाते हैं। देहात उनके लिए उपयुक्त स्थान नहीं रह जाता; क्योंकि इन शिक्षित नौजवानों की दृष्टि में वहाँ केवल श्रमिक रहा करते हैं, जो खेती और मजदूरी कर किसी प्रकार अपना जीवन-यापन करते हैं। ये बौद्धिक और पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त नवयुवक मात्र नौकरी के लिए ही उपयुक्त रह जाते हैं। उनकी यह तीव्र इच्छा होती है कि किसी दफ्तर में अच्छी नौकरी मिल जाए, जहाँ सरलतापूर्वक वे अपना जीवन-निर्वाह कर पावें, परंतु भारत की आर्थिक समस्या जटिल तो है ही, साथ ही तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण इन युवकों को नौकरी मिलने में कल्पनातीत निराशाओं का सामना करना पड़ता है और फलस्वरूप वे अपना जीवन असफल मान बैठते हैं। जो युवा और किशोर देश के सर्वतोमुखी विकास के लिए आदर्श और महान् नागरिक बनते, जिनकी रचनात्मक बुद्धि के फलस्वरूप संपूर्ण देश लाभांवित होता, वे ही दीन और दुखी बन जाते हैं। हुमायूँ कबीर अपनी पुस्तक 'स्वतंत्र भारत में शिक्षा' के पृष्ठ ९९ पर इस संबंध में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए लिखते हैं "यह माध्यमिक शिक्षा जीवन से बहुत दूर हटी हुई है, इसलिए यह छात्रों को अपने नित्य प्रति के संसार को समझने की अंतर्दृष्टि भी प्रदान नहीं करती। जब वे पढ़-लिख कर विद्यालय से बाहर निकलते हैं, तो अपने-आपको कुछ बेतुका-सा-अनुभव करते हैं तथा समाज में आत्म-विश्वास और सक्षमता के साथ अपना स्थान ग्रहण नहीं कर पाते।" अतः, ऐसी शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता है, जो विद्यार्थियों में जीवनशक्ति का संचार करे। ग्रामीण नवयुवकों को ग्रामीण जीवन से संबद्ध करने के लिए ग्रामीण विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना करनी चाहिए। विद्यार्थियों के मनोभाव और समस्या के निराकरण के संबंध में श्री के० जी० सैयदेन ग्राम्य शिक्षा को महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बतलाते हैं:—

"Thus the more ambitious and talented youngsters were gradually drawn away from the villages and this impovershed their future. The business of rural education, therefore, is to adapt an ideology and technique which will give village children the desire to stay in the village and train them to serve and enrich and improved village life. This alone can make education real and enlist childrens, interest—interest which is alienated today a bookish curricular and unpsychological methods

of approach." K . G . Saiyidain, Problems of Educational Reconstruction. Page 148.

वर्त्तमान शिक्षा-संस्थाओं में प्रदान की जाने वाली इस अमूर्त (Abstract) प्रकार की पूर्णतः अव्यावहारिक और सैद्धांतिक शिक्षा के विषय में जो नौकरी के अतिरिक्त युवा छात्रों को भावी जीवन के लिए कोई निश्चित और ठोस कार्यक्रम नहीं प्रस्तुत कर पाती, सर्वदा ही देश के नेताओं और सरकार के चिंतन की वस्तु बनी रहती है। महात्मा गांधी ने वास्तविक शिक्षा की मर्यादा का उल्लेख करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया कि केवल पढ़ना-लिखना जान लेना ही शिक्षा नहीं, वरन् शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक तथा वयस्क के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा के उच्चतम विकास से है। इसके लिए आवश्यक है कि प्राथमिक अवस्था से ही शिक्षा किसी उपयोगी हस्तकौशल पर आधारित कर प्रदान की जाए, ताकि बालकों का भावी जीवन आत्मनिर्भर योग्य बने, वे परमुखापेक्षिता की भावना से ग्रस्त नहीं होवें। विद्यालयीय जीवन की समाप्ति के बाद वे उस हस्तकौशल के द्वारा, जिसकी शिक्षा उन्होंने विद्यालय में ग्रहण की है तथा जिस पर स्थानीय सभ्यता और संस्कृति की छाप है, जो वहाँ के वातावरण के अनुकूल है, जीविकोपार्जन कर सकें। मात्र नौकरी ही उनके जीवन का सहारा नहीं रहे।

"By education I mean an all-round drawing out of the best in child and man--body, mind spirit. Literacy is not end of education nor even the beginning. It is only one of the means where by men and women can be educated. Literacy in its is no education. I would therefore begin the child's education by teaching it a useful handicraft and enabling it to produce from the moment it begins its training."—'Harijan' July, 1937

शिक्षा को उपयोगी बनाने के संबंध में विभिन्न कमीशनों ने भी समय-समय पर सहमति दी है। हंटर कमीशन (१८८२) ने विद्यालयों के पाठ्यक्रम में व्यावहारिक विषयों जैसे, कृषि, भौतिक-विज्ञान, वही -खाता आदि को सम्मिलित करने पर बल दिया था। सेडलर कमीशन (१९१७) ने "औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध विद्यालय और विश्वविद्यालय दोनों जगह की जाए।"—ऐसा विचार प्रकट किया। वुडएवट रिपोर्ट (१९३७) ने बतलाया कि प्राथमिक पाठशाला के पाठ्यक्रम में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम का निर्माण बालकों में उत्साह प्रदान करने वाला हो तथा उनमें केवल बौद्धिकता और पुस्तकीय ज्ञान

को ही महत्त्व नहीं दिया जाए, उनमें 'क्रियाप्रधानता' भी हो। गाँव के मिड्ल और हाई स्कूलों का पाठ्यक्रम गाँव की आवश्यकता और वातावरण को ध्यान में रखते हुए बनाया जाए। प्राथमिक तथा माध्यमिक कक्षाओं में 'आर्ट' और 'क्राफ्ट' की शिक्षा को प्रमुखता दी जाए। इस संबंध में सार्जेंट योजना (१९४४) ने निम्न-लिखित आशय का विचार व्यक्त किया है, "हाई स्कूलों का विभाजन दो रूपों में कर दिया जाए। प्रथम तकनीकी (Technical) तथा दूसरा साहित्यिक (Acadomic)। पहले प्रकार के स्कूलों में व्यावहारिक विज्ञान तथा व्यापारिक विषयों को पढ़ाया जाएगा। जैसे—इंजीनियरिंग, ड्राइंग, शार्टहैंड, एकाउन्टेंसी इत्यादि। दूसरे प्रकार के स्कूलों में कला तथा विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाएगी, जिसमें प्रमुख विषय मातृभाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान एवं संगीत आदि होंगे। पाठ्यक्रम का विस्तार किया जाए और आवश्यकतानुसार उसे लचीला बनाया जाए। छात्राओं को गृह-विज्ञान की शिक्षा दी जाए।" इस संबंध में अपना सुझाव प्रस्तुत करते हुए युनिवर्सिटी एडुकेशन कमीशन रिपोर्ट (१९४८) ने भी लिखा है "भारत एक कृषि-प्रधान देश है। भारतीय जनता का अधिकांश गाँवों में निवास करता है। अतः, शिक्षा का प्रसार अधिकांशतः गाँवों में ही होना चाहिए। भारत के वर्त्तमान विश्व-विद्यालय गुणात्मक त्रुटियों के अतिरिक्त देश की उच्च शिक्षा की समस्या को स्पर्श मात्र करते हैं। नवीन और महान् भारतीय गणतंत्र की उच्च शिक्षा का अधिकांश क्षेत्र अछूता है। मौजूदा विश्वविद्यालय का ढाँचा शहरी है, जो कि देश के अधिकांश लोगों के वातावरण, माँग एवं रूचि आदि के अनुकूल नहीं है। अतः, उच्च शिक्षा के लिए ऐसी संस्थाओं का विकास अपेक्षित है, जो ग्रामीण भारत के असंख्य लोगों को उनके वातावरण तथा जीवन से संबंधित ज्ञान कुशलता से दे सकें एवं उन्हें प्रतिगामी बना सकें।"

("The general advance of rural India will call for ever increasing range and quality of skill and training. To apply these and to meet the requirements of an educated citizenship, a system of rural colleges and universities necessary."U. E.C. R. Vol. I, Page 574)

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आयोग ने ग्रामीण विश्वविद्यालय की योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार ग्रामीण विश्वविद्यालयों का संगठन अनेक छोटे-छोटे तथा आवासीय पूर्व-स्नातक (Under-Graduates) कॉलेजों से हो। ये कॉलेज केंद्रस्थ विश्वविद्यालय के चारों ओर वृत्ताकार रूप में स्थित रहें। इन कॉलेजों में प्रत्येक में लगभग ३०० छात्र हों। प्रत्येक कॉलेज में शिक्षक अलग हों

तथा अनिवार्य विषयों के अध्ययन के सभी सामान इनमें वर्त्तमान रहें। पुस्तकालय, प्रयोगशाला तथा व्यायामशाला आदि की व्यवस्था कई कॉलेजों के लिए की जा सकती है। कॉलेजों की शिक्षा का उद्देश्य सामान्य शिक्षा के साथ-साथ विशिष्ट रुचियों को विकसित करना हो। पूर्व-स्नातक शिक्षा की अवधि में ही छात्रों को किसी विषय की विशेषीकृत शिक्षा का अवसर मिलना चाहिए, जिनमें उनकी अभिरुचि हो तथा जिसके अध्ययन के लिए वे उत्सुक हों। विशेषीकृत शिक्षा केंद्रस्य विश्वविद्यालय अथवा व्यावसायिक स्कूल में दी जाए। कॉलेजों की शिक्षा में वृत्तिगत (Occupational) तैयारी सम्मिलित रहे। इन कॉलेजों के छात्रों का आधा समय अध्ययन तथा आधा समय व्यावहारिक कार्य में लगाया जाए। इस उद्देश्य में सफलता के लिए डेनमार्क के लोक उच्च विद्यालय अथवा जनता कॉलेज के आदर्शों को ध्यान में रखा जा सकता है।

भारत, जो गाँवों में बसता है, की उन्नति और प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हमलोगों का पाठ्यक्रम ऐसा निर्मित हो कि जिससे किशोर नवयुवक वहाँ के वातावरण से अपने-आप को बिना किसी मानसिक दबाव या अवरोध के पूर्णरूपेण 'फिट' कर सकें। उनके जीवन और ग्रामीण जीवन में कोई विषमता नहीं हो तथा उन्हें गाँव में ही जीविकोपार्जन के समस्त साधन उपलब्ध हो जाएँ, ताकि प्रसन्नतापूर्वक वे वहाँ रहते हुए अपने समाज और अपनी संस्कृति के पृष्ठपोषक बनें। प्राचीन भारतीय समाज की रूपरेखा इसी प्रकार निर्मित थी। उस जमाने के व्यक्ति गाँव में ही अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न कर लेने की क्षमता रखते थे, फलस्वरूप भारतीय व्यापार, भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति उत्कर्ष पर थी और जिसका प्रचार विदेशों में भी खूब था। काल-क्रम में भारतीय अपने इन गुणों को भूलते गए, परिणामस्वरूप आज अपने उस कला-कौशल के अभाव में केवल नौकरी के अतिरिक्त जीविकोपार्जन का कोई दूसरा रास्ता सुगमतापूर्वक दृष्टिगत नहीं होता। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ग्रामीण विद्यालयों की स्थापना करनी पड़ेगी। ग्रामीण विद्यालयों के पाठ्यक्रम में बालकों की रुचि और परिस्थिति के अनुसार वे समस्त विषय समन्वित किए जाएँगे, जिनसे उनका मानसिक, नैतिक, शारीरिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक आदि सभी प्रकार की उन्नति हो, परंतु ग्रामीण वातावरण की पृष्ठभूमि में। पाठ्यक्रम में इस श्रम या व्यावसायिक विषय को भी समन्वित किया जाएगा, जो उस 'स्थानविशेष' में अधिक प्रचलित और उपयोगी है तथा जिसकी शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी अपने भावी जीवन में अच्छी तरह जीविकोपार्जन भी कर लेंगे। उदाहरणस्वरूप दूध को लिया जा सकता है। अगर किसी स्थानविशेष में ऐसी सुगमता है कि वहाँ की गाय अधिक दूध देती है अथवा दे सकती है,

उस अवस्था में दूध से जो भी व्यावसायिक वस्तु उत्पन्न की जा सकती है, उसकी वैज्ञानिक शिक्षा का प्रबंध शालाओं में होगा। प्रारंभ से ही विद्यालयों का वातावरण ऐसा निर्मित करना पड़ेगा कि विद्यार्थी एक निश्चित अवधि तक आदर्श नागरिकता के लिए अन्य आवश्यक विषयों के साथ-साथ कम-से-कम इस कला में पूर्णतः निष्णात हो जाएँ, ताकि भावी जीवन परमुखापेक्षी नहीं हो। यद्यपि हमारा लक्ष्य ऐसा होना चाहिए कि इस कौशल में शनैः-शनैः इतनी प्रगति करें, इसको उतना आगे बढ़ावें कि विश्व के किसी भी भाग के 'दुग्धोत्पादन-व्यापार' से वे टक्कर ले सकें। दूध के समान ही मधु-निर्माण, मत्स्य-पालन, तेल-उत्पादन, कताई-बुनाई, बढ़ईगिरी, चमड़े, खेती और फल आदि किसी कार्य को भी स्थानीय परिस्थिति, वातावरण और जनरुचि के अनुपात में प्रश्रय दिया जा सकता है।

इन समस्त क्रिया-कलापों का विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर बड़ा ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव होगा तथा श्रम के प्रति मर्यादा उत्पन्न होगी, भावी जीवन का कार्यक्रम निश्चित रूप से निर्धारित होगा और तथाकथित बाबू समाज के ही नहीं, अपितु उस समाज के आदर्श सदस्य होंगे, जो क्रियाशीलन की श्रेष्ठ मर्यादा पर अवस्थित हो राष्ट्र का हाथ मजबूत बनावेंगे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में किसी भी प्रकार के कार्य को छोटा नहीं माना जाता। वस्तुतः छोटा-बड़ा श्रम भी होता है—ऐसी भावना ही किसी नागरिक में नहीं है। कृषक, कुली-मजदूर, मेहतर तथा ड्राइवर को भी वही सहूलियतें प्राप्त हैं, जो किसी बड़े अफसर, डाक्टर, वकील अथवा व्यवसायी को प्राप्त हैं। किसी में इस कारण हीनता की भावना नहीं कि हम मात्र श्रमिक हैं। जीविकोपार्जन के साधन हमारे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परंतु हमारे सामाजिक अथवा राष्ट्रीय गुण भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते हैं।

एक विशाल देश होने के कारण भारत में स्थान-स्थान पर श्रम और व्यवसाय में विभिन्नता अवश्य होगी, परंतु ग्रामीण विद्यालयों का पाठ्यक्रम इतना लचीला होगा कि विषय-परिवर्तन की पूरी गुंजाइश होगी। इसी प्रकार उस स्थानविशेष की सांस्कृतिक झलक भी पाठ्यक्रम में मौजूद रहेगी। वहाँ की आवश्यकताओं और समस्याओं के साथ-साथ पाठ्यक्रम में प्रचलित लोकगीत, खेल, धार्मिक और सामाजिक नियम आदि का भी समावेश अवश्य होगा। इन ग्रामीण विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का मुख्य लक्ष्य यही होगा। प्रारंभिक अवस्था से अंत तक की शिक्षा-योजना इस प्रकार व्यवस्थित और निर्मित हो कि विद्यार्थियों का समस्त जीवन ग्रामीण वातावरण के अनुकूल ही निर्मित हो, ताकि वे सहज और सुगमतापूर्वक अपने के अवशेष वर्ष प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करें ही, अपनी संस्कृति के पोषक बन

कर समाज और राष्ट्र के उन्नयन में भी अपनी सक्रिय क्षमता से अपना सहयोग प्रदान करें।

ग्रामीण विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में शिक्षा का आधार रचनात्मक होना चाहिए। इसका समस्त कार्यक्रम न तो कठोर होना चाहिए और न सैद्धांतिक। इसमें इतना लचीलापन होना चाहिए कि धीरे-धीरे यह अपनी परंपराओं एवं शिक्षा प्रदान करने की प्रणालियों का विकास करने में समर्थ हो। ग्राम्य शिक्षण-संस्थाओं के पाठ्यक्रम में समाज-अध्ययन (सोशल स्टडिज) और व्यावहारिक विज्ञान (जेनरल साइंस) को विशेष स्थान दिया जाए; क्योंकि ग्राम्य जीवन की वास्तविक समस्याओं से इनका गहरा संबंध है। विद्यालयों में प्राप्त और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के बीच व्याप्त रूढ़िगत अवरोधों की समाप्ति के लिए ये विषय अधिक उपयोगी हैं। श्री के० जी० सैयदेन ने समाज-अध्ययन और व्यावहारिक विज्ञान की चर्चा करते हुए ग्रामीण जीवन के लिए इनको आवश्यक बतलाया है :—

("............This implies the framing of a syllabus particularly in social studies and general science.... which is closely retalted to real problems of rural life and which is so presented that the conventional wells between social knowledge and life situation disappear." K. G. Saiyidain Problems of Educational Reconstruction, Page 150)

समाज-शिक्षा और साधारण विज्ञान के अतिरिक्त कृषि, गणित, रसायन-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भशास्त्र खगोल, शारीरिक शिक्षा, मनोविज्ञान, सामाजिक विज्ञान, दर्शन और साहित्य आदि भी ग्रामीण विद्यालय और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के विषय होंगे।

कृषि-शिक्षा को प्रश्रय देने के संबंध में युनिवर्सिटी एडुकेशन कमीशन ने अपना सुझाव पेश करते हुए बतलाया है कि देश का प्रमुख धंधा कृषि होने के कारण इस शिक्षा पर विशेष ध्यान देना सरकार का प्रमुख कर्त्तव्य है। इस शिक्षा का प्रबंध माध्यमिक तथा उच्च विद्यालयों में किया जाना चाहिए। जहाँ तक हो सके, कृषि-शिक्षा संस्थाएँ गाँवों में ही स्थापित हों, जिनको आगे चल कर ग्रामीण विश्वविद्यालयों का रूप दे दिया जाए। प्रांतीय तथा केंद्रीय सरकारों को बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना करनी चाहिए, ताकि कृषि-संबंधी प्रयोग सरलता से किए जा सकें। पहले से चले आ रहे कृषि कॉलेजों को प्रत्येक प्रकार की सहायता देकर उनका

विकास किया जाए तथा कृषि-क्षेत्र में खोज और संचालन का भार केवल उन व्यक्तियों को ही सौंपा जाए, जो कृषि-जीवन के अत्यधिक निकट रहे हों तथा जिन्हें उसका विशेष ज्ञान हो।

व्यक्तित्व के विकास में खेल का महत्त्व

खेलों के शैक्षणिक महत्त्व को भी एनी बेसेंट ने अपनी शिक्षा-योजना में स्वीकार किया है। बाल्यावस्था की शिक्षा वे खेल के माध्यम से प्रदान करना चाहती हैं। खेल नवजीवन संचार की प्राकृतिक प्रक्रिया है। प्राचीनकाल से ही व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए खेलों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। खेल बालकों के समय काटने या समय नष्ट करने का साधन नहीं, बल्कि यह तो उनके समस्त गुणों के विकास के लिए प्रकृति-प्रदत्त महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके अभाव में व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है। स्पार्टा और एथेंस में इसे शिक्षा का आवश्यक अंग माना गया था। आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने खेल को अत्यंत महत्त्वपूर्ण बतलाया है। खेल में बालक जिस आत्मस्फूर्ति, स्वतंत्रता और आत्मविश्वास का अनुभव करता है, वह दूसरे किसी काम में नहीं करता। रूसो और पेस्टालॉजी ने खेल को शिक्षा का आवश्यक अंग माना है। फ्रोबेल का विश्वास था कि खेल के द्वारा बालक अपनी शक्तियों को स्वाभाविक और स्वतंत्र रूप से प्रकट करते हैं। एनी बेसेंट ने बड़े स्पष्ट शब्दों में ऐसे भाव का प्रकाशन किया है कि प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम 'खेल' को हम स्वीकार करें। चार वर्ष की अवस्था में ही उनके लिए खेल-संगठन प्रारंभ हो जाना चाहिए। बाल्यावस्था के लिए वे पेस्टालॉजी, मांटेसरी एवं फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धांतों को श्रेष्ठ बतलाती हैं। यही नहीं, उनका ऐसा विचार है कि माता-पिता एवं अन्य अभिभावक भी इन सिद्धांतों से परिचित रहें। खेल के माध्यम से व्यक्तित्व-विकास में अतिशय प्रेरणा मिलती है।

व्यक्तित्व-निर्धारण में खेल किस सीमा तक सहायक होता है, इस तथ्य का उल्लेख यहाँ अपेक्षित है।

'व्यक्तित्व' शब्द से उन सभी बातों का बोध एवं ज्ञान होता है, जो हमारे अंतर्गत हैं और जिनका हम अभिमान करते हैं। हमारे शरीर, मन और चरित्र सभी विषयों का समावेश 'व्यक्तित्व' शब्द में होता है। मनुष्य की संवेदनाएँ, मूल प्रवृत्तियाँ, उद्वेग, प्रत्यक्षवान्, कल्पना, स्मृति, बुद्धि तथा विवेक सभी मानसिक शक्तियों का संबोधन और परिलक्षण केवल एक शब्द 'व्यक्तित्व' में अंतर्निहित है। हमारे व्यक्तित्व का संवर्द्धन, गठन और विकास दूसरों के संपर्क में आने से होता है,

दूसरों के संग और सत्संग से उसमें स्थायित्व भी आता है। इससे स्पष्ट है कि हमारे व्यक्तित्व का अधिकांश सामाजिक है। आदर्श व्यक्तित्व वह है, जिसमें सभी अनुभवों का सुसंगठन सत्ता द्वारा हो, साथ ही-साथ व्यक्तित्व का कोई भी अंग संगठन के बाहर नहीं हो। जिस समय मनुष्य के विभिन्न अनुभवों के विभिन्न संस्कारों में विरोध रहता है और उसकी विभिन्न शक्तियों में एकता नहीं, होती, उस समय व्यक्तित्व-विच्छेद होता है।

व्यक्तित्व-विच्छेद होना भयानक मानसिक परिस्थिति है। व्यक्तित्व-विच्छेद से मनुष्य में अहंमन्यता आदि अवगुणों का प्रादुर्भाव तो हो ही जाता है, उसमें कतिपय अन्य दुर्गुण भी विकसित होने लगते हैं। स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व-विच्छेद से मनुष्य का सर्वस्व और भी लुप्तप्राय हो जाता है।

मानव को उलझनों से कुछ बातें सीखने और अपनी ज्ञानराशि को बढ़ाने का सुअवसर प्राप्त होता है और उससे ही वह अपना सुंदरतम जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। स्वस्थ एवं सफल जीवन व्यतीत करने के लिए सैनिक की तरह जीना आवश्यक है। असफलता को ठुकराकर आत्मविश्वस्त और आत्मनिर्भर हो कर समस्या का समाधान करना चाहिए। जीवन-संग्राम की विभीषिकाओं से भयभीत होकर, अपना मुँह मोड़ कर संतोष कर लेना, अपनी असफलता पर केवल पश्चाताप करना कुसंयोजित व्यक्तित्व के स्पष्ट लक्षण हैं। व्यक्तित्व में कुसंयोजन के कारण—प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड और एडलर आदि के अनुसार कुसंयोजित व्यक्तितव में निम्नलिखित चार प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं—(क) पलायन की भावना (ख) अंतर्मुखता (ग) पारितोषिक (घ) दिवा-स्वप्न।

फ्रायड के अनुसार सबसे प्रबल वासना अचेतन मन की काम-वासना है। मनुष्य की नैतिक धारणा प्रबल होने के कारण समाज में काम-वासना संबंधी बातचीत करना बहुत बुरा समझा जाता है। अतः, उसका दमन करने से मानसिक ग्रंथि का निर्माण होता है।

एडलर महाशय के अनुसार मनुष्य की प्रबल वासना, आत्म-प्रकाशन की वासना है। योग्य रीति से इस वासना की पूर्ति कठिन है। इसके अतृप्त रहने पर उनमें अनेक शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इनका दमन ही आत्म-हीनता की ग्रंथि का कारण होता है।

युंग महाशय के अनुसार मनुष्य की सबसे प्रबल वासना समाज में रहने की है। मनुष्य को चाहे कितना ही गौरव प्राप्त हो और वह चाहे कितना ही भोग-

विलास क्यों न करें, वह तब तक शांति प्राप्त नहीं करता, जब तक उसके स्वार्थ से समाज के स्वार्थ से ऐक्य स्थापित नहीं होता। जिस प्रकार किसी मानसिक या शारीरिक रोग में दबी हुई मानसिक भावना प्रकट होती है, उसी प्रकार कुसंयोजित प्रवृत्ति भी पलायन, अंतर्मुखता और दिवा-स्वप्न में प्रकट होती है।

बहुत से व्यक्ति जीवन के सत्य का सामना नहीं करके भाग खड़े होते हैं। कभी तो यह कार्य इच्छापूर्वक किया जाता है, कभी मानसिक पलायन के कारण कठिनाई के साथ। छात्र आसान विषयों के निर्वाचन की इच्छा प्रकट करता है, इसलिए कि वह कठिन परिश्रम करना नहीं चाहता। उसमें एकांत और आराम की पिपासा होती है। बहुत से युवक हृदय-रोग के बहाने कठिन खेल नहीं खेलते अथवा सीढ़ी या ऊँचाई पर नहीं चढ़ना चाहते। पलायन की पराकाष्ठा उस समय मुखर होती है, जब कुछ व्यक्ति आत्महत्या कर बैठते हैं।

पलायन का कारण अधिकतर व्यक्ति की अंतर्मुखता होती है। अंतर्मुखी व्यक्ति सामाजिक संबंधों के विच्छेद करके, सर्वदा सामाजिक समस्याओं का समाधान करने की कोशिश करता है और जहाँ तक संभव होता है, उससे अलग भी रहता है। अंतर्मुखी होना कुसंयोजन की प्रमुख पहचान है और यह प्रवृत्ति उसी में पायी जाती है, जो अपने संयोगों का उचित उपयोग नहीं कर सकते। अंतर्मुखी व्यक्ति अपनी असफलताओं एवं समस्याओं पर चिंतन करने लगता है। इसके लिए स्वयं ही दुखी होता है। ऐसे छात्र प्रायः क्रोधी और उद्दंड होते हैं और अपने गुरुजनों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। ऐसे छात्रों को सुधारने का उपाय यही है कि इन्हें भाषण और नाटक में या अन्य पाठ्यक्रमेतर या पाठ्यांतर विषयों की ओर आकृष्ट किया जाए।

पूर्ति भी कुसंयोजन का कारण है। किसी व्यक्ति में हीनता की भावना हो सकती है, अगर उसमें शारीरिक अंगाभाव, विकृत अंग, हीन पोशाक या अन्य इसी प्रकार की कमी हो। संभवतः उसमें अगर हीन-ग्रंथि रहती है, तो वह सादृश्यिक कार्यों द्वारा उसकी पूर्ति करना चाहेगा। यह भी संभव है कि वह उसकी पूर्ति असफलतापूर्वक असामाजिक कार्यों द्वारा करना चाहे।

बहुत-से व्यक्ति साधारण समस्याओं का समाधान सफलतापूर्वक नहीं करके या नहीं कर सकने के कारण दिवा-स्वप्न के मार्ग को अपनाते हैं तथा मानसिक कमी की पूर्ति करने एवं सफलता पाने की आशा करके तृप्तिफल प्राप्त करते हैं और इस प्रकार कल्पना के द्वारा इच्छा की पूर्ति कर सत्य से पलायन करते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन की खोज में चमत्कारिक उन्नति की है। मन-संबंधी नवीन खोजें इतने महत्त्व की हैं कि वे हमारी मनःग्रंथि-संबंधी समस्याओं के समाधान में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कर देती हैं। खोज करने वालों में सिगमन फ्रायड का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने वहुत-से प्रयोगों के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि अचेतन शक्तियाँ गुप्त रूप से हमारी मानसिक क्रियाओं का संचालन करती हैं तथा ये हमारे प्रतिदिन के व्यवहारों, शिष्टाचारों तथा मानसिक विकारों के आधार हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में व्यवहारवादी मनोविज्ञान के अनुयायियों ने तो 'चेतन' को मानसशास्त्र का विषय तक मानने से इन्कार कर दिया है। अनेक परीक्षणों के द्वारा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण ने केवल यही नहीं सिद्ध किया है कि मानसिक शक्तियाँ शारीरिक क्रियाओं का नियंत्रण करती हैं, वलिक यह भी प्रमाणित कर दिया है कि मानसिक शक्ति अथाह और अनंत है। केवल 'चेतना' ही हमारी मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं है, अपितु चेतना के साथ-साथ हमारे मन की अर्द्धचेतना तथा 'अचेतन' भी गुप्त रूप से हमारे मानसिक जीवन का संचालन करती हैं। हमारे जीवन की अधिक क्रियाएँ 'अचेतन' की होती हैं। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों में वालकों का अचेतन मन उनकी चेतन वुद्धि की अपेक्षा अधिक वलशाली होता है। इस अचेतन मन के द्वारा हमारे जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण पाठ सिखाए गए हैं। इनको सीखने में हमें किसी प्रकार की क्लांति का अनुभव नहीं होता। ज्ञान की यह अचेतन शक्ति हमारे जीवन के साथ एक रस है।[1] यह एक ऐसा दीपक नहीं है, जिसे वाहर से जलाया जाए, वलिक ऐसा प्रकाश-पुंज है, जो कि जुगनू के समान अपनी जीवन-प्रक्रिया से चलता है। मेरिया मांटेसरी का भी ऐसा ही निश्चित विचार है। चेतन और अचेतन द्वारा की हुई क्रियाओं में जो भेद होता है, उसे अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए, तो चेतन को केवल समुद्र के ऊपरी सतह का मान और अचेतन को अथाह समुद्र की गहराई की उपमा दी जा सकती है।

अचेतन का निर्माण शैशवावस्था से हमारी उन इच्छाओं के द्वारा होता है, जो समाज, हमारे माता-पिता हमारे आदर्श इत्यादि के भय तथा वंधनों से दव जाती हैं; किंतु वास्तव में वे हमारी विवेकशक्ति रूपी प्रतिरोधक के भय से चेतना के ऊपरी क्षेत्र में नहीं आती हैं और निर्वासित विद्रोहियों की भाँति भूगर्भस्थ होकर सर्वदा चेतन की राजसत्ता के विरुद्ध वगावत करने की योजनाएँ वनाती रहती हैं। सिगमन फ्रायड ने मनोविश्लेषण के द्वारा यहाँ तक सिद्ध किया है कि न केवल हमारे स्वप्न

१. रवींद्रनाथ ठाकुर का शिक्षा-दर्शन, शिक्षा, जुलाई १९५७ ई०, पृष्ठ १५।

अपितु हमारी समस्त मानसिक व्याधियाँ और शिष्टाचार-व्यवहार आदि की त्रुटियाँ भी हमारी 'अचेतन' इच्छाओं अर्थात् हमारी दबी हुई इच्छाओं के कारण होती है। इच्छाओं के दमन के कारण न केवल बालक की शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति रुक जाती है, अपितु उसके चरित्र पर भी बहुत हानिकर प्रभाव पड़ता है। जिन शिशुओं का लालन-पालन निरंतर भय अथवा निराशा के वातावरण में हुआ हो, जिस बालक के आत्म-प्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति को धक्का लगा हो, वह बालक जिद्दी, असत्यवादी, झगड़ालू तथा कृतघ्न हो जाता है। बालक का हठ, विशेषकर उनकी आत्म-प्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति को क्षति पहुँचाने से होता है। जब घर में शिशु की उपेक्षा की जाती है, उसके कार्य की प्रशंसा नहीं की जाती, तब उसके मन और मस्तिष्क को एक आघात लगता है और तब वह उस अपमान का बदला माता-पिता और गुरुजनों की अवज्ञा करके लेता है। इसके अतिरिक्त जब शिशु को प्यार नहीं किया जाए यदि माता-पिता में प्रेम नहीं हो और गृहस्थी के झगड़ों के कारण शिशु के प्रेम की अवज्ञा की जाए, तो शिशु के व्यक्तित्व का सामान्य विकास नहीं हो पाता और न वह सुशिक्षित ही हो सकता है। शिक्षकों और माता-पिता को उसके समक्ष सद्व्यवहार का आदर्श उपस्थित करना चाहिए। अध्यापक देखे कि बच्चे सजा को समझ लें और उनको स्कूल के काम में आनंद आए। शैतान, न दबने वाले आदि बालकों की पहचान है—सौगंध, कसमें खाना, नशा-सेवन, क्रोध या उद्दंडता।

किसी व्यक्ति के चरित्र का वह संगठन अनुशासन है, जिससे जीवन की परिस्थितियों में ठीक और प्रभावशाली व्यवस्था हो सके। अतः, अच्छे व्यक्तित्व की पहचान है कि यह सामाजिक अवस्थाओं को अपने अनुकूल कर ले। अनुशासन का अभाव कुव्यवस्था है, जो व्यक्तित्व के कुसंयोजन की जड़ है। कक्षा में अनुशासन की समस्या प्रायः कुछ व्यक्तियों की सामाजिक शिक्षा के प्रभाव के कारण होती है। कुछ विद्यार्थी जिनको अध्यापकों, माता-पिता और स्कूल के अधिकारियों के प्रति कुछ शिकायतें हैं और जिन्होंने किसी बात से अपनी इच्छा का दमन करने का प्रयास किया है, वे ऐसे ही होते हैं। अध्यापक का काम व्यक्तित्व की भावना का विकास करना और अन्य लोगों, संपत्ति और अधिकारियों के प्रति उचित धारणा बनाना है। जब एक बालक पढ़ाई में अपने आत्म-प्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति को तृप्त नहीं कर सकता हो, तो उसे किसी अन्य क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए। जब ऐसा नहीं किया जाता है, तब बालक अपनी शक्ति उद्दंडता में व्यक्त करता है। अतः, बालक को इस भावना-ग्रंथि से बचाने के लिए उन्मुक्त वातावरण में रखना चाहिए। भय की अपेक्षा प्रेम से उसके मन पर अधिकार करना चाहिए

और उसकी मूल-प्रवृत्तियों को प्रतिरोध की अपेक्षा मार्गान्तरीकरण तथा शोध के द्वारा निर्मित करने का प्रयास होना परमावश्यक है। किंतु, इसका मतलब यह नहीं होता कि वालक को अनुशासन में बिल्कुल ही नहीं रखा जाए। अतः, वालक को बहुत प्रेम से विवेक के उपयोग करने की प्रेरणा देना भी उसके हठ को दूर करने का उपाय बन सकता है। इस प्रसंग में सर्वदा स्मरणीय है कि जिन वातों और व्यवहारों को हम करना चाहते हैं, उनके समर्थन में युक्तिपूर्वक एक मानसिक व्याख्या स्वतः ढूंढ़ लेते हैं। माता-पिता और गुरुजन एवं अध्यापकगण छोटी-छोटी गलतियों पर सजा देकर उन किशोरों को इसके लिए प्रेरित और उत्साहित करते हैं कि वे एक कारण ढूंढ़ निकालें। इस प्रकार किशोरावस्था या वाल्यावस्था में ही वच्चों को ऐसे कारण ढूंढ़ने की आदत लग जाती है, जो युवा और प्रौढ़ावस्था तक नहीं छूटती तथा भयानक दुष्कार्यों के कारण बनती है। सुहृद्जनों को ठीक कारण देने के लिए उत्साहित करना चाहिए। युक्तिपूर्वक व्यवस्था का दूसरा रूप विकास है, इसमें दोप दूसरे व्यक्तियों के ऊपर डाल दिया जाता है। वालकों को अपने काम का उत्तरदायित्व लेना चाहिए और वे अपने किए का फल भुगतने को तैयार रहें, अपने दुष्कार्यों का प्रायश्चित करें। एकरूपता भी इसी प्रकार की मानसिक तरतीव है। वालक मान लेता है कि वह किसी कहानी या चित्र का नायक है और नायक की भाँति ही काम करता है। कार्य करने के वदले जव विचारों से ही कोई संतुष्ट हो जाता है, तव यह स्थिति खतरनाक है। इन सव मानसिक विकारों के लिए दैनिक जीवन और पाठ्यक्रम में अधिक पाठ्यांतर या पाठ्येतर विपयों का सम्मिश्रण क्रिया और खेल का सम्मिलन ही एक मात्र उपाय है और इसी से वालक सामाजिक रूप से स्वस्थ रह सकते हैं।

एनी बेसेंट और राष्ट्रीय शिक्षा-योजना

भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एनी वेसेंट ने देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का निर्माण किया है, जिसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है —

१. प्रारंभिक विद्यालय : प्रारंभिक विद्यालयों में कक्षा एक के 'अ' और 'व' दो भाग होने चाहिए। इन विद्यालयों में पाँच से सात वर्प की आयु के वालक पढ़ सकते हैं। इन वालकों के शारीरिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। शारीरिक क्रियाओं के वारे में वे पूर्ण सचेष्ट रहें। उनमें अपने चारों ओर के परिवेश की वस्तुओं की ओर जिज्ञासा उत्पन्न करके उन्हें उनके वारे में ज्ञान

प्राप्त करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के खेलों के प्रचलन द्वारा उनमें व्यक्तिगत और सामाजिक गुणों का विकास किया जाए। उनकी शारीरिक स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षक बालक के मनोविज्ञान से पूर्णतया परिचित हों, ताकि वे मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षा दे सकें। गणित की शिक्षा पदार्थों के द्वारा दी जानी चाहिए। धार्मिक और नैतिक शिक्षा कहानियाँ सुनाकर दी जा सकती हैं। बालकों को तरह-तरह के चित्र बनाने के लिए प्रोत्साहित करके कला की शिक्षा दी जा सकती है। उद्यानों में तरह-तरह के फूल-पौधों, पक्षियों और कीड़ों-मकोड़ों के निरीक्षण से बालकों को वनस्पति-विज्ञान और जीवशास्त्र की शिक्षा दी जा सकती है। बालकों को अनुकरण से बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। इसलिए शिक्षकों को उनके सामने आचरण और स्वभाव के उच्च आदर्श उपस्थित करने चाहिए और उनसे सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए।

२. निम्न माध्यमिक विद्यालय : इनमें दूसरी, तीसरी और चौथी कक्षाएँ होनी चाहिए। इन विद्यालयों में ७ से १० वर्ष की आयु की बालक-बालिकाओं को प्रवेश मिलना चाहिए। इन विद्यालयों में बहुमुखी शिक्षा आवश्यक है, जिसके लिए मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। शारीरिक शिक्षा में आत्म-नियंत्रण, व्यायाम और योगाभ्यास का उपयोग किया जा सकता है। साहित्यिक शिक्षा में भाषा और साहित्य का ज्ञान कराया जाना चाहिए। इसमें मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, पालि, अरबी और अंग्रेजी आदि का प्रारंभिक ज्ञान भी दिया जा सकता है। प्रकृति-विज्ञान की शिक्षा प्रकृति के निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा दी जानी चाहिए। इतिहास की बातें कहानियों से सिखायी जा सकती हैं। भूगोल की शिक्षा चित्रों और मानचित्रों की सहायता से सरल बन जाती है। गणित की शिक्षा में अभ्यास का विशेष महत्त्व है। बौद्धिक शिक्षा के अतिरिक्त निम्न माध्यमिक विद्यालय में शिक्षाप्रद कहानियों के द्वारा बालकों में साहस, सम्मान, आत्मत्याग, श्रद्धा, कर्त्तव्य-पालन और दया के नैतिक गुणों का विकास किया जा सकता है। धार्मिक शिक्षा धार्मिक कहानियों, प्रार्थनाओं और महापुरुषों के जीवन-चरित से दी जानी चाहिए।

३. उच्चतर माध्यमिक विद्यालय : इन विद्यालयों में पाँचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाएँ होनी चाहिए। इनमें १० से १४ वर्ष की आयु तक के बालक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस काल में विभिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए उन्हीं प्रणालियों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिनके बारे में पीछे बतलाया जा चुका है, किंतु इस काल में विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं का स्तर ऊँचा हो जाता है। उदाहरण के लिए शारीरिक शिक्षा में ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर जोर देते हुए व्यायाम की

शिक्षा दी जानी चाहिए। बौद्धिक शिक्षा में विभिन्न भाषाओं के अतिरिक्त प्रकृति-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उच्चतर गणित, बीजगणित, ज्यामिति, राजनीति, अर्थ-शास्त्र और विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों की शिक्षा दी जानी चाहिए। ऊँची कक्षा के छात्रों को छोटी कक्षाओं के छात्रों को पढ़ाने का अवसर देना चाहिए। धार्मिक शिक्षा में छात्रों को विभिन्न धर्मों की एकता के साथ मूल तत्त्वों को समझना चाहिए। नैतिक शिक्षा में उन्हें आदर्श मानव और आदर्श नागरिक के गुणों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

४. हाई स्कूल : इन विद्यालयों में नवीं और दसवीं कक्षाएँ होनी चाहिए। इनमें पढ़ने वाले छात्रों की आयु १४ से सत्रह वर्ष होनी चाहिए। हाई स्कूल में अन्य पहलुओं के साथ-साथ मानसिक विकास पर विशेष बल दिया जाना चाहिए, ताकि हाई छात्र स्कूल से निकलने के बाद जीविकोपार्जन के योग्य बन सकें।

एनी बेसेंट ने पाठ्य-विषयों के अनुसार हाई स्कूलों को कलात्मक, वैज्ञानिक, व्यापारिक तकनीकी और कृषि हाई स्कूलों में विभाजित किया है, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(क) कलात्मक सामान्य हाई स्कूल—इनमें मातृभाषा और आंग्ल भाषा के अतिरिक्त संस्कृत, अरबी, पालि भाषाओं को ऐच्छिक रूप से पढ़ाने की व्यवस्था होनी चाहिए। मातृभाषा अंग्रेजी, इतिहास और भूगोल की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त प्राथमिक चिकित्सा तथा मनोविज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

(ख) सामान्य वैज्ञानिक हाई स्कूल—इनमें मातृभाषा, अंग्रेजी, भौतिक-विज्ञान रसायनशास्त्र, बीजगणित, त्रिकोणमिति और क्षेत्रमिति की विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए।

(ग) व्यापारिक स्कूल—इनमें व्यापार में प्रयोग होने वाली विदेशी भाषाओं के अतिरिक्त मातृभाषा, व्यापारिक गणित, कार्यालय की प्रणालियाँ, व्यापारिक कानून, टाइप, शॉर्टहैंड इत्यादि की शिक्षा दी जानी चाहिए। बालिकाओं को भोजन बनाने तथा घर के सभी काम-काज की शिक्षा दी जानी चाहिए।

(घ) टेकनीकल हाई स्कूल—इनमें वैज्ञानिक हाई स्कूलों के पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जानी चाहिए, किंतु भाषाओं के स्थान पर प्रारंभिक इंजीनियरिंग, यंत्र-विद्या, बिजली और औद्योगिक इतिहास की शिक्षा दी जानी चाहिए।

(ङ) कृषि हाई स्कूल—इनमें कृषि-संबंधी गणित, भौतिक-विज्ञान, गृह-विज्ञान, यंत्र-विद्या, प्रकृति-विज्ञान आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए। कृषि की शिक्षा का

ग्रामीण जीवन से घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। कृषि के साथ-साथ बागवानी की भी शिक्षा दी जानी चाहिए।

विभिन्न प्रकार के हाई स्कूल के पाठ्यक्रमों की उपर्युक्त रूपरेखा से स्पष्ट है कि एनी बेसेंट के अनुसार हाई स्कूल से निकलने के बाद बालक-बालिकाओं में जीविकोपार्जन के हेतु विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने की योग्यता होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वे शिक्षा को उपयोगी बनाना चाहती थीं; क्योंकि वे भारत की गरीबी से परिचित थीं। जहाँ उन्होंने प्राचीन भारतीय विचारों और मूल्यों का महत्व पहचाना, वहाँ वे देश की समकालीन समस्याओं और आवश्यकताओं को भी खूब समझती थीं। इसलिए शिक्षा के संबंध में उनके विचारों का आज भी भारत में अत्यधिक महत्त्व है।

संवेगों की शिक्षा

एनी बेसेंट का विचार है कि शिक्षकों को बालकों के संवेगात्मक विकास पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। संवेगों की शिक्षा एवं उचित मार्गप्रदर्शन की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य की उपलब्धि में संवेगों का बहुत हाथ है। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि संवेगों और सीखने में घनिष्ठ संबंध है। बौद्धिक विकास एवं संवेग, जीवन के ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। भय या क्रोध के कारण बालक सीखी हुई बात भी भूल जाता है। संवेग क्रियाशीलता के स्रोत हैं। बालकों का चरित्र-गठन, मानसिक विकास, किसी विषय को पढ़ने में रूचि तथा ध्यान की एकाग्रता उनकी संवेगों की उचित शिक्षा पर निर्भर करते हैं। संवेगों के वास्तविक विकास से उनमें उत्साह, वीरता, सहानुभूति, प्रेम, दया एवं विद्यानुराग आदि भाव विकसित होते हैं। यहीं नहीं, संवेगावस्था में व्यक्ति महान् कार्य भी कर सकता है। संवेग एक प्रबल प्रेरक शक्ति है।

यदि संवेगों का मार्ग अशुद्ध है, तो क्रियाशीलता का रूप भी अशुद्ध होगा। अतः, बालकों के संवेगों को उपयुक्त मार्ग पर ले चलने के लिए यह आवश्यक है कि उनके आसपास का वातावरण स्नेहपूर्ण हो। स्नेहपूर्ण वातावरण संवेगों के अभ्यास के लिए नितांत आवश्यक है। अनिश्चितता की अवस्था और भयपूर्ण बने रहने से बालक के संवेगात्मक विकास में बड़ी त्रुटि उत्पन्न होती है। संवेगात्मक शिक्षा के अभाव में बालक का मस्तिष्क कठोर एवं संकीर्ण हो जाता है। ऐसी अवस्था में बालक के मस्तिष्क को कठोरता एवं संकीर्णता से बचाने के लिए शिक्षक को विशेष सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

संवेग भी दो प्रकार के होते है—(१) निश्चयात्मक एवं (२) निषेधात्मक। शिक्षकों को निश्चयात्मक संवेगों को ही प्रश्रय देना चाहिए। निश्चयात्मक (रचनात्मक) संवेगों का तात्पर्य उन संवेगों से है जो सहानुभूति, स्नेह, दया एवं करुणा आदि भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। घृणा, द्वेष और क्रोध आदि भावनाओं को उत्पन्न करने वाले संवेग निषेधात्मक संवेग कहे जाते हैं। निश्चयात्मक या रचनात्मक संवेगों की शिक्षा के आधार पर अध्यापक छात्रों में प्रेम, एकता, दया, करुणा, उदारता, प्रसन्नता एवं शांति के साथ-साथ विश्व-वंधुत्व की भावना उत्पन्न कर सकने में समर्थ होगा। इस प्रकार शिक्षक, जो बालकों के भावी पिता हैं, समाज और राष्ट्र सवका कल्याण कर सकने में समर्थ हैं, अगर वे तत्पर वनें।

शिक्षकों के कर्त्तव्य

अपनी एक व्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा-योजना प्रस्तुत करते समय एनी वेसेंट ने शिक्षकों के लिए भी कुछ आवश्यक तत्त्वों को अनिवार्य वतलाया है। इन तत्त्वों को धारण करके ही शिक्षकवृंद शिक्षा-संस्थाओं में समाज का सच्चा चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे और तभी उनके विद्यार्थी समाजीकरण के रास्ते पर चलेंगे। शिक्षक का स्थान अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण है। समाज के व्यक्ति उनके विचार तथा आदर्श की प्रतिच्छाया हैं। वस्तुतः वे समाज तथा राष्ट्र के निर्माता हैं। वे देश की गति-विधि को अपनी इच्छानुसार मोड़ सकने में समर्थ हैं। वर्तमान और भावी समाज की रूपरेखा निर्मित, प्रस्तुत तथा कार्यान्वित कर सकने की क्षमता शिक्षक में ही है। वह विभिन्न क्षेत्र की शक्तियों का केंद्रविंदु है तथा प्रगति और विकास की प्रतिमूर्ति है। ऐसी अवस्था में एनी वेसेंट ने अध्यापकों के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व की विवेचना कर हमारा मार्ग ही प्रशस्त किया है।

अध्यापकों के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का उल्लेख करते हुए एनी वेसेंट ने कहा है कि अध्यापक अपने शिष्यों को एक अमर आत्मा के स्वरूप में देखें। विद्यार्थियों को अपने महान् वंशानुक्रम तथा भव्य भावी जीवन का ज्ञान नहीं होता। इस तथ्य से वे अवगत नहीं रहते कि उनमें महान् कार्य करने की क्षमता है, वे अद्भुत अमोघ शक्ति के भांडार हैं, शक्ति के द्योतक हैं, प्रकाश-पुंज हैं। वे समाज एवं विश्व से अवगत नहीं रहते हैं। इन समस्त विषयों की जानकारी शिक्षक ही उन्हें दे सकेंगे।

शिक्षक अपने विद्यार्थियों के वुद्धि-वल को, ज्ञान-वल को विद्या के संचार से विकसित करें, ताकि उन्हें अपने भव्य भावी जीवन का ज्ञान हो तथा इसके उत्कर्षण एवं वर्द्धन के निमित्त वे सजग और जागरूक वनें। शिक्षकों को छात्रों के आत्मा

एवं शरीर से पूर्णतः परिचित होने की आवश्यकता है। उन्हें समझना चाहिए कि शरीर आत्मा की सवारी है, जिससे वह गंतव्य स्थान तक पहुँचती है। शिक्षकों को अपने विद्यार्थियों के व्यक्तिगत जीवन का सम्मान करना चाहिए। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का भी विचार है कि विद्यार्थियों के आत्मसम्मान से उन्हें अपने जीवन-पथ पर सुगमतापूर्वक अग्रसर होने में सहायता मिलती है। उनका व्यक्तित्व ऊँचा उठता है और उनकी मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं।

यजुर्वेद में लिखा है—

"शर्मास्यवधूतं रक्षो
अवधूता अरायतः।" यजुर्वेद १/१४

अर्थात् शिक्षक अथवा अध्यापक को 'शर्मन्' अर्थात् घर के समान उपयोगी, प्रिय तथा निर्भय होना चाहिए। छात्र और शिष्यगण, शिक्षक के पास अध्ययन के लिए ऐसे चाव तथा लगन के साथ दौड़े-दौड़े जाएँ, जैसे अपने घर को वे जाते हैं। पाठशाला और अध्यापकवृंद छात्रों के लिए अत्यंत प्रिय वस्तु बन जावें—वहाँ जाने पर उनको किसी प्रकार का भय अथवा संकोच का लेश तक न होना चाहिए। अध्यापकों का व्यवहार, पाठनशैली और कर्त्तव्यनिष्ठा रोचक तथा आकर्षक होनी चाहिए। शिक्षकों के संसर्ग से छात्रों के दुष्ट स्वभाव और अनुदार भावनाएँ दूर हो जानी चाहिए। उनमें सद्व्यवहार और उदात्त चरित्र का प्रस्फुटन होना चाहिए।

शिक्षा का माध्यम

शिक्षा के माध्यम के विषय में एनी बेसेंट का विचार था कि वह भाषा अपनी मातृभाषा होनी चाहिए। अंग्रेजी को उन्होंने द्वितीय स्थान दिया है। उनके मतानुसार हाई स्कूल एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अंग्रेजी को द्वितीय अनिवार्य भाषा के रूप में स्थान मिलना चाहिए। संस्कृत, अरबी तथा पालि ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जाए एवं विशेष योग्यता की शिक्षा मातृभाषा, आंग्ल भाषा तथा इतिहास और भूगोल में होनी चाहिए। शिक्षा के स्वरूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाली सार्जेंट योजना (१९४४ ई०) ने भी शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का होना ही स्वीकार किया है।

शिक्षा-संस्थाओं की स्वतंत्रता

एनी बेसेंट के विचारानुसार शिक्षा-संस्थाओं को अपने-आप में स्वतंत्र रहना चाहिए। प्राचीन गुरुकुल आश्रमों के आदर्श संगठन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए उनका कहना है कि राजे-महाराजे इन गुरुकुलों को आर्थिक सहायता जरूर

देते थे, पर इन शिक्षण संस्थाओं पर उनका वाह्य अथवा आंतरिक नियंत्रण नहीं था। अपनी शैक्षणिक एवं प्रशासकीय व्यवस्था करने में ये गुरुकुल आश्रम सर्वथा स्वतंत्र एवं मुक्त थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा-केंद्र नालंदा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय इसके ज्वलत उदाहरण हैं। राजा धर्मपाल विक्रमशिला एवं नालंदा को आर्थिक सहायता देते थे, परंतु उनका इन पर नियंत्रण नहीं था।

("The teaching was controlled by a board of eminent teachers and it is stated that this Board of Vikramshila also administered the affairs of Nalanda." Ancient Indian Education, by Radhakumud Mukherjee. Page 587)

परंतु, आज ऐसा नहीं है। आधुनिक युग में सरकार का यह कर्त्तव्य है कि शिक्षा एवं सांस्कृतिक संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व वह अवश्य सँभाले, परंतु उनकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे।

एनी वेसेंट का प्रभाव

एनी वेसेंट ने एक अँगरेज महिला होते हुए भी, अपने कार्य एवं अपने सद्-विचार से भारतीयों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने हमारे लिए शिक्षा-संबंधी सिद्धांतों का प्रणयन तो किया ही, भारतीय राजनीति एवं हिंदू धर्म-सुधार-आंदोलन में भी वे पर्याप्त सक्रिय बनी रहीं। वे हृदय से भारतीयों का कल्याण चाहती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदुओं के उत्थान-काल के इतिहास में एनी वेसेंट का नाम चिरस्मरणीय है। अपने जीवन के चालीस वर्ष उन्होंने हिंदू जनता के कल्याणार्थ एवं हिंदुत्व के पुनरूद्धारार्थ व्यतीत किए। हिंदू जनता के परम पावन स्थान वाराणसी में रहना वे विशेष पसंद करती थीं। उन्होंने वाराणसी में 'सेंट्रल हिंदू कॉलिज' की स्थापना की, जो काल-क्रम में 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' के रूप में विश्वविख्यात हो रहा है। उन्हें रामायण, महाभारत, गीता तथा हिंदू धार्मिक ग्रंथों से अत्यधिक प्रेम था। उन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा हिंदू धर्म के महत्त्व एवं आदर्शों को यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में फैलाया। भारतीय शिक्षा-दर्शन के इतिहास में उनकी देन सदैव अमर है।

अध्याय ३०

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

वृटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध सन् १६१६ ई० में 'स्वराज्य और स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—सर्वप्रथम इस महामंत्र की घोषणा करने वाले स्वनामधन्य श्री लोकमान्य वलवंत राव वालगंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ ई० को महाराष्ट्र के रत्नागिरी शहर में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। भारत राष्ट्र के निर्माता लोकमान्य तिलक श्रेष्ठ कोटि के राजनैतिक नेता ही नहीं, अपितु महान् वेदज्ञ, गीता, महाभारत, इतिहास, भारतीय अर्थशास्त्र आदि विपयों के प्रतिभासंपन्न प्रकांड पंडित थे। आप कानून के वड़े मर्मज्ञ थे। उनके कानूनी ज्ञान की विशदता का परिचय १६०८ ई० के व्याख्यान से प्राप्त होता है, जिसकी समाप्ति में पूरे इक्कीस घंटे, दस मिनट लगे थे। अत्यंत उज्ज्वल आदर्श, तेजस्वी और निर्भीक चरित्र के कारण तिलक महाराज का सम्मान भारत में ऋषि-तुल्य होता था। इनके परम विरोधी वैलेंटिन शिरोल ने भी स्वीकार किया है "जव लखनऊ कांग्रेस के पंडाल में तिलक ने प्रवेश किया, तव देवता के समान उनका स्वागत किया गया।" वंवई के तत्कालीन गवर्नर सिडेनहम ने मोर्ले (तत्कालीन भारत-मंत्री) से कहा था कि "जून १६०८ई० में वंवई सरकार के सामने एक ही प्रश्न था—दक्षिण भारत में तिलक का शासन चलेगा या अंग्रेजी सरकार का?" अपनी त्याग और तपस्या के फलस्वरूप इन्होंने जनमत के हृदय और मस्तिष्क पर कितना विलक्षण प्रभाव उत्पन्न कर लिया था—मोर्ले के उपर्युक्त इस एक वाक्य से ही स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार रूसो के आदर्शवाद से फ्रांसीसी राज्यक्रांति को प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा कार्ल मार्क्स की शिक्षा से रूसी क्रांति को वल मिला था, उसी प्रकार महर्षि दयानंद, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से वर्तमान भारत उन्नत और स्वतंत्र हुआ है। अपनी मौलिक चिंतनधारा के

आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में भी तिलक महोदय ने जो विचार व्यक्त किए, वे तत्कालीन समाज और देश के लिए तो अद्भुत, उपयोगी और उपकारी तो थे ही, भावी पीढ़ी के लिए भी उत्तम और अनुकरणीय थे।

पूना न्यू इंगलिश स्कूल

लोकमान्य तिलक जब पूना में कानून का अध्ययन कर रहे थे और उनकी अवस्था मात्र तेईस वर्ष की थी, तभी उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त शिक्षा-व्यवस्था की हीनावस्था को पहचाना तथा व्यक्तिगत विद्यालय की स्थापना की दृढ़ योजना का निर्माण किया। २ जनवरी, १८८० ई० को अपने परम सहयोगी विष्णु-शास्त्री चिपलूणकर के सहयोग से उन्होंने 'पूना न्यू इंगलिश स्कूल' नामक विद्यालय की स्थापना भी की, जहाँ के शिक्षकों का मुख्य आदर्श 'जेसुइट शिक्षण संस्थाओं' के समान आत्म-त्याज्य की भावना से अभिभूत होकर शिक्षण-कार्य संपादित करना था। वस्तुतः तिलक महाराज और उनके परम सहयोगी विष्णुशास्त्री चिपलूणकर तथा गोपालगणेश आगरकर 'इंडियन जेसुइट्स' (Indian Jesuits) बनाना चाहते थे। कॉलेज के दिनों में ही अपनी सहपाठी आगरकर के साथ तिलक जी ने सरकारी नौकरी में नहीं प्रवृत्त होने तथा अपने जीवन को शिक्षण में व्यतीत करने का निश्चय किया था।

तिलक और शिक्षा के प्रमुख सिद्धांत

शिक्षा के क्षेत्र में भी लोकमान्य तिलक सर्वप्रथम दो प्रमुख सिद्धांतों के प्रचलन के बड़े पोषक थे। सर्वप्रथम उनका विचार था कि प्राचीन भारतीय वैदिक और उपनिषद्कालीन शिक्षा-व्यवस्था के उस गरिमापूर्ण उज्ज्वल आदर्श का प्रचलन हो, जिसके शिक्षकों और शिक्षार्थियों का एकमात्र लक्ष्य श्रेष्ठ ज्ञान-आराधना ही था। सरस्वती की उपासना तथा जनकल्याण की भावना से अभिभूत हो निःस्वार्थ भाव से जो विद्याव्यसनी शिक्षक और उनके शिष्यगण अपने समस्त जीवन को विद्या की बलिवेदी पर अर्पित करते थे और जिनके ज्ञान की प्रस्फुटित प्रचंड अग्निस्वरूप ज्वाला से संसार के समस्त व्यक्ति प्रभावित होते थे, उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश होता था, वे मायामोह से त्राण पाते थे।

इस स्थल पर हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि तिलक महाराज की नीति समन्वयकारिणी थी। निःसंदेह प्राचीन भारतीय वैदिक और उपनिषद्-कालीन शिक्षा-प्रणालियों की अच्छाइयाँ उन्हें मान्य थीं, तथापि परंपरागत अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली से उनका सर्वथा विरोध भी नहीं था। अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली में

जो गुण थे, उनको भी वे सहर्ष अपनाने के पक्षपाती थे। महान् शिक्षाशास्त्री विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती विश्वविद्यालय को जिस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का संगम-स्थल बनाया है, उसी प्रकार तिलक महाराज भी पौर्वात्य आदर्शवाद और पाश्चात्य कर्मवाद को अपनाना चाहते थे। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी श्रद्धानंद जी केवल वैदिककालीन आदर्श के ही पूर्णतः पोषक थे। कांगड़ी गुरुकुल की स्थापना (१६०३ ई०) का उद्देश्य यही था। महात्मा गांधी ने भी हिंद स्वराज्य और असहयोग आंदोलन के जमाने में पच्छिमी सभ्यता तथा अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली का बहुत विरोध किया था। परंतु, तिलक महाराज की नीति विशेष वास्तविकता तथा यथार्थता की नींव पर अवस्थित थी। वेद और हिंदू दर्शन के प्रकांड विद्वान होते हुए भी उन्होंने अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली, जिसने भारतीय जनता में राजनीतिक चेतना का स्पंदन और संचार किया, को मान्यता प्रदान की। अपने सामाजिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में प्रायः एक दशक तक तिलकजी ने विद्यालय के शिक्षक और महाविद्यालय के प्राध्यापक का कार्य किया था।

शिक्षा के संबंध में लोकमान्य तिलक का दूसरा प्रमुख सिद्धांत था कि देश में शिक्षा सर्वजन सुलभ हो, ताकि अधिकाधिक भारतीय शिक्षित बन सकें। उन्होंने मानव-मस्तिष्क को परिष्कृत कर सुसंस्कार डालने वाली एक मात्र पुनीत साधन इस शिक्षा के व्यापक विस्तार के लिए बड़ी चेष्टा की। उनका विचार था कि भारतीयों में राजनीतिक चेतना और सामाजिक प्रगति के लिए अधिक-से-अधिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना हो। इस पवित्र भावना से अभिभूत होने के परिणामस्वरूप ही उन्होंने २ जनवरी, १८८० ई० को पूना न्यू इंगलिश स्कूल, २४ अक्टूबर, १८८४ ई० को डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी और २ जनवरी, १८८५ ई० को फर्ग्युसन कॉलेज की स्थापना की। उन्होंने पाँच वर्षों तक इस कॉलेज में संस्कृत और गणित के प्राध्यापक का कार्य भी किया था। स्वदेशी आंदोलन के जमाने में समर्थ विद्यालय के वे प्रणेता थे। महामना गोपालकृष्ण गोखले ने भी, जिन्हें महात्मा गांधी अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, पूना इंगलिश स्कूल में शिक्षण का कार्य करना स्वीकार किया था। सन् १८८५ ई० में फर्ग्युसन कॉलेज में वे प्राध्यापक बने थे तथा डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी के प्रमुख सदस्य थे। गोपालकृष्ण गोखले के शिक्षण-कार्य के लिए आत्मत्याग का प्रमुख कारण यही था कि वे तिलक महाराज के व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित थे।

शिक्षा का व्यापक प्रसार

शिक्षा के व्यापक प्रचार और प्रसार के लिए लोकमान्य तिलक अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली के प्रचलन तथा सरकार से पूरी सहायता लेने के सिद्धांत को भी

स्वीकार करते थे। चिपलूणकर और आगरकर महोदय का भी यही विचार था। गणतंत्र भारत में अनिवार्य शिक्षा-योजना लागू की गई है, परंतु तिलक महाराज आज से करीब ८१ वर्ष पहले ही (१८८० ई० में) इस महान् योजना को लागू करने में सतत् प्रयत्नशील और चेष्टावान थे। स्मरणीय है कि इस युग में भारत में केवल ६० प्रतिशत ही जनता साक्षर थी।

देश की निरक्षरता दूर करने के लिए गोपालकृष्ण गोखले ने भी सरकार का ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि प्राथमिक शिक्षा को जब तक निःशुल्क नहीं बनाया जाएगा, तब तक भारत में शिक्षा का प्रसार होना असंभव है। वास्तव में अँगरेज़ी सरकार का अधिकांश ध्यान माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के प्रचार तथा सुधार की ओर था। गोखले महोदय ने देश को अज्ञात जड़ता से मुक्त करने के लिए अशिक्षारूपी अंधकार को दूर करना अत्यंत आवश्यक बतलाया। उन्होंने १६ मार्च, १९१०ई० तथा १६ मार्च,१९११ ई० को अपना प्रसिद्ध विधेयक क्रमशः इंपीरियल धारापरिषद् एवं धारासभा में भी रखा। पर, विशेष लाभ नहीं हो सका।

राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद्

लॉर्ड कर्जन की उग्र नीति से भारतीयों में अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रति अश्रद्धा और रोष की भावना प्रकट होने लगी। सन् १९०५ ई० में देश में स्वदेशी आंदोलन ने एक क्रांति उत्पन्न कर दी। यद्यपि यह आंदोलन एक प्रकार से आर्थिक और राजनैतिक था, परंतु इसने भारतीय शिक्षा-नीति को अत्यधिक प्रभावित किया। स्वदेशी आंदोलन का प्रमुख आधार था 'विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।' वस्तुओं के बहिष्कार के साथ-साथ भारतीय विद्वान और राजनेतागण विदेशी शिक्षा-प्रणाली को भी समाप्त करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य की सफलता के लिए उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा-प्रचार-योजना का अवलंबन किया। बंगाल और महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् की स्थापना की गई। इस परिषद् के अंतर्गत राष्ट्रीय शिक्षा-योजना को कार्य-रूप में परिणत करने का पूरा यत्न किया गया, फलस्वरूप इस युग में राष्ट्रीय शिक्षा का अत्यधिक प्रसार हुआ। बृटिश सरकार ने स्वदेशी आंदोलन के विरुद्ध ६ मई, १९०७ ई० को रिजले सर्कुलर (Risley Circular) प्रकाशित कर इसे दबाना चाहा, परंतु तिलक महाराज की अद्वितीय संगठन-शक्ति के समक्ष यह आंदोलन क्रमशः बल ही पकड़ता गया। एक वर्ष के अंदर ही प्रायः दस हजार विद्यार्थियों ने बंगाल के राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश किया। रासबिहारी घोष, गुरुदास बनर्जी

और अरविंद घोष ने बंगाल में इन नवसंगठित राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं को सक्रिय सहयोग दिया। तालगांव में तिलक महाराज की अवधानता में छत्रपति शिवाजी के गुरू श्री समर्थ रामदास के नाम पर श्री समर्थ विद्यालय की स्थापना हुई, जिसने शिक्षा की अभिवृद्धि के लिए बड़े प्रशंसनीय कार्य किए। फरवरी, १६०८ ई० में तिलक महाराज ने समर्थ विद्यालय के लिए पांच लाख रुपए एकत्रित करने के विचार से महाराष्ट्र प्रांत में दौरा शुरू किया। इस कार्य में उन्हें बड़ी सफलता मिली। १६०७–१६०८ ई० में राष्ट्रीय शिक्षा पर उनके व्याख्यान हुए। लोकमान्य तिलक और सुरेंद्रनाथ बनर्जी की इच्छा थी कि विद्यार्थी 'स्वदेशी आंदोलन' में भाग लें। बृटिश इतिहासकार रावर्ट्स पावेल प्राइस आदि ने उनके इस कार्य की आलोचना की है। यद्यपि तिलकजी यह नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी शिक्षण-संस्थाओं का त्याग करें और राजनीति में भाग लें, तथापि मातृभूमि के पवित्र नाम पर ही उन्होंने ऐसी इच्छा प्रकट की।

तिलक और धार्मिक शिक्षा

लोकमान्य तिलक ने बारसी में राष्ट्रीय शिक्षा पर व्याख्यान देते हुए बताया कि इसकी पूर्ति चार प्रमुख अवयवों के आधार पर आश्रित है, जिसमें सर्वप्रथम है—धार्मिक शिक्षा। धार्मिक शिक्षा के बिना राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्य पूरे नहीं होंगे। दृढ़ चरित्र-गठन के लिए धार्मिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। २६ फरवरी, १६०८ ई० को सोलापुर में डॉ० देशमुख की अध्यक्षता में भाषण करते हुए श्री तिलक ने कहा कि शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के प्रचलन की जरूरत इसलिए है कि भारत में सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व के नागरिक उत्पन्न हों। उन्होंने यह भी बताया कि अंग्रेजी शिक्षा की एक बहुत बड़ी कमजोरी है कि उसमें धार्मिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। वर्षों तक लगे रहने के पश्चात् भी धार्मिक अध्ययन और ज्ञान की उपलब्धि के लिए अन्यत्र अवलोकन की आवश्यकता है। ("After twenty yesrs rotting in their systems one has to look elsewhere for religious study. Men who develop the idea that religion is a farce all along their educational course are afterwards found to be wanting in any conception of duty.")

धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक शिक्षा में अंतर बतलाते हुए उन्होंने हमें इस तथ्य से अवगत कराया कि "शिक्षा में धर्मनिरपेक्षिता चरित्र-गठन के लिए पर्याप्त नहीं

है। इसके लिए धार्मिक शिक्षा वांछनीय है; क्योंकि धार्मिक शिक्षा के उच्च सिद्धांतों के अध्ययन हमें अधम और निंदनीय प्रवृत्तियों के आचरण एवं अनुसरण से विमुख करते हैं, दूर रखते हैं। परमपिता परमेश्वर के अलौकिक रूप से अवगत होने में धर्म हमें सक्षम बनाता है। इसके अतिरिक्त धर्म हमें यह बतलाता है कि मनुष्य अपने सत्कार्यों के फलस्वरूप ईश्वर-पद की भी प्राप्ति कर सकता है। जब अपनी सद्वृत्तियों के आधार पर हम लोग ईश्वरीय सत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं, तब कोई कारण नहीं कि तदनुकूल आचरण कर यूरोपवासियों के समान चतुर और कर्त्तव्यपरायण नहीं बन सकते। कुछ लोगों की धारणा है कि धर्म झगड़े का कारण हैं, इससे वैर-विरोध उत्पन्न हुआ करता है। परंतु, मैं पूछता हूँ कि धर्म में यह कहाँ लिखा हुआ है कि झगड़ा किया जाए? विद्यालयों में हिंदुओं को हिंदू धर्म की तथा मुसलमानों को इस्लाम की शिक्षा प्रदान हो। शिक्षण-संस्थाओं में विभिन्न धर्मों के पारस्परिक मतभेदों के अंतर को मिटाने के लिए 'फोरगिभ तथा फौरगेट' की नीति के अनुसरण की शिक्षा दी जाए।

सन् १९०१ ई० में कलकत्ता में हिंदू धर्म पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था—"धर्म शब्द का वास्तविक तात्पर्य ईश्वर और आत्मा के संबंध में ज्ञान की उपलब्धि के साथ-साथ मानव किन आधारों और उपायों का अवलंबन कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है—ही होता है।"

नागरिकशास्त्र की शिक्षा

लोकमान्य तिलक ने उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक उत्पन्न करने के लिए नागरिकशास्त्र की शिक्षा को शिक्षण-संस्थाओं के लिए आवश्यक बतलाया। किसी देश की उन्नति तभी हो सकती है, जब वहाँ के नागरिक अपने अधिकार और कर्त्तव्य की पूरी-पूरी जानकारी रखें। राष्ट्र तभी परतंत्र होता है, जब वहाँ के निवासियों में अपने वास्तविक और सामयिक कार्य के प्रति अभिरुचि में शिथिलता का प्रादुर्भाव हो जाता है। तिलकजी ने इस संबंध में प्राचीन आर्यों तथा वर्त्तमान यूरोपवासियों से भी शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी। उन्होंने व्यावसायिक शिक्षा के प्रचलन को भी देशहित के लिए परम आवश्यक बतलाया।

हिंदी राष्ट्रभाषा हो

भारतीय जनता के हित के लिए हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाए, ऐसा तिलक जी का विचार था। हिंदी की व्यापकता को उन्होंने स्वीकार किया था

तथा देश के प्रत्येक प्रांत में इसको पूर्ण प्रश्रय दिया जाए, वहाँ के निवासी इसकी पूर्ण जानकारी करें और हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि में अपना सहयोग दें।"—ऐसा उन्होंने कहा था।

लोकमान्य तिलक का प्रभाव

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक ही उद्देश्य था—भारत का सर्वप्रकारेण कल्याण एवं उत्कर्ष। इस महान् कार्य के निमित्त, इसकी सिद्धि की उपलब्धि के लिए उन्होंने अपने समस्त जीवन को एक अखंड यज्ञ के रूप में परिवर्तित कर दिया। अनवरत् साधना, अटूट अध्यवसाय दीर्घकालीन देश निमित्तिक कर्मयोग उनके जीवन के सार-तत्त्व हैं। देशहित के लिए उन्होंने अत्यधिक कष्ट-सहन किया। वे त्याग की मूर्ति थे। १९१६ ई० में उनकी षष्ठिपूर्ति के शुभ अवसर पर महाराष्ट्र-वासियों ने उन्हें एक लाख की थैली भेंट की, परंतु उन्होंने वह राशि देशहितार्थ अर्पित कर दी।

प्राचीन भारतीय ऋषियों के मूर्तिमान अवतार, भारतमाता के अमर सपूत लोकमान्य तिलक ने १९२० ई० की ३१ जुलाई की रात्रि में बारह बज कर चालीस मिनट पर महाप्रयाण किया।

●

अध्याय २१

रवींद्रनाथ ठाकुर

रवींद्रनाथ ठाकुर (६मई, १८६१-७ अगस्त, १९४१) कवि, लेखक, दार्शनिक, कलाकार, चित्रशिल्पी, संगीतज्ञ, नाटककार, विशिष्ट विद्वान एवं देशभक्त होने के साथ-साथ उच्च कोटि के तत्त्ववेत्ता और शिक्षाशास्त्री भी थे। उन्होंने किसी शिक्षा-शास्त्र की रचना नहीं की, परंतु उनकी निरीक्षण और पर्यवेक्षण शक्ति बड़ी पैनी थी। अपनी गहरी अनुभूति और अपने कार्यकारी चिंतन द्वारा उन्होंने शिक्षा के संबंध में जो कुछ सोचा-विचारा, वह सर्वथा मौलिक, अद्‌भुत और क्रांतिकारी है।

रवींद्रनाथ ठाकुर के लिए शिक्षा जीवन के समान ही एक कला, एक कविता थी, विज्ञान अथवा कोई सिद्धांत नहीं। शांति-निकेतन के संबंध में लिखते हुए उसको उन्होंने 'एक कवि की पाठशाला' कहा। कवि एक कलाकार होता है—एक शिल्पकार, वह जीवन की सामान्य वस्तुओं को लेता है और उनसे सुंदरता की नई-नई आकृतियाँ तैयार करता है। वह अनुभवों का विश्लेषण नहीं करता, वह उन्हें गहरा और समृद्ध बनाता है। ठीक यही बात हम रवींद्रनाथ ठाकुर के साथ भी पाते हैं। उन्होंने लिखा है—"जब मैंने साल-वृक्ष की छाँह में कुछ बालकों को जमा किया, तो मानो मैंने कविता लिखना प्रारंभ किया।"

जीवन की एकरूपता

जीवन की एकरूपता में मानवतावादी रवींद्र का दृढ़ विश्वास था। उन्होंने कहा है "जीवन की पारस्परिक एकता और अनुरूपता ही हमारे जीवन, विचारों और कार्यकलापों की आधारशिला होनी चाहिए।" वर्त्तमान जगत् की भौतिक सभ्यता

तथा कृत्रिम वातावरण से दूर रहने वाले कवींद्र प्रकृति के पुजारी थे और उन्होंने सभी को प्रकृति के अनुसरण की सलाह दी है। 'प्रकृति की ओर लौटें' (Back to the nature) यही उनका 'उद्घोष' था। विभिन्न भिन्नताओं के रहते हुए भी प्रकृति जिस प्रकार अपना कार्यकलाप शांतिपूर्वक करती है, उसी प्रकार मानव को भी पारस्परिक अंतर्विरोधों के बावजूद शांतिमार्ग का अनुसरण करना चाहिए और तभी वे उन्नति-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे। अपने समाज और देश के प्रति असीम प्रेम एवं श्रद्धावान हृदय से रंजित रहते हुए भी उनके लिए जगत के समस्त मानव एक समान थे। वे अंतर्राष्ट्रीयता में पूरा-पूरा विश्वास करते थे। अतः, उनके शिक्षा-दर्शन में हमें मनुष्य मात्र के एकीकरण की भावना परिलक्षित होती है। उनका कहना था कि विश्व के सभी लोगों को अपनी आत्मा की पुकार अर्थात् अपने अंदर वर्त्तमान अंतश्चेतना के अनुसार कार्य करना चाहिए, तभी हमें पारस्परिक एकता, वास्तविक सुख-शांति, विश्व-बंधुत्व और प्रसन्नता की प्राप्ति होगी। मनुष्य की पूर्ण एवं वास्तविक उन्नति तभी संभव है, जब समस्त जगत को ध्यान में रखते हुए उनके कार्यकलाप संपन्न होंगे। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में बतलाया "उन्नति और प्रसन्नता की प्राप्ति उन्हीं लोगों को होती है, जो समस्त मानव में वर्त्तमान एक ही आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को अनुभव करते हैं।"

ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री हेराल्ड मैकमिलन ने लिखा है कि भारतीय कवि रवींद्रनाथ टैगोर के संदेश आज भी संपूर्ण विश्व के लिए उपयोगी हैं। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन के नर-नारी बहुत पहले से टैगोर को एक महान् कवि और मानवतावादी के रूप में जानते हैं। टैगोर ने जिन नैतिक मूल्यों पर जोर दिया है और अति-राष्ट्रीयता के खतरों को बताया है, वह संपूर्ण विश्व के लिए सदैव उपयोगी रहेगा। गणतंत्र भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने लिखा है कि टैगोर की रचनाओं का प्रभाव विभिन्न देशों के नागरिकों पर समान रूप में पड़ा है और उनसे चिंतन के विभिन्न मार्ग प्रशस्त होते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि टैगोर एक महान् व्यक्ति थे, जिनका संदेश केवल भारत के लिए ही नहीं, बल्कि संपूर्ण संसार के लिए है। मुझे विश्वास है कि उनके संदेश आज भी उतने ही उपयोगी हैं, जितने पहले थे। नेहरूजी ने यह भी लिखा है कि भारत में हमारी पीढ़ी के लोग गांधी और टैगोर-जैसे दो महान् व्यक्तियों से प्रेरणा ले रहे हैं। इन दोनों महापुरुषों के बीच कई प्रश्नों पर मतभेद था, फिर भी उनके मौलिक विचारों में समता थी। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने कहा था कि "टैगोर के गीतों ने भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले सेनानियों को अद्भुत

प्रेरणा दी और इतना ही विश्व को बंधन के मुक्त कराने की उनकी प्रेरणा ने समस्त विश्व-साहित्य में उन्हें महान् बनाया।"

शांति-निकेतन (विश्वभारती)

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही हमारी शिक्षा का विधान होना चाहिए—ऐसा रवींद्रनाथ ठाकुर का विचार था। अपने शांति-निकेतन में इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उन्होंने पूरी व्यवस्था की। सन् १९१३ ई० में इंगलैंड से उन्होंने एक पत्र लिखा था, जिससे शिक्षा एवं अपनी संस्था के संबंध में उनके उदात्त विचारों का परिचय मिलता है—"यदि हम अपनी संस्था को संपूर्ण विश्व की दृष्टि में स्थिर कर सकें, तो हमारी सभी अस्पष्टताएँ विलीन हो जाएँगी।" १९१४ ई० में महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रिका से स्वदेश लौट रहे थे, परंतु कुछ कारणों से उन्हें इंगलैंड जाना पड़ा। उनके समक्ष यह समस्या थी कि फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थी भारत में किस संस्था में भेजे जाएँ और अंत में उन्होंने उन्हें शांति-निकेतन भेजने का निश्चय किया। ये विद्यार्थी स्वर्गीय भगत लाल गांधी के साथ शांति-निकेतन में कई महीने रहे। रवि बाबू ने इन विद्यार्थियों को अपने पुत्र के समान प्यार और ममता दी। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस घटना का मार्मिक वर्णन किया है। सन् १९१६ ई० में रवि बाबू ने अमेरिका और जापान की यात्रा की। महायुद्ध के दावानल से पश्चिमी देशों का वातावरण उस समय विषाक्त हो रहा था। कवींद्र जहाँ भी गए, सर्वत्र इस तथ्य का उन्होंने प्रतिपादन किया कि मानवता को राष्ट्रीयता, सांप्रदायिकता या अन्य किसी प्रकार की संकीर्णता से ऊपर उठना चाहिए; क्योंकि इसी में उसका कल्याण है। सन् १९१६ ई० के ११ अक्टूबर को उन्होंने विदेश से भेजे हुए एक पत्र में लिखा था "शांति-निकेतन को समस्त जातिगत, भौगोलिक बंधनों से अलग हटाना होगा, यही मेरी इच्छा है। समस्त मानव जाति की विजय-ध्वजा यहीं गड़ेगी।" सन् १९१८ ई० में अड्यार के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण के अवसर पर शिक्षा के स्वरूप की उन्होंने जो चर्चा की थी, उससे स्पष्ट है कि इस पवित्र माध्यम के आधार से संसार की शांति एवं मंगलकामना के लिए वे कितने इच्छुक और चिंतित थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही ६ मई, १९२२ ई० को उन्होंने विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना की, जिसमें सांस्कृतिक, बौद्धिक, सृजनात्मक, कलात्मक, आर्थिक और सामाजिक स्रोतों की मंगलमयी त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। यह उनके ही परिश्रम का फल है कि आज शांति-निकेतन विश्व के उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम सभी देशों की विभिन्न सभ्यता एवं संस्कृति के लोगों के मिलन का केंद्रस्थल बना

हुआ है। यहाँ अनेक देशों के लोग जाते हैं तथा यहाँ के पवित्र प्रेममय शांत वातावरण में इतने घुलमिल जाते हैं कि इसको अपने 'दूसरे घर' के समान ही अनुभव करते हैं। विश्वभारती में विश्व की सभी जाति, धर्म, विश्वास एवं राष्ट्रीयता आदि को समान महत्त्व प्राप्त है। यह बिना किसी भेदभाव के विद्या का अंतर्राष्ट्रीय केंद्र बना हुआ है। इन्हीं उच्च भावनाओं से अभिप्रेरित होकर दीनबंधु एंड्रूज, श्री एल० के० एमहर्स्ट और पियर्सन साहब ने शांति-निकेतन में शिक्षक का कार्य किया था। एल० के० एमहर्स्ट ने रवि बाबू को ग्राम-संगठन-संबंधी कार्य में बड़ी सहायता पहुँचायी थी। श्री निकेतन एमहर्स्ट साहब का बहुत ऋणी है। पूर्वी और पश्चिमी देशों के विदेशी छात्र और अध्यापक आज यहाँ आते हैं, जिससे यहाँ के वातावरण में एक नवीनता और अंतर्राष्ट्रीयता का समावेश और समागम होता रहता है। यह आवश्यक है कि संसार के अन्य देशों में भी विश्वभारती के आधार पर विश्वविद्यालयों की स्थापना हो, ताकि अंतर्राष्ट्रीय विषमता, भेदभाव, संकीर्णता एवं अन्य वैमनस्यों के विनाश में सहायता मिले।

भारतीय संस्कृति के पूर्ण पोषक

ग्यारह बार विदेश-यात्रा करने के बावजूद विश्वकवि प्राचीन भारतीय संस्कृति के पूर्णतः पोषक थे। उनका आदर्शवाद प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की चेष्टा में सर्वदा सचेष्ट रहा। उनका मस्तिष्क समन्वयवादी था। उनकी दृष्टि में शरीर और मस्तिष्क तत्त्व और जीवन, व्यक्ति और समाज, समूह और राष्ट्र तथा साम्राज्य और विश्व में कोई अंतर नहीं था, सभी समान थे। उनके हृदय में पूर्वीय एवं पश्चिमी सभी देशों के धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रति समान आदर का भाव था। वे शुद्ध और पवित्र भावना से अंतर्राष्ट्रीयता के पुजारी थे तथा मानव मात्र का कल्याण चाहते थे। विश्व के किसी देश में किसी प्रकार की विषमता, संकीर्णता या द्वंद्व उन्हें स्वीकार नहीं था। ४ अप्रील, १९६१ ई० को साबरमती के किनारे रवींद्र थिएटर भवन का शिलान्यास करते हुए भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में कहा "आज देश में गुरुदेव की शिक्षा का विशेष महत्त्व है; क्योंकि संकीर्णता का त्याग ही उनकी शिक्षा का मूल-मंत्र है।" वस्तुतः रवि बाबू का भावुक कविहृदय जगत में सभी प्राणी के कल्याण का इच्छुक था। प्रेम की आधारशिला पर वे विश्व में शांति और भ्रातृत्व का महान् प्रकाश-स्तंभ खड़ा करना चाहते थे।

रवींद्रनाथ ठाकुर बुद्धि और आत्मा दोनों की उन्नति चाहते थे। केवल बौद्धिक उन्नति उन्हें अमान्य थी। इस संबंध में पश्चिमी देशों से उन्हें सर्वदा शिकायत

रही, जहाँ केवल यांत्रिक सभ्यता के उन्नयन के पीछे लोग पागल हैं, परंतु इसके साथ ही पूर्वी देशों की केवल आत्मिक उन्नति की सराहना भी उन्होंने नहीं की है। इस संबंध में उनका विचार समन्वयवादी था। वे आत्मिक उन्नति के लिए केवल उपवास और व्रत द्वारा शरीर को कष्ट नहीं देना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद के समान उन्होंने भी कहा है "पश्चिम को पूरब से आध्यात्मवाद सीखना है, तो पूरब को पच्छिम से भौतिकवाद।" अपने जीवन के प्रारंभिक काल में रवि बाबू पश्चिम से प्रभावित थे। उन्होंने लिखा था कि पूर्व का ज्ञानदीप बुझ चुका है और आवश्यक है कि पश्चिम की ज्ञान-शलाका से इसको फिर उदीप्त किया जाए। किंतु, आयु और ज्ञान के परिपाक के साथ उनको पश्चिमी सभ्यता के खोखलेपन का बोध हुआ और अपने अंतिम समय में उन्होंने कहा था कि संसार के परित्राण का मार्ग भारत की पुरातन आध्यात्मिक परंपरा में है, न कि वैज्ञानिक बौद्धिकता और यांत्रिक सभ्यता में। भारतीय एवं प्राच्य विश्वविद्यालयों की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पाश्चात्य विश्वविद्यालयों का अनुकरण करके हम अपना निजत्व खो रहे हैं और निजत्व खोकर न तो हम औरों को कुछ दे सकते हैं और न उनसे लेने के योग्य ही रह सकते हैं। अतः, विश्व के ज्ञान और संस्कृति का जो दीपोत्सव चल रहा है, उसमें अपने प्रदीपों को जगमगाते रखना भारतीय विश्वविद्यालयों का कर्त्तव्य है। इसके लिए भारतीय चिंतनधाराओं को संमिलित करना होगा और संसार की अन्य विचारधाराओं के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करना होगा। भारतीय चिंतनधारा अनेक स्रोतों में होकर बही है। इन सबको विश्वविद्यालयों में उचित स्थान मिलना चाहिए। फलतः विश्वभारती में भारतीय दर्शन, साहित्य, बौद्धधर्म, इस्लाम, पारसी धर्म, चीनी इतिहास, संस्कृति तथा ईसाई विचार-तत्त्व के अध्ययन-अनुसंधान का प्रबंध किया गया है। ये सभी विभाग मिल कर 'विद्याभवन' के नाम से प्रख्यात् हैं।

बालकों का सर्वांगीण विकास

रवींद्रनाथ ठाकुर बालकों का सर्वांगीण विकास चाहते थे, एक पक्षीय नहीं। इस संबंध में उन्हें प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली का आदर्श सर्वथा मान्य था। उनके लिए बालकों के बौद्धिक और मानसिक पक्ष के समान ही शारीरिक, आत्मिक, आध्यात्मिक एवं चारित्रिक आदि पक्ष भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे। शांति-निकेतन का शिक्षाक्रम और पाठ्यक्रम उसी प्रकार निर्धारित किया गया है, जिससे सुगमतापूर्वक बालकों का स्वतः सर्वांगीण विकास हो।

रवि बाबू ने इस पर बराबर बल दिया है कि "मन को इस योग्य बनाना चाहिए कि वह उस अंतिम सत्य को ढूँढ निकाले, जो हमें इस नश्वर मिट्टी के बंधन

से मुक्त करता है और वास्तविक निर्वाण देता है-चीजों की नहीं, वरन् अंतःप्रकाश की, शक्ति और अधिकार की नहीं, वरन् प्रेम की- - तथा उसी को अपनाते हुए उसी का प्रकटीकरण करे।" डॉ० डिवी का भी कहना है कि सच्चे अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य है "आंतरिक पवित्रता--- जो सामाजिक स्वभाव या रुचि से ही धारण की जा सकती है।" वस्तुतः शिक्षा का यही आदर्श है ।

रवि बाबू के अनुसार शिक्षा का अर्थ विश्वपुरुष के साथ एकात्मकता स्थापित करते हुए व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है । इस विश्वपुरुष की चेतना के अंतर में भी मनुष्य के ही समान भौतिक आत्मतत्त्व, जीवन, मन तथा आत्मा के विविध स्तर हैं । मनुष्य के अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य की सभी स्थितियों का नियंता यह विश्वपुरुष ही है ।

चरित्र और मस्तिष्क का विकास

विश्वभारती विश्वविद्यालय का समस्त वातावरण एक ऐसे आदर्श रूप में सुगठित किया गया है कि बालकों के चरित्र-गठन में स्वतः सहायता मिलती है । पूरबी तथा पश्चिमी देशों के आदर्शों का समन्वयकारी स्थल विश्वभारती में सारे कार्यकलाप प्रेम, आनंद, सहयोग और भाईचारे के आधार पर होते हैं । परस्पर सौहार्द्रपूर्ण एवं पवित्र व्यवहार तथा अनुशासनबद्ध जीवन ही वहाँ की निजी विशेषता है । वहाँ चरित्र और मस्तिष्क का केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर नहीं, वरन् प्रत्यक्ष अनुकरण द्वारा किया जाता है । महात्मा गांधी के समान ही रवीन्द्रनाथ केवल पुस्तकीय ज्ञान को ही उन्नति का साधन नहीं मानते थे । उनका विचार था कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि द्वारा अपने जीवन का गठन करना चाहिए । केवल भाव और चिंतन को जानने तथा पुस्तक पढ़ने मात्र से चरित्र का विकास नहीं होता, इससे केवल परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है । रवि बाबू ने पाठशाला को कर्मशाला बनाने को कहा है । इस संबंध में उन्होंने वेद के निम्नांकित मंत्र को मान्यता दी है:-

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्ययेमाक्षभिर्यजत्राः ।"

हे यज्ञशील देवगण ! हम कानों से कल्याणकारी बात सुनें , आंखों से मांगलिक वस्तु देखें । तात्पर्य यह है कि शिक्षा-ग्रहण में हम केवल किताबी ज्ञान ही नहीं प्राप्त करें, बल्कि शारीरिक इंद्रियों को भी अच्छी तरह कर्मकुशल बनावें ।

प्रकृति से संपर्क

विश्वभारती के समस्त कार्य-कलाप के आधार पर हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि रवि बाबू ने नवजाग्रत भारत की आवश्यकताओं के उपयुक्त एक सृजनात्मक और नए ढंग की माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली तैयार करने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया था। उनके शांति-निकेतन में यह उद्देश्य संमुख रखा गया है कि विभिन्न प्रकार की सृजनात्मक गतिविधियों की व्यवस्था करके बालकों के पूर्ण विकास का अवसर प्रदान किया जाए। उस समय की शिक्षा की, जो मुख्य रूप में पुस्तकीय शिक्षा थी, प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने चेष्टा की कि बालकों की योग्यता का विकास प्रकृति के घनिष्ठ और निरंतर संपर्क द्वारा किया जाए। उन्होंने एक बँधी दिनचर्या और पाठ्यक्रम को घटा कर न्यूनतम कर दिया तथा बालक के मानसिक विकास एवं मौलिकता को बढ़ाने के लिए यथासंभव अधिकतम अवसर प्रदान किया। यद्यपि यह विद्यालय मूलतः भारतीय परंपरा के आधार पर कार्य कर रहा है; तथापि यहाँ आधुनिक युग की भावनाओं का भी पूरा-पूरा समन्वय किया गया है। उन्होंने अपनी रचना 'कवि का विद्यालय' में अपने इस परीक्षण का बहुत ही अद्भुत विवरण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इस शताब्दी के प्रारंभ से भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में हुए लगभग प्रत्येक नए विकास का कुछ-न-कुछ श्रेय उस कार्य को है, जो शांति-निकेतन में प्रारंभ किया गया था।

रूसो और महात्मा गांधी के समान ही रवींद्रनाथ ठाकुर का यह विचार था कि बालकों की वास्तविक उन्नति प्रकृति-माता की गोद में ही संभव है। प्रकृति से एकरूपता स्थापित कर वे मानव तथा जीव मात्र से तादात्म्य स्थापित कर सकेंगे। रूसो ने कहा है "शिक्षा का उद्देश्य बालकों को पढ़ने-पढ़ाने पर बल देना नहीं, अपितु उनका विकास प्रकृति के अनुकूल करना है।" रूसो अपने काल्पनिक शिष्य एमिल को प्रकृति के अनुरूप शिक्षा के लिए नगर के कोलाहल से दूर किसी गाँव में ले जाते हैं, जहाँ खुला आकाश हो, पृथ्वी की गोद हो, वृक्षों की मर्मर ध्वनि की गति हो, पावन पवन का स्पर्श हो, वृक्ष और लताओं के साथ आलिंगन हो और प्रकृति के निर्माता से साक्षात्कार हो। रवि बाबू ने अपने काल्पनिक शिष्य को नहीं, अपितु वास्तविक पुत्र को इसी प्रकार प्रकृति के क्रीड़ागार, एक गाँव में ले जाकर, प्रकृति के साथ एकाकार होने के लिए छोड़ दिया। उस गाँव के पास एक नदी थी, जो भयानकता के लिए प्रख्यात थी। इस नदी में कवि का प्रकृत पुत्र स्नान करता, बालुई तटों पर तथा धान के खेतों में घूमता और बिना किसी आपत्ति के विलंब से भोजन

के लिए आता। वह भद्र समाज के प्रचलित सुख-उपक्रमों से मुक्त था, फलस्वरूप जीवन का वास्तविक रस, जो प्रकृति से ही प्राप्ति हो सकता है, उसे प्राप्त हुआ। महाकवि ने इस प्रयोग को केवल अपने पुत्र तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् वोल गाँव में शांति-निकेतन के रूप में अपनी भावना को उन्होंने मूर्त्त रूप दिया। यह था उस महान् आत्मा का सृजन, उत्कृष्ट विचारों की अभिव्यक्ति और साक्षात् कविता। शिक्षा के लिए उपयुक्त स्थान और परिवेश के संबंध में उन्होंने अपने प्राचीन काल के तपोवन और गुरुगृह-प्रणाली को श्रेष्ठ माना है। उन्मुक्त आकाश और प्राकृतिक वातावरण के बीच शिशु का बौद्धिक एवं मानसिक विकास होना चाहिए। इसी आदर्श की प्राप्ति के हेतु ही उन्होंने शांति-निकेतन की स्थापना को पाई नदी के तट पर, दूर-दूर तक फैले हुए वृक्षों और खेतों के बीच, कृत्रिमता से दूर, प्रकृति की लीलामय भूमि पर की है। उनका कहना है "शिशु को, जब तक उसका मन परिपक्व नहीं हुआ है, जब तक उसका कुतूहल सजीव है और उसकी सारी इंद्रिय-शक्ति सतेज है, धूप-छाँह की लीलाभूमि में देखने दो—उसे भूमि के आनंद से वंचित नहीं करो। बाल्यकाल जीवन का सार है, एक अनुपम फल है, ईश्वर की महान् देन है।' अतः, शिक्षण-संथाओं को उन्होंने ऐसे स्थान में अवस्थित करने की सलाह दी है, जहाँ प्रकृति के साथ पूर्ण सहयोग स्थापित किया जा सके। 'बैक टु फौरेस्ट' यही उनका उद्‌घोष था। उन्होंने कहा है: "हमारी आदर्श शिक्षण-संस्थाओं का निर्माण शहरी कोलाहल से दूर देहातों के स्वच्छ और पवित्र वातावरण में वृक्षों की छाया में होगा, जहाँ शिक्षक और शिष्य दोनों शांतिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन कर सकेंगे।" वर्त्तमान समय में स्कूल-कॉलेज के लिए मकान, टेवुल, कुर्सी, बेंच इत्यादि उपकरण ही शिक्षा के वैशिष्ट्य हैं, मानो इनके बिना शिक्षण-कार्य संपन्न ही नहीं होगा। इस संबंध में रवि बाबू ने कहा है "पहले आयोजन थोड़ा था, सामाजिकता अधिक। अब आयोजन के आधिक्य से सामाजिकता जाती रही।" उन्होंने विद्यालयीय वातावरण को सरल, किंतु पवित्र बनाने पर बल दिया है। धरती पर बैठना, साधारण खाना, सरल जीवन व्यतीत करना थोड़े आयोजन में अधिक कार्य करना आदि ही रवि बाबू की शिक्षा है। उनके आश्रम में बच्चे खुले पैर घूमते हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि खुले पैरों घूमने से प्रकृति-प्रदत्त ज्ञान सहज, निःशुल्क रूप से प्राप्त होता है। पृथ्वी के रहस्य, उसकी कठोरता मृदुता, उसकी ऊँचाई-निचाई, उसकी गुरुता-लघुता, उसका स्नेह-रोष उसी व्यक्ति के संमुख उद्घरित होता है, जो अपने चरणों द्वारा उसे चुंबन का अवसर प्रदान करता है। जिन चरणों को पृथ्वी के इन चुंबनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे बिना किसी कष्ट का अनुभव किए काँटों से युक्त मार्ग पर चल सकते हैं। बालकों को अपने बाल्यकाल में यह अनुभव होना चाहिए कि "संसार सर्वत्र उनकी बैठक का

कमरा नहीं है।" वे विद्याध्ययन के काल में बालकों के लिए प्रत्येक प्रकार से सादगी के पक्षपाती हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि दैन्य एवं गरीबी ही मनुष्य की शिक्षा के लिए प्रारंभिक पाठशाला है। एक धनाढ्य व्यक्ति का पुत्र भी जन्म के समय सर्वथा असहाय एवं दीन होता है। चलना सीखने के लिए उसे भी उसी प्रकार की चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं, जैसी किसी गरीब के बालक को। गरीबी जीवन का पूर्ण संस्पर्श प्रदान करती है और धनाढ्यता यथार्थ संसार से दूर ले जाती है।

कवींद्र रवींद्र महाकवि मिल्टन के इस वाक्य से सर्वथा सहमत थे कि "शिक्षा ऐसी हो, जो ईश्वर का ज्ञान करा कर प्रेम जाग्रत करे।" शिक्षा के इस पवित्र उद्देश्य के उपस्थापन के निमित्त वे सदैव सचेष्ट रहे। आडंबरपूर्ण भौतिकवादी सभ्यता से दूर पवित्र प्रकृति के साथ संपर्क और सहयोग रखने के कारण विश्व-भारती के विद्यार्थी शरीर, मन और आत्मा के उन्नयन की ओर स्वतः अग्रसर होते हैं तथा ईश्वरीय लीला से साक्षात्कार करते हैं।

बालक स्वतः जिज्ञासु बनें

विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के भावुक हृदय में बच्चों के लिए अतिशय प्रेम था और उनकी समस्त आंतरिक शक्तियों के विकास एवं संवर्द्धन के लिए वे सभी संभव उपयोगी वस्तुओं से सहायता प्रदान करना चाहते थे। बालकों के स्वच्छंद विकास के लिए वे सर्वदा यत्नवान् रहे। वे बालकों पर लाद कर कोई वस्तु नहीं सिखाना चाहते थे, वरन् उनके हृदय के अंदर प्रेम और श्रद्धा जगा कर ऐसी कौतुहल-वृत्ति उत्पन्न करना चाहते थे कि सीखने के लिए वे स्वतः जिज्ञासु हों। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में ही शहरी स्कूलों में प्रचलित उन नियमों और रीति-विधियों के विरुद्ध विप्लव किया था, जिन्होंने उन स्कूलों को खेल बना रखा था। उनके विचार में "बालकों का अचेतन मन उनकी चेतन बुद्धि की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। हमारे जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण पाठ इस अचेतन मन के द्वारा ही हमें सिखाए जाते हैं। अनेक पीढ़ियों के असंख्य अनुभव हमें इसी माध्यम से प्राप्त हुए हैं। इनके सीखने में हमें किसी प्रकार की थकान नहीं होती। ज्ञान की इस अचेतन मन की शक्ति हमारे जीवन के साथ एकरस है। यह एक ऐसा दीपक नहीं, जिसे बाहर से जलाया जाए, बल्कि ऐसा प्रकाश-पुंज है, जो कि जुगनू के समान अपनी जीवन-प्रक्रिया से जलता है।"

शिक्षकों के प्रति

शिक्षकों को संबोधित करते हुए रवि बाबू ने सर्वदा इस तथ्य को दुहराया है कि वे सर्वप्रथम बालकों में दिलचस्पी लें, उन्हें समझें तथा विद्यालय में प्रेम और

आनंद का वातावरण उपस्थित करें। शिक्षकों और छात्रों में सामीप्य तो चाहिए ही, सादृश्य भी चाहिए। केवल भाषण द्वारा बालकों की उन्नति नहीं होगी। वे स्वयं एक महान् और आदर्श गुरु थे। वे 'गुरुदेव' के नाम से जगतविख्यात हैं। शिक्षकों के इस आदर्श के संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है : "वे ही शिक्षक होने के उपयुक्त हैं, जो धैर्यवान हैं। छात्रों के प्रति स्वभावतः जिन्हें प्रेम है, स्नेह है, अतः शिक्षा-दान के लिए ऐसे शिक्षक चाहिए, जो इस आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें।" इन आदर्शों को विश्वकवि अपने निजी जीवन में इस सत्य को चरितार्थ करके उदाहरणस्वरूप हमलोगों के समक्ष छोड़ भी गए हैं। इस संबंध में उनके और महात्मा गांधी के विचार सर्वथा एक हैं। गांधीजी कहते थे कि शिक्षकों और छात्रों का संबंध सहकारिता के आधार पर घनिष्ठ होगा। वे दोनों मिल कर ऐसी वस्तु बनाएंगे, जो उन्हें और उनके परिवेश को श्रीमंडित करेगी।

रवि बाबू का विचार है कि बालक निष्क्रिय नहीं रहना चाहता। वह कुछ करना चाहता है, इंद्रिय और मन दोनों से। वे बालक को रूसो, गांधी, डिवी आदि शिक्षाशास्त्रियों के समान ही वास्तविक क्रिया द्वारा शिक्षा देने के पक्षपाती हैं, जैसे— सौंदर्यबोध के लिए प्रकृति का अवलोकन, सामाजिक गुणों के आविर्भाव के लिए बीमारों, विकलांगों, साथियों, ग्रामवासियों आदि की सहायता तथा सेवा करना। इसी प्रकार शिष्टाचार के नियम, जैसे— नमस्कार करना, भोजन के समय बैठना आदि क्रियाओं द्वारा ही सिखाया जाना चाहिए। विश्वभारती में उन्होंने ऐसी ही व्यवस्था की। साथ-साथ शरीर, मन तथा भावना-ग्रंथियों के स्वस्थ विकास के लिए विश्व-भारती में संगीत, गान, वाद्य, नाट्यकला, नृत्य, चित्रकारी तथा विभिन्न कलाओं एवं अनेकों पाठ्यक्रमेतर विषयों की शिक्षा का सुप्रबंध है।

ग्रामों का नवनिर्माण हो

रवींद्रनाथ ठाकुर केवल एक महान् कवि और कलाकार ही नहीं थे, अपितु वे उन अग्रणी लोगों में से थे, जिन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण और हमारे ग्रामों के जीवन के पुनर्गठन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। उनका विचार था कि शिक्षा को पूर्ण बनाने के लिए उनका संबंध समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन के साथ सर्वथा संबद्ध हो। शिक्षा द्वारा सुख-शांतिपूर्ण ग्रामों का नवनिर्माण किया जाए। विद्यार्थियों को गांवों की समस्या समझने और उन्हें हल करने का व्यावहारिक अवसर दिया जाए। उन्होंने भारतीय जनजीवन के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया था। जीवन के प्रारंभिक काल में पद्मा नदी के दियारों पर वे महीनों एक बजरे में रहे और इस प्रकार उन्होंने देश की

ग्रामीण संस्कृति को देखा और अनुभव किया था। महात्मा गांधी तथा महात्मा टाल्सटाय के समान ही उन्होंने भी मनुष्य की पर-निर्भरशीलता की स्थिति की समाप्ति के लिए भरपूर चेष्टा की है। टाल्सटाय ने कहा है कि केंद्रीभूत राष्ट्र की क्षमता जनता की निरक्षरता और अक्षमता पर निर्भर करती है। देश भर में विद्यालय खोलने पर या आक्षरिक ज्ञान देने पर ही जनसाधारण की अक्षमता दूर नहीं होगी। एक अनुन्नत और निरक्षर देश के लोग जितने असहाय होते हैं, आधुनिक काल के जटिल समाज और राष्ट्रीय व्यवस्था युक्त देश के कहे जाने वाले शिक्षित लोग भी उनसे कम बेबस नहीं हैं। दोनों के मूल में है—परनिर्भरशीलता। यही मनुष्य के पुरूषार्थ का हनन करता है। अतः, विद्यालयों में शिशुकाल से ही ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे शिक्षार्थी परावलंबी नहीं हों। वे अपना काम स्वयं करें, अपनी जीविका स्वयं उपार्जन कर सकें और आत्मनिर्भर बन सकें। रवि बाबू भी इस तथ्यपूर्ण विचार से सहमत थे। इस अक्षमतापूर्ण कार्यकलाप और आदर्श को उत्साहित-वर्द्धित एवं पूर्ण करने के लिए ही १९२२ ई० में श्री निकेतन की स्थापना की गई तथा उसमें विभिन्न विभागों का निर्माण कर ग्रामोन्नयन, गोपालन, बढ़ईगिरी, शिल्पकारी, सफाई का कार्य और कृषि-संबंधी आदि अनुसंधान-कार्य प्रारंभ किया गया। यह संस्था आज विश्वभारती विश्वविद्यालय का प्रमुख अंग है।

शिक्षा का माध्यम

शिक्षा के माध्यम के संबंध में रवि बाबू ने विदेशी भाषा के माध्यम को अस्वीकार किया है। जिस प्रकार महात्मा गांधी ने कहा है "विदेषी भाषा के माध्यम द्वारा सच्ची शिक्षा असंभव है, उसी प्रकार रवींद्रनाथ ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा विश्व के किसी भी सभ्य देश में नहीं प्रदान की जाती। इससे छात्रों का मन विकारग्रस्त हो जाता है और वे अपने ही देश में परदेशी के समान मालूम पड़ते हैं। गांधीजी के शब्दों में, जो उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा था :—

"The foreign medium has made our children practicaily foreigners in their own land. It is the greatest tragedy of the existing system---If I had the powers of a despot, I would to-day stop the tuition of our boys and girls through a foreign medium. I would not wait for the preparation of text books. They will follow the change."

"अर्थात् विदेशी भाषा-माध्यम ने हमारे बालकों को अपने ही देश में विदेशी बना डाला है। यह प्रचलित पद्धति का बहुत बड़ा अभिशाप है। यदि मैं एक निरंकुश शासक की शक्तियों से युक्त होता, तो मैं आज ही विदेशी माध्यम के द्वारा बच्चे-बच्चियों की पढ़ाई बंद कर देता। वे पाठ्य-ग्रंथ-परिवर्तन का स्वतः अनुगमन करते।" तथापि रवींद्रनाथ ठाकुर या महात्मा गांधी विदेशी भाषा का बहिष्कार नहीं चाहते थे। उनका विचार था कि विदेशी भाषा सीखने के पहले राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए। इसके बाद इच्छानुकूल जो चाहे, विदेशी भाषा पढ़े। विदेशी भाषा ऐच्छिक हो, प्रतिबंधस्वरूप किसी पर बोझ नहीं।

नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति पर बल

रवींद्रनाथ ठाकुर ने मनुष्य के स्वस्थ मानसिक विकास तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के प्रचलन को आवश्यक माना है। उन्हें उन विद्यालयों से शिकायत थी, जो केवल मानसिक विकास को ही प्रश्रय देते हैं। निःसंदेह धार्मिक संकीर्णता उन्हें सर्वथा अमान्य थी। वे तो अंतर्राष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व और मानवता के पुजारी थे। धर्म के संबंध में उनका केवल इतना ही कहना था कि विद्यालयों के वातावरण में उसे अवश्य उपस्थित रहना चाहिए, ताकि बालकों के कोमल मस्तिष्क पर वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव, डाल सके। उनके जीवन के इस उद्घोष 'प्रकृति की ओर लौटें' में इसी सिद्धांत की लहर व्याप्त है। आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नयन के लिए वे जीवन के समस्त कार्य-कलापों का प्रकृति के समान ही निष्कपट, स्पष्ट और पवित्र रूप में करना चाहते थे। बालकों को उन्होंने यह आदेश दिया है कि वे अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रकृति की गुप्त लीला की खोज करें तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि करें। विश्व-कवि पुस्तकों द्वारा अथवा मौखिक व्याख्यानों द्वारा धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कहना है, "जब मनुष्य दूसरों को ईश्वर के संबंध में उप-देश देने का व्यवसाय बना लेता है, तब वह सत्य की दिशा बताने की अपेक्षा धूल ही अधिक उड़ाता है। अपने यहाँ आत्मानुभूति में आदान और प्रदान एक ही वस्तु है, जैसे दीपक का अपने-आप को प्रकाशित करना तथा दूसरों को प्रकाश प्रदान करना एक ही अर्थ रखता है।" अतः, उनके विचारानुसार धर्म ऐसी वस्तु नहीं कि उसे अन्य स्कूली विषयों के समान 'रुटीन' की सीमा में घेर लिया जा सके। यह हमारे संपूर्ण जीवन का सत्य है, अव्यक्त के साथ हमारे व्यक्तित्व के संबंधों की चेतना है, यह हमारे जीवन के गुरुत्वाकर्षण का वास्तविक केंद्र है। धर्म जीवित रहने की वस्तु है,

सीखने अथवा जानने की नहीं। यह सादगीपूर्ण जीवन तथा उचित वातावरण की सृष्टि से ही संभव हो सकेगा।

रवींद्रनाथ और जॉन डिवी

कवींद्र रवींद्र सत्यं शिवं और सुंदरं के अनुयायी थे। अतएव, स्वभावतया वे प्रकृतिवादी एवं आदर्शवादी हैं। इनका लालन-पालन कला, सौंदर्य एवं प्रेम के वातावरण में हुआ है, जब कि जॉन डिवी सर्वथा अमरीकी सभ्यता के अनुरूप प्रयोगवादी हैं। वे प्रत्यक्ष परिणाम में विश्वास रखने वाले घोर विज्ञानवादी दार्शनिक हैं। दोनों के विचारों में बहुत अंतर है। परंतु, प्रो० फिंडले के अनुसार दोनों की कार्यविधि तथा शाला के वातावरण में एक असाधारण साम्य है; क्योंकि दोनों सत्य एवं न्याय के पक्षपाती हैं।

रवि बाबू और डॉ० डिवी दोनों शिक्षाशास्त्रियों की बाल-मनोविज्ञान में गहरी गति है, यद्यपि दोनों के अध्ययन की विधियाँ भिन्न थीं। डॉ० डिवी का अध्ययन अनुभूति, चिंतन तथा बालक के प्रति सहज करुणा पर आधारित है। दोनों शिक्षाशास्त्री अपनी पाठशालाओं में साहित्य एवं संस्कृति को प्रमुख स्थान देते हैं। दोनों का विश्वास है कि बालक का विकास समाज के अंतर्गत ही संभव है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा बालक की शिक्षा का आधार सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, फलस्वरूप बोलपुर के शांति-निकेतन तथा शिकागो की प्रयोगशाला—दोनों में पारिवारिक भावना का समावेश किया गया है। दोनों ही स्थानों में बालक के संमुख समाज के जटिल संबंधों को अधिक सामान्य रूप में, लघु रूप में तथा आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दूसरे शब्दों में दोनों ही शिक्षाशास्त्रियों के विचार में 'शाला एक लघु समाज है।'

रवि बाबू और जॉन डिवी दोनों ही विचारकों के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रक्रिया में निहित है। शिक्षा का उद्देश्य किसी दूरस्थ लक्ष्य की प्राप्ति नहीं है, अपितु वर्त्तमान जीवन को सुष्ठु प्रकार से जीना है। फिंडले ने भी इस संबंध में लिखा है :—

"For both of them the meaning and purpose of life is the one thing that matters the life, they cherish is not some future field or activity or success, for which this or that subject or method may prepare, but the life that

now is, that now fulfils itself, both in individual experience and in co-operation."

परंतु, दोनों शिक्षाशास्त्रियों के सामाजिक जीवन में प्रभेद है। रवि बाबू के अनुसार मनुष्य का प्राकृतिक जीवन तथा सामाजिक वातावरण जैसे स्वच्छ आकाश और तारे, वृक्ष तथा लताएँ, नदी तथा उनका किनारा, सूर्योदय एवं सूर्यास्त, फूल और काँटे, मित्र तथा अध्यापक आंतरिक सुख के साधन हैं, जबकि डॉ० डिवी के मतानुसार सुख के साधन जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने में प्राप्त होते हैं। डिवी की प्रयोगशाला में बालक जीवन की वास्तविक क्रियाओं में संलग्न रहता है, जैसे भोजन बनाना, उद्यान में कार्य करना, कातना-बुनना आदि कार्यों को करते हुए सामाजिक भावना का विकास करते हैं तथा उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। अमरीकी संस्कृति अधिक भौतिक है। वह वस्तुस्थिति पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति अधिक आध्यात्मिक है। यह बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं पर आधारित है। इतना सांस्कृतिक अंतर होते हुए भी दोनों ही संस्थाओं के अध्यापक निःस्वार्थ भावना से युक्त हैं। वे केवल भौतिक सुख के पीछे दौड़ने वाले नहीं, उनमें त्याग की वृत्ति है तथा बालकों के प्रति स्नेह है। दोनों ही शिक्षाशास्त्री भौतिक जीवन की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई कामनाओं से मुक्त होना चाहते हैं। रवि बाबू इस स्वार्थी समाज से दूर प्रकृति के निःस्वार्थ प्रांगण में जहाँ अपने पूर्वजों ने शांति प्राप्त की थी, वहाँ बालक के मन में आत्मिक सुख की स्थापना करते हैं, जब कि अमरीकी दार्शनिक डिवी, अतीत को पीछे छोड़ वर्तमान में जीवन के चिर सुख को शोध करता है---इस प्रकार भौतिक सुख की पिपासा को दोनों शांत करना चाहते हैं, परंतु भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हुए।

रवींद्रनाथ और महात्मा गांधी

रवींद्रनाथ और महात्मा गांधी पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ा है और बड़े स्वाभाविक रूप में। अतः, दोनों के शिक्षा-सिद्धांतों में भी अनेक स्थानों पर बहुत साम्य दिखाई देता है। (प्रस्तुत अध्याय में इस साम्य की चर्चा कई स्थलों पर की गई है।)

रवींद्रनाथ और महात्मा गांधी दोनों ही शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य आत्म-प्रतीति मानते हैं, जो सृष्टि के साथ समरसता द्वारा प्राप्त की जा सकती है। बालकों की प्रारंभिक शिक्षा के संबंध में दोनों शिक्षाशास्त्री अत्यधिक पुस्तकीय ज्ञान के विरुद्ध हैं। महात्मा गांधी ने टाल्सटाय-आश्रम में यह अनुभव किया था कि बालक सुनी हुई बात अधिक अच्छी तरह याद रख सकते हैं, अपेक्षाकृत पढ़ी हुई बातों के।

इसका कारण है कि पढ़ना उनके लिए एक कार्य और समस्यास्वरूप है तथा सुनना एक आनंद का विषय है। वे बालकों को प्रारंभ से ही अक्षर-लेखन सिखाने के विरुद्ध हैं। उनका विचार है---"बालक को पहले गेहूँ और गेहूँ की भूसी का अंतर समझाया जाए, तत्पश्चात् उन्हें 'गेहू' शब्द लिखना सिखाया जाए। रवि बाबू के विचार में भी "शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में बालकों को सत्य के पाठ प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा--- अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु तथा व्यक्ति द्वारा--- प्राप्त होनी चाहिए।" उनके अनुसार पुस्तकें हमारे तथा संसार के बीच बाधक होती हैं। पुस्तकों के कारण हम अपने मन की खिड़कियों को बंद कर लेते हैं।

शिक्षा के स्वावलंबन के संबंध में महात्मा गांधी का विचार है कि शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए अर्थात् शिक्षाकाल में तथा शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् बालक को आत्मनिर्भर बनना चाहिए। यदि गांधी जी के आर्थिक स्वावलंबन के पहलू को छोड़ दिया जाए, तो रवींद्रनाथ ठाकुर भी स्वावलंबन के पक्ष में हैं। शांति-निकेतन में विद्यार्थी स्वयं सभी कार्य संपादित करते हैं। वे सभी कार्य आत्मनिर्भरता की भावना का विकास करने के लिए करते हैं।

शिक्षा में अनुशासन के प्रश्न पर दोनों शिक्षाशास्त्री नकारात्मक अनुशासन के सर्वथा विरोधी हैं तथा वातावरण में ऐसे आदर्श का उपस्थितिकरण चाहते हैं, जिससे अनुशासन की समस्या का समाधान हो।

कवींद्र रवींद्र और महात्मा गांधी दोनों ग्राम-संस्कृति को भारतीय संस्कृति का प्रतीक मानते हैं। अतः, दोनों शिक्षा के द्वारा ग्राम-संस्कृति के पुनरुत्थान करने की कामना करते हैं। प्रत्यक्ष काम द्वारा शिक्षा अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष वस्तु एवं व्यक्ति के द्वारा शिक्षा प्रदान करने का समर्थन दोनों शिक्षाशास्त्रियों ने किया है।

शिक्षा के सामाजिक पक्ष पर विचारते हुए दोनों विभूतियों ने अपनी शिक्षा-योजना में सामाजिक पहलू को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। दोनों का अटल विश्वास है कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास समाज में रह कर ही संभव है। वैयक्तिक स्वार्थ के लिए शक्तियों के विकास को दोनों ही महत्त्वशून्य मानते हैं।

अध्याय १२

मदनमोहन मालवीय

जीवन-परिचय

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वनामधन्य महामना पंडित मदन-मोहन मालवीय का जन्म २५ दिसंबर, १८६१ ई० को इलाहाबाद (प्रयाग) के अहियापुर मुहल्ले में एक अत्यंत धर्मनिष्ठ और सुसंस्कृत ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आप 'मालवीय जी' के नाम से समस्त भारत में विख्यात हैं। इनके पिता का नाम पंडित ब्रजनाथ मालवीय और पितामह का नाम पंडित प्रेमधर मालवीय था। ये लोग संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान और धर्मज्ञानी माने जाते थे। मालवीय जी के पिता एक नामी कथावाचक के रूप में सुविख्यात थे। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की थी, ईश्वर और धर्म में आपकी वड़ी आस्था थी। मालवीयजी की माता श्रीमती मूना देवी भी एक वहुत धर्मनिष्ठ महिला थीं। मालवीय जी की शादी मात्र पंद्रह वर्ष की अवस्था में श्रीमती कुंदन देवी के साथ हुई थी।

छात्र-जीवन

मालवीय जी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही प्रारंभ हुई। आपने अपने पितामह एवं पिता से संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। घर पर ही इन्हें नीति के श्लोक, पूजा-पाठ तथा जप के स्त्रोत कंठस्थ हो गए। इस समय के मंत्र और श्लोक इनको जीवन-पर्यंत स्मरण रहे। अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इन्होंने इन श्लोकों और मंत्रों से सर्वदा प्रेरणा प्राप्त की। कुछ वर्ष पश्चात् आप 'धर्म ज्ञानोपदेश' नामक पाठशाला में प्रविष्ट हुए। यहाँ कुछ शिक्षा प्राप्त करने के वाद उन्होंने 'विद्या धर्मवर्द्धिनी-सभा' में अध्ययन किया। तत्पश्चात् आपका नामांकन स्थानीय

जिला स्कूल में हुआ। इस समय तक इलाहाबाद (प्रयाग) में विश्वविद्यालय नहीं हुआ था, फलस्वरूप एन्ट्रेंस की परीक्षा इन्होंने १८७१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से पास की और म्योर सेंट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में वे दाखिल हुए। सन् १८८१ ई० में इन्होंने एफ० ए० तथा १८८४ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की।

शिक्षक के रूप में

आगे भी पढ़ने की इच्छा थी, परंतु परिवार की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं होने के कारण आप इसे पूरा नहीं कर पाए और इलाहाबाद के गवर्नमेंट हाई स्कूल (जिला स्कूल) में पचास रुपए मासिक वेतन पर एक शिक्षक बन गए। इस समय इनकी अवस्था मात्र तेईस वर्ष की थी। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि अपने कॉलेज-जीवन में ही ये एक बड़े अच्छे सफल वक्ता थे। सोलह वर्ष की उम्र में 'गो-रक्षा' पर इनका सार्वजनिक भाषण हुआ था। ये कभी-कभी काव्य-सृजन करते थे और अभिनय-कला में बड़े प्रवीण थे।

गवर्नमेंट हाई स्कूल में मालवीय जी ने तीन वर्षों तक बड़ी लगन के साथ अध्यापन-कार्य किया। अध्यापन-कार्य को आप एक अत्यंत पवित्र कार्य मानते थे। तीसरे वर्ष इनका वेतन पचहत्तर रुपए मासिक हो गया।

पत्रकारिता

कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह के आग्रह पर मालवीय जी ने शिक्षण-कार्य छोड़ कर उनके पत्र 'हिंदुस्तान' का संपादन-कार्य स्वीकार कर लिया। ढाई वर्ष तक ये संपादन-कार्य करते रहे, यहाँ इनको दो सौ रुपए मासिक वेतन मिलता था। 'हिंदुस्तान' के संपादन-कार्य को भी इन्होंने बहुत निष्ठा और उत्तरदायित्व-पूर्वक सँभाला। पत्र में समाचार की सत्यता, भाषा की शुद्धता एवं ओजस्विता आदि पर वे पूरा ध्यान देते थे। वे चाहते थे कि पत्रकार एक आदर्श मान-मर्यादा से पूर्ण बनें। उनमें देशभक्ति की भावना हो तथा सत्य-पालन हेतु वे जनता का मार्ग-दर्शन करें। वे एक आदर्श पत्रकार थे और एक सुनिश्चित लक्ष्य से पत्र का संपादन करते थे। 'हिन्दुस्तान' अंगरेजी-हिंदी, दोनों में प्रकाशित होता था। आप दोनों के प्रधान संपादक थे। इस निष्ठापूर्ण कार्य से इनका यश देश में सर्वत्र फैलने लगा। 'हिन्दुस्तान' हिंदी का पहला दैनिक पत्र था।

कुछ समय पश्चात् किसी मतभेद के कारण दृढ़-संकल्पवान् मालवीय जी ने राजा रामपाल सिंह के 'हिंदुस्तान' का संपादन-कार्य छोड़ दिया, परंतु इस कारण देशसेवा की भावना में कोई अंतर नहीं पड़ा।

कालाकांकर छोड़ने के पश्चात् मालवीय जी 'इंडियन यूनियन' में संपादन-कार्य में लगे। तत्पश्चात् १६०७ ई० में वसंतपंचमी के अवसर पर 'साप्ताहिक अभ्युदय' नामक पत्र निकाला। दो वर्ष तक स्वय इसके संपादक रहे। इस पत्र द्वारा देशसेवा में वड़ी सहायता मिली। इसमे उनके राष्ट्रहित-संबधी क्रांतिकारी लेख छपते रहे। वाद में इन्होंने 'सनातन धर्म' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। समाज एवं राष्ट्र-कल्याणार्थ एक अंगरेजी पत्र की आवश्यकता पड़ने पर आपके सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप इलाहावाद से 'लीडर' प्रकाशित हुआ। 'लीडर' अपने समय का एक प्रमुख पत्र वन गया। राष्ट्रीय आंदोलनों को गति देने में इससे वड़ा योगदान मिला। दिल्ली के प्रसिद्ध पत्र 'हिंदुस्तान टाइम्स' के संस्थापक भी मालवीय जी ही थे। इन्होंने दिल्ली में अकालियों से 'हिंदुस्तान टाइम्स' पत्र खरीद कर वहुत वर्षों तक चलाया। वाद में जव वे वहुत अधिक कार्य-व्यस्त रहने लगे, तो यह पत्र एक लिमिटेड संस्था को सौंपा गया। नई दिल्ली से आज जो 'हिंदुस्तान टाइम्स' और 'हिंदुस्तान' दो पत्र निकल रहे हैं, वे मालवीय जी की प्रेरणा के ही फल हैं।

वकालत

जिन दिनों मालवीय जी कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह के यहाँ 'हिंदुस्तान' का संपादन कर रहे थे, उन्हीं दिनों इनको समाज एवं देशहित के लिए वकील वनने की इच्छा हुई थी। मित्रों और हितैषियों ने भी यही राय दी कि वे वकील वन कर देशहित के गूढ़ मसले को विशेष विवेचन के साथ सुलझाने में समर्थ होंगे। मिस्टर ए० ओ० ह्यूम, पंडित अयोध्यानाथ कुंजरू, रामपाल सिंह और पंडित सुंदरलालजी आदि उनके मित्र थे। इनके वचपन के साथी सर सुंदरलाल ने कहा—"देखो, यदि राजनीति में सबसे आगे वढ़ जाना चाहते हो, तो वकालत पढ़ो। कानून की वारीकी जाने विना राजनीति में आगे नहीं वढ़ा जा सकता। शासकों की भाषा समझने के लिए भी कानून का अध्ययन आवश्यक है।"

अव मालवीय जी वकालत पढ़ने को तत्पर हुए।

मालवीय जी ने लॉ कॉलेज में अपना नामांकन कराया और अनेक पारिवारिक संकटों का सामना करते हुए भी आप १८९१ ई० एल० एल० वी० की परीक्षा में वैठे और उन्हें सफलता मिली। सन् १८९३ ई० में उन्होंने इलाहावाद हाईकोर्ट में वकालत शुरू कर दी। वकील के रूप में भी ये वहुत सफल हुए।

मालवीय जी ने अपने कॉलेज के साथियों की तुलना में वहुत पीछे वकालत आरंभ की। परंतु, शीघ्र ही इलाहावाद हाईकोर्ट के एक श्रेष्ठ कोटि के वकील के रूप

में इनकी गणना होने लगी। शेरकोटि की महारानी के मुकदमें में विजय होने से इनका नाम संपूर्ण उत्तर प्रदेश (संयुक्त-प्रदेश) में फैल गया। इनको एक सफल वकील बनाने में उनकी वाग्मिता; भाषण-शैली एवं जिरह करने का ढंग आदि बहुत सहायक सिद्ध हुआ। सोलह वर्ष तक ये इस पेशे में लगे रहे, परंतु १९०९ ई० के लगभग इस पेशे को देश-सेवा हितार्थ छोड़ने का विचार करने लगे। अतः, सन् १९११ ई० में ५१ वर्ष की आयु में इन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु वकालत पेशा का परित्याग कर दिया। इसके बाद सन् १९२२ ई० में वे पुनः 'चौरी-चौरा थाना कांड' में इसके अभियुक्तों के रक्षार्थ इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकील के रूप में उपस्थित हुए थे।

सार्वजनिक जीवन

हिंदू समाज की पतनोन्मुख अवस्था से मालवीय जी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही परिचित हो चुके थे। फलतः युवा होते-होते आपने सामाजिक जीवन में खुल कर भाग लेना शुरू कर दिया था। इलाहाबाद में जिन दिनों मालवीय जी म्योर सेंट्रल कॉलेज के विद्यार्थी थे, उस समय उस कॉलेज के संस्कृत आचार्य आदित्यराम भट्टाचार्य ने भारतीय जनता को संगठित करने के दृष्टिकोण से प्रयाग हिंदू समाज की स्थापना की थी। मालवीय जी इस संस्था के एक कर्मठ सदस्य थे। आचार्य भट्टाचार्य के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी। ये मालवीय जी को देश-सेवा के लिए निरंतर प्रेरणा देते रहे।

कॉलेज छोड़ने के पश्चात् मालवीय जी का पहला सार्वजनिक भाषण कलकत्ता कांग्रेस में हुआ। सन् १८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई थी। दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में सन् १८८६ ई० में कलकत्ता में कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन हो रहा था। मालवीय जी आचार्य आदित्यराम जी के साथ यह अधिवेशन देखने गए, परंतु यहाँ आपकी भी इच्छा व्याख्यान देने की हो गई। उन्होंने बड़ा ही ओजस्वी व्याख्यान प्रस्तुत किया। इस व्याख्यान से उनकी ख्याति देश में सर्वत्र फैल गई। इनका कांग्रेसी जीवन मुख्यतः इस अधिवेशन से ही प्रारंभ होता है। इनका भाषण मात्र १० मिनट का ही था, परंतु २५ वर्ष के युवा के इस भाषण में बाईस बार तालियाँ बजीं। इनको सभी लोग देख सकें, इस विचार से उनको मेज पर खड़ा किया गया। इनका शुद्ध उच्चारण, संगीतमय मधुर स्वर, शांत मुख-मुद्रा और शुभ्र वस्त्र, सिर पर बँधी पगड़ी, गले में पड़ा दुपट्टा और ललाट पर सुशोभित चंदन आदि ने इनके व्यक्तित्व को और भी मुखर कर दिया था।

सभा की वार्षिक रिपोर्ट में जेनरल सेक्रेटरी ने मालवीय जी की बड़ी प्रशंसा की और बतलाया कि इस वर्ष सबसे प्रभावशाली व्याख्यान पंडित मदनमोहन मालवीय जी का ही हुआ था।" No taxation, without representation" अर्थात 'प्रतिनिधित्व के बिना कर भी नहीं' —मालवीय जी के इस मंत्र से भारतीयों के अंदर एक प्रबल शक्ति का आह्वान हुआ। इनकी इस घोषणा को सुन कर बृटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध सन् १९१६ ई० में 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—के जयघोष से भारतीयों को आह्लादित करने वाले, उस महान् तपस्वी का स्मरण हो आता है, जिसका नाम था—लोकमान्य बलवंतराव बालगंगाधर तिलक। कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में पंडित मदनमोहन मालवीय का जो भाषण हुआ था, उसका उल्लेख डॉ० ईश्वरी प्रसाद वर्मा की 'महामना मालवीय' नामक पुस्तक में निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है :—

"परम आदरणीय देशगौरव दादाभाई जी, देशभक्त नेतागण एवं उपस्थित भारत-सपूतो !

"मैं पहली बार अपने पूज्य गुरुदेव आदित्याचार्य जी की प्रेरणा से आपके संमुख उपस्थित हुआ हूँ। अतः, इस अवसर को प्राप्त कर सकना मेरा सौभाग्य है। मैं आपके संमुख स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि आज जो हमारे शासक बनकर हमारे ऊपर बैठे हैं....।

क्या कोई कह सकता है कि ग्रेट ब्रिटेन हम स्वतंत्रतजन्मा भारतीयों को प्रतिनिधित्व के अधिकार देने में संकोच करेगा ? जब उसने अपनी भाषा और अपने साहित्य के द्वारा हमें इसके महत्त्व को समझने के योग्य बना दिया है, उसको प्राप्त करने के लिए उत्तेजित कर दिया है·······मैं प्रत्येक उदार अंग्रेज से पूछता हूँ कि क्या हमको इस अधिकार से वंचित होने के विरुद्ध शिकायत करने का दृढ़ कारण नहीं है और क्या वह अधिकारच्युत होना अंग्रेजों के अयोग्य अन्याय नहीं है ? निश्चय ही प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रेमी उदार अंग्रेज की यही इच्छा है कि जिस स्वतंत्रता का वह स्वयं उपभोग करता है, वही स्वतंत्रता सबको मिले; क्योंकि एक कवि के कथनानुसार—

"For he that values liberty confines,
His zeal for her predominance within,
No narrow bounds, her cause engages him,
Wherever pleaded, it is the cause of man."

स्वतंत्रता की दिव्य ज्योति का,
जिसने पाया अमल विलास।
वही पुरुष है, वही धर्म है,
वही परम पुरूषार्थ प्रयास॥

तुच्छ परिधि में नहीं वँधा है,
उसके वैभव का उल्लास।
सकल विश्व में स्थापित करता,
यह स्वतंत्रता सबके पास॥

अपने तीखे व्यंग्य-वाण छोड़ते हुए आपने आगे कहा है—

"देश का कच्चा माल देश से वाहर चला जाता है और विदेशों से तैयार होकर उसका माल हमारे पास आता है। अगर हम स्वतंत्र होते, तो ऐसा न होने देते। उस हालत में हम भी उसी प्रकार अपने उद्योगों का संरक्षण करते, जिस प्रकार कि सब देश अपने उद्योगों का शैशवावस्था में करते हैं।"

तालियों की अपार गड़गड़ाहट में आपने आगे कहा—

"राष्ट्रीयता किसे कहते हैं? राष्ट्रीयता उस भाव का नाम है, जो कि देश के संपूर्ण निवासियों के हृदयों में देशहित की लालसा के साथ व्याप रहा हो, जिसके आगे अन्य भावों की श्रेणी नीची रहती हो। भारत में वह राष्ट्रीय भाव कैसे पैदा हो? प्रत्येक भाव में भक्ति और प्रेम होते हैं और प्रत्येक प्रेम और भक्ति के आधार भाव होते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि मनुष्य जिस वस्तु से प्रेम रखता है, उसका दास वन जाता है और उसके आगे अन्य समस्त वस्तुओं को तुच्छ मानता है। धन ही से प्रेम रखने वाले धर्म और यश की कुछ भी अपेक्षा नहीं करते, और जिनको कि धर्म और यश प्यारा है, उनके आगे धन मिट्टी-जैसा ही है। एक युवक विद्या के उपार्जन करने में संपूर्ण विषय-भोगों का परित्याग कर देता है और दूसरा खेल-कूद में ही अपना समय विताता है। एक दयालु आत्मा को तो दूसरों के साथ इतनी सहानुभूति होती है कि उनके दुःख से वह प्रतिक्षण दुखी रहती है और दूसरी ऐसी भी आत्मा है कि जो 'आप मरे, जग प्रलय' की कहावत पर ही चलती है। कुछ ऐसे पुरुष हैं, जो गवर्नमेंट की खैरख्वाही के पुछल्लों के लिए सच-झूठ वोल, न्याय-अन्याय का विचार न कर, कार्य करते हुए दिन-रात खुशामद ही में लगे रहते हैं। और दूसरे ऐसे हैं कि जिनकी प्रेम और भक्ति का विषय अपनी मातृभूमि है। वे सच्चे सपूत दिन-रात कष्ट और हानियाँ उठाते हुए भी देश का हित करने में मग्न हैं। जब देश में इसी भाव की वहुत-सी आत्माएँ उत्पन्न हो जाती हैं, तव उनका 'समान-

शीलव्यसनेषु सख्यम्' की उक्ति के अनुसार मन मिल जाता है और वे सबके सब मिल कर चाहे भिन्न-भिन्न मार्गों पर चलें, परंतु उद्देश्य एक ही रखते हुए अपने सच्चे हार्दिक प्रयत्नों से अपने-आपको नमूना और अगुआ बनाते हुए, आपत्तियाँ झेलते हुए अनुचित दवाव से न दवते हुए, देश-भर के संपूर्ण वाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष नागरिक और ग्रामीणों के हृदय में सच्ची देशभक्ति को उत्पन्न कर देते हैं। थोड़े ही दिनों में देश ही समस्त देशवासियों के प्रेम और भक्ति का विषय हो जाता है और मतभेद, वर्णभेद, जातिभेद के होते हुए भी राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ भाव देशव्यापी हो जाता है और इतना वढ़ जाता है कि उसके आगे अन्य भावों का दर्जा नीचा जँचने लगता है। जापान राष्ट्रीयता की इस श्रेणी पर पहुँच गया है। जापानियों में वौद्ध, ईसाई और अन्य मतावलंबी भी हैं। परंतु, यदि किसी से पूछा जाए कि तुम कौन हो, तो वह अपने को वौद्ध, ईसाई अथवा अन्य मतावलंवी नहीं वतलाएगा, किंतु कहेगा कि मैं जापानी हूँ। मेरा, धर्म जापान है, मैं जापान हूँ, मेरा सर्वस्व जापान है।

"भारतवर्ष में लोग सदा से धर्म को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ समझते चले आए हैं। उसके लिए भारतवासियों ने अपने तन-मन-धन को कुछ नहीं समझा। जैसे कि वहुत से देश अपने सांपत्तिक अभ्युदय के लिए धर्म-अधर्म का कुछ विचार नहीं करते। चाहे झूठ वोलना पड़े, वेईमानी करनी पड़े और हिंसा भी क्यों न होती हो, परंतु यदि कोई देश अथवा माल हाथ लगे तो कुछ परवाह न की, ऐसा विचार भारतवर्ष का कभी नहीं रहा। यहाँ के धर्मयुद्ध, धर्मराज्य और धर्मकार्य प्रसिद्ध हैं। और इसमें संदेह भी नहीं कि धर्म सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। इसको खोकर अन्य वस्तुओं को प्राप्त करना अपने परलोक को नष्ट करना है। प्रत्येक कार्य करने में धर्म का पालन करना आवश्यक है, परंतु धर्म को एक तमाशा वना लेना मूर्खता है। धर्म की आड़ में अपनी काहिली, निर्वलता और मानसिक पतन को छिपाना नाश का कारण है। वहुधा यह कहा जाता है कि भारतीयों की धर्मनिष्ठा भारत की अवनति का कारण हुई है। परंतु, यह कहना उपयुक्त नहीं। धर्म में लगे रहना तो किसी अवस्था में अवनति का कारण हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि भारतवासी अव धर्म के मर्म को भली प्रकार समझ नहीं रहे हैं। क्या धर्मों के भेद से हिंदुओं, आर्यों, मुसलमानों और ईसाइयों का आपस में झगड़ा करना कोई धर्म कहा जा सकता है? हिंदू मूर्तिपूजक हैं और आर्यसमाजी नहीं, इसलिए उन दोनों में सदैव तनातनी रहे, यह कोई धर्म है? हिंदुओं और मुसलमानों के मत अलग-अलग हैं और धार्मिक विंदुओं पर इनमें आपस में विरोध नजर आता है। दोनों यदि ऐसा करते हैं, तो हिंदू और आर्य अपने वेदों के, ईसाई अपनी इंजील के, मुसलमान अपने कुरानशरीफ के विरुद्ध चल रहे हैं। धर्म यह है कि प्राणी को प्राणी

क साथ सहानुभूति हो, एक दूसरे को अच्छी अवस्था में देख कर प्रसन्न हों और ागरी हुई अवस्था में सहायता दे। किसी ने सच ही तो कहा है 'मजहब नहीं सिखाता ापस में वैर रखना' और यह दोहा तो एक प्रकार से सारे धर्मग्रंथों का सारतत्त्व ही प्रस्तुत कर देता है—

आधे दोहे में लिखा सब ग्रंथों का सार।
परपीड़न महापाप है, परमधर्म उपकार॥

समझदार नागरिक के लिए राष्ट्रीयता भी एक महान धर्म है। इसकी रक्षा के लिए वह अपने हृदय से सारे स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। वह क्षुद्रदर्शी, स्वार्थियों और खुशामदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करेगा, जिससे कि देशवासियों को हानि पहुँचे, बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताप्रिय आत्माओं की भाँति असंख्य कष्ट उठाते हुए भी वह ऐसा ही आचरण अपनाएगा, जिससे देश का भला हो, निर्धन, धनवान, निर्बल, बलवान और मूर्ख भी बुद्धिमान हो जाए, प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुःख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओं को सुख पहुँचे। देशभक्ति द्वारा इतने धर्मों का संपादन होता हुआ देखकर भी यदि जो धर्म के आगे देशभक्ति को कुछ नहीं समझता, उस पुरुष को जान लीजिए कि वह धर्म के तत्त्व को ही नहीं पहचानता।"

भाषण समाप्त होते ही पंडाल में काफी देर तक तालियाँ बजती रहीं और लोगों ने हाथ उठा-उठा कर हर्ष प्रगट किया। अधिवेशन के दर्शकों एवं नेताओं ने अनुभव किया कि इस युवक में देश के प्रति कितनी गहरी पीड़ा है। मदनमोहन मालवीय ने विनम्रतापूर्वक सभी लोगों को नमस्कार कर अपना स्थान लेना चाहा, तो सर ह्यूम एवं दादाभाई नौरोजी ने उठकर उस नवयुवक को सीने से लगा कर उनको पीठ थपथपायी। तब फिर से हाल करतलध्वनियों एवं भारतमाता की जय के गगनभेदी नारों से गूँज उठा।

इसके बाद जब कांग्रेस के संस्थापक तथा मंत्री श्री ह्यूम अधिवेशन की रिपोर्ट देने उठे, तो उन्होंने भी मालवीय जी के भाषण के संबंध में उद्गार प्रगट करते हुए कहा—

"जिस भाषण के लिए पंडाल में कई बार जोर की करतलध्वनि हुई और जिसे श्रोताओं ने बड़े उत्साह के साथ सुना, वह था मदनमोहन मालवीय का मनोहर भाषण।"

"पंडाल के वातावरण पुनः हर्षोल्लास के बीच तालियों की गड़गड़ाहट ने समाँ बाँध दिया। श्री ह्यूम एवं अन्य नेताओं ने स्वीकार किया कि दासता की उस

निविड़ निशा में मालवीय जी के धार्मिक भाषण भी गर्जनयुक्त विद्युत्रेखा के समान शासकों के कान खड़ा करने के लिये काफी होंगे।

इस अधिवेशन में मालवीयजी का परिचय प्रतापगढ़ जिले की कालाकांकर रियासत के विद्याव्यसनी महाराजा रामपाल सिंह से हुआ। राजा साहब ने अपनी आँखों से देखा कि उम्र एवं विद्या के वृद्धों से भरी उस सभा में किस प्रकार एक पचीसवर्षीय नवयुवक ने जादू की छड़ी फेर दी। फलतः राजा साहब ने अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले 'हिंदुस्तान' दैनिक पत्र का का संपादक-पद स्वीकार करने के लिए मालवीय जी को विवश कर दिया।"

शिक्षण, पत्रकारिता और वकालत के अपने व्यस्त जीवन में भी मालवीय जी देशहित-कार्य के निमित्त सदैव सचेष्ट बने रहे। इन तीनों जीवन को भी वस्तुतः आपने जनहितार्थ ही अपनाया था। परंतु, सन् १९११ ई० में जब उनकी अवस्था ५१ वर्ष की थी, अपने उस निश्चित लक्ष्य और परम पवित्र उद्देश्य की पूर्ति हेतु, जिसके माध्यम से भारतीय समाज में शैक्षिक क्रांति कर आप यहाँ आमूल परिवर्तन लाना चाहते थे, इन्होंने वकालत छोड़ दी। शैक्षिक क्रांति का यह निश्चित लक्ष्य और परम पवित्र उद्देश्य था -- 'काशी की पवित्र नगरी में हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना।' उनकी मनोवांछित कामना पूरी हुई, इनके अथक परिश्रम और दृढ़ विचार के फलस्वरूप ४ फरवरी, १९१६ ई० को वसंतपंचमी के दिन, लार्ड हार्डिंज द्वारा काशी हिंदू विश्वविद्यालय का शिलान्यास हो ही गया। आज यह विश्व-विद्यालय भारत का सुप्रसिद्ध विद्या-केंद्र है। भारतीयों की यह अलौकिक विभूति है। इस विश्वविद्यालय को देखते ही पाँचवीं शताब्दी के मध्यार्द्ध से बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध, प्रायः सात सौ वर्षों तक, अपनी ज्ञान-ज्योति से समस्त विश्व को आलोकित करने वाले, अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त, बौद्धकाल के सर्वप्रसिद्ध विद्या-केंद्र उस नालंदा विश्वविद्यालय का स्मरण हो आता है, जिसके भग्नावशेष बिहार की राजधानी पटना से दक्षिण-पूरब में छप्पन मील दूर, आज भी भारतीय संस्कृति के एक गौरव-शाली अध्याय के रूप में अवस्थित है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संबंध में अब हमलोग विशेष जानें; क्योंकि मालवीय जी के शिक्षा-दर्शन की विशेषता मुख्यतः उसी में समन्वित है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय का प्रस्ताव

सन् १९०४ ई० में पहले-पहल काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिंह के सभापतित्व में काशी के 'मिण्ट-हाउस' में एक सभा हुई, जिसमें मालवीय जी ने

हिंदू विश्वविद्यालय के प्रस्ताव के सफल होने में संदेह व्यक्त किया। काशीनरेश को भी सफलता मिलने की पूरी आशा नहीं थी, तथापि मालवीय जी की दृढ़ता से यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। इससे मालवीयजी का उत्साह और बढ़ा। नवंबर, १९०५ ई० से वे इस कार्य के लिए विशेष सक्रिय हो गए। इसी वर्ष दिसंबर में राष्ट्रीय महासभा हो रही थी। मालवीय जी ने प्रस्तावित विश्वविद्यालय की रूपरेखा छपवा कर भारत के राजाओं, महाराजाओं और विद्वद्जनों के पास भेजा और अपने लक्ष्य से उन्हें परिचित कराया। राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर एक वृहत् सभा में (३१ दिसंवर, १९०५ ई०) वरार के श्री वी० एन० महाजनी के सभापतित्व में, काशी के टाउन हॉल में विश्वविद्यालय के संबंध में स्पष्ट योजना रखी गई। यहाँ देश भर के विशिष्ट व्यक्ति, सभी धर्मों के प्रतिनिधि और अनेक शिक्षाविद् उपस्थित थे। सभी ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। जनवरी, सन् १९०६ ई० में कांग्रेस के पंडाल में काशी में हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने की घोषणा हुई।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना, शिलान्यास और इस अवसर पर महामना का जो भाषण हुआ था, उसका कुछ अंश डॉ० ईश्वरी प्रसाद वर्मा की पुस्तक 'महामना मालवीय' में इस प्रकार मिलता है :—

"भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का २१ वाँ अधिवेशन १९०५ ई० के क्रिस्मस सप्ताह में श्री गोपालकृष्ण गोखले की अध्यक्षता में राजघाट,बनारस में हुआ था। उन्हीं दिनों मदनमोहन मालवीय भी ने कांग्रेस के बड़े-बड़े भारतीय नेताओं की एक बैठक बुलायी और अपने भाषण में काशी में एक हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की। उनके भाषण का सभी जगह बड़ा स्वागत किया गया और उसके प्रति काफी उत्साह दिखलाया गया।

"अभी अधिवेशन समाप्त भी न होने पाया था कि दूर मंच पर पीछे बैठे उस समय के सुविख्यात नेता श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी अपने स्थान से उठे और अपनी जगह से खड़े होकर उन्होंने कहा -- "अध्यक्ष महोदय, मैं पं० मदनमोहन मालवीयजी के प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ और यह आश्वासन देता हूँ कि जब तक विद्यालय में उचित अध्यापकों की नियुक्ति न हो, मैं विश्वविद्यालय में अंग्रेजी अध्यापक के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करता हूँ।"

"बनर्जी साहब के इस आश्वासन से अधिवेशन करतलध्वनि से गूँज उठा।
सुरेंद्र बनर्जी.......
जिंदाबाद !

मदनमोहन मालवीय····
जिंदाबाद !
भारत माता की····
जय हो !

और तभी एक युवा कवि 'नजर' ने उठ कर एक कविता पेश की, मालवी जी की ओर मुखातिव होकर····

हमारा पेशवा है मालवी

दिल खुदा का घर है, उस घर में बसा है मालवी,
हम पुजारी हैं, हमारा देवता है मालवी ॥
अहले दिल, अहले वफा, अहले नजर है मालवी,
सम नजर है, मुद्दई क्या जाने क्या है मालवी ?
नूरे चश्मे औलिया, नूरे खुदा हैं मालवी,
वा खुदा है मालवी, हक आशना है मालवी ।
ईंट का पत्थर से हम, देते नहीं हर्गिज जवाब,
वह बुरा है आप, जो समझे बुरा है मालवी ॥
नाम है उसका, दिले मुर्दा को बख्शे जिंदगी,
हिंदुओं में, रहमते ख्वेअला है मालवी ॥
एतवार आएगा ऐसे, मुसदफों का किस तरह ?
कल जो कहता था हमारा पेशवा है मालवी ॥
सरबसर मातम है दुनिया, जिस तिलक की मौत पर,
सच तो यह है, उस तिलक का रहनुमा है मालवी ॥
गोखले ने जो दिया था, हमको पैगामे अजल,
ऐ 'नजर' उन इब्तिदा की, इन्तिहा है मालवी ॥

पं० मदनमोहन मालवीय
जिंदाबाद !
देशगौरव महामना की····
जय !!

के गगनभेदी नारे, तालियों की गूंज से समस्त वातावरण में उत्साह एवं आशा की लहर दौड़ गई और यही कारण था कि महामना मालवीय ने सभी नगरों का दौरा करने का संकल्प कर लिया और वे स्थान-स्थान, प्रांत-प्रांत जा कर अपनी महान् [illegible]ा के लिए जनजागरण कर वे देशभक्ति के प्रति उत्साह पैदा करने लगे ।

जिस स्थान पर हिंदू विश्वविद्यालय-निर्माण करने की योजना बनायी गई थी, उस स्थान को प्राप्त करने का निश्चय महामना कर चुके थे। इस भूमि पर काशीनरेश का अधिकार था। महामना मालवीयजी ने काशीनरेश से संपर्क स्थापित किया। नरेश ने कहा, "जितना भी धन चाहें मैं सहर्ष देने को तैयार हूं, किंतु भूमि को मैं किसी भी सूरत में देने को तैयार नहीं; क्योंकि इस पवित्र भूमि से मुझे अपरिमित मोह है।"

"ऐसी स्थिति में स्थान कैसे प्राप्त हो? यही समस्या मालवीयजी के सामने कठिन बन गई।

एक दिन महामना को पता लगा कि काशीनरेश मकर संक्रांति को दान करते हैं। बस क्या था, उक्ति सूझ गई।

मकर संक्रांति का उषाकाल था। महामना भागीरथी-तट पर कर्मकांडी ब्राह्मण के रूप में उपस्थित थे। काशीनरेश का आगमन हुआ।

स्नान आदि से निवृत्त होकर अब संकल्प का काल उपस्थित हुआ। महामना उस समय उपस्थित थे ही। नरेश की आज्ञा हुई—

"महाराज, संकल्प कराइए।"

गुरूपूजा के निमित्त—

काशीनरेश ने मुंह उठा कर देखा।

महामना मालवीय को देखकर बस इतना ही शब्द निकला "महाराज, आप?"

"जी भगवन्!"

नरेश मुस्करा दिए।

काशीनरेश को उनसे अच्छा विद्वान्, तेजस्वी ब्राह्मण कौन मिल सकता था?

महामना ने संकल्प के उपक्रम में वह भूमि प्राप्त कर ही तो ली, जिसे प्राप्त करने का संकल्प वे वर्षों से किए हुए थे और इस प्रकार यह क्रम आगे चला। अब समस्या सामने आई—धन-संग्रह की। महामना मालवीय ने भारत के प्रत्येक प्रांत का दौरा किया और जहां भी गए, खाली हाथ नहीं लौटे। एक समय दान प्राप्त करने के लिए महामना हैदराबाद पधारे। किंतु, निजाम हैदराबाद हिंदू विश्वविद्यालय के नाम से दान देने के लिए राजी नहीं थे। उन्होंने साफ शब्दों में इन्कार कर दिया था। पर, महामना का संकल्प था कि खाली हाथ लौटना नहीं है।

हैदराबाद की सड़क पर किसी हिंदू सेठ का शव-विमान निकल रहा था। विमान किसी बुजुर्ग का था। अतः, उस पर पैसों की वर्षा हो रही थी। पैसों को

बटोरने वाले भी बहुत थे, किंतु उनमें से एक महामना भी थे।

सब दंग थे, चकित होकर सभी मुर्दनी में चलने वाले 'राम नाम सत् है' कहना भूल महामना को देखने लगे। किसी ने पूछा, "भगवन, क्या कर रहे हैं आप?"

"भाई, काशी लौटकर यह तो बताना ही पड़ेगा कि हैदराबाद से क्या लाया? खाली हाथ आया, यह बताने की अपेक्षा इस प्रकार कुछ पैसे इकट्ठे करके ले जाना ही ज्यादा अच्छा रहेगा, सो धन इकट्ठा कर रहा हूँ।" उस समय जिसके पास जितने भी रुपए-पैसे थे, वे सभी लोगों ने महामना की झोली में डाल कर चरण-स्पर्श किए। बात छिपने वाली कहाँ थी! यह बात निजाम के कानों तक भी पहुँची। उसे लज्जा आई। उसने भी महामना को उनकी इच्छानुसार धन देकर विदा किया।

इस प्रकार धन-संग्रह के साथ कन्याकुमारी से हिमालय तक तथा सुदूर बर्मा से पेशावर तक उनकी यश-चंद्रिका का निर्मल प्रकाश फैल गया था।

प्रारंभ में इलाहाबाद हाईकोर्ट की प्रैक्टिस करते हुए जिस समय उन्होंने अपने विचार लिपिबद्ध करके बार एसोसियेशन में योजना के रूप में रखे, तब विद्वान् लोगों ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। परंतु, कुछ मनचलों ने उनका मजाक भी उड़ाया। लेकिन, इन सब बातों के बावजूद उनकी सच्ची लगन में कोई अंतर न पड़ा। लोगों ने उनके विचार की प्रशंसा तो की, किंतु किसी ने आर्थिक सहायता में कोई रुचि न ली। उस समय मालवीयजी बड़े चिंतित हुए और भगवान् विश्वनाथ का दर्शन करके उन्होंने दरभंगा की ओर कूच किया।

दरभंगा में उन्होंने अनेक श्रद्धालुओं के आग्रह पर श्रीमद्भागवत की कथा कहना स्वीकार किया। श्रोताओं की अपार भीड़ में दरभंगानरेश संमिलित होते। कई दिनों तक लगातार उनका भगवतभक्तिमय मधुर भाषण हुआ। उनकी ओजस्वी वाणी और सूक्ष्म तत्त्व विज्ञान-विश्लेषण से प्रभावित होकर कथा की समाप्ति पर दरभंगानरेश ने स्वेच्छा से विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए पचीस लाख रुपए देने की घोषणा करते हुए अपना शेष जीवन इस पुनीत कार्य के लिए अर्पण करने की घोषणा की।

महामना के नेत्र हर्षाश्रुओं से सजल हो उठे। उन्होंने दरभंगानरेश की घोषणा का सत्कार किया।

राज्य की व्यवस्था का दायित्व स्टेट कैबिनेट को सौंप कर दरभंगा-महाराज ने मालवीय जी के साथ चलने का व्रत ले लिया और उनके साथ अनेक राज्यों में

जाकर विद्यालय के लिए कई करोड़ रुपए एकत्र किए।

इस प्रकार महामना ने भागवतकथा के माध्यम से जनमानस के हृदयों में अखंड ज्ञानदीप जागृत कर चमत्कार कर दिखाया।

महामना मालवीयजी की लोकप्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई थी। वे ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में पूजे जाने लगे थे। उनकी अलौकिक परंतु सरल प्रतिभा तथा आत्मत्याग और परिश्रम को देख कर एनी बेसेंट ने काशी में व्याख्यान देते हुए कहा था—

"महामना मालवीयजी ने अपना सांसारिक जीवन, सब शक्ति, अपनी विलक्षण वाणी, क्या कहा जाए—अपना समस्त जीवन और स्वास्थ्य तक इस महत् कार्य 'हिंदू विश्वविद्यालय' में लगा दिया।

कवि चकबस्त ने लखनऊ के एक भारी उत्सव में एक कौमी मुद्दस सुनाया। सुनते ही लोग फड़क उठे—

"फकीर कौम के आए हैं,
झोलियाँ भर दो।"

वाह-वाह की गूँज के बीच महामना ने विश्वविद्यालय के लिए दान की भीख माँगने हेतु जैसे ही झोली पसारी, उनकी झोली को लोगों ने श्रद्धा व निष्ठा से भर दिया। जनमानस की इस अटूट श्रद्धा को देख कर उनकी आँखें सजल हो उठीं।

इस गरीब की झोली में सारे भारत ने एक करोड़ चौंतीस लाख रुपए की भीख डाल कर उसे भिखारी सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया।

पूज्य गांधीजी ने बरबस कहा—

"भीख माँगना मैंने अपने बड़े, भाई मालवीय से सीखा है।" काशी के गरीब परिवार में उत्पन्न यह वकील होकर भी गरीब रहा और अपने तथा परिवार के लिए एक कौड़ी भी न जोड़ पाया, बल्कि जो कुछ बाहर से मिला, वह, तथा जो कुछ जुड़ा भी था, वह भी काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना में लगा कर एक ऐसा आश्चर्य उत्पन्न कर दिया, जिसकी ऊँचाई की कल्पना भी एक आश्चर्य की बात हो गई।

"४ फरवरी, १९१६ ई० को १२ बजे वसंतपंचमी के शुभ दिन काशी हिंदू विश्वविद्यालय की नवीन भूमि पर गंगातट पर विराट् समारोह संपन्न हुआ, जिसमें सम्राट् के प्रतिनिधि होकर वायसराय लार्ड हार्डिंग, बंगाल के गवर्नर तथा बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश (संयुक्त प्रांत) और पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर पधारे। कश्मीर

जम्मू, जोधपुर, बीकानेर, अलवर, झालावाड़, डूंगरपुर, ईदरकोटा, किशनगढ़, काशी और सुहावल इत्यादि के महाराजागण तथा बलरामपुर, डुमरांव, बस्ती इत्यादि के राजाओं ने भी पधार कर उस महोत्सव की शोभा बढ़ाई थी। भारत के प्रसिद्ध नेताओं में सर गुरुदास बनर्जी, डॉ० रासबिहारी घोष, सर प्रभाशंकर पट्टानी, बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दीवान बहादुर गोविंद राघव अय्यर, सरदार दलजीत सिंह इत्यादि प्रभावशाली महानुभाव तथा कितने ही अन्य भारतरत्न, महामहोपाध्याय, धर्माचार्य, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, देशसेवक, स्कूलों एवं कॉलेजों के चुने हुए छात्रगण भी इस महोत्सव में संमिलित हुए थे। रंग-बिरंगे वस्त्राभूषणों से सज-धज कर वे सब लोग वहाँ एक ही उद्देश्य लेकर एकत्र हुए थे। संभवतः सन् १९११ ई० के दरबार को छोड़ कर ब्रिटिश भारत में ऐसा अभूतपूर्व दृश्य कभी न दिखलायी दिया होगा।

श्री लैंबर्ट कलक्टर तथा रायसाहब छोटेलाल इंजीनियर ने मालवीयजी की इच्छा के अनुसार ऐसा भव्य मंडप बनाया था कि जिन आँखों ने देखा, उन्होंने वाणी को गूंगा बना दिया। पतितपावनी गंगा जी के बाएँ छोर पर श्रीमान् काशीनरेश के रामनगर के ठीक सामने गोल मंडप बनाया गया था, जिस पर धनुपाकार चबूतरे लगे थे। चारों ओर विविधवर्णी मालाओं, फूल-पत्तियों, झंडियों, तोरण-द्वारों एवं परदों आदि से सजा वह नंदनकानन बना हुआ था। वायसराय के आसन के नीचे बहुमूल्य कालीन और गद्दे बिछे हुए थे। उनके ऊपर सोने-चाँदी की कुर्सियां लगी हुई थीं। स्थान की सुरम्यता से मंडप की शोभा और भी बढ़ गई थी। मंडप के भीतर दक्षिणी भाग के बीच में, श्रीमान् वायसराय का सिंहासन उत्तर मुँह बैठने के लिए बनाया गया था। सिंहासन के दाहिनी ओर तीन खंड थे, जिनमें २०० अतिथियों के बैठने का स्थान था।

बाईं ओर के चार खंडों में ४०० अतिथियों के बैठने का स्थान निश्चित था। वायसराय के आसन के ठीक सामने मंडप के बीचोबीच ऊँची वेदी पर नींव का पत्थर दृढ़ शृंखला में बँधा लटक रहा था। उसके आगे, उत्तर की ओर, तीन-खंडों में ७४४ कुर्सियां लगी थीं, जिन पर पांच और खंड थे। इनमें ४१७६ सज्जनों के लिए स्थान था। इनमें से प्रथम ग्यारह खंडों तक तो कुर्सियों का प्रबंध था, शेष पाँच खंडों में चापाकार काष्ठासन बनाए गए थे। मंडप के बाहर चारों ओर स्थान-स्थान पर विशाल तंबू खड़े थे, जिनमें भिन्न-भिन्न खडों में बैठने वाले महानुभावों की सुख-सुविधा की सब प्रकार की आवश्यक सामग्रियाँ रखी हुई थीं। पानी पिलाने का भी उत्तम प्रबंध था तथा फर्स्ट एड का भी प्रबंध था। महोत्सव-मंडप के पूर्व में

गंगा जी की ओर, महारुद्रयज्ञ के लिए विशाल यज्ञशाला बनायी गई थी। उसके पास ही एक सुंदर मंडप था, जिसमें गुरुग्रंथ साहब के पाठ का विधान था। दूसरे मंडप में जैन धर्म के अनुसार पूजा की व्यवस्था की गई थी। पूजा के सभी स्थान महोत्सव-मंडप के समान ही कलात्मक ढंग से सजाए गए थे। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए सुंदर मार्ग बनाए गए थे। घोड़ेगाड़ियों एवं मोटरों के लिए अलग-अलग स्थान नियत थे।

महोत्सव में जाने के लिए पाँच प्रकार के प्रवेश-पत्र थे। श्वेत, पीले, नीले, लाल एवं हरे, जिनके लिए बैठने की उन्हीं के अनुसार व्यवस्था थी। अवगुंठन वाली महिलाओं के लिए लाल प्रवेश-पत्र की योजना थी। प्रवेश-पत्र वाले लोगों के लिए लगभग ९।। और १०।। बजे ही मार्ग बंद कर दिए गए थे।

११।। बजे के पश्चात् पाँचवीं हैंम्शायर और ७वीं राजपूत पल्टन के सिपाही क्रमशः आकर मध्य वेदी के दाहिने-बाएँ खड़े हो गए। उनके यथास्थान खड़े हो जाने पर हिंदू कॉलेज की केडेट-कोर मध्य वेदी के तीन ओर घेर कर खड़ी हो गई। ये तेजस्वी बालक सूर्य की ओर मुँह करके अंत तक खड़े रहे और हिले तक नहीं, जबकि पाँचवीं हैंम्शायर पल्टन के ८ जवान तथा सातवीं राजपूत पल्टन के ४ सैनिक मूर्च्छित हो गए। ठीक १२ बजे वायसराय के पधारने के साथ ही राष्ट्रीय गान हुआ। उन्होंने अपना स्थान ग्रहण किया। राष्ट्रीय गान के समाप्त होने पर सेंट्रल हिंदू कन्या पाठशाला की १२ बालिकाओं ने, जो वायसराय के सिंहासन से लेकर दर्शकों के स्थान तक खड़ी हुई थीं, पहले गणपति फिर सरस्वती देवी की संस्कृत-श्लोकों में स्तुति की। भारत के सुप्रसिद्ध तेजस्वी विद्वान् महामहोपाध्याय पंडित शिवकुमार शास्त्री ने इस विश्वविद्यालय की सफलता के लिए स्वस्तिवाचन किया। उसके पश्चात् हिंदू विश्वविद्यालय सोसाइटी के प्रधान महाराज दरभंगा ने अपना भाषण पढ़ कर लॉर्ड हार्डिंग से शिलान्यास करने की प्रार्थना की। तत्पश्चात् सर गुरुदास बनर्जी ने वायसराय को शिवालय के आकार के सुंदर रजत-डिब्बे में बंद 'मानपत्र' भेंट किया और इसके बाद वायसराय का भाषण हुआ। उनके भाषण के पश्चात् वायसराय मध्यस्थ मंच की ओर गए। नन्हीं-नन्हीं बालिकाओं की पुष्प-वर्षा के मध्य वायसराय ने विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया, जो महामना मालवीयजी का कीर्तिस्थल बन गया।

शिलान्यास एवं ताम्रलेख

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर एक संगमरमर के सुंदर पत्थर पर अंकित शिलालेख पठनीय है।

इस संगमरमर के पत्थर के नीचे रिक्त स्थान में एक तांबे का डब्बा है, जिसमें भारत-सरकार तथा बहुत-सी देशी रियासतों के तत्कालीन प्रचलित सिक्के, हिंदू विश्वविद्यालय ट्रस्ट की रिपोर्ट, उस दिन प्रकाशित 'लीडर' और 'पायनियर' के विशेषांक की एक-एक प्रति तथा 'ताम्रपत्र' रखा है, जिस पर अंकित है --

काशी विश्वविद्यालय

माघे शुक्ले प्रतिपदा तिथौ, शुक्रवारे, शिलायाः न्यासं
काश्यां द्वयनवमहीसम्मिते विक्रमाब्दे। पांचं
धर्मं परि फलयितु विश्वविद्यालय --
कार्षीत् सम्राट् प्रतिनिधिवरो लार्ड हार्डिंग सुकीर्तिः।

BANARAS HINDU UNIVERSITY
This Foundation-stone was laid
By
H. E. THE RIGHT HONOURABLE
CHARLES BARON HARDINGE OF PENSHURST.
P. C. G. C. B., G. M. S. I., G. C. M. G., G. M. I. E., G. C.
V. O., I. S. O.
Viceroy & Governor-General of India, February 4, 1916.

काशी हिंदू विश्वविद्यालय

यह शिलान्यास श्रीमान् हिज एक्सेलेंसी माननीय चार्ल्स बेरन हार्डिग, पी० सी०, जी० सी० बी०, जी० एम० एस आई०, जी० सी० एम० जी०, जी० एम० आई० ई०, जी० सी० वी० ओ०, आई० एस० ओ०, भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल तथा वायसराय द्वारा ४ फरवरी, १९१६ ई० को किया गया।

इसी संगमरमर के पत्थर की नींव के नीचे एक ताम्रपत्र पर विश्वविद्यालय-स्थापना के उद्देश्यहेतु निर्मित श्लोक अंकित कर एक ताम्र-पेटिका में सुरक्षित रखे गए हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने के मूल उद्देश्य पर तथा सम्राटों द्वारा प्राप्त सहयोग पर इनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय

॥ ताम्रपत्र लेखः ॥

धर्मं सनातनं वीक्ष्य काल वेगेन पीडितम्।
भूतले दुर्व्यवस्थं च व्याकुलं मानवं कुलम् ॥१॥

कलेः पञ्च सहस्राब्दे गते भारत भूमिषु ।
आरोप यितु मुद्धार वीज मस्य पुनर्नवम् ॥२॥
काशी क्षेत्रे पवित्रेऽत्र गंगा तीरे महोदया ।
शुभेच्छा पुण्य संपन्ना संजाता जगदात्मनः ॥३॥
संगमय्याथ पाश्चात्याः प्राच्याश्चापि प्रजा निजाः ।
तच्छ्रेष्ठानां विधायेक मत्यं सुमति लक्षणम् ॥४॥
विश्वनाथ पुरे विश्वजनीनो विश्व भावनः ।
विश्वात्मा ऽऽकारय द्विवश्व विद्यापीठ व्यवस्थितिम् ॥५॥
निमित्तमात्र मत्राभूत समीहायाः परे शितुः ।
मालवीयो देशभक्तो विप्रो मदनमोहनः ॥६॥
निधान वाङ्मयं तेजस्तस्मिन्नुद्ववोध्यं भारतम् ।
प्रह्वी कृत्यापि तच्छास्तन स्मिन्नर्थे व्यधात्प्रभुः ॥७॥
अन्ये चापि निमित्तानि प्राभवन्नन्तरात्मनः ।
वीकानेरनृपो वीरो गंगासिंहो महामनाः ॥८॥
श्री रामेश्वर सिंहश्च दरभंगा महीपतिः ।
प्रधानः कार्यकारिण्याः सभायामानवर्धनः ॥९॥
सुधीः सुन्दरलालश्च मंत्री कोषाभिरक्षकः ।
गुरुदासादित्यरामो वासंती वाग्मिनी तथा ॥१०॥
तथा रासविहारी च वृद्धा ये देशवत्सलाः ।
दासाश्चान्ते भगवतो यथा शक्यं सिषेविरे ॥११॥
विक्टोरिया महाराजाः पौत्रः एडवर्ड देहजे ।
सम्राजि पंचमे ज्यार्जे भारत परिशासित ॥१२॥
मेवारकाशि काश्मीर मयसूराल्वराधिपान् ।
कोटाजयपुरेन्दौर जोधपुरादि भूमियान ॥१३॥
तथा कपूर्थला नाभाग्वालेरादिनरेश्वरान् ।
ईरायित्वा सहायार्थं सज्जनान परांस्तथा ॥१४॥
गर्भस्य सर्वधर्माणां रक्षार्थे प्रचयाय च ।
प्रसाराय स्वलीलानां स एवैकः परः प्रभुः ॥१५॥
लार्ड हार्डिग सुविख्यातं सम्राट् प्रतिनिधिं वरम् ।
धीरं वीरं प्रजावन्धुं जनानां हृदयंगमम् ॥१६॥

विश्वविद्यालयस्यास्य शिलान्यासे ऽभयो जयत् ।
संप्राप्ते नेत्र भू भूद्ग्रह धरणि मिते वैक्रमेऽब्दे च मासे ।।१७।।
माघे पञ्च शुक्ले प्रतिपादि च तिथौ वह्नि शुक्रे क्षणेऽस्मिंते ।
श्री काश्यां श्रील सम्राट प्रतिनिधि करतो यश्छिला-न्यास आसीद् ।
यावच्चन्द्रार्कतारं विलसतु स महाविश्वविद्यालयोऽयम् ।।१८।।
सरस्वती श्राति महती महियताम् ।
ततः स्नुता ज्ञानसुधा निपीयताम् ।।१९।।
सदा मतिः शुभ चरिते विधीयताम् ।
रतिः परा परम गुरौ प्रचीयताम् ।।२०।।

।। ओइम् ।।

अर्थात् "सनातन धर्म को काल के वेग से पीड़ित तथा संपूर्ण भूमंडल के प्राणियों को दुरावस्था में और व्याकुल देख कर कलियुग के पांच हजार वर्ष बीतने पर भारतभूमि के काशी क्षेत्र में जाह्नवी के पवित्र तट पर इस सनातन धर्म क बीज का पुनः नवीन रूप से आरोपण करने के लिए जगदीश्वर की शुभ पुण्य इच्छा उत्पन्न हुई। अपनी प्राच्य और पाश्चात्य पूजा को एक सूत्र मे बद्ध करके और विशिष्ट विद्वानों का ऐक्य मत स्थापित कर विश्वभावन, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा ने विश्वनाथ की नगरी में विश्वविद्यालय के संस्थापन की व्यवस्था की। देशभक्त विप्र मदनमोहन मालवीय परमेश्वर की इस इच्छा को पूर्ण करने के निमित्त-मात्र बने। उन्होंने भारत को जगा कर और उसमें वाङ्मय तेज का विधान कर भारत के शासकों को नम्र बना कर इस कार्य को सफल करने में उन्हें प्रवृत्त किया।

"भगवान् की इस इच्छा की पूर्ति में और भी कई महापुरुष निमित्त बने। बीकानेरनरेश वीर महाराज श्रीगंगासिंह बहादुर, कार्यकारिणी सभा के संमानवर्द्धक सभापति दरभंगानरेश श्री रामेश्वरसिंह जी, मंत्री एवं कोषाध्यक्ष डॉ० सुंदरलाल जी, सर गुरुदास बनर्जी, श्री आदित्यराम भट्टाचार्य जी, विदुषी एनी बेसेंट, डॉ० रासबिहारी घोष तथा अन्य विद्यावयोवृद्ध, देशप्रेमी, भगवत्दासों ने यथाशक्ति इसकी सेवा की। महारानी विक्टोरिया के पौत्र महाराज एडवर्ड के पुत्र सम्राट पंचम जार्ज के शासनकाल में मेवाड़, कश्मीर, मैसूर, अलवर, कोटा, जयपुर, इंदौर, जोधपुर, कपूरथला, नाभा, ग्वालियर आदि राज्यों के नृपतियों को तथा अन्य धनी-मानी सज्जनों को इसकी सहायता के लिए प्रेरित करके सब धर्मों के जन्मदाता सनातन धर्म की रक्षा एवं उन्नति के लिए अपनी लीला के विस्तार के निमित्त उन्हीं

परात्पर प्रभु ने सम्राट के प्रतिनिधि (वायसराय) धीर-वीर प्रजाबंधु श्री लार्ड हार्डिंग के द्वारा इस विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराया।

"श्री विक्रम संवत् १९७२ में माघ शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार के दिन शुभ मुहूर्त में श्री काशी नगरी में सम्राट् के प्रतिनिधि (वायसराय) के द्वारा जिस विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया गया, वह सूर्य-चंद्र-स्थिति तक सुशोभित रहे।

अपने स्वागत-भाषण में महामना ने कहा—

"भारतीय हिंदू जनता की वर्त्तमान दशा समस्त विद्वान् हिंदुओं द्वारा विचारणीय है। प्राचीन समय में हिंदू समाज एक उच्च तथा सुंदर नींव पर खड़ा था। अब हिंदू समाज एक निराधार जनसमूह-मात्र रह गया है। यह अवस्था किसी भी कारण से हुई हो, किंतु यह बात सर्वसंमत है कि हिंदू समाज के ह्रास का प्रमुख कारण यह है कि समाज के अधिकांश अंग ने समाज को धारण करने वाली शक्ति-धर्म के पालन करने में शिथिलता दिखलायी है।

"सहस्रों वर्षों से हिंदू लोग इस बात के लिए प्रसिद्ध रहे हैं कि उन्होंने जीवन के अन्य अगों की उपेक्षा कर धर्म को अधिक महत्त्व दिया है। समय के परिवर्तन से आज समाज का वह स्वरूप नष्ट हो गया है। धर्म आज मुख्यतः समाज के थोड़े से इधर-उधर के लोगों तक ही परिमित है।

"वर्त्तमान शोचनीय दशा की एकमात्र अमोघ औषधि यही है कि जन-समाज में शिक्षा का प्रचार किया जाए तथा धर्म को उचित आसन पर प्रतिष्ठित किया जाए। हिंदू-समाज में अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने उच्च शिक्षा तो प्राप्त कर ली है, किंतु वे अपने देश के प्राचीन तथा पवित्र साहित्य में पूर्णतया पारंगत नहीं हैं।

"वर्त्तमान यूरोप की सभ्यता, उनका कला-कौशल तथा उनकी वैज्ञानिक उन्नति उसी आंदोलन के फलस्वरूप है, जो पुनरुत्थान के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका उद्देश्य मुख्यतः यूनान और रोम की सभ्यता का पुनरुत्थान करना था और जिसका सूत्रपात रोमन सभ्यता के घर इटली में हुआ। हिंदुओं की किसी वास्तविक उन्नति से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि हिंदी साहित्य का पुनरुथान हो। हिंदी भाषा और साहित्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपनी संस्कृत भाषा के साहित्य से उचित परामर्श तथा सामग्री लेता रहे। भारतीय जननी भाषाओं के द्वारा ही भारत की अधिकांश जनता शिक्षित हो सकती है और उनका पोषण भी संस्कृतरूपी जननी द्वारा होना चाहिए।

प्रगति रुकी

"एक समय था, जब भारतवर्ष समस्त जगत् को केवल अपनी धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाओं द्वारा ही नहीं, अपितु विज्ञान, कलाकौशल, उद्योग-धंधों आदि समस्त विद्याओं द्वारा उपकृत करता था। दुःख है कि समय के परिवर्तन से भारत ने कलाकौशल तथा विज्ञान में पिछली नौ या दस शताब्दियों से कुछ भी नहीं किया। इतना ही नहीं, बल्कि इसकी सब उन्नतियों का वर्त्तमान समय में ह्रास होता जा रहा है।

"भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में तब तक सर्वथा असमर्थ है, जब तक वर्त्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों का अध्याय नियमित तथा अनिवार्य नहीं बनता। समाज को भयंकर दरिद्रता से मुक्त कराने के लिए विज्ञान आवश्यक है, किंतु उसकी उन्नति उस समय तक देश में सुचारू रूप से नहीं हो सकती, जब तक उसके अध्ययन का क्रम देश ही में और देशी भाषाओं द्वारा न हो जाएगा।

उन्नति का मार्ग

"किंतु, भारत केवल औद्योगिक विकास के बल पर ही संसार में वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता, जो उसे प्राचीन समय में संसार के सभ्य देशों में प्राप्त हुआ था और भारत में औद्योगिक उन्नति भी तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि समाज में पारस्परिक विश्वास तथा परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न नहीं होती और ये दिव्य गुण उसी समय आ सकते हैं, जब समाज के अधिकांश व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य में विश्वास रखने लगें। ऐसे मनुष्य प्रचुर मात्रा में समाज को उसी समय हृष्ट-पुष्ट दशा में रख सकेंगे, जबकि समाज एक धार्मिक तथा जीवित संस्था के प्रभाव में रहेगा।

"उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए ऐसे विश्वविद्यालय की आवश्यकता है, जो (अ) हिंदू समाज तथा संसार के हित के लिए भारत की प्राचीन सभ्यता की अच्छाई, महत्ता की रक्षा और उसके प्रचार के लिए संस्कृत भाषा का विकास करे। वह संस्कृत भाषा वर्त्तमान वैज्ञानिक अनुसंधानों को भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त करके देश के कल्याण-साधन में सहायक हो और (ब) जो देश के नवयुवकों को देश के आर्थिक कल्याण के लिए वैज्ञानिक तथा शिल्प-संबंधी शिक्षा दे।

"वेदाध्ययन के लिए शिक्षा-संस्थाओं का पूर्ण अभाव होने के कारण वेदों का नाम हमारे देश से उठता जा रहा है। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् श्रोत गृह्य

सूत्र, धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत् गीता तथा अन्य पुराणों के अध्ययन का क्रम इस विश्वविद्यालय में रखा जाएगा और हिंदू समाज का विकास एवं संगठन का अध्ययन विशेष रूप से करने का आयोजन होगा। इस प्रकार का अध्ययन हिंदू-संस्थाओं के कार्यक्रम को ठीक-ठीक समझाने में सहायक होगा और उसके परिणामस्वरूप अधिकाधिक संख्या में विज्ञान-उपदेशक निकलेंगे, जो समाज को नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का मार्ग बता सकेंगे।

"अध्ययन का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया जाएगा कि साधारण कोटि के विद्यार्थी आधुनिक प्रणाली द्वारा शिक्षा दिए जाने पर (१) संस्कृत भाषा तथा साहित्य में धर्मजप की योग्यता प्राप्त कर सकें, जिससे उनके धार्मिक तथा नैतिक विचारों में दृढता आ जाए, (२) जहाँ पर विद्यार्थी अर्थकारी कला में दक्ष हो सकें तथा उस कला के सिद्धांतों से भी भली-भाँति परिचित हो जाएँ।

चारित्रिक उन्नति

"परंतु केवल व्यावसायिक उन्नति से ही किसी देश की जनता सुख तथा समृद्धि से सुरक्षित नहीं रह सकती। आचार की उन्नति करना आर्थिक उन्नति से कहीं अधिक महत्त्व रखता है। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने धर्म को अपनाया है। हिंदुओं को इससे विचलित नहीं होना चाहिए। यदि इस परंपरागत हिंदू-धर्म की शिक्षा का सुविधाजनक साधन हिंदू नवयुवकों के लिए न किया गया, तो कुशिक्षित, अशिक्षित अनुपयुक्त मनुष्यों से राष्ट्र भर जाएगा। इसका प्रत्यक्ष फल धर्म की हानि तथा जाति का नाश होगा। इस अभाव को दूर करने के लिए हिंदू जाति की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह सोचा गया है कि इस विश्वविद्यालय में एक ऐसे विद्यालय की स्थापना की जाए, जहाँ विशेष रूप से हिंदू धर्मोपदेशक शिक्षित किए जाएँ। यह सोचा गया है कि वे उदार शिक्षा का अभ्यास करें और साथ ही संसार के अन्य धर्मों का तुलनात्मक ज्ञान भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

एक प्रश्न : हिंदुओं से

"हिंदुओं पर यह लांछन लगाया जाता है कि वे असंगठित हैं। उनमें इतनी एकता और सेवाभाव नहीं है कि वे अपनी जाति के लिए विश्वविद्यालय बना सकें। हम हिंदुओं से ही इसका उत्तर माँगते हैं। वे उन्हीं महापुरुषों की संतान हैं, जिन्होंने इस प्राचीन देश में महान् विश्वविद्यालय स्थापित किए थे और उनका पोषण किया था। क्या चौबीस करोड़ हिंदू मिलकर इस बीसवीं शताब्दी में एक ऐसा विश्वविद्यालय स्थापित और पोषित नहीं करेंगे, जैसा कि उनके पूर्वजों ने किया था ?

प्रत्येक हिंदू को यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि हिंदू विश्वविद्यालय के स्थापित होने से हिंदू जाति की सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति होगी। प्रत्येक हिंदू को यह समझ लेना चाहिए कि इस महान् शिक्षा-संबंधी योजना की सफलता में केवल हमारी उन्नति और सुख ही नहीं, बल्कि हमारे चरित्र और गौरव का भी विकास होगा और हमें पूर्ण विश्वास है कि भारत का प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री अपने समय, सामर्थ्य और साधनों के अनुसार विश्वेश्वर की पवित्र नगरी काशी में पवित्रतोया माता जाह्नवी के तट पर इस प्रस्तावित विद्या-मंदिर के निर्माण में योग देगा।

"भगवान् वेदव्यास के वे वचन हमारे पथ-प्रदर्शक हों और हमें उत्साहित करें—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

भविष्यतीत्येवमनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

अर्थात् "उठो, जागो और सुख के लिए निर्भयता के साथ निरंतर कार्य करो और यह विश्वास रखो कि तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।"

"अंत में मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अभी मरूँगा नहीं। शरीर छूटने पर भी नहीं मरूँगा, हिंदू विश्वविद्यालय में या यहीं कहीं जन्म लेकर हिंदू जाति और इस देश की सेवा करूँगा। यदि भगवान की इच्छा होगी, तो वे मुझे और आयु देंगे। यदि उन्हें इस शरीर से और सेवा करानी होगी, तो वे मेरे स्वास्थ्य में और बल देंगे और यदि उनकी इच्छा नहीं होगी, तो उनकी मर्जी। इस बात को भगवान समझते हैं। जिन लोगों ने इस पुनीत कार्य में आशीर्वाद दिया, उनको मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि इस विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य पूर्ण होगा।

सरस्वती मंदिर के तन-मन

"मैं फिर आप सबको रोम-रोम से धन्यवाद देता हूँ। अपने एक संदेश में पूज्य गांधी जी ने कहा कि —

मालवीय जी हिंदुस्तान के लिए पैदा हुए और हिंदुस्तान के लिए किए गए अपने कामों में जीते हैं। उनके काम बहुत हैं। बहुत बड़े हैं, उनमें सबसे बड़ा हिंदू विश्वविद्यालय है। गलती से हम बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के नाम से पहचानते हैं। ....उनका (महामना का) प्रिय नाम तो हिंदू विश्वविद्यालय ही था और

यह सुधार तो अब भी करने योग्य है। इस विश्वविद्यालय का हरएक पत्थर शुद्ध हिंदू धर्म का प्रतिबिंब होना चाहिए। .... इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियों की संख्या से नहीं, बल्कि उसके हिंदू-धर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वे थोड़े ही क्यों न हों।

पूर्व इतिहास

'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' नाम का प्रचलन कैसे हुआ, इसके लिए हमें थोड़ा विस्तार में जाने की जरूरत होगी।

यदि आप बनारस जाएँगे, तो वहाँ पर विश्वविख्यात विश्वविद्यालय को देखेंगे —जिसकी स्थापना महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी द्वारा की गई है। उसका नाम वहाँ लगे हुए शिलालेख में लिखा हुआ है —

'काशी विश्वविद्यालय' और अंग्रेजी में लिखा है —

BANARAS HINDU UNIVERSITY

इस प्रकार आप देखेंगे कि एक ही शिलालेख में दो नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर फाटक (मुख्य द्वार) पर संगमरमर के पत्थर में खुदा हुआ है, जो कि आज का नहीं है। 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' जहाँ तक नाम का संबंध है, लोगों में यह धारणा प्रचलित थी कि वह 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' है। निस्संदेह प्रारंभ में 'काशी विश्वविद्यालय' प्रचलित था।

मेरे पास संवत् १९८४ की पंचांग है, जो कि ३९ वर्ष पूर्व की है और जो काशी विश्वविद्यालय से प्रकाशित होती है। इस पर छपी 'काशी विश्वविद्यालय' की सील पर संस्कृत में, अर्थात् देवनागरी लिपि में 'काशी विश्वविद्यालय' और अंग्रेजी में 'बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी' लिखा हुआ है। इसके अतिरिक्त मेरे पास १९४१ की ईंट है, जिस पर लिखा है, 'का० वि० वि० अर्थात्' 'काशी विश्वविद्यालय'।

यह ठीक है कि प्रारंभिक काल में कुछ ईंटों पर हिंदी में 'का० वि० वि०' लिखा गया था, अर्थात् 'काशी विश्वविद्यालय'। यह थोड़ा फर्क कैसे पड़ा, इसे जानने के लिए हमें इसका पूर्व इतिहास देखना होगा।

"१९०६ ई० में जब मालवीय जी और दूसरे नेता इलाहाबाद में एकत्रित हुए, जहाँ पहले-पहल हिंदू यूनिवर्सिटी स्थापित करने की परिकल्पना उत्पन्न हुई और एक सोसायटी का निर्माण किया गया, वहाँ पर एक ड्राफ्ट स्कीम बनायी

गई; जिसमें उस विश्वविद्यालय का नाम हिंदी में 'हिंदू विश्वविद्यालय काशी' और अंग्रेजी में 'हिंदू यूनिवर्सिटी ऑफ बनारस' दिया गया। १६११ ई० में जब उस सोसायटी के रजिस्ट्रेशन का सवाल पैदा हुआ, तो वह सोसायटी बाकायदा तौर पर 'हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी' के नाम से रजिस्टर्ड करायी गई।

१२ अक्तूबर, १६११ ई० को उस समय के शिक्षा विभाग के सदस्य, सर हारकोर्ट बटलर, ने एक पत्र द्वारा सरकारी मंतव्य को इस प्रकार प्रकट किया कि सरकार एक हिंदू यूनिवर्सिटी की स्थापना के सुझाव का समर्थन करती है। ४ दिसंबर, १६११ ई० को 'हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी' की पहली औपचारिक मीटिंग हुई और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि १६२१ ई० में उस सोसायटी का कार्यालय बनारस में नहीं, बल्कि इलाहाबाद में खोला गया, जहाँ पर पंडित मोतीलाल नेहरू और मालवीयजी आदि हिंदुस्तान के सब नेता थे। इसके बाद २२ मार्च, १६१५ ई० को सर हारकोर्ट बटलर ने उस समय की इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में हिंदू यूनिवर्सिटी बिल उपस्थित किया।

उस वक्त वायसराय ही एसेंबली का स्पीकर हुआ करता था। उस वक्त के स्पीकर, लार्ड हार्डिंग ने उस बिल के पारित होने के समय अपने कान्क्लूडिंग रिमार्क्स में कहा कि "यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आज यहाँ पर हिंदू यूनिवर्सिटी बिल पास हुआ है और हमें आशा है कि इसमें एजूकेशन की सुंदर व्यवस्था होगी।"

"शुरू से ही विचार यह था कि इस विश्वविद्यालय का नाम हिंदू यूनिवर्सिटी रहे। जहाँ तक 'हिंदू' शब्द का संबंध है, दादाभाई नौरोजी आदि लोगों ने भी यह कहा है कि 'हिंदू' शब्द कोई सांप्रदायिक शब्द नहीं है, बल्कि वह जातीयता का बोधक है। विश्वविद्यालय के ताम्रपत्र-लेख में जहाँ धर्म का उल्लेख किया गया है, वहाँ हिंदू धर्म का नहीं, बल्कि सनातन धर्म का प्रयोग किया गया है। हिंदुओं का धर्म सनातन धर्म था और 'हिंदू' शब्द का व्यापक अर्थ यह था कि 'हिंदुस्तान में जितने रहने वाले लोग हैं, वे सब हिंदू हैं।' इसलिए उस ताम्रपत्र में 'धर्म सनातन' शब्दों का प्रयोग किया गया है अर्थात् सनातन धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्म तो सनातन धर्म था, लेकिन जो हिंदू विश्वविद्यालय था, सारे हिंदुस्तान का विश्वविद्यालय था और इसमें जितना रुपया आया, सिखों का आया, हिंदुओं का आया, मुसलमानों का आया, ईसाइयों का आया, पारसियों का आया। वह सब इसमें लगा था। इसलिए 'हिंदू' शब्द को हम सांप्रदायिक शब्द नहीं मानते, हिंदू शब्द 'धर्मवाचक' शब्द नहीं है। हिंदू शब्द 'जातिवाचक' शब्द है। और

इस वास्ते जातिवाचक है कि यह एक 'वे ऑफ लाइफ' है, जैसा कि डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा है कि "हिंदू तो एक 'वे ऑफ लाइफ' है। यह हमारे जीवन का एक अंग है, हमारे धर्म का अंग नहीं है। हम सनातनधर्मी हो सकते हैं, हम वैष्णव हो सकते हैं, शैव हो सकते हैं, शाक्त हो सकते हैं, बौद्ध हो सकते हैं, जैनी हो सकते हैं, लेकिन सबका मिश्रण, सबका समुच्चय, सबका समन्वय जो है, वह हमारा एक जातीयता के रूप में होता है। तो धर्म हमारा अलग हो सकता है लेकिन हिंदू का अर्थ है, हिन्दुस्तान में रहने वाले जितने लोग हैं, हिंदू शब्द उन सबका वाचक है।"

"विश्वविद्यालय में शिलान्यास वाले पत्थर के नीचे एक ताम्रपत्र है। उसमें दिखलाया गया है कि धर्म हमारा सनातन धर्म है, हिंदू धर्म कोई चीज नहीं है।

इसलिए आप देखेंगे कि हिंदू यूनिवर्सिटी को जिन लोगों ने स्थापित किया था, उन्होंने धर्म में भेद किया था। धर्म तो हमारा सनातन धर्म है। लेकिन हिंदू शब्द व्यापक शब्द है, हिंदू शब्द जातिवाचक शब्द है।

"आपको इस तथ्य का ज्ञान होगा कि सबसे पहले १९०४ ई० में काशीराज श्री प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में एक बैठक हुई। उसमें यह निश्चय किया गया था कि एक समिति बनायी जाए, ताकि हिंदू यूनिवर्सिटी की स्थापना की जाए। जुलाई, १९०५ ई० में उस समिति की एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई और अक्टूबर १९०५ ई० में वह रिपोर्ट हिंदुस्तान के जितने नेता थे, चाहे हिंदू नेता हों, मुसलमान नेता हों, सबके पास भेजी गई कि यहाँ पर हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना है, आप लोगों की इस पर क्या प्रतिक्रिया है और उस समिति ने ३१ दिसंबर, १९०५ ई० को अपनी रिपोर्ट दी। उसके पश्चात् सन् १९०६ ई० में एक सनातन धर्म महासंमेलन इलाहाबाद में हुआ। उसके सभापति जगतगुरु शंकराचार्य थे। उन्होंने कहा कि हिंदू विश्वविद्यालय नहीं, भारतीय विश्वविद्यालय होना चाहिए; क्योंकि हिंदू विश्वविद्यालय का 'हिंदू' शब्द भारतीय के अर्थ में समझा जाता है, इसलिए इसका नाम भारतीय विश्वविद्यालय होना चाहिए।

"१२ मार्च, १९०६ ई० को इस सभा की कार्यवाही तथा हिंदू यूनिवर्सिटी की ड्राफ्ट स्कीम प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया—

"सोसायटी ऑफ हिंदू यूनिवर्सिटी ऑफ बनारस, यह सोसायटी का नाम था जो कि उसकी आधारशिला है। उसके पश्चात् सन् १९०७ ई० में एनी बेसेंट ने एक मेमोरेण्डम बनाया, जिसमें उन्होने कहा कि इसको यूनिवर्सिटी ऑफ इंडिया

कहा जाए। शंकराचार्य जी ने कहा कि भारतीय विश्वविद्यालय बने। मालवीयजी की राय थी कि हिंदू यूनिवर्सिटी बने। एनी वेसेंट ने, जिन्होंने बनारस में हिंदू स्कूल की स्थापना की थी, १९०७ में एक कमिटी बनायी। उसमें उन्होंने कहा कि यूनिवर्सिटी ऑफ इंडिया नाम होना चाहिए। अर्थात् 'हिंदू' शब्द को 'इंडिया' के साथ मिलाया जाए; क्योंकि हिंदू शब्द एक जातिवाचक शब्द है। इस तरह से जब तीन समितियाँ बन गईं, तो तीनों समितियों के लोग सर रामेश्वर सिंह, जो दरभंगा के राजा थे, उनकी अध्यक्षता में एक मीटिंग में एकत्रित हुए और इन तीनों समितियों ने तय किया कि हमको एक नाम निश्चित करना चाहिए। हिंदू यूनिवर्सिटी या भारतीय विश्वविद्यालय या दि यूनिवर्सिटी ऑफ इंडिया, अथवा इनके बजाय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के नाम से स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार अप्रैल, १९११ ई० में एनी वेसेंट और मालवीय जी इलाहाबाद में मिले और उन्होंने यह तय किया कि हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी स्थापित की जाए और इसका शिष्टमंडल सारे हिंदुस्तान में घूमे। अतः, इसका शिष्टमंडल सारे हिंदुस्तान में घूमा। इसी प्रकार से १२ अक्तूबर, १९११ ई० को इन तीनों समितियों की जो कमेटी बनी थी, उसने एक पत्र द्वारा अपनी रिपोर्ट सर बटलर को, जो उस समय एजूकेशन के मेम्बर थे, दी और उसके आधार पर सर बटलर साहब ने यही कहा कि सरकार इसका स्वागत करेगी कि हिंदू यूनिवर्सिटी की स्थापना हो।

इसके बाद २२ अक्तूबर, १९११ ई० को दरभंगानरेश, एनी वेसेंट और मालवीयजी फिर मिले और उनमें यह तय हुआ कि विश्वविद्यालय का नाम 'हिंदू यूनिवर्सिटी होगा। इस प्रकार से आप देखेंगे कि तीनों समितियाँ मिल गईं, चाहे उसके आइडियाज जो भी हों, लेकिन यह तय हो गया कि हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी और हिंदू यूनिवर्सिटी के नाम से बिल वहाँ पर पेश किया जाएगा। इलाहाबाद की मीटिंग में यह तय हुआ कि सब विवाद को हटाकर हिंदू विश्वविद्यालय नाम रखा जाए और फिर हिंदू विश्वविद्यालय के संबंध में एक शिष्टमंडल दिल्ली आया और ४ दिसंबर, १९११ ई० को दिल्ली के टाउन हॉल में एक मीटिंग हुई। उसमें यह तय किया गया कि हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए। १ जनवरी, १९१२ ई० को सोसायटी का कार्यालय नियमित रूप से प्रयाग में खोल दिया गया।

सन् १९१२ ई० में हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी, प्रयाग में, दिल्ली के टाउन हॉल की मीटिंग के अनुसार, खोल दी गई। उसके पश्चात् दरभंगा के राजा ने १८ अप्रैल,

१६१३ ई० को एक पत्र शिक्षा-सदस्य श्री वटलर साहब के पास भेजा और वटलर साहब ने २ जून, १६१३ ई० को उस पत्र का उत्तर भेजा, उसमें यह तय किया गया—

हिंदू विश्वविद्यालय के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित किया जाए। गवर्नमेंट इस बात को ऐग्री किया कि हिंदू विश्वविद्यालय अथवा हिंदू यूनिवर्सिटी के लिए कोई स्थान निश्चित किया जाए। इस प्रकार से ७ दिसंबर, १६१३ ई० को हिंदू यूनिवर्सिटी सोसायटी की एक बैठक प्रयाग में सर रायबहादुर जी० एन० चक्रवर्ती की अध्यक्षता में हुई। उसमें नौ सदस्य उपस्थित थे। उस बैठक में यह तय हुआ कि हिंदू यूनिवर्सिटी की स्थापना की जाए।

इस प्रकार से यह बात चलती रही और १२ मार्च, १६२२ ई० को सर हारकोर्ट वटलर ने इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में हिंदू यूनिवर्सिटी विधेयक विचारार्थ प्रस्तुत किया। यह जो हिंदू यूनिवर्सिटी विधेयक इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में पेश किया गया, वह एक प्राइवेट मेंबर बिल था। वह सरकारी बिल नहीं था। लेकिन, प्राइवेट मेंबर बिल होते हुए भी सर हारकोर्ट बटलर ने उसको एक आवश्यक बिल की सतह पर प्रस्तुत किया था। जब वह प्रस्तुत हुआ, तो उसमें गवर्नमेंट ने निश्चय किया कि हिंदू विश्वविद्यालय या हिंदू यूनिवर्सिटी उसका नाम होगा। इस प्रकार से केंद्रीय शिक्षासदस्य (सर हारकोर्ट वटलर) ने बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी बिल इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में उपस्थित किया। २२ मार्च, १६१५ ई० को जो बिल उपस्थित किया गया, उसको प्राइवेट मेंबर्स बिल होते हुए भी ज्वायंट सेलेक्ट कमिटीके सामने भेजा गया। ज्वायंट कमिटी की रिपोर्ट आई। उस ज्वयंट सेलेक्ट कमिटी में सारे हिंदुस्तान के सभी बड़े नेता लोग थे। उसमें हिंदू भी थे, मुसलमान भी थे, ईसाई भी थे और सब लोगों ने मिलकर यह तय किया कि यह हिंदू यूनिवर्सिटी स्थापित की जानी चाहिए।

इस ज्वायंट कमिटी के मुस्लिम सदस्य श्री गजनवी ने हिंदू शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा कि हिंदू शब्द अगर आप रखेंगे, तो वह सांप्रदायिकता का द्योतक होगा। उन्होंने कहा था कि :

"न तो हिंदू यूनिवर्सिटी और न मुस्लिम यूनिवर्सिटी से जनता को किसी प्रकार का वास्तविक लाभ हो सकेगा।"

श्री गजनवी ने कहा कि "मुस्लिम यूनिवर्सिटी या हिंदू यूनिवर्सिटी सांप्रदायिक नाम देने के बदले उसका नाम सेकुलर होना चाहिए।" यह बात नहीं कि आज ही हम लोग इस बात को सोच रहे हैं। उस वक्त भी लोगों ने इस बात को सोचा था।

लेकिन माननीय श्री दास ने, जो उस वक्त मेंबर थे, कहा कि गजनवी साहब ने जो संदेह व्यक्त किया है, वह उचित नहीं है। हिंदू यूनिवर्सिटी नेशनल यूनिवर्सिटी होगी, उसका द्वार सबके लिए उन्मक्त होगा। फजलभाई करीमभाई ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था कि :

"यह विधेयक हिंदू मित्रों के लोकोपकारक परिश्रम की सफलता है। मुझे प्रसन्नता है कि हिंदू विश्वविद्यालय के विचार को मूर्तरूप प्राप्त हुआ है। हिंदू विश्वविद्यालय देश में अपने ढंग का एक अभिनव प्रयोग होगा।"

उस समय सर फजलभाई ने बड़े अच्छे शब्दों में कहा था कि 'हिंदू' शब्द कोई सांप्रदायिक शब्द नहीं है।

अंत में जब विधेयक पेश किया गया, तब श्री बटलर ने ज्वायंट सेलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट को लेजिस्लेटिव कौंसिल में पेश किया और कहा :

"अनेक लोगों ने विचार प्रकट किया कि हिंदू शब्द की परिभाषा विधेयक में रखना आवश्यक है। किंतु, अभी तक हिंदू शब्द की कोई सर्वसंमत परिभाषा उपलब्ध नहीं है। प्रवर समिति ने इसकी आवश्यकता भी नहीं समझी कि उसकी परिभाषा करने का प्रयास किया जाए। हिंदू शब्द की परिभाषा करने का भार यूनिवर्सिटी के योग्य अधिकारियों पर छोड़ देते हैं।"

'हिंदू' शब्द के ऊपर श्री विजयराघवाचार्य और श्री अली इमाम, इन दो सदस्यों ने कहा कि "यह विधेयक हिंदुस्तान के लिए लाभप्रद होगा। यह बिल्कुल नेशनल यूनिवर्सिटी होगी और इसकी स्थापना होनी चाहिए।"

अंत में लार्ड हार्डिंग साहब ने कहा था कि :

"मुझे प्रसन्नता है कि हिंदू विश्वविद्यालय विधेयक, जिस पर गत चार वर्षों से बहस हो रही थी, आज वह देश का कानून बन गया है।"

इस प्रकार से आप देखें कि लार्ड हार्डिंग से लेकर सन् १९०४ ई० तक किसी के मन में यह भाव नहीं था कि हिंदू शब्द सांप्रदायिक शब्द है, बल्कि हिंदू शब्द जाति का बोध कराता था। स्वामी विवेकानंद ने हिंदू शब्द पर जो लिखा है, वह मैं आपको बताता हूँ :

'हिंदू' संप्रदाय का प्रतीक नहीं, परंतु उदार व्यापक शब्द है। हिंदू शब्द के अंतर्गत भारत की समस्त संस्कृति, सभ्यता, मानव-विकास, इतिहास एवं भारतीय विचारों के साथ-साथ भारतीय पंथों और मत-मतांतरों का समावेश हो जाता है। हिंदू शब्द महासागर-तुल्य है, जिसमें समस्त नदियाँ विभिन्न नामों के साथ जल लाती हैं, उसमें मिल कर एकाकार हो जाती हैं।"

अर्थात् हिंदू शब्द सांप्रदायिक शब्द नहीं। सांप्रदायिक शब्द 'सनातन धर्म' हो सकता है, लेकिन हिंदू शब्द नहीं। हिंदू शब्द जातीय है, सांप्रदायिक नहीं, जातिवाचक शब्द है। अतः, इस संस्था के नाम के साथ हिंदू शब्द को हमें रहने देना चाहिए, जो उचित ही है।"

मालवीयजी का शिक्षा-दर्शन

"मालवीयजी अपनी बाल्यावस्था में ही हिंदू समाज और परतंत्र भारत की शोचनीय अवस्था से परिचित हो गए थे। उन्हें इस बात से बड़ी व्यथा थी कि हिंदू विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य और धर्म के प्रति उदासीन रहते हैं, उनका चरित्र दृढ़ नहीं है। उनमें नैतिकता का अभाव है। राष्ट्रीयता और देशभक्ति में उनकी आस्था नहीं है। *पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से वे शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। यही कारण है* कि संस्कृत और हिंदी नहीं, अपितु अँगरेजी भाषा से नवयुवकों का विशेष मोह है। अपने स्वास्थ्य के प्रति भी वे सचेष्ट नहीं हैं। स्त्रियों में शिक्षा (स्त्री-शिक्षा) का अभाव है।

"हिंदू समाज में व्याप्त इन अभावों की पूर्ति हेतु ही उन्होंने काशी में हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनके शिक्षा-दर्शन का स्पष्ट चित्र, उनके द्वारा प्रस्तुत काशी हिंदू विश्वविद्यालय में झलकता है। जिस प्रकार 'कांगड़ी गुरुकुल, हरद्वार' में अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंदजी तथा 'विश्वभारती' श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के शिक्षा-संबंधी विचारों का साकार रूप है, उसी प्रकार काशी हिंदू विश्वविद्यालय मालवीयजी के शैक्षिक विचारों का मूर्तिमान प्रतीक है।

१. शिक्षा का लक्ष्य

"मालवीय जी शिक्षा के द्वारा आदर्श मानव की कल्पना करते थे। उनका विचार था कि देश में सच्चे सपूत पैदा हों, ताकि भारत मां और हिंदू-समाज का कल्याण हो। भारतीय युवक ऐसे बनें कि देश-सेवा में उनका मन लगे। शिक्षा के माध्यम से वे किशोरों के चरित्र और मस्तिष्क का पुनरुद्धार करना चाहते थे। उनका विचार था कि प्राचीन आर्यों के समान भारतीय युवकों का चरित्र उन्नत हो। वे वस्तुतः पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रगति की अवहेलना नहीं करते हुए भी भारत की संस्कृति के अनुरूप प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे। एनी बेसेंट और रवींद्रनाथ ठाकुर के समान ही वे प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली के समर्थक थे। वे भारतीय परंपरा और इसकी संस्कृति के अनुरूप ही शिक्षा-संस्थाओं का संगठन करना चाहते थे।

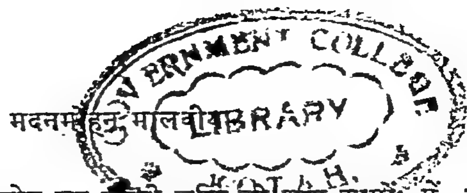
विद्यार्थियों का उत्तरदायित्व

मालवीयजी विद्यार्थियों से बहुत आशा करते थे। उन्हें वे भारत माँ के प्राण, देश के सजग प्रहरी मानते हैं। मालवीयजी के शब्दों में विद्यार्थियों के कर्त्तव्य हैं, "सामान्य दशा में विद्या का अभ्यास करना, चरित्र को पुष्ट करना, देश के हित और अनहित की बातों का ज्ञान सब प्रकार बढ़ाना तथा अपनी बुद्धि, वाणी एवं शरीर को पुष्ट करना।" मालवीयजी विद्यार्थियों के प्रति पुनः लिखते हैं, "उन्हें सदा यह भाव चित्त में रखना चाहिए कि हम अपने को ऐसा योग्य बनावें, जिससे भारत माँ की अच्छी सेवा कर सकें तथा अपनी विद्या, अपने चरित्र और अपनी देश-भक्ति से अपने देश का गौरव बढ़ा सकें।"

विद्यार्थी और राजनीति

उन दिनों देश के कुछ महान् राष्ट्रीय नेता इस पक्ष में थे कि विद्यार्थी राजनीति में सक्रिय भाग लें और यहाँ अपना सक्रिय योगदान दें। लोकमान्य तिलक और श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी की इच्छा थी कि विद्यार्थी 'स्वदेशी आंदोलन' में भाग लें। तिलक महाराज ने मातृभूमि के पवित्र नाम पर ही ऐसा करने को कहा था। महात्मा गांधी ने भी 'असहयोग आंदोलन' में विद्यार्थियों का आह्वान किया था। इस संबंध में सन् १६०६ ई० में मालवीय जी ने 'विद्यार्थी और राजनीति' शीर्षक लेख में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा, "हम इसके विरोधी नहीं हैं, बल्कि सर्वथा अनुकूल हैं कि विद्यार्थी अपने नियत अध्ययन से जो समय बचा सकें, उसे अपने देश के इतिहास, अपने धर्म के इतिहास, अपने पूर्वजों के चरित्र, अपने देश की विगत और वर्त्तमान अवस्था, दूसरे देशों के इतिहास के ग्रंथ, समाचारपत्र, मैगजीनों को पढ़ने और विचारनें में लगावें और अपने विद्याभ्यास को हानि न पहुँचा कर समय पाएँ, तो सभा-समाजों विद्वानों के व्याख्यान भी सुनें। इसे हम नौजवानों की शिक्षा का अंग समझते हैं। इससे उनको बहुत कुछ प्राप्त होगा, जो उनको होना चाहिए और जो उनको आगे चल कर स्वतंत्र और प्रतिष्ठित नागरिक होने में बहुत सहायक होगा।

"हमारी राय में इससे आगे जाकर विद्यार्थियों का राजनीतिक आंदोलन में शामिल होना, राजनीतिक सभा कमेटी कर राजनीतिक बातों में मत प्रकाश करना या और किसी रीति से राजनीतिक बातों में हाथ डालना अथवा सामाजिक या धर्म-संबंधी या व्यापार-संबंधी सुधार या उन्नति के लिए उद्योग करना उनके स्वाध्याय का विरोधी है और उनके तथा देश के हित के लिए अहितकर है। यदि विद्यार्थी



लोग अपना विद्याध्ययन धर्म छोड़ कर अपनी शक्ति को अन्य कामों में लगावें, तो जब वे उन औरों की अवस्था को पहुँचेगे, तब अपने उस अवस्था के धर्म करने में अपने को सर्वथा योग्य न पावेंगे और अपने देश की पूरी सेवा करने का सुख और सौभाग्य न पा सकेंगे।"

स्कूल और कॉलेज का वहिष्कार

"सन् १९२० ई० की बात हैं। असहयोग आंदोलन प्रारंभ हो गया था। प्रयाग की सार्वजनिक सभा में मालवीयजी बोल रहे थे—

"सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का वहिष्कार करना ठीक नहीं है। यह बड़ा गलत रास्ता है कि हम स्कूल से अपने वच्चों को उठा लें। स्कूल में वच्चों को भेजने से सरकार को कोई मदद नहीं मिलती, उससे तो हमलोगों को, जनता को लाभ ही होता है। वच्चे शिक्षा के लिए तड़प रहे हैं। जब देशी या राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित हो जाएँ, तभी उनको वहाँ से हटाना चाहिए। स्कूलों के वहिष्कार से उच्च कर्मचारियों पर भी कोई असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि वे हमारे वच्चों की शिक्षा की कब परवाह करते हैं।"

मालवीयजी के ये आदेश आज, विद्यार्थियों के लिए अमृत-तुल्य हैं। परंतु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि विद्यार्थी वर्ग को मालवीयजी कायर और कमजोर बनाना चाहते थे। वे यह कभी नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी-समाज अनाचार और अत्याचार देखे तथा देख कर सहन कर जाए। एक बार की घटना है कि मालवीय जी जब गोलमेज संमेलन (सन् १९३१ ई०) के सिलसिले में लंदन गए थे, तभी काशी की जनता पर पुलिस ने गोली चलायी थी। मालवीयजी जब लंदन से वापस लौटे, तो विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को संवोधित करते हुए उन्होंने कहा था -- "यह कैसे हुआ कि बनारस की जनता पर गोलियाँ चलती रहीं और विश्वविद्यालय के छात्र मुर्दा चमड़े की धौंकनी के समान साँस लेते हुए होस्टलों में पड़े रहे? मुझे प्रसन्नता होती, यदि कुछ छात्र इस अवसर पर शहीद हो गए होते।"

निर्भीकता का मंगलमय पाठ

"मालवीयजी विद्यार्थियों को निर्भीक, परंतु अनुशासनप्रिय बनाना चाहते थे। यह सर्वविदित है कि वे स्वयं भी बड़े निडर, परंतु अनुशासन के बडे पक्के थे। जब वे प्रयाग में एक शिक्षक का कार्य कर रह थे, उस समय एक लड़के को जो पुस्तक से उत्तर-पुस्तिका में नकल कर रहा था, उन्हें परीक्षा-भवन से निकाल दिया। लड़का बहुत बदमाश था। उसने मालवीयजी को धमकियां भी दीं, परंतु निर्भीक अनुशासन-

प्रिय मालवीय जी ने इसकी कोई चिंता नहीं की। वे निःशंक बने रहे। कुछ दिन पश्चात् लड़का स्वयं मालवीय जी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ और अपनी गलती स्वीकार करते हुए उनके पैरों पर गिर कर उसने क्षमा-याचना की। मालवीय जी के साथ घटित यह घटना आज विद्यार्थी एवं शिक्षक दोनों के लिए स्मरणीय एवं अनुकरणीय है।

"मालवीयजी निर्भीक ही नहीं, अपितु बड़े धार्मिक व्यक्ति भी थे। उनकी धार्मिकता भी हमारे लिए सर्वदा वंदनीय है। उनकी धार्मिकता और निर्भीकता का पता गोलमेज कांफ्रेंस के समय घटित घटनाओं से लगता है।

"१९३१ ई० में लंदन में द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस करने की घोषणा की गई। गांधी जी ने इस गोलमेज कांफ्रेंस में महामना मालवीय जी को साथ ले चलने का निश्चय व्यक्त किया; क्योंकि मालवीय जी बड़े स्पष्ट व तीव्र भाषा में अपना मंतव्य स्पष्ट करते थे। अब महामना के सामने एक धार्मिक परंपरा निभाने की विकट समस्या आई। फलस्वरूप वे अपने साथ कई कनस्तरों में गंगाजल और मिट्टी ले गए। वे जहाँ भी जाते, वहाँ पहले गंगाजल छिड़का जाता, तब वे उक्त स्थान पर बैठते और पीते वक्त पानी में गंगाजल मिलाया जाता। इस पवित्र धार्मिक परंपरा को देख विदेशी शासक असमंजस में पड़ गए। उनकी वेशभूषा नख से शिख तक भारतीय रहती थी। उनकी गोल पगड़ी, उनके ललाट पर विराजमान रक्तचंदन तिलक, उनके गले में नीचे तक लटकता हुआ दुपट्टा और उनका श्वेत शुभ्र परिधान देखकर उस कांफ्रेंस में आए विदेशी लोग चकित रह गए थे। उन्होंने कहा था—

"मालवीय बड़े खतरनाक व्यक्ति हैं। उन्होंने भारत के क्रांतिकारी दल को अपनी वक्तृताओं के द्वारा उभारा है। वह हृदय से क्रांतिकारियों के साथ हैं। हमारे घर (लंदन) में आकर हमें ही गालियाँ देने की जुर्रत करना मालवीय जी की ही हिम्मत है।"

डॉ० तेजबहादुर सप्रू लिखते हैं— "मालवीय जी ने अपनी इसी निर्भीकता के बल पर इंगलैंड के तत्कालीन सभी राजनीतिज्ञों पर धाक जमाई थी। मैं इंगलैंड में बराबर उनके साथ रहा और अपने निजी ज्ञान के बल पर कह सकता हूँ कि इंगलैंड में अंग्रेज राजनीतिज्ञों द्वारा पंडित मदनमोहन मालवीय से अधिक सम्मान प्राप्त करने वाला कोई दूसरा भारतीय नहीं था।"

इसी प्रकार मिस्टर मांटेग्यू ने अपनी इंडियन डायरी में लिखा है -- "पंडित मदनमोहन मालवीय कौंसिल के सबसे अधिक क्रियाशील राजनीतिज्ञ सिद्ध हुए। वे अपने दल के नेता के रूप में बहुत उच्चकोटि के आदमी हैं।"

एक ब्रिटिश संसद-सदस्य ने अपने अनुभव इन शब्दों में प्रकट किए -- "अपने पक्ष को सिद्ध करने में गांधी व मालवीय दोनों दक्ष पंडित हैं। सरकार को कड़ी-से-कड़ी बात कहते हैं। अंग्रेज राजनीतिज्ञों को डाँटते हैं। इनसे स्वार्थरहित बढ़ कर दूसरा नेता नहीं।"

पार्लियामेंट के एक सदस्य कर्नल वेन ने कहा —"यदि मालवीय जी राजनीति में न आते तो, वह शिक्षा क्षेत्र के सबसे बड़े नेता होते। यदि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का पालन-पोषण उन्हें न करना पड़ता, तो उन्हें एक महान् राजनीतिज्ञ समझा जाता। भारत व पश्चिमी जगत के इतिहास में ऐसा समन्वय अपूर्व है।"

इस प्रकार महामना मालवीय ने सुदूर देशों में अपनी अलौकिक प्रतिभा से सभी राजनीतिज्ञों को प्रभावित कर दिया और जब वे विदेश से भारत लौटे, तो उन्होंने प्रथम भारतभूमि के प्रति नतमस्तक हो उसकी रज को माथे से लगा लिया। जयजयकार की हर्षध्वनि से वायुमंडल सुरभित हो गया।"

सन् १९२७ ई० में मालवीय जी ने ब्रह्मचारी स्नातकों को आशीर्वाद देते हुए यह दोहा पढ़ा था तथा इस पर मनन करने का आदेश दिया था—

"दूध पियो, विद्या पढ़ो, सदा जपो हरि नाम।
सदाचार पालन करो, पूरेंगे सब काम ॥"

आधुनिक भारत के निर्माता

मालवीयजी के संबंध में श्री मुन्नालाल मेहरा ने जो लिखा है, वह आज के विद्यार्थियों के लिए मार्ग-दर्शन है। श्री मेहरा के शब्दों में :—

"पं० मदनमोहन मालवीय, जिन्हें लोग आमतौर पर केवल 'मालवीयजी' के नाम से अधिक जानते हैं, चोटी के राष्ट्रीय नेताओं में से एक थे। जितनी श्रद्धा और जितना आदर उनके लिए शिक्षित वर्ग में था, उतना ही साधारण जनता में भी था। देश की जनता में जितने लोकप्रिय मालवीयजी थे, उतना गाँधी जी और लोकमान्य के शिवा शायद ही कोई अन्य नेता रहा हो। मालवीयजी की विद्वत्ता असामान्य स्तर की थी और वे अत्यंत सुसंस्कृत व्यक्ति थे। फिर भी विनम्रता एवं शालीनता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। अपने युग के वे सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे एवं हिंदुस्तानी तथा अंगरेजी दोनों में ही निष्णात थे।

'उनके स्तर के किसी अन्य नेता के पास जनसाधारण की पहुँच इतनी सरल नहीं थी, जितनी मालवीय के पास। लोग उनके साथ इतने प्रेम से बात कर सकते

थे, मानो वे उनके पिता, बंधु अथवा मित्र हों। निर्धनों एवं पीड़ितों की सेवा-सहायता करना उनके जीवन का आदर्श ही नहीं था, वरन् उनके जीवन की वास्तविकता भी थी। लोक-सेवा कार्य उनके लोकप्रियता अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन नहीं था। गांधी-युग से पहले राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में मालवीयजी का स्थान अद्वितीय था और गांधी-युग में भी पहले की भाँति ही वे जनता के विश्वास-भाजन बने रहे। इतनी शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त होते हुए भी वे असाधारण रूप में विनम्र थे। अहंकार अथवा देवता मानने वाला व्यक्ति अभी तक मेरी दृष्टि में नहीं आया।

"मालवीयजी का शरीर भव्य एवं सुंदर तथा उनका व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावोत्पादक था। किंतु वे वेश-भूषा में तो नहीं अपितु खान-पान, रहन-सहन तथा व्यवहार में भी सादगी की मूर्ति थे।

"यद्यपि विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर की भाँति विदेशों में उनकी ख्याति अधिक नहीं फैली, फिर भी उन्होंने हिंदू धर्म के सर्वोत्तम तत्त्वों को संसार के समक्ष रखने में महान् योगदान दिया। प्राचीन ऋषि-मुनियों की भाँति वे एक दृढ़ आस्तिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति थे, किंतु बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा की आधुनिक पद्धति तथा साधनों का पूरा उपयोग किया। वे उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में भी आधुनिक तकनीक एवं पद्धति अपनाने के पक्ष में थे। वे जीवन-पर्यंत युवकों की उन्नति के लिए चिंतित रहे। उनका जीवन युवकों के लिए एक महान् प्रेरणा-स्रोत था। यद्यपि कई राजनैतिक मामलों में पं० जवाहरलाल नेहरू का मालवीयजी से मतभेद रहा, किंतु उन्होंने मालवीय जी के संबंध में लिखा है :

"जहाँ तक भारतीय राजनीति का संबंध है, मेरे बचपन की अत्यंत प्रारंभिक स्मृतियाँ पं० मदनमोहन मालवीय के साथ संबद्ध हैं।"

पं० जवाहरलाल नेहरू पुनः लिखते हैं :

"मालवीयजी एक महामानव थे। वे उन लोगों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता की नींव रखी।"

"इसी प्रकार महात्मा गांधी, जिनका बाद में मालवीयजी के साथ काफी राजनैतिक मतभेद रहा, बराबर अपना 'बड़ा भाई' मानते रहे। वे मालवीयजी को 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा करते थे।

अद्वितीय गुणागार

"मुझे संसार के कई महान् व्यक्तियों के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है--जैसे मिस्टर (वाद में लार्ड) एस्क्विथ, मिस्टर लायड जॉर्ज, मिस्टर मांटेग्यू, मिस्टर रेम्जे मैंक्डानल्ड, मिस्टर एटली, मौंशिये क्लीमैनशियो (फ्रांसकेसरी), जॉर्ज वर्नार्ड शॉ, मिस्टर डो० वेलरा, फील्ड मार्शल हिंडनवर्ग, लोकमान्य तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय तथा अन्य अनेक छोटे-बड़े महापुरुष। किंतु, एक ही व्यक्ति में अनेक महान् गुणों का एक साथ समावेश जैसा मैंने मालवीय जी में देखा, वैसा अब तक किसी अन्य महापुरुष में देखने को नहीं मिला।"--ये शब्द हैं पंडित जवाहरलाल नेहरू के--मालवीयजी के गुणों से प्रभावित होकर उन्होने अपने ये श्रद्धा-शब्द किए।

"लोकलान्य तिलक तथा महात्मा गाँधी की भांति मालवीय जी सदा सत्य पर आरूढ़ रहे। किसी भी राजनैतिक अथवा सामाजिक सफलता के लिए उन्होंने असत्य का आश्रय नहीं लिया। बड़े-से-बड़े साध्य के लिए भी वे अनुचित साधनों का सहारा लेने के पक्ष में नहीं थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि झूठ, द्वेषपूर्ण प्रोपेगेंडा तथा कपटपूर्ण हथकंडों के द्वारा वड़ी सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा उच्च तथा उचित साधनों का प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

वंबई के व्यापारियों से चंदा

जवाहरलाल नेहरू ने एक स्थल पर लिखा है :—

"पहले-पहल मालवीयजी को अधिक निकटता से देखने का सुअवसर मुझे सन् १९१५ ई० में मिला। उन दिनों वे अपने बनारस विश्वविद्यालय के लिए रुपया इकट्ठा करने के निमित्त वंबई पधारे थे। उनके सम्मान में कई सभाओं का आयोजन किया गया। एक सभा मूलजी जेठा मार्केट में भी आयोजित की गई, जो कपड़े का भारत भर में सबसे बड़ा थोक मार्केट हैं। इस सभा के सभापति सर मदनमोहनदास रामजी थे। वहाँ जिस तरह व्यापारी वर्ग के लोग मालवीयजी के चमत्कारी व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और जिस तरह उन्होंने दिल खोल कर मालवीयजी को रुपया दिया, मैं उसे कभी नहीं भूल सकता। मेरे पिताजी भी उनमें से एक थे।

वायासराय की कौंसिल में

"दूसरी बार उन्हें अधिक देर देखने का अवसर मुझे शिमला में मिला! यह वात सन् १९१७ की गर्मियों की है। उस साल मार्च में मैं वहुत वीमार हो गया था

और पिता जी ने स्वास्थ्य-लाभ के लिए मुझे शिमला भेज दिया था। मेरे पास पर्याप्त अवकाश था, मैं अपना समय राजनैतिक तथा धार्मिक साहित्य के अध्ययन में व्यतीत करने लगा। इसी सिलसिले में मैं लगभग प्रतिदिन दोपहर के बाद इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में जाता था।

"वायसराय महोदय इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल की बैठकों का सभापतित्व किया करते थे और चूंकि शिमला उन दिनों भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी होती थी, इसलिए कौंसिल की बैठकें गर्मियों में वहीं हुआ करती थीं। कौंसिल के अधिकांश सदस्य अंगरेज होते थे, जो या तो नागरिक अथवा सैनिक विभागों के उच्च अधिकारी होते थे, या ब्रिटिश-व्यापार एवं उद्योगों के प्रतिनिधि। भारतीय सदस्यों की संख्या बहुत कम होती थी। और जो थोड़े से भारतीय सदस्य होते भी थे, वे ब्रिटिश नौकरशाही के पिछलग्गू होते थे। केवल इने-गिने राष्ट्रीय नेता ही कौंसिल के सदस्य होते थे। मालवीयजी उनमें से एक थे।

"जब कौंसिल का ग्रीष्मकालीन सत्र समाप्त होने वाला था, तो उससे कुछ दिन पहले एक अजीब घटना घटी। वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड सहसा बीमार हो गए और उनके स्थान पर पंजाब के गवर्नर, सर माइकेल ओडायर, कौंसिल की बैठकों की अध्यक्षता करने लगे। एक दिन मालवीय जी किसी सरकारी वित्तीय मांग पर बोल रहे थे। अपने भाषण में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वायसराय तथा उनकी सरकार को चाहिए कि वे ब्रिटिश मंत्रिमंडल को प्रेरित करें कि वह भारत को पूर्ण सत्तायुक्त डुमीनियन बनाने के लिए एक निश्चित तिथि की घोषणा कर दे।

"यहां यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि प्रथम विश्वयुद्ध ने, जो अगस्त, १९१४ में योरोपीय राष्ट्रों के मध्य शुरू हुआ था, सन् १९१६ की गर्मियों में ब्रिटेन तथा उसके मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध चिन्ताजनक मोड़ ले लिया था। महीनों तक मित्र राष्ट्र निरंतर पराजित होते रहे थे और उन्हें धन-जन की भारी हानि उठानी पड़ी थी। उनके हाथों से कई महत्त्वपूर्ण इलाके भी निकल गए थे। भारत के पास चूंकि विराट् जनशक्ति थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से युद्ध में सहायता देने की अपील की और उन्हें वचन दिया कि युद्ध की समाप्ति के बाद उन्हें अपने देश के शासन में प्रमुख भाग दे दिया जाएगा। युद्ध की स्थिति और ब्रिटिश सरकार के वचन का भारतीयों पर समुचित प्रभाव पड़ा। अनेक प्रमुख भारतीय बंबई की एक सभा में एकत्रित हुए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के वचनों पर पूरा विश्वास करके यह पेशकश स्वीकार कर ली। फलस्वरूप भारत के प्रत्येक प्रांत से लाखों की संख्या में भारतवासी सेना में भर्ती हो गए।

"किंतु, सन् १९१७ की गर्मियों तक युद्ध का पासा पलट चुका था। अब मित्र राष्ट्रों की जीत हो रही थी। भारतीय सेनाओं ने टर्की से उसका समस्त मध्य-पूर्वी साम्राज्य छीन लिया था। इसके अतिरिक्त योरोपीय समरक्षेत्र में भारतीय सेनाओं ने न केवल शत्रु की बढ़ती हुई सेनाओं की प्रगति रोक दी थी, अपितु मोर्चे पर शत्रु के हाथों से सैकड़ों मील का क्षेत्र भी वापस ले लिया था।

"भारतीय सेना के वीरतापूर्ण कारनामों को ब्रिटिश मंत्रिमंडल तथा अन्य अनेक ब्रिटिश राजनैतिक नेताओं ने तो स्वीकार किया ही था, साथ ही फ्रांस तथा इटली की सरकारों ने भी भारतीय सैनिकों के त्याग और बलिदानों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

ब्रिटिश सिंह को खुली चुनौती

"मालवीय जी अपने सुझाव के समर्थन में उपर्युक्त तथ्यों पर बल दे रहे थे, तो सर ओडायर अध्यक्ष-पद से मालवीयजी को यह कहकर निरंतर टोकते रहे कि भारतीय सेना की ये सफलताएँ ब्रिटिश सैनिक पदाधिकारियों के प्रभाव के कारण थीं; क्योंकि भारतीय सैनिक जातियाँ (जिनसे भारतीय सेना का मुख्यत: निर्माण हुआ था) अपने ब्रिटिश पदाधिकारियों का बहुत सम्मान करती हैं। भारतीय सेनाओं की सफलताओं में भारत के राष्ट्रीय नेताओं के प्रयास अथवा प्रभाव का कोई हाथ नहीं है। मालवीयजी ने, जो अपने भाषणों की मधुरता एवं नम्रता के लिए विख्यात थे, बार-बार अध्यक्ष से प्रार्थना की कि आप मुझे भाषण के बीच में न टोकें और भारतीयों की भावना का आदर करें। किंतु, मालवीयजी की प्रार्थना पर ध्यान देने के बजाय सर ओडायर ने उन्हें बैठ जाने की आज्ञा दे दी। सर ओडायर के इस दुर्व्यवहार पर मालवीयजी क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने उसी समय सदन का त्याग कर दिया। जाते समय उन्होंने पंजाब के गवर्नर को तथा ब्रिटिश नौकरशाही को चुनौती दी—"मैं अब देशवासियों के समक्ष ही अपनी बात रखूँगा और एक सप्ताह के अंदर-अंदर प्रत्येक भारतीय सैनिक—चाहे वह किसी भी मोर्चे पर लड़ रहा हो—योरोप के मोर्चे पर, मध्य-पूर्व में, या कहीं और, या वह भारत की सीमा की सुरक्षा पर ही लगा हो—अस्त्र-शस्त्र त्याग कर घर लौट आएगा। ब्रिटिश पदाधिकारी तो क्या, ब्रिटिश सरकार भी उन्हें रोक सके, तो रोक कर देख लें।"

"मिस्टर जिन्ना ने भी मालवीयजी के तुरत बाद सदन त्याग दिया। फिर कई अन्य नेता—जैसे, मिस्टर श्री निवास शास्त्री, सर दीनशा वाचा, मिस्टर बैपिस्टा—यहाँ तक कि कई राजे-महाराजे तथा कई बड़ी देशी रियासतों के दीवान भी सदन से बाहर चले आए। सबसे विलक्षण बात यह हुई कि सर शंकरन् नायर

भी, जो वायसराय की एक्जिक्यूटिव कौंसिल (प्रबंधकारिणी समिति) के दो भारतीय सदस्यों में से एक थे, उठ कर अपने 'चेम्बर' (निजी कक्ष) में चले गए।

"जब मैं माल रोड पर पहुँचा, तो मैंने देखा कि मालवीय जी के सदन-त्याग का समाचार जंगल की आग की भाँति क्षण-भर में ही सारे शहर में फैल गया था और हजारों आदमी, जिनमें अधिकांश संख्या नवयुवकों की थी, सड़क के दोनों ओर इकट्ठे हो गए थे। सब लोग मालवीयजी को स्टेशन पर जाते हुए देखने की प्रतीक्षा में खड़े थे।

उन दिनों शिमला-कालका के बीच मोटरबसें या टैक्सियां नहीं चलती थीं (जैसी कि आजकल भारी संख्या में चलती हैं,)। केवल एक-दो रेलगाडियां चलती थीं। मालवीयजी ५-३० बजे की एक्सप्रेस से जा रहे थे। मैं जल्दी-जल्दी चल कर गाड़ी छूटने से पहले मालवीयजी के डब्बे के सामने पहुँच गया। स्टेशन जाने वाली सडक पर हजारों आदमी खड़े थे और आकाश "मालवीयजी की जय।", "भारत माता की जय।", "स्वराज्य हमारा पैदायशी हक है।" के नारों से गूँज रहा था।

"मालवीयजी के स्टेशन पहुँचने के तुरंत बाद ही सर विन्सेंट स्मिथ, जो उन दिनों वायसराय की एक्जिक्यूटिव कौंसिल के होम-मेम्बर (गृह-मंत्री) थे, एक अन्य अंगरेज मेम्बर के साथ वहाँ आ पहुँचे और लगभग १५ मिनट तक डब्बे के सब द्वार बंद करके अंदर मालवीयजी के साथ बातचीत करते रहे। इस बीच में लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही थी और लोग काबू से बाहर हो रहे थे। मालवीयजी ने डब्बे से निकलकर लोगों से कहा कि वे शांतिपूर्वक अपने घरों को लौट जाएँ और यदि वे (मालवीयजी) तथा अन्य राष्ट्रीय नेता गिरफ्तार हो जाएँ, तो लोग स्वयं शांतिपूर्वक आंदोलन चलाते रहें।

ओडायर की अकड़

"मालवीयजी उन दिनों जनता पर कितना प्रभाव रखते थे और वे कितने लोकप्रिय थे—इसका अनुमान इस बात से अच्छी तरह लगाया जा सकता है कि उनकी उपर्युक्त चुनौती से न केवल भारत की गोराशाही सरकार, अपितु इंगलैंड की सरकार भी दहल उठी। मालवीय जी के अगले दिन इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही सर माइकेल ओडायर को घोषणा करनी पड़ी कि कौंसिल में उन्होंने जो कुछ कहा था, यदि उससे लोगों के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रतिज्ञा-पालन के संबंध में कोई संदेह उत्पन्न हो गया है, तो उन्हें इसके लिए खेद है। साथ ही ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि मिस्टर मांटेग्यू जो उन दिनों इंगलैंड की सरकार में

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार इंडिया (भारत-मंत्री) थे, कुछ ही सप्ताहों में भारत आएँगे और यहाँ आकर भारतीयों को स्वशासन की दिशा में उत्तरदायित्व सौंपने के संबंध में विभिन्न राजनैतिक दलों तथा जातियों के नेताओं से परामर्श करेंगे। परिणाम-स्वरूप मिस्टर मांटेग्यू थोड़े दिनों के बाद भारत आए।

"नवंबर, सन् १९१८ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो गया। मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई। चूंकि भारतीयों ने युद्ध जीतने में महान् योगदान दिया था, इसलिए उन्हें पेरिस में होने वाले 'शांति संमेलन' में संमिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। संमेलन में भाग लेने के लिए भारत की ब्रिटिश नौकरशाही ने राष्ट्रीय नेताओं को आमंत्रित करने के स्थान पर अपने कुछ पिट्ठुओं को चुन लिया। जनता इन प्रतिनिधियों का नाम तक न जानती थी। सरकार के इस कृत्य पर विरोध तथा रोष प्रकट करने के लिए देश-भर में अनेक सार्वजनिक सभाएँ हुईं। लोगों ने सर्वसंमति से लोकमान्य तिलक को भारतीय प्रतिनिधि मंडल का नेता चुना तथा मालवीयजी, मिस्टर जिन्ना एवं मिस्टर बपिस्टा के नाम मंडल के अन्य सदस्यों के रूप में प्रस्तावित किए गए।

दिल्ली कांग्रेस

"सन् १९१८ ई० की क्रिसमस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में बुलाया गया। उस अधिवेशन में मैं भी एक प्रतिनिधि के रूप में संमलित हुआ था। लोकमान्य तिलक अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए थे, किंतु वे इस पद को स्वीकार न कर सके। कारण यह था कि उन दिनों वे कांग्रेस के एक प्रतिनिधि-मंडल के नेता के रूप में इंगलैंड गए हुए थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक ज्वाइंट सिलेक्ट कमिटी (संमिलित संसदीय समिति) निर्धारित की थी जो मिस्टर मांटेग्यू द्वारा प्रस्तुत स्वशासन संबंधी योजना पर विचार-विमर्श कर रही थी। उपर्युक्त प्रतिनिधि-मंडल इस समिति के समक्ष देश का राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने के लिए इंगलैंड भेजा गया था। बाद में इसी योजना का 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार' नाम पड़ा। लोकमान्य की अनुपस्थिति में मालवीयजी को कांग्रेस के दिल्ली-अधिवेशन का सभापति मनोनीत किया गया।

"मालवीयजी के साथ घनिष्ठ संपर्क में आने के अवसर मुझे मार्शल-लॉ अधिवेशन के समय तथा उसके बाद की अवधि में प्राप्त हुआ। मई, सन् १९१९ ई० में दो उत्तरी प्रांतों—पंजाब तथा सीमांत—में मार्शल-लॉ घोषित कर दिया गया था। उन दिनों मुझे नौ महीने से अधिक समय तक मालवीयजी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

रौलट ऐक्ट

"युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को डुमीनियन स्तर के अधिकार प्रदान करने के स्थान पर—जिसकी भारतीयों को पूरी आशा थी—भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार ने 'रौलट ऐक्ट' नामक एक कानून पास कर दिया। इस कानून के द्वारा सरकार ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि वह किसी भी व्यक्ति को कितनी ही अवधि के लिए बिना मुकदमा चलाऐ या बिना कारण बतलाए जेल में डाल सकती थी, देश से निष्कासित कर सकती थी अथवा उसकी गतिविधि को नियंत्रित कर सकती थी तथा चाहे जिसकी जायदाद जब्त कर सकती थी।

"चूँकि रौलट ऐक्ट इंगलैंड के मंत्रिमंडल की स्वीकृति से लागू किया गया था, इसलिए भारत के मौडरेट (नरमदलीय) दल के नेताओं के समक्ष भी, जो अब तक भारत की ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करते आए थे, यह बात स्पष्ट हो गई कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के पश्चात् भारतीयों के उत्तरदायित्वपूर्ण स्वशासन प्रदान करने का जो वचन दिया था, उसे पूरा करने का उसका कोई इरादा नहीं है।

"इस अनुचित कृत्य पर भारतीय जनता में रोष फैल गया और सारे देश में गंभीर प्रकार के प्रदर्शन हुए। जगह-जगह हड़तालें हुईं, व्यापार बंद कर दिया गया, विद्यार्थियों ने स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए, अदालतों का बायकाट (बहिष्कार) कर दिया गया। यहाँ तक कि लोगों ने यह धमकी दे दी कि वे केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारी टैक्स अदा नहीं करेंगे। दो उत्तरी प्रांतों (पंजाब तथा सीमाप्रांत) में नागरिक शासन ठप्प हो गए और वहाँ मार्शल-लॉ (सैनिक अधिशासन) घोषित कर जनरल डायर को एक प्रकार का सैनिक गवर्नर बना दिया गया और सैनिक अधिशासन की बागडोर उसके हाथ में दे दी गई।

जलियाँवाला

"उन दिनों अमृतसर नगर उत्तर भारत की समस्त राजनैतिक गतिविधियों का केंद्र बना हुआ था। इसलिए जनरल डायर ने अपना हेडक्वार्टर अमृतसर में स्थापित कर दिया। जलियाँवाला बाग में एक दिन एक विराट् सार्वजनिक सभा आयोजित की गई, जिसमें मार्शल लॉ के विरोध में लोग अपना मत प्रकट करना चाहते थे। लगभग एक लाख व्यक्ति उस सभा में भाग लेने के लिए एकत्रित हो गए। जनरल डायर ने स्वयं अपनी कमान में ब्रिटिश सैनिकों की एक बटालियन के साथ जलियाँवाला बाग को जा घेरा। ब्रिटिश सैनिक अस्त्रशस्त्रों से पूरी तरह लैस थे, यहाँ तक कि उनके पास भारी मशीनगनें भी थीं। घेरा डालने के तुरंत बाद डायर

ने लोगों को यह आज्ञा अथवा चेतवानी दिए विना कि वे सभा भंग कर दें और सभास्थल से चले जाएँ, सैनिक दल को गोलावारी करने की आज्ञा दे दी। परिणाम-स्वरूप कुछ ही क्षणों में लगभग ३६०० व्यक्ति मारे गए और दस हजार से अधिक व्यक्ति बुरी तरह घायल हुए। कई दिन तक अनेक नगरों में लोगों को उनके घरों से घसीट-घसीट कर वाहर निकाला गया और उनकी नंगी पीठ पर कोड़े लगाए गए। सैंकड़ों लोगों को पेट के वल सड़कों पर रेंगने के लिए विवश किया गया। सरकार ने विरोधियों को नंगे सिर झुलसती धूप में बिना कुछ खिलाए और विना पानी पिलाए घंटों तक खड़ा रखा। नगरों में हर जगह -- बाजारों में, मुहल्लों में, चौक के नुक्कड़ों पर सशस्त्र अंगरेज सिपाही खड़े रहते थे और जिसे भी वह चाहते थे केवल मनोविनोद के लिए, वंदूक का निशाना वना देते थे और मरते हुए आदमियों को ठोकरें मारते थे। दो-तीन सप्ताहों तक इन प्रांतों में लोगों पर इतने पाशविक और भयंकर अत्याचार किए गए कि उनका उदाहरण संसार-भर के इतिहास में कहीं नहीं मिल सकता। सारे देश की जनता तथा नौकरशाही को विश्वास हो गया कि भारत कम-से-कम आधी शताब्दी तक दोवारा नहीं उठ सकेगा।

"ऐसे घोर अंधकार तथा निराशा के समय मालवीयजी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर आगे आए। उन्होंने इलाहावाद में, जहाँ वे उन दिनों रहते थे, घोषणा कर दी कि वे स्थिति की निजी तौर पर जाँच करने के लिए पंजाव तथा सीमा-प्रांत का दौरा करेंगे। उन्होंने अपने इस विचार की पूर्वसूचना वायसराय, पंजाब सरकार तथा सीमा-प्रांत के चीफ कमिश्नर को भेज दी।

अलौकिक साहस

"अमृतसर से २०० मील इधर अंवाला रेलवे स्टेशन पर उन्हें रात के समय जगाया गया और पंजाब सरकार ने उन्हें आज्ञा दी कि वे पंजाब में प्रवेश न करें। उन्होंने साफ कह दिया कि "जब तक मुझे गिरफ्तार करके गाड़ी से न निकाला जाएगा, मैं न तो गाड़ी से उतरूँगा और न वापस लौटूँगा।" और सरकार उन्हें गिरफ्तार करने का साहस नहीं कर सकी। (यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी भी इसी तरह अहमदावाद से पंजाव आ रहे थे। उन्हें दिल्ली-स्टेशन पर ऐसा ही एक आर्डर मिला और वे सावरमती आश्रम लौट गए।)

"एक दिन, प्रातःकाल के समय, मैं अपने कुछ नवयुवक मित्रों के साथ सवेरे की सैर से वापस आ रहा था। रेलवे-स्टेशन के निकट एक मंदिर था, जिसमें धर्म-शाला भी थी। जब हम इस स्थान के समीप पहुँचे, तो हमने देखा कि धर्मशाला के

बाहर सड़क के किनारे मालवीयजी खड़े हैं। हम उन्हें उस अवस्था में वहाँ खड़ा देख कर बड़े चकित हुए। जब हम उनके पास पहुँचे, तो पता चला कि स्टेशन से बाहर निकल कर उन्होंने किसी ताँगे वाले से कहा कि यह किसी धर्मशाला तक पहुँचा दे। ताँगे वाला उन्हें यहाँ छोड़ गया। लगभग एक घंटे बाद स्नान और पूजा-पाठ से निवृत्त होकर वे शहर में जाने के लिए धर्मशाला से बाहर निकलने लगे, तो एक व्यक्ति आया। उसने अपने को उस स्थान का मालिक और मुख्य ट्रस्टी बतलाया और मालवीय जी का ट्रंक-बिस्तर बाहर रख कर उसने धर्मशाला के मुख्य द्वारा पर ताला लगा दिया।

"मालवीयजी ने हमसे पूछा —"क्या आप मुझे किसी अन्य धर्मशाला में पहुँचा सकते हैं?" किसी दूसरी जगह भी उनके साथ कहीं ऐसा ही दुर्व्यवहार न हो—यह सोच कर हमने उन्हें सुझाव दिया कि वे डॉ० सत्यपाल के मकान पर चले जाएँ। डॉ० सत्यपाल को सरकार ने मार्शल-लॉ के अंतर्गत नजरबंद कर लिया था, इसलिए हमने सोचा कि उनका मकान खाली होगा और इस समय मालवीयजी के ठहरने के लिए बहुत उपयुक्त रहेगा। मालवीयजी ने हमारा सुझाव स्वीकार कर लिया। हम में से तीन व्यक्ति उन्हें डॉ० सत्यपाल के मकान पर ले गए। डॉ० सत्यपाल की धर्मपत्नी उस समय अकेली थीं। हमने उन्हें मालवीय जी के व्यक्तित्व के संबंध में बतलाया और उनके अमृतसर पधारने का कारण भी समझाया। इस पर वह तुरंत मालवीयजी को अपने घर पर ठहरने के लिए उद्यत हो गईं।

"हम लोगों में, जो उन दिनों सरकार से इतने भयभीत एवं आतंकित थे, मालवीयजी के अमृतसर पधारने के कुछ ही समय के अंदर इतना साहस भर गया कि हम किसी भी संकटपूर्ण परिणाम का सामना करने ले लिए तैयार हो गए। लगभग साठ वर्ष की आयु के इस दुबले-पतले, कमनीय, प्रौढ़ व्यक्ति की आत्मा में ऐसा प्रभाव था। उनमें नवयुवकों से भी अधिक भावना, साहस और प्राणों को उत्सर्ग करने का साहस था। भारत के युवक वर्ग के लिए वे सदा एक आदर्श व्यक्ति और एक उदाहरण बने रहे।

मंत्र की महिमा

"मालवीयजी के अमृतसर पधारने के बाद कुछ ही दिनों में परिस्थिति बहुत बदल गई। मार्शल-लॉ वापस ले लिया गया। जो लोग कुछ ही सप्ताह पूर्व बुरी तरह भयभीत एवं आतंकित थे, उनमें साहस तथा नए जीवन का संचार हो उठा। लोगों में जितनी राष्ट्रीय चेतना इस समय उत्पन्न हुई, उतनी पहले कभी नहीं देखी

गई थी। मालवीयजी के साथ मेरा उन संकटपूर्ण दिनों में घनिष्ठ संपर्क रहा। उन्होंने राष्ट्रीय जागरण एवं उत्थान के लिए जो महान् कार्य उन दिनों किया, उसके आधार पर मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उस कार्य के बिना स्वतंत्रता न तो इतनी आसानी से प्राप्त हो सकती थी और न इतनी जल्दी, जितनी हमें प्राप्त हुई, और शायद आज भी हमारे देश में डुमीनियन प्रकार का कोई शासन तंत्र होता, और शायद वह भी न होता। गांधी और उनके सहयोगी समस्त नेता स्वतंत्रता-आंदोलन को इतनी सफलता और इस सीमा तक इतनी जल्दी कभी न बढ़ा पाते, यदि मालवीयजी ने वे काम न किए होते, जो मार्शल-लॉ के बाद अपने प्राणों को हथेली पर रखकर उन्होंने पंजाब में संपन्न किए।

"मालवीयजी ने अमृतसर में अपना मुख्य कार्य केंद्र डॉ० सत्यपाल के मकान को ही बनाया। कुछ दिनों के बाद वे श्री वेंकटेशनारायण तिवारी को, जो प्रयाग सेवा समिति के मंत्री थे, ले आए। उसके कुछ सप्ताह बाद वे पंडित मोतीलाल नेहरू को भी अमृतसर ले आए। पंडित मोतीलाल जी को उस समय तक सार्वजनिक क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी, इसलिए लोगों ने उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। मालवीयजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप कांग्रेस का अगला वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में होना निश्चित हुआ। इस बार भी अधिवेशन के सभापति के रूप में लोकमान्य तिलक का निर्वाचन लगभग निश्चित हो चुका था, किंतु मालवीय जी ने उत्तर-पश्चिमी भारत तथा संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) का दौरा करके हर जगह कांग्रेस कमिटियों को प्रेरित किया कि अमृतसर अधिवेशन का सभापति मोतीलाल जी को निर्वाचित किया जाए। स्वागत समिति में भी बहुमत लोकमान्य के पक्ष में था, किंतु मालवीयजी ने अंतिम क्षण पर प्रतिनिधियों से मोतीलालजी के पक्ष में वोट देने की अपील की। अंत में मोतीलालजी ही अमृतसर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए।

स्वयं तार देने गए

"मार्शल-लॉ हटा लिए जाने के कुछ दिन बाद एक रात मालवीयजी ने कई पृष्ठों का एक बहुत लंबा तार लिखा, जिसे वे ब्रिटिश सरकार के भारत-मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) को तथा उनकी प्रतिलिपि वायसराय को भेजना चाहते थे। रात बहुत बीत चुकी थी और मकान में सब आदमी गहरी नींद में सोए हुए थे। मालवीयजी ने किसी को जगाया नहीं और स्वयं तार देने के लिए तार-घर तक पैदल गए। तारघर वहाँ से दो मील दूर था।

"मालवीयजी किसी छोटे-से-छोटे व्यक्ति को—यहाँ तक कि किसी नौकर को भी—कष्ट नहीं देना चाहते थे। इस घटना के संबंध में यह बात ध्यान रहे कि मालवीयजी उस समय ख्याति के चरम बिंदु पर पहुँचे हुए थे। मैंने जितने दिन उनके साथ काम किया, मुझे ऐसा लगता रहा, मानो मैं अपनी माता की छत्रच्छाया में काम कर रहा हूँ। वे प्रेम और दया की मूर्त्ति थे, और उस समय भी, जब उनकी प्रतिष्ठा, शक्ति और लोकप्रियता अपने शिखर पर थी, उन्होंने विनम्रता और शील को कभी हाथ से नहीं जाने दिया।

रेशमी कपड़े

"मैं बाल्यकाल से ही पूजा-पाठ करता रहा हूँ। एक दिन गुजरांवाला नगर में जब मैं मंदिर से लौट कर आया, तो मालवीयजी ने मुझे पूजा के समय रेशमी वस्त्र धारण करने का परामर्श दिया। मैंने निवेदन किया कि एक रेशमी धोती-कुर्ता बनाने के लिए कम-से-कम एक लाख जीवों (रेशम के कीड़ों) की हत्या होती है। इस पर उन्होंने मुझे गले से लगा दिया और मुझे आशीर्वाद दिया। साथ ही उसी दिन उन्होंने अपने लिए बाजार से खादी का एक कुर्ता और एक धोती मँगवा ली। उस दिन के बाद मैंने उन्हें कभी रेशमी वस्त्र धारण करते नहीं देखा।

ये तो गोपालकृष्ण हैं !

"एक दिन कमरे में एक अत्यंत आवश्यक बैठक हो रही थी और मालवीय जी कोई महत्त्वपूर्ण योजना तैयार करने में लगे हुए थे। बच्चे कमरे से बाहर खेल रहे थे और बड़ा कोलाहल कर रहे थे। एक सज्जन उठ कर बाहर जाने लगे, ताकि बच्चों को वहाँ से हटा दें। किंतु, मालवीयजी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और कहने लगे—"बालकों के रूप में ही भगवान के दर्शन हो सकते हैं, बालक तो गोपाल कृष्ण हैं। हमें इन सुंदर बाल गोपालों को रोकने के बजाय स्वयं अपने पर नियंत्रण रखना चाहिए।"

ऐतिहासिक भाषण

"सन् १९१९ ई० में मार्शल ला की समाप्ति के कुछ महीने बाद जिन्हें इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में मालवीयजी के भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त है, वे यह बात कभी नहीं भूलते कि किस तरह मालवीयजी ने अकेले दम असीम सत्ताधारी ब्रिटिश सरकार का मुकाबला किया; क्योंकि उन दिनों कौंसिल के महत्व-पूर्ण सदस्यों में से अधिकांश व्यक्ति पार्लियामेंट की ज्वायंट सिलेक्ट कमिटी के समक्ष

भारतीय दृष्टिकोण रखने के लिए इंगलैंड गए हुए थे (इस बात की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं)। जनरल डायर ने पंजाब की निरीह, निरपराध, निहत्थी जनता पर किस तरह भयंकर अत्याचार किए—इस विषय पर मालवीयजी कौंसिल में लगातार तीन दिन भाषण देते रहे। इस भाषण के संबंध में उन्होंने थोड़े-बहुत तथ्य कुछ कागजों पर मोटे तौर पर नोट कर रखे थे, शेष सारा भाषण उन्होंने बिना किसी तैयारी के पूरा किया। इतने लंबे भाषण में भी उन्होंने अपनी किसी बात अथवा युक्ति की पुनरावृत्ति नहीं की। मालवीयजी ने जनरल डायर के रोमांचकारी अत्याचारों पर इतना प्रबल एवं प्रभावशाली भाषण दिया कि भाषण के बीच में कई बार सरकारी सदस्य भी रो पड़े। उन दिनों दर्शकों की गैलरी (दीर्घा) लोगों से खचाखच भरी रही। दर्शकों में बहुत से सरकारी सदस्यों तथा अधिकारियों की पत्नियाँ भी थीं। मालवीयजी के भाषण को सुन कर कई महिलाएँ बेहोश हो गईं।

"जब मालवीयजी के आरोपों का उत्तर देने की सरकार की बारी आई, तो सरकारी प्रवक्ता कोई ठोस एवं युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे सके, बल्कि वे अशिष्ट शब्दों पर उतर आए। पंजाब सरकार के प्रवक्ताओं में सर माइकेल ओडायर भी थे। मालवीयजी के भाषण के बाद कौंसिल में जो वाद-विवाद छिड़ा, उसमें सर ओडायर के साथ मालवीयजी की कई बड़ी तेज झड़पें हुईं।

सरकारी पक्ष की युक्तियों और तथ्यों पर इंगलैंड के समाचारपत्र तथा भारत के अंग्रेजी समाचारपत्र भी बहुत निराश हुए। उन दिनों केंद्रीय सरकार के होम मेंबर (गृह मंत्री) सर विसेंट स्मिथ थे। उनकी धर्मपत्नी यह कहती हुई सुनी गई कि "मेरे पति पंडित का मुकाबला नहीं कर सकते।" (ब्रिटिश अधिकारी वर्ग में मालवीयजी को 'पंडित' नाम से पुकारा जाता था।) इंगलैंड के समाचारपत्रों ने तो मालवीयजी की तुलना ग्लैडस्टन तथा डिजराइली तक से की, जो उस देश के महानतम प्रधान मंत्री माने जाते हैं। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि एक व्यक्ति, जो न तो अंगरेज है और न ही जिसकी मातृभाषा अंग्रेजी है, किस तरह अंग्रेजी में ऐसी धाराप्रवाह वक्तृता दे सकता है तथा बिना तैयारी के किसी विषय पर इतनी गहराई, इतनी बारीकी और इतने विस्तार के साथ, लगातार इतने लंबे समय तक भाषण दे सकता है।

असीम क्षमाशीलता

"मैंने मालवीयजी को कभी किसी की भी—यहाँ तक कि अपने बड़े-से-बड़े विरोधी एवं शत्रु की भी—निंदा करते नहीं सुना। वे किसी पर क्रोध नहीं करते थे,

न ही कभी सहनशीलता को हाथ से जाने देते थे। छोटे-से-छोटे आदमी के बड़े-से-बड़े अपराध पर भी वे उसे शीघ्र क्षमा कर देते थे। उनकी दया एवं क्षमाशीलता असीम थी।

"सन् १९२५ ई० में मालवीयजी का मोतीलाल से राजनीतिक मतभेद हो गया था और दोनों ने अलग-अलग राजनीतिक दल बना लिए थे। उन दिनों की एक घटना, जो मालवीयजी के सहिष्णु एवं क्षमाशील स्वभाव पर प्रकाश डालती है, मुझे अब तक अच्छी तरह याद है।

"उन दिनों असेंबली के चुनाव हो रहे थे। मोतीलालजी अपने दल के उम्मीदवारों के पक्ष में पंजाब का दौरा कर रहे थे। उन्हें पता था कि पंजाबवासियों पर मालवीयजी का बड़ा प्रभाव है। इस प्रभाव को काटने के लिए मोतीलालजी अपने भाषणों में मालवीयजी पर व्यक्तिगत आक्षेप करते। अमृतसर की एक सभा में, जहाँ मालवीयजी को भाषण देना था, एक वक्ता ने मोतीलालजी पर कीचड़ उछालना शुरू किया। इस पर मालवीयजी ने उस वक्ता को तुरंत ही रोक दिया और आध घंटे से अधिक समय तक अपने भाषण में मोतीलालजी की इतनी प्रशंसा की कि सुनने वाले दंग रह गए। यह है मालवीयजी की महानता का एक छोटा-सा उदाहरण। उनके व्यक्तित्व और चरित्र में उच्च-से-उच्च मानवीय गुण पुंजीभूत थे।

"मालवीयजी के महान गुणों पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है; क्योंकि उनके गुणों की न कोई थाह है, न सीमा। किंतु, प्रस्तुत पुस्तक में अनेक व्यक्ति मालवीयजी के संबंध में अपने संस्मरण लिख रहे हैं। इन व्यक्तियों में देश के कई महान् नेता भी संमिलित हैं, जो सौभाग्य से अभी तक हमारे बीच विद्यमान हैं। इसलिए मैं यहाँ अपने उपर्युक्त संस्मरण देकर ही संतोष कर रहा हूँ।

(२) देशभक्ति

"देशभक्ति मालवीयजी के जीवन का प्रमुख अंग थी। उनका समस्त जीवन ही देशभक्ति में बीता। असंगठित हिंदू जाति में एकता लाने के लिए उन्होंने हिंदू महासभा की स्थापना की थी। विद्यार्थियों से भी मालवीयजी यही आशा करते थे कि वे देशभक्त बनें। देशभक्ति के संबंध में मालवीयजी के ये वाक्य विद्यार्थियों को सर्वदा स्मरण रखना चाहिए—

"यह भारत हमारा देश है। सभी बातों के विचार से उसके समान संसार में दूसरा देश नहीं हैं। हमको इस बात के लिए कृतज्ञ तथा गौरवांवित होना चाहिए कि उस कृपालु परमेश्वर ने हमें इस पवित्र देश में पैदा किया है।"

"हम सब भारतवासी हैं। यह भारत हमारी जन्मभूमि है। यहाँ का जर्रा-जर्रा, कोना-कोना हमारे लिए पवित्र है। प्रत्येक भारतवासी की सेवा करना, उसकी आह-पुकार सुनना, हमारा परम कर्त्तव्य है।"

"आज देश की दशा बहुत बुरी हो गई है, वह असंगठित है। इस दुःख के उमड़ते हुए समुद्र में क्या मुझे मरने की फुरसत है? मुझे सबसे बड़ी चिंता यही है कि देश और धर्म की दशा किस प्रकार सुधरे और मैं इसलिए भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे इस काम को करने के लिए आयु देने का अनुग्रह करें।"

: : : :

"क्रांतिकारियों का फाँसी पर चढ़ जाना इस बात का सबूत है कि खुदगर्जी उनको इस रास्ते पर नहीं लाई। उनमें देशप्रेम था। वे देश में सच्ची स्वतंत्रता कायम करना चाहते थे। उन्होंने जो कुछ भी किया, उसकी सारी जिम्मेदारी अंग्रेजी सल्तनत पर ही है।"

(३) राष्ट्रीय शिक्षा

"सन् १९०७ ई० में मालवीयजी राष्ट्रीयता और देशभक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अपने एक लेख में बतलाते हैं, "राष्ट्रीयता उस भाव का नाम है, जो कि देश के संपूर्ण निवासियों के हृदयों में देशहित की लालसा के साथ व्याप रहा हो, जिसके आगे अन्य भावों की श्रेणी नीची ही रहती है।" राष्ट्रीयता की चर्चा करते हुए उन्होंने पुनः लिखा है, "जिस देश में प्रगाढ़ देशभक्ति हो, क्या वहाँ पर मतभेद, वर्णभेद अथवा अन्य भेद फूट डाल सकता है? कदापि नहीं। प्रगाढ़ देशभक्ति से एकता उत्पन्न होती है, एकता से राष्ट्रीयता का भाव और राष्ट्रीयता के भाव से देश की उन्नति होती है।" विद्यार्थियों को राष्ट्रीयता की इसी भावना से मालवीयजी ओतप्रोत करना चाहते थे।

"राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था "राष्ट्रीयता के संबंध में मेरा अपना विचार है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाए, इसलिए कि यदि आवश्यकता पड़े, तो सारा देश आत्मबलिदान कर दे, ताकि इस भूतल पर मानव-जातियाँ जीवित रह सकें। यहाँ जातीय घृणा और संकीर्ण विचारों के लिए कोई स्थान नहीं। यही हमारी राष्ट्रीय शिक्षा है।" योगीराज अरविंद ने भी १९४७ के १५ अगस्त को देश को संदेश देते हुए कहा था "मेरा सदा से यह विचार रहा है कि भारत का उत्थान केवल अपनी सांसारिक स्वार्थसिद्धि के लिए या अन्य राष्ट्रों पर शासन करने के लिए नहीं,

वरन् इसलिए हो रहा है कि वह ईश्वर तथा विश्व के लिए जीवित रहे एवं मानव-मात्र को सहाय्य तथा नेतृत्व प्रदान करे।"

"भारतीय राष्ट्रीयता के इस आदर्श को अपने संमुख रख कर जब हमलोग विचार करते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा क्या है तथा वर्त्तमान भारत में इसका क्या स्थान है, तो हमें स्पष्टत: यह कहना पड़ता है कि जो शिक्षा-पद्धति देश के अंतर्भाग से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है तथा अपनी राष्ट्रीय परिस्थितियों, समस्याओं, आवश्यकताओं, आदर्शों तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के अनुरूप विकसित होती है, वही राष्ट्रीय शिक्षा है। ठीक इसी प्रकार की शिक्षा ब्रिटेन तथा अमेरिका में विकसित हुई है। विदेशी शिक्षा-पद्धति, जो हम लोगों के देश में अंग्रेज शासकों द्वारा प्रचलित की गई, राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कही जाएगी; क्योंकि इसका लक्ष्य तथा उद्देश्य समस्त राष्ट्र के उत्थान के निमित्त सुयोग्य, आदर्शवादी जिम्मेवार और अनुशासनवद्ध नागरिकों का निर्माण करना नहीं, प्रत्युत् अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए विशाल भारतीय जनसमूह के एक अंशमात्र को लिखने-पढ़ने भर की शिक्षा देकर अपने शासनसूत्र का आधार दृढ़ करना था। २ फरवरी, १८३५ ई० को वर्त्तमान अंग्रेजी शिक्षा के विधायक लार्ड मेकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की नई नीति के प्रारंभ के अवसर पर भारतीय और अरबी साहित्य को निरर्थक, निराधार, मूर्खतापूर्ण, असत्य और असंगत बनाते हुए बड़े विस्तार के साथ कहा कि "हम यह चाहते हैं कि भारतीय केवल रंग में ही भारतीय रहें, किंतु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि सभी बातों में वे पूर्णत: अंग्रेज बन जाएँ।"

अंग्रेज शासकों की विचारधारा की वास्तविकता को समझने के लिए ये पंक्तियाँ पर्याप्त हैं। भारत के स्वतंत्र नागरिक वर्त्तमान अवस्था में यह अच्छी तरह निर्णय कर सकते हैं कि परतंत्रता की हालत में स्वतंत्र निर्णय और उत्तम आदर्शों को अजस्र धारा को प्रवाहित करनेवाली ज्ञानवाहिनी शक्ति शिक्षा का लक्ष्य कितना दूषित एवं धूमिल पड़ जाता है और देशवासी आदर्श शिक्षा के अभाव में अपनी संस्कृति की रक्षा करने में किस तरह असमर्थ बन जाते हैं। संस्कृति और आत्मविश्वास के अभाव में ही हमलोग अपने मूल्यांकन के मानदंड को खो बैठे थे। फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका भयंकर दुष्परिणाम परिलक्षित हुआ। परंतु हमलोग उस समय पंगु थे, संज्ञाशून्य और असमर्थ थे। हमलोगों ने पश्चिमी देशों का अंधानुकरण किया, विशेषतया बाह्य व्यवहारों के क्षेत्र में। परंतु, वास्तविक शिक्षा के अभाव में हमलोग उनके मानस एवं हृदय के अनेक सद्गुणों को, जिनके कारण वे विजेता बने थे, महान कहलाए थे, ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ रह गए।

शिक्षा का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। जीवन की संपूर्णता और इसकी विविध समस्याएँ इसके विषय हैं। इसका प्रारंभ गर्भाधान से होता है और मृत्युपर्यंत इसकी प्रक्रिया चलती रहती है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज के साथ एक सूत्र में बँधता है, राष्ट्रहित की बात सोचता है। समाज को भूत से वर्त्तमान और वर्त्तमान से भविष्य की ओर ले जाने के लिए शिक्षा शृंखला का कार्य करती है।

स्वतंत्र राष्ट्र के समुन्नत नागरिकों के लिए शिक्षा का आदर्श ऐसा हो, जो उनमें उनकी समस्त अंतर्भूत शक्तियों का विकास करे, व्यक्ति की स्वतंत्र प्रतिभा का विकास हो, वह अपने शरीर, मन और आत्मा के विकास में संलग्न रह अपना सर्वांगीण विकास करने में समर्थ बन सके। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के अग्रदूत रूसो ने कहा है कि बालकों में जन्मजात स्वतंत्र मानवीय शक्तियाँ हैं और उनका विकास शिक्षा द्वारा हम लोगों को करना है। मानव की स्वाभाविक स्वार्थमूलक वृत्तियों के परिणामस्वरूप ही बालकों की स्वच्छंद चेतना कुंठित हो जाती है। जैसा कि वर्ड्स-वर्थ ने लिखा है, "शिशु एक ऐसा प्राणी है जो अमरत्व के महान सागर के किनारे खड़ा है, जैसे ही वह इससे दूर हटता जाता है, सांसारिक तृष्णाओं में अधिकाधिक लिप्त होता जाता है और ईश्वरीय स्मृतियों को क्रमशः भूलता जाता है।" प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री कॉमेनियस ने कहा है "मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है।" अतः, हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे मनुष्यमात्र के ये नैसर्गिक गुण अक्षुण्ण रहें तथा इनका निरंतर विकास हो। आदर्श शिक्षा-योजना से ही हमलोग इनको विकसित कर सकते हैं।

शिक्षा वह कुंजी है, जिसके द्वारा हमारी विचारधारा निर्मित होती है, उसका पुष्टिकरण और संवर्द्धन होता है। फ्रांस की राज्यक्रांति की मूलधारा क्या प्रकृतिवादी रूसो के निबंध नहीं थे? महात्मा गांधी ने अंग्रेजों की सामंतशाही मनोवृत्ति को पहचाना था, उन्होंने उनकी एकतंत्रात्मक भावना का अनुभव किया था। उन्होंने इसकी भी परख की थी कि अंग्रेज साम्राज्यवादी नीति के हित में अपना कोई अहित नहीं करेंगे। अतः, उन्होंने इस भीषण स्वार्थ के आमूल परिवर्तन के लिए अहिंसा-त्मक बुनियादी शिक्षा-प्रणाली की नींव डाली। सन् १९२१ ई० के असहयोग आंदोलन से ही भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का उदय हो गया था। महात्माजी ने अंग्रेजों द्वारा प्रचलित परंपरागत शिक्षा-प्रणाली का घोर विरोध किया। अध्यापकों और विद्यार्थियों ने भी इसमें सक्रिय सहयोग दिया। सन् १९३७ ई० में जब महात्माजी ने देखा कि देश स्वतंत्रता के द्वार पर खड़ा है, तो उन्होंने हमारे समक्ष शिक्षा की क्रांतिकारी योजना रखी। इसे हमलोग 'नई तालीम' के नाम से

पुकारते हैं। नई तालीम की नवीनता इस बात में है कि यह एक नूतन समाज का, जो वर्ग रहित हो तथा जो प्रेम, न्याय, सत्य और सहयोग के उच्च आदर्शों पर स्थित हो और जिसके सदस्य सामूहिक कल्याण की ओर अग्रसर हैं, निर्माण चाहती है। हमलोग स्वतंत्र राष्ट्र के आदर्श और जिम्मेवार नागरिक तब तक नहीं हो सकते, जब तक देश के अंदर विभिन्न जातियों और उपजातियों के नाम पर हम में मत-विभिन्नताएँ हैं। महात्माजी को इस सत्य की परख थी कि हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी हो, जो हमें उदात्त विचारों से पूर्ण कर स्वतंत्र चिंतन की उन्मुक्त शक्ति प्रदान करे, ताकि हममें एकता की भावना का उदय हो। राष्ट्र की उन्नति वस्तुतः आदर्श शिक्षा से ही संभव है। राष्ट्र के बालक वैसे ही बनेंगे, जैसी उनको शिक्षा मिलेगी। इसलिए तुर्की के भाग्यविधाता मुस्तफा कमाल पाशा ने शिक्षा में यथशीघ्र सुधार किया था। हिटलर की आज्ञा से जर्मनी के समस्त विद्यालयों में नई व्यवस्था के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी थी—"ऐ जर्मनवासियो, तुमलोग संसार और समस्त विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति के हो और संसार पर शासन करने के लिए पैदा हुए हो।"

स्पष्ट है कि जैसा हमारा लक्ष्य होगा, हमारी शिक्षा-पद्धति भी वैसी ही बनेगी। अतः, स्वतंत्र देश के बालकों के समक्ष एक लक्ष्य जो 'निस्संदेह विद्या का वास्तविक उद्देश्य हो' उपस्थित कर देना चाहिए, जिससे वे सर्वांगपूर्ण व्यक्तित्व से विभूषित नागरिक बन सकें और देश की जिम्मेवारियों का भार वहन कर सकें।

आधुनिक युग के कई भारतीय सुधारकों और विचारकों ने बच्चों की शिक्षा को आदर्श बनाने की कोशिश की और शिक्षा-पद्धति में पूर्ण रूप से भारतीयता लाने का यत्न किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का पुनः प्रचलन किया। स्वामी श्रद्धानंद ने सन् १९०२ ई० में गंगातट पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। भारत के प्राचीन आश्रमों और तपोवनों से प्रेरणा पाकर रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांति-निकेतन में अपने विद्यालय की स्थापना की, जो आज विश्वभारती के रूप में संस्कृति और शिक्षा के केंद्र हैं।

किसी देश के समाज, साहित्य, शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति और जीवन-दर्शन को समझने के लिए वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करना चाहिए। समाज अपने बच्चों को जैसी शिक्षा देता है, अपने विद्यालयों और शिक्षकों को जिस रूप में रखता है, उससे उसके दर्शन, आदर्श और महत्त्वाकांक्षा का पता लगता है और उसी रूप में उसके राष्ट्र का विकास होता है। उदाहरणस्वरूप रूस, ब्रिटेन और डेनमार्क

इन तीन यूरोपीय देशों को ले सकते हैं। इन तीनों देशों की शिक्षा-प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज और देश का आधार शिक्षा है। रूस में साम्यवादी समाज के अनुकूल शिक्षा दी जाती है। विद्यालयों और अध्यापकों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण है। बच्चों को प्रारंभ से ऐसी शिक्षा प्रदान की जाती है, जिससे उनकी निष्ठा साम्यवादी सिद्धांतों में दृढ़ हो और वे रूस की साम्यवादी समाज-व्यवस्था को स्थायी रखने में सहायक हो सकें। ब्रिटेन में प्रजातंत्रात्मक राज्य का विकास हुआ। वहाँ की शिक्षा में अधिक विविधता और स्वतंत्रता है। डेनमार्क एक खेतिहर देश है। ब्रिटेन और रूस का पड़ोसी होते हुए भी उसने पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्यवर्ती सहकारी समाज की रचना करने में सफलता प्राप्त की है। उसने संसार के लिए सामाजिक व्यवस्था का नया मार्ग प्रदर्शित किया है। इससे वहाँ की जनशिक्षा की अलग विशेषता है। इस प्रकार हम लोगों के समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा और समाज का अंतरसंबंध अत्यंत दृढ़ है।

(४) सच्चा धर्म

मालवीयजी देशभक्ति और राष्ट्रीयता को ही सच्चा धर्म मानते थे। इसीलिए वे विद्यार्थियों से आशा करते थे कि वे देशभक्ति और राष्ट्रीयता के महत्त्व को समझें एवं तदनुकूल आचरण करें। मालवीयजी के ही शब्दों में, "सच्चा धर्म देशभक्ति द्वारा प्राप्त होता है। देशभक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी, स्वार्थी और खुशामदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करेंगे, जिससे कि देशवासियों को हानि पहुँचे, बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताप्रिय आत्माओं की भाँति असंख्य कष्ट उठाते हुए वही रहेंगे, जिससे देश का भला हो। निर्धन धनवान, निर्बल बलवान और मूर्ख भी बुद्धिमान हो जाए, प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुःख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों से दूर हो कर लाखों बिलखती हुई आत्माओं को सुख पहुँचे। देशभक्ति द्वारा इतने धर्मों का संपादन होता हुआ देख कर भी यदि कोई धर्म के आगे देशभक्ति को कुछ नहीं समझता, तो उस पुरुष को जान लेना चाहिए कि वह धर्म के तत्त्व को नहीं पहचानता।"[1]

(५) नैतिक शिक्षा

नैतिकता मनुष्य की उन्नति का आधारस्तंभ है। नैतिक गुणों से हीन व्यक्ति पशुओं से निकृष्ट है। नैतिकता के अभाव में कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र, अवश्य

---

१. मालवीयजी के लेख, पृष्ठ १०२।

पतनोन्मुख हो जाएगा—इतिहास इस सत्य की घोषणा कर रहा है। नैतिकता हमारा एक व्यापक गुण है और किसी भी कीमत पर हमें इसे नहीं छोड़ना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए नैतिक शिक्षा का विधान, शिक्षा-संस्थाओं में अवश्य हो, अन्यथा प्रगति-पथ पर हम बहुत पीछे रह जाएँगे। ऐसा समय आ सकता है, जब हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। जर्मन शिक्षाशास्त्री हरबार्ट ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है, "शिक्षा के एकमात्र एवं संपूर्ण कार्य का सार नैतिकता में निहित है।" नैतिकता के महत्त्व को समझने के ही कारण जर्मन-राष्ट्र की इतनी बड़ी आशातीत उन्नति हुई है।

मालवीयजी नैतिक शिक्षा को बहुत प्रश्रय देते थे। विद्यार्थियों के लिए इसे उनका एक आवश्यक गुण मानते थे। उनका विचार था कि समाज के सभी व्यक्ति आचारवान एवं चरित्रवान हों। वे अपने कर्त्तव्य-पालन में सावधान रहें तथा धर्म की रक्षा करें। विद्योपार्जन और तपोमय जीवन को वे मनुष्य के लिए आवश्यक मानते थे। उनका विश्वास था कि जो व्यक्ति विद्या और तप से हीन होता है, वह कालांतर में दुराचारी हो जाता है।

(६) स्वास्थ्य-रक्षा

मुंडकोपनिषद् का वाक्य है—"शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्" अर्थात् धर्म की साधना के लिए पुष्ट, बलवान और स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। अस्वस्थ व्यक्ति अपने धर्म और अपनी मर्यादा की रक्षा करने में भी असमर्थ होता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। शरीर से दुर्बल व्यक्ति स्वस्थ बातों को सोच भी नहीं सकते। स्वामी विवेकानंद ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है, "शारीरिक दुर्बलता ही हमारे दुःखों के कम-से-कम एक तिहाई भाग का कारण है।" यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो प्रथम दस वर्ष तक बालकों को व्यायाम और खेल-कूद की शिक्षा विशेष रूप से देने के पक्ष में हैं; क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य को रोगी नहीं रहना चाहिए। प्लेटो चाहते थे कि आदर्श समाज के नागरिक स्वस्थ हों; अस्वस्थ होना वे लज्जाजनक समझते थे। रूसो बालकों को शारीरिक सुदृढ़ता प्रदान करना चाहते थे। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एमिल' में वे लिखते हैं, "दुर्बलता ही दुष्टता की जन्मदायिनी शक्ति है। बालक निर्बल होने के कारण ही अनैतिक होता है। उसे पुष्ट बनाओ और देखो कि वह बुराई छोड़ देता है।" व्यायाम और ऋतु-अनुकूल भोजन को हरबर्ट स्पेंसर बहुत महत्त्व देते थे। प्राचीन भारत में सुंदर, पुष्ट और बलवान शरीर तथा स्वस्थ स्वास्थ्य की शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया गया था। मालवीयजी ने भी विद्यार्थियों की स्वास्थ्य-रक्षा पर अधिक बल दिया है।

स्वास्थ्य-रक्षा-हितार्थ वे कसरत तथा व्यायाम आवश्यक मानते थे। वे स्वयं भी प्रातः भ्रमण, व्यायाम और तेल-मालिश किया करते थे। सन् १९०७ ई० में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने लिखा है, "अनुभव से मुझे मालूम हुआ है कि स्वास्थ्य की रक्षा और शक्ति के लिए पहला ध्यान छाती पर देना आवश्यक है। श्वांस के विषय में तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—(क) फेफड़ों को मजबूत करना, (ख) नाक द्वारा श्वांस लेना और (ग) साफ हवा।" प्राणायाम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "जिस समय आदमी चुपचाप बैठा रहता है, उस समय वह एक दिन में पाँच लाख घन इंच हवा काम में लाता है और जब वह कोई परिश्रम का काम करता है, तो पंद्रह लाख घन इंच हवा काम में लाता है। इससे मालूम हो सकता है कि श्वांस लेने के लिए कितनी जगह की आवश्यकता है।"

विश्वविद्यालय के शिलान्यास-दिवस पर प्रति वर्ष होने वाले समारोह में भारत के विभिन्न प्रांतों के छात्र अपनी-अपनी विशिष्ट वेशभूषा में खड़े होते और एक-एक छात्र आ कर मालवीयजी के चरणों को स्पर्श करता। मालवीयजी प्रत्येक छात्र से कम-से-कम एक प्रश्न अवश्य करते। इस प्रकार विद्यार्थियों के प्रति उनके स्नेह का परिचय पग-पग पर मिलता था। वे पिता की भाँति प्रत्येक छात्र के कमरे में जाकर उसके स्वास्थ्य का निरीक्षण करते। यदि कोई छात्र निर्बल हुआ, उसकी मांसपेशियाँ क्षीण और शिथिल दिखायी देतीं, तो न केवल उसकी परिस्थितियों के बारे में पूछ कर उसको पौष्टिक भोजन, सदाचरण एवं व्यायाम का उपदेश देते, वरन् यदि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न होती, तो उसकी सहायता की व्यवस्था करते और तत्काल वार्डन को बुला कर तदनुकूल निर्देश देते। छात्र-छात्राओं की सभा में वे कहते थे, "देखो, अपना ऐसा आचरण रखो कि माता की सफेद चादर में कोई धब्बा न लगे।" एक बार किसी छात्र ने छात्राओं के बीच एक फूल फेंक दिया। मालवीयजी ने तुरत कहा कि "यदि उस लड़के में साहस हो तो स्वयं सामने आ जाए, अन्यथा वह कायर है।" छात्र आया और उसने अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। कुलपति के सच्चे रूप का दर्शन हमें मालवीयजी में होता है।

(७) स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा के संबंध में भी मालवीयजी पूर्ण सचेष्ट रहे। सन् १९०७ ई० में 'स्त्री-शिक्षा' नामक एक लेख प्रकाशित कराते हुए उन्होंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि जब तक भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार और प्रसार नहीं होगा, तब तक

---

१. मालवीयजी के लेख, पृष्ठ ४६।

पिता, पुत्र और समस्त देवता है। अन्य कई देवियों को ऋग्वेद ऋषिका के रूप में प्रतिष्ठित करता है। सूर्य, शची, वाक् आदि भी ऋषिकाएँ थीं।

प्राचीन भारत में लौकिक क्षेत्र में पुरुषों की आश्रिता रहने पर भी इनकी वैयक्तिक मर्यादा, उनसे कम नहीं थी। यदि पुरुष गृहस्वामी था, तो वे गृहस्वामिनी थीं। ऋग्वेद में पत्नी के लिए 'पति' शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी धार्मिक यज्ञों में पति के साथ पत्नी का भाग लेना अनिवार्य था। पशुरक्षिणी तथा वीरप्रसविनी नारी का उस समय विशेष आदर था। परदा तथा अन्य सामाजिक प्रतिबंध स्त्रियों के विरुद्ध बहुत दिन पीछे तक प्रचलित नहीं हुए थे। यज्ञानुष्ठान तथा अन्य उत्सवों में वे खुल कर भाग लिया करती थीं। पारिवारिक आधार पैतृक था, फिर भी कन्याएँ समादृत थीं। लोग कमनीय कन्या के लिए 'उषा' की प्रार्थना करते थे। उनके लालन-पालन तथा उनकी शिक्षा में किसी की उपेक्षा नहीं होती थी। अनेक स्त्रियाँ उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मवादिनी तथा ऋषिका की संज्ञा प्राप्त करती थीं। वैदिक-साहित्य में कई ऋषिकाएँ देवी के रूप में प्रतिष्ठित थीं, जिनका उल्लेख मिलता है। महर्षि अत्रि के वंश में समुत्पन्न विचारा परम विदुषी थी। ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के द्वितीय अनुवाक् के अठाइसवें सूक्त की रचना उन्हीं के द्वारा हुई थी। अपाला भी अत्रिकुल में ही उत्पन्न हुई थी। ऋग्वेद के अष्टम् मंडल के ९१ वें सूक्त की एक से सात तक की ऋचाएँ उनके द्वारा ही संकलित हुई थीं। बृहस्पति की पुत्री होमशा भावभव्य की धर्मपत्नी थी। ऋग्वेद-संहिता के प्रथम मंडल की कुछ ऋचाएँ भी उनके द्वारा ही संकलित हुई थीं। शाश्वती आंगिरा ऋषि की कन्या थी तथा राजा आसंग की पत्नी। ऋग्वेद के अष्टमंडल के प्रथम सूक्त की चौंतीसवीं ऋचा का संकलन इनके द्वारा ही हुआ था। प्राचीनकाल में पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी ब्रह्मचारिणी रह कर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। यह भी कहा गया है कि विदुषी कन्याओं का विवाह विद्वान् वर से होना चाहिए। अन्य वेदों में भी स्त्रियों की शिक्षा तथा उनकी विद्वत्तापूर्ण व्यवहार की चर्चा आई है। यजुर्वेद के अनुसार, ब्रह्मचारिणी स्त्रियों का विवाह सुयोग्य तथा सुशिक्षित पुरुष से होना चाहिए। अथर्ववेद में कुमारियों के ब्रह्मचर्य जीवन और विद्याप्राप्ति का परिचय मिलता है, जिसके पश्चात् ही वे तरुण पति को प्राप्त करती थीं (अथर्ववेद ११-५-१८)। वैदिक आचार-सूत्रों में स्थान-स्थान पर यह विवरण आया है कि यह मंत्र स्त्री को कहना चाहिए। आश्वलायन योग सूत्र (१-११) में लिखा है—इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत (इस मंत्र को पत्नी पढे)। पत्नी के हाथ में वेद देकर उससे पढवाए)। सोमिलन में स्पष्ट कहा है कि स्त्री को अवश्य पढ़ना चाहिए; क्योंकि बिना अध्ययन किए वे अग्निहोत्र नहीं कर सकतीं। पातंजलिमहाभाष्य में 'अनुपसर्जनात् सूत्र' के

साथ दंडकारण्य में इतिहास और धर्मनीति पर विचार-विमर्श भी किया है। रामायण में शवरी का वर्णन है जो कि एक संन्यासिनी, भिक्षुणी के रूप में उच्चतम आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर रही थी। पंपापुर उसका आश्रम था तथा ऋषि मतंग उसके गुरु थे। महाभारत में अष्टावक्र का वृद्धा ब्रह्मचारिणी के साथ धार्मिक संवाद वर्णित है। शांडिल्य तथा ऋषि गार्ग्य की पुत्रियाँ भी ज्ञान की उपासना के निमित्त ब्रह्मचारिणी थीं। पांडवों की माता कुंती भी अथर्ववेद के मंत्र में पारंगत कही गई हैं। महाभारत के शांति पर्व में लिखा है कि राजा जनक को जब विराग हुआ, तब उनकी पत्नी ने उन्हें वेदशास्त्र के आधार पर गार्हस्थ्य धर्म की विशेषता समझायी थी। उसी पर्व में जनक के साथ संवाद करते हुए सुलभा ने योग, समाधि और मोक्ष पर अत्यंत विद्वतापूर्ण प्रवचन दिया है। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस युग में नारियों की अवस्था उन्नत थी तथा उन्हें उच्च कोटि की उदार शिक्षा दी जाती थी।

बौद्धयुग तक स्त्री-शिक्षा का महत्त्व अक्षुण्ण रहा। उनलोगों का बौद्धिक स्तर काफी ऊँचा था। 'ललितविस्तर' में लिखा है कि बुद्ध ने यह प्रण किया था, "मैं उसी कन्या से विवाह करूँगा, जो लेखन, काव्य और संगीत-कला में निपुण हो, सर्वगुणसंपन्न हो तथा शास्त्रज्ञ हो।" इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों में पढ़ने-लिखने की प्रथा पर्याप्त ऊँची अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी। बौद्धों की थेरी में विदुषी अध्यापिकाओं का वर्णन आता है, जिनमें धर्मदिन्ना; मैत्रेयी, किसा गौतमी, थेरी सोमा (बिंबसार की पुत्री), खेमा (बिंबसार की रानी), अनुपमा, नंदा एवं सुजाता आदि का उल्लेख किया गया है। ये महात्मा बुद्ध की शिष्याओं में "थेरी-शिष्याएँ" के नाम से प्रशंसित हैं। स्वयं बुद्ध ने सुयोग्य थेरियों का वर्णन किया है, जिनमें धम्मदिना प्रमुख थी। बुद्ध की विमाता महाप्रजापती ने ५०० शाक्य क्षत्राणियों के साथ संघ में प्रवेश किया। महाप्रजापती के भिक्खुनियों के दल का बौद्ध-जगत् में बड़ा सम्मान है। बौद्ध साहित्य में ऐसी भिक्खुनियों के विवरण भी उपलब्ध हैं, जो नवागता भिक्खुनियों की आचार्या थीं। आचार्य के उत्तरदायित्व के सम्यक् निर्वाह के लिए 'धम्म' का पूरा ज्ञान अपेक्षित था। अतः, ये आचार्याएँ अवश्य इतनी सुयोग्य होती होंगी कि संघ उन्हें अध्यापन का भार सौंपने में संकोच नहीं करता था। बौद्धकाल में संघ के बाहर गृहस्थ स्त्रियाँ भी धर्म के पालन तथा प्रसाद के प्रति पर्याप्त रुचि रखती थीं। 'धर्म' के प्रति कुछ महिलाओं का अनुराग इतिहासप्रसिद्ध है। विसाखा, अंबपाली एवं सुपिया आदि महिलाओं की धर्मपरायणता तथा दानशीलता का बौद्ध संघ आभारी था। इस तरह संघ के भीतर तथा बाहर दोनों ही क्षेत्रों

एक बालिका को शिक्षित करने का तात्पर्य है, पूरे परिवार को शिक्षित बनाना ।" अतः, आज भारत में स्त्री-शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है ।

परिवार, समाज और राष्ट्र के निर्माण में स्त्री-शिक्षा का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी आधुनिक भारत की अधिकांश स्त्रियाँ अशिक्षित हैं । मामूली पढ़ने-लिखने में भी वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं । शहरों में बालिकाओं को पढ़ाने की कुछ व्यवस्था हुई है, परंतु गाँवों की अवस्था आज भी अत्यंत शोचनीय है । देहातों में तो बालिकाओं को विद्यारंभ भी नहीं कराया जाता ।

स्त्री-शिक्षा की इस दुःखद स्थिति के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

१. आर्थिक समस्या,
२. अनुकूल पाठ्यक्रम का अभाव,
३. जनता में निरक्षरता,
४. विचारों की संकीर्णता,
५. पर्दा-प्रथा,
६. बाल-विवाह और
७. प्रशिक्षित अध्यापिकाओं एवं कन्या विद्यालयों का अभाव ।

उपर्युक्त कारणों पर एक-एक कर हमलोग अब विचार करें ।

१. आर्थिक समस्या

भारत एक गरीब देश है । यहाँ की आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है । यहाँ की जनता मुश्किल से अपना भोजन भी जुटा पाती है । ऐसी स्थिति में अभिभावक अपनी बच्चियों को शिक्षा देने में असमर्थ हो जाते हैं । इच्छा रहते हुए भी अपनी पुत्रियों को शिक्षित बनाने में वे लाचार होते हैं । गाँवों में चार-पाँच वर्ष की उम्र की बच्चियाँ भी घर के छोटे-छोटे कामों में सहायता पहुँचाना शुरू कर देती हैं । किशोर युवतियाँ तो मजदूरी करके माता-पिता की सहायता करती हैं तथा अपने परिवार का भी समूचा घरेलू कार्य सँभालती हैं ।

२. पाठ्यक्रम

विद्यालयों का वर्त्तमान पाठ्यक्रम स्त्रियों के लिए नीरस और अनुपयोगी है । लड़कियों का पाठ्यक्रम लड़कों से भिन्न होना चाहिए । व्यावहारिकता की ओर ध्यान देते हुए लड़कियों के पाठ्यक्रम में उन विषयों को संमिलित किया जाना चाहिए, जो उन्हें कुशल गृहिणी बना सकें ।

३. जनता में निरक्षरता

भारत की अधिकांश जनता निरक्षर है और शिक्षा के सांस्कृतिक महत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है। लोगों के दृष्टिकोण में स्त्री-शिक्षा कोई विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं। अपनी कन्याओं को शिक्षा देना अथवा शिक्षा देकर नौकरी कराना वे समय और अर्थ का तो नाश मानते ही हैं, एक वहुत वड़ा सामाजिक और धार्मिक पाप भी समझते हैं।

४. विचारों की संकीर्णता

स्त्री-शिक्षा की प्रगति में विचारों की संकीर्णता भी बहुत हानि पहुँचाती है। देश के अधिकांश परिवारों में, विशेष कर ग्रामों में स्त्रियों का घर से निकलना संमान की दृष्टि से बुरा माना जाता है। कई माता-पिता यह भी समझते हैं कि पढ़ने-लिखने से लड़कियाँ उच्छृंखल हो जाती हैं। अतः, उनको घर के अंदर ही रहना चाहिए।

५. पर्दा-प्रथा

पर्दा-प्रथा के कारण भी स्त्री-शिक्षा की प्रगति नहीं हो पाती। ऐसे परिवारों की कमी नहीं, जहाँ पर्दा-पथा के कारण गाँव के विद्यालयों तक में उनका जाना संमान और मर्यादा का उल्लंघन समझा जाता है।

६. वाल-विवाह

स्त्रियों की शिक्षा में, वाल-विवाह भी वहुत वड़ा अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वाल-विवाह के कारण लड़कियों की शादी बहुत कम उम्र में ही हो जाया करती है और तव वे गृहस्थी के झंझटों में इस प्रकार फँस जाती हैं कि पढ़ने-लिखने का विचार उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाता। देहातों में आज भी विवाहित लड़कियों को विद्यालय में भेजना सामाजिक प्रथा के विरुद्ध माना जाता है।

७. प्रशिक्षित अध्यापिकाओं और वालिका-विद्यालयों का अभाव

अभी अपने यहाँ प्रशिक्षित शिक्षिकाओं और वालिका-विद्यालयों की अत्यंत कमी है। बालिका-विद्यालयों के अभाव के कारण अधिकांश वालिकाओं को शिक्षा, उनके माता-पिता या अन्य अभिभावकों की प्रवल इच्छा के वावजूद अधूरी रह जाती है। शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था में अभी कमी है।

स्त्री-शिक्षा की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हमलोग उपर्युक्त कारणों को दूर करें। इनके निराकरण के कुछ उपाय निम्नांकित हैं—

१. देश में बालिकाओं की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था को विशेष ध्यानपूर्वक और जागरूकता के साथ लागू किया जाए ।

२. देहात के क्षेत्र में पर्याप्त बालिका-विद्यालयों की स्थापना हो और पुस्तक तथा पठन-पाठन सामग्रियों की मुफ्त व्यवस्था हो ।

३. इन बालिका-विद्यालयों में केवल स्त्री अध्यापिकाओं की ही नियुक्ति हो ।

४. महिलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए । इस लक्ष्य की पूर्ति तभी होगी, जब सब-डिविजनल स्तर पर 'महिला शिक्षिका-प्रशिक्षण विद्यालयों' की स्थापना होगी । १९३७ ई० में 'ऊड-एबट रिपोर्ट' में ऐसा मंतव्य प्रकाशित किया गया कि लड़कियों की शिक्षा और अध्यापिकाओं के प्रशिक्षण पर बल दिया जाए; क्योंकि तभी योग्य शिक्षिकाओं की प्राप्ति होगी । १९४४ ई० में "सार्जेंट रिपोर्ट" ने भी स्त्री-शिक्षा की वर्त्तमान अवस्था को दुःखद बतलाते हुए शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण को महत्त्वपूर्ण बतलाया है ।

५. प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की शिक्षिकाओं के वेतन-मान को विशेष आकर्षक बनाया जाए । देहातों के विद्यालयों में नियुक्त शिक्षिकाओं के वहाँ रहने की अच्छी व्यवस्था की जाए ।

६. विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम-निर्माण में लड़लियों की आवश्यकता और क्षमता को ध्यान में रखा जाए । स्त्रियों की शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और सामाजिक समस्याओं पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है । सन् १९२९ ई० में 'हर्टोंग रिपोर्ट' में बतलाया गया है कि छात्राओं का पाठ्यक्रम महिलोपयोगी हो । अध्यापिकाओं की नियुक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में हों तथा स्त्री-शिक्षा के निरीक्षण का भी उचित प्रबंध किया जाए । सन् १९४८ ई० में 'राधाकृष्णन् कमीशन' ने भी अपनी रिपोर्ट में कहा कि स्त्रियों के पाठ्यक्रम को उनके अनुकूल बनाया जाए ।

७. बालिकाओं के विद्याध्ययन को सुलभ एवं आकर्षक बनाने के लिए पर्याप्त छात्रवृत्तियों की व्यवस्था होनी चाहिए ।

८. लड़कियों के अंदर से 'हीनता' की भावना को हटाने के लिए बाल्यावस्था से ही उनके मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की जरूरत है । "वे लड़कों से किसी शक्ति में कम नहीं हैं"— "लड़कों के समान ही समस्त कार्यों को करने में वे सबल और सक्षम हैं"—'वे कमजोर इसीलिए हैं कि वे अपने को कमजोर और निर्बल समझ बैठी हैं" -जैसे विचारों और भावनाओं से आज बालिकाओं को अच्छी तरह हमें

अवगत कराना है। उन्हें इसकी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए। आज, महिला शिक्षिकाओं को, अपनी छात्राओं को इस विचार से अच्छी तरह अवगत करा देना है। विश्व के अनेक देशों में स्त्रियाँ अपने देश के हित में आवश्यकता पड़ने पर लड़ाइयों में भी जाती हैं तथा बहादुरी के साथ लड़ती हैं। समाज और राष्ट्रहित के लिए वे सब प्रकार पुरुषों के समान ही सहायता को तैयार रहती हैं। इसका मूल कारण है कि उन्हें उनकी बाल्यावस्था में ही इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि बड़ी होने पर भी उनमें ऐसी ही मनोवृत्ति और शक्ति बनी रहती है।

बालिकाओं के मस्तिष्क को उनकी बाल्यावस्था से ही प्रशिक्षित करने से लाभ यह होता है कि अगर उन्हें बालकों के विद्यालयों में अथवा महाविद्यालयों में पढ़ना भी पड़ेगा, तो वे अपने अंदर किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करेंगी। इसके अतिरिक्त आज की छात्राएँ ही तो कल माँ बनेंगी और सामाजिक कुरीतियों एवं सामाजिक संकीर्णताओं को दूर करने में उनका सक्रिय सहयोग होगा। अतः, आज आवश्यकता है कि बचपन में ही उनके मस्तिस्क को सबल और उच्च भावनाओं से अवगत कराया जाए।

९. स्त्री-शिक्षा के व्यापक प्रचार के लिए बालिकाओं के साथ-साथ प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को भी शिक्षित करने की व्यवस्था आवश्यक है। इससे उनके सामाजिक दृष्टि-कोण में परिवर्तन होगा। वे संकीर्णता की भावना का त्याग करेंगे और अपनी बच्चियों को पढ़ाने एवं शिक्षित करने की ओर प्रवृत्त होंगे। इस कार्य के लिए भी भारतीय समाज में पर्याप्त शिक्षिकाओं की नियुक्ति आवश्यक है। इन शिक्षिकाओं का काम कन्या विद्यालयों में पढ़ाना नहीं होगा, अपितु प्रौढ़ स्त्री-समाज को प्रशि-क्षित बनाना होगा।

१०. स्त्री-शिक्षा की वर्त्तमान स्थिति में पूरा-पूरा सुधार तब तक नहीं होगा, जब तक भारतीय समाज उसके लिए पूर्णतः उद्यत नहीं होगा। उसे अपने विचारों की संकीर्णताओं को त्यागना होगा। पर्दा-प्रथा और बाल-विवाह-जैसी प्रथाओं को बंद करना होगा। भारतीय समाज का इस ओर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है, उसे इसके लिए सचेष्ट होना चाहिए।

भारत की विशाल जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए स्त्री-शिक्षा अभी अपनी शैशवावस्था में ही कही जाएगी। यद्यपि नगरों में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ है, तथापि गाँवों की दशा बड़ी शोचनीय है। गणतंत्र भारत में स्त्री-शिक्षा की

दुःखद अवस्था को सुधारने तथा उन्हें पूर्णतः शिक्षित करने के लिए आज सामूहिक और सार्वजनिक प्रयास होना चाहिए। गणतंत्र की आधारशिला शिक्षित जनता पर ही अवस्थित होती है। अपने देश में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी मताधिकार प्राप्त है। ऐसी अवस्था में स्त्री-समाज को एकदम अशिक्षित छोड़ कर हमलोग कदापि आगे नहीं बढ़ सकते। स्त्री-समाज को सब प्रकार शिक्षित बनाना हमारा प्रमुख कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि आवश्यक धर्म भी है। प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति को समान रूप से देश की इस महान् आवश्यकता की पूर्ति में अपनी संकीर्णता, भेद-भाव तथा कट्टरपन को भूल कर, सहयोग देने की आवश्यकता है, इसी से भारत का नैतिक और सांस्कृतिक उत्थान होगा।

भारत में सह-शिक्षा का प्रश्न

आज भारत में सह-शिक्षा का प्रश्न विवादास्पद है। भारतीय समाज के कुछ लोगों का विचार है कि सह-शिक्षा अनिवार्य है, परंतु कुछ व्यक्ति इसका विरोध करते हैं।

सह-शिक्षा के विपक्ष में

१. सह-शिक्षा का विरोध करते हुए कहा जाता है कि सह-शिक्षा में लड़कियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। इसका कारण बतलाया जाता है कि लड़कों के विद्यालयों में बालकों की संख्या अधिक होने के कारण लड़कियाँ, विद्यालय के विभिन्न कार्यों में स्वच्छदतापूर्वक भाग लेने में असमर्थ हो जाती हैं, क्योंकि लड़के-लड़कियों के स्वभाव में जन्मजात अंतर होता है। ऐसी स्थिति में लड़कियों के अंदर हीनता की भावना प्रवेश कर जाती है।

२. भारत की सामाजिक परंपरा भी सह-शिक्षा का विरोध करती है। स्त्री-पुरुष का कार्य-स्थान सर्वथा भिन्न-भिन्न होता है, बालिकाओं को एक दिन आदर्श माँ बनना है, इसलिए उनको भावी पारिवारिक जीवन संभालने की ही शिक्षा दी जाए। गृहस्थ जीवन-यापन के निमित्त बालिकाओं को केवल उन्हीं विषयों की शिक्षा दी जाए, जिससे वे एक आदर्श पत्नी और आदर्श नारी बन सकें। इस लक्ष्य की पूर्ति होने से ही आदर्श भारतीय समाज और आदर्श भारतीय राष्ट्र की कल्पना साकार होगी।

३. सह-शिक्षा के विरोधियों का यह भी कहना है कि बालक-बालिकाओं के साथ-साथ पढ़ने, लिखने और रहने, सोचने-विचारने आदि से उनका नैतिक और

ारित्रिक पतन हो सकता है। बालक-बालिकाओं की बुद्धि अपरिपक्व होती है और मस्तिष्क असंतुलित होता है। वे जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनके असामाजिक और भावावेश में किए गए कार्यों के एक दिन क्या भयंकर दुष्परिणाम होंगे, इसे वे सोचने-विचारने में असमर्थ होते हैं। जीवन के इस 'सिली-एज' के किए कार्यों के फलस्वरूप बालक-बालिकाओं का परिवार कलंकित हो जाता है। इससे बचना चाहिए। अतः, सह-शिक्षा ठीक नहीं।

सह-शिक्षा के पक्ष में

१. सह-शिक्षा के समर्थकों का विचार है कि समाज में स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। अतः, एक साथ की शिक्षा उनके भावनात्मक जीवन को संतुलित रूप से विकसित करने में सहायक सिद्ध होती है। सह-शिक्षा के कारण युवक-युवतियों में पारस्परिक सद्भावना आती है।

२. बालक-बालिकाओं के एक साथ पढ़ने से बालक अधिक संयतपूर्ण जीवन एवं सौजन्यतापूर्ण व्यवहार करने की चेष्टा करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

३. जब युवक-युवतियों को अलग-अलग रखा जाएगा, तो उनमें एक दूसरे से मिलने की चाह अधिक बलवती होगी। अगर उनकी इस इच्छा का दमन किया जाएगा, तो इस दमन के कारण उनमें अनेकों भावना-ग्रंथियाँ और मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न होंगी।

४. जहाँ सह-शिक्षा के कारण नैतिक और चारित्रिक पतन की बात कही जाती है, वहाँ इसके उत्तर में बतलाया जाता है कि नैतिक और चारित्रिक पतन का उत्तरदायित्व समाज पर है। क्या विद्यालय के बाहर समाज में ही यह दोष अधिक देखने को नहीं मिलता है? समाज के तथाकथित महान् एवं प्रौढ़ व्यक्तियों में ही नैतिकता और चरित्रहीनता के भारी दोष पाए जाते हैं। सह-शिक्षा से तो किशोर-किशोरियों में एकत्व और अभिन्नता के पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं। वे ऊँचे स्तर से एक दूसरे के सन्निकट होते हैं। इसके लिए सह-शिक्षा दोषी नहीं।

५. सह-शिक्षा के समर्थकों का यह भी कहना है कि भारत एक गरीब देश है। यहाँ की आर्थिक अवस्था दयनीय है। ऐसी अवस्था में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग विद्यालयों की स्थापना में बहुत धन की आवश्यकता है। अध्यापक, विद्यालय-भवन, शिक्षिका-आवासगृह, शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण तथा विद्यालय के लिए अन्य सामग्रियों और साधनों की अलग व्यवस्था करने में पर्याप्त खर्च पड़ेगा। अतः, सह-शिक्षा की अनिवार्यता इस दृष्टि से भी उचित सिद्ध होती है।

सह-शिक्षा का प्रश्न द्वंद्वात्मक

भारत में सह-शिक्षा का प्रश्न द्वंद्वात्मक है; क्योंकि यहाँ कुछ व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हैं, तो कुछ परिवार रूढ़िवादी प्राचीन सभ्यता को अपनाने में ही अपना कल्याण समझता है। भारत में विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का समन्वय हो रहा है। इस स्थिति में, पक्ष और विपक्ष दोनों धारणाओं में आस्था रखने वाले व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक हैं।

प्राचीन भारतीय वैदिक और ब्राह्मणकालीन शिक्षा में सह-शिक्षा का सर्वथा अभाव था। प्राचीन गुरूकुल शिक्षा-प्रणाली में सह-शिक्षा का विरोध किया गया था। वहाँ पुरुष विद्यार्थियों को महिला विद्यार्थियों से सर्वथा अलग रहने का विधान था। लड़के और लड़कियों की तुलना क्रमशः आग और मक्खन से की गई है। आग और मक्खन क्रमशः दो विरोधी तत्त्व हैं। आग की गर्मी में मक्खन अपने रूप में स्थिर नहीं रह पाता है। पिछले पृष्ठों में बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में हमलोगों ने पढ़ा है कि महात्मा बुद्ध भी बौद्ध-विहारों में, स्त्रियों को रखने के पक्ष में पहले नहीं थे। बाद में अपने शिष्य भिक्षु आनंद के कहने पर अपनी बुआ गोमती को उन्होंने दीक्षित तो कर दिया, परंतु यह भी कह दिया कि अगर हमारा धर्म सहस्र वर्षों चलता, तो अब पाँच सौ वर्ष ही चलेगा। वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। भारत में बौद्ध धर्म के नाश के प्रमुख कारणों में स्त्रियों का संघों और विहारों में प्रवेश और बौद्ध भिक्षुओं का विलासमय जीवन अपनाना भी प्रमुख कारण है। स्वामी दयानंद ने सह-शिक्षा का विरोध किया है। उनके मतानुसार बालक-बालिकाओं के विद्यालयों की दूरी प्रायः छह मील होनी चाहिए।

महात्मा गांधी सह-शिक्षा के पूर्ण समर्थक थे। उनका विचार था कि स्त्री-पुरुष दोनों को जब एक दूसरे का सहयोगी बन कर जीवन की तैयारी एक साथ करनी है, तब बालक-बालिकाओं की शिक्षा का विधान अलग-अलग नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी बुनियादी तालीम में इस अलगाव का कोई विधान नहीं किया। इस संबंध में उनका कहना था कि जब शिक्षक-शिक्षिकाएँ उच्च चरित्र धारण कर पवित्र जीवन-यापन करेंगे, विद्यालयीय वातावरण को श्रेष्ठ बनाया जाएगा और युवक-युवतियों के समक्ष सर्वदा एक महान् लक्ष्य रखा जाएगा, तो नैतिक और चारित्रिक दोष उत्पन्न ही नहीं होगा। सह-शिक्षा के कारण अगर नैतिक और चारित्रिक दोष उत्पन्न भी होगा, तो ऐसी स्थिति में वह स्वतः दूर भी हो जाएगा। प्रकृतिवादी भी सह-शिक्षा के पक्षपाती हैं। बालक-बालिकाओं को अलग-

अलग रख कर शिक्षा की व्यवस्था करना वे अस्वाभाविक मानते हैं। उनका विश्वास है कि स्त्री-पुरुष का सहवास प्रकृति के नियमानुकूल है। इस स्वाभाविकता को जान-बूझ कर विद्यालयों में नष्ट करना अप्राकृतिक और हानिकर है।

किशोरावस्था में सह-शिक्षा को प्रश्रय नहीं देना ही श्रेष्ठ है। प्राथमिक विद्यालयों और विश्वविद्यालयीय शिक्षा में सह-शिक्षा का विधान किया जाए, परंतु माध्यमिक स्तर पर बालक-बालिकाओं को अलग-अलग रखा जाए। मुदालियर कमीशन रिपोर्ट के पृष्ठ ५६ पर इस आशय का विचार प्रकट किया गया है कि बालिकाओं के शारीरिक,सामाजिक और मानसिक दृष्टिकोण की उन्नति और विकास के लिए यही श्रेष्ठ होगा कि प्रत्येक प्रांत में जहाँ तक संभव हो, बालिका-विद्यालयों की स्थापना अलग की जाए। मिश्रित विद्यालयों की अपेक्षा लड़कियों को यहाँ विशेष सुविधा मिलेगी।

८. हिंदी के महान् उन्नायक

हिंदी भाषा के महान् उन्नायकों में मालवीयजी का नाम सर्वदा अमर रहेगा। सन् १६१८ ई० में भारतीय कांग्रेस के मंच पर हिंदी का सर्वप्रथम प्रयोग उनके ही द्वारा हुआ था। उन्होंने सभापति-पद से अपना भाषण हिंदी में किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्वर्णजयंती के अवसर पर भी उनका भाषण हिंदी में हुआ था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में भी उनका बहुत सक्रिय योगदान था। हिंदी साहित्य सम्मेलन की आयोजना की प्रेरणा भी उन्होंने ही दी थी। हिंदी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में ही हुआ था, जिसके अध्यक्ष थे, मालवीयजी।

शिक्षा का माध्यम : हिंदी

मालवीयजी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। उन्होंने मातृभाषा के रूप में हिंदी को स्वीकार किया था। राष्ट्रभाषा के रूप में भी हिंदी ही उन्हें मान्य थी। बड़े स्पष्ट शब्दों में महामना ने कहा है, "भविष्य में हिंदुस्तान की उन्नति हिंदी को अपनाने से ही हो सकती है।" मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों रूपों में हिंदी को स्वीकार कर उन्होंने हमलोगों का बहुत बड़ा हित और मार्ग-दर्शन किया है।

मातृभाषा और हिंदी

मातृभाषा बालक और किशोर विद्यार्थियों के दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा है। मातृभाषा अन्य सभी विषयों के ज्ञानोपार्जन का आधार होती

है। मातृभाषा सरलतम भाषा होती हैं, अतः इसके द्वारा पढ़ने में उनकी अभिरुचि जाग्रत होती है। मातृभाषा में सृजित साहित्य की ओर वालक और किशोर विशेष अभिमुख होते हैं; क्योंकि इसमें उन्हें स्वाभाविक आनंदोपलब्धि होती है। मार्टिन लूशर, रॉवेल, रिचार्ड मुलकास्टर, मांटेन, फ्रांसिस वेकन और लॉक-जैसे पाश्चात्य जगत् के यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों ने मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा को प्रश्रय दिया है। कॉमेनियस, पेस्टालॉजी और हरबार्ट आदि ने भी मातृभाषा को वालक की शिक्षा का आधार वतलाया है। स्वानुभववादी यथार्थवादियों ने मातृभाषा की शिक्षा पर विशेष वल दिया है। मुलकास्टर का विचार था कि वच्चों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही दी जानी चाहिए, यही मनोवैज्ञानिक पद्धति है। कॉमेनियस ने मातृभाषा के प्रचलन को विशेष आवश्यक वतलाया है। उनका विचार था कि वालक जब तक मातृभाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं प्राप्त कर लें, उन्हें कोई भी विदेशी भाषा नहीं पढ़ाई जाए। इस प्रसंग में वे वतलाते हैं—"किसी विदेशी भाषा का मातृभाषा के स्थान पर ज्ञान कराना मूर्खतापूर्ण है।" पुनः वे दूसरी जगह लिखते हैं—"मातृभाषा का शिक्षा के पूर्व विदेशी भाषा का ज्ञान कराना उतना ही विवेकरहित है, जितना वच्चे को चलने के पूर्व चढ़ना सिखाना।" महात्मा गांधी ने भी कहा है कि "शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जानी चाहिए; क्योंकि अंगरेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने से वालक में परिचित भाषा की दुरूहता के कारण विचारों की स्पष्टता नहीं होती। मातृभाषा को वच्चा जन्म से ही वातावरण से सीख लेता है। वह उस भाषा में अपने विचारों को स्पष्टतः व्यक्त कर सकता है।" हिंदी भाषा की उत्कृष्टता के संबंध में उन्होंने समय-समय पर 'हरिजन' और 'यंग इंडिया' आदि में जो अपने विचार प्रकट किए हैं, वे इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं :

MEDIUM OF INSTRUCTION

The Mother Tongue

"I am hoping that this University will see to it that you youths who come to it will receive their instructions through the medium of their vernaculars. Our language is the reflection of ourselves, and if you tell me that our languages are too poor to express the best thought, then I say that the sooner we are wiped out of existence the better for us. Is there a man who dreams

that English can ever become the national language of India ? (Cries of 'Never') Why this handicap on the nation ? Just consider for one moment what an unequal race our lads have to run with every English lad. I had the privilege of a close conversation with some Poona professors. They assured me that every Indian youth, language, lost at least six precious years of life. Multiply that by the number of students turned out by our schools and colleges and find out for yourselves how many thous and years have been lost to the nation. The charge against us is, that we have no initiative. How can we have any if we are to devote the precious years of our life to the mastery of a foreign tongue ? We fail in this attempt also . . . I have heard it is said that after all it is English educated India which is leading and which is doing everything for the nation. It would be monstrous if it were otherwise. The only education we receive is English education. Surely we must show something for it. But suppose that we had been receiving during the past fifty years education through our vernaculars, what should we have today ? We should have today a free India, we should have our educated men; not as if they were foreigners in their own land, but speaking to the heart of the nation, they would be working amongst the poorest of the poor, and whatever they would have gained during Banaras Hindu University.

The past fifty years would be a heritage for the nation (Applause). Today even our wives are not sharers in our best thought. Look at Professor Bose and

Professor Ray and their brilliant researches. It is not a shame that their researches are not the common property of the masses ?

The Foreign Medium

The foreign medium has caused brain fag, put an undue strain upon the nerves of our childreu, made them crammers and imitators, unfitted them for original work and thought, and disabled them for filtrating their learning to the family or thc masses. The foreign medium has made our children practically foreginers in their own land. It is the greatest tragedy of the existing system. The foreign medium has prevented the growth of our vernaculars. If I had the powers of a despot, I would today stop the tuition of our boys and girls through a foreign medium, and require all the teachers and professors on pain of dismissal to introduce the change forthwith. They would not wait for the preparation of the text-books. They will follow the change. It is an evil that needs a summary remedy.

But for the fact that the only higher education, the only education worth the name has been received by us through the English medium, there would be no need to prove such a self-evident proposition that the youth of a nation to remain a nation must receive all instructiou including the highest in its own vernacular or vernaculars. Surely, it is a self-demonstrated proposition that the youth of a nation cannot keep or establish a living contact with the masses unless their knowledge is received and assimileted through a medium understood by the people. Who can calculate the imme-

asureable loss sustained by the nation owing to thousands of its young men having been obliged to waste years in mastering a foreign language and its idiom of which in their daily life they have the least use and in learning which they had no neglect their own mother tongue and their own literature ? There never was a greater superstition than that a particular language can be incapable of expansion or expressing abstruse or scientific ideas. A language is an exact reflection of the character and growth of its speakers.

Among the many evils of foregin rule this blighting imposition of a foreign medium upon the youth of the country will be counted by history as one of the greatest. It has sapped the energy of the nation, it has shortened the lives of the pupils, it has estranged them from the masses, it has made education unnecessary expensive. If this process is still persisted in, it bids fair to rob the nation of its soul. The sooner therefore educated India shakes itself free from the hypnotic spell of the foreign medium, the better it would be for them and the people.

My Own Experience

Let me give a chapter from my own experience. Upto the age of 12 all the knowledge I gained was through Gujarati, my mother tongue. I knew then something of Arithmetic, History and Geography. Then I entered a High School. For the first three years the mother tongue was still the medium. But the school master's business was to drive English into the pupil's head. Therefore more than half of our time was given to learning English, and mastering its arbitrary spelling and pro-

nounciation. It was a painful discovery to have to learn a language that was not pronounced as it was written. I was a strange experience to have to learn the spelling by heart. But that is by the way, and irrelevant to my argument. However, for the first three years, it was comparatively pain sailling.

The pildory began with the fourth year. Everything had to be learnt through English—Geometry. Algebra, Chemistry, Astronomy, History, Geography. The tyranny of English was so great even Sanskrit or Persian had to be learnt through English, not through the mother tongue. If any body spoke in the class in Gujrati which he understood, he was punished. It did not matter to the teacher if a boy spoke bad English which he could neither pronounce correctly nor understand fully. Why should the teacher worry ? His own English was by no means without blemish. It would not be otherwise. English was as much a foreign language to him as to his pupils. The result was choas. We the boys had to learn many things by heart at all. My head used to reel as the teacher was struggling to make his exposition on Geometry understood by us. I could make neither head nor tail of Geometry till we reached the 13th theorem of the first book in Euclid. And let me confess to the reader that in spite of all my love for the mother tongue, I do not know the Gujrati equivalents of the technical terms of Geometry, Algebra and the like. I know now that I took four years to learn of Arithmetic, Algebra, Chemistry and Astronomy,. I would have learnt easily in one year, if I had not to learn them through English but Gujarati. My grasp of the subjects would have been easier and clearer. My

Gujarati vocabulary would have been richer. I would have made use of such knowledge in my own home. This English medium created an impassable barrier between me and the members of my family, who had not gone through English Schools. My father know nothing of what I was doing. I could not, even if I had wished it, interest my father in what I was learning. For though he had ample intelligence,he knew not a word of Euglish. I was fast becoming a stanger in my own home. I certainly became a superior person. Even my dress began to undergo imperceptible changes. What happened to me was not an uncommon experience. I was common to the majority.

The first three years in the High School made little addition to my stock of general knowledge. They were a preparation for fitting too boys for teaching them everything through English. High Schools were schools for cultural conquest by the English. The knowledge by the three hundred boys of my High School became a circumscribed possession. It was transmission to the masses.

A word about literature. We had to learn several books of English prose and English poetry. No doubt all this was nice. But that knowledge has been of no use to me in serving or bringing me in touch with the masses. I am unable to say that if I had not learnt what I did of English prose and poetry, I should have missed a rare treasur e. If I had, instead, passed those precious seven years in mastering Gujarati and have learnt Mathematics, Sciences, and Sanskrit and other subjects through Gujarati, I could easily have shared the knowledge

so gained with my neighbours. I would have enriched Gujarati, and can say that I would not have, with my habit of application and my inordinate love for the country and the mother tongue, made a richer and greater contribution to the service of the masses ?

I must not be understood to decry English or its noble literature. The columns of the 'Harijan' are sufficient evidence of my love of English. But the nobility of its literature cannot avail the Indian nation any more than the temperature climate or the scenery of English can avail her. India has to flourish in her own climate, and scenery, and her own literature even in her own climate, and scenery and her own literature, even though all the three way be inferiour to the English climate, scenery and literatue. We and our children must build on our own heritage. If we borrow another we impoverish own. We can never grow on foreign victuals. I want the nation to have the treasures contained in that language, and for that matter the other languages of the world, through its own vernaculars. I do not need to learn Bengali in order to know the beauties of Rabindranath's matchless productions. I get them through good translation. Gujarati boys and girls do not need to learn Russaian to appreciate Tolstoy's short stories. They learn them through good translations. It is the boast of Englishmen that the best of the worlds literature output is in the hands of that nation in simple English inside of a week of its publication. Why need I le rn English to get at the best of what Shakespeare and Milton thought and wrote ?

It would be good economy to set spart a class of

students whose business would be to learn that best of what is to be learnt in the different languages of the world and give the translation in the vernaculars. Our masyers chose the wrong way for us, and habit has made the wrong appear as right.

I find daily proof of the increasing and containing wrong being done to the millons by our false de-Irdianizing education. These graduates who are my valued associates themselves flounder when they have to give expression to their innermost thoughts. They are strangers in their own homes. Their vocabulary in the mother tongue is so limited that they can not always finish their speech without having recource to English words and even sentences. Nor can they exist without English books. They often write to one another in Englist. I cite the case of my companions to show how deep the evil has gone. For we have made a conscious efforts to mend ourselves.

It has been argued that the wastage that occurs in our colleges need not worry us if, out of the collegians, one Jagdish Bose can be produced by them. I should freely subscribe to the arguments, if the wastage was unavoidable. I hope I have shown that it was and is even now avoidable. Moreover, the creation of a Bose does not help the argument. For Bose was not a product of the present education. He rose inspite of the terrible handicaps under which he had to labour. And his knowledge became almost instransmissble to 'the masses. We seem to have come to think that no one can hope to be like a Bose unless he knows English. I connot conceive a

grosser superstition than this. No Japanese feels so helpless as we seem to do.

The medium of instruction should be altered at once and at any cost the provincial languages being given their rightful place. I would prefer temporary chaos in higher education to the criminal waste that is daily accumulating.

In order to enhance the status and the market value of the provincial languages. I would have the languages of the law courts to be the language of the province where the court is situated. The proceedings of the provincial legislators must be in the language, or even the languages of the province where a province has more than one language within its borders. I suggest to the lagislators that they could, by enough application, inside of a month, understand the languages of their provinces. There is nothing to prevent a Tamilian from easily learning the simple grammar and a few hundred words of Telgu, Malayalam and Kanarese all allied to Tamil. At the centre Hindustani must rule supreme.

In my opinion it is not a question to be decided by academicians. They cannot decide through what language the boys and girls of a place are to be educated. That question is already decided for them in every free country. Nor can they decide the subject to be taught. That depends upon the wants of the country to which they belong. There is a privilege of enforcing the nation's will in the [illegible] manner possible. When this country problems really fre[illegible] the question of medium will be settled only one way. The academicians will frame the syllabus and

prepare text-books accordingly. And the products of the education of a free India will answer the requirements of the conntry as today they answer those of the foreign ruler. So long as we the educated classes play with this question, I very much fear we shall not produce the free and healthy India of our dream. We have to grow by strenous effort out of our bondage, whether it is Educational, Economical, Social or Political. The effort is threefourth of the battle.

Need for Quick Action

If the medium is changed at once and not gradually in an incredibly short time we shall find text-books and teachers coming into being to supply the want. And if we mean business, in a year's time we shall find that we need never have been party to the tragic waste of the nation's time and energy in trying to learn the essentials of culture through a foreign medium. The condition of success is undoubtedly that provincial languages are introduced at once in Government offices and courts, if the Provincial Governments have the power or the influence over the courts. If we believe in the necessity of the reform, we can achieve it in no time.

Technical education through the mother tongue

Gandhiji depreciated the suggestion that it would need a lot of research and preparation to enable them to impart technical education through the medium of the mother tongue. Those who argued like that, were unaware of the rich treasure of expressions and idioms that were buried in the dialects of our villages. In Gandhiji's opinion

there was no need to go to Sanskrit or Persian in search for many expressions. He had been in Champaran and he had found that the village folk there, could fully express themselves with ease and without the help of a single foreign expression or idiom. As an illustration of their resourcefulness, he mentioned the word have gadi which they had coined to denote a motor car.

Mother tongue fundamental

I must clig to my mother tongue as to my mother's breast, in spite of its shortcomings. It alone can give me the life-giving milk.

HINDI : The national language for India

It behaves us to devote attention to a consideration of a national language, as we have done to that of the medium of instruction. If English is to become a national language, it ought to be treated as a compulsory subject. Can English become the national language? Some learned patriots contend that even to raise the question betrays ignorance. In their opinion, English already occupies that place. His Excellency the Viceroy in his recent utterance has merely expressed a hope that English will occupy that place. His enthusiasm does not take him as far as that of the former. His Excellency believes that English will day after day command a larger place, will permeate the family circule, and at last rise to the status of a national language. A superficial consideration will support the Viceregal contention. The condition of our educated classes gives one the impression that all our activities would come to a standstill if we stop the use of English. And yet deeper thought will show that English can never and

ought not to become the national language of India. What is the test of national language ?

(1) For the official class it should be easy to learn.

(2) The religious, commercial and political activity throughout India should be possible in that language.

(3) It should be the speech of the majority of the inhavitants of its knowledge is a necessity. We are not jealous of English. All that is contended for is, that it ought not be allowed to go beyond its proper compel our Malaviyas, our Shastrias and our Banerjees to learn it. And we shall feel assured that they will advertise the greatness of Indian in other parts of the world. But English cannot become the national language of India. To give it that place is like an attempt to introduce Esperanto. In my opinion, it is unmanly even to think that English can become our national language. The attempt to introduce *Esperanto merely betrays ignorance. Then which is the* language that satisfied all the five conditions ? We shall be obliged to admit that Hindi satisfied all those conditions.

I call that language Hindi which Hindus and Mohammedans in the North speak and write, either in the Devanagari or the Urdu character. Exception has been taken to this definition. It seems to be argued that Hindi and Urdu are different languages. This is not a valid argument. In the Northern parts of India, Mussalamans and Hindus speak the same language. The literate classes have created a division. The learned Hindus have Sanskritized Hindi. The Mussalmans, therfore, cannot understand it. The Mosalems of Lucknow have Persianised their speech and made it unitelligible to the Hindus. These represent two

excesses of same language. They find no common place in the speech of the masses. I have lived in the North. I have freely mixed with Hindus and Mohammedans and although I have but a poor knowledge of Hindi, I have never found any difficulty in holding communicn with the, call the language of the North what you will, Urdu or Hindi, it is the same. If you write in the Urdu character, you may know it as Urdu. Write the same thing in the Nagari character and it is Hindi.

There, therefore, remains a difference about the script. For the time being Mohammedan children will certainly write in the Urdu character, and Hindu will mostly write in the Devanagri. I say mostly, because thousands of Hindus use the Urdu character, and some do not even know the Nagari character. But when Hindus and Mohammedans come to regard one another without suspicion, when the causes begetting supicion are removed, that script which has greater vitality will be more universally used, and there fore, become the national script. Meanwhile those Hindus and Mohammedans who desire to write their petition in the Urdu character, should be free to do so and should have the right to having them accepted at the seat of the National Government.

There is no another language capable of competing with Hindi in satisfying the five conditions. Bengali comes next to Hindi. But the Bengalis themselves make use of Hindi outside Bengal. No one wonders to see a Hindi speaking man making use of Hindi, no matter where he goes. Hindu preachers and Mohammedans Moulvis deliver their religious discourses throughout India in Hindi and

Urdu and even the illiterate masses follow them. Even the unlettered Gujarati going to the North, attempts to use a few Hindi words whereas a gate-keeper from the North declines to speak in Gujarati even to his employer. Who had on that account to speak to him in broken Hindi. I have heared Hindi spoken even in the Dravid country. It is not true to say that in Madras one can go on with English. Even there I have employed Hindi with effect. In the trains I have heard Madras passangers undoubtedly use Hindi. It is worthy of note that Mohammedans throughout India speak Urdu and they are to be found to be the national language. We have made use of it as such in times gone by. The use of Urdu itself is due to that fact. The Mohammedans kings were unable to make Persian or Arabic the national language. They accepted the Hindi Grammar, but employed the Urdu character and Persian words in their speeches. They could not, however, carry on their intercourse with the masses through a foreign tongue. All this is not unknown to the English. Those who know anything of the sepoys, know that for them military terms had to be prepared in Hindi or Urdu.

Thus, we see that Hindi alone can become the national language. It presents some difficulty in the case of the learned classes in Madras. For men from the Deccan, Gujrat, Sind and Bengal it is easy enough. In a few months they can acquire sufficient command over Hindi to enable them to carry on national intercourse in that tongue. It is not so for the Tamils. The Dravidiam languages are distinct from their Sanskrit sister in structure and grammar. The only thing common to the two groups is their Sanskrit vocabulary to an extent. But the difficulty is confined to the learned

class alone. We have a right to appeal to their patriotic spirit and expect them to put forth sufficient effort in order to learn Hindi. For in future when Hindi has received State recognition, it will be introduced as a compulsory language in Madras as in other Provinces and intercourse between Madras and them will then incresse. English has not permated the Draviden masses. Hindi, however, will take no time.

The need for Hindustani

I have ventured to advise every student to devote this year of our trial to the manufacture of yarn and learning Hindustani. I am thankful to the Calcutta students that they have taken kindly to the suggestion. Bengal and Madras are the two Provinces that are cut off from the rest of India for want of a knowledge of Hindustani or their part. Bengal, because of its prejudice against learning any other language of India, and Madras, because of the difficulty of the Dravidians about picking up Hindustani. An average Bengali can really learn Hindustani in two months if he gives three hours per day and a Dravidian in six months at the same rate. Neither a Bengali nor a Dravidian can hope to achieve the same result with English in the same time. A knowledge of English opens up intercourse only with the comparatively few English knowing Indians, whereas a possible knowledge of Hindustani enable us to hold intercourse with the largest number of our countrymen. I do hope the Bengalis and Dravidians will come to the next Congress with a workable knowledge of Hindustani. Our greatest assembly cannot be a real object-lesson to the masses unless it speaks

them in a language which the largest number can understand. I appreciate the difficulty with the Dravidians, but nothing is difficult before their industrious love for the montherland.

The need of Hindustani

You and I, and every one of us has neglected the true education that we should have received in our national school. It is impossible for the young men of Bengal, for the young men of Gujrat, for the young men of the Deccan to go to the Central Provinces, to go to the United Provinces, to go to the Punjab and all those vast tracts of India which speak nothing but Hindustani and therefore I ask you to learn Hindustani also in your leisure hours. Do not consider for one moment that you can possibly make English a common medium of expression between the masses. Twenty-two crores of Indians know Hindustani....they do not know any other language. And if you want to steal into their hearts, Hindustani is the only language open to you.

Young India, 2. 2-'21

The richness of the Hindi Language

You talk of the poverty of Hindi literature, you talk of the poverty of today's Hindi, but if you dive dee; into the pages of Tulsidas, probably you will share my opinion that there is no other book that stands equal to it in the literature of the world in modern language. That one book has given me faith and hope which no other book has given. I think that it is a book which can stand any criticism and any scrutiny, alike in literary grace, in metaphor and in religious fervour.

Young India, 9-2'21

Hindustani and mother tongue

A fear had been expressed, observed Gandhiji, that the propagation of Rashtrabhasha or the national tongue would prove inimical to the provincial languages. That fear was rooted in ignorance. Provincial tongues provided the sure foundation on which the edifice of the national tongue should rest. The two were intended to complement, not supplenent each other.

Harijan, 18-8'46

हिंदी के प्रश्न पर आज समस्त देश में विवाद उठ खड़ा हुआ है। हिंदी भारत के कुछ प्रदेशों की मातृभाषा है और संपूर्ण देश की राष्ट्रभाषा। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों का अपना-अपना महत्त्व होता है। ऐसी परिस्थिति में हिंदी को एक विवाद का रूप नहीं दे कर, मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों दृष्टियों से इसे महत्व-पूर्ण स्वीकार करते हुए भारतवासियों को इसे हृदय से अपनाने की जरूरत है। यह तभी होगा, जब हम सक्रिय हो कर हिंदी की महत्ता को समझेंगे, पढ़ेंगे और इस भाषा में साहित्य-सृजन करेंगे।

राष्ट्रभाषा और हिंदी

किसी देश की सभ्यता और संस्कृति का मापदंड है, उसके साहित्य की उत्कृष्टता। यूनान के स्वर्णयुग में ही सुकरात, प्लेटो और अरस्तू उत्पन्न हुए थे। गुप्त युग के स्वर्णिम दिनों में ही कालिदास, बाणभट्ट आदि उत्पन्न हुए थे। आज भारत एक राष्ट्र है। हम हिंदीभाषियों के समक्ष हिंदी के उत्थान के लिए बड़ा उत्तर-दायित्व आ गया है। भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए हिंदी की शिक्षा वांछनीय है। अपनी राष्ट्रभाषा की उन्नति के बिना कोई भी देश उन्नति नहीं कर सकता। राष्ट्रभाषा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक के व्यक्ति को एक सूत्र में बाँधने के लिए अटूट और अद्वितीय माध्यम है। अपनी भाषा में सँजोया और संचित किया हुआ ज्ञान बालक-बालिकारूपी भावी नागरिकों के लिए ज्यादा सरल और सहज तो होता ही है, अमर भी होता है। विदेशी भाषा सीखने में ज्यादा शक्ति और मानसिक बल देना पड़ता है, फिर भी हमारे नागरिक उसको पूर्णतः हृदयंगम कर गए हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते। भूतपूर्व केंद्रीय शिक्षा-मंत्री (श्री के० एल० श्रीमाली) ने इस सबंध में बतलाया है -- "लोकतंत्रात्मक संस्कृति के विकास के लिए लोगों में सामा-

जिक संपर्क स्थापित होना अत्यंत आवश्यक है। विभिन्न भाषाभाषी लोग अब एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। अतः, आपसी व्यवहार के लिए एक ऐसी भाषा अवश्य होनी चाहिए, जिसे सभी लोग समझ सकें। इस दृष्टि से हम निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत के सभी बच्चों को हिंदी पढ़ायी जानी चाहिए। इससे राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होगी।" वर्त्तमान समय में वस्तुतः हमारा यह उद्देश्य होना चाहिए कि अपने विचारों के आदान-प्रदान, अपनी भावनाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने तथा राष्ट्र-भाषा में उच्चतम साहित्य-सृजन करने के लिए अपनी राष्ट्रभाषा को सबल और व्यापक बनावें। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया है कि सीनियर बेसिक अथवा मिड्ल स्कूल-स्तर के प्रत्येक उस विद्यार्थी के लिए जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं हो, उसे हिंदी की शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य होना चाहिए।[1]

भारत के जिन प्रदेशों में हिंदी मातृभाषा नहीं है, वहाँ राष्ट्रभाषा के रूप में इसका अध्ययन-अध्यापन होगा। भारत की प्रादेशिक भाषाएँ चौदह हैं -- असमी, बंगाली, गुजराती, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलगु, सिंधी, उर्दू तथा हिंदी। इस प्रकार हिंदी का स्थान इसमें एक है। परंतु, भारतीय संविधान के अनुसार यह समस्त भारत की राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है। भारतीय गणराज्य के प्रशासन-कार्य में यह भाषा केंद्रीय सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों के बीच संचारण में प्रयुक्त होगी। राष्ट्रभाषा के नाते हिंदी-शिक्षण की महत्ता निम्नलिखित है :—

१. प्रशासनिक महत्ता

अपनी व्यापकता के गुण के कारण ही नहीं, अपितु प्रशासनिक महत्ता के कारण भी हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ। गणतंत्र भारत विश्व के समक्ष आज एक महान् जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में उपस्थित हुआ है। जनतंत्र की आधार-

1. As regards the study of Hindi it is fact that in view of its becoming the official language of centre and some states, every pupil at the secondary stage should be given an opportunity of acquiring a basic knowledge of the language and it be left to him to develop it according to his needs. From this point of view it is stressed that Hindi should be taught during the middle school or the senior basic school. S. E. C. R. Page 76.

शिला तभी सुदृढ और सबल बनी रहेगी, जब देश का प्रशासन व्यवस्थित होगा। व्यवस्थित प्रशासन के लिए आवश्यक है, एक ऐसी भाषा, जिससे देश के सभी प्रांतों के सरकारी कार्यों के सुसंपादन में लिखित और मौखिक विचार-विनिमय संभव हो। अगस्त, सन् १९४७ ई० के पहले इस कार्य को संपन्न करने के लिए राजभाषा अंगरेजी का प्रयोग किया जाता था। अंगरेजी के स्थान पर हिंदी ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिससे देश का शासन-सूत्र व्यवस्थित रह सकेगा।

आज हिंदी राजकीय प्रशासन का माध्यम बनती जा रही है। अतः, सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए हिंदी का ज्ञान नितांत आवश्यक है। अंगरेजी का स्थान ग्रहण करने वाली हिंदी भाषा का भी उतना ही प्रसार होना चाहिए, जितना अंगरेजी भाषा का हुआ था। इस प्रसंग में राजर्षि पुरुषोत्तमदस टंडन के ये शब्द सर्वथा उल्लेखनीय हैं, -- "हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा मैं इसलिए नहीं मानता कि इसे व्यक्ति बोलते और समझते हैं। इसलिए नहीं कि भारतीय संस्कृति इसमें अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही है, इसलिए भी नहीं कि यह प्रगतिशील और वैज्ञानिक है। मैं इसे राष्ट्रभाषा इसलिए मानता हूँ कि इसमें हमारी दासता की प्रतीक अंग्रेजी को निकालने की शक्ति है।"

२. राजनीतिक महत्ता

अपनी राजनीतिक महत्ता के कारण भी हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा बनी। राष्ट्रभाषा प्रायः वही भाषा होती है, जो राजनीतिक क्षेत्र की भाषा हो। हिंदी भारत के राजनीतिक क्षेत्र उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा की मातृभाषा है। भारत का राजनीतिक केंद्र, दिल्ली, तो हिंदी का उत्पत्ति-स्थान ही है। भारतभूमि के करोड़ों व्यक्तियों को एकसूत्र में बाँधने वाली हिंदी भाषा के बिना भारत की राजनीतिक और सामाजिक एकता स्थिर नहीं रह सकती। भाषा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, धर्म, जाति और व्यवसाय आदि की विविधता होने पर भी भारत के प्रत्येक खंड को एक दूसरे के साथ मिलाने और एकीकरण के लिए अंग्रेजी ने जो कार्य किया, उसी कार्य के संपादन की क्षमता से हिंदी भी विभूषित है। अतः, प्रत्येक भारतवासी के लिए जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं भी है, उन्हें इसका व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है। अहिंदीभाषी प्रदेश से बाहर जाने पर हिंदी से ही वहाँ के निवासियों के दैनिक जीवन का काम होगा, अपनी मातृभाषा से नहीं। बंगाली, गुजराती, मद्रासी, केरलनिवासी, पंजाबी, कश्मीरी आदि विभिन्न प्रदेशों के निवासी हिंदी के द्वारा ही एक दूसरे से पारस्परिक प्रेम रख सकते हैं तथा विचार-विनिमय और

भावों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। भारत के सुप्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्रों में हिंदी भाषा का ही व्यवहार किया गया है। बद्रीनाथ, हरद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, वृंदावन, मथुरा, प्रयाग, काशी, अयोध्या, चित्रकूट, देवघर, पुरी आदि स्थानों में हिंदी का ही प्रयोग होता है। भारत के किसी कोने के धार्मिक स्थान पर कोई जाए, हिंदी भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय द्वारा वह अपने दैनिक व्यवहार के समस्त कार्यों को पूरा कर लेगा। भले ही वहाँ शिष्ट, परिनिष्ठित टकसाली हिंदी का प्रयोग नहीं होता हो, तथापि हिंदी भाषा के बोलने और समझने वाले व्यक्ति प्रायः मिलेंगे। अपने देश की भाषाओं की विविधता, प्रांतीयता और सांप्रदायिकता की सीमाओं को तोड़ने के लिए एक सामान्य भाषा की अपेक्षा थी। इस कार्य को हिंदी ने पूरा किया है। २५ सितंबर, १९६६ ई० को अर्नाकुलम में अपने भाषण-क्रम में भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था --" हिंदी ही हमारे संपर्क की भाषा बने।" उन्होंने इस क्रम में बतलाया कि देश की एकता को सुदृढ बनाने के लिए एक सामान्य संपर्क भाषा आवश्यक है, जिसे हिंदी ही पूरा कर सकेगी। अतः, हिंदी को ही सामान्य संपर्क भाषा होना चाहिए। सामान्य संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की महत्ता स्वीकार करते हुए उन्होंने ऐसा सुझाव दिया था कि हिंदी को सुलभ तथा सबों के समझने योग्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रांतीय भाषाओं के शब्दों को हम ले लें। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हिंदी ही हमारा प्रतिनिधित्व कर सकेगी।

३. सांस्कृतिक महत्ता

एक-जैसे संस्कारों के मूर्त रूप को ही 'संस्कृति' कहते हैं, जिसकी व्यंजना विचार, वेष, भाषा, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदि से होती है। काव्य, कला, दर्शन, धर्म, नीतिशास्त्र, सौंदर्यानुभूति, आनंदोल्लास आदि का संबंध संस्कृति से है। संस्कृति में एक शाश्वत् और चिरंतन सत्य प्रकाशित होता है। वाल्मीकि रामायण, भगवद्गीता, रामचरितमानस, धम्मपद, बौधनिकाय, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र और महामानव भीष्म का निर्मल चरित्र शाश्वत् और चिरंतन सत्य प्रकाशित करते हुए भारतीय संस्कृति के अनुपम उदाहरण हैं, जो उस समय तक हमारा मार्ग-दर्शन करते रहेंगे, जब तक एक भी भारतीय जीवित रहेगा। परंतु, इन अमूल्य निधियों के दर्शन हमें हिंदी साहित्य में ही उपलब्ध हो सकेंगे जो संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के माध्यम से सुरक्षित चली आ रही हैं।

हिंदी हमारी सांस्कृतिक भाषा है। यह हमारी संस्कृति और सभ्यता की रक्षिका है। इसका साहित्य अत्यंत प्राचीन और उच्च कोटि का है; जिसमें भारत

की संस्कृति निहित है। सांस्कृतिक भाषा संस्कृत से उत्पन्न होने के कारण हिंदी साहित्य भारतीय संस्कृति का दर्पण है। हमारा दर्शन, आदर्श, विचारधाराएँ, मान्यताएँ, भावनाएँ, रीति-रिवाज-संक्षेप में भारतीय संस्कृति का सब कुछ हिंदी साहित्य में प्रतिबिंबित है। अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यदि हम संस्कृत साहित्य का अध्ययन नहीं भी करें, तो हिंदी साहित्य का अध्ययन नितांत आवश्यक है। हिंदी साहित्य की उत्कृष्टता तो इस बात से ही सिद्ध होती है कि इसके बहुत से ग्रंथों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और यह विश्व की समृद्धतम् भाषाओं में से एक है।

४. भाषाविषयक महत्ता

मातृभाषा के अतिरिक्त हिंदी भाषा का ज्ञान रखने वालों को अंतर्निहित भाषा-शक्तियों के विकास में वृद्धि होती है। अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा के ज्ञान से भाषा सीखने की शक्ति में, भाषा के रूप और संघटन को समझने में, भाषा के शुद्ध व्यवहार में, बोलने और लिखने के अभ्यास में सहायता मिलती है। किसी सीमा तक एक भाषा के प्रशिक्षण का स्थानांतरण दूसरी भाषा में हो जाता है। दूसरी भाषा के ज्ञान से अपनी भाषा में भी स्थिरता और दृढ़ता आ जाती है। भाषाओं के आदान-प्रदान से भाव-प्रकाशन की नई प्रणालियों का ज्ञान होता है। अपनी मातृभाषा के प्रयोग में राष्ट्रभाषा हिंदी भाषा से बहुत कुछ सीखा जा सकता है—नया वाक्य-विन्यास, नई शब्दावली, नए मुहावरे, नई सूक्तियाँ, नई शैलियाँ, काव्य के नए रूप और भाव आदि की शिक्षा ग्रहण की जा सकती है।

हिंदी और भारत की अन्य मान्यता प्राप्त भाषाओं में बड़ा साम्य है; क्योंकि दक्षिण भारत की कुछ भाषाओं को छोड़ कर सभी भाषाएँ वैदिक संस्कृत भाषा की वंशज हैं। उन्हें 'आर्य-भाषा परिवार' कहा जाता है। उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाएँ इसके अंतर्गत ही आ जाती हैं। पंजाबी, मराठी, बंगला, गुजराती, उड़िया, असमी और कश्मीरी भाषा में संस्कृत के तत्सम् शब्द मिलते हैं। काल-विचार, कारक एवं वाक्य-रचना की दृष्टि से भी ये भाषाएँ लगभग समान हैं। कुछ भाषाओं की लिपि भी देवनागरी है। अतः, इन भाषाभाषियों के लिए हिंदी समझना अपेक्षाकृत सरल होता है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिंदी का ध्वनि-तत्त्व बहुत वैज्ञानिक है। इसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपने में पचाने की शक्ति है।

५. साहित्यिक महत्ता

मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदी का अध्ययन हिंदी साहित्य के ज्ञान के लिए आवश्यक है। मातृभाषा के साहित्य के अध्ययन से जो आनंद प्राप्त होता है,

वह सीमित होता है। दूसरी भाषा के साहित्य के अध्ययन से आनंद का क्षेत्र बढ़ जाता है। दूसरी भाषा के साहित्य के अनुवाद के बदले मूल पढ़ने का सुअवसर प्राप्त होता है, जिससे हमारा साहित्यिक ज्ञान तो उत्कृष्ट होता ही है, उस भाषा की विभिन्न रचना-शैलियों से हम परिचित होते हैं तथा हमारी पारिभाषिक शब्दावली बढ़ती है। अपनी मातृभाषा में साहित्य-निर्माण करते समय इस अनुभव का हम पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। व्यक्ति जब विभिन्न भाषाओं को पढ़ता है, तो उसे भिन्न-भिन्न प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के अध्ययन का अवसर प्राप्त होता है और इस प्रकार उसके ज्ञान एवं अनुभव की जानकारी की श्रीवृद्धि होती है। मानसिक और नैतिक विकास के उत्तरोत्तर विकास से उसके व्यक्तित्व में निखार आता है। किसी भी भाषा का उत्तम साहित्य उस देश की भाषा, संस्कृति और सभ्यता का द्योतक है। किसी समाज, देश अथवा राष्ट्र की सभ्यता उसके साहित्य से आँकी जाती है। भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल—'गुप्तकाल' में साहित्य ने जो प्रगति की, वह सर्वविदित है। कालिदास की रचनाएँ इसी काल की देन हैं। आदिकाल में भारत जगत का गुरु था। इसका प्रमाण वैदिक साहित्य, उपनिषद् और स्मृतियाँ हैं। किसी समाज का साहित्य तत्कालीन भाव, विचार और महत्त्वाकांक्षाओं से अछूता नहीं रह सकता, उस पर जमाने की छाप अवश्य पड़ती है। अतः, किसी कालविशेष के साहित्य से उस काल-विशेष की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति का बोध होना स्वाभाविक ही है। साहित्य के लिए चाहिए 'भाषा'। यह भाषा जितनी अधिक सशक्त और प्रभावशालिनी होगी, साहित्य भी उतना ही अधिक सुंदर होगा। भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी हिंदी का अपना विशेष महत्त्व है।

६. व्यावसायिक महत्त्व

देश के हिंदी और अहिंदी प्रांतों के दो व्यावसायियों के बीच व्यापारिक कार्य संपन्न करने का माध्यम बनने की क्षमता हिंदी भाषा में ही है। राष्ट्रभाषा होने के कारण हिंदी कितने नए व्यवसायों को पल्लवित होने का अवसर प्रदान करती है। हिंदी भाषा में संपादन, पत्रकारिता, अनुवाद, अनुसंधान, अध्यापन, आशु-लिपि आदि कितने ही नए व्यवसायों का दिन-प्रतिदिन प्रसार हो रहा है। भारत के प्रायः सभी औद्योगिक क्षेत्रों में हिंदी का प्रयोग होता है। भारत के पाँच बड़े प्रदेश बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हरियाणा तो मुख्यतः हिंदी भाषाभाषी ही हैं। पंजाब के लगभग साठ प्रतिशत व्यक्ति हिंदी का प्रयोग करते हैं। दिल्ली क्षेत्र में तो टकसाली हिंदी की बहुत प्रगति हुई है। भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारिक केंद्रों एवं प्रमुख नगरों में हिंदी का ही प्रयोग होता है।

चलचित्र-निर्माण-कार्य सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रारंभ हुआ। लगभग पचास वर्षों से फिल्म-उद्योग देश में कार्य कर रहा है। आज भी चलचित्रों का निर्माण अधिकांशतः हिंदी में ही होता है। बंबई, मद्रास और कलकत्ता के फिल्म-उद्योग केंद्रों ने हिंदी के माध्यम से देश को बहुत लाभ पहुँचाया है। समाचारपत्र (दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक) अधिकांशतः हिंदी में ही प्रकाशित होते हैं। ६ सितंबर, १९६६ ई० को संसद की मेज पर तत्कालीन केंद्रीय सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री राजबहादुर ने भारतीय समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा दी गई वार्षिक रिपोर्ट रखी और बतलाया कि देश में १९६५ ई० में भाषाओं के कुल सात हजार नौ सौ छह समाचारपत्र प्रकाशित हो रहे थे, जिनमें सबसे अधिक पत्र हिंदी में प्रकाशित हैं।

वस्तुतः राष्ट्रभाषा का अध्ययन इस उद्देश्य से किया जाता है कि संपूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता की वृद्धि हो, राष्ट्रीय भावनाओं को ओज और बल प्राप्त हो, अप्रादेशिक भेदभाव दूर हों तथा केंद्रीय और प्रादेशिक व्यवहार में सहायता मिले। हिंदी के साथ यही सिद्धांत पूर्णतः लागू है। हिंदी अब किसी एक प्रांत अथवा वर्ग की ही भाषा नहीं, अपितु समस्त भारत की राष्ट्रभाषा है। यह भारतीय जीवन का सच्चा प्रतिबिंब है। विरोधी तत्त्वों से युक्त भारत को एक सूत्र में बाँधने, विभिन्न प्रांतों में अन्य प्रांतों की बातें पहुँचाने एवं अंतर्प्रांतीय व्यापारिक संबंध दृढ़ करने के लिए हिंदी का शिक्षण अत्यंत आवश्यक है।

उन प्रदेशों में हिंदी भाषा-शिक्षण का उद्देश्य भिन्न होगा, जहाँ इसे केवल राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया गया है। अहिंदीभाषी प्रांतों की अपनी मातृभाषा है। बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा वे अपनी मातृभाषा में प्रारंभ करेंगे। इन अहिंदी प्रदेशों में हिंदी-शिक्षण इतर भाषा या दूसरी भाषा अथवा कहें कि राष्ट्रभाषा के रूप में होगा।

उपसंहार

महामना मालवीयजी अत्यंत परिष्कृत व्यक्तित्व युक्त महान् युग पुरुष थे। इनका दिव्य जीवन भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों का स्मरण कराता है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय, जहाँ आज भी उनकी आत्मा विराजमान है, भारत के प्राचीन गुरुकुलों का चित्र प्रस्तुत करता है। एक ऐसे गरीब माता-पिता की संतान होकर जिन्हें, इनका कॉलेज फी (College fee) देने के लिए कभी अपने सोने का कंगन गिरवी रखना पड़ा था, इन्होंने भारत को एक ऐसा अक्षय भांडार दिया है, जहाँ से निरंतर धन खर्च होते रहने पर भी, उसकी कभी समाप्ति नहीं होगी। काशी

हिंदू विश्वविद्यालय हमारा एक अनमोल रत्न है। भारत का गौरव, यह एक ऐसा प्रकाश-पुंज है, जिसकी आभा जगत को निरंतर आलोकित करती रहेगी। जब तक भारत है, तब तक उसकी सभ्यता और संस्कृति का यह जाज्वल्यमान नक्षत्र, काशी जैसी पवित्र नगरी में चमकता रहेगा।

महात्मा गांधी ने मालवीयजी और उनके काशी विश्वविद्यालय के प्रति लिखा है :—

"मैं तो मालवीयजी महाराज का पुजारी हूँ। पुजारी कैसे स्तुति के वचन लिख सके? जो कुछ लिखेगा, उसे अपूर्ण-सा प्रतीत होगा। मालवीयजी के दर्शन मैंने सन् १८९० ई० के साल में चित्र द्वारा किए थे, वह चित्र विलायत में 'इंडिया' पत्र जो मि० डिगवी निकालते थे, में था। माना जाए कि वही छवि मैं आज भी देख रहा हूँ। जैसे उनके लिवास में, ऐसे ही उनके विचार में ऐक्य चला आया है और इस ऐक्य में मैंने माधुर्य और भक्ति पाए हैं। आज मालवीयजी के साथ देशभक्ति में कौन मुकाबला कर सकता है? यौवनकाल में आरंभ करके आज तक उनकी देशभक्ति का प्रवाह अविच्छिन्न चलता आया है। काशी विश्वविद्यालय के मालवीयजी प्राण हैं। काशी विश्वविद्यालय मालवीयजी का प्राण है, यह तसवीर हमारे लिए दीर्घायु हो।"

देशरत्न डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने मालवीयजी के प्रति लिखा है :—

"१९२२ का जमाना था। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, जवाहरलाल जी इत्यादि सभी नेता जेल में थे। केवल मालवीयजी और मैं बाहर थे। आसाम से वहाँ के भीषण सरकारी दमन की खबर आई। कांग्रेस का नाम मात्र लेने से मकानों को जला देना, इत्यादि चल रहा था।

"मैंने मालवीयजी को सूचना दी। उन्होंने तुरंत आसाम चलने की सलाह दी और हम दोनों आसाम पहुँच गए। वहाँ गाँवों में पहुँचना आसान काम नहीं था। भयवश न कोई आदमी पास आता था, न भाड़े की गाड़ी मिलती थी। काँग्रेस के स्वयंसेवक जहाँ-तहाँ मिल जाते थे। जैसे स्थानों में हम गए तो लोगों में जान आई, जागृति आई और लोग जागे। मालवीयजी ने वहाँ जाकर अफीम-विरोधी आंदोलन चला दिया। उन दिनों आसाम में अफीम की बहुत खपत थी। गांधीजी का एक कार्यक्रम नशाबंदी था ही। मालवीयजी के अफीम बाईकाट आंदोलन का फल यह हुआ कि कम-से-कम थोड़े दिनों के लिए दुकानों से अफीम बिकनी बंद हो गई और सरकार को काफी घाटा उठाना पड़ा। इस तरह के और भी मौके आए। जब-जब

कांग्रेस दिक्कत में पड़ी, मालवीयजी आगे आए। पुराने लोगों के बीच मालवीयजी एक प्रकार के पुल का काम किया करते थे। उनकी अनेक बातों में कांग्रेस के साथ उनका मतभेद होता था, पर उन्होंने उसे कभी छोड़ा नहीं। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि कांग्रेस से हमारा मतभेद है, इसलिए अब हम इसके साथ नहीं चल सकते। वह अपना तरीका अख्तियार करते रहे, अपने तरीकों से चलते रहे, मगर कांग्रेस को उन्होंने कभी कमजोर नहीं पड़ने दिया और न कमजोर होने देना चाहते थे। यह एक ऐसी चीज थी कि जिसकी वजह से कांग्रेस के लोग, चाहे उसके साथ कितना भी मतभेद क्यों न रखते हों, मगर उनकी इज्जत किए बिना, उनके प्रति श्रद्धा रखे बिना, उनके प्रति प्रेम रखे बिना नहीं रह सकते थे। और इसका श्रेय मालवीयजी को था कि वह श्रद्धा और प्रेम दोनों ही लोगों से लिया करते थे, अपने तरीके से, अपने काम से।"

मालवीयजी के प्रति, पुरुषोत्तमदास टंडन के उद्‌गार इन शब्दों में प्रकट होते हैं :—

"लखनऊ में प्रांतीय राजनैतिक कांफ्रेंस का अधिवेशन हुआ था। मालवीयजी उसके सभापति थे। उनकी बगल में ही दो मुसलमान सज्जन मंच पर बैठे हुए थे। पूज्य मालवीयजी ने मंच पर बैठे-ही-बैठे पीने के लिए पानी माँगा। मैं यह सब देख रहा था और मुझे बड़ा कुतूहल था कि मालवीयजी पानी कैसे पियेंगे। पानी आया और मालवीयजी ने मंच पर बैठे-ही-बैठे पानी पिया। बाद में मुझसे न रहा गया और मैं पूछ ही बैठा, उनसे ऐसा करने का कारण। उन्होंने मुझसे उत्तर में कहा था :

"देश के कल्याण के लिए मैं सब कुछ कर सकता हूँ। इस समय मुसलमानों को अपने में मिलाने की बड़ी आवश्यकता है।"

"उनके काम का ढंग था—अपने को पीछे रखना। यह तो मैंने जीवन-भर देखा कि जहाँ काम करना है, परिश्रम करना है, वहाँ स्वयं करना और जहाँ कीर्ति मिलती है, वहाँ दूसरे को आगे करना।

"बड़ों का लिहाज-अदब इतना अधिक कि जो उनके बराबर थे, लेकिन साल-दो-साल भी बड़े थे, उनको अपने से बहुत बड़ा करके मानते थे। मालवीयजी महाराज राजनीति में सभी से पहले आए थे, परंतु पं० मोतीलाल नेहरू, पं० सुंदरलाल के प्रति, मैंने देखा, वे अदब का बर्ताव करते थे। जैसे कोई छोटा अपने बड़ों के सामने जाता है, वैसे ही वह इनके संमुख जाते थे। यह उनकी नम्रता रही।

"मालवीयजी कोरे धर्म की बातें करने वाले नहीं थे। वह तो उनके हृदय में था ही। वे भक्त थे। वैष्णव, सच्चे वैष्णव थे। भागवत उनकी बड़ी प्यारी पोथी थी। परंतु, उनके हृदय में राष्ट्र की चिंता थी। अपने युवक क्या बनेंगे, यह वे देखा करते थे। वे सोचा करते, हमारे युवक भविष्य में कैसे बनेंगे। 'हिंदू' शब्द तो उनके मुँह में आदर का था। किंतु, कभी-कभी आपस में कड़वेपन में कह देते थे, "अच्छा, यह नहीं करोगे? जाओ, एक दरिद्र हिंदू की तरह से तुम काम करो।" यह उनके लिए गाली हो जाती थी।

"आज हिंदुओं की जो मानसिक प्रवृत्ति है, उससे वे चिढ़ते थे। बहुत लोग देख नहीं सकते थे, मैं अंदर से देखता था। उन्हें वैसी ही चिढ़ थी दलितपन की प्रवृत्ति से, आलसपन से, और जो पीछे की चीजें हैं, उनको पकड़े रहने की प्रवृत्ति से भी। 'खाली गाथा नहीं, काम करो, काम करो'— यह उनका मंत्र था।

"वे जान रहे थे कि भविष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता मेकेनिकल इंजीनियरिंग की है। रुड़की कॉलेज था, जो सिविल इंजीनियर बना रहा था। उन्हें मेकेनिकल इंजीनियरिंग की बहुत चिंता थी, जिसका देश-भर में कहीं ठिकाना न था। उस समय उन्होंने एक अंग्रेज, एक बहुत अच्छे अंग्रेज प्रिंसपल किंग को, जो ऋषि-तुल्य था, चुना और उसके सुपुर्द किया। यह उनकी कल्पना थी।

"उनकी तबीयत ऐसी थी कि राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय विचारों को धक्का लग रहा हो, तो वे उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

"कष्ट सहने का माद्दा भी उनमें कैसा था। गंगातट पर माघ का मेला था। पानी बरसने वाला था। कड़ाके की सर्दी थी, रात में मुझे बुलवाया। बोले, "चलो। यह तो बड़ा कष्ट होगा लोगों को। नंगे बदन लोग आग तापते हैं।" गए। लकड़ी की टाल पर पहुँचे, हुकुम हुआ, "लकड़ी भेजो, लकड़ी भेजो।" अब ले कौन चले? मालवीयजी ने स्वयं उठायी, कंधे पर रखीं, तो फिर कौन रुक सकता था? हम सबों ने लकड़ी उठायी, बाद में बहुत से लोग इकट्ठे हो गए और लकड़ी लेकर साधुओं के यहाँ, गरीबों के यहाँ, जिनके पास सहारा नहीं था, उनको पहुँचाने और बाँटने लगे। यह उनकी करुणा थी। करुणा तो उनके नित्य के जीवन में देखी जाती थी। किसी को कोई भी कष्ट हो, तो उनको कष्ट होने लगता था।

"हमारे सामने उनका जीवन है। वे श्वेत वस्त्र पहना करते थे। श्वेत ही उनका वस्त्र था और श्वेत ही उनका चरित्र भी। उस प्रकार के चरित्रवान् लोग राजनीति में कम हुआ करते हैं। जब कि वकालत में भी बड़ी गंदगी छायी हुई है,

मैंने देखा, वे वकालत भी अपने को सँभाल कर करते थे। मालवीयजी महाराज ने जिस पवित्रता से वकालत की, वैसी ही पवित्रता से उनका जीवन बराबर बीता। वे रुपए के लोभी नहीं थे। रुपया मालवीयजी के लिए बहुत अर्थ नहीं रखता था और किसी तरह वे अपना काम चला लेते थे।

"प्रातःस्मरणीय मालवीयजी महाराज काम स्वयं करते थे, पर नाम दूसरों का आगे रखते थे। यश की उन्हें चाह नहीं थी। अदालती कामों के लिए हिंदी को स्वीकार कराने के संबंध में सारा पत्र-व्यवहार वही करते थे, पर उस पर नाम रहता था अयोध्यानरेश ददुआ साहब का। हिंदू विश्वविद्यालय की सारी योजना उनकी थी, पर आगे रखते थे वे दरभंगानरेश को। 'नेकी कर, पानी में डाल' यह उनके जीवन का आदर्श था।

"एक बार जब वाइसराय की कार्यकारिणी समिति में भारतीयों के लिए जाने की बहुत खबर थी, मैंने उनसे कहा कि सरकार शायद आपको भी निमंत्रित करे। उन्होंने उत्तर दिया -- इस विदेशी सरकार को तो बात ही क्या, स्वराज्य सरकार में भी आइ शॅल बी पीपिंग फॉर माइ पीपुल -- मैं अपनी जनता के लिए ही आवाज उठाता रहूँगा।"

तो ऐसे थे मालवीयजी !

अपनी समस्त शक्ति, विद्या, प्रतिभा और आत्मबल को राष्ट्र के लिए न्यौछावर कर उन्होंने ११ नवंबर, सन् १९४६ ई० को परलोक की यात्रा की।



स्वामी विवेकानंद

भारत की अमर विभूति विश्वविख्यात संन्यासी स्वामी विवेकानंद का आविर्भाव १२ जनवरी, १८६३ ई० को मकर संक्रांति के दिन हुआ था। इनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्ते के एक प्रसिद्ध वकील थे। जब आप बी० ए० के छात्र थे, तभी इन पर रामकृष्ण परमहंस की कृपा हुई। रामकृष्ण ने पहचान लिया कि यह युवक सामान्य लोगों-जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए नहीं है। इसे तो संसार में रह कर ज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में असाधारण कार्य करने हैं।

नरेंद्र (बाद में इनका नाम स्वामी विवेकानंद पड़ा) पहले तो रामकृष्ण की विचारधारा का विरोध करते थे, पर कुछ ही दिनों बाद ये उनके परमभक्त बन गए। रामकृष्ण ने अपना सारा ज्ञान और तेज उनके हृदय में डाल दिया। फलतः नरेंद्र स्वामी विवेकानंद हो गए और अपने ज्ञान-सागर में देश-विदेश के लोगों को नहलाने लगे। अपने अल्पकालीन जीवन में मानव-कल्याणार्थ स्वामीजी ने जिस अध्यात्मवाद तथा भारतीय दर्शन के मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और प्राणिमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया, वह संसार के इतिहास में सर्वदा स्तुत्य और स्मरणीय है।

शिक्षा द्वारा ज्ञान-वास का प्रस्फुटीकरण

स्वामी विवेकानंद ने किसी शिक्षाशास्त्र की रचना नहीं की है, तथापि इस तेजस्वी महात्मा ने अखंड ब्रह्मचर्य की कठोर साधना के फलस्वरूप जनकल्याण के हितार्थ जिस अमर संदेश का प्रतिपादन किया, उसमें शिक्षा-जैसा विषय स्वतः

समाविष्ट है। स्वामीजी मनुष्य मात्र को आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर और सशक्त बनाना चाहते थे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने सर्वदा दृढ़तापूर्वक इस तथ्य पर बल दिया कि हमें धर्म की वास्तविक मर्यादा स्थापित करनेवाली तथा सर्वां. विकसित चरित्र के नागरिक निर्माण करने में समर्थ शिक्षा की आवश्यकता है। उनका विश्वास था कि मनुष्य में ज्ञान का वास है। ज्ञान मनुष्य में स्वभावसिद्ध है। बाहर से कोई ज्ञान नहीं आता। चाहे लौकिक ज्ञान हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य अपनी शक्तियों के प्रयोग से उसकी उद्‌भावना करता है या उसका अनुभव करके उसको प्रकाश में लाता है। यह मनुष्य की पूर्णतः पैतृक संपत्ति है और शिक्षा उसको प्रकाशित करने का कार्य करती है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता है', वास्तव में मानसशास्त्र की संगत भाषा में हमें यह कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता है, अनावृत्त अथवा प्रकट करता है।' अतः, हमारी शिक्षा ऐसी हो, जो इस लक्ष्य की पूर्ति में हमें समर्थ करे। शिक्षा से आत्मविश्वास आता है और आत्मविश्वास से अंतर्निहित ब्रह्मभाव जाग उठता है।

मन की एकाग्रता

स्वामीजी के मतानुसार वास्तविक शिक्षा की उपलब्धि में मन की एकाग्रता परम आवश्यक है। एकाग्र चित्त व्यक्ति को ही ज्ञान की महान् शक्ति प्राप्त होती है। कार्य की सफलता ही नहीं, वरन् संपूर्ण जीवन की सफलता एकाग्रता की सीमा पर आधारित है। विद्यार्थी जितने एकाग्र चित्त होंगे, उनकी विद्या-ग्रहण करने की शक्ति भी उतनी ही अधिक और स्थायी होगी। कला, विज्ञान, शिल्प, संगीत आदि में बहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर लेना इसी एकाग्रता का फल है। अन्य राष्ट्रों ने जो ज्ञानसंपदा दी, वह उनको एकाग्रता के फलस्वरूप ही संभव हुई। एकाग्रता के ही परिणामस्वरूप उन्हें कला और साहित्य आदि में पूर्णता प्राप्त हुई। हिंदुओं ने अंतर्जगत पर, आत्मा के अदृष्ट प्रदेश पर अपने चित्त को एकाग्र किया और इस प्रकार योगशास्त्र की उन्नति की। संसार की समस्त ईश्वरीय विभूतियाँ अपना रहस्य खोलने और स्पष्ट करने को प्रस्तुत हो जाएँ, अगर हम एकाग्रता की शक्ति का वास्तविक रूप में प्रयोग करें। स्वामीजी एकाग्रता की महिमा का वर्णन इन शब्दों मे करते हैं "मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ, ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि एक बार मुझे फिर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा। मैं तो एकाग्रता को तथा मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को बढ़ाऊँगा और तब साधन अथवा मंत्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।"

ब्रह्मचर्य की साधना

स्वामीजी का कहना था कि मन अथवा चित्त की एकाग्रता की शक्ति के समुचित विकास के लिए ब्रह्मचर्य की साधना अत्यंत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की तेजोमय आभा के समक्ष संसार की शक्तियाँ कमजोर और फीकी पड़ जाती हैं। ब्रह्मचर्य-साधना के फलस्वरूप ही हनुमान पर्वत को भी उठा कर आकाश-मार्ग के विचरण में समर्थ हुए, लक्ष्मण मेघनाथ का वध कर सके तथा यह ब्रह्मचर्य की महिमा का ही फल है कि भीष्मपितामह ने मृत्यु को भी अपने वश में किया। अतः, प्रत्येक वालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य के अभ्यास की शिक्षा देनी चाहिए, तभी उनमें श्रद्धा एवं विश्वास की उत्पत्ति होगी और वे शिक्षा के वास्तविक रहस्य एवं उद्देश्य को समझ सकने में समर्थ तथा ग्रहण कर सकने में सक्षम होंगे। साथ ही, वे अपनी ही उन्नति नहीं, अपने समाज और राष्ट्र की ही उन्नति नहीं, अपितु समस्त संसार की उन्नति में योगदान करेंगे।

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली में विश्वास

स्वामी विवेकानंद प्राचीन भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को प्रश्रय देते थे। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली जिसमें ज्ञान-जैसी पवित्र वस्तु को मूल्य लेकर वेचा जाता है, उन्हें अमान्य थी। उनके विचानुरासार शिक्षा का अर्थ है--'गुरुगृह निवास।' शिष्य को वाल्यावस्था से ही ऐसे गुरु के साथ रहना चाहिए, जिसका चरित्र प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति हो, जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के समक्ष वना रहे। शिक्षकों को भी मुक्तहस्त होकर विद्यादान तथा ज्ञानदान करना चाहिए। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में शिक्षकगण विद्यार्थियों को उनसे शुल्क लिए विना ही अपने पास रखते थे। कई गुरुकुल आश्रमों में अन्न और वस्त्र की भी व्यवस्था थी।

शिक्षकों के प्रति

स्वामीजी ने शिक्षक के आवश्यक गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि उन्हें शास्त्रों का मर्मज्ञ होना चाहिए। विद्याओं में निष्णात व्यक्ति ही अपने शिष्यों को वास्तविक ज्ञानदान दे सकता है। शिक्षक का दूसरा और प्रमुख गुण उनका पवित्र एवं उज्ज्वल चरित्र है। भारतीय गुरुकुल के शिक्षकों का चरित्र अत्यंत निर्दोष होता था, तभी उनमें वालकों के सर्वांगीण विकास की क्षमता थी। शिक्षक का स्थान पिता से भी वढ़ कर है। विद्यार्थियों के अपरिपक्व कोमल मस्तिष्क पर उनके स्वभाव, रहन-सहन, व्यवहार आदि का वड़ा ही सूक्ष्म और तीव्र प्रभाव पड़ता है। अतएव, शिक्षक को चरित्रवान और पवित्र होना ही है। स्वयं के लिए आध्यात्मिक

सत्य की उपलब्धि करने तथा दूसरों में उसके संचार का एकमात्र उपाय है--हृदय तथा मन की पवित्रता। शिक्षक को पूर्ण रूप से शुद्ध चित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा। वस्तुतः शिक्षकों का काम ही है कि वे अपने शिष्यों में आध्यात्मिक शक्ति का संचार करें, न कि शिष्य की बुद्धि, वृत्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करें।

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षकों के लिए धर्मग्रंथों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। उनका विचार है कि धर्मग्रंथों के स्वत्वों का ज्ञान रखने वाला ही सच्चा शिक्षक हो सकता है। शिक्षक को धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश पाना भी नितांत आवश्यक है, तभी उनके आदेशों एवं सुझावों का महत्त्व होगा। शिक्षक का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि सभी धर्मों का लक्ष्य वस्तुतः समान ही है।

शिक्षकों में अपने शिष्यों के प्रति प्रबल प्रेम की भावना होनी चाहिए। निःस्वार्थ प्रेम की भावना के अभाव में गुरु शिष्य को वास्तविक ज्ञान देने में सक्षम नहीं हो सकेंगे। विद्यार्थियों के ऊपर प्रेम से बढ़ कर आध्यात्मिक प्रभाव डालने वाला कोई तत्त्व नहीं है। अतः, शिक्षक को शिष्य के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

शिष्यों के प्रति

स्वामी विवेकानंद ने शिष्यों के आवश्यक गुणों की चर्चा करते हुए बतलाया है कि उन्हें मन, वचन और कर्म से शुद्ध रह कर सत्य का अनुसरण और पालन करना चाहिए। उनमें ज्ञानप्राप्ति की सच्ची लगन होनी चाहिए। ज्ञानप्राप्ति के संबंध में पुराना नियम यह है कि अंतःकरण से जो कुछ हम चाहते हैं, उसी को प्राप्त करते हैं। जिसे हम नहीं चाहते, उसकी उपलब्धि प्रायः हमें नहीं हो पाती। हमें तो अपनी पाशविक प्रवृत्ति के साथ निरंतर जूझना होगा, सतत् युद्ध करना होगा तथा उसे अपने वश में लाने के हेतु अविराम यत्नशील रहना होगा।

शिष्यों को अपने शिक्षकों के प्रति अत्यंत आदर का भाव रखना चाहिए। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय तथा श्रद्धा के बिना हम में धर्म पनप नहीं सकता। जिन देशों में गुरु-शिष्य-संबंध की उपेक्षा हुई है, वहाँ विद्या की सर्वथा अवनति हुई है, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति को भी गहरा आघात पहुँचा है।

स्वामी विवेकानंद का विश्वास था कि बच्चा स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है, पेड़-पौधों की भाँति उसका स्वतः विकास होता है। जिस प्रकार पेड़-पौधे स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं तथा माली उनकी प्रगति में सहायक मात्र होता है, उसी

प्रकार शिक्षक, माता-पिता और अभिभावक की जिम्मेवारी केवल उचित आवश्यक वातावरण की आयोजना कर उनकी प्रगति में पथप्रदर्शन, निरीक्षण तथा निर्देशन ही होता है। आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञानशास्त्रियों के समान स्वामीजी ने भी इसे मान्यता दी है कि बच्चों को बलपूर्वक कुछ भी नहीं पढ़ाना चाहिए। बच्चे को अपनी अपरिमित प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिए। उनकी इच्छा के विपरीत उन पर नियंत्रण रहने से उनके विकास पर कुप्रभाव पड़ता है तथा मानसिक जटिलता उत्पन्न होती है। बच्चे में केवल दोष निकालना अनुचित है, उनको सहानुभूति एवं सद्व्यवहारपूर्वक प्रोत्साहित करना अच्छा है।

स्वामी विवेकानंद का विचार है कि शिक्षा ऐसी हो, जो बच्चे की आवश्यकताओं से सामंजस्य रखती हो। बच्चों की आवश्यकताओं को निर्धारित करने में शिक्षक अपनी या उनके अभिभावकों की इच्छा को आधार नहीं मानें, उनकी जन्मजात प्रवृत्तियो को ध्यान में रखें। स्वामीजी का कहना था कि माता-पिता अथवा शिक्षक का यह विचार कि उनके द्वारा निर्धारित मार्ग पर चल कर बच्चा विकास की ओर बढ़ेगा या उसकी प्रगति होगी— तथ्यहीन है। हमें प्रत्येक आत्मा को ईश्वरीय आत्मा और प्रत्येक बच्चे को ब्रह्म का प्रतिरूप समझना चाहिए। व्यक्ति केवल ईश्वर की सेवा कर सकता है। अतः, शिक्षकों को बच्चों की सेवा करनी चाहिए।

स्त्रियों के प्रति

भारतीय स्त्रियों की दशा देख कर स्वामीजी को बहुत दुःख होता था। स्त्रियों तथा पुरुषों के बीच व्याप्त गहरे भेद की आलोचना करते हुए उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि सभी प्राणियों में वही एक आत्मा विद्यमान है, स्त्रियों के ऊपर अनुचित नियंत्रण सर्वथा अवांछनीय है। अवनति के युग में जब पुरोहितों ने अन्य जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उसी समय उन्होंने स्त्रियों को भी अपने अधिकारों से वंचित कर दिया, जबकि वैदिक औपनिषदिक युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि पुण्यस्मृति महिलाओं ने ऋषियों का स्थान ले लिया था एवं सहस्र वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में भी गार्गी ने याज्ञवल्क्य को ब्रह्म के संबंध में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था।

सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित संमान दे कर ही महानता प्राप्त की है। जो देश, जो राष्ट्र, स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाए और न भविष्य में ही बड़े होंगे। मनु महाराज का भी कथन है कि जहाँ स्त्रियों को उचित आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वहाँ देवताओं का निवास होता है। परंतु,

जहाँ वे दुखी रहती हैं; उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा कभी नहीं की जा सकती। स्त्रियों के समक्ष बहुत कठिन समस्याएँ हैं, परंतु उन समस्त समस्याओं का समाधान शिक्षा के आधार पर ही किया जा सकता है। मनु महाराज ने कहा है कि पुत्रियों के लालन-पालन एवं शिक्षा में भी पुत्रों के लालन-पालन एवं शिक्षा के समान ही सावधानी तथा तत्परता से कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार पुत्र का विवाह तीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए शिक्षोपलब्धि के पश्चात् होना चाहिए, उसी प्रकार पुत्रियों के लिए भी ब्रह्मचर्य, शिक्षा, विवाह आदि के नियम में सतर्कता से कार्य संपन्न करना चाहिए। परंतु, भारत में स्त्रियों को सदैव असहाय अवस्था में रहने तथा दूसरों पर गुलाम की भाँति अवलंबित रहने की शिक्षा दी जाती है। ऐसी अवस्था में दुःख या भय के अवसर आने पर आँखों से आँसू बहाने के अतिरिक्त उनके पास कोई सहारा नहीं रहता है। स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को हल कर सकें। भारतीय स्त्रियाँ इस कार्य में संसार की अन्य स्त्रियों की भाँति दक्ष हैं। स्वामीजी ने भारत की स्त्रियों को सीता माता के पदचिन्हों का अनुसरण करने को कहा है। सीता माता का चरित्र अनुपम है, वे सच्ची भारतीय स्त्री की जीवित-जाग्रत प्रतिमा हैं। सीता माता के चरित्र से पूर्ण विकसित नारीत्व के सभी भारतीय आदर्श उत्पन्न हुए हैं।

सह-शिक्षा

स्वामी विवेकानंद सह-शिक्षा के अत्यंत विरोधी थे। लड़कियों का थिएटर, ड्रामा आदि देखना अथवा उसमें सक्रिय भाग लेना भी उन्हें अमान्य था। उन्होंने पंद्रह वर्ष की आयु के पूर्व कन्याओं का विवाह भी सर्वथा वर्जित किया है।

व्यापक शिक्षा का प्रचार

भारत के विशाल जनसमूह को अशिक्षित देख स्वामी विवेकानंद ने बड़ी चिंता व्यक्त की है। उनका कहना था "देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमूह में शिक्षा तथा बुद्धि का प्रसार होता है। भारतवर्ष की पतनावस्था का मूल कारण था कि थोड़े से व्यक्तियों ने मिल कर देश की संपूर्ण शिक्षा तथा बुद्धि पर एकाधिपत्य कर लिया। अगर हम पुनः अपने उत्थान और ऐश्वर्य की उपलब्धि चाहते हैं, तो उस वर्ग में शिक्षा का व्यापक प्रचार एवं प्रसार करना होगा, जो सर्वदा से उपेक्षित हैं।" स्वामीजी ने बहुत जोर दे कर कहा है कि जब तक करोड़ों मनुष्य मूर्ख और अज्ञानी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूँ, जो उनके व्यय से शिक्षित होकर उनकी ओर ध्यान

नहीं दे रहा है। जनसमुदाय की अवहेलना राष्ट्रीय पाप है तथा हमारे अधःपतन का कारण है। हमलोगों का राष्ट्र झोपड़ियों में बसा हुआ है, अतः, वर्त्तमान समय में हमारा और प्रत्येक पढ़े-लिखे शिक्षित नौजवान का उत्तरदायित्व है कि देश के प्रत्येक अनपढ़, अंधकार में जीवन व्यतीत कर रहे ग्रामवासियों की तंद्रा का नाश करें— उन्हें शिक्षा दे कर, उनमें नवजीवन का संचार करें।

धर्म : शिक्षा का मेरुदंड

स्वामी विवेकानंद ने धर्म को शिक्षा का मेरुदंड बतलाया है। उनके मतानुसार शिक्षित वही है, जिसने धर्म का अवलंबन किया है; जिसने रहस्य को समझ कर अपने जीवन में धारण किया है। धर्म से उनका तात्पर्य किसी संकीर्णता से नहीं है। जहाँ संकीर्णता है, वहाँ धर्म ठहर नहीं सकता। उन्होंने विश्व के सभी धर्मों के संबंध में जानकारी प्राप्त करने की तथा उन पर अपना जीवन आधारित करने की सलाह दी है। ११ सितंबर, १८९३ ई० को अमेरिका के सुप्रसिद्ध नगर शिकागो में सर्वधर्म समन्वय सभा के अवसर पर अपने ऐतिहासिक भाषण-क्रम में उन्होंने कहा था "जिस प्रकार नदी का उद्गमस्रोत एक होता है, परंतु उससे सहस्रों धाराएँ फूटती हैं, उसी प्रकार सभी धर्मों का स्रोत एक ही स्थान पर है।"

धार्मिक शिक्षा के संबंध में स्वामी विवेकानंद ने विश्व के समस्त महापुरुषों और संतों के जीवन-चरित् का अध्ययन-अध्यापन आवश्यक बतलाया है। उनका विचार है कि आज हमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र, योगीराज श्री कृष्ण, इंद्रियजीत महावीर श्री हनुमान, बाल ब्रह्मचारी शक्तियों के आगार महान् ज्ञानी भीष्मपितामह को स्मरण करना है, अपना लक्ष्य और आदर्श बनाना है। स्वामीजी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा कि धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने मात्र से, तर्क-वितर्क से हम धार्मिक नहीं बनेंगे, अपितु स्वतः प्रत्यक्षः अनुभव एवं तदनुसार जीवन-यापन करने से ही हम इस गौरवमय पद की प्राप्ति करेंगे। पुस्तकें तो केवल परिचय मात्र कराती हैं। धर्म सिद्धांतों, मतवादों अथवा बौद्धिक विवादों में नहीं रखा है। हम आत्मा हैं, यह जान कर तद्रूप बन जाना ही धर्म है, अपरोक्षानुभूति ही धर्म है।" स्वामीजी का विचार है कि शिक्षण-संस्थाओं में किसी धर्मविशेष को शिक्षा का अंग बनाना उचित नहीं है। सभी धर्मों की आवश्यक प्रवृत्तियों को धार्मिक शिक्षा में समाविष्ट करना चाहिए।

देश की आर्थिक गिरावट से स्वामीजी को घोर मानसिक कष्ट होता था। उन्होंने वेदांत के तत्कालीन उपयोग का तात्पर्य देश के करोड़ों भूखों के भोजन की

समस्या का समाधान बतलाया। जो शिक्षा जीवन की इस सामयिक आवश्यकता की पूर्ति में योग नहीं दे सकती, वह वांछनीय नहीं। अतः, शिक्षा में जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष ध्यान देना चाहिए, ताकि मनुष्य अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की आपूर्ति कर सकने में सक्षम हो।

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा द्वारा आत्मविश्वास, श्रद्धा और विश्वबंधुत्व की प्रवृत्ति को उत्पन्न करना आवश्यक बतलाया। विशाल हृदय होना, सभी संकीर्ण सीमा से बाहर निकलना, अपने सुख में दूसरों को संमिलित करना—यही हमारे उद्देश्य हैं।

जनसमूह को शिक्षित बनावें

जनसमूह की शिक्षा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए स्वामीजी ने यह लिखा है—"भारतवर्ष के दरिद्रों तथा निम्नवर्ग के लोगों की दशा का स्मरण करके मेरा हृदय फटा जाता है। वे दिन-प्रतिदिन नीचे गिरते चले जा रहे हैं। निष्ठुर समाज द्वारा अपने ऊपर होने वाले आघातों का वे अनुभव तो करते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि ये आघात कहाँ से आ रहे हैं। वे यह भूल गए हैं कि वे भी मनुष्य हैं। मेरा अंतःकरण इतना भरा हुआ है कि मैं अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता। जब तक करोड़ों मनुष्य अज्ञानांधकार में जीवन बिता रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूँ, जो उनके व्यय से शिक्षित हुआ है तथा उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा है। हमारा महान् राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की अवहेलना करना है और यही हमारे अधःपतन का कारण है। राजनीति चाहे जितनी अधिक मात्रा में रहे, तब तक उसे कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि भारतवर्ष की जनता एक बार फिर सुशिक्षित न हो जाए, जब तक उसे भर पेट भोजन न मिले तथा हर तरह से उसकी सुख-सुविधा की ओर ध्यान न दिया जाए।

"देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जन-समूह में शिक्षा तथा बुद्धि का प्रसार होता है। भारतवर्ष की पतनावस्था का मुख्य कारण यह रहा कि मुट्ठी भर लोगों ने देश की संपूर्ण शिक्षा तथा बुद्धि पर एकाधिपत्य कर लिया। यदि हम फिर उन्नत होना चाहते हैं, तो हम जनसमूह में शिक्षा का प्रचार करके ही उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। निम्न वर्ग के लोगों को अपने खोए हुए व्यक्तित्व का विकास करने के हेतु शिक्षा देना ही उनकी एक मात्र सेवा करनी है। उनके सामने विचारों को रखो। संसार में उनके चारों ओर क्या चल रहा है, इसकी ओर उनकी आँखें खोल दो। तब वे अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को अपनी मुक्ति का

कार्य स्वयं करना होगा, उनके सामने विचारों को रखो—वस, उन्हें इतनी सहायता चाहिए और शेष सब उसके फलस्वरूप आ ही जाएगा। हमारा कार्य है, भिन्न-भिन्न रासायनिक द्रव्यों को एक साथ रख देना तथा रवे बनाने का कार्य प्रकृति के नियम के द्वारा ही संपन्न हो जाएगा।

"मेरा विचार है, हमारे शास्त्र-ग्रंथों में आध्यात्मिकता के जो रत्न विद्यमान हैं और जो कुछ भी मनुष्यों के अधिकार में मठों तथा वनों में छिपे हुए हैं, सबसे पहले उन्हें निकालना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम नहीं चलेगा, वल्कि उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उन शताब्दियों के संस्कृत-शब्दों के जाल से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि मैं उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वों को निकाल कर सबकी, भारत के प्रत्येक मनुष्य की सार्वजनिक संपत्ति बना देना चाहता हूँ, चाहे वह संस्कृत जानता हो अथवा न जानता हो। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई हमारी यह गौरवमयी संस्कृत भाषा है और वह तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक हमारे देश के सभी मनुष्य -- यदि संभव हो तो संस्कृत के अच्छे विद्वान नहीं हो जाते। यह कठिनाई तुम्हारी समझ में तब आएगी, जब मैं यह कहूँगा कि जीवन भर इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नई पुस्तक उठाता हूँ, तब वह मुझे बिलकुल नई-सी जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों को कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं मिल पाया, उनके लिए यह कितनी क्लिष्ट होगी। अतः, लोगों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। जनसाधारण को अपनी भाषा में शिक्षा दो। उनके सामने विचारों को रखो, वे जानकारी प्राप्त कर लेंगे -- परंतु कुछ और भी आवश्यक होगा। उन्हें संस्कृति दो। जब तक तुम उन्हें संस्कृति नहीं दोगे, तब तक उनकी उन्नत दशा किसी स्थायी रूप को प्राप्त नहीं कर सकती।

संस्कृत भाषा की शिक्षा

"इसके साथ-ही-साथ संस्कृत की शिक्षा भी चलनी चाहिए; क्योंकि संस्कृत-शब्दों की ध्वनि मात्र से ही हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल तथा शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत-शिक्षा का विस्तार बंद कर दिया। वे शीघ्र तथा तात्कालिक परिणाम चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उन दिनों की पालि भाषा में, संस्कृत भाषा के निबद्ध भावों का भाषांतर करके, उनका प्रचार किया। यह बहुत ही सुंदर हुआ था। वे जनता की भाषा में बोले तथा जनता ने उनकी बात को समझ लिया, जिससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले तथा बहुत

दूर-दूर तक पहुँचे। परंतु, इसके साथ ही संस्कृत का प्रचार भी होना चाहिए था। ज्ञान तो प्राप्त हुआ, परंतु उसमें प्रतिष्ठा नहीं थी और जब तक तुम उसे प्रतिष्ठा नहीं देते, एक और जाति उत्पन्न हो जाएगी, जो संस्कृत भाषा को जानने के कारण औरों की अपेक्षा शीघ्र ऊँची उठ जाएगी।

झोपड़ियों का उत्थान करें

"याद रहे, हमारा राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है। वर्त्तमान समय में तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि तुम देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाओ और गाँव-गाँव में जाकर लोगों को यह समझाओ कि अब केवल आलस्य के साथ बैठे रहने से ही काम नहीं चलेगा। उन्हें उनकी यथार्थ अवस्था का परिचय कराओ तथा कहो -- "भाइयो! आप सब लोग अब उठें, जागें और कितना सोएँगे?" जाओ, और उन्हें अपनी अवस्था सुधारने की सलाह दो तथा शास्त्रों की बातों को विस्तारपूर्वक सरलता से समझाते हुए उदात्त सत्यों का ज्ञान करा दो। उनके मन में यह बात जमा दो कि धर्म के ऊपर ब्राह्मणों की भाँति उनका भी अधिकार है। सभी को, यहाँ तक कि चांडाल तक को भी, इन्हीं जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश दो। उन्हें सरल शब्दों में जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य, व्यापार एवं कृषि आदि की शिक्षा भी दो।

"शताब्दियों से ऊँची जाति वालों, राजाओं तथा विदेशियों के असह्य अत्याचारों ने उनकी संपूर्ण शक्तियों को नष्ट कर दिया है और अब शक्ति प्राप्त करने का पहला उपाय उपनिषदों का आश्रय लेना तथा यह विश्वास करना है कि 'मैं आत्मा हूँ, मुझे तलवार नहीं काट सकती, शस्त्र नहीं छेद सकता, अग्नि नहीं जला सकती, वायु नहीं सता सकती, मैं सर्वशक्तिमान हूँ।' वेदांत के इन सब महान् तत्त्वों को जंगलों तथा गुफाओं से बाहर आना होगा एवं न्यायालयों, प्रार्थना-मंदिरों तथा गरीबों के झोपड़ों में प्रवेश करके अपना कार्य करना होगा। अब तो मछली पकड़ने वाले मछुओं तथा विद्या प्राप्त करते हुए विद्यार्थियों के साथ इन तत्त्वों को कार्य करना होगा। यह संदेश प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा बालक के लिए है। वह चाहे जो भी पेशा करे, चाहे जहाँ रहता हो। अच्छा, ये सब मछुए आदि उपनिषदों के सिद्धांतों के अनुसार किस तरह कार्य कर सकते हैं? मार्ग भी बता दिया है। यदि मछुआ सोचे कि मैं आत्मा हुँ तो वह एक श्रेष्ठ मछुआ होगा और यदि विद्यार्थी यह चिंतन करने लगे कि मैं आत्मा हुँ, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा।

"एक बात जो भारतवर्ष में सभी बुराइयों की जड़ है, वह है गरीबी की अवस्था। मान लो, तुमने प्रत्येक गाँव में एक निःशुल्क पाठशाला खोल दी, परंतु

तो भी उससे कोई लाभ नहीं होगा; क्योंकि दरिद्र बालक पाठशाला में जाने की अपेक्षा अपने पिता की सहायता करने के लिए खेतों पर जाना अथवा जीविका के लिए अन्य कोई धंधा करना अधिक पसंद करेंगे। अच्छा, यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न जाए? यदि दरिद्र बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता, तो शिक्षा को ही उसके पास पहुँचना चाहिए। हमारे देश में सहस्रों निष्ठावान, निःस्वार्थ संन्यासी हैं, जो एक गाँव से दूसरे गाँव में धर्मोपदेश करते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ को भौतिक विषयों के शिक्षक के रूप में भी संगठित किया जा सके, तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक द्वार से दूसरे द्वार को, न केवल धर्मोपदेश करते हुए, अपितु शिक्षा-कार्य भी करते हुए जाएँगे। मान लो, इनमें से दो मनुष्य संध्या के समय किसी गाँव में अपने साथ मैजिक लैंटर्न, दुनिया का ग्लोब तथा कुछ नक्शे आदि लेकर गए, तो वे अनजाने में भी मनुष्यों को बहुत कुछ ज्योतिष तथा भूगोल सिखा सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की कहानियाँ बता कर वे उन दरिद्रों को कानों के द्वारा उससे कहीं सौ गुनी अधिक जानकारी करा सकते हैं, जो जन्म भर में पुस्तकों के द्वारा भी कठिनाई से प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान की सहायता से उनके ज्ञान को प्रज्ज्वलित कर दो। उन्हें इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा साहित्य पढ़ाओ और इन्हीं के साथ-साथ एवं इन्हीं के द्वारा धर्म के गंभीर सत्यों की शिक्षा भी दो।

"जीवन-संग्राम में बुरी तरह से पीछे रहने के कारण उन्हें ज्ञान की जागृति का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। अब तक वे यंत्र की भाँति कार्य करते रहे हैं तथा चतुर, शिक्षित लोग उनके परिश्रम के फल के उत्तम अंश का स्वयं उपभोग करते रहे हैं। परंतु, अब समय बदल गया है। निम्नवर्ग वाले इस विषय में जागृत हो रहे हैं और इसका एक साथ मिल कर विरोध कर रहे हैं। अब उच्च वर्ग वाले उन्हें दबा कर नहीं रख सकते, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें। उच्च वर्ग वालों का कल्याण अब इसी में है कि वे निम्न वर्ग वालों को उनके समुचित अधिकार की प्राप्ति में सहायता दें। इसीलिए मैं कहता हूँ कि जनसमूह में शिक्षा का प्रसार करने के कार्य में लग जाओ। उन्हें बता दो और समझा दो कि तुम हमारे भाई हो, हमारे ही शरीर के अंग हो। यदि वे तुम से इतनी सहानुभूति प्राप्त कर लें, तो उनका कार्य करने का उत्साह सौ गुना बढ़ जाएगा।

"बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—पहला है हृदय अर्थात् अनुभव करने की शक्ति। बुद्धि या विचारशक्ति में क्या रखा है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं पर रुक जाती है। परंतु, हृदय तो महाशिव का

द्वार है। अंत:स्फूर्ति वहीं से आती है। प्रेम असंभव को भी संभव कर देता है। यह प्रेम ही संसार के सभी रहस्यों का द्वार है, अत:, हे मेरे भावी सुधारको ! मेरे भावी देशभक्तो !! क्या तुम हृदय से यह अनुभव करते हो कि देवता तथा ऋषियों की करोड़ों संतानें आज पशु-तुल्य हो गई हैं ? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि आज लाखों मनुष्य भूखों मर रहे हैं और लाखों मनुष्य शताब्दियों से इसी प्रकार भूखों मरते आए हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने संपूर्ण भारत को ढंक लिया है ? क्या तुम यह सब सोच कर भ्रमित हो जाते हो ? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है ? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिल कर तुम्हारी धमनियों में बहती है ? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पंदन से मिल गई है ? क्या उसने तुम्हें पागल-जैसा बना दिया है ? क्या देश की दुर्दशा की चिंता ही तुम्हारे ध्यान का एकमेव विषय बन बैठी है ? और क्या इस चिंता में विभोर हो कर तुम अपने नाम, यश, स्त्री, पुत्र, धन, संपत्ति यहाँ तक कि अपने शरीर की सुधि को भी भूल गए हो ? क्या वास्तव में तुम ऐसे हो गए हो ? बस, यही पहला चरण है—

"यह माना कि तुम अनुभव करते हो, परंतु मैं पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति क्षय न करके इस दुर्दशा के निवारण हेतु तुमने किसी यथार्थ कर्त्तव्य-पथ को निश्चित किया है ? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवनमृत अवस्था से बाहर निकालने के हेतु कोई मार्ग निश्चित किया है ? परंतु, इतने से ही पूरा नहीं पड़ेगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघ कर कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो? यदि संपूर्ण संसार अपने हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ा हो जाए, तो क्या उस स्थिति में भी तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस कर सकोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जाएँ, भाग्यलक्ष्मी तुम से रूठ कर चली जाए, नामकीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो क्या तुम उस समय भी सत्य में लगे रहोगे ? क्या फिर भी तुम उसके पीछे लगे रह कर अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते रहोगे ? जैसा कि राजा भर्तृहरि ने कहा है--"चाहे नीतिनिपुण लोग निंदा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी आए अथवा उसकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चली जाए, मृत्यु आज ही हो अथवा सौ वर्ष पश्चात्, धीर पुरुष तो वह है, जो न्याय के मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं होता।" क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है ? यदि तुम में ये तीन बातें हैं, तो तुम में से प्रत्येक व्यक्ति अद्भुत कार्य कर सकता है।

"आओ, हम प्रार्थना करें-- 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कृपामयी ज्योति, मार्ग दिखाओ। और अंधकार में से एक किरण दिखाई देगी, कोई पथ-प्रदर्शक हाथ

आगे बढ़ आएगा। आओ हम में से प्रत्येक, दिन और रात, उन करोड़ों पददलित भारतीयों के कल्याण के हेतु प्रार्थना करें, जो दरिद्रता, पुरोहितों के छल तथा अनेक प्रकार के अत्याचारों द्वारा जकड़े हुए हैं। दिन-रात उन्हीं के लिए प्रार्थना करो। मैं उच्च तथा धनिकों की अपेक्षा उनकों उपदेश देने की चिंता करता हूँ। मैं दार्शनिक नहीं हूँ, मैं तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ तथा कोई संत भी नहीं हूँ, परंतु मैं दरिद्र हूँ तथा दरिद्रों को प्रेम करता हूँ। दरिद्रता एवं अज्ञान के गर्त्त में सदैव से डूबे हुए इन बीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के दुःखों को कौन अनुभव करता है? इनके दुःखों के लिए किसके हृदय में टीस होती है? उन्हें न कहीं प्रकाश मिलता है और न शिक्षा, उन्हें प्रकाश कौन देगा? उन्हें शिक्षा देने के लिए उनके द्वार-द्वार पर कौन भटकेगा? तुम इन्ही लोगों को अपना ईश्वर समझो, सदैव इन्हीं का ध्यान करो, इन्हीं के लिए कार्य करो, इनके लिए निरंतर प्रार्थना करो। ईश्वर तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगा।"

अधिक परिश्रम करने के साथ ही स्वामीजी ने वेलूर में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। अब तो यह मिशन काफी बड़ा हो गया है और भारत में हीं नहीं, अपितु इसकी शाखाएं विदेशों में भी खुल गई हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संस्था के द्वारा सेवा का महान् कार्य हुआ है और हो रहा है।

अत्यधिक परिश्रम करने के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य गिरने लगा, फिर भीं वे अपने कार्यों को बढाते हुए जा रहे थे। उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम, सभी ओर उनकी जरूरत थी और वे सभी जगह पहुँचने का प्रयत्न करते थे। स्वामीजी ने फिर विदेश-यात्रा की। २० जून, सन् १८९९ ई० को वे इंगलैंड के लिए रवाना हुए। अमरीका भी गए। पेरिस में एक धार्मिक संमेलन होने वाला था, लौट कर उसमें भाग लिया। फिर यूरोप के सारे देशो में घूम कर तुर्की, यूनान और मिस्र होते हुए भारत लौट आए। इस बार उनका शरीर एकदम जवाब दे गया, फिर भी आराम करना तो उन्हें जैसे आता ही नहीं था। अन्य कामों के साथ-साथ उनका स्वाध्याय चलता था और शिष्यों को शास्त्र एवं व्याकरण पढ़ाना भी। उम्र उनकी अधिक नहीं थी, मगर इतने समय में उन्होंने जितना काम किया, उतना सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता था। उनका काम पूरा हो चुका था। उन्होंने रामकृष्ण परमहंस के संदेश दुनिया के कोने-कोने में पहुँचा कर और मठों की स्थापना करके उस संदेश के पनपने का पूरा प्रबंध कर दिया था। सन् १९०२ ई० की ४ जुलाई थी। माता के मंदिर में बैठ कर स्वामी जी कोई तीन घंटे तक वही गीत गाते रहे, जो उन्होंने रामकृष्ण परमहंस के प्रथम दर्शन के समय गाया था—

'चलो मन निज निकेतन !'

शाम को वे समाधि लगा कर बैठ गए और रात के लगभग ९ बजे उन्होंने महायात्रा की।

इस वैज्ञानिक युग में पाश्चात्य जगत ने विज्ञान के क्षेत्र में पौर्वात्य जगत को पीछे धकेल दिया है। वहाँ के लोग घोर भौतिकवादी होते जा रहे हैं और आज जब कि बहुत से पाश्चात्य देशों के लोग भारत को 'साँपों, प्रेतों और पेड़-पौधे पूजने वालों का देश' कहते हैं, विवेकानंद के तर्कपूर्ण वचनों ने वहाँ के लाखों लोगों को आस्तिक बनाया है। अमरीका में हजारों की संख्या में ऐसे लोग मिलेंगे, जो विवेकानंद के अनन्य भक्त हैं। इन भक्तों ने ही वहाँ भारतवर्ष की भाँति रामकृष्ण मिशन की स्थापना की है। वे रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के विचारों को पढ़ते एवं मानसिक शांति प्राप्त करते हैं। सच तो यह है कि विवेकानंद भारत के आध्यात्मिक राजदूत थे और इसीलिए शिक्षा के संबंध में उनके अमृतमय विचार सदैव अनुकरणीय हैं और रहेंगे।

●

अध्याय ३४

महात्मा गांधी

महात्मा गांजी का जन्म २ अक्टुवर, सन् १८६९ ई० को गुजरात के पोरवंदर नामक स्थान में हुआ। इनका पूरा नाम मोहनदास करमचंद गांधी है। इनकी प्रारंभिक शिक्षा पोरवंदर में ही हुई। आगे की पढ़ाई पूरी करने आप लंदन गए और वैरिस्ट्री की परीक्षा पास की। आप भारतमाता और दीन-हीनों के सच्चे वकील वने। इनके त्याग, तपस्या और वलिदान के कारण ही भारतवासी आज इन्हें 'राष्ट्रपिता' कह कर याद करते हैं। श्रद्धा और आदर से वहुत लोग आपको 'वापू' भी कहा करते थे। मानवतावाद के प्रमुख पोषक, भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी विश्वविख्यात राजनीतिक नेता और समाज-सुधारक तो थे ही, मौलिक विचार-संपन्न उच्च कोटि के एक शिक्षाशास्त्री भी थे। इस युगांतकारी महान् व्यक्ति ने अपने ज्ञान, चिंतन, पर्यवेक्षण, मनन एवं अनुभव के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में भी सर्वोदय-समाज एवं जनकल्याण की कल्पना से परिरक्षित एक नवीन शिक्षा योजना प्रस्तुत की, जो 'वुनियादी शिक्षा' के नाम से विख्यात हुई। वुनियादी शिक्षा-पद्धति में ही इनका शिक्षा-दर्शन निहित है। यह शिक्षा-पद्धति इनकी मौलिक सूझ है। शिक्षाशास्त्री महात्मा गांधी के संवंध में एम० एस० पटेल ने कहा है—"गांधीजी को उन महान् शिक्षकों एवं धर्मोपदेशकों की गौरवपूर्ण मंडली में अनोखा स्थान प्राप्त है, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में नई ज्योति प्रदान की है।" ग्रीन ने लिखा है—"पेस्टालॉजी आधुनिक शिक्षा-सिद्धांत और व्यवहार का प्रारंभिक विंदु था।"—यह वात पाश्चात्य शिक्षा के साथ सत्य हो सकती है। परंतु, गांधीजी के शिक्षा-संवंधी विचारों का निष्पक्ष अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वे पूर्व में शिक्षा-सिद्धांत और व्यवहार के प्रारंभिक विंदु हैं।

किसी भी व्यक्ति का आदर्श उसके जीवन के समस्त अवयवों तथा कार्यकलापों को प्रभावित करता है। महात्मा गांधी के साथ भी ऐसी ही बात है। उनके जीवन-दर्शन ने उनकी बुनियादी शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत करने में अटूट संबंध स्थापित किया है। उनके अनुसार सत्य, अहिंसा, निर्भयता, सेवा ऐसे उद्देश्य हैं—जिनकी प्राप्ति के लिए ही हमारे सारे कार्यकलाप होने चाहिए। 'शिक्षा' इनकी प्राप्ति के लिए साधन है। अतएव, उन्होंने एक ऐसे शिक्षा-दर्शन की कल्पना की, जिससे उनका जीवन-दर्शन गतिशील बनता है। आगे की पंक्तियों में हम उनके जीवन-दर्शन पर विचार कर लें, जिससे उनके शिक्षा-दर्शन को समझने में हमें सुविधा हो।

महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन

महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा के पुजारी हैं। उनके लिए सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य। इनके ही शब्दों में "अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभव है। सत्य नहीं बोलना ही अच्छा है, यदि कोई उसे अहिंसक ढंग से नहीं बोल सकता। उनका कथन है कि हम सब मानव इस सत्य की चिनगारियाँ हैं। जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर सत्यं एवं प्रेमपूर्ण है। जीवों की सेवा ईश्वर की सेवा है; क्योंकि ईश्वर जीवन, सत्यं एवं प्रकाश है। मानव को अपने व्यक्तिगत अहं का सारे जगत के साथ एकीकरण करना चाहिए। इस एकीकरण के द्वारा आत्मलाभ करना चाहिए।"

इस प्रकार गांधीजी अद्वैतवाद के पोषक हैं। उन्हें ईश्वर के एकत्व में पूर्ण विश्वास है। सृष्टि ईश्वर का ही प्रतिरूप है। जब प्रत्येक प्राणिमात्र में ईश्वर है, तो आपसी घृणा, द्वेष तथा असहयोग आदि दुर्गुणों का समावेश परम सत्ता की इच्छा के प्रतिकूल है।

गांधीजी अहिंसा के पुजारी हैं। उनकी अहिंसा बहुत व्यापक है। किसी जीव की हत्या न करना मात्र ही अहिंसा नहीं अपितु मन, वचन और कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना अहिंसा है। किंतु, अहिंसा का यह पक्ष निषेधात्मक है। इसका दूसरा पक्ष रचनात्मक भी है, जिसका तात्पर्य है, ईश्वर से प्रेम करना एवं उससे साक्षात्कार करना, सत्य को अपनाना; क्योंकि सत्य ही ईश्वर है।

सत्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन अहिंसा ही है। वह सत्य के अनुसंधान का आधार है। इसकी प्राप्ति हेतु निर्भीकता अपेक्षित है। मानव का धर्म है कि वह पाप से असहयोग करे, अन्याय एवं अत्याचार का विरोध करे। अत्याचारी के प्रति

प्रतिकार की भावना बनाने का तात्पर्य स्वयं पर आक्रमण करने से है; क्योंकि अत्याचारी भी एक मानव है। प्रत्येक मानव के अंतर्गत असीम दैवी शक्तियाँ हैं। अपराधी का अपमान करना अथवा उसे हानि पहुँचाने का आशय है, अप्रत्यक्ष रूप से उसके अंतर्गत विद्यमान उस दैवी शक्ति का अपमान करना। 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' महात्मा गांधी इस सिद्धांत के कट्टर अनुयायी हैं।

प्राणिमात्र के साथ एकीकरण के लिए आत्मशुद्धि अपेक्षित है। आत्मशुद्धि का साधन अनशन है। अनशन दूसरे व्यक्ति को अपने को अपने हठ पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य करता है।

व्यक्ति समाज की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि समाज व्यक्ति का निर्माता है, परंतु व्यक्तियों ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति में सहायता की दृष्टि से समाज की रचना की है। समाज व्यक्तिनिर्मित है, किंतु व्यक्ति स्वयं ईश्वर का प्रतिरूप है। अतः, व्यक्तित्व के विकास में समाज को बाधक नहीं होना चाहिए।

ज्ञान एवं कर्म का घनिष्ठ संबंध है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। कोई भी ज्ञान कर्म के अभाव में सुदृढ़ नहीं हो सकता। उसमें पूर्णता एवं व्यापकता नहीं आ सकती। इसी प्रकार कोई भी कर्म ज्ञानशून्य हो कर नहीं किया जा सकता। उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं के संचालन में पग-पग पर ज्ञान की अभिव्यक्ति अपेक्षित है।

मानव का स्वभाव सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करना है, किंतु जब मानव सुख के लिए भौतिक आवश्यकताओं का दास बन जाता है, तब दुःख का आरंभ हो जाता है। अतः, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना जीवन का लक्ष्य है। भौतिक वस्तु के प्रति मोह एवं आसक्ति इच्छा, क्रोध, निराशा एवं प्रतिकार को जन्म देकर व्यक्ति को विवेकशून्य बनाती है। वह जीवन का अंत कर देती है।

इसी कारण संयम जीवन का एक उच्च आदर्श है, जो मानव को, मानव बनाने के लिए, अपेक्षित है। संयम के लिए अध्यवसाय एवं बुद्धि की आवश्यकता है। बौद्धिक आत्मा सामाजिक आत्मा है। बुद्धि एक कड़ी है, जो व्यक्ति को समाज से मिलाती है। वह मनन, चिंतन आदि क्रियाओं को प्रेरणा देकर व्यक्तिगत योजना को ईश्वर के ध्यान में लीन करने की क्षमता रखती है।

गांधीजी भगवद्गीता में विश्वास रखते हैं। उनका मत है कि व्यक्ति अपने कर्मों का पालन करके ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

गांधीजी का दर्शन गीता के छठे अध्याय के २९वें से ३२वें श्लोकों के विचार से प्रभावित है—जिसका भावार्थ निम्न प्रकार है—

सर्वथा, अनंत चेतन एकमात्र के स्थित-योग से युक्त हुए आत्मबल वाला तथा सबको समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में, वर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। जो संपूर्ण भूतों में मुझे (कृष्ण, ईश्वर) देखता है और संपूर्ण भूतों को मेरे अंतर्गत देखता है, इसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति संपूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानंद को ही भजता है, वह सब प्रकार से वर्त्तता हुआ भी मेरे में ही वर्त्तता है और वह अपनी सादृश्यता से संपूर्ण भूतों में मुझे देखता है और सुख एवं दुःख को भी सब में समान देखता है, वही पुरुष सर्वश्रेष्ठ भी समझा जाता है।

गांधीजी भी संसार के प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को देखते थे। जब वे दिल्ली में उपवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने निम्नांकित उद्‌गार प्रकट किए थे— "प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है, अतः मैं निर्दय व्यक्ति की आत्मा से भी अपने को अलग नहीं रख सकता हूँ। मैं अपने ही ढंग से उसी में तल्लीन हूँ।"

गांधीजी एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। उन्होंने लिखा है—"मैं ईश्वर की पूर्ण एकता में और इसलिए सारी मानवता की पूर्ण एकता में भी विश्वास करता हूँ। शरीर की भिन्नता होने पर भी मुझमें आत्मा एक है।"

उन्होंने मानव के भौतिक शरीर की भिन्नता में आध्यात्मिक शक्ति की एकता को स्वीकार किया है, ईश्वर को सत्य माना है और कहा है कि "केवल ईश्वर ही सत्य है, संसार माया है, सृष्टि के परिवर्तन में केवल वही स्थिर है।" God alone is real, the world is illusion. He alone persists in the midst of change.)

वे ईश्वर के बारे में लिखते हैं "ईश्वर रहस्यपूर्ण वह शक्ति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता और वह सर्वव्याप्त है। मैं उसके अस्तित्व का अनुभव करता हूँ, यद्यपि मैं उसे देखता नहीं हूँ। वह एक अदृश्य शक्ति है, जो अपने को अनुभव कराती है, किंतु जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह उन सभी वस्तुओं से भिन्न है, जिनको हमलोग इंद्रियों से देखते हैं। वह असंबद्ध प्रमाणों से नहीं, वरन् ऐसे व्यक्तियों के परिवर्तित आचरण से प्रमाणित किया जा सकता है, जिन्होंने अपने अंदर ईश्वर की सत्यता का अनुभव किया है। इस प्रकार के

प्रमाण सभी कालों एवं सभी देशों के फरिश्ते एवं ऋषियों के अनुभवों में मिलते हैं। इस प्रमाण को अस्वीकार करने से अपने अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा।" (Young India; October 11, 1928)

उन्होंने आगे कहा है "यदि मुझसे कोई तर्क द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने को कहे, तो मैं हार जाऊँगा। किंतु, मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व उतना ही सत्य है, जितना हम और आप एक कमरे में बैठना सत्य मानते हैं। मैं हवा और पानी के बिना जिंदा रह सकता हूँ, किंतु, ईश्वर के बिना जिंदा नहीं रह सकता हूँ।"

गांधीजी ने मई १६,१९३८ ई० के 'हरिजन' में लिखा है कि "यदि कोई मेरी आँखें निकाल ले, नाक काट ले, मैं नहीं मर सकता हूँ। किंतु, यदि कोई मुझसे ईश्वर के प्रति विश्वास को हटा दे, तो मैं शीघ्र ही मर जाऊँगा।"

ईश्वर में गांधीजी की इतनी आस्था थी कि वे इस्लाम के अल्लाह, ईसाई के क्राइस्ट तथा हिंदू धर्म के राम को एक ही मानते थे। एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। हिंदू धर्म में भी एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। अतः, गांधीजी कहते थे कि जो ईश्वर में विश्वास करता है, वह सभी धर्मों में सामान्य रूप से श्रद्धा एवं विश्वास रखता है। वे सभी धर्मों के प्रशंसक थे। ईसामसीह एवं मुहम्मद साहब से उनके जीवन को प्रकाश मिला है, ऐसा वे मानते थे।

राधाकृष्णन ने गांधीजी के बारे में लिखा है कि गांधीजी एक नितांत धार्मिक पुरुष हैं। उन्हें मानवता की एकता में अटूट विश्वास है। हमलोग चाहे जिस जाति, यौन, धर्म या देश के हों, हम सभी उसी परमपिता परमेश्वर की संतान हैं। प्रत्येक धार्मिक पुरुष सारी मानवता के साथ अपने संबंध में विश्वास रखता है। ("Gandhiji is essentially a religious man. He has faith in the essential unity of mankind. We are children of one supreme whatever be our caste or sex, creed or country. Every religious man believes that he has kindship with the whole of humanity." Occasional Speeches and Writings, Radhakrishnun—P. 247.)

पुनश्च गांधीजी ने 'सत्य' को ईश्वर के रूप में माना है। सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर सत्य से बढ़ कर नहीं है; सत्य की प्राप्ति ही मनुष्य की प्रथम

साधना होनी चाहिए। सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है। यह शक्ति आत्म-संयम, प्रार्थना, आत्म-वुद्धि आदि से प्राप्त होती है। (Satyagraha truth force or soul force requires the control, by prayer for purity, of all bodily and self regarding desires,)

अतः, गांधीजी की विचारधारा और दार्शनिकता का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति ही है। सत्य ही साध्य है और सत्य प्राप्ति का साधन वे (१) अहिंसा और (२) प्रेम को मानते हैं।

अहिंसा—गांधीजी सत्य और अहिंसा को एक सिक्के के दो पहलू मानते थे। किंतु, सत्य साध्य है और अहिंसा साधन है। अहिंसा एक मानसिक दृष्टिकोण है, जो हमारे सभी कर्मों को अनुप्राणित करती है। इसका क्षेत्र हमारे भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक कर्मों में व्याप्त रहता है। जब मनुष्य सांसारिक आकर्षणों से ऊँचा उठता है, हृदय को पवित्र बनाता है, भय और अभिमान को छोड़ता है, कपट और छल के प्रति घृणा करता है और मन, वचन एवं कर्म से हिंसा नहीं करता है, तभी उसको अहिंसा का ज्ञान प्राप्त होता है। केवल शब्दों द्वारा अहिंसा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ईश्वर की कृपा से सत्कर्मों द्वारा अहिंसा का ज्ञान होता है। जो महापुरुष अहिंसा में विश्वास रखते हैं, वे ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास रखते हैं। लेकिन, अहिंसा वीरों का अस्त्र है। जो अहिंसा को मानता है, वह प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की प्रतिच्छाया को देखता है। तलवार द्वारा वह दूसरे का खून नहीं कर सकता, दूसरे का खून बहाने की अपेक्षा वह स्वयं मृत्यु का आलिंगन करने में शांति पाता है। जो व्यक्ति अहिंसक होता है, वह निर्भय एवं विनम्र भी होता है। गांधी जी ने कहा है कि विश्व की कोई भी शक्ति शांति सैनिक के सामने नहीं टिक सकती; क्योंकि शांति सैनिक निर्भय, विनम्र, दृढ़प्रतिज्ञ, शुद्ध तथा भगवान मे निष्ठा रखते हैं और उनको मृत्यु का डर तथा सत्ता का लोभ नहीं रहता है। वे इस संसार की किसी वस्तु को अपना नहीं मानते हैं। शांति सैनिक विश्व की शोषण, अन्याय, दासता, कुरीति, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषमता के प्रति सत्याग्रह करता है। सत्याग्रह ही उसका पवित्र युद्धास्त्र है। इस युद्ध में उसको भगवान से प्रेरणा मिलती है। इस युद्ध में असत्य, धोखा तथा गोपनीय आदि का कोई भी स्थान नहीं रहता है। सत्याग्रह शत्रु के संमुख किया जाता है। शत्रु का हृदय-परिवर्तन उनका लक्ष्य रहता है। अतः, शांति सैनिक किसी को शत्रु मानता ही नहीं है। शांति सैनिक का अस्त्र अहिंसात्मक सत्याग्रह होता है। "The satyagrahi will not sherke from the path of justice, but he is always

ager for peace. He has abandant faith in others, infinite patience, and ample hope ."

अर्थात् सत्याग्रही न्याय के मार्ग से हटता नहीं है, बल्कि वह सदा शांति का इच्छुक रहता है। वह दूसरे में अटूट विश्वास रखता है। वह असीमित धैर्य एवं प्रचुर मात्रा में आशा रखता है। किंतु, अहिंसा प्रेम से पैदा होती है।

प्रेम—जब तक मनुष्य प्राणिमात्र से प्रेम करना न सीखेगा, तब तक उसमें अहिंसा आ ही नहीं सकती है। महात्मा गांधी ने कहा है कि प्रेम दूसरे को जलाता नहीं है, वह स्वयं जलता है, हंसते हुए मृत्यु का आलिंगन करता है। जान-बूझ कर वह मन, वचन तथा कर्म से किसी व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुंचाता है। (Love does not burn others, it burns itself suffering joyfully even unto death. It will do no intentional injury, in thought, word or deed to a single man.)

इसलिए जब गांधीजी अंग्रेजों से भारतवर्ष को स्वतंत्र कराने के लिए सत्याग्रह कर रहे थे, उस समय भी वे अग्रेज जाति से घृणा नहीं करते थे। अंग्रेज मानव से उनको प्रेम था। केवल अंग्रेज शासकों के प्रति उनकी शिकायत थी। वे समस्त विश्व को एक ही प्रेम-सूत्र में बाँधना चाहते थे और ऐसा मानते थे कि "विश्व में सर्वत्र व्याप्त सत्य का साक्षात् दर्शन पाने के लिए सृष्टि में जो सबसे हीन है, उसको भी अपने ही जैसा मानना होगा।" (गांधी-दर्शन, आचार्य कृपलानी, पृष्ठ ४२)। ईसामसीह के शब्दों में मनुष्य को अपने पड़ोसी को उतना ही प्यार करना चाहिए, जितना वह अपने को प्यार करता है। अतः, वे चाहते थे कि विश्व में जाति, धर्म, वैभव, शक्ति, वर्ग, राष्ट्र आदि को बंधन-भावना से मुक्त व्यक्तियों का समाज बनाना चाहिए। उनके विचारानुसार व्यक्ति आत्मशुद्धि द्वारा प्रेम और अहिंसा को प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति को विचार, वाणी तथा कर्म की वासना से मुक्त होना चाहिए। कवि सुमित्रानंदन पंत ने गांधीजी के दर्शन को निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है—

"मनुष्यत्व का तत्व सिखाता, निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।"

गांधीजी मानव-सेवा को ही ईश्वर-सेवा मानते थे। ईश्वरनिर्मित प्राणियों की सेवा करने से ही ईश्वर-ज्ञान हो सकता है। वे त्याग, वन-प्रस्थान या एकांत को ईश्वरप्राप्ति का सफल मार्ग नहीं मानते थे। समाज में रह कर मानव मात्र से प्रेम

कर तथा उसकी सेवा कर, जीवन में सद्गुणों के द्वारा ही ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। उन्होंने अपने इस आदर्श को जीवनपर्यंत निभाया, जिसे हम सभी जानते हैं।

गांधीजी की शिक्षा-परिकल्पना

शिक्षा मनुष्य की नैसर्गिक चेष्टा है, उसकी विकासशील प्रवृत्ति है। मनुष्य आदिकाल से सीखता आ रहा है और जो कुछ उसने सीखा, उसे शिक्षा का रूप दिया। शिक्षा मानव-समाज की संचित सीख है। वह उसे परंपरा और परिस्थिति के अनुसार ग्रहण करता है। शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो किसी पदार्थ या बीज के रूप में प्रदान की जाए। यह तो एक प्रकार की चेतना है, जिसे मनुष्य स्वयं प्राप्त करता है। एक यह गतिशील विषय है, इसका रूप स्थिर नहीं। इसकी सरिता में एक स्वाभाविक प्रवाह होता है। यह चेतन है, जड़ नहीं।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री स्ट्रेचर ने लिखा है—"शिक्षा वह है, जो विद्वान के कार्यों में अंतर ला देती है।" शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही शिक्षित व्यक्ति का समाज में दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक आदर होता है। वह विद्वान और अनुभवी महापुरुषों के गंभीर विचारों को शिक्षा के कारण ही सरलता से ग्रहण कर लेता है। शिक्षित होने के कारण ही भारतीयों ने मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान या सिंकियांग) चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, चंपा तथा लंका आदि देशों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया और मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बाली में अपने उपनिवेश स्थापित किए।

स्वामी विवेकानंद के शब्दों में "शिक्षा मनुष्य में निहित पूर्णता का उदय और प्राकट्य है।" बालकों में अनेक प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान हैं। इन शक्तियों का वास्तविक विकास शिक्षा द्वारा ही होता है। शिक्षा के अभाव में ये शक्तियाँ वर्तमान हैं। इन शक्तियों का वास्तविक विकास शिक्षा द्वारा ही होता है। इसके अभाव में ये शक्तियाँ प्रकाशित नहीं हो पातीं। शिक्षा द्वारा ही कोई बालक उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक के रूप में सफल जीवन व्यतीत करने योग्य बन पाता है। शिक्षा का ध्येय प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ा कर उत्कर्ष की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। यदि किसी राष्ट्र में एक पीढ़ी में भी शिक्षा की अवहेलना कर दी जाए, तो वह राष्ट्र बर्बरता की अवस्था में पहुँच जाएगा। भले ही वह एक शक्तिशाली राष्ट्र क्यों न हो। अतएव, शिक्षा से अधिक महत्त्व का दूसरा कोई कार्य नहीं।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो के मतानुसार किसी सरकार के अस्तित्व का नैतिक आधार शिक्षा है। अतएव, जो सरकार लोगों की शिक्षा के कार्य को भली

प्रकार से नहीं करती, वह अपनी स्थिति के नैतिक आधार खो देती है। अत्याचारी अथवा विदेशी सरकारें शिक्षा के कार्य की प्रायः अवहेलना करती हैं। तभी तो मेकाले ने अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और तत्कालीन हिंदू शिक्षा-प्रणाली का बहिष्कार करते हुए अपने पिता के पास पत्र लिखा था—"अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव हिंदुओं पर बहुत अच्छा पड़ रहा है और जो भी हिंदू अंग्रेजी पढ़ते हैं, वे अपने धर्म और समाज के भक्त नहीं रह जाते। उनमें कुछ तो दिखावे भर के लिए हिंदू रह जाते हैं, कुछ धर्मविरोधी बन जाते हैं और कुछ ईसाई हो जाते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी यह शिक्षा-योजना चलायी जाती रही, तो तीस वर्षों में बंगाल के उच्च वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं बच रहेगा।"

उपर्युक्त बातों से हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि किस प्रकार शिक्षा बालकों के व्यक्तित्व के निर्माण का ही नहीं, अपितु समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण का भी आधारस्तंभ है। जो राष्ट्र शिक्षा में जितना पिछड़ा रहता है, वह सभ्यता में भी उतना ही पीछे रहता है। विज्ञान के आविष्कारों का लाभ उसी राष्ट्र को होता है, जो सुशिक्षित है। आज प्रत्येक राज्य और राष्ट्र अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है कि उसके नागरिक सुशिक्षित हों।

वर्त्तमान काल में शिक्षा की महत्ता की वृद्धि के कारण हैं---(१) स्वतंत्र विचारों की वृद्धि, (२) सामाजिक भावों के प्रचार, (३) सांप्रदायिकता के निराकरण, (४) जनतंत्रवाद के प्रचार और आधुनिक आविष्कारों से लाभ उठाने की आवश्यकताएँ। जिस देश की जनता में जात-पाँत के जितने ही जटिल प्रश्न, छुआछूत तथा धार्मिक संप्रदायों के भेद-भाव होते हैं, उस देश की जनता उतनी ही पराधीन, दुखी और अविकसित रहती है। इसका निराकरण शिक्षा के प्रसार द्वारा ही किया जा सकता है। शिक्षा-प्रचार से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने-जैसा ही व्यक्ति मानने लगता है। वह दूसरे के व्यक्तित्व का उतना आदर करना सीख लेता है, जितना कि दूसरों से वह अपना आदर चाहता है। शिक्षा मनुष्य का चरित्र उदार बनाती है, जिससे वह समस्त संसार के प्रति मैत्री-भावना स्थापित करने में समर्थ होता है। उसका हृदय विशाल हो जाता तथा उसके लिए समस्त राष्ट्र अपने परिवार-जैसा ही दिखलायी देता है।

प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य का एक निश्चित उद्देश्य होता है। परंतु, शिक्षा के उद्देश्य का प्रश्न आज विवादास्पद है। कुछ शिक्षाशास्त्री शिक्षा के कार्य में उद्देश्य का निश्चित रहना आवश्यक समझते हैं और कुछ इस पर विचार करना व्यर्थ

समझते हैं। रोस, रस्क तथा डे के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य निश्चित होना आवश्यक है, परंतु डॉ० जॉन डिवी के अनुसार शिक्षा का वस्तुतः कोई लक्ष्य नहीं होता। उनके विचारानुसार शिक्षा एक विकासात्मक कार्य है और किसी भी विकासात्मक कार्य का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता, उसका उद्देश्य-निर्धारण करना कठिन है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जीवन के उद्देश्य पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य भिन्न होता है। एक ही व्यक्ति के विभिन्न काल में विभिन्न उद्देश्य होते हैं। अतएव, समाज भर के लिए शिक्षा का एक उद्देश्य मान लेना शिक्षा का विकासात्मक कार्य मैं नहीं मानता।

परंतु, डॉ० डिवी का विचार सर्वमान्य नहीं। मानव जाति में एकता कुछ विचारों की समता पर अवलंबित है। यदि विचारों की समता नहीं होगी, तो समाज में एकता और शांति किस आधार पर स्थापित होगी ? शिक्षा व्यक्ति के विचारसाम्य को दृढ़ करती है, जिससे मानव-समाज सभ्य कहलाता है और उसमें एकता बनी रहती है। उद्देश्यविहीन शिक्षा कोई अर्थ नहीं रखती। अतः, शिक्षा का एक निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। फलतः उस ओर बढ़ने में हमें सरलता और सुगमता का अनुभव होगा। कुछ शिक्षाशास्त्रियों के मतानुसार शिक्षा का लक्ष्य व्यापारिक है, जबकि कुछ लोगों ने इसे ज्ञान-संबंधी तथा संस्कृति-संबंधी होना निर्धारित किया है। कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने पूर्ण जीवन-संबंधी उद्देश्य की चर्चा की है, तो कुछ ने शिक्षा का उद्देश्य नैतिक और कुछ ने सामाजिक माना है।

जनसाधारण का विचार है कि शिक्षा जीविका-निर्वाह में सहायता करे अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य व्यापारिक होना चाहिए, जो जीविकोपार्जन में सहायक हो। अधिकांश लोग इसी उद्देश्य से अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए बेचैन रहते हैं। परंतु, केवल व्यापारिक शिक्षा से जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीविकोपार्जन के अतिरिक्त जीवन के और भी कई पहलू हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपना स्थान जानना चाहिए और एक-दूसरे के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, उनके लिए सचेत रहना चाहिए।

ज्ञान-संबंधी उद्देश्य व्यापारिक उद्देश्य के विपरीत है। पहला बिल्कुल सांसारिक है तथा दूसरा बुद्धि की संपत्ति को बढ़ाता है। पहला जीवन-संघर्ष के लिए आवश्यक है, दूसरा आत्मोत्कर्ष के लिए। इसके लिए शांत और एकांत वातावरण आवश्यक है तथा अवकाश के समय इसकी पूर्णता की प्राप्ति होती है। प्रारंभिक अवस्था में सभी ज्ञान कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचाते हैं। जेम्स का कहना है कि ज्ञान

का प्रत्येक अंश हमसे कहता है कि तुम्हारा रहन-सहन ऐसा हो, ऐसा नहीं। परंतु, इस कारण को दृष्टि में रख कर हमसे यह आशा नहीं की जा सकती कि हम सारे ज्ञान-भांडार को अपना बना लें। उचित तो यह है कि इनमें से कुछ चुन कर हम ग्रहण करें।

संस्कृति के उद्देश्य को भी ज्ञान के उद्देश्य का एक भाग समझना चाहिए। यह उद्देश्य उन लोगों के द्वारा निश्चित किया गया, जो केवल इस बात में विश्वास रखते हैं कि शिक्षा सबके लिए नहीं है। सांस्कृतिक शिक्षा में इस बात की कोशिश की जाती है कि शिक्षा में उन विषयों को रखा जाए, जिनके ज्ञान से एक व्यक्ति औरों की अपेक्षा सुसंस्कृत और सभ्य समझा जाए। यह सांस्कृतिक उद्देश्य जीवन की पूर्णता पर आधारित नहीं। इसमें उन परिस्थितियों का अध्ययन नहीं होता, जिनके आधार पर शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया जाता है।

हरबर्ट स्पेंसर ने शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्ण जीवन का निर्माण' बताया है। उनके अनुसार शिक्षा हमें जीवन के लिए केवल भौतिक अर्थ में तैयार नहीं करे, अपितु विस्तृत रूप में हमको यह भी सिखाए कि शरीर और मस्तिष्क का हम किस प्रकार व्यवहार करें, अपने जीवन के कार्यों को सम्यक् रूप से कैसे संपादित करें तथा आदर्श नागरिक जीवन कैसे व्यतीत करें। कुटुंब का पालन कैसे करें तथा जीवन का आनंद कैसे उठाएँ। पूर्ण जीवन की कल्पना संकीर्ण थी। शिक्षा-योजना में आध्यात्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं था। स्पेंसर जड़वादी थे, इसलिए विज्ञान को उन्होंने अत्यधिक महत्त्व दिया। उनकी शिक्षा-प्रणाली में कोई आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'चरित्र-संघठन' है। अरस्तू ने मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ देखीं, एक तीक्ष्ण अथवा पाशविक और दूसरी बौद्धिक तथा मानसिक। हरबर्ट का कहना है कि शिक्षा बुद्धि के द्वारा बुरी प्रवृत्तियों को जीत लेती है, अर्थात् मानवीय प्रवृत्ति विजय पाती है। शिक्षा का कर्त्तव्य उच्च विचार पैदा करना है, जिससे सदिच्छाएँ उत्पन्न हों। हरबर्ट की शिक्षा-प्रणाली से जर्मन राष्ट्र का कायापलट हो गया। उनकी शिक्षा ने जर्मनी के विद्वानों पर गहरा प्रभाव डाला। स्टाइन, इन्वोल्ट तथा दूसरे राजनीतिज्ञों ने इसका अनुकरण किया और अपने देश के लोगों में चामत्कारिक परिवर्तन कर दिए, जिनसे जर्मनी सभी प्रकार की विद्याओं में संसार का नेता बन गया। जहाँ जर्मनी अठारहवीं शताब्दी में तृतीय श्रेणी का राष्ट्र था, वहाँ इस शिक्षामहारथी की योजना से १९

वीं शताब्दी में प्रथम श्रेणी का राष्ट्र माना जाने लगा। किंतु, शिक्षा का यही एक उद्देश्य हो, यह संकुचित विचार है। हरबार्ट तथा उनके समर्थकों ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया है, उसमें विज्ञान और गणित का स्थान नहीं है, उसमें यह स्थिति आदर्श नहीं।

कतिपय शिक्षाशास्त्रियों के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक होना चाहिए; क्योंकि समाज और व्यक्ति का संबंध घनिष्ठ है। व्यक्ति का चरित्र व्यक्तिगत कसौटी पर नहीं कसा जाता। किसी के चरित्र की अच्छाई-बुराई समाज की दृष्टि से निश्चित की जाती है। बेकन ने लिखा है—शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाना है। समाज का स्थिर रूप नहीं होता। वह बदलता रहता है। समाज में परिवर्तन अवश्यंभावी है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक उद्देश्य व्यक्ति के जीवन का आवश्यक अंग दृढ़ करता है। परंतु, जीवन में अकेला सामाजिक क्षेत्र ही तो नहीं है। मनुष्य जड़-चेतन दोनों के संपर्क में आता है। अतः, इनको समझने के लिए ज्ञान, विज्ञान, साहित्य धर्मशास्त्र इत्यादि अन्य विषयों की भी आवश्यकता है।

महात्मा गांधी शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानव-जीवन का सर्वतोमुखी विकास मानते थे। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए लिखा है कि "शिक्षा से मेरा तात्पर्य है—शिशु एवं मानव के शरीर, मन एवं आत्मा में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों का विकास।" बड़े स्पष्ट शब्दों में उन्होंने यह बतलाया है—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय है—बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाए जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास।"

महात्मा गांधी भारतीय जनता को सब तरह खुशहाल बनाना चाहते थे। वे भारत को राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दासता के बंधन से सर्वथा मुक्त करना चाहते थे। अतः, शिक्षा की महौषधि को उन्होंने सार्वभौमिक रूप में प्रसारित करना चाहा। वे चाहते थे कि भारतीय पूर्ण मनुष्य एवं उपयोगी नागरिक बनें। भारत के प्रत्येक व्यक्ति साक्षर नहीं, अपितु शिक्षित हों। वे साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे। वे इसे ज्ञान का माध्यम भी नहीं स्वीकार करते थे। उनका कहना था-"साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न प्रारंभ। यह केवल एक साधन है, जिसके द्वारा पुरुष एवं स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।"

शरीर, मन और आत्मा जिस विद्या से विकसित और परिपुष्ट हों, वही वास्तविक शिक्षा है। मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, आत्मिक, आध्यात्मिक

और शास्त्रीय, सभी गुणों का विकास होना चाहिए। हमारी शिक्षा समग्र, सर्वांगीण एवं संतुलित गुणों का विकास करने वाली हो। व्यक्ति का एकांगी विकास हमारा लक्ष्य नहीं। हमारे नागरिक दार्शनिक हों, वैज्ञानिक हों, शिल्पकार और चित्रकार हों, नीतिवान और सच्चरित्र हों तथा देशभक्ति और विश्वबंधुत्व की कामना से ओतप्रोत हों। तभी भारत का कल्याण होगा। प्लेटो का यह कथन कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास (All round development of the personality) समीचीन है। शिक्षा का कार्य न तो केवल किताबी ज्ञान देना है अपितु शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक, भावात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक आदि उत्कर्ष करना भी है—गांधीवादी शिक्षा-दर्शन यही चाहता है। महात्मा गांधी ऐसा मानते थे कि सच्ची शिक्षा वही है, जो बालकों की आध्यात्मिक, मानसिक अथा शारीरिक शक्तियों को विकसित एवं उत्तेजित करती है। वे चाहते थे कि शिक्षा द्वारा मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा की सारी शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हों। इन शक्तियों के विकास में समग्रता एवं संतुलन की भी दृष्टि रखनी होगी। समाज को संतुलित व्यक्तियों की ही जरूरत है। भारत का नवनिर्माण केवल श्रम-निष्ठ, एवं संतुलित दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों से ही हो सकता है। ऐसे व्यक्ति जीवन की प्रक्रियाओं को करते हुए जीवन के द्वारा और जीवन की समोन्नति करने के हेतु शिक्षा पाते हैं।

महात्मा गांधी का कहना है कि हमारे जीवन का इस भौतिक लोक एवं परलोक दोनों से संबंध है। अतः, उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य को भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद दोनों से स्थापित किया है। शिक्षा का उद्देश्य इन दोनों जीवनादर्शों की उपलब्धि एवं पूर्ति होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों को दो भागों में बाँटा है, जो निम्नांकित हैं—

१. तात्कालिक उद्देश्य (Immediate Aim) और
२. सर्वोच्च उद्देश्य (Ultimate Aim)।

(१) शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य

जीवन के सभी पक्षों से संबंध रखने के कारण गांधीजी की शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य अनेक हैं। यहाँ हम इनमें से प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कर रहे हैं। यथा—

(क) जीविकोपार्जन-संबंधी उद्देश्य

इस उद्देश्य का अर्थ यह है कि शिक्षा बालक को बड़े होने पर जीविकोपार्जन के योग्य बनाए। यदि शिक्षा यह कार्य नहीं करती है, तो वह व्यर्थ है। यदि वह व्यक्ति की भोजन, वस्त्र और मकान की मूल आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं करती है, तो यह निरर्थक है।

कुछ लोगों को शिक्षा का यह उद्देश्य तुच्छ और भौतिकवादी जान पड़ता है। पर, यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यदि हम भौतिक, नैतिक और मानसिक प्रगति चाहते हैं, तो हमें अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सबसे पहले संतुष्ट करना पड़ेगा। इसी विचार से प्रेरित होकर गांधीजी ने शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य मनुष्य की रोटी और रोजी की समस्या को हल करना बतलाया। इसीलिए उन्होंने आत्मनिर्भर बनाने वाली शिक्षा पर बल दिया। उनका कहना है—"शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी के विरुद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिए। ७ वर्ष का कोर्स समाप्त करने के बाद १४ वर्ष की आयु में बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर भेजा जाना चाहिए।"

(ख) सांस्कृतिक उद्देश्य

गांधीजी ने संस्कृति और शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य को बताते हुए १९४६ ई० में 'कस्तूरबा बालिका आश्रम', नई दिल्ली की बालिकाओं से कहा—"मैं शिक्षा के साहित्यिक पक्ष के बजाय सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता हूँ। संस्कृति बालिकाओं के लिए मुख्य चीज है। उन्हें अपने बोलने, बैठने, चलने, कपड़े पहनने और छोटे-से-छोटे कार्य एवं व्यवहार में अपनी संस्कृति को व्यक्त करना चाहिए।"

इस प्रकार गांधीजी के अनुसार संस्कृति मानसिक कार्य का परिणाम नहीं है। इसके विपरीत, यह आत्मा का गुण है, जो मानव-व्यवहार के प्रत्येक पहलू में पाया जाता है।

(ग) सामंजस्यपूर्ण विकास का उद्देश्य

इस उद्देश्य का अर्थ यह है कि बालक की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को इस प्रकार विकसित किया जाए कि उसका सामंजस्यपूर्ण विकास हो। यही विचार गांधीजी का है। उन्होंने लिखा है—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाए जाने वाले सर्वोत्तम

गुणों का चतुर्मुखी विकास। सच्ची शिक्षा वही है, जो बालकों को आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों को व्यक्त तथा प्रेरित करती है।"

२ "ट्रांसवाल (Transval) के टाल्स्टाय फार्म (Tolstoy Farm) पर गांधीजी ने बालकों को इसी प्रकार की शिक्षा दी। वहाँ उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि हृदय को सच्चा प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है, तो मानसिक प्रशिक्षण बेकार हो जाता है। इसलिए उन्होंने हृदय के प्रशिक्षण को मस्तिष्क के प्रशिक्षण से उच्च स्थान दिया है। दूसरे शब्दों में, उनका मत है कि मस्तिष्क की संस्कृति को हृदय की संस्कृति के अधीन होना चाहिए। हृदय की शिक्षा संवेगों और आवेगों (Emotions and Impulses) को पवित्र बना कर और प्रेम, सहानुभूति तथा सौंदर्यात्मक भावनाओं को जगा कर प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए ड्राइंग, संगीत और दस्तकारियों का अध्ययन आवश्यक है।

मस्तिष्क और हृदय के विकास के साथ-साथ गांधीजी शरीर के विकास पर भी बल देते हैं। उन्हें इस बात में दृढ़ विश्वास है कि मस्तिष्क और हृदय को तभी शिक्षित किया जा सकता है, जब शरीर के अंगों को उचित व्यायाम और प्रशिक्षण दिया जाए। डॉ० पटेल का कथन है—"गांधीजी का विश्वास है कि जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास आत्मा की जागृति के साथ-साथ नहीं होगा, तब तक पहले प्रकार का विकास एकांगी सिद्ध होगा। पूर्ण मनुष्य का निर्माण करने के लिए इन तीनों का उचित और सामंजस्यपूर्ण मिश्रण आवश्यक है।"

(घ) नैतिक या चारित्रिक विकास का उद्देश्य

हरबर्ट का कथन है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—नैतिक विकास। गांधीजी का भी विश्वास है कि 'चरित्र-निर्माण' शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—"मैंने हृदय की संस्कृति या चरित्र के निर्माण को सदैव प्रथम स्थान दिया है।"

गांधीजी ने चरित्र-निर्माण को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि यदि उन्हें साक्षरता और चरित्र-निर्माण में एक को चुनना होता, तो वे 'चरित्र-निर्माण' को चुनते। एक बार उनसे पूछा गया---"जब भारत स्वतंत्र हो जाएगा, तब आपकी शिक्षा का क्या लक्ष्य होगा?" उन्होंने फौरन ही उत्तर दिया---'चरित्र-निर्माण'। वे ज्ञान की उपयोगिता केवल चरित्र-निर्माण के लिए मानते हैं। उनका कहना है-समस्त ज्ञान का लक्ष्य चरित्र का निर्माण करना होना चाहिए। व्यक्तिगत पवित्रता समस्त चरित्र-निर्माण का आधार होना चाहिए। चरित्र के बिना 'शिक्षा' और

पवित्रता के बिना 'चरित्र' व्यर्थ है।"

(ङ) मुक्ति का उद्देश्य

गांधीजी के अनुसार शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की मुक्ति है—"सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् शिक्षा या विद्या वही है, जो मुक्त करती है। गांधीजी ने इसके दो अर्थ बताए हैं। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ—वर्त्तमान जीवन में भी सब प्रकार की क्षमता से स्वतंत्रता वह दासता आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक हो सकती है। जब तक मनुष्य इनमें से किसी भी बेड़ी में बँधा हुआ है, तब तक उसकी प्रगति असंभव है। अतः, शिक्षा का उद्देश्य है—"मनुष्य को सभी प्रकार की दासता से मुक्त करना।"

दूसरा अर्थ जिस पर गांधीजी ने अधिक बल दिया है, उनके शब्दों में यह है—"गुजरात विद्यापीठ का आदर्श सूत्रवाक्य है—"सा विद्या या विमुक्तये।" इसका अर्थ है कि विद्या वही है, जो मुक्ति देती है। इस सिद्धांत के आधार पर कि बड़े में छोटे का समावेश होता है, राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आध्यात्मिक स्वतंत्रता में स्थान है। अतः, शिक्षा-संस्थाओं में प्राप्त किए जाने वाले ज्ञान को आध्यात्मिक स्वतंत्रता का मार्ग दिखाना चाहिए और वहाँ तक पहुँचाना चाहिए।" उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि वे शिक्षा द्वारा सांसारिक बंधनों से आत्मा की मुक्ति चाहते हैं। अतएव, शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए---आत्मा को उच्चतर जीवन की ओर उठाना।

(२) शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य

गांधीजी के अनुसार शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य है—अंतिम वास्तविकता का अनुभव, ईश्वर और आत्मानुभूति का ज्ञान।

शिक्षा के सभी तात्कालिक उद्देश्य इस उद्देश्य से निम्न हैं। गांधीजी आत्मानुभूति को जीवन और शिक्षा का सर्वोत्तम कार्य मानते हैं। मनुष्य का नैतिक और पूर्ण विकास इसलिए किया जाना चाहिए, जिससे कि वह अंतिम वास्तविकता को जान सके और अपने नश्वर शरीर को अनश्वर शरीर का भाग बना सके। यही अंतिम ध्येय है, जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है---"टाल्सटाय फार्म पर बालकों को शिक्षा देने का कार्य करने से पहले मुझे इस बात का ज्ञान हो गया था कि आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं एक महान् कार्य है। आत्मा का विकास करना---चरित्र का निर्माण करना है और व्यक्ति को ईश्वर तथा आत्मानुभूति के लिए कार्य करने के योग्य बनाना है।"

महात्मा गांधी और तत्कालीन समाज

महात्मा गांधी ने तत्कालीन समाज की ओर देखा। भारतीय अपने आदर्श को भूल गए थे। जनता शोषण, गरीबी, विषमता, अज्ञानता और भय से त्रस्त थी। सामान्य लोगों के पढ़ने-पढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं थी। निर्धन बालक निरक्षर बने रह कर ही प्रौढ़ता और वार्द्धक्य को प्राप्त हो जाते थे। उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती थी। देश की इस भयंकर स्थिति में शिक्षा के तात्कालिक और सर्वोच्च उद्देश्य की बात कौन करता ? यदि किसी ग्रामीण के नाम कहीं से एक पत्र आ जाता, तो वह उसे लेकर दूसरे गाँव में किसी व्यक्ति को खोजता रहता, जो पढ़ना जानता हो। ऐसी परिस्थिति में सामान्य भारतीय जनता की स्थिति बड़ी दुःखद और दयनीय थी। उनके पास अर्थोपलब्धि का कोई साधन नहीं था। नौकरी भी पढ़े-लिखे वर्ग को ही उपलब्ध हो सकती थी। ऐसी विपदा के समय महात्मा गांधी एक मसीहे के समान अवतीर्ण हुए और उन्होंने इस विपरीत स्थिति के निराकरण का मार्ग ढूँढ़ा। इसके लिए उन्होंने शिक्षा को माध्यम बनाया। उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण हेतु अपनी मौलिक सूझ के आधार पर 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति' की रूपरेखा दी। भारतीय परिवेश में इससे बढ़ कर कोई शिक्षा-पद्धति संभव भी नहीं थी। वर्धा में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा संमेलन' के अवसर पर उन्होंने इस संबंध में अपना विचार प्रकट किया। उनके ये विचार आधुनिक शिक्षा-जगत् की एक अमूल्य देन हैं। अगली पंक्तियों में हम वर्धा में दिए गए शिक्षा-संबंधी विचारों से परिचित होंगे।

वर्धा शिक्षा-संमेलन

२२ और २३ अक्टूबर, १६३७ ई० को वर्धा के मारवाड़ी हाई स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) में महात्मा गांधी के सभापतित्व में भारत के शिक्षाशास्त्रियों की एक सभा बुलायी गई, जिसमें शिक्षा-संबंधी अपना मत प्रकट करते हुए उन्होंने बतलाया कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति (अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति अथवा परंपरागत शिक्षा-पद्धति) द्वारा भारतीय जनसमाज को शिक्षित करने के प्रयास से हम अपने उचित लक्ष्य की उपलब्धि नहीं कर सकते। इससे विद्यार्थियों का नैतिक उत्थान संभव नहीं। इसमें विदेशी भाषा को महत्त्व दिया गया है और मातृभाषा का स्थान गौण है। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पुस्तकप्रधान अर्थात् बौद्धिक और साहित्यिक है। यहाँ प्रयोगों को केवल रटाया जाता है। अतः, यह पद्धति जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर तथा कृत्रिम है। इसमें विषयों का मौखिक वर्णन होता है। उस वर्णन

को समझने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु हमारे समक्ष नहीं रखी जाती। यह पद्धति उच्च वर्ग (धनी वर्ग) के लिए ही संभव है। इसमें व्यावहारिक कुशलता और सामाजिक निपुणता का अभाव है। विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता है। ज्ञान-प्राप्ति की यह विधि बनावटी है। विषयों का आपस में कोई संबंध नहीं। इस प्रसंग में यह भी कहा गया कि वर्त्तमान शिक्षा किसी प्रकार की जीविका-वृत्ति के लिए मार्ग प्रदर्शित नहीं करती, इसमें किसी प्रकार के उत्पादनशील कार्य की क्षमता नहीं है। यहाँ शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखा जाता है, जिसके कारण बेकारी की समस्या बढ़ती जा रही है।

गांधीजी का कहना पूर्णतः यथार्थ और सत्य था; क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य भारतीय जनता में व्यापक शिक्षा का प्रचार नहीं, अपितु अपने सरकारी कार्य-संचालन के लिए किरानियों और दफ्तरियों की आवश्यकता थी। तभी तो अंगरेजी शिक्षा-नीति का प्रारंभ करते हुए २ फरवरी, १८३५ ई० को लार्ड मेकॉले ने बड़े स्पष्ट ढंग से इस आशय के शब्द व्यक्त किए थे -- "हम चाहते हैं कि भारतीय केवल रंग में ही भारतीय रहें, किंतु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार सभी बातों में पूर्णतः अंगरेज बन जाएँ" ("A class of persons Indian in blood and colour but English in taste, in opinion, in morals and in intellect." Quoted by S. N. Mukherjee, History of Education.

मेकॉले ने अंगरेजी भाषा की प्रशंसा करते हुए कहा था -- "हमारी भाषा पाश्चात्य भाषाओं में भी सर्वोपरि (Pre-eminent) है। जो इस भाषा की जानकारी प्राप्त करता है, वह सुगमता से उस विशाल ज्ञानभांडार तक पहुँच सकता है, जिसकी रचना संसार की समस्त बुद्धिमान जातियों ने की है। इसे शीघ्र ही पूर्व के समुद्रों में वाणिज्य की भाषा बनने की संभावना है।"

("Whoever knows that language has ready access to all the vast intellectual wealth which all the wisest nations of the earth have created. It is likely to become the language of commerce throughout the seas of the East." -- Macaule Minute.)

वस्तुतः ऐसा ही हुआ भी। विदेशी सभ्यता ने भारतीय जनमानस पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है।

वर्धा-संमेलन में बुनियादी शिक्षा-पद्धति पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ तथा जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए, वे ही बुनियादी शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की चर्चा अगले पृष्ठों में की जाएगी। अभी हमलोग वर्धा शिक्षा-संमेलन में महात्मा जी द्वारा दिए गए भाषण का अंश देखें। इससे विषय विशेष स्पष्ट होगा।

महात्मा गांधी और वर्धा-संमेलन

वर्धा-संमेलन में महात्मा गांधी ने जो भाषण किया था, उसका अंश निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है :—

"मुझे आपके सामने दो बातें रखनी हैं—एक प्राथमिक शिक्षा के बारे में, और दूसरी हाई स्कूल-कॉलेज की शिक्षा के बारे में। मैं इस ख्याल का हूँ कि प्राथमिक और माध्यमिक दोनों शिक्षाओं को मिला दिया जाए। वजह यह है कि मुझे इस चीज का बहुत पुराना तजुरबा है, जिसे उम्मीद है कि आगे चलकर आप भी स्वीकार करेंगे। सन् १९१५ ई० से अब तक हिंदुस्तान के गाँवों में जितना मैं घूमा हूँ और जिस हद तक उनके अंदर मैं पैठा हूँ, उतना शायद ही कोई घूमा और पैठा हो। दक्षिण अफ्रीका में मैंने इसका खूब अनुभव किया है; क्योंकि वहाँ भी मेरा ज्यादातर संबंध गिरमिटों से रहता था और मैं उन्हीं में काम करता था। इस तरह करीबन २२-२३ वर्ष की उम्र से जिन लोगों के बीच रह कर जो अनुभव मैंने पाया है, उसमें मैं उनकी हालत को बखूबी जानने लगा हूँ और थोड़ा-बहुत यह भी जानता हूँ कि उनके साथ हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा की जो शकल आज है, उसे मैंने गाँवों में देखा है, और इधर तो मैं एक गाँव ही में रहने लगा हूँ। और जब मैं गाँव के इन लड़कों की पढ़ाई को देखता हूँ, तो फौरन समझ लेता हूँ कि क्या चीज है; क्योंकि इसका न कोई ढंग, न ध्येय है। इसलिए मैं तो समझता हूँ कि अगर हम देहातों को कुछ देना चाहते हैं, तो जरूरी है कि सेकेंडरी तालीम को प्राइमरी के साथ मिला दिया जाए। इसलिए अब हमने जो कुछ बनाया है या बनाने जा रहे हैं, वह शहरों के लिए नहीं, बल्कि पूरे का पूरा गाँव के लिए है। कॉलेजों के बारे में मैं मानता हूँ कि मेरा अनुभव बहुत कम है, नहीं-सा है। लेकिन, कॉलेज के विद्यार्थियों से जितना ताल्लुक मेरा आता है, उतना शायद बहुत थोड़ों का आता होगा। सच है, मैं कभी उनका प्रोफेसर नहीं रहा, लेकिन उनके दिल से अपना दिल जरूर मिलाया है। जहाँ उनकी ख्वाहिशों और आकांक्षाओं को जानता हूँ, वहाँ उनकी कमजोरियों और बुराइयों से भी वाकिफ हूँ। फिर थोड़ी-बहुत 'कामनसेंस' भी तो मुझमें है। मगर, यह सब कुछ होते हुए भी मैं मानता हूँ कि मेरा कॉलेज का अनुभव नहीं के बराबर है। परंतु, आज तो हमें प्राथमिक शिक्षा पर ही पूरे तौर से विचार करना है।

"मेरा ख्याल है कि आजकल देहाती मदरसों में लड़कों को जो कुछ पढ़ाया जाता है, उससे देहात वालों को नुकसान ही होता है। लड़के कुछ समय के लिए मदरसे जाते हैं, मगर वहाँ जा कर भी उन्हें असंतोष रहता है। उनमें अधिकतर या तो शहरी बन जाते हैं या गाँवों के प्रति अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं और कुछ तो बदमाशी वगैरह भी सीख लेते हैं। इसलिए अपने अब तक के अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि हमारी मौजूदा प्राइमरी तालीम से गांव वालों को कोई फायदा नहीं पहुँचता।

तो सवाल होता है कि इस प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो? मेरा जवाब यह है कि किसी उद्योग या दस्तकारी को बीच में रखकर, उसके जरिए ही सारी शिक्षा दी जानी चाहिए। आप जानते हैं, मेरे चार लड़के हैं। इनमें एक तो बागी हो गया है, बाकी तीनों मेरे साथ हैं। चंद धंधों की मार्फत मैंने उनको जो तालीम दी है, उससे उन्हें फायदा ही पहुँचा है। अपनी वकालत के दिनों में भी मैं घर पर कुछ-न-कुछ उद्योग किया करता था और बच्चों को भी बढ़ईगिरी की तालीम देता था। जूते बनाने का काम मैंने श्री केलनबैक से सीखा, जो कुछ इसे 'टैफिस्ट मोनेस्टरी' में सीख कर आये थे; क्योंकि वह लोग हिंदुस्तानियों को सिखाते नहीं थे। इस तरह जिन्होंने मुझसे तालीम ली, मैं नहीं समझता हूँ कि उनकी दिमागी हालत कमजोर रही या कोई नुकसान उन्हें पहुँचा। टाल्सटाय फार्म में भी शिक्षा का यही तरीका रहा। वहाँ तो तरह-तरह के लड़के थे, अच्छे, बुरे और बदमाश सभी जिनमें हिंदू भी थे, मुसलमान भी थे और पारसी भी थे। ये सब एक दूसरे के साथ मिलजुल कर रहते थे और अपने-अपने धर्मों का पालन करते थे। वजह इसकी यह भी थी कि मैंने उनको सिर्फ किताबी तालीम नहीं दी, बल्कि साथ-साथ कुछ धंधे भी सिखाए। जिनमें कुछ ने चमड़े का काम सीखा, कुछ ने बढ़ईगिरी सीखी और चंद ऐसे भी निकले, जो आज इन धंधों के जरिए काफी कमा रहे हैं। इन सबको मैंने वही सिखाया, जो मैं खुद थोड़ा-बहुत जानता था।

"लेकिन आज मैं जो चीज आपके सामने रखने जा रहा हूँ, वह पढ़ाई के साथ-साथ एक धंधा सिखा देने की चीज नहीं है। मैं तो अब यह कहना चाहता हूँ कि लड़कों को जो कुछ भी सिखाया जाए, सब किसी-न-किसी उद्योग या दस्तकारी के जरिए सिखाया जाए। आप कह सकते है कि मध्य युग में हमारे यहाँ लड़कों को सिर्फ धंधे ही सिखाए जाते थे। मैं मानता हूँ। लेकिन, उन दिनों धंधों के जरिए सारी तालीम देने की बात लोगों के सामने न थी। धंधा सिर्फ धंधे के ख्याल से सिखाया जाता था। हम तो धंधे व दस्तकारी की मदद से दिमाग को भी आला बनाना चाहते हैं। आज हालत यह है कि लुहार का लड़का लुहारी नहीं जानता और

सुनार का सुनारी छोड़ बैठा है। इन्होंने किताबी तालीम तो पायी, मगर अपने पेशे को भूल गए, उससे मुँह फेर लिया। अब गाँव छोड़कर शहर में बसते हैं और क्लर्की करते हैं। अगर वह पढ़-लिख कर भी अपने पुश्तैनी धंधों को न छोड़ते और उनमें तरक्की करके दिखाते, तो आज हिंदुस्तान की जैसी बुरी हालत हो गई है, वैसी न हो पाती। आज देहात में कहीं भी चले जाइए, अच्छे बढ़ई, लुहार या कारीगर के दर्शन नहीं होते। मेरे जो साथी गाँव में बैठ कर काम कर रहे हैं, उनका यह भी तजुरबा है कि वहाँ जो बढ़ई वगैरा हैं, वे अपने धंधे के लिहाज से नकामयाब-से हैं। दूर क्यों जाएँ? इस चरखे ही को ले लीजिए, जो सारे हिंदुस्तान में फैला हुआ था। मगर, अंग्रेज इसे इंगलैंड ले गए और वहाँ इसमें उतनी तरक्की कर दी कि बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हो गईं। मेरा आशय यह नहीं है कि उन्होंने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मगर, इसमें तो कोई शक नहीं कि जब उनलोगों ने इतनी तरक्की कर ली, तो हम जो कुछ हमारा था, उसे खो बैठे।

"इसलिए मेरी दरख्वास्त यह है कि हम सिर्फ उद्योग या दस्तकारी ही न सिखाएँ, बल्कि उन्हीं के जरिए बच्चों को सारी तालीम दें। मसलन् तकली ही को ले लीजिए। इस तकली का सबक हमारे विद्यार्थी का पहला सबक होगा, जिसके जरिए वह कपास का, लंकाशायर का और अंग्रेजी सल्तनत का बहुत कुछ इतिहास सीख सकेगा। मैं खुद भी यही कर रहा हूँ। मेरा पोता छह साल का है। वह लिखता तो बहुत मामूली है, और लिखना मैं अभी उसके लिए जरूरी समझता भी नहीं, पर वह ज्यादातर मेरे साथ हवाखोरी के लिए जाता-आता है और घर पर तकली चलाना भी सीखता है। इस तकली में आज उसे जो दिलचस्पी है और इसके जरिए वह जो इल्म हासिल कर रहा है, वैसा हमारे पुरखे शायद नहीं करते थे। यह तकली कैसे चलती है, इसका क्या उपयोग है और इसके अंदर क्या-क्या ताकत पड़ी हुई है, सो सब खेल-ही-खेल में बालक जान लेता है। इसी के जरिए थोड़ा गणित का ज्ञान भी उसे मिल जाता है; क्योंकि तकली पर जो सूत वह कातता है, अगर उस सूत के तार उससे गिनवाए जाएँ और पूछा जाए कि कितने तार काते, तो धीरे-धीरे इसके अंदर से उसे गणित का भी काफी ज्ञान कराया जा सकता है। और, खूबी यह है कि उसके दिमाग पर इन सबका जरा भी बोझ नहीं पड़ता। सीखने वाले को तो पता भी नहीं चलता कि वह कुछ सीख रहा है। वह अपना खेलता-कूदता और गाता रहता है, तकली चलाता रहता है और इसी में बहुत कुछ सीख लेता है।

"अब आप देखिए कि मैं क्यों इस चीज पर इतना जोर देता हूँ। सिर्फ तकली की बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने उसकी ताकत और उसमें

रोमांस का अनुभव किया है। और आज तो इस तकली के जरिए ही हम अपने करोड़ों बालकों को शिक्षा दे सकते हैं। इसलिए मेरा फर्ज हो जाता है कि इस काम के लिए आपलोगों के अंदर दिलचस्पी पैदा कर दूँ। जहाँ तक मेरा तजुरबा कहता है, मैं तो प्राथमिक शिक्षा के लिए तकली ही को बीच में रखना चाहता हूँ। लेकिन, अगर आप लोगों के ख्याल में और कोई धंधा आता हो, तो आप निस्संकोच उसे सुझाइए, ताकि हम उस पर विचार कर लें। तकली मुझे सबसे ज्यादा इसलिए जँचती है कि इसे छोड़ कर और धंधे के लिए हमारे पास और कोई सामान मौजूद नहीं है। तकली को न ज्यादा खर्च की गरज है, न सरंजाम की। मैं जानता हूँ कि इसे लेकर आप कामयाबी तक पहुँच सकेंगे। और इसमें तो मैं भी आपकी मदद कर सकता हूँ। लेकिन इसे छोड़कर दूसरा कोई धंधा ऐसा नहीं है, जिसे मुल्क की मौजूदा गिरी हुई हालत मे, हम यहाँ से वहाँ तक जारी कर सकें।

"मेरी सलाह है कि वे प्राइमरी तालीम के लिए तकली को ही बीच मे रखें और उसी से लड़कों की पढ़ाई शुरू करें। पहले साल से लड़कों को सब कुछ तकली ही के बारे में बताया जाए, फिर दूसरे साल तकली के साथ-साथ और बात भी शामिल की जाएँ। तकली के जरिए कमाई भी काफी हो सकेगी और उसके फैलाव में रुकावट भी न आएगी; क्योंकि इसकी सूत से जो कपड़ा तैयार होगा, उसके पहनने वालों की संख्या हमारे यहाँ इतनी है कि अपने हीं बच्चों द्वारा बनाए गए कपड़ों को छोड़ कर दूसरा कपड़ा खरीदने की हमें जरूरत न पड़ेगी और यह कपड़ा खरीदना हम पसंद भी करेंगे।

"मैंने सोचा है कि यह पाठ्यक्रम कुल सात साल का रखा जाए। इस जहाँ तक तकली का संबंध हैं, विद्यार्थी बुनाई तक के व्यावहारिक ज्ञान में निपुण हो जाएँगे। कपड़ा जितना हम बना पाएँगे, उसके लिए ग्राहक तो तैयार हैं ही।

"मैं इस बात के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ कि दस्तकारी के जरिए विद्यार्थी जो कुछ पैदा करे, उसकी कीमत से शिक्षा का व्यय निकल आए; क्योंकि मुझे विश्वास है कि देश के करोड़ों बच्चों को तालीम देने के लिए सिवा इसके दूसरा कोई रास्ता नहीं है। और न यही उचित है कि हम उस समय तक ठहरे रहें, जबकि सरकार अपने खजाने से हमें आवश्यक रुपया दें, या वाइसराय फौजी खर्च कम कर दें, या इसी तरह का कोई और कारगर जरिया निकल आए। आप लोग यह भी समझ लीजिए कि प्राथमिक शिक्षा की इस योजना में सफाई, आरोग्य और आहार-शास्त्र के प्रारंभिक सिद्धांतों का समावेश भी हो जाता है। इसमें बच्चों की वह शिक्षा भी शामिल समझिए, जिससे वे अपना काम खुद करना सीखेंगे और घर पर अपने

माँ-बाप के भी काम में मदद पहुँचाएँगे। आजकल हमारे बच्चों को न सफाई का ख्याल होता है, न साफ-सुथरेपन का, वे न अपने पैरों पर खड़ा होना जानते हैं, न उनका स्वास्थ्य ही ठीक रहता है। मैं चाहूँगा कि उनके लिए संगीत के साथ लाजिमी तौर पर ऐसी कवायद और कसरत आदि का प्रबंध हो जाए, जिससे उनकी तंदुरुस्ती सुधरे और जीवन तालबद्ध बने।

"मुझ पर यह दोष लगाया जा रहा है कि कि मैं साहित्यिक या अदबी शिक्षा के खिलाफ हूँ। मगर, बात ऐसी नहीं है। मैं तो केवल वह तरीका बता रहा हूँ, जिसमें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए। मेरे स्वावलंबन के पहलू पर भी हमला किया गया है। कहा गया है कि जहाँ प्राथमिक शिक्षा पर हमें लाखों रुपया व्यय करना चाहिए, वहाँ उल्टे हम बच्चों से ही उसे वसूल करने जा रहे हैं। साथ ही यह अंदेशा भी बतलाया जाता है कि इसमें देश की बहुत शक्ति नाहक खर्च होगी। लेकिन, अनुभव इस अंदेशे को गलत साबित कर चुका है और जहाँ तक बच्चें पर बोझ डालने या उनका शोषण करने का प्रश्न है, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या यह बोझ उन्हें उनके सर्वनाश से बचाने के लिए नहीं है? तकली बच्चों के खेलने का एक काफी अच्छा खिलौना है। महज इसलिए कि वह एक उत्पादक चीज है, यह नहीं कहा जा सकता कि वह खिलौना नहीं है या खिलौने से किसी कदर कम है। आज भी देहात में बच्चे किसी हद तक अपने माँ-बाप की मदद करते ही हैं। खेती-किसानी की बातों में तो हमारे ये गाँव के बच्चे मुझसे कहीं अधिक जानते हैं; क्योंकि उन्हें अपने माँ-बाप के साथ खेतों में काम करना पड़ता है। लेकिन जहाँ बच्चों की इस हालत को बढ़ावा दिया जाएगा कि वे कातें और खेती के काम में अपने माँ-बाप की मदद करें, जहाँ उन्हें यह महसूस करने का अवसर भी दिया जाएगा कि उनका संबंध सिर्फ उनके माँ-बाप से ही नहीं, किंतु अपने गांव और देश से भी है और उन्हें इनकी भी सेवा करनी है, इसलिए मेरे विचार में तो शिक्षा का यही एक तरीका आता है। मंत्रियों से मैं यह कहूँगा कि वे खैराती शिक्षा देकर देश के बच्चों को असहाय या अपाहिज ही बनाएँगे, जबकि उनकी शिक्षा के लिए उनसे खुद परिश्रम करा कर वे उन्हें बहादुर और आत्मविश्वासी बना सकेंगे।

"शिक्षा का यह ढंग हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई सभी के लिए एक-सा होगा। मुझसे पूछा गया है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर कोई जोर क्यों नहीं देता हूँ? कारण यह कि मैं उन्हें स्वावलंबन का धर्म तो सिखा ही रहा हूँ, जो मेरे विचार में सब धर्मों का असली रूप है। हाँ, जो इस प्रकार की शिक्षा लेकर तैयार होंगे, उन्हें रोजी देना राज का कर्त्तव्य होगा। और जहाँ तक शिक्षकों का या अध्यापकों

का प्रश्न है, प्रोफेसर शाह ने आवश्यक सेवा का ढंग सुझाया ही है। इटली और दूसरे देशों का उदाहरण देकर उन्होंने इसका महत्त्व भी बता दिया है। उनका कहना है कि जब मुसोलिनी इटली के युवकों को देश की सेवा के लिए राज़ी कर सकता है, तो हम क्यों न कर सकेंगे ? अपना रोजगार शुरू करने से पहले यदि हमारे युवकों को एक या दो साल के लिए लाजिमी तौर पर सेवा या पढ़ाने का काम करना पड़े, तो उसे गुलामी कहना कहाँ तक ठीक होगा ? पिछले सत्रह वर्षों में हमारे आजादी के आंदोलन ने जो सफलता पायी है, उसमें युवकों का हिस्सा कम नहीं रहा है। इसलिए मैं उनसे कहूँगा कि वे अपने जीवन का एक वर्ष देश की सेवा के लिए मुफ्त दे दें, खुशी-खुशी दे दें। इसके लिए नियम बनाने की आवश्यकता भी हुई, तो वह जबर-दस्ती न कहलाएगी; क्योंकि हमारे अधिकांश प्रतिनिधियों की रजामंदी के बिना ऐसा नियम बन ही न सकेगा।

"इसके लिए मैं उनसे पूछ लूँगा कि हाथ की मेहनत या दस्तकारी के जरिए दी जाने वाली यह शिक्षा उन्हें पसंद है या नहीं। इसकी उपयोगिता की मेरी कसौटी तो यह होगी कि मैं इसे स्वावलंबन बना दूँ। सात साल के अंत में बालकों को इस काबिल हो जाना चाहिए कि वे अपनी पढ़ाई का खर्च खुद अदा कर सकें और अपने परिवार के कमाऊ पूत बन सकें।

"आज कॉलेजों की शिक्षा अधिकतर शहरी है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि प्राथमिक शिक्षा की तरह यह भी बिलकुल असफल रही है, फिर भी इसका जो परि-णाम हमारे सामने है, वह काफी निराशाजनक है। यदि ऐसा न होता, तो आज कोई ग्रैज्युएट बेकार क्यों रहता ?

"तकली को मैंने एक मूर्त उदाहरण के रूप में सुझाया है; क्योंकि विनोबा को इसका सबसे अधिक व्यावहारिक अनुभव है। अगर इसके बारे में किसी को कुछ एतराज हो, तो उनका उत्तर देने के लिए वे यहाँ मौजूद हैं। काका साहब भी इस बारे में कुछ कह सकेंगे, हालांकि उनका अनुभव व्यावहारिक की अपेक्षा उसूली अधिक है। उन्होंने आर्मस्ट्रांग की लिखी हुई 'एजुकेशन फार लाइफ' पुस्तक पर और उसमें भी हाथ की शिक्षा वाले अध्याय पर खसूसन मेरा ध्यान खींचा है। स्वर्गीय मधुसूदन दास थे तो वकील, मगर उनका यह पुख्ता खयाल था कि यदि हमने अपने हाथों और पैरों से काम न लिया, तो हमारा दिमाग कुंद पड़ जाएगा और अगर उसने काम किया भी, तो वह शैतान का ही काम करेगा। टाल्स्टाय ने भी अपनी बहुतेरी कहा-नियों द्वारा हमें यही चीज सिखायी है।

"हमारे यहाँ कौमी झगड़े होते रहते हैं, लेकिन यह कोई हमारी ही खासियत नहीं है। इंगलैंड में भी ऐसी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं और आज ब्रिटिश साम्राज्यवाद सारे संसार का शत्रु हो रहा है। अगर हम कौमी और अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष को बंद कर देना चाहते हैं, तो हमारे लिए आवश्यक है कि जिस शिक्षा की मैंने हिमायत की है, उससे अपने बालकों को शिक्षित करके शुद्ध और सुदृढ़ आधार पर उसका आरंभ करें। मेरी इस योजना की तह में अहिंसा रही है। और हालाँकि, इसे मैंने संपूर्ण मद्य-निषेध के राष्ट्रीय निश्चय के बारे में सुझाया है, तब भी मैं कहता हूँ कि यदि सरकारी आमदनी में कोई कमी न हो और खजाना हमारा भरा हुआ रहे, तो भी हमारे लिए शिक्षा का यही तरीका उपयोगी होगा, बशर्ते कि हम अपने बालकों को शहरी न बनाना चाहें। हम तो उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने देश की सच्ची प्रतिभा का प्रतिनिधि बनाना चाहते हैं। और मेरे खयाल में स्वावलंबी प्राथमिक शिक्षा के सिवा दूसरे किसी ढंग से हमें उन्हें ऐसा नहीं बना सकते। इस मामले में योरोप हमारा आदर्श नहीं बन सकता; क्योंकि वह हिंसा में विश्वास रखता है और इसलिए उसकी तजवीजें और कारंवाइयाँ हिंसा पर बनी रहती हैं। रूस ने जो कामयाबी प्राप्त की है, उसे मैं कभी भी इनकार नहीं करता, किंतु मानना होगा कि उनका सारा दारोमदार ज़ोर-जबर और हिंसा पर रहा है। अगर भारत ने हिंसा को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है, तो उसे जिस अनुशासन में हो कर गुजरना पड़ेगा, शिक्षा का यह तरीका उसका एक खास अंग होगा। हमसे कहा जाता है कि इंगलैंड शिक्षा पर लाखों रुपया व्यय करता है और अमेरिका का भी यही हाल है। मगर, कहने वाले यह भूल जाते हैं कि उनका यह धन लूट का धन होता है। लूट या शोषण की इस कला को उन्होंने विज्ञान का रूप दे रखा है और यही वजह है कि वे आज अपने बालकों को इतनी महँगी शिक्षा दे सकते हैं। लेकिन, हम शोषण की बात न तो सोच सकते हैं और न सोचना पसंद ही करेंगे। इसलिए हमारे पास शिक्षा की इस अहिंसात्मक योजना के बिना और कोई उपाय नहीं रह जाता।"

वर्धा-संमेलन एवं महात्मा गांधी के पूर्व अनुभव

महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन की यह विशेषता थी कि वे जो कहते थे, वह करते भी थे। साथ ही, वे जो कहते थे, वह उनकी अनुभूति हुआ करती थी। वे सच्चे अर्थ में युग-पुरुष थे। उन्होंने जीवन के समस्त क्षेत्र में अनुभूति प्राप्त की थी। 'परीक्षण एवं खोज' में उनकी पूर्ण आस्था थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने जो कुछ कहा, वह स्वानुभूति के आधार पर ही। वर्धा-संमेलन (अक्टूबर, १९३७ ई०) में 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति' की रूपरेखा उन्होंने अवश्य प्रस्तुत की, परंतु इस ओर कई

वर्षों से उनका मस्तिष्क सक्रिय था। विभिन्न स्थानों में उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और मनन किया, उसका एक संक्षिप्त विवरण हम आगे की पंक्तियों में देखेंगे।

डरबन के प्रयोग—'सत्य के मेरे प्रयोग' को महात्मा गांधी ने अपने जीवन की प्रयोगशाला माना है। उससे मालूम पड़ता है कि उन्हें प्रयोगों से कितना प्रेम था और वह प्रयोग वे उसकी चरमसीमा तक करते थे। प्रयोगों का महत्त्व हमारे लिए बहुत है और बेसिक शिक्षा उन प्रयोगों का ही प्रमाण थी।

गांधीजी १९०४ ई० में डरबन गए। वहाँ पहुँच कर उन्हें 'इंडियन ओपीनियन' की कार्यविधि को व्यवस्थित करना था। उनके मित्र पोलक, जो उनके साथ रह चुके थे, स्टेशन पर पहुँचाने आए और रस्किन की पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' इनके हाथ में देते हुए उन्होंने कहा, "यह पुस्तक पढ़ने योग्य है, आपको अवश्य पसंद आएगी।" उन्होंने लिखा है "एक बार आरंभ करने के बाद पुस्तक को रख देना मेरे लिए असंभव था। उसने मुझे बाँध-सा लिया। गाड़ी शाम को डरबन पहुँची। उस रात को मुझको नींद नहीं आई। यह रस्किन की पहली पुस्तक थी, जो मैंने पढ़ी थी। उसने मेरे जीवन में तात्कालिक और व्यावहारिक रूपांतर कर दिया। मैंने उस पुस्तक के अनुसार अपने जीवन को परिवर्तित करने का निश्चय कर लिया—ये शिक्षाएँ मेरी समझ से ये थीं—

(१) व्यक्ति का हित सबके हित में निहित है।

(२) एक वकील के काम का भी मूल्य वही है, जो एक नाई के काम का और इस अर्थ में कि अपने कार्यों के द्वारा जीविका के उपार्जन का अधिकार सबको एक-सा है।

(३) श्रम का जीवन, अर्थात् खेत जोतने वाले और कल-कला कुशल का जीवन ही श्रेष्ठ है।"[१]

उनको पहली बात का ज्ञान था और दूसरी का आभास होता रहता था। लेकिन, तीसरी बात उनके मस्तिष्क में कभी पैदा नहीं हुई। उन्होंने उसी सुबह से उसके अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया। शिक्षा के लिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे—

(१) बालकों की शिक्षा में चरित्र-शिक्षा का भी योग रहे।

(२) केवल बौद्धिक शिक्षा ही संपूर्ण नहीं है, बल्कि उसके साथ श्रम भी शिक्षा का मुख्य अंग है।

---

१. मेरा प्रारंभिक जीवन, अनु० डॉ० रसाल, पृष्ठ ७४।

(३) शिक्षा के अविधिक साधन घर की सहायता का योग प्राप्त करना भी अनिवार्य है।

(४) सादगी, सेवाभाव आदि भी शिक्षाप्राप्ति के साधन हैं।

सन् १८९७ ई० की जनवरी में जब गांधीजी डरबन उतरे, तब उनके साथ तीन बच्चे थे। उनका भतीजा दस वर्ष की आयु का, उनके दो लड़के ९ एवं ५ वर्ष की आयु के थे। उनके सामने इन तीनों बालकों के पढ़ाने की समस्या थी। उस समय ईसाई स्कूलों के अतिरिक्त अन्य स्कूलों में भारतीय शिक्षा नहीं पा सकते थे और गांधीजी वहाँ बच्चों को शिक्षा नहीं दिलाना चाहते थे; क्योंकि वहाँ की शिक्षा उनको पसंद नहीं थी। इसलिए उन्होंने स्वयं घर में ही बच्चों को पढ़ाने की अपने-आप व्यवस्था की। उन्होंने सात पौंड पर एक अँग्रेज स्त्री के द्वारा बच्चों की पढ़ाई की गाड़ी का आगे बढ़ाया। वे स्वयं बच्चों के साथ गुजराती में व्यवहार करते थे, ताकि वे कुछ गुजराती जान सकें। वे बच्चों को देश नहीं भेज सकते थे; क्योंकि उनको ऐसा लगता था कि छोटे बच्चों को माँ-बाप से अलग नहीं रखना चाहिए। जो शिक्षा बच्चे सुव्यवस्थित घर में सहज ही पा सकते हैं, वह छात्रालय में पा लेना संभव नहीं। भानजे एवं बड़े लड़के को कुछ समय के लिए देश में अलग-अलग छात्रालयों में रखा अवश्य था, परंतु उनको शीघ्र ही वापस बुला लिया। बड़ा लड़का दक्षिण अफ्रीका छोड़ कर अपनी खुशी से बाद में अहमदाबाद के हाई स्कूल में पढ़ने के लिए आ गया था। भतीजा कुछ समय बाद चल बसा। गांधीजी इन बालकों को जैसी शिक्षा देना चाहते थे, वैसी नहीं दे पाए। इसका उनको सदैव दुःख रहा।

जोहांसबर्ग के प्रयोग—डरबन में गृहस्थी में हेरफेर किए, मगर जोहांसबर्ग में 'सर्वोदय'[1] के विचारों ने उनमें काफी परिवर्तन कराए। खर्च अधिक होने के कारण उनका विचार सादगी की ओर बढ़ा। परिवर्तन निम्नलिखित थे—

(१) बाजार की रोटी की अपेक्षा घर पर रोटी बनाना शुरू कर दिया।

(२) मिल का आटा छोड़ हाथ से पिसा आटा इस्तेमाल करना शुरू कर दिया; क्योंकि इस आटे के प्रयोग में सादगी, स्वास्थ्य और रुपए की रक्षा अधिक होती है।

(३) हाथ से चलाने की चक्की सात पौंड में खरीदी। इसका पहिया भारी था, जिसके चलाने में दो व्यक्तियों को सरलता होती थी। यह चक्की चलाने में

१. 'अनटु दिस लास्ट' का गांधीजी ने 'सर्वोदय' के नाम से अनुवाद किया और हिंदी में इसी नाम से यह पुस्तक सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

श्रीमती पोलाक, बच्चे, गांधीजी, कस्तूरबाई—कभी-कभी लगते थे। बच्चे तो खेल समझ कर इसमें सहयोग देते थे।

(४) पाखाने की कोठरी साफ करना, बैठक धोना आदि काम वे स्वयं करते थे, जिससे बच्चों को सही तालीम मिले। इसी कारण उनके किसी भी लड़के ने पाखाने साफ करने में कभी घृणा नहीं की।

(५) यहाँ शायद ही कभी कोई बीमार पड़ता, लेकिन पड़ता भी था तो सेवा के कार्यों में बच्चे हाथ बटाते थे। वे खुशी से सब काम करते थे।

(६) वे बच्चों को अपने साथ दफ्तर ले जाते थे। दफ्तर ढाई मील के लगभग दूर होगा, जिससे सुबह-शाम मिला कर पाँच मील की कसरत हो जाती। रास्ते में वे बच्चों को थोड़ा-बहुत बतलाते। दफ्तर में वह मुवक्किलों एवं मुंशियों के संसर्ग में आते, बच्चों को कुछ पढ़ने को दे जाते, वे बाजार से छोटी-मोटी वस्तुएं भी खरीद लाते थे।

(७) बच्चों के चरित्र में जो कमियाँ हैं, वे पति-पत्नी की कमियों का परिणाम हैं।

(८) जिन बच्चों के माँ-बाप अपने बच्चों को अंग्रेजी बोलने वाला बना देते हैं, वे उनका एवं देश का द्रोह करते हैं। उन्होंने अपने बच्चों को मातृभाषा का मामूली ज्ञान करा दिया था।

महात्मा गांधी के संपर्क में श्री रामचंद्र भाई आए, जो सत्य के अन्वेषक एवं चरित्रवान् थे। गांधीजी उनका आदर करते थे और उनके चरित्र से उन्होंने व्यावहारिक शिक्षा ली। उनका विचार बालक की शिक्षा में चरित्र की महत्ता की ओर विशेष गया।

इस प्रकार गांधीजी के प्रारंभिक प्रयोगों ने शिक्षा के लिए बुनियादी या बेसिक सिद्धांतों की नींव रख दी और जिज्ञासु एवं शिक्षक की हैसियत से वे सदा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के समय-समय पर प्रयोग करते रहे। इनकी इन धारणाओं का असर बेसिक शिक्षा पर गहरा पड़ा है, यह आगे स्पष्ट हो जाएगा।

फिनिक्स आश्रम में प्रयोग—गांधीजी 'इंडियन ओपीनियन' को एक खेत में ले जाने की सोचने लगे, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति परिश्रम करे, समान वेतनभोक्ता हो एवं अवकाश के समय प्रेस की देखभाल करे। मि० वेस्ट ने गांधीजी की इस राय का समर्थन किया। प्रत्येक का मासिक वेतन ३ पौंड तय किया गया। डरबन के पास

जमीन चाहिए, विज्ञापन अखबारों में दे दिया गया। सन् १९०४ ई० में डरबन से तेरह मील दूर एवं फिनिक्स रेलवे स्टेशन से कोई दो मील दूर के अंतर पर २० एकड़ पहले जमीन मिली और बाद में ८० एकड़ का पास ही एक टुकड़ा था जिसमें फलों के पेड़ बहुतायत से थे, वह भी ले लिया। कुल मिला कर उन्होंने १०० एकड़ भूमि खरीद ली। बीस एकड़ वाली भूमि में एक छोटा-सा झरना था और थोड़े आम एवं नारंगी के पेड़ थे। एक महीने में यहाँ एक मकान तैयार हुआ, जो ७५ फुट लंबा और ५० फुट चौड़ा था। सेठ पारसी रुस्तमजी एवं मगनलाल गाँधी ने विशेष रूप से उनका सहयोग किया।

फिनिक्स आश्रम में गांधीजी अपने सहयोगियों के साथ रहकर अपने प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने एक स्थान पर इसके बारे में लिखा है, "हमारे इस आग्रह का फल यह हुआ कि 'इंडियन ओपीनियन' की नियमितता की छाप लोगों के दिल पर पड़ी और फिनिक्स (फोनिक्स) में मेहनत का वातावरण फैला। इस संस्था के जीवन में ऐसा भी एक युग आ गया, जब जान-बूझकर एंजिन[1] बंद रखा गया था और दृढ़तापूर्वक हाथ के चक्के से ही काम चलाया गया। मैं कह सकता हूँ कि फिनिक्स के जीवन में यह ऊँचे से ऊँचा नैतिक काल था।" उस आश्रम के कर्मचारियों या सहयोगियों के बच्चे भी थे, जिनके पढ़ाने की समस्या भी सामने थी। बच्चों की संख्या ३० थी। इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने, श्रम के समन्वय से शिक्षा दी जाए — इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, उन बच्चों की शिक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम बना दिया --

(१) ३ घंटे पढ़ाई होना।
(२) २ घंटे कृषि-कार्य करना।
(३) २ घंटे प्रेस-कार्य करना।
(४) इसके बाद रात्रि को पुनः पढ़ना।

शिक्षा का साधन कार्य करते हुए उन चीजों से संबंधित ज्ञान का विस्तार करना, आपस में उससे संबंधित बातचीत छेड़ देना, किसी पुस्तक अथवा घटना पर

१. 'इंडियन ओपीनियन' का पहला अंक मुश्किल से निकला था। अतः, इस संस्था ने एंजिन से चलाने वाले यंत्रों को मँगाने की राय रखी। गांधीजी चाहते थे कि खेती की तरह छापे की कल भी ऐसी ही हो, जो हाथ से चलायी जा सके, परंतु समय को देखते हुए आयल एंजिन मँगवाया गया। उनको एक बात आई कि अगर यह यंत्र बंद हो गया, तब क्या होगा? इसके लिए इन्होंने हाथ से चलाने वाला चक्का भी बना लिया, जिससे समय पड़ने पर उससे छापे की कल चलायी जा सके।

विचार-विमर्श करना, रात्रि के समय सबको मिल पर चर्चा करना तथा अन्य शंका-समाधान आदि करना। अगर किसी के मस्तिष्क में कोई ऐसी युक्ति आए, जिससे आश्रम का कार्य और भी सुंदर हो सके, तो उस पर सबके विचार जानना तथा उसे प्रोत्साहित करना। समय निकाल कर स्वयं बापू बच्चों को शिक्षा देते थे। उनका दृढ़ मत बना "बालकों को जिस तरह माँ-बाप की आकृति विरासत में मिलती है, उसी तरह उनके दोष-गुण भी विरासत में मिलते हैं। हाँ, आसपास के वातावरण के कारण तरह-तरह की घटा-बढ़ी जरूर हो जाती है, परंतु मूल पूँजी तो वही रहती है, जो अपने बाप-दादों से ली है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषों की इस विरासत को बचा लेते हैं, पर यह तो आत्मा का मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।" मनोविज्ञान भी इस बात को मानता है कि आनुवंशिकता (हेरडिटी) का प्रभाव बालक के मन एवं बुद्धि पर गहरा पड़ता है। ज्युक्स एवं कालिकाक परिवार का अध्ययन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है। बुद्धि को जीवन के अनुभवों से प्राप्त नहीं किया जाता, बल्कि वह तो जन्मजात (इनबोर्न) होती है। एतदर्थ, बालक उसे माता-पिता से प्राप्त करते हैं। वातावरण भी बालक को अपनी ओर आकर्षित अवश्य करता है; लेकिन मुख्य रूप से आनुवंशिकता पर बुद्धि का विकास या गिराव निर्भर है।" 'हिंद स्वराज्य' पुस्तक में गांधीजी के इस समय के विचार संग्रहीत हैं और उनके इन्हीं प्रयोगों को बुनियादी शिक्षा का आधार माना जाता है।

टालसटाय आश्रम — सन् १९११ ई० में ट्रांसवाल में गांधीजी ने अपने सहयोगियों को साथ लेकर टालसटाय आश्रम की स्थापना की। उन्होंने यहाँ लड़के एवं लड़कियों के लिए जिस शिक्षा का प्रबंध किया था, जिसमें हिंदू मुसलमान, पारसी और ईसाई नौजवान थे और थोड़ी-सी हिंदू लड़कियां भी थीं। लगभग ४० युवक, २-३ बुड्ढे, ५ स्त्रियाँ और २५-३० बच्चे थे, जिनमें ४-५ कुमारियां भी थीं। स्त्रियों को पुरुषों से अलग रखा गया था। इसलिए शुरू में १० स्त्रियों और ६० पुरुषों के रहने योग्य मकान बनाए गए। पाठशाला के लिए भी एक मकान बनवाया था। मि० केलनबेक ने अपनी ग्यारह सौ एकड़ जमीन मुफ्त में इनको प्रदान की थी, जिसमें दो कुएँ थे, एक छोटा-सा झरना, जहाँ से स्वच्छ पानी आता था, एक छोटी-सी टेकड़ी भी, जिस पर एक मकान था और इन खेतों में संतरे, खुमानी और बेर खूब पैदा होते थे। इस स्थान से लाली रेलवे एक मिल और जोहांसबर्ग २१ मिल दूर था। सत्याग्रही कुटुंबों के लोग यहाँ पर हिल-मिलकर बड़े प्रेम के साथ रहते थे। यहाँ मि० केलनबेक ने गांधीजी के सामने एक समस्या पैदा कर दी और कहा, "आपका यह सिलसिला मुझे कतई पसंद नहीं है। इन लड़कों के साथ आपके लड़के

रहेंगे, तो इसका बुरा परिणाम रहेगा। इन आवारे लड़कों की सोहबत से ये बिगड़े विना कैसे रह सकते हैं।"

महात्मा गांधी ने इसका उत्तर देते हुए कहा, "अपने लड़कों और इन आवारे लड़कों में मैं भेदभाव कैसे रख सकता हूँ? अभी तो दोनों की जिम्मेवारी मुझ पर है। ये लड़के मेरे बुलाए यहाँ आए हैं। यदि मैं रुपया दे दूँ, तो ये आज ही जोहांसवर्ग जा कर पहले की तरह रहने लग जाएँगे। आश्चर्य नहीं, इनके माता-पिता यह समझते हों कि उन लड़कों ने यहाँ आकर मुझ पर बहुत मेहरबानी की है। यहाँ आ कर वे असुविधा उठाते हैं, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। सो, इस संबंध में मेरा धर्म स्पष्ट दिखायी दे रहा है। मुझे उन्हें यहीं रखना चाहिए, मेरे लड़के भी उन्हीं के साथ रहेंगे। फिर क्या आज ही से मेरे लड़कों को यह भेदभाव सिखाया जाए कि वे औरों से ऊँचे दर्जे के हैं? ऐसा विचार उनके दिमाग में डालना उन्हे उल्टे रास्ते में ले जाना है। इस स्थिति में रहने से उनका जीवन बनेगा, स्वयं भले-बुरे की परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न मानें कि उनमें यदि सच-मुच कोई गुण होगा, तो उसी का असर उनके साथियों पर होगा? जो कुछ भी हो, पर मैं तो उन्हें नहीं हटा सकता और ऐसा करने में यदि कुछ जोखिम हो, तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।" गांधीजी ने इससे लाभ की आशा की और जो हुई भी थी। उनका यह प्रयोग सफल हुआ। वे यहाँ के प्रयोगों द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे—

(१) माँ-बाप के पास ही बालक को सच्ची शिक्षा मिल सकती है। टालस-टाय आश्रम को गांधीजी ने एक कुटुंब समझा, जिसमें पिता की जगह अपनी बनायी और इस दृष्टिकोण से नौजवानों की सारी जिम्मेदारी उन पर आ गई। ऐसा सोचना प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक है।

(२) हृदय की शिक्षा को उन्होंने प्रथम स्थान दिया, जिसका अभिप्राय था—चरित्र को विकास की ओर ले जाने वाली शिक्षा।

(३) शारीरिक शिक्षा और उस सिलसिले में दस्तकारी या उद्योग सिखाने के लिए टालसटाय फार्म में कार्य शुरू करवाया।

(४) पुस्तकीय ज्ञान के लिए अधिक-से-अधिक तीन घंटे निश्चित किए गए। इसके अंतर्गत हिंदी, तमिल, गुजराती और उर्दू की पढ़ाई होती थी। अंग्रेजी की शिक्षा सबको दी जाती थी। इतिहास, भूगोल एवं अंकगणित भी सिखाया जाता था।

(५) गुजराती, हिंदी एवं संस्कृत का सबको थोड़ा-सा ज्ञान अवश्य कराया जाता था।

(६) शिक्षा प्रत्येक बच्चे को उसकी मातृभाषा के माध्यम से दी जाती थी।

(७) विद्यार्थियों का पाठ पुस्तक एवं शिक्षक ही होना चाहिए।

(८) आत्मा की अपेक्षा शरीर एवं मन को शिक्षा देना अधिक कठिन है। आत्मा का विकास करने का अभिप्राय था, चरित्र का निर्माण करना और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना तथा आत्मिक ज्ञान पाना। उन्होंने कहा है, "शरीर की शिक्षा शरीर की कसरत से दी जा सकती है, बुद्धि की शिक्षा बुद्धि की कसरत से और इसी तरह आत्मा की शिक्षा आत्मा की कसरत से दी जा सकती है। आत्मा की कसरत तो बच्चे शिक्षक के बर्ताव से सीख सकते हैं।"

(९) बच्चों को मार कर नहीं पढ़ाया जाए। हालांकि गांधीजी ने भी एक-बार अपने लड़कों में से एक को मारा था। यह सजा देकर उन्होंने ठीक किया या नहीं, इसका वे कभी फैसला नहीं कर सके। परंतु, वे इसे ठीक नहीं मानते थे।

(१०) अच्छा भोजन नियमित रूप से स्वच्छ वातावरण में मिलते रहना चाहिए।

(११) 'सादा जीवन एवं उच्च विचार' उनकी शिक्षा का मूल मंत्र है।

शांति-निकेतन—गांधीजी को भारत में आने के पश्चात् शांति-निकेतन में रहने का अच्छा मौका मिला। वहाँ के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की उन पर सदैव प्रेमदृष्टि रही। वहीं काका साहब कालेलकर से उनका प्रथम बार परिचय हुआ। वहाँ उनके ठहरने की अलग व्यवस्था की गई। उनकी मंडली की देखभाल श्री मगनलाल गांधी कर रहे थे। वहाँ फिनिक्स आश्रम के संपूर्ण नियमों का बड़ी बारीकी के साथ पालन हो रहा था। उस समय वहाँ एंड्रूज एव पियर्सन दोनों थे। प्रेम, लगन और सहनशीलता की सोंधी सुगंध से वहाँ का सारा वातावरण महँक रहा था।

वहाँ विद्यार्थी और शिक्षकों में शीघ्र ही भ्रातृत्व-भावना का उद्रेक हो गया। वे आपस मे अच्छी प्रकार मिल गए और शारीरिक श्रम एवं कार्य के बारे में वार्ता करने लग गए। भोजनशाला मे स्वय बर्तन माँजने, भोजन बनाने, सब्जी काटने और अनाज साफ करने का कार्य भी शुरू कर दिया। बंगाली भोजन में सुधार कराने की गर्ज से एक छोटी-सी पाकशाला को अलग भी कर दिया गया। वहाँ संगीत की टोलियो में दिन की सारी थकान दूर हो जाती और आत्मा मयूर की तरह नाच उठती। इन प्रयोगों का कार्यक्रम अधिक समय तक नहीं चल सका; क्योंकि एक सप्ताह बाद गांधीजी को वहाँ से जाना पड़ा।

साबरमती आश्रम—मई, १९१५ ई० में गांधीजी ने अपने मित्रों के आग्रह पर फिनिक्स आश्रम की स्थापना की थी। यहाँ घरेलू उद्योगों को शिक्षा का आधार मान कर बढ़ाया गया। वैसे कताई-बुनाई और बढ़ई का कार्य सबके लिए था। यहाँ से गांधीजी की बुनियादी या बेसिक शिक्षा की योजना जनता के सामने रखने का कार्य शुरू होता है।

गुजरात विद्यापीठ—गांधीजी ने सन् १९२० ई० में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। उन्होंने इसका भाग्य अस्त होते देख उसमें पुनः प्राण फूँकने का सफल प्रयत्न किया। उसके मुख्य १२ उद्देश्य थे, जिनमें से कतिपय नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) विद्यापीठ में स्वभाषा को प्रधान पद दिया जाएगा और सारी शिक्षा उसी भाषा में होगी।

(२) राष्ट्रभाषा हिंदी-हिंदुस्तानी का उसमें आवश्यक स्थान रहेगा।

(३) शिक्षा का पाठ्यक्रम तैयार करते समय ग्रामीण लोगों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाएगा।

(४) शारीरिक विकास के लिए व्यायाम एवं शारीरिक मिहनत की शिक्षा अनिवार्य होगी।

इसका मुख्य कार्य स्वतंत्रताप्राप्ति हेतु चलने वाली मनोवृत्तियों के लिए कर्त्तव्यपरायण, चरित्रवान और शक्तिवान आदि कार्यकर्त्ता तैयार किए जाएँगे।

विद्यापीठ के शैक्षणिक प्रयोगों का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि वर्धा-योजना के लिए यह एक प्रकार की आधारशिला थी। पहली बार यहाँ शिक्षा समिति के द्वारा भारत में किस प्रकार की शिक्षा हो और उसका क्या स्वरूप हो, इस विषय पर भली प्रकार से ठोस विचार-विमर्श हुआ, जिसको शीघ्र ही कार्यान्वित भी किया गया।

वर्धा-योजना—गांधीजी के समग्र जीवन के शैक्षणिक तत्त्व इस वर्धा-योजना में आकर एकत्रित हो गए थे। उन्होंने सन् १९३७ ई० में अपने पत्र 'हरिजन' द्वारा अपनी शैक्षणिक मान्यताओं को प्रकाशित करना शुरू किया। आपके क्रांतिकारी विचारों का बड़े जोर-शोर से खंडन होना शुरू हो गया। जनता में कई शंकाएँ जन्म ले चुकी थीं। इसके लिए यह आवश्यक हो गया था कि शिक्षाशास्त्रियों और विद्वानों की एक समिति बुलायी जाए और यह पुण्य-कार्य २२ अक्तूबर, सन् १९३७ ई० को मारवाड़ी हाई स्कूल, वर्धा के वार्षिकोत्सव पर संपन्न हो सका। इसका सभापतित्व स्वयं गांधीजी ने किया। आपने अपने उद्घाटन-भाषण में अपनी विचारधारा को सबके सामने रखते हुए कहा—

"मैं आपलोगों के सामने परिषद् के अध्यक्ष की हैसियत से उपस्थित होऊँ या एक सदस्य की हैसियत से, मैंने तो आपलोगों को यहाँ इसलिए आने का कष्ट दिया है कि मैंने जो प्रस्ताव तैयार किए हैं, उन पर आपकी—और खास कर जो इनका विरोध करते हैं, उनकी—राय सुनूँ और उनसे सलाह लूँ। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी इन तजवीजों पर स्वतंत्र रूप से स्पष्टता के साथ पूरी-पूरी चर्चा करें; क्योंकि मुझे अफसोस है कि मैं अपने कमजोर स्वास्थ्य की वजह से पंडाल के बाहर आप सज्जनों से नहीं मिल सकता।"

गांधीजी के विचारों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :—

(१) गांधीजी ने यहाँ प्राथमिक शिक्षा को मुख्य बतलाया और कहा कि इस समस्या के हल होते ही कॉलेज की शिक्षा का गौण प्रश्न भी हल हो जाएगा।

(२) उनका ध्येय धंधे या उद्यम पर न हो कर, बल्कि हाथ-उद्योग द्वारा प्राप्त शिक्षण पर था। इससे साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि सभी की शिक्षा दी जा सकती है।

(३) दस्तकारी की शिक्षा द्वारा शिक्षक का खर्च निकलना भी आवश्यक है और जो विद्यार्थियों की बनी चीजों से सरलता से निकाला जा सकता है।

(४) उनका लक्ष्य इस शिक्षा द्वारा स्वावलंबन का धर्म सिखाना था, जो धर्म का मूल है।

(५) यह शिक्षा बिना जातिभेद, ऊँच-नीच आदि के सभी के लिए एक-सी लागू होती है।

(६) शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो।

(७) सरकारी विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्था रहें और वे अपना खर्च परीक्षा-शुल्क से निकालें।

(८) विश्वविद्यालय शिक्षा के समस्त क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए उसके विविध विभागों के पाठ्यक्रम को तैयार कर उसे स्वीकृति दें।

(९) प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम-से-कम सात वर्ष का हो, जिसमें बच्चों को सामान्य ज्ञान मिल सके।

(१०) उच्च शिक्षा को खानगी प्रयत्नों तथा राष्ट्र की अनिवार्यता पर अवलंबित रहना चाहिए।

गांधीजी की उपर्युक्त विचारधारा पर समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किए —

(१) बालकों की सात वर्ष की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(२) शिक्षा का माध्यम बालकों की मातृभाषा हो।

(३) शिक्षा स्वावलंबी हो अर्थात् किसी-न-किसी उद्योग पर अवलंबित हो, ताकि कुछ लाभ हो सके और बच्चों में कुछ अच्छे गुण आ सकें। उद्योग का चुनाव बच्चों की रूचि एवं स्थानीय वातावरण को ध्यान में रख कर किया जाए।

(४) इन तरीकों से अध्यापकों का खर्च भी निकल सके, यह समिति इससे ऐसी आशा करती है।

उक्त प्रस्तावों के आधार पर ही प्राथकिक शिक्षा के अध्ययन-क्रम की योजना को तैयार करने में निम्नलिखित व्यक्तियों की एक समिति बनी, जिनमें ये दस महानुभाव थे---

(१) डॉ० जाकिर हुसैन (अध्यक्ष),
(२) श्री आर्यनायकम् (संयोजक),
(३) श्री ख्वाजा गुलाम सैयदेन,
(४) श्री विनोवा भावे,
(५) श्री काका साहब कालेलकर,
(६) श्री किशोरीलाल मशरुवाला,
(७) श्री जे० सी० कुमारप्पा,
(८) श्री कृष्णदास जाजू,
(९) श्री प्रो० के० टी० शाह और
(१०) श्रीमती आशा देवी।

इस समिति ने अपनी योजना को २ दिसंबर, सन् १९३७ ई० को प्रस्तुत किया, जो वास्तव में बहुत सुंदर थी और गांधीजी के सिद्धांतों को पूरा करती थी। दक्षिण भारत के प्रधानाचार्य डॉ० जॉन डी० वोअर, ने प्रस्तुत योजना के पाठ्यक्रम में अहिंसा को कम स्थान मिला है, यह प्रश्न गांधीजी से पूछा, जिसके उत्तर में उन्होंने कहा, "आपको जिस वजह से वह जितनी पसंद आई, वह बिलकुल ठीक है, किंतु सारा पाठ्यक्रम अहिंसा पर केंद्रित नहीं किया जा सकता। यही जानना काफी है कि वह एक अहिंसक दिमाग से निकली है। पर, उसमें यह नहीं मान लिया गया है कि जो इसको स्वीकार करेंगे, वे अहिंसा को भी मानेंगे। उदाहरणार्थ समिति के सारे

सदस्य अहिंसा को जीवन-सिद्धांत के रूप में नहीं मानते। जैसे, एक निरामिषभोजी आदमी का अहिंसक होना जरूरी नहीं है, वह स्वास्थ्य के कारण भी निरामिषभोजी हो सकता है, उसी प्रकार यह जरूरी नहीं कि जो कोई इस योजना को पसंद करें, उन सब का अहिंसा में विश्वास होना चाहिए।" वास्तव में उन्होंने अपनी तीस साल की कठोर तपस्या एवं प्रयोगों का निचोड़ वर्धा-योजना में रखा है और उसे सर्वप्रिय एवं सर्वोदयी भावना की ओर उन्मुख किया है। दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर ने उनके लिए लिखा है, "संभावना तो ऐसी दीखती है कि दयालु परमेश्वर इसमें भी हिंदुस्तान को भूल करने का मौका देने के बजाय परिस्थितियाँ ही ऐसी पैदा कर देगा कि नान्यः पन्था विद्यते अयमाय।" ऐसा जान कर हिंदुस्तान गांधीजी की इस योजना का भी इच्छा से या अनिच्छा से अनुसरण करेगा और अनुभव से विश्वास हो जाने पर कृतज्ञतापूर्वक बोल उठेगा, "हे बापू ! त्वं हि नः पिता यो अस्माक अविद्यायः परपारं तारयसि।" मदाम मांटेसरी ने गांधीजी से एक मुलाकात में कहा था, "आपकी शिक्षकों के साथ की यह मुलाकात मानवीय बालकों की आध्यात्मिक रक्षा करने में हमारी मदद करे !" आज उनकी उसी योजना का प्रचार हो रहा है और वह दिन दूर नहीं, जब भारत में बेसिक शिक्षा ही चारों ओर नजर आने लगेगी और हमें स्वावलंबी छात्र प्राप्त होने लगेंगे।

महात्मा गांधी के बेसिक शिक्षा के अंतर्गत शैक्षणिक विचार वास्तव में भारत की परिस्थितियाँ उसकी आर्थिक, सामाजिक आदि के अनुकूल और सच्ची शिक्षा की ज्योति का अक्षय प्रकाश फैलाने वाले हैं। आत्मा और शरीर दोनों ही उसको पाकर प्रसन्न हैं और सुखी हैं। जो शिक्षा मनुष्य को सच्चे सुख एवं आनंद की ओर ले जाती है, वही दरअसल सही शिक्षा है। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप भारत में शिक्षा की दशा में सुधार संभव हो सका, अन्यथा भारत गुलामी की जंजीरों से अभी मुक्त नहीं हो पाता। महात्मा गांधी ने हमें पाखंडी और धूर्त शिक्षा के घेरे से बाहर निकाला और हमारे सामने नई रोशनी का प्रकाश किया है, जो इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों में लिखी जाने वाली बात है। मैंने यह सब कुछ केवल गांधीजी के शैक्षणिक प्रयोग और उनके सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए कहा है, न कि आज की बेसिक शिक्षा के व्यावहारिक रूप को देख कर। उसका निर्णय तो अगले लेख में होगा। यहाँ तो गांधीजी के अमर शैक्षणिक सिद्धांतों एवं उनके अमिट प्रयोगों का सिक्का, जब तक संसार में इंसान जिंदा है, मानवता नाम की कोई चीज जीवित है और उसके पास सोचने-समझने की शक्ति है, तब तक मानना ही है कि यह बात ध्रुव सत्य है !

बुनियादी (बेसिक) शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य

वेसिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य अधोलिखित हैं :—

१. लोकतंत्रीय समाज की स्थापना

यदि सामाजिक जीवन को प्रजातांत्रिक सिद्धांतों के अनुसार संगठित किया जाना है, तो उसकी आधारशिला शारीरिक श्रम तथा उत्पादक कार्यों पर डाली जाए; क्योंकि यदि समाज ऐसे लोगों के द्वारा अधिकृत किया गया जो भूखे, नंगे तथा दूसरों पर भार वनने वाले हैं, तो वह समाज सच्चे रूप में लोकतंत्रीय नहीं हो सकता है। अतः, समाज के सदस्यों को जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक है। राजनैतिक दृष्टि से, ऐसे समाजोपयोगी नागरिकों की आवश्यकता है, जो अपने दायित्वों को सफलतापूर्वक निभा सकें तथा समाज के सहयोगी कार्यों में भाग लेकर समाज की उन्नति के लिए कार्य कर सकें। सामाजिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से उपयोगी नागरिकों का निर्माण एकमात्र शिक्षा द्वारा किया जा सकता है। वेसिक शिक्षा लोकतंत्रीय समाज की स्थापना में वहुत ही सहायक है; क्योंकि यह शिक्षा श्रम एवं उत्पादन-कार्यों पर आधारित है। यह उत्पादन-कार्यों के द्वारा वालकों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान करती है, इसके अतिरिक्त, यह वालकों में उन योग्यताओं, कुशलताओं एवं दृष्टिकोणों का विकास करती है, जो लोकतंत्रीय समाज की स्थापना के लिए परमावश्यक हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ० सलामतउल्ला ने लिखा है -- "वेसिक शिक्षा आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा द्वारा वालकों को समस्त मूलभूत योग्यताओं, कुशलताओं तथा दृष्टिकोणों, जो एक लोकतंत्रीय समाज की स्थापना तथा उसको दृढ़ वनाने के लिए अनिवार्य हैं, को सुसज्जित करती है। इनमें सवसे महत्त्वपूर्ण सहयोगी ढंग से अपने कार्य को करने तथा समाज में व्यक्तिगत रूप से अपने दायित्वों को पूर्ण करने की योग्यता है। वेसिक शिक्षा इसको प्राप्त करने के लिए विद्यालय में सामाजिक रूप से लाभप्रद क्रियाओं को प्रदान करती है।"

२. नागरिकता के गुणों का विकास

लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति शासन के प्रति उत्तरदायी होता है। राज्य के प्रति उसके कर्त्तव्य वढ़ जाते हैं। साथ ही, उसे वहुत से अधिकार भी प्राप्त होते हैं। वह इन कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का निर्वाह तभी कर सकता है, जव वह इनके प्रति सजग हो। इसके लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो उसमें नागरिकता के गुणों का विकास करे। वेसिक शिक्षा में इस तथ्य की ओर पूरा-पूरा

ध्यान दिया गया है। इस विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए 'जाकिर हुसैन समिति' ने लिखा है -- "आधुनिक भारत में नागरिकता - देश के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में विस्तार से लोकतंत्रीय होती है। नई पीढ़ी को कम-से-कम इस बात का अवसर अवश्य मिलना चाहिए कि वह अपनी समस्याओं, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझे।"

इसी समिति ने आगे लिखा है--"यह नवीन योजना भावी नागरिकों में व्यक्तिगत महत्त्व, आदर और कुशलता का भाव विकसित करेगी और उनमें आत्मविश्वास तथा सहयोगी समाज में समाज-सेवा के लिए तीव्र इच्छा को दृढ़ बनाएगी।"

३. आर्थिक उन्नति

बेसिक शिक्षा में आर्थिक उद्देश्य को दो अर्थों में लिया गया है। प्रथम—बच्चों द्वारा बनायी गई वस्तुओं से विद्यालय के व्यय की आंशिक पूर्ति करना। द्वितीय—बेसिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् बालकों का बड़े होकर किसी उद्योग द्वारा अपनी जीविका को चलाना या आवश्यकताओं की पूर्ति करना। गांधीजी का विचार था कि बालक जब विद्यालय को छोड़े, तो वह अपनी जीविका कमाने के योग्य हो, अर्थात् वह समाज की कमाने वाली इकाई के रूप में हो। उन्होंने १८ सितंबर, १९३७ ई० के 'हरिजन' में लिखा है—"आपको इस धारणा को लेकर प्रारंभ करना पड़ेगा कि यदि शिक्षा को अनिवार्य बनाना है, तो भारत के ग्रामों की आवश्यकताओं को देखते हुए हमें अपनी ग्रामीण शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना चाहिए।"

४. नैतिक विकास

आधुनिक समाज का उत्तरोत्तर नैतिक पतन होता जा रहा है। भौतिक जीवन को प्रमुखता देने वाले व्यक्ति अपने स्वार्थों की दौड़ में अपने कर्त्तव्यों, सिद्धांतों तथा आदर्शों को पूर्णतया भूल चुके हैं। समाज की इस पतनोन्मुख दशा को देख कर गांधीजी ने अपनी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति में नैतिकता को समाविष्ट करना, बताया। उनके अनुसार—"मैंने सबसे ऊँचा स्थान हृदय की संस्कृति या चरित्र-निर्माण को दिया है और मुझे अनुभव हुआ कि सबको संपन्न रूप से नैतिक शिक्षा दी जा सकती है। इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि उनकी आयु और पालन-पोषण में कितना ही अंतर क्यों न हो।"

बुनियादी तालीम का उद्देश्य बालक को केवल साक्षर करना, उनके मस्तिष्क को अपरिपक्व कथनों एवं सूचनाओं से भर देना तथा परीक्षोत्तीर्णता मात्र नहीं है। इसका उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करना है, ताकि वह पूर्ण

मनुष्य तथा एक सुसंस्कृत और उपयोगी नागरिक बने। यह शिक्षा मुख्यत : बालकों की आदतों, रचनात्मक शक्तियों तथा दृष्टिकोणों का विकास करती है।

बालक के शरीर का विकास स्वस्थ एवं स्वच्छ जीवन-यापन तथा परिश्रम वाले कार्यों से, उनके मस्तिष्क का विकास समवायी शिक्षण से तथा प्रत्येक वातावरण में कर्त्तव्यपरायणता से उसके चरित्र का विकास होता है। उद्योग के कार्यों तथा अपनी सहायता स्वयं करने की शिक्षा से बच्चों में आत्मनिर्भरता, सांस्कृतिक कार्य से उनकी रचनात्मक शक्ति का विकास, प्रार्थना एवं ईश्वर में श्रद्धा रखने से उनका आध्यात्मिक विकास तथा सामाजिक कार्यों एवं सामुदायिक जीवन-यापन से उनकी सामाजिक चेतना की अभिवृद्धि होती है। महात्मा गांधी बालकों के व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास चाहते थे और अपने शिक्षा-दर्शन में शिक्षा की परिकल्पना द्वारा उस आदर्श का साक्षात्कार कराते हैं। पिछले पृष्ठों में जिन शिक्षा-दार्शनिकों के शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा की गई है, वे इसी अर्थ में महात्मा गांधी से मूलतः भिन्न हैं।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति के आधार

महात्मा गांधी द्वारा संचालित शिक्षा-योजना को जिस दृष्टिकोण से भी देखा जाए, वह सुदृढ़ एवं व्यापक परिलक्षित होती है। विभिन्न दृष्टि से उसके आधारों की वैज्ञानिकता इस प्रकार है :—

१. वैयक्तिक आधार—यह योजना व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की व्यवस्था करती है। गांधीजी की दृष्टि में व्यक्ति ईश्वर का प्रतिरूप है, अतः उसका उत्थान करना मानवीय एवं सामाजिक दृष्टि से अपेक्षित है। यह योजना बालक की रुचियों एवं प्रवृत्तियों के अनुकूल कार्य देकर उसकी शक्तियों का विकास करती है।

२. सामाजिक आधार—बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत श्रम के आयोजन एवं उद्योग की प्रधानता द्वारा वर्ग-भेद की गहरी खाई को पाटने की व्यवस्था की गई है। शिक्षा-क्षेत्र में पूर्व प्रचलित वर्ग अनुकूल शिक्षा-सिद्धांत की समाप्ति की जाकर सामान्य एवं सार्वजनिक शिक्षा का आंदोलन आरंभ किया गया है। कार्य का बँटवारा समान रूप से करके समानता के आदर्श की रक्षा की गई है। श्रम की व्यवस्था एवं उद्योगों का चयन समाज में फैली हुई बेकारी की समस्या का उन्मूलन कर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सामाजिक कुशलता (Social Efficiency) का निर्माण करता है, जीवन में सादगी लाता है। शिक्षा-पद्धति में प्रचलित जनतंत्रात्मक शासन-पद्धति से अनुशासनहीनता की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती।

३. आर्थिक आधार—यह पद्धति स्वावलंबन पर बल देती है एवं व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़े होने का अवसर प्रदान करती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों की आर्थिक दृष्टि से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को कुछ सीमा तक हल किया जा सकता है।

४. मनोवैज्ञानिक आधार—मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकासकाल का ध्यान रखते हुए उम्र के अनुसार शिक्षा-व्यवस्था हेतु इस पद्धति को चार भागों में विभाजित किया गया है।

बालक की रुचियों की पूर्ति हेतु पूर्व बुनियादी शिक्षा का आयोजन है। इसी प्रकार सामान्य बालकों की शिक्षा के अतिरिक्त प्रौढ़ों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रौढ़ शिक्षा का आयोजन है।

उपर्युक्त वातावरण के सृजन द्वारा बालकों का सर्वांगीण विकास कर योजना अपनी मनोवैज्ञानिक सुदृढ़ता का परिचय देती है।

वस्तुओं द्वारा शिक्षा, शिक्षा में खेल-योजना, क्रियाशीलता और समवाय-प्रधानता आदि पद्धतियों के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक महत्त्व अंतर्निहित है। विभिन्न प्रकार के उद्योगों में बालक की मूल प्रवृत्तियों को उचित रूप से विकसित होने का अवसर मिलता है। उनका मार्गांतीकरण होता है। बालक को कल्पनाशील बना कर उसके संवेगों के उचित विकास द्वारा व्यक्तित्व का गठन करती है।

५. शैक्षणिक आधार—बुनियादी पद्धति बालकों की समस्याएँ सुलझाने का अवसर प्रदान करती है, उनकी कल्पनाशीलता का विकास करती है, विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करती है, भाषा का विकास करती है और पारस्परिक विचार-विमर्श में भावों के आदान-प्रदान से बालक के शैक्षणिक स्तर को सुदृढ़ बनाती है।

६. सांस्कृतिक आधार—अध्यापन में छात्र एवं शिक्षकों के संपर्क की घनिष्ठता ने बुनियादी योजना में वैदिककालीन संस्कृति का संयोजन कर दिया है। छात्रों एवं शिक्षकों के संबंधों में घनिष्ठता एवं आत्मीयता के दिग्दर्शन होते हैं। साधारण बुनियादी विद्यालय गुरुकुल बन गए हैं। विभिन्न उद्योगों की प्रधानता ने तो हमारी संस्कृति एवं सभ्यता की परिधि को अधिक व्यापक बना दिया है।

७. नैतिक आधार—गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सत्य, अहिंसा, न्याय एवं स्वाधीनता के सिद्धांत मानव मात्र के चरित्र का विकास करने एवं उसे पूर्ण मानव बनाने के लिए उपयुक्त वातावरण का सृजन करते हैं। शिक्षा में सरलता, लोक-

कल्याण भावना एवं वर्गहीन शिक्षा का आयोजन नैतिक स्तर का उत्थान कर आध्यात्मिक विकास की क्षमता प्रदान करता है।

बुनियादी शिक्षा–पद्धति के प्रमुख सिद्धांत

बुनियादी शिक्षा-पद्धति के पाँच प्रमुख सिद्धांत हैं। वर्धा-संमेलन में गंभीर विचार-विमर्श के पश्चत् इन्हें स्वीकार किया गया है। इन सिद्धांतों पर ही गांधीवादी शिक्षा-दर्शन की आधारशिला अवस्थित है। ये पाँच सिद्धांत निम्नांकित हैं :—

(१) सात वर्षों की निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा,
(२) मातृभाषा द्वारा शिक्षा,
(३) किसी मूल उद्योग के आधार पर शिक्षा,
(४) समवायी शिक्षा और
(५) स्वावलंबी शिक्षा।

उपर्युक्त सिद्धांतों पर एक-एक कर विचारना आवश्यक है।

(१) सात वर्षों की निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा:—गांधीजी ने देखा कि जब तक सभी लोगों को शिक्षा का अवसर प्राप्त नहीं होगा, तब तक देश में अशिक्षितों की संख्या बढ़ती ही रहेगी। देश वही महान् होता है, जिसके लोग महान् होते हैं और अच्छी शिक्षा से ही लोग महान् होते हैं। उन्होंने कहा है कि "मैं समझता हूँ कि हमलोग उच्च शिक्षा के प्रश्न को कुछ दिनों के लिए टाल सकते हैं, किंतु प्राथमिक शिक्षा की समस्या को एक क्षण के लिए भी नहीं टाल सकते।"

("I think we can postpone the question of higher education for some time past, but the problem of primary education cannot be postponed even for a minute." Educational Reconstruction, Page 96)

किंतु, उन्होंने यह भी सोचा कि जब तक शिक्षा निःशुल्क नहीं दी जाएगी, तब तक सभी लोग शिक्षित नहीं हो सकते हैं; क्योंकि देश के अधिकांश लोग गरीब हैं। वे बच्चों की शिक्षा पर पैसे खर्च करने में असमर्थ हैं। सर्वसाधारण की समझ में शिक्षा का महत्त्व भी नहीं है। अतः, शिक्षा को अनिवार्य भी बनाना होगा। किंतु, इतनी बड़ी जनराशि को शिक्षित करने के लिए धनराशि भी चाहिए। और, शिक्षित होकर लोग केवल नौकरीपेशे के लिए मुहताज न बनें, बल्कि शिक्षा से उनकी

रचनात्मक शक्तियों का विकास हो—इसलिए गांधीजी ने रचनात्मक कार्य तथा उद्योग द्वारा शिक्षा देने की परिकल्पना की है। उन्होंने यह भी सोचा कि शिक्षा पाते हुए बच्चे जो उत्पादन-कार्य करेंगे, उनसे विद्यालय का खर्च भी अंशतः निकल सकेगा। अतः, गांधीजी ने कहा कि "मैं बच्चे को सर्वप्रथम उपयोगी दस्तकारी सिखाऊँगा, ताकि जिस समय से वह शिक्षा प्राप्त करना आरंभ करे, उसी समय से उत्पादन करना भी शुरू कर दे।"

(I would, therefore, begin the child's education by teaching it a useful handicraft and enabling it to produce from the moment it begins training." Educational Reconstruction, Page 4)

(२) मातृभाषा द्वारा शिक्षा - गांधीजी ने कहा कि शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जानी चाहिए; क्योंकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने से बालक में अपरिचित भाषा की दुरुहता के कारण विचारों की स्पष्टता नहीं होती है। मातृभाषा को बच्चा जन्म से ही, वातावरण से सीख लेता है। वह उस भाषा में अपने विचारों को स्पष्टतः व्यक्त कर सकता है। बच्चा अपनी माँ की भाषा पहले सीखता है, माँ के दूध के साथ वह भी घूटी-घूटी में घुल जाती है। इसी के द्वारा वह अपने वातावरण को पहचानता है, आदमियों और चीजों से अपने संबंध को समझता है, उसी में सोचता है और उसके विचार उसी के शब्दों का ओढ़ना ओढ़ते हैं। उसे बचपन में दूसरी भाषा के द्वारा सब कुछ सिखाने की कोशिश, उसके साथ बड़ी ज्यादती है।"

दूसरी भाषा के कारण हम अपनी जातीय संस्कृति, सभ्यता तथा अन्य अलंकार से विहीन हो जाते हैं। अतः, मानव-शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए।

(३) किसी मूल उद्योग के आधार पर शिक्षा—मनुष्य-समाज का सारा कार्यक्रम तीन विभागों में बँटा हुआ है। (१) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन, (२) समाज की व्यवस्था और (३) प्रकृति के साधनों की खोज। इसलिए नई तालीम के तीनों माध्यम, यानी उत्पादन की प्रक्रिया, सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण, समान रूप से आवश्यक हैं। अतः, नई तालीम उद्योग, सामाजिक वातावरण एवं भौतिक प्रतिवेश से दी जाती है। इसका स्पष्टीकरण गांधीजी ने इन शब्दों में किया है—"मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार की शिक्षा से मस्तिष्क एवं आत्मा का सर्वोच्च विकास होगा। दस्तकारी यंत्रवत् नहीं सिखायी जाएगी, बल्कि उसकी शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से दी जाएगी। बालक दस्तकारी की प्रत्येक प्रक्रिया के कारण को समझता

जाएगा।" उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि "एक साधारण बढ़ई किसी को बढ़ई-गिरी का ज्ञान यंत्रवत् देता है किंतु वैज्ञानिक ढंग से बढ़इगिरी की शिक्षा प्राप्त शिक्षक बालक की बढ़इगिरी के ज्ञान के साथ-साथ गणित, लकड़ियों के भेद, लकड़ियों के उत्पादन-क्षेत्र आदि का ज्ञान भी प्राप्त करा सकते हैं, औजारों की चित्रकारी तथा ज्यामिति और गणित का ज्ञान भी दे सकते हैं। इस तरह दस्तकारी के ज्ञान के साथ-साथ गणित, भूगोल और कृषिशास्त्र आदि का ज्ञान किसी भी दस्तकारी से दिया जा सकता है। किंतु, दस्तकारी को हस्तकर्म-जैसा नहीं सिखाना होगा, बल्कि उसे शिक्षा का केंद्र-बिंदु मान कर सिखाया जाएगा। दस्तकारी द्वारा शिक्षा की पहली कसौटी यह होनी चाहिए कि यदि राज्य बालक को सात वर्षों तक शिक्षा देने का भार लेता है, तो वह उस बालक को सात वर्षों के बाद उसके परिवार को उसको उत्पादक इकाई बनाकर लौटा दे तथा उसकी दूसरी कसौटी यह होनी चाहिए कि उस दस्तकारी द्वारा प्राप्त ज्ञान से उसके मस्तिष्क, शरीर, आत्मा, लिखावट, सौंदर्य-भावना आदि का पूर्णरूपेण विकास भी हुआ हो। जैसे-जैसे कुशल शिक्षक मिलते जाएँ, वैसे-वैसे शिल्प, लोहारगिरी, चमड़े के काम, ईंट बनाने एवं बर्तन बनाने आदि के कामों की शिक्षा स्कूलों में जारी करनी चाहिए।"

नई तालीम के विद्यालय में गांधीजी ने तकली को क्यों इतना ऊँचा स्थान दिया है, उसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं कि "तकली द्वारा कताई मनुष्य का सर्व-प्रथम उद्योग रहा है। इसका एक विशाल इतिहास है, अपना एक गौरवपूर्ण अतीत है, तकली का इतिहास गाँवों का गौरवपूर्ण इतिहास है। उस इतिहास के पुनर्जागरण हेतु तकली का ज्ञान आवश्यक है। भारतवर्ष में इसका एक विशेष इतिहास रहा है। ईस्ट इंडिया कंपनी ने किस तरह इस उद्योग का नाश किया, इसकी एक दुःखद कहानी है।"

इस तरह गांधीजी ने उद्योग को शिक्षा का माध्यम माना है। किसी-न-किसी दस्तकारी को केंद्र में रखकर उसके संबंध में सारी जानकारी---जैसे गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि संबंधित ज्ञान देना ही नई तालीम समझनी चाहिए। वे ऐसा मानते थे कि हस्तकर्म से मस्तिष्क और हृदय का सच्चा विकास हो सकता है। मशरुवाला ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा का विकास', पृष्ठ ३७ में लिखा है कि "छोटी या बड़ी जो भी वस्तु बालक बनाए, वह जीवन में किसी-न-किसी उपयोग में आने वाली वस्तु हो या उसका कोई भाग हो। खिलौना भी हो, तो सच्चा खिलौना हो, केवल बनाने वाले के विनोद के लिए बनाया हुआ न हो।" संक्षेप में, गांधीजी ने जीवन की केवल उद्देश्यपूर्ण इकाइयों को ही शिक्षा का माध्यम माना है।

किंतु, केवल उद्योग सीखने तथा उसके संबंध में सारी जानकारी कर लेने से ही जीवन की पूरी शिक्षा नहीं हो पाती है। अतः, शिक्षा के लिए समाज और प्रकृति को भी माध्यम माना गया है। अर्थात् बालक की वही शिक्षा पूरी हो सकती है जो उद्योग-केंद्रित, समाज-केंद्रित तथा प्रकृति-केंद्रित हो। इस तरह, शिक्षा के माध्यम उद्योग, सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण हैं।

गांधीजी ने 'शिक्षा में अहिंसक क्रांति' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है...."नई तालीम की स्कीम शिक्षकों से यह आशा करती है कि वे गाँव के बच्चों को गाँव में ही कतिपय चुनी हुई दस्तकारियों के द्वारा स्वच्छंद वातावरण में इस प्रकार की शिक्षा दें कि उनकी सारी शक्तियों का विकास हो जाए।"

सन् १९४२ ई० में, जामिया मिलिया में, डॉ० जाकिर हुसैन ने अखिल भारतीय नई तालीम के द्वितीय संमेलन में शिक्षा में कर्म (श्रम) की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"It is not only to-day that we talk of making work a part of education. People have been saying this for quite a long time. But each has said it in his own way. For one 'work' is a principle, and should accepted as such, without being added on to the curriculum as a subject, for another it is a subject. It should have a period alloted to it, and no further changes need be made in methods or in the syllabus, for a third, work must be such as yields a return, and last, but not the least, there is he who says that all activity is a blessing, that children must be allowed to move about and to do things, and it does not matter if their activity does not produce anything, for children are not labourers, their activity is creative."....Two Years of Work, Page 31.

अर्थात् हमलोग केवल वर्त्तमान समय में ही शिक्षा का माध्यम 'कर्म' की बातें नहीं करते हैं, बल्कि बहुत दिनों से इसके विषय में लोग चर्चा करते आ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति ने यह बात अपने ढंग से कही है। एक व्यक्ति के लिए 'कर्म' सिद्धांततः अनिवार्य है और उसकी मान्यता उसी रूप में मिलनी चाहिए। यह जरूरी है कि

को पाठ्यक्रम का एक विषय रखा जाए। दूसरे व्यक्ति के लिए 'कर्म' पाठ्यक्रम का एक विषय रहना चाहिए। कार्य-तालिका में उसका निश्चित समय निर्धारित रहना चाहिए। पाठन-विधि एवं पाठ्यक्रम में अन्य प्रकार के परिवर्तन करने की जरूरत नहीं है। तीसरे व्यक्ति के लिए 'कर्म' द्वारा उत्पादन होना चाहिए तथा अंतिम में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो 'कर्म' को ईश्वर का वरदान मानते हैं। वे यह चाहते हैं कि लड़के इधर-उधर मुक्त होकर घूमें और क्रियाशीलनों को करें। यदि उनके क्रियाशीलनों से कोई उत्पादन न भी हो, तो इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए; क्योंकि बच्चे मजदूर नहीं हैं, उनके क्रियाशीलन उनकी रचनात्मक शक्तियों के द्योतक हैं।

जाकिर साहब ने 'कर्म' द्वारा ज्ञान की ओर संकेत किया है। मेरी समझ में गांधीजी सोद्देश्यपूर्ण इकाइयों को ही शिक्षा का माध्यम मानते थे, अर्थात् शिक्षा उन्हीं कर्मों द्वारा देनी चाहिए, जिनसे बच्चे की व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। उत्पादक कर्म ही उपयोगी होता है।

इस पर अन्य देशों में भी चिंतन हुआ है। रूस में ऐसे स्कूल खोले गए हैं, जहां शिक्षण का आधार उत्पादक-श्रम को रखा गया है।

"The instruction imparted in these schools of the U. S. S. R. was essentially based on the fundamental doctrine that labour is the centre of all educational activities. The scheme of studies was based on quite a rich variety of correlation in the form of complexes or synthetic themes. Divisions into separate subjects were abolished and all science and humanities were distributed into three columns with labour in the centre and society and nature on either." Two Years of Work, Page, 165-166.

अर्थात् रूस के इन स्कूलों में शिक्षण का सिद्धांत मुख्यतः इसी बातपर आधारित था कि सभी शैक्षणिक क्रियाशीलन 'श्रम' पर अवलंबित रहते थे। अध्ययन की योजना संमिश्रित एवं संश्लिष्ट विषयों के रूप में समवाय के विस्तृत क्षेत्र पर आधारित रहती थी। विषयों का वर्गीकरण नहीं रखा गया था और विज्ञान एवं मानवशास्त्र के सभी विषयों को श्रम के केंद्रबिंदु में और समाज तथा प्रकृति को उसके अगल-बगल रख कर विभाजित किया गया था।

जॉन डिवी ने भी निम्नांकित पंक्तियों में अपने शिक्षा-संबंधी विचार प्रकट किए हैं :—

"We must use all work in wood and metal, of weaving, sewing and cooking as methods of living and learning not as distinct studies. We must conceive of them in their social significance as types of the process by which society keeps itself going, as agencies for bringing home to the child, some of the primary necessities of community life and as ways in which these needs have been met by the growing insight and ingenuity of men; in short, his instrumentality, through which the school itself shall be made a genuine form of active community life, instead of a place set apart in which to learn lessons."

अर्थात् हमलोगों को सभी प्रकार के काष्ठ, लोहे, बुनाई-सिलाई तथा रसोई के कामों का व्यवहार जीवन-यापन की विधियों-जैसा करना चाहिए और शिक्षण को अध्ययन मात्र ही नहीं प्राप्त करना चाहिए। हमलोगों को इन कामों की कल्पना उनकी सामाजिक सार्थकता की दृष्टि से करनी चाहिए यानी उन प्रक्रियाओं के रूप में जिनसे समाज चलता है, उन साधनों के रूप में जिनके द्वारा बालक सामुदायिक जीवन की आवश्यकताओं को समझ सके और वे तरीके, जिनके द्वारा मानव की बढ़ती हुई अंतर्दृष्टि एवं प्रज्ञा के कारण इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती आई है। संक्षेप में उसके कर्त्तव्य के द्वारा पाठशाला सामुदायिक जीवन का एक साधन बनेगी, न कि पाठों के अध्ययन का केवल एक स्थान।

इस तरह अनेक चिंतकों ने कर्म द्वारा ज्ञान की परिकल्पनाएँ की हैं तथा उनका प्रयोग भी किया है।

डॉ० जाकिर हुसैन ने द्वादश अखिल भारतीय नई तालीम संमेलन में भाषण करते हुए कहा था, "मैंने कहा कि शिक्षा काम ही से हो सकती है, इसका क्या मतलब? सोचिए तो जरा, शिक्षा होती कैसे है? मस्तिष्क का विकास होता कैसे है? यह ऐसे होता है जैसे शरीर का विकास अच्छे मनभावे, जी को लगते खाने और उसको पचाने के लिए शरीर को हिलना-डुलना, मेहनत करना, कसरत करना पड़ता

है। इसी से शरीर का विकास होता है। शरीर स्वस्थ रहता है तथा उसमें बल आता है। मस्तिष्क का विकास भी मस्तिष्क के अच्छे मनभाते खाने और मस्तिष्क की कसरत से होता है। मस्तिष्क का खाना होती है, मस्तिष्क की बनायी हुई चीजें। इस जीवन को अच्छी तरह काटने की सारी चीजें मस्तिष्क ने सोची और बनायी हैं। खाने की चीजें, पहनने के कपड़े, रहने को मकान, चलने और वर्ताव के तौर-तरीके, रीति और रिवाज, कानून, कला, साहित्य, कविता, दर्शन, पूजा-पाठ, इबादत, मस्जिद, मंदिर, गिरजे, गुरुद्वारे भांति-भांति के धंधे, राजनीतिक संस्थाएँ सब इसी मस्तिष्क की सोची और बनायी हुई चीजें हैं। ऐसा लगता है कि मस्तिष्क ने अपनी शक्तियों को इनमें छुपा दिया है, सुला दिया है। इनका रूप पहना दिया है, मानसिक शक्ति इनमें बंद कर दी है, ये मानसिक शक्ति के खजाने हैं। जब कोई नया उकसता, उभरता मस्तिष्क इनसे दो-चार होता है और इनमें सोयी हुई शक्तियों को अपने अंदर जगाता है, तब इनके खजानों को अपने लिए खोलता है, इनमें छुपी हुई शक्तियों को अपने लिए उजागर करता है। उसी जगने, उजागर करने और बरतने से उसका विकास होता है। उसे इन पर मेहनत करनी होती है, इनकी तह में जाना होता है, इनको अपनाना होता है। यह सारा-का-सारा मस्तिष्क का काम है और वह सब कुछ जिस पर यह काम होता है, मस्तिष्क की खुराक है और यह उनका सुलझाना, बरतना और जगाना उसकी कसरत है। जब तक मस्तिष्क, मस्तिष्क की चीजों पर काम नहीं करता, उस वक्त तक ये उसके काम की नहीं होती। जब वह इनको अपनाता है, तब अपने विकास का सामान करता है। याद रहे कि केवल जानकारी से मस्तिष्क का विकास नहीं होता, यानी शिक्षा नहीं होती। जानकारी से सच्ची शिक्षा का अंदाजा भी नहीं हो सकता। शिक्षा का साधन बनने के लिए हमें जानकारी-जानकारी में फर्क करना होगा। जानकारी दो तरह की होती है। एक वह जानकारी जो किसी ने हासिल की है और हमें सिर्फ बता दी है, हमें उसकी खबर दे दी है। एक जानकारी वह जो हमने अपनी खोज से, अपनी मेहनत से, हासिल की है, वह जानकारी जो हमारे अपने मस्तिष्क में तैयार हुई है। ऐसे ही महारत भी दो तरह के हो सकते हैं। एक तो खाली मेकानिकी महारत, जो मेहनत के साथ किसी और की नकल करने से आ जाती है और एक वह महारत, जिसमें हम काम की तह तक पहुँचते हैं, उसकी क्यों और कैसे को समझते हैं। पहली तरह की जानकारी और पहली तरह की महारत ऐसी होती है, जैसे किसी ने बाहर से लाकर कोई चीज जोड़ दी है। दूसरी तरह की जानकारी और महारत अंदर से मस्तिष्क को बनाती और ढालती है। एक दुमछल्ला है, तो दूसरी विकास है। एक से आदमी बढ़ जाता है, तो दूसरी से गढ़ जाता है।"

ऊपर के अनुच्छेद में डॉ० जाकिर हुसेन साहब ने नई तालीम के व्यावहारिक स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। उनका कथन है कि "शिक्षा के सारे व्यवहार में पहले दिन से आखरी दिन तक, छोटे बच्चे की शिक्षा से लेकर ऊँची-से-ऊँची शिक्षा तक यही दूसरी तरह की जानकरी और महारत सच्ची शिक्षा का साधन होती है।" इसी बात को इन्होंने 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क' के नाम से पुकारा है। वे आगे कहते हैं :—

"यह काम असल में मस्तिष्क का काम है। कभी हाथ के काम के साथ और कभी हाथ के काम से अलग। और, बहुत-सा हाथ का काम और बहुत-सा मस्तिष्क का काम एडुकेशनली प्रोडक्टिव नहीं भी होता, काम ऐसा तभी होता है, जब उससे नए विचार पैदा होते हैं या जो विचार पहले से हैं, उनके नए मोड़ बनते हैं और मस्तिष्क के जीवन के बदलते या उभारते हैं या विचारों को पूरा करने या उन्हें पेश करने की शक्ति को बढ़ाते हैं। इसी उद्देश्य के कारण वह से खेल से अलग एक चीज होती है। खेल के सामने कोई उद्देश्य ऐसा नहीं होता, इसलिये उस पर बच्चों का ध्यान अधिक देर नहीं जमता। इस 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क' के सामने कियास की मंजिल होती है, इसलिए इसमें उद्देश्य से उद्देश्य निकलता है। सारा जीवन इसमें लग जाता है, सारी शक्तियाँ इस पर मिल जाती हैं। आदमी उलझता है, सुलझता है, गिरता है, सँभलता है, रुकता है, फिर बढ़ता है और यों बिना किसी के मजबूर किए उसमें मिहनत-मशक्कत कर, जान खपा कर, जी लगा कर, जम कर अपने मानसिक विकास में लगने की आदत पड़ती है। दिलचस्पी से एक काम को पूरा करने के लिए न जाने कितने कठिन काम वह खुशी-खुशी अपने सर लेता है और वे सब उसके उद्देश्य के कारण दिलचस्प लगने लगते हैं।"

किंतु, मस्तिष्क के विकास का काम सब अपने-अपने लिए करता है। हो सकता है, ऐसे लोग समाज से बेखबर हों, तब तो वह अधूरा आदमी बना रहेगा। इसलिए जरूरी है कि मस्तिष्क के विकास का काम चाहे कला से हो या विज्ञान से, चाहे साहित्य से हो, चाहे उद्योग से, उसका समाज-सेवा से संबंध जोड़ा जाए, ताकि मनुष्य बुद्धि कि विकास के बाद अधूरा न बना रहे। अतः, शिक्षा के सभी केंद्रों को ऐसा ही बनना चाहिए कि उनसे हरएक के मस्तिष्क का पूरा-पूरा विकास भी हो और वह व्यक्ति सामाजिक आदर्शों की सेवा के लिए तैयार भी हो।

(४)समवायी शिक्षा—नई तालीम ज्ञान, उद्योग, समाज एवं प्रकृति से दी जाती है। किंतु, समवाय के प्रति एक बहुत बड़ा भ्रम पैदा हो गया है। समवाय को अनुबंध ऐसा माना जाता है। दो भिन्न-भिन्न ज्ञान अपने अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए

एक दूसरे से अनुबंधित हो सकते हैं। जैसे इतिहास में 'अकबर' के साम्राज्य-विस्तार को पढ़ाते हुए भारतवर्ष के मानचित्र (भूगोल) में साम्राज्य-विस्तार दिखाया जा सकता है। किंतु, समवाय 'अनुबंध' से भिन्न है। मनुष्य की मुख्यतः पाँच मौलिक आवश्यकताएँ--आहार, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा की होती हैं। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु उसे तरह-तरह के यत्न, श्रम और उद्यम आदि करने पड़ते हैं। उसके हर प्रयास में सीखने का अवसर मिलता है। हर क्रियाशीलन में ज्ञान निहित रहता है। क्रियाशीलन से ज्ञान अलग नहीं रहता, वह उसी में व्याप्त रहता है। इस प्रकार मनुष्य की रचनात्मक, सृजनात्मक एवं रंजनात्मक आदि सभी प्रवृत्तियों के अंदर ज्ञान निहित रहता है। किसी उद्देश्य.र्ण क्रियाशीलन की योजना बनाने; कार्यान्वियन तथा प्रगति के अवलोकन में ज्ञान की जिज्ञासा एवं भूख आप-से-आप जगती है, उसी जिज्ञासा एवं भूख की तृप्ति के हेतु जो ज्ञान पाया जाता है, उसे 'समवायी ज्ञान' कहा जाता है। अर्थात् ज्ञान बालक के जीवन की वास्तविक स्थितियों से प्राप्त होता है। जैसे बालक प्रत्येक दिन दाँत साफ करता है। दाँत कैसे साफ किया जाता है, क्यों साफ किया जाता है ? इस तरह इस प्रक्रिया में वह स्वास्थ्य-विज्ञान की जानकारी हासिल करता है। इस प्रकार उद्देश्यपूर्ण क्रियाशीलन, उद्योग, सामाजिक प्रतिवेश तथा भौतिक प्रतिवेश से वह स्वाभाविक रूप से ज्ञान पाता है। इस विचार को नीचे के उदाहरणों से और स्पष्ट किया जा सकता है।

(१) वस्त्र-स्वावलंबन के लिए सूत-उत्पादन की प्रक्रिया से बालक अपनी भूख के अनुसार वस्त्र-उत्पादन की कहानी, भिन्न-भिन्न कपड़ों के लिए तरह-तरह की रूई का चुनाव, कपास की खेती के लिए भूमि का चुनाव तथा मिट्टी का अध्ययन, कपास की उत्पत्ति के मौलिक कारणों की जाँच, कपास का आयात और निर्यात, कपास के आवागमन के मार्ग और साधन, देश एवं विदेश में कपास-वस्त्र-उत्पादन के क्षेत्र, पेशा इत्यादि की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह गणित, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, साहित्य, पुस्तकालय से कपास की खेती, वस्त्र उत्पादन के क्षेत्र और पेशा इत्यादि विषयों पर पुस्तकें लेकर और उनको पढ़ कर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(२) गणतंत्र-दिवस-समारोह के आयोजन में बालक स्वतंत्रता प्राप्त करने में अहिंसक प्रयत्न की कहानी, संविधान, नागरिक के दायित्व एवं कर्त्तव्य आदि का अध्ययन करता है।

(३) चंद्रग्रहण के अवलोकन के समय चंद्रग्रहण होने के कारण, वह चंद्रमा की परिक्रमा, पृथ्वी की दैनिक एवं वार्षिक गति का अध्ययन करता है।

(४) विद्यालय में बालक भिन्न-भिन्न परिवारों से आते हैं। उनकी भिन्न-भिन्न जाति, रस्म-रिवाज, पेशे एवं आर्थिक स्थितियाँ होती हैं। इस तरह बालकों को अपने साथ के रस्म-रिवाज, पेशा और आर्थिक स्थितियों के अध्ययन का अवसर मिलता है। जब वे बड़े होते हैं, तब उनको संपर्क राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्र के लोगों के रस्म-रिवाज, संस्कृति, पेशा एवं आर्थिक स्थितियों आदि के अध्ययन का मौका मिलता है। इस तरह बच्चे इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अपने गाँव की भौगोलिक एवं आर्थिक स्थितियों के द्वारा वे अपने जिला, प्रमंडल, राज्य, देश तथा विश्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संक्षेप में नई शिक्षा की इस पद्धति से बालकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है।

स्वावलंबन :—गांधीजी ने 'हरिजन' (१८-९-१९३७) में लिखा है कि "आपको इस निष्ठा से काम करना होगा कि भारतवर्ष के गाँवों की आवश्यकताएँ क्या हैं तथा उनके अनुकूल इस शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए स्वावलंबी बनना ही होगा।" उन्होंने यह स्पष्टतः कहा है कि "नई तालीम की सफलता उसके स्वावलंबी बनने पर ही आँकी जा सकती है।"

गांधीजी ने कहा कि "विद्यालयों में जो सामान तैयार होंगे, उनको सरकार खरीद लेगी; क्योंकि विद्यालय में जो वस्तुएँ बनेंगी, वे सस्ती नहीं होंगी। सामान भि बहुत अच्छे नहीं होंगे। किंतु, चतुर शिक्षक कच्चे माल को कम-से-कम नुकसान करके अच्छी वस्तु पैदा करेंगे। यदि शिक्षक उद्योग में होंगे तथा समझ-बूझ कर शिक्षा की दृष्टि से उद्योग का काम विद्यालय में चलाते रहेंगे, तो विद्यालय के चालू खर्च का अधिकांश अवश्य निकल जा सकता है। किंतु, शर्त्त यही है कि राज्य विद्यालयों में उत्पादन की हुई वस्तुओं को खरीदने का दायित्व ले सके।"

किंतु, हाथ का काम कुछ आर्थिक फल देगा या इसे देना चाहिए, ऐसा बहुत लोग नहीं मानते हैं। डॉ० जाकिर हुसैन साहब ने स्पष्टतः कहा है—"हाथ के काम के सामने कोई उद्देश्य होता है। काम का हक जब ही अदा होता है कि वह उद्देश्य पूरा हो। इसी से उसकी शैक्षिक शक्तियाँ पूरी-पूरी काम में आती हैं। हाथ के काम से कुछ बनना हो, तो पूरी शिक्षा होने के लिए उसका बनना भी जरूरी है। यदि वह काम की चीज होगी, तो उसके दाम भी होंगे। इससे उसकी शैक्षिक हैसियत पर आँच नहीं आती। और, अगर इस काम से वह न बना, जिसके बनाने के लिए काम किया गया था, तो उससे इस काम की आर्थिक हैसियत तो खत्म हो ही जाएगी, साथ ही उसकी शैक्षिक हैसियत भी ठप हो जाएगी। हाथ के काम से कुछ कमाई होना

उसकी शैक्षिक हैसियत के पूरी तरह सफल होने के लिए भी जरूरी है। काम में ढील देकर, उसे बेपरवाही से करके, उसको बेदिली से टाल कर ठीक शिक्षा नहीं हो सकती है। इसलिए हाथ का काम शिक्षा में आए, तो उसका पूरा-पूरा हक अदा होना चाहिए। तभी शिक्षा में उसका फल मिल सकता है। आर्थिक मूल्य असल गरज नहीं, शिक्षा के इस मूल की नाप है।" द्वादश अखिल भारतीय नई तालीम संमेलन उद्‌बोधन भाषण से उद्धृत।

जाकिर साहब ने साफ-साफ समझा दिया है कि शिक्षा में जो काम का स्थान रखा गया है, वह केवल शैक्षिक दृष्टि से ही। अतः, उसके आर्थिक पहलू पर जरूरत से अधिक बल देने से शिक्षा नहीं हो सकती। इस ओर एक चेतावनी भी प्रारंभ में ही दी गई है—

"There is an obvious danger that in the working of this scheme the economic aspect may be stressed at the sacrifice of the cultural and educational objectives. Teachers may devote most of their attention and energy so extracting the maximum amount of labour from children, while neglecting the intellectual, social and moral implications and possibilities of craft training. This point must be constantly kept in mind in training, of teachers as well as in the direction often work of hand supervisory staff and must cover all educational activities."—Educational Reconstruction, Part. II.

अर्थात् एक प्रत्यक्ष खतरा दीख पड़ता है कि इस योजना के कार्यान्वियन में सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उद्देश्यों की अवहेलना कर आर्थिक पहलू पर अधिक बल दिया जा सकता है। शिक्षक बच्चों से अधिक श्रम कराने में अपना ध्यान और अपनी शक्ति लगा सकते हैं और शैक्षिक, सामाजिक, नैतिक सफलताओं तथा उद्योग की संभावनाओं की अवहेलना कर सकते हैं। इस बात को शिक्षकों के प्रशिक्षण, निरीक्षण-पदाधिकारियों के मार्ग-दर्शन तथा विद्यालय के सभी शैक्षिक क्रियाशीलनों के कराते समय सदा ध्यान में रखना चाहिए।

स्वावलंबन किस हद तक हो तथा स्वावलंबन के फेर में कहीं शैक्षिक पहलू का ह्रास न हो, इस पर जोर दिया गया है। यदि काम का चुनाव शिक्षा की दृष्टि से किया जाएगा तथा वह समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा, तो इस खतरे

से बहुत-कुछ बचा जा सकता है। नई तालीम का उद्देश्य ही स्वावलंबी व्यक्ति तथा उनसे बने स्वावलंबी समाज पैदा करना है। समाज के लोग आपस में मिल-जुल कर अपने भोजन,वस्त्र, आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करें, यही इसका लक्ष्य है। अतः, स्वावलंबन इस शिक्षा का आवश्यक सिद्धांत है। नई तालीम में पैदा की हुई वस्तु जैसे वस्त्र, सूत, काष्ठ के सामानों की खपत नहीं होती, तो उसका प्रधान कारण यह है कि उन वस्तुओं का उत्पादन विद्यालय-परिवार की दृष्टि से नहीं किया जाता है और जो भी काम लिया जाता है, वह जैसे-तैसे किया जाता है। विद्यालय-परिवार अपनी वस्तुओं की खपत स्वयं नहीं करता है। अतः, स्वावलंबन के प्रति कार्यकर्त्ताओं की दृष्टि साफ नहीं है। लोगों का विश्वास नई तालीम पर नहीं जम रहा है। इसलिए जरूरी है कि रचनात्मक कार्यक्रम का संयोजन गाँव के पूरे जीवन को सामने रख कर करना होगा। इस प्रकार नई तालीम द्वारा सामाजिक न्याय से अनुप्राणित तथा ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रांति देश में होगी और ग्राम-स्वराज का स्वरूप निखरेगा।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति के प्रमुख भाग

प्लेटो और रूसो के समान ही महात्मा गांधी ने भी अपनी शिक्षा-पद्धति का विभाजन किया है। महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति को चार प्रमुख भागों में विभक्त किया है। वे निम्नांकित हैं :—

(१) पूर्व-बुनियादी :

यह शिक्षा-व्यवस्था बचपन से सात वर्ष तक के छोटे बच्चों के लिए है।

(२) बुनियादी :

यह शिक्षा-व्यवस्था सात वर्ष के बालकों से चौदह वर्ष तक के किशोरों के लिए है।

(३) उत्तर-बुनियादी :

यह शिक्षा-व्यवस्था चौदह वर्ष से उन्नीस वर्ष तक के किशोरों के लिए है।

(४) प्रौढ़ शिक्षा :

यह शिक्षा-व्यवस्था वयस्क प्रौढ़ों के लिए है।

(१) पूर्व-बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा के प्रणेताओं के ७ से १४ वर्ष की आयु तक की शिक्षा पर विशेष बल देने से हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि

इस आयु के पूर्व की शिक्षा को वे महत्त्व नहीं देते थे। गांधीजी तो अनेक बार बचपन के महत्त्व तथा पूर्व-बुनियादी शिक्षा के महत्त्व को बतलाते रहे हैं। नई तालीम के 'आठ सालों का संपूर्ण शिक्षा-क्रम' में लिखा है, "नई तालीम यह मानती है कि शिक्षा की इमारत अगर पक्की करनी है, तो नींव गहरी होनी चाहिए। घर, स्कूल और गांव के बच्चे के शरीर और मन का सर्वांगीण विकास नागरिकता की पहली तैयारी है। नई तालीम की योजना में पूर्व-बुनियादी तालीम या बच्चों की तालीम का कार्यक्रम है। इस पूर्व-बुनियादी तालीम के कार्यक्रम में बच्चों का शारीरिक पोषण, तंदुरुस्ती की देखभाल, व्यक्तिगत और सामाजिक सफाई तथा आरोग्य, अपना काम खुद करने की आदतें, सामाजिक तालीम, काम और खेल की सृजनात्मक एवं रंजनात्मक प्रवृत्तियाँ, भाषा, कला और संगीत में आत्म-प्रकटन, सादा हिसाब और प्रकृति-निरीक्षण आदि बच्चों की जिंदगी से संबंध रखने वाली सभी बातें शामिल हैं।"

पूर्व-बनियादी शिक्षा से संबंधित उपरोक्त पाठ्यक्रम से पता चलता है कि इसमें आरंभ से बालकों को अच्छी आदतें बनाने पर बल देना चाहिए। इस आयु में छोटे बच्चों के स्वास्थ्य की देखभाल तथा उनका समुचित विकास ही प्रमुख है। अतः, स्वास्थ्य से संबंधित कार्य जैसे सफाई, स्नान, भोजन और सोना आदि की स्वस्थ तथा अच्छी आदतें डालना आवश्यक है। उन्हें प्रारंभ से ही विचारों तथा भावों पर नियंत्रण करने का अभ्यास भी होना चाहिए। इसके लिए प्रार्थना के पहले भोजन न करना, हाथ-मुँह धो कर भोजन करना आदि क्रियाएँ करवा कर उचित मार्गदर्शन दिया जा सकता है। छोटे बच्चों को आज्ञा-पालन का अभ्यास भी होना चाहिए। पर, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आज्ञा जबरन न मनवाया जाए। बल-प्रयोग से या जबरदस्ती किसी बात को मनवाने से बच्चों का आत्मविश्वास तथा दृढ़ता-शक्ति कम होती है। आज्ञा-पालन के लिए यह आवश्यक है कि बालकों की रुचि के अनुसार ही कार्य होंगे, तो फिर आज्ञा न मान कर दूसरे कार्य करने की ओर उनकी टेक पड़ेगी ही नहीं। उनके चरित्र के विकास का भी उचित ध्यान रखना आवश्यक है। वे अनुकरण करना ही पसंद करते हैं तथा अनुकरण से ही सीखते हैं। अतः, बच्चों के घर तथा आसपास रहने वाले परिवारों का आचरण एवं चरित्र अच्छा होना चाहिए यदि ऐसा न होगा, तो वे स्वभावतः ही दूसरों के दुर्गुणों को ग्रहण करेंगे।

इस आयु में बालक प्रत्येक वस्तु को छूकर, चख कर तथा अच्छी तरह देख-भाल करके उसके बारे में जानने के लिए उत्सुक होता है। अतः, उसे आसपास के बीज, कंकड़, पत्थर, पेड़-पौधे, पत्ते, फल-फूल आदि का उपयोग बताया जाना चाहिए।

हमारे देश में इतना धन तो है नहीं कि अन्य अनेक आधुनिक विधियों जैसे मांटेसरी, किंडरगार्टन आदि के उपहारों के साधन जुटा कर बालकों को शिक्षा दें। अतः, परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार ही हमें अपने आसपास की वस्तुओं से ही काम निकालना सीखना चाहिए। वास्तव में बालक की रुचि जिस प्रकार की वस्तु में हो, उसी प्रकार की वस्तु का उपयोग करने की शिक्षा देना ठीक रहेगा। बुनियादी शिक्षा के पाँच प्रकार के अभ्यासों के समान पूर्व-बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम को हम निम्न पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) स्वास्थ्य और सफाई का अभ्यास,
(२) भोजन का अभ्यास,
(३) पानी पीने तथा उपयोग का अभ्यास,
(४) रचनात्मक क्रियाओं का अभ्यास और
(५) बागवानी का अभ्यास।

इन अभ्यासों के द्वारा हम बालकों को घर की सफाई के लिए झाड़ू-टोकरी आदि का उपयोग सिखा सकते हैं। भोजन के लिए आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान करा कर उनके रखने, संग्रह करने तथा भोजन करने की उचित विधि बतला सकते हैं। अन्नों, फलों तथा शाक-भाजियों के नामों का ज्ञान भी कराया जा सकता है। रचनात्मक क्रियाओं के लिए बालकों से छोटे-छोटे उपयोगी औजार (बढ़ई, कुम्हार, लुहार आदि के) इकट्ठे कराकर वस्तुओं की ठोका-पीटी करके कुछ बनाने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। बच्चे तो स्वयं रेत, धूल, पत्थर एवं मिट्टी आदि की अनेक वस्तुएं बनाते हैं। इनके बनाने में कुछ औजारों का उपयोग भी किया जा सकता है। पर, इसका मतलब यह नहीं है कि उन्हें तेज धार वाले औजारों का उपयोग सिखाया जाए। औजार ऐसे होने चाहिए, जो उन्हें हानि न पहुँचा सकें। उन्हें बागवानी के उपयोग में लाए जाने वाले औजार जैसे रस्सी, खुरपी, डोल और फावड़े आदि का उपयोग करना भी बतलाया जा सकता है।

पर, हमें यह न भूलना चाहिए कि ये सभी औजार या अन्य क्रियाएं बालक के विकास के लिए साधन-मात्र ही हैं। इन्हें साध्य समझ कर बालक की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इन औजारों तथा क्रियाओं के द्वारा बालक में सही तथा स्वस्थ आदतें डालने का प्रयत्न हमेशा करते रहना चाहिए। जैसे भोजन के बाद उस स्थान की सफाई, पानी पीने के बाद गिलास का धोना, नहाने के बाद कपड़े धोना, मैले कपड़े एक स्थान पर टांगना, गंदगी न फैलाना, निश्चित किए गए स्थान पर पेशाब, टट्टी करना आदि।

छोटे बच्चे बहुधा अपने मन के अनुसार अकेले या समुदाय में खेलना चाहते हैं। अतः, उन पर समय-विभाग-चक्र का कोई बंधन नहीं होना चाहिए। उन्हें क्रिया करने की पूर्ण स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। इस आयु के बालकों की पढ़ाई, सफाई, बागवानी, भोजन, पानी आदि की क्रियाओं को ठीक-ठीक विधिवत् करने के अभ्यास के रूप में ही होगी। क्रिया करते समय बालकों को अपने प्रयत्नों द्वारा ही हाथ से कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा देनी चाहिए। हाँ, आवश्यकता पड़ने पर उनकी थोड़ी-बहुत सहायता की जा सकती है। उन्हें अपनी सूझ-बूझ का समुचित उपयोग करने देना चाहिए। इसके साथ-साथ क्रिया उनकी आंतरिक प्रेरणा जाग्रत होने पर ही करनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक दयालु, स्नेही, धैर्यवान तथा सरल हों।

(२) बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा ७ से १४ वर्ष तक देने की सिफारिश जाकिर हुसैन-समिति ने की थी। पर, प्रयोगों के बाद हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने इसकी अवधि ८ वर्षों की कर दी। अब सामान्यतः इसका शिक्षाकाल ८ वर्षों का ही माना जाता है। बुनियादी शिक्षा के संपूर्ण पाठ्यक्रम को आठ वर्षों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक भाग एक-एक कक्षा में पढ़ाया जाता है। इस पाठ्यक्रम के शिक्षण के लिए निम्न पाँच प्रकार के अभ्यासों का सहारा लिया जाता है—

१. शुद्ध तथा स्वस्थ जीवन का अभ्यास,
२. स्वावलंबन का अभ्यास,
३. मूलोद्योग का अभ्यास,
४. नागरिक जीवन का अभ्यास तथा
५. रचनात्मक क्रियाओं एवं सांस्कृतिक जीवन का अभ्यास।

बुनियादी शिक्षा का आरंभ पहली कक्षा में मौखिक भाषा के उपयोग से होता है। बालक मातृभाषा के मौखिक ज्ञान को प्राप्त करके उसे पढ़ना-लिखना सीखता है। इसके साथ उसे तकली-उद्योग का साधारण ज्ञान भी दिया जाता है। इसके बाद आगे की कक्षाओं में वह मूलोद्योग की क्रिया में अधिकाधिक कौशल प्राप्त कर लेता है तथा इन्हीं क्रियाओं के आधार पर वह गणित, भाषा, इतिहास, कला, भूगोल एवं विज्ञान का समवायित ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार आठ वर्षों में बालक एक उद्योग में पारंगत हो जाता है तथा उसी के आधार से वह विभिन्न विषयों का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। पर, बुनियादी शिक्षा में यह आवश्यक नहीं है कि विभिन्न विषयों का ज्ञान मूलोद्योग के माध्यम से ही दिया जाए। वास्तव में किसी भी उद्योग में सभी विषयों की सभी बातों का ज्ञान देने की क्षमता होना संभव नहीं

है। प्रकृति तथा समाज-केंद्रों को भी आवश्यकतानुसार अनेक विषयों के आधार बनाया जा सकता है। प्रकृति तथा समाज-केंद्रों को ज्ञान का आधार इसलिए भी बनाया जाता है कि बालक को अपने आसपास के वातावरण का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। वह प्रारंभ से ही प्राकृतिक शक्तियों तथा घटनाओं से घिरा रहता है और उसकी क्रियाओं को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक रहता है कि वह इन प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करे। इतना ही नहीं, इन शक्तियों को अपनी प्रकृति तथा अवस्थाओं के अनुकूल भी बनाना आवश्यक है। इससे समाज का कल्याण होगा तथा वह इनका उपयोग समाजोन्नति के लिए करना सीखेगा। इसलिए बुनियादी शिक्षा में ये तीनों केंद्र विभिन्न विषयों के ज्ञान के आधार माने गए हैं।

बुनियादी शिक्षा में इन तीन केंद्रों तथा पाँच प्रकार के अभ्यासों के आधार से शिक्षण करने का बड़ा महत्त्व है। इससे शिक्षण जीवन की ठोस परिस्थितियों के द्वारा होता है तथा वास्तविक रूप से शिक्षा 'जीवन के द्वारा जीवन' के लिए बन जाती है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि बुनियादी शिक्षा की शिक्षण-विधि में पुस्तक का स्थान नहीं है। यह धारणा उपयुक्त नहीं है। बुनियादी शिक्षा में कर्म या क्रिया का महत्त्व अवश्य है तथा यही प्रधान भी है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुस्तकों को छोड़ ही दिया जाए। पुस्तकों में समस्त मानव जाति के ज्ञान तथा संस्कृति का समावेश होता है। ऐसे ज्ञान से भरी पुस्तकों की उपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं? पर हाँ, अभी जो केवल पुस्तक को प्रधान तथा शिक्षण का आधार मान कर पढ़ाई होती थी या है, वह बुनियादी शिक्षा में कोई स्थान नहीं रखती। वहाँ तो पहले जीवन की ठोस क्रियाएँ तथा बाद में पुस्तकों के द्वारा ज्ञान को और भी बढ़ाया जा सकता है। पर, ज्ञान देने का आधार जीवन की क्रियाएँ ही रहेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुनियादी शिक्षा में पुस्तकों को आवश्यक बतलाना एक भूल ही होगी तथा इससे हम बालकों को अतीत से चली आई मानव-संस्कृति तथा ज्ञान के भांडार से ही दूर करेंगे। यह उपयुक्त नहीं होगा। बुनियादी शिक्षा अपनी अतीत की संस्कृति तथा ज्ञान के प्रति उदासीन तो रह ही नहीं सकती है।

बुनियादी शालाओं में शिक्षण के लिए पाठ-टीका तैयार करने की विधि अन्य शालाओं में पाठ-टीका तैयार करने की विधि से भिन्न होगी। इसका प्रारूप निम्न ोसकता है—

(३) उत्तर-बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा के प्रणेताओं ने बुनियादी शक्षा का प्रमुख रूप ७ से १४ वर्ष तक की आयु की शिक्षा का माना है। इसके बाद

की शिक्षा चूंकि राष्ट्र की सभी वालक-वालिकाओं के लिए आवश्यक न रहेगी तथा इस आयु के कुल बालकों में केवल कुछ ही उत्तर-बुनियादी शिक्षा से लाभ उठाएंगे, अतः इस शिक्षा का भार उन्होंने निजी प्रयासों पर छोड़ने की सिफारिश की। पर, आज महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय में जैसी शिक्षा दी जा रही है, वह उत्तर-बुनियादी शिक्षा से मेल नहीं खाती। आज तो उच्च शिक्षा-संस्थाओं में किताबी तथा बौद्धिक, व्यापार, उद्योग, संस्कृति आदि की उन्नति में सहायक होनी चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब उच्च शिक्षा हमारे राष्ट्र के इन क्षेत्रों की विभिन्न समस्याओं को हल करने योग्य हो। अतः, यह आवश्यक है कि उत्तर-बुनियादी शिक्षा में बालकों को राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक, औद्योगिक एवं आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं का प्रत्यक्ष ज्ञान कराया जाए, बालक उनके कारणों की खोज करें तथा खोज के बाद उपयोगी हल निकाल कर उनके निराकरण में सक्रिय योग दें। यदि इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति हमारी उच्च शिक्षा की संस्थाओं में अपनायी जाए, तो राष्ट्र की शीघ्र ही उन्नति होगी तथा उच्च शिक्षा हमारे समाज, उद्योग एवं हमारी संस्कृति की पोषक भी होगी।

(४) प्रौढ़ शिक्षा—वर्त्तमान जटिल जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र के नागरिकों को तेजी से बढ़ते हुए ज्ञान-भांडार तथा हमेशा परिवर्त्तित होने वाली परिस्थितियों से परिचित कराया जाता रहे। अतः, बुनियादी शिक्षा केवल बालकों की शिक्षा तक ही सीमित नहीं है। वह समाज के प्रौढ़ सदस्यों की शिक्षा को भी आवश्यक तथा उपयोगी मानती है। पर, बुनियादी शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा को केवल साक्षरता तक ही सीमित नहीं मानती। साक्षरता तो उनके ज्ञानवर्द्धन का एक साधन बन सकती है, साध्य नहीं। इसीलिए प्रौढ़ शिक्षा में साक्षरता के साथ-साथ स्वास्थ्य को अच्छा बनाए रखने के नियम, समाज तथा परिवार में सहयोग से रहने, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में सहकारिता से कार्य करने और भाग लेने, गाँवों की उन्नति करने, अच्छे नागरिक बनने, अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने आदि बातों का समावेश किया जाता है। महिलाओं के लिए बच्चों को पालने, स्नान कराने और भोजन-संबंधी बातों आदि का ज्ञान कराया जाता है। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा समाज शिक्षा का रूप ले लेती है। इस समाज-शिक्षा को भी केवल पुस्तकों या किताबों के आधार पर देने से कार्य नहीं चल सकता। अतः, इसमें भी प्रत्यक्ष जीवन या जीवन की ठोस क्रियाओं के आधार पर शिक्षा देने में अधिक सफलता मिलेगी। प्रौढ़ कक्षाओं में सदस्य आएँ, बैठे और अपनी समस्याओं की चर्चा करें, उनके हल एक दूसरे के सहयोग से खोजें, आवश्यकतानुसार मनोरंजन करें, अपने उद्योग के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करें आदि की ही प्रमुखता होनी

चाहिए। इसी विधि से उन्हें साक्षरता के साथ-साथ नागरिकता तथा जीवनोपयोगी अन्य कार्यों की शिक्षा सरलता से दी जा सकेगी।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति का पाठ्यक्रम

बुनियादी शिक्षा-पद्धति का पाठ्यक्रम क्रियाशीलनयुक्त पाठ्यक्रम (Activity Curriculum) है और इस पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, मातृभाषा, सामान्य विज्ञान और नागरिकशास्त्र आदि विषय अलग-अलग रूप में नहीं रखे गए हैं, वल्कि जिन विषयों का स्वाभाविक संबंध रहता है, उनको एक ही ज्ञान के क्षेत्र में रखा जाता है। जैसे इतिहास, भूगोल तथा नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र के अंतर्गत रखा गया है। नई तालीम सभी प्रकार की शैक्षिक क्रियाओं को जीवन की वास्तविक घटनाओं पर आधारित करना चाहती है। इसलिए यदि किसी उद्योग का चुनाव करना हो, तो चुनाव करने वाले इस वात को ध्यान में रखें कि उस उद्योग का समुदाय के जीवन में कौन-सा महत्त्व है तथा उसमें शैक्षिक संभावनाएँ किस हद तक उपलब्ध हो सकती हैं। नई तालीम के आठ वर्ष के पाठ्यक्रम में वस्त्रोत्पादन, कृषि, काष्ठकला, फलोत्पादन, साग, सब्जी, चमड़े के काम तथा अन्य उपयोगी उद्योग और मातृभाषा, गणित, सामान्य विज्ञान, समाजशास्त्र, कला (चित्र, संगीत, नृत्य) सामान्य भाषा आदि विषय रखे गए हैं।

कताई पाँच वर्षों तक अनिवार्य उद्योग रखा गया है और बुनाई, कृषि एवं काष्ठकला आदि में कोई एक मूल उद्योग लिया जा सकता है। सहायक उद्योग में काष्ठकला का साधारण ज्ञान, बागवानी एवं सिलाई आदि में से कोई एक लिया जा सकता है। उद्योग के ज्ञान देने का उद्देश्य यह रखा गया है कि किसी एक-न-एक उद्योग में व्यक्ति दक्षता प्राप्त कर पूरे रूप से स्वावलंवी वन जाए। अतः, बुनियादी पाठशाला के बच्चे स्वावलंवन की क्रियाओं से परिचित होंगे, उत्तर-बुनियादी में स्वावलंबन की क्रियाओं का पूर्ण रूप से अभ्यास करेंगे तथा उत्तर-बुनियादी शिक्षा में स्वावलंवन की क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि नई तालीम की पूरी शिक्षा पा कर कोई भी व्यक्ति पूरे रूप से स्वावलंवी वन सकता है और उच्चतम ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है।

मातृभाषा की शिक्षा का उद्देश्य यह रखा गया है कि छात्र पूर्ण विश्वास के साथ और प्रवाहयुक्त भाषा में वोल सकें, व्यापारिक और व्यावहारिक पत्र लिख सकें, शांतिपूर्वक और मननपूर्ण पुस्तकाध्ययन, कोश अन्य उद्धरणों का सफलतापूर्वक प्रयोग, दैनिक जीवन के विषयों पर चर्चा, उच्च कंठ स्वर से कविता-पाठ कर सकें

एवं आनंद-लाभ करने की योग्यता बना सकें।

गणित में बही-खाता और व्यापारिक लेखा आदि रखने की जानकारी के अतिरिक्त साधारण नाप-तोल, जोड़, घटाव, गुणा और विभाजन आदि का ज्ञान प्राप्त करना रखा गया है। सामान्य विज्ञान में स्वास्थ्य-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान एवं प्रकृति-विज्ञान आदि रखे गए हैं। बच्चियों के लिए गृह-विज्ञान भी रखा गया है। सामान्य विज्ञान का लक्ष्य छात्रों में वैज्ञानिक दृष्टि पैदा करना है, ताकि बालक (१) किसी घटना के 'क्यों' और 'कैसे' को जानने की बौद्धिक जिज्ञासा प्रदर्शित कर सकें (२) सत्य की कसौटी पर सभी घटनाओं, प्रत्ययों तथा रीति-रिवाजों को जाँचने में धैर्य एवं निरलेपता से काम ले सकें (३) स्वयं सोचने में हिम्मत तथा शक्ति रख सकें और (४) बौद्धिक एवं नैतिक ईमानदारी तथ्यों के जाँचने में बरत सकें, ताकि वे प्रवेशनालय या बाहर अपने प्रयोग-फल को पका-पकाया हुआ न रख दें। वैज्ञानिक प्रवीणता का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि जीवन और अनुभव का क्षेत्र विस्तृत है और मेरा ज्ञान सीमित एवं आंशिक है। व्यक्ति में व्यक्तिगत रूप से नम्रता तथा सत्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह दूसरे के विचार एवं धर्म की कदर करता है। साथ ही, दूसरे के विचारों को समझने की इच्छा भी रखता है। वह हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिख तथा अन्य दूसरे धर्म वाले व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा रखता है।

समाजशास्त्र में नागरिकशास्त्र, इतिहास, भूगोल एवं नीतिशास्त्र आदि विषय रखे गए हैं। इतिहास द्वारा समय, भूगोल द्वारा स्थान, नागरिकशास्त्र द्वारा घटना, नीतिशास्त्र द्वारा शुद्धि-अशुद्धि की परख आदि ज्ञान सूत्रबद्ध रूप में देने की व्यवस्था की गई है। इससे व्यक्ति में मानव-सहकारिता, वीर-पूजा, वातावरण में सुव्यवस्था, मातृभूमि एवं विश्व से प्रेम, न्यायप्रियता और सामान्य धर्मों का पालन आदि गुण पैदा होते हैं।

ललित कलाओं के द्वारा बालक की कोमल भावनाओं के विकास का अवसर मिलता है। अर्थात् नई तालीम में बालक की सृजनात्मक, रचनात्मक, भावनात्मक एवं रंजनात्मक वृत्तियों के विकास के लिए ज्ञान-विज्ञान के विषय रखे गए हैं।

स्व-निर्धारित शिक्षा-योजना को मूर्त्त रूप देने के लिए ही महात्मा गांधी ने विस्तृत पाठ्यक्रम की आयोजना की। वे भारतीयों को गरीबी एवं शोषण से त्राण दिलाना चाहते थे। डॉ० जाकिर हुसैन की अवधानता में एक समिति गठित हुई। उस समिति ने पाठ्यक्रम प्रस्तुत कर हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में उसे स्वीकृत करा

लिया, जिसमें निम्नलिखित विषयों में शिक्षण की व्यवस्था की गई :—

१. मूल उद्योग (वेसिक क्राफ्ट) जैसे कताई, बुनाई, कारपेंट्री, बागवानी, चमड़े का काम एवं अन्य स्थानीय उद्योग,

२. मातृभाषा,

३. गणित,

४. सामाजिक ज्ञान (सोसल स्टडीज),

५. सामान्य विज्ञान जैसे – वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र और मानव-शरीर-विज्ञान,

६. कला, चित्रकला, रंग करना,

७. संगीत,

८. हिंदुस्तानी,

९. कताई और

१०. इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य, नागरिकता, दैनिक जीवन-निर्वाह, भोजन, वस्त्र की शिक्षा एवं स्वावलंबन आदि का सामान्य ज्ञान।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति के पाठ्यक्रम में सर्वप्रमुख स्थान हस्तशिल्प का होता है। इन हस्तशिल्पों में से किसी एक को चुना जा सकता है— (क) कृषि (ख) कताई-बुनाई (ग) लकड़ी का काम (घ) मिट्टी का काम, (ङ) चमड़े का काम, (च) मछली पालना, (छ) फल, शाक एवं उद्यान-कर्म (ज) बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान (झ) कोई अन्य शिल्प जिसके लिए स्थानीय तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल हों। इस शिल्प के ही संबंध में जिन विषयों का अध्ययन आवश्यक रूप से किया जाना चाहिए, वे हैं—

१. मातृभाषा,

२. गणित,

३ सामाजिक विषय—इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र विशेषतः भारतीय इतिहास की रूपरेखा, सामाजिक एवं भौगोलिक वातावरण, नागरिक जीवन का प्रशिक्षण।

४. सामान्य विज्ञान—प्रकृति-अध्ययन, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायन-शास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान, नक्षत्रों का ज्ञान, महान् वैज्ञानिकों एवं अन्वेषकों की कहानियाँ,

५. हिंदी—(जहाँ हिंदी मातृभाषा नहीं है)।

६. कला—रेखाचित्र एवं संगीत आदि और
७. शारीरिक शिक्षा (व्यायाम एवं खेल कूद)।

बुनियादीशिक्षा-योजना में बालक-बालिकाओं के लिए पाँचवीं कक्षा तक समान पाठ्यक्रम है। बालिकाएँ छठी और सातवीं कक्षाओं में आधारभूत शिल्प के स्थान पर गृह-विज्ञान में उच्च पाठ्य विषय ले सकती हैं। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है, परंतु राष्ट्रभाषा हिंदी का अध्ययन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

बुनियादी शिक्षा की दैनिक समय-सारणी इस प्रकार है --

१. बुनियादी शिल्प	३ घंटे २० मिनट
२. संगीत, ड्राइंग, गणित	४० मिनट
३. मातृभाषा	४० मिनट
४. सामाजिक ज्ञान तथा सामान्य विज्ञान	३० मिनट
५. शारीरिक शिक्षा	१० मिनट
६. अवकाश	१० मिनट
	५ घंटे ३० मिनट

बुनियादी शिक्षण और समवाय

समवाय का शाब्दिक अर्थ है -- 'परस्पर संबंध स्थापित करना, भिन्न प्रतीत होती हुई वस्तुओं में एकत्व बतलाना।' शिक्षण में समवाय का अर्थ है -- 'विषयों को पृथक्-पृथक् करके नहीं, अपितु उनमें पारस्परिक संबंध स्थापित करके ज्ञान प्रदान करने की क्रिया को संपादित करना।' विभिन्न विषयों का पारस्परिक संबंध स्थापित करके पढ़ाने की क्रिया को ही 'समवाय' कहते हैं।

समवाय शिक्षा को पूर्ण बनाता है। समवाय-पद्धति द्वारा दिए गए ज्ञान में एकीकरण होता है। अतएव, बालक-बालिकाओं के सर्वांगीण विकास में सहायता मिलती है।

बुनियादी शिक्षण में 'समवाय' का महत्त्वपूण स्थान है। यहाँ ज्ञान और कर्म (कार्यों) का समन्वय स्थापित किया गया है। बालक-बालिकाओं के सर्वांगीण विकास के लिए बुनियादी शिक्षण में न केवल हाथ के काम के साथ-साथ मानसिक या बौद्धिक कार्य को स्थान दिया गया है, अपितु हाथ के कार्य या जीवन की ठोस परिस्थितियों और क्रियाओं के माध्यम से ही ज्ञान प्रदान करने की व्यवस्था की गई

है। ज्ञान तथा मानव-संस्कृति वस्तुतः अखंड है। हम स्वतः अपनी सुविधा के लिए विभिन्न विषयों में इनका विभाजन किए हुए हैं। इन विभिन्न विषयों का पारस्परिक संबंध नहीं बतला कर इनका अलग-अलग अस्तित्व मान कर शिक्षण करने से बालकों को ज्ञान की अखंडता का भान नहीं हो पाता और वे मानव-संस्कृति की अखंडता से अपरिचित रह जाते हैं। वर्त्तमान शिक्षा-जगत में हरबार्ट, जिलर, पार्कर, फ्रोवेल, डॉ० डिवी आदि शिक्षाशास्त्रियों ने विभिन्न विधाओं के द्वारा विषयों का सह-संबंध स्थापित करने पर बल दिया है। हरबार्ट ने अपने 'पूर्व ज्ञान के सिद्धांत' के द्वारा पुराने या पूर्व ज्ञान का संबंध नए ज्ञान से जोड़ने के लिए कहा। उनके शिष्य जिलर ने इसी सिद्धांत को विकसित करके इतिहास-जैसे विषय को मुख्य आधार मान कर अन्य विषयों की शिक्षा देने का सिद्धांत बतलाया। पार्कर ने प्रकृति-विज्ञान को मुख्य विषय मान कर अन्य विषयों को इसके आधार पर पढ़ाने को उपयोगी माना। फ्रोवेल ने वालक को स्वयं-क्रिया के द्वारा संपूर्ण संसार की अलौकिक एकता का भान कराना उपयुक्त समझा। जॉन डिवी ने योजनाओं (प्रोजेक्ट्स) के माध्यम से विभिन्न विषयों का सह-संबंध स्थापित करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति के पाठ्यक्रम में निर्धारित समस्त विषयों को संबंधित कराके पढ़ाने पर बल दिया है। यहाँ भाषा, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, सामान्य विज्ञान, कला आदि को समन्वित या संबंधित करके शिक्षा-प्रक्रिया चला करती है। स्पष्ट है कि महात्माजी मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सह-संबंध के नियम (Law of Association) का महत्त्व स्वीकार करते हैं तथा जीवन के प्रत्येक उपयोगी ज्ञान को उद्योग-केंद्रित करने की प्रणाली का समर्थन करते हैं। उद्योग को महत्त्व देते हुए उन्होंने 'तकली', 'कताई' एवं 'बुनाई' को समवाय का आधार माना। परंतु, कुछ समय पश्चात् डॉ० जाकिर हुसैन ने पूना अधिवेशन में इस संकुचित क्षेत्र को विस्तृत किया और तब समवाय के तीन आधार निश्चित किए गए, जो निम्नांकित हैं :—

(१) प्रकृति, (२) समाज और (३) उद्योग।

बुनियादी शिक्षा के प्रणेताओं ने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण आदि के द्वारा समवाय करने की योजना बनायी है। शिक्षण-कार्य के हितार्थ इन तीनों केंद्रों को चुनने का कारण यह है कि हम प्रकृति द्वारा कच्चा माल प्राप्त करते हैं। उद्योग द्वारा उसे समाजोपयोगी स्वरूप प्रदान करते हैं। समाजोपयोगी स्वरूप प्राप्त होने पर समाज इन सामग्रियों का उपयोग एवं उपभोग करता है। स्पष्ट है कि

प्रकृति, समाज और उद्योग एक दूसरे से संबंधित हैं; क्योंकि उद्योग का स्रोत प्रकृति होती है। उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपभोग भी समाज को करना है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर बुनियादी शिक्षा-पद्धति में इन तीनों के आधार पर शिक्षा दी जाती है। इन तीनों केंद्रों को *समवायित करके बुनियादी पाठ्यक्रम को सार्थक* बनाया गया है।

गैस्टॉल्टवादी मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रत्यक्षीकरण (Perception) के दो नियम दिए :—

(क) एक यह कि हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण उसके पूर्ण रूप में होता है और

(ख) दूसरा यह कि हम एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा ग्रहण करते हैं।

इन दो नियमों से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान समग्र है और वह एक पूर्ण इकाई है। प्रत्येक विषय का पृथक्करण अनुचित है। उसे खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता। सभी आधुनिक शिक्षाशास्त्री और विद्वान विचारक एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि संसार के सभी विषयों में पारस्परिक संबंध है। भाषा, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और गणित आदि स्वतंत्र विषय अवश्य हैं, लेकिन प्रत्येक विषय का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। अतः, भिन्न-भिन्न विषयों को अलग-अलग पढ़ाने की अपेक्षा उनको एक दूसरे से संबंधित करके पढ़ाना अधिक प्रभावशाली होगा अथवा कहें कि समस्त ज्ञान को एक इकाई रूप में प्रस्तुत करने के लिए समस्त विषयों को एक साथ पढ़ाना श्रेष्ठ होगा। शिक्षण-क्षेत्र में इस क्रिया को ही समवाय कहते हैं। समवाय के लिए समन्वय, सानुबंध, संयोग, अंतर्योग और सह-संबंध आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

सह-संबंध की स्थापना का काम बुनियादी शिक्षा के अध्यापक का है। इसके लिए पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को एक संगठन के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है, जिससे विद्यार्थी को यह अनुभव हो जाए कि ज्ञान एक है तथा पाठ्यक्रम में समस्त विषयों का आपस में एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। तत्पश्चात् विद्यार्थी स्वयं समन्वय करने की प्रक्रिया में दक्ष हो जाते हैं। आजकल की शिक्षा में, अध्यापन की मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विधि में सह-संबंध एवं समन्वय का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। यहाँ यह संकेत कर देना भी समीचीन होगा कि समवाय और सह-संबंध का तात्पर्य शिक्षण में एक विषय का संबंध दूसरे से स्थापित करने मात्र से नहीं है, प्रत्युत् पाठ्यविषय का संबंध बालक के पूर्व अनुभव, पूर्व ज्ञान तथा उसके जीवन से स्थापित करना भी समवाय है।

समवाय के दो प्रकार होते हैं :—

(१) क्षितिज समवाय (Horizontal Correlation),

(२) लंबीय समवाय (Vertical Correlation),

(१) क्षितिज समवाय—एक विषय का जब दूसरे विषय से संबंध स्थापित किया जाता है, तो उसे क्षितिज समवाय कहते हैं। इस प्रकार के समवाय में पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों में मध्य संबंध स्थापित किया जाता है। क्षितिज समवाय के भी निम्नांकित दो भाग हैं :—

(क) पूर्व आयोजित समवाय (Pre-planned Correlation) और

(ख) आकस्मिक समवाय (Incidental Correlation)।

(क) पूर्व-आयोजित समवाय—पूर्व आयोजित समवाय के अंतर्गत समवाय की आयोजना पहले से ही कर ली जाती है। विभिन्न विषयों के अध्यापक आपस में मिल कर यह निश्चय कर लेते हैं कि किस रूप में, समन्वित करके इन विषयों को पढ़ाया जाए। प्रत्येक अध्यापक अपना विषय पढ़ाते समय दूसरे विषयों से सहायता लेता है।

(ख) आकस्मिक समवाय—पढ़ाते समय किसी विषय को रोचक तथा स्पष्ट बनाने के लिए आवश्यकतानुसार या प्रसंगानुसार अन्य विषयों की सामग्री के प्रयोग की क्रिया को आकस्मिक समवाय कहते हैं। अध्यापक इसमें समवन्य की कोई पूर्व-व्यवस्था नहीं करता। किसी विषय को पढ़ाते हुए, अन्य विषयों का उल्लेख प्रसंगानुसार ही कर देता है। आकस्मिक समवाय ही प्रभावशाली होता है। अतः, व्यावहारिक शिक्षण में पूर्व-नियोजित समवाय की अपेक्षा, आकस्मिक समवाय पर ही बल देना चाहिए।

(२) लंबीय समवाय—किसी विषय के विभिन्न अंगों अथवा एक ही विषय के विभिन्न उपनियमों में समन्वय अथवा संबंध स्थापित किया जाता है, तो इसे 'उर्ध्वाधर समन्वय' या 'लंबीय समवाय' कहते हैं। भाषा के अध्ययन में अध्यापक व्याकरण का रचना से अथवा गद्य या पद्य का व्याकरण से संबंध स्थापित करता है। हिंदी गद्य के पाठ में व्याकरण का ज्ञान कराना अथवा यथाविषय पर कविता सुनाना आदि लंबीय समवाय के उदाहरण हैं। भाषा-शिक्षण में इस प्रकार का समवाय बड़ा लाभकर होता है।

समवाय से बुनियादी-शिक्षण में निम्नलिखित लाभ हैं :—

१. ज्ञान की अखंडता तथा एकता का ज्ञान कराना,
२. विषयों का स्पष्ट होना,
३. पाठ्यक्रम के भार को हल्का करना,
४. व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना,
५. विषय का रोचक होना,
६. विशिष्टीकरण के दोषों को दूर करना,
७. अनुभवों का संबंधीकरण,
८. बालकों का सर्वांगीण विकास करना और
९. समय की बचत।

उपर्युक्त लिखित प्रत्येक बिंदु पर हमलोग अब क्रमशः विचार करें—

ज्ञान की अखंडता तथा एकता का ज्ञान कराना

ज्ञान एक तथा अविभाजित है। यह ठीक है कि प्रत्येक विषय पाठ्यक्रम में अपना महत्व रखते हैं और प्रत्येक विषय को अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, परंतु यह भी सत्य है कि पाठ्यक्रम के सभी विषय एक ही वस्तु जिसे 'ज्ञान' कहते हैं, की विभिन्न शाखाएँ हैं। सभी शाखाओं में समानता अथवा सह-संबंध के तंतु विद्यमान हैं। प्रत्येक विषय को स्वतंत्र सत्ता मानना भ्रामक है। केवल एक विषय संबंधी ज्ञान में ही तारतम्य नहीं है, प्रत्युत् ज्ञान की विभिन्न धाराओं के बीच भी एक अटूट संबंध है। विद्यालय में विभिन्न विषयों की स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे समाज में व्यक्तियों की। क्या समाज से विलग व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है? कदापि नहीं। समाज के प्रत्येक सदस्य का एक दूसरे से संबंध है, उसी प्रकार पाठ्यक्रम का सभी विषयों से संबंध है।

पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों को रखने का तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान अनेकों भाग में विभाजित कर दिया गया है। ज्ञान सर्वदा एक तथा अखंड होता है, विभिन्न विषय अनेकत्व में एकत्व के सिद्धांत को प्रतिपादित करते हैं। विषयों का विभाजन तो केवल सुविधा के लिए किया जाता है। अतः, किसी विषय को अलग स्वतंत्र रूप में पढ़ना अयुक्तिसंगत और अमनोवैज्ञानिक है।

२. विषयों का स्पष्ट होना

परस्पर संबंधित करके विषयों को पढ़ाने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे विषय स्पष्ट तथा बोधगम्य होते हैं। जब पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों के बीच संबंध है, तो इनका शिक्षण अलग-अलग रूपों में क्यों स्वीकार किया जाए? यही तो शिक्षण-पद्धति की एक सबसे बड़ी त्रुटि है कि प्रत्येक विषय का शिक्षक अपने विषय को ज्ञान

की किसी अन्य शाखा से समन्वित किए बिना शिक्षण-कार्य संपादित करते हैं, फलस्वरूप प्रत्येक विषय एक दूसरे से विलग तो हो ही जाता है, क्लिष्ट और अस्पष्ट भी हो जाता है। इनकी विलगता और अस्पष्टता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि लिखना सिखाने और पढ़ना पढ़ाने तक के बीच भी किसी प्रकार का संबंध नहीं जोड़ा जाता। यह तो व्यावहारिक अनुभव है कि व्याकरण में बताए नियमों का पालन केवल व्याकरण में ही होता है। रचना लिखते समय विद्यार्थी उन नियमों को भूल जाते हैं; क्योंकि व्याकरण और रचना दोनों को अलग-अलग रूप में पढ़ाया गया है। फलस्वरूप विषय कभी स्पष्ट नहीं हो पाता।

३. पाठ्यक्रम के भार को हल्का करना

आज पाठ्यक्रम में अनेकों विषय संमिलित कर दिए गए हैं; परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम बोझिल हो गया है। बालक को प्रत्येक विषय पृथक् रूप में याद करना पड़ता है, विषयों की अधिकता के कारण वह किसी एक विषय पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर सकता और उलझन में पड़ जाता है। यदि विषयों को समन्वित करके पढ़ाया जाए, तो इनकी संख्या स्वतः कम हो जाएगी। 'बद्रीनाथ की यात्रा' नामक गद्य पाठ पढ़ाते समय भूगोल और इतिहास-जैसे विषयों की भी शिक्षा दी जा सकती है। यात्रा में जिन स्थानों, नदियों और पहाड़ों का उल्लेख हुआ है, यदि बालक-बालिकाओं को उनका संक्षिप्त ज्ञान हो जाए, जो पाठ की दुरूहता तो दूर होगी ही, उनके ज्ञान का भी उत्कर्षण और वर्द्धन होगा। इससे भूगोल-शिक्षण का भी उद्देश्य पूरा होगा। बद्रीनाथ के इतिहास के बारे में अथवा मार्ग के अन्य दर्शनीय स्थानों के बारे में बता कर इतिहास की शिक्षा दी जा सकती है। व्याकरण-शिक्षण की सार्थकता तो तभी है, जब कि छात्र उसके नियमों का पालन निबंध लिखने में भी करें। रचना-शिक्षण के साथ व्याकरण का ज्ञान देना, रचना और व्याकरण दोनों ही पाठों लिए हितकर होगा। इस प्रकार पाठ्यक्रम का भार हल्का होगा।

४. व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना

विषयों और उनकी विधाओं को स्वतंत्र रूप से पढ़ाना सर्वथा प्राकृतिक है। ऐसा नहीं करने के परिणामस्वरूप ही छात्रों को विषय के प्रति अरुचि हो जाती है। हमारे शिक्षण के प्रयत्न विफल हो जाते हैं।[1] समन्वय के आधार पर विषयों को परस्पर पढ़ाने से अध्यापन की कृत्रिमता समाप्त हो जाती है। पाठ्यक्रम के विषय आपस में जितने ही संबंधित होंगे, उतना ही उन्हें हम जीवन के निकट कर सकते

1. The Principles of Education. T. Raymount, Page 204

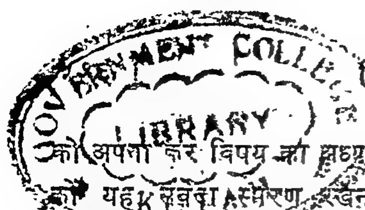
हैं। जब विषय जीवन के निकट आ जाते हैं, तो वे प्राकृतिक, व्यावहारिक तथा ज्ञानप्रदायक बन जाते हैं। अध्यापक व्याकरण में द्वंद्व समास की परिभाषा पढ़ाता है—"जहाँ दोनों पद स्वतंत्र हों वहाँ द्वंद्व समास होता है, जैसे रात-दिन, माता-पिता।" विद्यार्थी इन नियमों को रट लेते हैं, परंतु गद्य पढ़ाते समय गद्य-अवतरण में प्रयुक्त 'राम-लक्ष्मण, उचित-अनुचित, युग्म शब्दों का जब समास पूछा जाता है, तो अधिकांश छात्र समुचित उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार द्वंद्व समास की परिभाषा पढ़ाने का कोई लाभ नहीं हो सकता। परंतु, इसी को अगर गद्य-अवतरण पढ़ाते समय छात्रों को इन्हीं शब्दों की सहायता से द्वंद्व समास की परिभाषा पढ़ायी जाए, तो चूँकि परिभाषा और उदाहरण दोनों सामने आ गया है, अतः विषय-विशेष बोधगम्य बन जाएगा; क्योंकि अध्ययन-अध्यापन का यही प्राकृतिक रूप है। गद्य के साथ व्याकरण का समवाय करने से गद्य-पाठ में भी रोचकता आ गई तथा अध्यापक का श्रम भी सार्थक रहा। गद्य-पाठ का उद्देश्य भाषा की प्रत्येक इकाई को स्पष्ट करना है, जो व्याकरण की सहायता से सहज संभव है और स्वाभाविक भी।

५. विषय का रोचक होना

विद्यार्थियों में रुचि उत्पन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने वस्तुगत नवीनता का महत्त्व स्वीकार किया है। विषयों के पारस्परिक संबंधित हो जाने से पाठ अधिक रोचक हो जाता है। एक विषय को लगातार पढ़ते-पढ़ाते रहने से उसमें नीरसता आ जाती है। जब अध्यापक प्रस्तुत विषय के प्रसंग से संबंधित किसी विषय के बारे में विद्यार्थियों को बतलाता है, तो पाठ की रोचकता बढ़ जाती है और वे एक नवीनता का अनुभव करने लगते हैं।

६. विशिष्टीकरण के दोषों को दूर करना

वर्त्तमान युग में विद्यालयों में 'विषय-विशेष' के अध्यापकों को रखने की प्रथा है। ऐसे अध्यापक छोटी कक्षा से बड़ी कक्षा तक अपना विषय पढ़ाते हैं। इस प्रणाली में शिक्षकों के अपने विशिष्ट विषय तक ही सीमित रहने के कारण, उस पर अत्यधिक बल देते हैं। विशेषज्ञ अध्यापक अपने विषय को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ मान कर अपना ध्यान केंद्रित करता है। उसमें वह इतनी अधिक रुचि लेने लगता है कि उसे छात्रों की रुचि और मानसिक अवस्था का ध्यान ही नहीं रहता। इस प्रकार वह विषय का विस्तार ज्यादा कर देता है। इस प्रणाली को अपनाने से विशेषज्ञ छात्र ज्ञान को विभाजित रूप में स्वीकार करने लगते हैं; क्योंकि प्रत्येक विषय उनके समक्ष भिन्न रूप में उपस्थित होता है। यदि विशेषज्ञ अध्यापक समन्वय के सिद्धांत



को अपना कर विषय का अध्यापन करें, तो यह दोष समाप्त हो जाएगा। शिक्षकों को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि विद्यालय का समस्त अध्यापक-मंडल एक निश्चित और स्वयंनिष्ठ उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। सामाजिक हित की दृष्टि से प्रत्येक अध्यापक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसका विषय एक 'पूर्ण' अंग है। वह अपने-आप में स्वतंत्र और विलग नहीं।[1] फिर भाषा तो एक ऐसा विषय है, जिसके बिना अन्य विषय पढ़ाए ही नहीं जा सकते। एक सफल हिंदी-शिक्षक का कार्य और उत्तरदायित्व मात्र इतने ही से नहीं समाप्त हो जाता कि येन-केन-प्रकारेण छात्रों को निर्धारित पाठ्क्रम का ज्ञान देकर वे अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ लें। उसे समवाय के आधार पर हिंदी भाषा-शिक्षण की क्रिया को सरल और बोधगम्य बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

७. अनुभवों का संबंधीकरण

अनुभव सर्वोत्तम शिक्षक है। मनुष्य जितना अधिक अनुभव प्राप्त करता है उसे अपने भावी जीवन में प्रयोग कर, अपने कंटकाकीर्ण मार्ग को उतना ही सफल और सुगम बनाता है। जीवन के प्रत्येक क्षण के अनुभव से वह कुछ-न-कुछ सीखता है तथा एक बार अपने द्वारा हुई त्रुटियों की पुनरावृत्ति नहीं करने का सफल प्रयास करता है। 'शिक्षा' विशेष कुछ नहीं—मानव के अनुभव हैं। ये अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करते हैं।

मस्तिष्क और स्मृति में, किसी अनुभव को देर तक रखने और फिर शीघ्र ही पुनः स्मरण करने के लिए भी एक अनुभव को दूसरे के साथ जोड़ना आवश्यक होता है। अगर दो अनुभव साथ-साथ हों, तो वे अधिक दिनों तक स्मरण रहेंगे। दो विषयों के बीच समवाय से एक प्रमुख लाभ अनुभवों का संबंधीकरण होना भी है।

मनुष्य के अनुभव उसके स्वयं के, अन्य व्यक्तियों के तथा राष्ट्र के अतीत और वर्तमान जीवन की घटनाओं से एवं राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों से प्राप्त हो सकते हैं। समाज के क्रूर और मृदुल थपेड़ों से प्रतिध्वनित होकर भी तदनुकूल ही हमारे अनुभव प्राप्त होते रहते हैं। जब से मनुष्य का आविर्भाव हुआ, तब से प्रत्येक पल वह अनुभव प्राप्त करता है। उसके अनुभवों की संख्या अपरिमेय और असीम है।

८. बालकों का सर्वांगीण विकास करना

शिक्षा का उद्देश्य केवल एक ही होता है कि बालकों के व्यक्तित्व का

1. The Principles of Education T. Reymount., Page-205

सर्वांगीण विकास किया जाए, परंतु जब हमलोग विषयों को पृथक्-पृथक् करके पढ़ाते हैं, तो विद्यार्थियों को यह भान होने लगता है कि शिक्षा का उद्देश्य एक नहीं हो कर, अनेक है। मनोवैज्ञानिक रूप से ऐसा होना स्वाभाविक भी है। परंतु, इससे उनकी उलझनें बढ़ जाती हैं। इसके विपरीत जब विषयों को समन्वित करके पढ़ाया जाता है, तो उसमें विभिन्न रुचियों का विकास होता है तथा वे ज्ञान की एक इकाई के रूप में ग्रहण करते हैं, फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है।

९. समय की बचत

प्रत्येक विषय का एक दूसरे से संबंध है, परंतु विभिन्न विषयों को संबंधित करके नहीं पढ़ाने से अत्यधिक समय अनावश्यक नष्ट होता है। पढ़े हुए विषय को पढ़ाते रहने से समय का अपव्यय होता है। यदि अध्यापक विषयों को परस्पर संबंधित करके पढ़ाता है, तो उसे पाठ्य-विषय और उसके नियमों को पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती, फलस्वरूप समय की बचत होती है।

समवाय और पूर्व अनुभव

मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि विद्यार्थी जो भी अनुभव ग्रहण करते हैं, उसकी थोड़ी छाप उनके मस्तिष्क में अवश्य रह जाती है। आवश्यकता पड़ने पर पूर्व अनुभवों का शेषांश सक्रिय हो जाता है और नए अनुभवों को ग्रहण करने में सहायता करता है। इस क्रिया को 'विचार-संप्रत्यक्ष' (Appreciation of Thoughts) कहा गया है। समवाय सिद्धांत के प्रणेता हरबार्ट ने भी इस सिद्धांत के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा समवाय की उपयोगिता पर बल दिया है। इसी अवस्था में 'शिक्षा ज्ञात से अज्ञात की ओर होनी चाहिए' इस सूत्र ने जन्म लिया। पढ़ना सिखाते समय 'क' से कलम का संबंध जोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? फिर कलम-जैसे साधारण उपादान को ही क्यों लिया जाए ? इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि शिक्षा को बालक के पूर्व अनुभवों के साथ जोड़ना, बालक को सीखने में सहायता करता है। इस प्रकार पाठ्य-वस्तु का समवाय छात्र के पूर्व अनुभवों के साथ अपेक्षित है। फ्रोबेल की 'जीवन केंद्रित शिक्षा' 'डिवी का 'समस्या-सिद्धांत' तथा महात्मा गांधी की 'बुनियादी तालीम' जीवन और बालक के पूर्व अनुभवों के साथ समवाय करने पर ही पर्याप्त बल देते हैं।

हरबर्ट के शिष्य जिलर ने तो समवाय के सिद्धांत को और भी अधिक विस्तार दिया। उसने केंद्रीयकरण के सिद्धांत की चर्चा की और बतलाया कि समस्त पाठ्यक्रम का एक विषय 'केंद्रीय विषय' होना चाहिए और शेष विषय उसी के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए। जिलर के अनुसार यह केंद्रीय विषय इतिहास हो सकता

है। इतिहास को केंद्र बनाया जाए और भाषा, भूगोल, समाजशास्त्र, विज्ञान, गणित, एवं चित्रकला आदि विषय उसी के माध्यम से पढ़ाए जाएँ। इस क्रिया से अनेक विषयों का बोझ कम हो जाएगा। छोटे-छोटे विषयों में ज्ञान बँटेगा नहीं। पाठ रोचक होगा, और सभी विषयों का समन्वय होगा। निश्चय ही 'केंद्रीयकरण का सिद्धांत' सह-संबंध की पराकाष्ठा है। परंतु, किस विषय को केंद्र बनाया जाए? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। जिलर ने इतिहास को केंद्र बनाया। पार्कर ने विज्ञान को केंद्र बनाया। डी० गर्भों ने अर्थशास्त्र को केंद्र माना।

मातृभाषा को भी केंद्रीय विषय बना कर अन्य विषयों की शिक्षा दी जा सकती है, अगर तदनुकूल विषयों का समुच्चय किया जाए तथा शिक्षक-वर्ग सक्रिय हों। हिंदीभाषी क्षेत्र के शिक्षकों को बहुत सावधानी बरतनी पड़ेगी।

समवाय कैसे करें?

गांधी-शिक्षा-दर्शन में इसके पाठ्यक्रम के सफल शिक्षण-कार्य हितार्थ 'समवाय' की अत्यधिक महत्ता है, परंतु इसको सफल बनाने के लिए हमें पूर्ण सचेष्ट होने की आवश्यकता है। विभिन्न विषयों का पारस्परिक संबंध कैसे हो, यह जानना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—एक विषय हिंदी भाषा को लिया जाए, जो हमारी राष्ट्रभाषा है तथा बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हरियाणा जैसे स्थानों की मातृभाषा है। हिंदी का अपना साहित्य है। अतः, इसके सफल शिक्षण के लिए इसका पारस्परिक संबंध किन विभिन्न भाषाओं, विषयों, विधाओं आदि के साथ जोड़ा जाए तथा बुनियादी शिक्षा-पद्धति के आधार पर 'जीवन' के साथ किस प्रकार इसका संबंध स्थापित किया जाए, इसकी जानकारी हमें अवश्य होनी चाहिए। हिंदी भाषा-शिक्षण में समवाय के प्रति हमारा प्रयास निम्नांकित चार प्रकार का होना चाहिए :—

१. हिंदी भाषा और अन्य विषयों के बीच समवाय,
२. हिंदी भाषा और विभिन्न विधाओं के बीच समवाय,
३. हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं के बीच समवाय एवं
४. हिंदी भाषा और जीवन के बीच समवाय।

१. हिंदी भाषा और अन्य विषयों के बीच समवाय

भाषा का संबंध भाषा से ही नहीं, अपितु अन्य विषयों—इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, विज्ञान, गणित, कला जैसे विभिन्न विषयों से भी है। इसके अतिरिक्त भाषा का राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र

और दर्शनशास्त्र से भी पूरा-पूरा संबंध है। अतः, आज हिंदी-शिक्षण को पूर्ण प्रभाव-शाली बनाने के लिए इनका समवाय किस प्रकर किया जाए; यह जानना अत्यंत आवश्यक है।

(क) भाषा और इतिहास

प्रत्येक जाति के पास उसकी मातृभाषा का साहित्य होता है। मातृभाषा को ही अगर राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने का अवसर प्राप्त हो, तो यह विशेष सौभाग्य का विषय होता है। साहित्य के समस्त अंग—निबंध, उपन्यास, नाटक और काव्य, मानव-जीवन से संबंधित कर लिखे जा सकते हैं। भाषा-साहित्य में समाज के भूत, वर्त्तमान और भविष्य— तीनों कालों का स्वरूप चित्रित होता है। इतना अवश्य है कि साहित्यकार उन घटनाओं को यथातथ्य अंकित नहीं करके, अपनी कल्पना का आधार ले, विषय को विशेष रुचिवर्द्धक बनाने के लिए कुछ नवीन रंग अवश्य भर देता है। तथापि साहित्य की आत्मा पूर्ण सच्चाई का ज्वलंत उदाहरण पेश करती है। साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं का स्पष्ट और सच्चा दर्शन होता है। संभव है, कहीं-कहीं वास्तविक स्वरूप का अक्षरशः वर्णन भले ही नहीं हो।

हिंदी साहित्य की पुस्तकों में इतिहास-संबंधी पाठ भी होते हैं। इतिहास में जिस घटना का रूखे ढंग से वर्णन किया जाता है, साहित्यिक रचनाओं में उसी का उद्घाटन बड़े रोचक ढंग से किया जाता है। तुलसीकृत रामायण में रामायणकाल की सभ्यता का इतिहास है, मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जीवनी है तथा विख्यात ऐतिहासिक घटना राम-रावण-युद्ध का वर्णन है। साहित्य में साहित्यकार कहानी, नाटक, कथोपकथन, कविता, प्रसंग, लेख आदि के विषय वार्ता और इतिहास-संबंधी ऐतिहासिक घटनाओं का ही चित्रण करते हैं।

भाषा-साहित्य में वैदेही-हरण, सावित्री-सत्यवान, पद्मावती, कल्पित दुर्ग, जैसलमेर की राजकुमारी, महाराणा-प्रताप, सिंदवाद नाविक, शीर्षक-जैसी कहानियाँ सत्य हरिश्चंद्र, दानवीर सत्यवादी कर्ण, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी, रक्षाबंधन, शाहजहाँ, नूरजहाँ, शीर्षक-जैसे ऐतिहासिक नाटक अथवा एकांकी, विद-अनुविद, सिकंदर और पुरु शीर्षक-जैसे कथोपकथन, हल्दीघाटी, झाँसी की रानी, विराटा की पद्मिनी, कुरुक्षेत्र, पृथ्वीराज रासो, छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल शीर्षक-जैसी कविताएँ अथवा काव्य-पाठ, पुराण, रामायण, महाभारत-जैसे महान् ग्रंथों के अंश, महात्मा गांधी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानंद, स्वामी सत्यदेव-जैसे महापुरुषों की आत्मकथा का कोई प्रसंग

अशोक, अकबर, १८५७ ई० के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम शीर्षक कोई साहित्यिक निबंध (लेख) इतिहास के ही विषय हैं।

(ख) भाषा और भूगोल

भाषा के लेख, कहानी, यात्रा-वर्णन इत्यादि भौगोलिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं। विभिन्न स्थानों से संबंधित लेखों में वहाँ की जलवायु, रहन-सहन आचार-और व्यवहार आदि का चित्रण होता है। जैसे—जापान, ह्वेल मछली का शिकार, हिमालय की कहानी, चित्तौड़ का पतन, रामचंद्र का वन-गमन शीर्षक-जैसी कहानियाँ, बद्रीनाथ की यात्रा, मानसरोवर-भ्रमण या रामेश्वरम्-भ्रमण, हमारी लंका यात्रा शीर्षक-जैसे यात्रा-वर्णन भूगोल के ही विषय हैं। 'बद्रीनाथ की यात्रा' नामक पाठ पढ़ाते समय मार्ग में आने वाली नदियों, प्राकृतिक दृश्यावली तथा पर्वतीय खंडों की चर्चा की जाएगी। जिस समय हम महाराणा प्रताप पर कविता पढ़ाते हैं, उस समय राणा की जीवनी एवं तत्कालीन अवस्थाओं का ज्ञान भी दिया जा सकता है। चूँकि महाराणा प्रताप से चित्तौड़ और वहाँ की पर्वतमालाएँ अलग नहीं की जा सकतीं, अतः यहाँ हम भूगोल का स्वाभाविक ज्ञान बालकों को दे सकते हैं।

(ग) भाषा और नागरिकशास्त्र

भाषा के विषय हमें नागरिकशास्त्र का भी ज्ञान देते हैं। नागरिकशास्त्र में स्त्री-पुरुष का समाज के प्रति आवश्यक कर्त्तव्य और अधिकार का वर्णन होता है। 'कृष्ण और सुदामा' मित्र-जैसी कविताओं अथवा नीति के दोहे जिन्हें रहीम, कबीर-जैसे कवियों ने समाज को दिए हैं अथवा कुणाल की आँखें, अंधा और लँगड़ा, दो चतुर बकरियाँ, समझदार कुत्ता-जैसी कहानियों के विषय हमें नागरिकशास्त्र की ही बातों से अवगत कराते हैं।

(घ) भाषा और विज्ञान

भाषा की पुस्तकों में विज्ञान के विषयों पर भी लेख होते हैं। आज का युग विज्ञान का है। अतः, पाठ्यक्रम में विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया भी जाना चाहिए। मातृभाषा की पुस्तकों में विज्ञान से संबंधित पाठों का रखा जाना परम आवश्यक है। विज्ञान के अभाव में भाषा के अंतर्गत आए हुए पाठों के शीर्षक जैसे—जगदीशचंद्र वसु, गैलेलियो, न्यूटन, अंतरिक्ष-यात्रा, अणु-शक्ति, वाष्प तथा बिजली का आविष्कार, बेतार का तार, प्रकृति-निरीक्षण, विविध प्रयोग, रेडियो, मुद्रण-कला, वायुयान, बायस्कोप, चलचित्र एवं टेलीविजन आदि स्पष्ट नहीं हो सकेंगे। यहाँ विज्ञान का अंतर्योग उस ज्ञान की इकाई को पूर्ण बनाने में समर्थ होगा। इस प्रकार के पाठों का

अध्यापन करते समय यह आवश्यक है कि अध्यापक विज्ञान के सामान्य सिद्धांतों की ज्ञानकारी रखे तथा परिस्थिति विशेष में प्रसंग की बातों को स्पष्ट भी कर सके।

(ङ) भाषा और गणित

भाषा और गणित का पारस्परिक संबंध बहुत पुराना है। गणित की पहेलियों से साहित्य भरा पड़ा है। गणित का अध्यापक भाषा के बिना नहीं चल सकता। वह कोण, त्रिभुज आदि शब्दों का ज्ञान तथा प्रयोग बालकों को तभी सिखा सकता है, जब कि उसे भाषा का ज्ञान हो। दूसरी ओर भाषा में लीलावती और न्यूटन आदि गणितज्ञों की जीवनी, सिक्कों की कहानी तथा संख्या के विकास की कहानी आदि लेख (निबंध) आ जाते हैं, जो कि गणित के ज्ञान के बिना नहीं समझाए जा सकते। कविता के संयोग से गणित-जैसा नीरस विषय भी सरस बना दिया जा सकता है। लीलावती-गणित के अंतर्गत तो संस्कृत के श्लोकों में गणित के प्रश्न दिए गए हैं तथा उनके हल निकाले गए हैं।

(च) भाषा एवं कला

भाषा का कला के साथ पारस्परिक संबंध भी अत्यंत व्यावहारिक है। भाषा एक सूक्ष्म रूप है, तो कला शब्द रहित मूक चित्र है। यह चित्र, संगीत की स्वर-लहरी पा कर शब्द-प्रधान बन मुखरित होने लगता है। शब्द, रेखा में विलीन रहते हैं तथा रेखा शब्दों में ध्वनित होती है। जिस तरह रेखा से रंग और रंग से रेखा को विलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भाषा एवं कला का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के अध्ययन से दूसरे का मार्ग प्रशस्त होता है। भाषा-शिक्षण में कला का ज्ञान सहायक होता है जैसे—चित्रकला, हस्तकला, मूर्तिकला और संगीतकला-संबंधी शीर्षकों की कविता या निबंध को कला का ज्ञान रखने वाला शिक्षक सुगमता-पूर्वक समझा सकेगा, प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्रदान कर सकेगा।

कला के शिक्षक को कला का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। केवल चित्र आदि बनवा देना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि सिद्धांत बनवा देना भी आवश्यक है। सिद्धांत की यह शिक्षा भाषा के आधार पर ही दी जा सकेगी। इस प्रकार कला में 'भाषा' और भाषा में 'कला' का अनुनय योग समन्वित है।

(छ) भाषा एवं मनोविज्ञान

भाषा-साहित्य में साहित्यकारों के मनोभावों का आलोड़न ही है। चाहे उसका प्रेरणा-स्रोत समाज हो, इतिहास अथवा राजनीति हो—उनकी लेखनी तभी साकार होती है, भावों की श्रृंखलाओं का तारतम्य तभी प्रस्फुटित होता है, जब

घटनाएँ उनके हृदयपटल एवं मस्तिष्क पर प्रभाव डालती हैं। हृदय और मस्तिष्क की सक्रियता, उनकी कलम की ताकत को भी बढ़ाती है। 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान'—क्या गान लिखने वाले की मनोदशा को वियोगी शब्द साकार नहीं करता ? क्रौंच पक्षी के जोड़े को मर्माहत करने के पश्चात् ही महाकवि कालिदास की मनोदशा में परिवर्तन हुआ और काव्य धारावाहित हो गया। 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'—में गोस्वामी तुलसीदास जी की मनोदशा का चित्रण है। कविता, कहानी नाटक आदि में वर्णित विषयों के कतिपय स्थल मनोविज्ञान से पूर्णतः संबद्ध होते हैं।

(ज) भाषा एवं प्रकृति-विज्ञान

प्रकृति देवी के अंग झील, पर्वतमालाएँ, झरनों के निनाद हमारी भाषा की परिधि एवं क्षितिज की रेखा का निर्माण करते हैं। उनकी जानकारी को बहुमुखी बनाने, उन पर निबंध रचने हेतु प्रकृति-निरीक्षण, पाठक की कल्पना एवं विचार-शृंखला को उन्मुख कर दृश्यों को मूल रूप में प्रकट करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। एक 'निर्झर' शीर्षक-जैसी कविता का ज्ञान ग्रहण करने के पूर्व उसकी कल-कल ध्वनि से कानों को सजग कर देना एवं मन को कल्पना की गोद में सुला देना उचित होगा। तुलसीदास जी की चौपाइयाँ (रामायण में वर्षा-वर्णन), भाषा और प्रकृति के समन्वय की दृष्टि से कितने सुंदर उदाहरण प्रस्तुती करती हैं, कालिदास के नाटक और काव्य (शकुंतला और मेघदूत) में प्रकृति वर्णन भाषा एवं प्रकृति का सुंदर अंतर्योग उपस्थित करते हैं।

भाषा और समाजशास्त्र

साहित्यकार समाज का ही एक अंग है। वह अपनी सृष्टि शून्य में नहीं करता, बल्कि उसका प्रेरणा-स्रोत समाज और सामाजिक क्रियाएँ ही हुआ करती हैं। नित्य-प्रति के सामाजिक जीवन की घटनाएँ, पारिवारिक प्रेम और द्वेष, पूँजीपति तथा श्रमिक और सामाजिक हलचलें आदि ही उसके विषय होते हैं। अतः, साहित्य में भी समाज की घटनाएँ और समस्याएँ दिग्दर्शित हुआ करती है। ये समाजशास्त्र के अध्याय हैं।

२. हिंदी भाषा और विभिन्न विधाओं के बीच समवाय

हिंदी भाषा का विभिन्न विषयों से ही नहीं, अपितु अपने विभिन्न विषयों (विधाओं) से भी संबंध (लंबीय समवाय) है। हिंदी भाषा के भिन्न-भिन्न अंगों के समन्वयीकरण के आधार पर हिंदी-शिक्षण को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बनाया जा सकेगा।

वस्तुतः भाषा-शिक्षण में सबसे महत्त्वपूर्ण समवाय, भाषा की विभिन्न विधाओं के बीच संपर्क स्थापित करना ही है।

२. विद्यालयों में समय-सारणी के अनुसार एक हिंदी शिक्षक को प्रायः दो दिन गद्य-पद्य, एक दिन सरल पाठ्य-संग्रह, एक दिन लेख और पत्र; एक दिन मुहावरों आदि की शिक्षा देनी पड़ती है। सभी पाठ अलग-अलग पढ़ाए जाते हैं, इनके बीच कोई संबंध नहीं होता। मुहावरे के घेरे में शिक्षक ने 'चार चाँद लगना' मुहावरे का अर्थ और प्रयोग बतलाया था, परंतु जब वही मुहावरा गद्य में आता है, तो विद्यार्थी उसका अर्थ नहीं बतला पाता। व्याकरण के साथ भी यही बात है। नियम और सिद्धांत रटा दिए गए, परंतु व्यावहारिक प्रयोग का अवसर आने पर छात्र गल्ती कर बैठते हैं। रस, अलंकार, पिंगल के साथ भी आज यही बात है।

हिंदी भाषा के नियम और सिद्धांत तभी लाभदायक होंगे जब गद्य, पद्य, रचना, कहानी और नाटक आदि विषय पढ़ाते समय भी व्यावहारिक प्रयोग द्वारा उसकी शिक्षा दी जाए। हिंदी के निबंध-शिक्षण के साथ ही व्याकरण और सूत्र का शिक्षण भी हो सकता है। कविता के साथ अलंकार, रस और पिंगल आदि का बोध अनायास कराया जा सकेगा। गद्य में किसी शीर्षक को पढ़ाने के उपरांत उसका व्यापक अध्ययन किसी सहायक पुस्तक को पढ़ा कर कराया जाए। गद्य की पुस्तक में आए पाठों पर मौखिक कार्य कराया जाए। मौखिक कार्य के बाद उसी पर लिखित कार्य कराने से पाठ्य-विषय विशेष बोधगम्य और स्थायी होता है। गद्य-पाठ की प्रस्तावना कविता से की जा सकती है। कविता-शिक्षण की एक प्रणाली तुलनात्मक प्रणाली है। वह समवाय के इसी पक्ष की ओर संकेत करती है। बहुधा व्याकरण सिखाने का एक पृथक् चक्र होता है और उसकी परिभाषाएँ एकांगी पड़ी रह जाती हैं, जब कि प्रत्येक दशा में व्याकरण-ज्ञान का प्रयोग गद्य-शिक्षण के साथ चलना चाहिए। कविता का सौंदर्य अधूरा रह जाएगा यदि उसकी अलंकारिता का निर्देशन नहीं किया जाए। अलंकारों का अलग से ज्ञान देने की अपेक्षा कविता पढ़ाते समय, उसी कविता में प्रयुक्त अलंकारों का ज्ञान देना वास्तविक और प्रभावशाली होगा।

३. हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं के बीच समवाय

हिंदी भाषा का अन्य भाषाओं के साथ भी समवाय किया जा सकता है। हिंदी (मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में) पढ़ाते समय अन्य भाषाओं से समवाय कर इसकी शिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण बनायी जाए।

भिन्न-भिन्न भाषाओं में सुंदर-से-सुंदर विचार और भावधाराएँ मिलती हैं। भारत के विभिन्न प्रांतों की अपनी-अपनी मातृभाषा है, जिसमें साहित्य-सृजन कर

वहाँ के निवासियों ने अपनी भाषा और अपने देश के गौरव की अभिवृद्धि की है और आज भी उत्तरोत्तर उसके विकास में सत्प्रयत्नशील हैं। अतः, हिंदी-पाठ के अध्यापन के अवसर पर इन भाषाओं के सुंदर स्थलों एवं प्रसंगों (गद्य एवं पद्य दोनों) के साथ समन्वय किया जा सकता है। हिंदी-साहित्य की सहज अभिवृद्धि के निमित्त अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद भी किया जाना चाहिए।

४. हिंदी भाषा और जीवन के बीच समवाय

ज्ञान, भावना और कर्म का समन्वय ही जीवन है। इन तीनों में से एक का संतुलन बिगड़ने से ही जीवन असंतुलित हो उठता है। साहित्य इसी का विश्लेषण है और मानव उसका केंद्र।

भाषा द्वारा ज्ञान, भावना और कर्म तीनों में समन्वय किया जाता है। जहाँ शब्द, अक्षर, वाक्य आदि बनाना सिखाया जाता है वहाँ ज्ञान का क्षेत्र है, किंतु जब वह साहित्य का रूप ले लेता है, तो वह भावनालोक में आ जाता है। साहित्य में केवल भाव से भाव का, भाषा से भाषा का एवं ग्रंथ-से-ग्रंथ का मिलन ही नहीं होता, अपितु इसमें अतीत का वर्त्तमान से, मानव का मानव से, निकट का दूर से अंतरंग मिलन भी है, जो कि इसके अतिरिक्त कहीं भी संभव नहीं। पुनः जब उसकी अभिव्यक्ति व्यवहार में आती है, सृजनात्मक शक्ति का आविर्भाव करती है -- वही उसका कर्म रूप है।

समवाय में सतर्कता

किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए समवाय करते समय शिक्षक को पूर्ण सचेष्ट रहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ — हिंदी भाषा की किसी विधा को पढ़ाते समय एक शिक्षक को समवाय के निमित्त निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है :—

(१) शिक्षक को इस तथ्य से सर्वदा अवगत रहना चाहिए कि सामयिक पाठ का समन्वयीकरण स्वाभाविकरूपेण हो, अन्यथा इसका फल विपरीत होगा। भाषा का त्रिविध विषय-वस्तुओं से समवाय स्वाभाविक ढंग से नहीं होने से शिक्षण की प्रक्रिया सफलता के स्थान पर असफलता ही दिलावेगी। किसी भी दृष्टि से स्वाभाविक और सरल समवाय ही अपेक्षित है। इसे प्रशिक्षित और अनुभवी शिक्षक ही सुगमतापूर्वक निभाने में समर्थ होंगे।

(२) यदि भिन्न-भिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न अध्यापक पढ़ाते हैं, तो समवाय का कार्य कठिन होगा। इसमें समय अधिक लगेगा और विषय कम बोधगम्य होगा। ऐसी अवस्था में विषय-अध्यापकों को आपस में मिल कर यह निश्चय

कर लेना चाहिए कि किस विषय के किस अंश को वे समन्वय स्थापित करके पढ़ाना चाहते हैं। विषय-अध्यापक के बदले कक्षा-अध्यापक की प्रथा, समवायी-पद्धति की विशेषता है; क्योंकि वार्षिक, त्रैमासिक, मासिक, साप्ताहिक और फिर दैनिक योजनाओं में पूरे वर्ष के कार्य को विभाजित करने में उन्हें सुगमता होगी। हिंदी के साथ अन्य विषयों को समवाय द्वारा पढ़ाने के लिए पाठ्यक्रम और समय-विभाग-चक्र दोनों में परिवर्तन करना होगा। परिष्कृत पाठ्यक्रम और समय-सारणी का न्यून बंधन होने से ही हिंदी शिक्षक स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षण-कार्य संपादित कर सकेंगे और विद्यार्थी भी एकाग्रचित्त बने रह कर रुचिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करेंगे। भाषा के पाठ्यक्रम में हमें ऐसे पाठ रखने होंगे, जिनके साथ इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, मनोविज्ञान एवं विज्ञान आदि विभिन्न विषयों का समवाय स्थापित कर पढ़ाया जा सके। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपेक्षाकृत अधिक घंटे निर्धारित किए जाएँ।

(३) समवाय, शिक्षण-सामग्री को सरल, ग्राह्य, शिक्षण को प्रभावशाली एवं सार्थक बनाने का साधन है। अतः, समवाय को शिक्षण का आवश्यक अंग मान कर इसके साथ जबरदस्ती नहीं की जाए। अतिरेक एवं अस्वाभाविकता समवाय को असफल बना देता है। समवाय करते समय भाषा-अध्यापक को इसके लिए सचेष्ट रहना चाहिए कि वे अप्रासंगिक होकर, मूल पाठ से दूर नहीं चले जाएँ। संबद्ध किया जाने वाला दूसरा विषय ही इतना प्रधान नहीं हो जाए कि अपना मुख्य पाठ उसमें विलीन हो जाए। समवाय का मुख्य संबंध मूल पाठ्य-विषय एवं पाठ्य-पुस्तक से अवश्य बना रहे। समवाय मुख्य शीर्षक को अधिक स्पष्ट करने के हेतु किया जाता है, उसे कठिन और गौण बनाने के लिए नहीं। गौण विषय को मूल पाठ से अधिक प्रधान नहीं बनाया जाए। आवश्यकतानुसार संक्षेप में स्थापित करके मुख्य शिक्षण-सामग्री का प्रतिपादन किया जाए। शिक्षण-सामग्री ही प्रधान होती है। समवायी-वस्तु को गौण स्थान ही मिलना चाहिए। वस्तुतः जहाँ आवश्यकता हो, वहीं समवाय स्थापित किया जाए। उदाहरणार्थ 'जौहर' नामक कविता पढ़ाते समय यह पूछना अस्वाभाविक और अप्रासंगिक होगा कि पद्मिनी ने जौहर-रक्षा के समय कितने मन लकड़ी जलायी?

(४) पूरे पाठ में छात्रों की रुचि बनी रहे — इसके निमित्त जितने भी विषयों या क्षेत्रों से, हिंदी भाषा की विभिन्न विधाओं के बीच समवाय स्थापित किया जाए, सभी प्रायः विद्यार्थी के मानसिक क्षेत्र और अवस्था के अनुकूल हों। शिक्षक को अपनी विद्वत्ता दिखलाने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

(५) समवाय उन्हीं विषयों में किया जाए जिनमें सरलता, स्पष्टता तथा बोधगम्यता की विशेष गुंजाइश हो। हिंदी भाषा और इसकी विभिन्न विधाओं को

इतिहास, भूगोल तथा नागरिकशास्त्र-जैसे विषयों से संबद्ध करना विशेष अच्छा होगा। परंतु, हमें पूर्व ज्ञान या पूर्व अनुभव का ध्यान अवश्य रहे।

(६) समवाय करते समय बालक की क्रियाशीलता को प्राथमिकता दी जाए। समवाय इस प्रकार किया जाए कि बालक और किशोर सदैव क्रियाशील बने रहें। क्रियाशीलता का सिद्धांत पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। पेस्टालॉजी, फ्रोबेल और मांटेसरी-जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने अपने अनेकों प्रयोगों के आधार पर बतलाया है कि बालक एक क्रियाशील प्राणी है। वह सर्वदा कार्यरत रहना चाहता है। इसलिए बालक की शिक्षा में किसी-न-किसी क्रिया को अवश्य स्थान देना चाहिए। बुनियादी तालीम में 'क्रिया द्वारा सीखने' के इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार किया गया है। परंतु, क्रियाशीलन पूर्णतः उद्योग प्रधान नहीं बन जाए — इसकी ओर हमें पूर्णतः सावधान रहना पड़ेगा।

कठिनाइयाँ :

समवाय एक कठिन कार्य है। शिक्षकों को पूर्ण सचेष्ट होकर वर्ग में आने के पहले इसके लिए पूरी तैयार करनी पड़ेगी। हमें पाठ-संकेत बनाना होगा। इस विषय में हमें पूर्व नियोजित योजनाओं के आधार पर ही कार्य करने से सफलता मिलेगी। समवाय के लिए समवाय करने वाले शिक्षक इसे कृत्रिम और अस्वाभाविक बना डालते हैं। फलस्वरूप समवाय, जो अपने-आप में एक पूर्ण मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक साधन है, मनोवांछित फल नहीं दे सकने के कारण आस्थाहीन बन जाते हैं।

समवाय करना बहुत सरल नहीं। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति तो इस समवाय द्वारा शिक्षण करना संभव ही नहीं समझते। लेकिन, बात ऐसी नहीं है। यथार्थता तो यह है कि संसार की संपूर्ण विभिन्नता में एकता है, भिन्न-भिन्न विषयों की बात कौन कहे! लेकिन, इस भिन्नता की एकता को, बच्चे एवं किशोर पूर्णतः नहीं तो एक बड़ी सीमा तक समझ सकें, हमें इसकी कोशिश करनी चाहिए। जहाँ और जिस हद तक हम समवाय कर सकें, हमें अवश्य सत्प्रयत्नशील बनना है।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में शिक्षक

महात्मा गांधी प्रदत्त 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति' की समस्त सफलता इस कार्य में संलग्न शिक्षकों पर ही पूर्णतः आधारित है।

शिक्षा की अन्य पद्धतियों के समान ही बुनियादी शिक्षा-पद्धति में भी शिक्षक के अनुकरण तथा संपर्क द्वारा बालक के व्यक्तित्व की कल्पना की गई है। प्रातःकाल

की प्रार्थना से रात्रि तक, विद्यार्थियों के समस्त कार्य-कलाप शिक्षकों के साथ ही होते हैं। व्यक्तिगत तथा सामूहिक सफाई-योजना बनाना, समवाय करना, प्रकृति-तथा समाज से आवश्यकतानुसार परिचित होना, इन समस्त क्रियाओं का संचालन शिक्षक की अवधानता में ही विद्यार्थी संपन्न करते हैं। इन क्रियाओं के संचालन की क्षमता इस पद्धति के शिक्षक में आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उनकी सफल योग्यता और उनके महान् उत्तरदायित्व के वहन करने की क्षमता के फलस्वरूप ही शिक्षाशास्त्रियों तथा शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त शिक्षण के समस्त आधुनिक साधनों का उपयुक्त प्रयोग इस पद्धति में किया जा सकेगा। शिक्षण के साधन अपने-आप में चाहे कितने ही शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक गुणों से युक्त, प्रगतिप्रदायक तथा श्रेष्ठ क्यों न हों, शिक्षा के सर्वव्यापी प्रचार एवं प्रसार करके हमारे लक्ष्य की सिद्धि करने में वे सर्वथा असमर्थ होंगे, अगर उनके सफल संचालन एवं उपयुक्त निर्देशन की क्षमत से शिक्षक पूर्णतः युक्त और भिज्ञ नहीं हैं।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति के आलोचकों का यह भी कहना है कि इस शिक्षा-प्रणाली को भारत में सफल बनाना कठिन है; क्योंकि इसके अनुरूप योग्य शिक्षकों का अभाव है। इस महत्त्वपूर्ण संदर्भ में बुनियादी शिक्षा का उचित ज्ञान प्रदान करके, महत्तापूर्ण कार्य संपादन करने वाले एक सफल शिक्षक में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है :—

१. व्यक्तित्व,
२. भाषा पर अधिकार,
३. अपने विषय का ज्ञान,
४. हिंदी साहित्य की विस्तृत जानकारी
५. अन्य विषयों का ज्ञान,
६. साहित्यिक प्रवृत्ति,
७. भावों और विचारों का सफल अभिव्यक्तिकर
८. कलात्मकता का ज्ञान,
९. सृजन-शक्ति एवं निष्ठा,
१०. आधुनिक शिक्षण-पद्धतियों का ज्ञान,
११. श्रव्य-दृश्य साधनों आदि के प्रयोग में रुचि,
१२. बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान,
१३. अध्यापन का अनुभव और
१४. प्रशिक्षण।

उपर्युक्त समस्त गुणों पर अब हमलोग एक-एक कर विचार करें।

१. व्यक्तित्व

एक शिक्षक का सर्वप्रथम गुण उसका सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व है। विद्यार्थी अपने जीवन की अधिकांश बातें अनुकरण द्वारा सीखते और ग्रहण करते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान बतलाता है कि बालक में सर्वप्रथम अनुकरण, तदंतर सीखने और अन्वेषण की प्रवृत्ति होती है। उनका भविष्य, सीखने तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति और पूर्व के अनुकरणों पर आधारित होता है। इस अनुकरण करने तथा सीखने की प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। परिवार के पश्चात् शिक्षक ही बालक-बालिका के चरित्र और मस्तिष्क को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। शिक्षकों के व्यक्तित्व की छाप विद्यार्थियों के चेतन और अर्द्धचेतन मन पर अमिट होती है तथा उनके समस्त कार्य निरंतर उससे अपादित होते हैं।

बच्चे भी अपने व्यक्तित्व का आदर चाहते हैं। उनके व्यक्तित्व का आदर वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका व्यक्तित्व स्वयं विकसित हो। इमर्सन ने बतलाया है कि शिक्षा का रहस्य बच्चे के व्यक्तित्व के आदर में ही निहित है; क्योंकि वह भी चाहता है कि उसकी बात सुनी जाए। मात्र बच्चा समझ कर हम उसके विचारों को अमान्य नहीं कर सकते। बच्चा भी सोचता और अनुभव करता है। विद्यार्थी और शिक्षक का अत्यधिक गहरा संबंध है। ऐसी महत्त्वपूर्ण परिस्थिति में शिक्षकों का व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित होना ही है। व्यक्तित्व की पूर्णता को, उसकी एक संपूर्ण इकाई को उद्घोषित करने वाले निम्नांकित चार तत्त्वों का संमिश्रण आवश्यक है :—

(i) स्वस्थ शरीर
(ii) उच्च नैतिक चरित्र,
(iii) विकसित मन और मस्तिष्क तथा
(iv) श्रेष्ठ सामाजिक गुण।

(i) स्वस्थ शरीर—व्यक्तित्व पर शारीरिक गुणों का बड़ा प्रभाव होता है। इसी उद्देश्य से प्राचीन ग्रीक शिक्षा-पद्धति में शारीरिक व्यायाम पर बहुत बल दिया जाता था। भारतीय गुरुकुल प्रणाली में लंबे-चौड़े, पुष्ट, स्वस्थ शरीर के निर्माण हेतु किशोरों को शारीरिक परिश्रम करने का विधान था। जिन व्यक्तियों का शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा और स्वस्थ नहीं होता, उनमें वातावरणजन्य भावात्मक संघर्ष सँभालने की शक्ति नहीं होती। अतः, यह अत्यंत आवश्यक है कि हमारा शारीरिक गठन सुंदर और सुडौल हो। ऐसे अध्यापकों से बालक और किशोर बहुत

प्रभावित होते हैं। शिक्षक का शरीर अगर स्वस्थ है, तो अध्ययन-अध्यापन में भी उसका मन लगेगा। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है।

स्वस्थ शरीर के एक शिक्षक का शब्दोच्चारण विशुद्ध होगा। उसकी वाणी स्पष्ट, ओजपूर्ण तथा मधुर होगी, फलस्वरूप उसकी भाषा भी प्रभावशालिनी तथा प्रवाहपूर्ण बनेगी। उसकी प्रवृत्ति संपूर्ण शिक्षण-कार्यक्रमों के मूलाधार वाचन की ओर होगी तथा परिश्रम-साध्य हिंदी-शिक्षण के साधनों को वह सुरुचिपूर्वक आकर्षक तथा सरल बना कर, विद्यार्थी वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करते हुए विषय को बोधगम्य बना सकेगा।

(ii) उच्च नैतिक चरित्र—मनोविज्ञान में 'चरित्र' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक लिया गया है। चरित्र मानसिक क्रिया का वह साधन है, जो व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करता है। संकल्पशक्ति या आत्मगौरव के स्थायी भाव को *ही चरित्र कहते हैं। जिस मनुष्य में आत्मसम्मान का स्थायी भाव होगा तथा यदि* वे स्थायी भाव समुचित रूप से संगठित हो गए होंगे, तो वह व्यक्ति एक चरित्रवान व्यक्ति होगा। चरित्रवान व्यक्ति में एक आदर्श होता है। वह दूसरों के दुःख में दुःखी एवं सुख में सुखी होता है। उसके लिए वसुधैव कुटुंबकम् की भावना सर्वोपरि रहती है। चरित्र मानव-जीवन का अमूल्य वैभव है। यह कहावत सर्वविदित है—"धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो थोड़ा गया, परंतु अगर चरित्र गया तो सब कुछ समाप्त हो गया।" चरित्रवान व्यक्ति विश्व में सब कुछ कर सकता है, उसके लिए सब कुछ संभव है।

व्यक्तित्व के निर्माण में चरित्र का प्रमुख योग है। जिस व्यक्ति का चरित्र ठीक नहीं, उसका व्यक्तित्व भी आकर्षक नहीं होता। कतिपय अन्य विशिष्ट गुणों के बावजूद समाज में उसका आदर नहीं होता, फलस्वरूप उसमें अहमंयता की भावना आ जाती है, जो उसके व्यक्तित्व-विश्रृंखलन का कारण बनती है। भारतीय संस्कृति में चरित्र को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। हमारे धर्मग्रंथ चरित्र की महत्ता पर बहुत बल देते आए हैं। चरित्र की महत्ता को स्वीकार करने के कारण ही भारतीय ऋषि आज हमारे लिए वंदनीय हैं। उनके स्मरण मात्र से हम एक बल और ओज का अनुभव करते हैं। चरित्र के अभाव में नैतिक बल प्रादुर्भूत हो ही नहीं सकता। वस्तुतः चरित्र की सामाजिक लपेट व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक है। "व्यक्तित्व मनुष्य के आंतरिक जीवन की अभिव्यक्ति है तथा चरित्र उसकी क्रियाओं या सफलताओं की अभिव्यक्ति है।"[1]

१. साइकोलॉजी एंड एडुकेशन, आर० एम० ओगडन, पृष्ठ-३५०।

ऐसी अवस्था में गांधी-शिक्षा-दर्शन पढ़ाने वाले शिक्षक का नैतिक चरित्र और आचरण ऊँचा नहीं है, तो उसका व्यक्तित्व विशृंखलित होगा और उस अवस्था में पाठ्य-विषय और उसके अध्ययन का कोई विशेष प्रभाव बच्चे, बालकों और किशोरों के अविकसित मस्तिष्क पर नहीं पड़ेगा। यही नहीं, उसका प्रभाव ही उल्टा होगा। अतः, एक चरित्रवान शिक्षक से ही हम गांधीवादी शिक्षा-दर्शन के सफल शिक्षण की आशा करेंगे। । विद्यार्थियों पर शिक्षक के शुद्ध आचरण, सच्चरित्रता, विश्वास, विचार, दैनिक व्यवहार, समय की पाबंदी आदि का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः, उसे चरित्रवान होना ही है। बुनियादी शाला के शिक्षक के तीन प्रमुख कार्य हैं अथवा कहें कि उन्हें तीन प्रकार के प्रमुख उत्तरदायित्वों का वहन करना है। यथा—

(क) शिक्षण, (ख) निर्देशन और (ग) शासन।

इन तीनों प्रकार के कार्यों को सुव्यवस्थितरूपेण वहन करने में वह शिक्षक सर्वदा असफल रहेगा, अगर उसका चरित्र श्रेष्ठ और सुदृढ़ नहीं है।

(iii) विकसित मन और मस्तिष्क—बुनियादी तालीम देने वाले शिक्षक के समक्ष आज एक महान् उत्तरदायित्व है। विकसित मन, मस्तिष्क के अभाव में वह प्रगति नहीं कर सकेगा। अगर उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील एवं उदार नहीं है, तो विभिन्न क्षेत्रों से ज्ञान-ग्रहण कर 'मधु-संचय' की प्रक्रिया को चरितार्थ करने के हेतु वे स्वाध्यायशील नहीं बनेंगे। उनमें ज्ञान-ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रस्फुटित एवं विकसित नहीं होगी और वे सर्वग्राही बन कर बुनियादी शिक्षण को सफल एवं सर्वसुलभ बनाने के लिए वे प्रवृत्त नहीं होंगे। पर्याप्त सामान्य ज्ञान और मानसिक योग्यता के अभाव में अध्ययन करने की ओर उनकी रुचि नहीं होगी। जो शिक्षक ज्ञान ग्रहण करने की तीव्र भावना से इस वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील युग में जिज्ञासु नहीं बनेगा, वह अपने सामयिक कार्य में कदापि सफल नहीं बन सकता। आज वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक शोधों द्वारा प्रदत्त आधुनिक शैक्षणिक जगत के संपूर्ण साधनों का प्रयोग कर बच्चे, किशोर एवं युवा सभी के लिए, शिक्षण को उपयोगी बनाते रहना है। आज श्रव्य-दृश्य साधनों के नित्य नए प्रयोग हो रहे हैं, अध्ययन-अध्यापन की नवीन विधियों की खोज हो रही है, बालक-बालिकाओं के मनोविज्ञान के संबंध में हमारे समक्ष नित्य नई युक्तियाँ आ रही हैं। अगर शिक्षक स्वाध्यायशील नहीं हैं, आधुनिकतम विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन नहीं करते हैं, तो ऐसी अवस्था में आधुनिक शैक्षणिक-जगत से उनका संबंध नहीं बना रहेगा। अतः, विद्वान 'बुनियादी शिक्षा' के शिक्षण में संलग्न शिक्षक अपने सफल व्यक्तित्व के निर्माण एवं

विकास हेतु सर्वदा अध्ययनशील बने रहते हैं। ज्ञान-वृद्धि की प्रवृत्ति से जो शिक्षक सतत् विद्यार्थी बना रहेगा, वही अपने विषय का पंडित होगा। इस संबंध में रवींद्रनाथ ठाकुर के ये विचार द्रष्टव्य हैं—"एक शिक्षक कभी सचाई के साथ नहीं पढ़ा सकता, जबकि वह स्वयं नहीं सीखता हो।" ज्ञान अनंत है। इस संदर्भ में बुनियादी तालीम के शिक्षकों को विशेष सतर्क रहता है। यही नहीं, शिक्षक को स्वयं प्रयोगात्मक दृष्टिकोण के साथ अनुसंधान-कार्य में लगे रहना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान के नवीन उद्गम्-स्रोतों की जानकारी के निमित्त सदैव तत्पर बने रहना चाहिए। सफल व्यक्तित्व के निर्माण के निमित्त मन और मस्तिष्क का विकास एक प्रबल शक्ति है। महात्मा गांधी का समस्त जीवन इस उज्ज्वल सत्य का प्रतीक है। बुनियादी शिक्षण को अगर हम सफल बनाना चाहते हैं, अगर हमारी इच्छा है कि 'प्रोजेक्ट मेथड' एवं 'कम्पलेक्स मेथड' के समान इस पद्धति का जगत में विकास हो, तो इस कार्य में संलग्न शिक्षकों को पूरी निष्ठा के साथ लगना होगा। अध्ययनशील बने रह कर ही जगत की अन्य शिक्षण-पद्धतियों में हो रहे नए अनुसंधानों को वे अपनी शिक्षण-पद्धति में लाने का और तुलनात्मक ढंग से विकसित करने का सफल प्रयास करेंगे।

(iv) श्रेष्ठ सामाजिक गुण—बुनियादी पद्धति के शिक्षण में संलग्नशील एक शिक्षक के व्यक्तित्व में उन सामाजिक तत्वों के संमिश्रण की आवश्यकता है, जिनके द्वारा विद्यार्थियों को प्रभावित कर वे उन्हें सामाजिकीकरण के निमित्त तैयार कर सकें। अगर शिक्षक का व्यक्तित्व स्वस्थ एवं संतुलित नहीं है, तो अपने प्रस्तुत पाठ के आधार पर उनमें उन गुणों को विकसित कर सकने में वे असमर्थ होंगे, जिनके द्वारा छात्रगण सामाजिक शृंखलाओं से तादात्म्य स्थापित करते हैं तथा समाज के एक गुणी एवं योग्य नागरिक बनते हैं। विचारप्रधान बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाले पुरुष से ही श्रेष्ठ शिक्षक होने की आशा की जाती है। धैर्य, निष्पक्षता एवं न्याय, सहयोगात्मक भाव, प्रेम और सहानुभूति, प्रसन्नता, मिलनसारिता और शिष्ट मर्यादापूर्ण व्यवहार, मधुर वाणी और शालीनता, बोलचाल पर संयम, विनोदप्रियता और मितभाषिता, श्रम और कर्म के प्रति निष्ठा, उच्च विचार और सरल जीवन के प्रति आस्था, नियमितता, सन्नद्धता, उदारता, नेतृत्वशक्ति आदि सामाजिक गुण हैं। इनको हमें बुनियादी शिक्षा पद्धति के माध्यम से समाज में विकसित करना है। रॉस के शब्दों में—'व्यक्ति जिसे सहानुभूति का उपहार नहीं मिला है, उसे तो शिक्षक बनना ही नहीं चाहिए।"

रोम के प्रसिद्ध विचारक क्विंटीलियन अस्वस्थ, क्रोधी तथा शुष्क हृदय के व्यक्ति को अध्यापक बनाने के पक्ष में नहीं थे। वे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इंस्टिच्यूट्स

ऑफ ऑरेटरी' (Institutes of Oratory) में शिक्षक की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि अध्यापक को सदैव प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। उसे अपने चरित्र को सदैव उज्ज्वल रखना चाहिए। और "बच्चे को एक शुष्क हृदय वाले अध्यापक से उतनी ही दूर रखना चाहिए, जितना कि शुष्क मिट्टी को एक कोमल पौधे से; क्योंकि ऐसे अध्यापकों का संसर्ग बच्चों को भी शुष्क बना देता है।"

एक शिक्षक को अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के निमित्त आज अपने को इन गुणों से विभूषित करना है, अन्यथा महात्मा गांधी का शिक्षा-दर्शन सफल नहीं होगा।

२. मातृभाषा हिंदी भाषा पर अधिकार

किसी विषय को अभिव्यक्त कर विद्यार्थियों में बोधगम्य बनाने की शक्ति हिंदी के उसी शिक्षक को होगी, जिसका मातृभाषा हिंदी भाषा पर अधिकार हो। शिक्षक को भाषा का माध्यम माना जाता है। शिक्षक वह कड़ी है, जिसके द्वारा भाषा तथा पाठक सान्निध्य प्राप्त करते हैं। भाषा, बालक की ज्ञानवृद्धि का एक साधन है। बालक सर्वदा कुछ-न-कुछ सीखना चाहता है। भाषा का संपर्क ही उनकी बढ़ती हुई ज्ञानपिपासा को शांत करेगा। बालकों के भाषा-ज्ञानवर्द्धन में शिक्षकों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग है। अतः, हिंदी भाषा का ज्ञान और उस पर अधिकार गांधीवादी शिक्षा-दर्शन में संलग्न एक सफल शिक्षक की प्रमुख विशेषता है। गांधीजी ने शिक्षा का माध्यम अपनी मातृभाषा को ही स्वीकार किया है।

शिक्षक की भाषा व्याकरणसंमत, शुद्ध एवं परिनिष्ठित होनी चाहिए। विषय की गहनता को सरल भाषा में लिख कर, पढ़ कर अथवा बोल कर समस्त विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य बनाने तथा मानसपटल पर सर्वदा के लिए इस प्रकार अंकित करने वाले कि वे भी तदनुरूप एवं तदनुकूल भाषा में लिख कर, पढ़ कर (वाचन) अथवा बोल कर अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर सकें—हिंदी भाषा के सफल शिक्षक हैं। इसके अतिरिक्त उच्चारण की शुद्धता, वाणी की स्पष्टता और प्रवाह, वाचन का उचित अभ्यास तथा सफल वक्तृत्वकला का ज्ञान भाषा पर अधिकार के सूचक हैं। शिक्षक में इन गुणों का होना अनिवार्य है।

३. बुनियादी शाला के पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों का ज्ञान

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में कार्यरत एक सफल शिक्षक को इसके विषयों का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे पढ़ाए जाने वाले अपने पुस्तकीय पाठ्य-विषयों तथा पाठ्यक्रमेतर विषयों का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। शिक्षक को जिस विषय का अधूरा ज्ञान होगा, वह उस विषय का आधा भी विद्यार्थी को नहीं सिखा

सकता। अधूरे ज्ञान के फलस्वरूप उसकी वणी अवरुद्ध हो जाएगी, भाषण-प्रवाह बंद हो जाएगा तथा भाव-प्रकाशन में वह असमर्थ साबित होगा। ऐसी दशा में शिक्षण के लिए वह सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होगा।

४. हिंदी साहित्य की विस्तृत जानकारी

हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा एवं मातृभाषा है। एक सफल शिक्षक को भाषा-विज्ञान और हिंदी साहित्य की विस्तृत जानकारी होनी चाहिए। उस के लिए भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों से भली-भाँति परिचित होना अत्यंत आवश्यक है। उसे यह जानना चाहिए कि शब्दों का विकास अपने आधुनिक रूप में कैसे और किन विभिन्न भाषाओं के संपर्क तथा सहयोग से हो सका है। विषय की पूरी जानकारी होने से ही वे उसकी तह में जा सकेंगे तथा समय-समय पर विद्यार्थियों के समक्ष उसके तथ्य का उल्लेख कर सकेंगे।

बुनियादी तालीम के शिक्षक को हिंदी की विभिन्न विधाओं के शिक्षण से पूर्ण परिचित होने की आवश्यकता है। उसे साहित्य की वर्त्तमान विधाओं से भी परिचित होने की आवश्यकता है। हिंदी के निबंधकारों, कवियों, नाटककारों, कहानीकारों, उपन्यासकारों तथा लेखकों की जीवनियों, प्रसिद्ध रचनाओं, साहित्यिक विशेषताओं, साहित्यिक शैलियों एवं लिखित तथा मौखिक भावाभिव्यंजना की प्रणाली की जानकारी होनी चाहिए। अध्यापक को हिंदी साहित्य की प्रसिद्ध रचनाओं का गहन अध्ययन करना चाहिए। हिंदी साहित्य के इतिहास, कविता के विभिन्न वाद, गद्य के समस्त अंगों की विभिन्न शैलियों, छंद, अलंकार, आलोचना तथा कोष एवं अन्य प्रकरण पुस्तकों का प्रयोग बुनियादी शाला के शिक्षक की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

५· अन्य विषयों का ज्ञान

हिंदी के साथ-साथ अन्य विषयों का भी ज्ञान एक बुनियादी शिक्षक के लिए आवश्यक है। यहाँ के शिक्षकों को मात्र हिंदी भाषा और तत्संबंधी साहित्य का ही ज्ञान नहीं, वरन् मनोविज्ञान, नागरिकशास्त्र, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, गणित, धर्म और संस्कृत-जैसे विषयों का भी सामान्य ज्ञान आवश्यक है। श्यामपट पर रेखा-चित्र बनाने के कौशल का भी ज्ञान उनके लिए आवश्यक है।

६· साहित्यिक प्रवृत्ति

'साहित्यिक प्रवृत्ति' बुनियादी शाला के एक शिक्षक की प्रमुख विशेषता है। साहित्यिक प्रवृत्ति से युक्त शिक्षक ही बुनियादी पद्धति के सफल अध्यापक होंगे। साहित्य पठन-पाठन में जिसकी अधिक रुचि है, उसमें इस योग्यता का प्रादुर्भाव स्वतः

हो जाएगा। संभव है, किसी व्यक्ति को विश्वविद्यालय की एक बड़ी उपाधि प्राप्त हो, जिसको उसने पुस्तक पढ़ कर प्राप्त कर लिया है, परंतु अपने विद्यार्थी-जीवन के अनवरत् परिश्रम के फलस्वरूप उपलब्ध 'विश्वविद्यालय की इस एक बड़ी उपाधि' मात्र से कोई यहाँ सफल शिक्षक नहीं बन सकता। उसकी सफलता उसकी साहित्यिक प्रवृत्ति पर ही विशेष आश्रित है। प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही हम कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हैं। अतः, पुस्तकीय आधार पर गद्य-पद्य के पाठन में समन्वय करने में, विभिन्न पाठ्यक्रमेतर विषयों, खेलों तथा श्रव्य-दृश्य साधनों द्वारा शिक्षण के सफल संचालन में, स्वतः प्रेरणा के आधार पर वे ही शिक्षक अभिमुख होंगे, जिनकी ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति है। यह एक सर्वथा मनोवैज्ञानिक सत्य है। ऐसी अवस्था में शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वे साहित्यिक प्रवृत्ति के व्यक्ति होंगे।

७. भावों और विचारों का सफल अभिव्यक्तिकरण

भावों और विचारों के सफल अभिव्यक्तिकरण, बुनियादी शाला के शिक्षक की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वर्ग में अथवा वर्ग के बाहर विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत पाठ्यविषय के ज्ञान की जानकारी तथा उसके कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण जो शिक्षक सरल, सुबोध और शुद्ध हिंदी भाषा में कर सकता है, वही विषयों का एक सफल शिक्षक होगा। किसी विषय को रटा कर मस्तिष्क में रख देना एक बात है, परंतु उसी प्रसंग को सर्वसुलभ भाषा में उचित भावाभिव्यंजना, प्रासंगिक उपमाओं और समुचित उदाहरणों द्वारा विद्यार्थियों के बोधगम्य बना देना दूसरी बात है। कठिन-से-कठिन पुस्तकीय अथवा पाठ्यक्रमेतर विषय को, प्रोजेक्ट (समस्या) को, अपनी अभिव्यक्तिकरण तथा प्रदर्शन की शक्ति, विषय-वर्णन की क्षमता, वक्तृत्व एवं भाषण-कला की निपुणता द्वारा विद्यार्थियों के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने वाले विद्वान व्यक्ति ही बुनियादी शिक्षा-पद्धति के सफल शिक्षक होंगे।

अभिव्यक्तिकरण की शक्ति शिक्षक के आत्मविश्वास का मापदंड है। कुछ व्यक्तियों में यह गुण जन्मजात होता है, परंतु अधिकांश व्यक्ति अभ्यास एवं परिश्रम द्वारा भी इसे स्वयं में विकसित करते हैं। बुनियादी शाला के शिक्षकों को इस सिद्धांत से अवगत रहना चाहिए। 'समवाय' जो बुनियादी शिक्षा पद्धति के सफल शिक्षण का प्रमुख आधार है, कभी सफल नहीं होगा, अगर यहाँ के शिक्षक सफल अभिव्यक्तिकरण में दक्ष नहीं हैं।

८. कलात्मकता का ज्ञान

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में संलग्नशील एक शिक्षक को कलात्मकता का ज्ञान होना आवश्यक है। विषयों में कला-पक्ष को पहचान कर ही शिक्षक उसमें रुचि लेता

है और यहीं उसके शिक्षण की सफलता परिलक्षित होती है। कला का संबल ले, शिक्षक उसे सहित्य के मर्मस्पर्श स्थल तक पहुँचाने का प्रयास करता है। इस स्थल पर पहुँचा कर जो छटा उसे दिखाई देती है, यदि वह विद्यार्थियों को भी उसमें तिरोहित और सरावोर कर सकता है, तो उसे श्रेष्ठ कोटि का शिक्षक माना जाना चाहिए। वुनियादी शिक्षा-पद्धति में निर्धारित पाठ्यक्रम का भी ऐसा ही विधान महात्मा गांधी ने किया है, जिसके अनुसार कला-पक्ष के अभाव में शिक्षकों को सफलता नहीं मिल सकती।

९. सृजन-शक्ति

वुनियादी शिक्षा-पद्धति में संलग्न एक शिक्षक में सृजन-पक्ति भी होनी चाहिए। इससे ज्ञान एवं कर्म को तो सहयोग मिलेगा ही, स्वतः विद्यार्थियों में भी सृजनात्मकता के गुण का प्रादुर्भाव और विकास होगा। वुनियादी विद्यालयों की रूप-रेखा में निखार आ जाएगा और महात्मा गांधी का स्वप्न यहाँ साकार होगा।

१०. आधुनिक शिक्षण-पद्धतियों का ज्ञान

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षा में विभिन्न आधुनिक अध्ययन-शिक्षण पद्धतियों का समावेश हुआ है। इन पद्धतियों से छात्रों की विभिन्न रुचियों की तुष्टि होती है। उनकी भिन्न-भिन्न अवस्था के लिए ये विभिन्न पद्धतियाँ उपयुक्त हैं; क्योंकि इनमें अपने-आप में कोई पूर्ण नहीं है। ऐसी अवस्था में इन विभिन्न पद्धतियों का ज्ञान वुनियादी शाला के एक शिक्षक के लिए सर्वथा आवश्यक है। इसकी शिक्षा विभिन्न रुचियों के वालकों को देनी है। अतः, किस परिस्थिति और किस उम्र में कौन सी पद्धति अपनायी जाए तथा 'प्रोजेक्ट' को किस प्रकार अधिक से अधिक सफल एवं उपयोगी वनाया जाए, शिक्षक के लिए इस तथ्य का सैद्धांतिक और व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है।

११. श्रव्य-दृश्य साधनों आदि के प्रयोग में रुचि

वुनियादि शिक्षा-पद्धति में लगे हुए एक सफल शिक्षक को पाठ्यक्रमेतर विषयों, खेलों और श्रव्य-दृश्य साधनों के सफल संचालन का पूरा ज्ञान एवं रुचि चाहिए। यह रुचि स्वतः उत्प्रेरित हो, किसी वाह्य दवाव की उपज नहीं वने, अन्यथा पाठ्यक्रमेतर विषयों और खेल की क्रियाओं को समयानुकूल सफल आयोजना तथा श्रव्य-दृश्य साधनों का अवसरानुकूल प्रयोग नहीं हो सकेगा।

१२. वाल-मनोविज्ञान का ज्ञान

वुनियादी पाठ्यक्रम तभी सफल होगा, जब इसके शिक्षकों को वाल-मनोविज्ञान की जानकारी होगी। इसका ज्ञान शिक्षक के लिए वहुत आवश्यक है। वैसे तो

मनोविज्ञान का सामान्य ज्ञान एक शिक्षक से अपेक्षित है ही, तथापि बाल-मनोविज्ञान का उसे विशेषरूपेण ज्ञाता होना है। बालक-बालिकाओं के स्थायी भाव, संवेग, स्वभाव, रुचि, बुद्धिलब्धि आदि को समझे बिना उनके लिए विभिन्न प्रतियोगिताओं के संपादन तथा पाठ्यक्रमेतर विषयों, खेलों या श्रव्य-दृश्य साधनों के विधान में कठिनाई होगी। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अवसर पर अथवा 'आधारभूत शिल्प' के संचालन के समय कौन विद्यार्थी किस प्रकार के उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता रखता है, इसकी जानकारी तथा तदनुरूप विधान, शिक्षक बालक-बालिकाओं एवं किशोर-किशोरियों के मनोविज्ञान के आधार पर ही कर सकेंगे। प्रत्येक बालक एक दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत को हम सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकार करते हैं। प्रत्येक बालक को एक ही विधि से नहीं पढ़ाया जा सकता और इसकी जानकारी बाल-मनोविज्ञान द्वारा ही संभव है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही जॉन लॉक ने इस सिद्धांत का पोषण किया था कि प्रत्येक बालक के लिए उसके घर पर ही अध्यापक रखा जाए। वर्त्तमान समय में इस सिद्धांत को स्वीकार कर हम अपनी प्रगति करने में सक्षम नहीं हो सकेंगे, तथापि इस मनोवैज्ञानिक सत्य से अवगत तो हमें रहना ही पड़ेगा। बाल-मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षक को बालकों को समझने तथा उनकी समस्याओं को सुलझाने में बड़ी सहायता मिलती है। इसके फलस्वरूप उनके शक्ति, समय, साधन आदि की पर्याप्त बचत होती है।

१३. अध्यापन का अनुभव

बुनियादी शिक्षण-पद्धति में सुयोग्य शिक्षक बनने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उस व्यक्ति को अध्यापन का पर्याप्त अनुभव हो। शनैः-शनैः कालक्रम में ही यह कार्य होगा।

१४. प्रशिक्षण

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में संलग्न एक सफल शिक्षक के लिए 'प्रशिक्षित' होना अत्यंत आवश्यक है। विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधुनिक प्रयोगों के फलस्वरूप शिक्षाशास्त्र के प्राचीन सिद्धांतों में अनेक आमूल परिवर्तन हुए हैं। वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने ही हमें यह बतलाया है कि व्यक्ति-व्यक्ति में पर्याप्त भिन्नता है। किसी भी एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान नहीं होता। आज की शिक्षा बाल-केंद्रित हो गई है। शिक्षण में नवीन पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ है। क्रिया की प्रधानता स्वीकार की गई है; क्योंकि सक्रियता ही बालक-बालिकाओं का स्वभाव माना गया है। अब पाठ्यक्रमेतर विषयों और खेलों

को भी पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया गया है। श्रव्य-दृश्य साधनों द्वारा शिक्षण को रुचिवर्द्धक बना कर उपयोगी, लाभकारी एवं स्थायी बनाने की ओर शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान केंद्रित है। प्राचीन परीक्षा-प्रणाली में नित्य नए शोध हो रहे हैं। विद्यालय को जनतंत्रात्मक प्रणाली पर सुगठित कर बालकों का समाजीकरण किया जाए -- इस विचारधारा का सर्वत्र पोषण हो रहा है। ऐसी अवस्था में यहाँ के शिक्षकों को अपनी शिक्षण-कला में निपुण बनने के लिए आवश्यक है कि प्रशिक्षण द्वारा समस्त शैक्षणिक सिद्धांतों और साधनों का व्यावहारिक प्रयोग वे सीख लें तथा पाठन का अनुभव प्राप्त करें। शिक्षा की प्रक्रिया का ज्ञान तथा अध्यापन का अभ्यास अध्यापक के लिए नितांत आवश्यक है। शिक्षा के क्षेत्र में जॉन लॉक शिक्षक की बहुत बड़ी जिम्मेदारी समझते हैं। उनका विचार है -- "जो पढ़ाने का ढंग जानता है, वही शिक्षा का गुप्त रहस्य जानता है।" बुनियादी शिक्षा-पद्धति में संलग्न शिक्षक तभी सफल होंगे, जब मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक समस्त पद्धतियों एवं साधनों के उचित प्रयोग में उनका मस्तिष्क प्रशिक्षित होगा -- और इस कार्य के लिए उन्हें प्रशिक्षण संस्थाओं की शरण लेनी पड़ेगी। वुड डिस्पैच ने १८५४ ई० में ही शिक्षकों के प्रशिक्षण को आवश्यक बतलाया था। योग्य अध्यापकों के अभाव की पूर्ति करने के लिए आज्ञापत्र ने प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए स्कूल खोलने की सिफारिश की। आज्ञा-पत्र में कहा गया कि जिस प्रकार इंगलैंड में अध्यापकों के प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध है, उसी आदर्श को लेकर भारत में भी अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। हंटर कमीशन (३ फरवरी, १८८२ ई०) को लॉर्ड रिपन ने भारतीय शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन के चेयरमैन वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य विलियम हंटर थे। इसी कारण इस कमीशन को 'हंटर कमीशन' के नाम से पुकारते हैं। इस कमीशन ने अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए अधिक-से-अधिक नॉर्मल स्कूल खोलने की सिफारिश की थी। हर्टोग कमिटी (१९२९) ने अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था करने को कहा था। सार्जेंट रिपोर्ट (१९४४ ई०) ने भी बतलाया कि शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण पर ध्यान देना चाहिए। वुड रिपोर्ट (जून, १९३७ ई०) ने अपने प्रतिवेदन-क्रम में बड़े स्पष्ट शब्दों में इस संबंध में कहा था, "प्राथमिक कक्षाएँ प्रशिक्षित अध्यापकों को ही दी जाएँ।" अनिवार्य शिक्षा के संबंध में सर्वप्रथम चर्चा करने वाले जर्मन विद्वान मार्टिन लूथर तथा अपने जीवन के सैंतीस वर्ष सफल अध्यापन-कार्य में व्यतीत करने वाले स्वानुभववादी यथार्थवादियों में प्रमुख रिचार्ड मुलकास्टर ने भी अध्यापकों के प्रशिक्षण को बहुत आवश्यक बतलाया है। रिचार्ड मुलकास्टर ने अपनी 'एलीमेन्टरी' नामक पुस्तक के पृष्ठ ७२ में इस

आशय का स्पष्ट विचार व्यक्त किया है कि अप्रशिक्षित शिक्षकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए नहीं नियुक्त किया जाए। बुनियादी शिक्षा-पद्धति में संलग्नशील शिक्षक अथवा संलग्न होने वाले शिक्षकों के साथ भी यह सिद्धांत निःसंदेह लागू है।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में विद्यालय का रूप

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में विद्यालयों का रूप आवासीय है। जब हम बुनियादी शिक्षा-पद्धति का पाठ्यमक्रम देखते है तो प्राचीन गुरुकुलों का स्मरण हो आता है। महात्मा गांधी ने यहाँ पूरे चौबीस घटे के कार्यक्रम का विधान किया है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य ही है कि बालकों का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास हो। यह शिक्षा-प्रणाली उन्हें आर्थिक, मानसिक एवं नैतिक दृष्टियों से भी स्वावलंबी बनाना चाहती है। इन सबके लिए बुनियादी शाला में समाज तथा उद्योग से संबंधित क्रियाएँ करायी जाती हैं। इसलिए यह बड़ा आवश्यक है कि बुनियादी शाला सुव्यवस्थित तथा सुशासित हो। यह भी आवश्यक है कि शाला का प्रत्येक व्यक्ति सहयोग तथा लगन से अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए कार्य करे।

बुनियादी शाला जिस समाज में स्थित होती है, वह उस समाज की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति का उद्देश्य रखती है। अतः, उसे अपने पड़ोस की उन्नति के लिए खोज करने वाली प्रयोगशाला के रूप में रहना चाहिए। इस कार्य में शाला के बालक और शिक्षक मुख्य रूप से हाथ बटाएँगे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हमारी बुनियादी शाला हमारे सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि तथा प्रतिबिंब हो। उसे लोकतंत्रीय जीवन का एक छोटा नमूना होना चाहिए।

जनतंत्रीय प्रणाली के लिए स्वयं संचालित तथा सहयोगी समाज आवश्यक है। अतः, हमारी बुनियादी शाला की व्यवस्था तथा संगठन जनतंत्रीय प्रणाली के आधार पर ही होनी चाहिए। इसके लिए शाला में एक शाला-सरकार या व्यवस्था-पक-समिति हो। कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार इस समिति के मंत्रियों तथा उपमंत्रियों की संख्या घटायी-बढ़ायी जा सकती है।

हमारी बुनियादी शाला की इमारत में कक्षाओं के कमरे लगभग ६०० वर्ग फुट के क्षेत्रफल के होने चाहिए। उसमें एक ग्रंथालय, प्रदर्शनी का कमरा, जो लगभग ३५० वर्गफुट का हो, अवश्य होना चाहिए, ताकि सामूहिक प्रार्थना, बाल-समाज या अन्य सामाजिक उत्सवों का आयोजन हो सके। इसके साथ ही कक्षाओं के बैठने के लिए भी कमरे होने चाहिए, आवश्यकतानुसार कुछ कक्षाएँ पेड़ इत्यादि के नीचे लगायी जा सकती हैं।

जहाँ तक हो, बुनियादी शाला के अहाते में बालकों के रहने के लिए छात्रावास तथा शिक्षकों के लिए आवास-गृह होना चाहिए। शाला में एक सामूहिक रसोईघर तथा सामूहिक रूप में बैठ कर खाने-पीने के लिए कमरा होना चाहिए, जिससे शाला का पूर्ण समाज एक ही स्थान पर भोजन कर सके। शाला की इमारत की मरम्मत आदि भी बालकों तथा शिक्षकों द्वारा की जानी चाहिए। इसके लिए सिद्धांत यह होना चाहिए कि सरकार पैसा दे तथा बालक और शिक्षक श्रमदान दें।

बुनियादी शाला में बगीचे या खेती आदि के लिए जमीन का होना आवश्यक है। इस जमीन पर खेती आदि करके बालकों को प्रत्यक्ष ज्ञान दिया जा सकता है। खेती आदि के लिए जहाँ पर खेती मूलोद्योग के रूप में हो, वहाँ तो १० या १५ एकड़ जमीन शाला के पास होनी चाहिए। शाला के बालकों के खेलने और व्यायाम आदि के लिए मैदान भी होना चाहिए। खेल की शैक्षणिक महत्ता से महात्मा गांधी पूर्ण अवगत थे और अपने पाठ्क्रम के समस्त अवयवों में उन्होंने इसका विधान किया है।

बुनियादी शालाओं के निमित्त निम्नलिखित कार्यक्रमों का विधान किया गया है :-

(१) सामूहिक सफाई,
(२) आरोग्यता बढ़ाने के उपाय,
(३) सामूहिक भोजनालय,
(४) मूलोद्योग की क्रियाएँ,
(५) सांस्कृतिक कार्यक्रम,
(६) शाला-गजट का प्रकाशन,
(७) स्वाध्याय,
(८) मौसम-तालिका,
(९) अंतर-विद्यालय समिति,
(१०) स्कूल-प्रदर्शनी,
(११) उत्सवों का मनाना,
(१२) शिक्षण-समिति और
(१३) गाँव-समाज से संपर्क।

उपर्युक्त समस्त कार्यक्रमों पर हम एक-एक कर विचार करें, तो विषय अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

(१) सामूहिक सफाई—शाला का कार्य सामूहिक सफाई से प्रारंभ होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत सफाई के साथ-साथ शाला के बालकों तथा

शिक्षकों को शाला की इमारत तथा पास-पड़ोस को साफ रखना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सफाई उनके जीवन में अच्छी तरह भर जानी चाहिए। यह तभी संभव है, जब प्रतिदिन व्यक्तिगत एवं सामूहिक सफाई का आयोजन हो।

प्रतिदिन के सफाई के कार्यक्रम के साथ-साथ कभी-कभी सफाई के विशेष आयोजन भी किए जाने चाहिए। सफाई की आदत डालने के साथ यह भी आवश्यक है कि बालकों की सौंदर्य-भावना का भी विकास हो। इसके लिए पत्तों, फूलों आदि से सजावट की व्यवस्था की जा सकती है। गाँव में प्रचलित दीवालों की चित्रकारी का उपयोग सरलता से किया जा सकता है।

(२) आरोग्यता बढ़ाने के उपाय--बुनियादी शाला के बालकों की डाक्टरी जाँच भी नियमित रूप से होनी चाहिए। बालकों की ऊँचाई, वजन आदि का नियमित लेखा रखा जाना चाहिए। साथ ही उन्हें नियमित रूप से खेल तथा व्यायाम कराया जाना चाहिए।

(३) सामूहिक भोजनालय–बुनियादी शाला के सभी बालकों तथा शिक्षकों का भोजन एक ही जगह बनने तथा एक ही जगह खाने की व्यवस्था होनी चाहिए। एक ही साथ भोजन करने की व्यवस्था बालकों में सामाजिक भावना का विकास करती है।

शाला के बगीचे में उत्पन्न शाक-भाजी तथा फल बालकों के उपयोग में आने चाहिए।

(४) मूलोद्योग की क्रियाएँ–मूलोद्योग शाला को सभी प्रकार के परावलंबन से बचाने का साधन है तथा मूलोद्योग या अन्य क्रियाएँ स्कूल और समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए चुननी चाहिए। जहाँ कृषि के लिए पर्याप्त जमीन हो, हर कक्षा के कृषि के लिए जमीन बाँट देनी चाहिए तथा साग-भाजी उत्पन्न करना तो अनिवार्य होना चाहिए। जहाँ पर बालकों तथा शिक्षकों के रहने की सुविधा हो, वहाँ पशु-पालन तथा डेयरी की व्यवस्था करके ताजे दूध का प्रबंध करना चाहिए। हमारे जीवन में कपड़े का महत्त्व खाने-पीने से कम है। अतः, भोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद वस्त्र-स्वावलंबन की ओर ध्यान देना चाहिए।

मूलोद्योग में बालकों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ उनके कौशल को बढ़ाना भी आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शाला में जो भी वस्तुएँ उत्पन्न की जाएँ, उनका उपभोग शाला तथा पड़ोस का समाज करे। उत्पादित वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए बुनियादी शाला में एक सहकारी समिति अथवा कोआपरेटिव स्टाल हो।

वालकों के कौशल बढ़ाने के लिए उद्योग में समाज के ऐसे व्यक्तियों की सहायता लेनी चाहिए, जो उस उद्योग में निपुण हों। शाला का उद्योग समाज में प्रचलित उद्योग तथा अन्य छोटे-मोटे धंधों को बढ़ाने में सहायक हो।

जो वालक शिक्षा के वाद किसी धंधे को अपना कर तत्संबंधी कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहें, बुनियादी शाला को ऐसे वालकों के मार्ग-निर्देशन की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए।

(५) सांस्कृतिक कार्यक्रम---बुनियादी शाला में समय-समय पर नाटक, गायन, वाद-विवाद तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित होते रहने चाहिए। शाला की वाल-सभा की बैठक भी प्रति सप्ताह होनी आवश्यक है। वाल-सभा की व्यवस्था वालकों के ही हाथ में होनी चाहिए। शिक्षक तो केवल दर्शक के रूप में रहें तथा समयानुसार मार्गनिर्देशन करें।

(६) शाला-गजट का प्रकाशन--सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए यह आवश्क है कि हम वालकों को उनके गाँवों, प्रदेश, देश तथा संसार में होने वाली गतिविधियों से परिचित कराते रहें। इसके लिए सबसे उत्तम व्यवस्था तो यह होगी कि बुनियादी शाला अपना एक अखवार स्वयं प्रकाशित करे। परंतु, भारत-जैसे गरीव देश में शाला के पास इतना पैसा होना संभव नहीं है। अतः, शाला में प्रतिदिन की मुख्य-मुख्य खवरें एक श्यामपट्ट पर लिख कर ऐसी जगह रखी जाएँ, जहाँ से वालक उसे आसानी से पढ़ सकें। प्रारंभ में इस तरह के कामों की व्यवस्था शिक्षक वालकों की सहायता से कर सकता है, पर धीरे-धीरे वालकों को ही इस काम में प्रशिक्षित करना चाहिए।

(७) स्वाध्याय—बुनियादी शाला में ग्रंथालय की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। ग्रंथालय में पुस्तकों की संख्या भी समुचित होनी आवश्यक है। इसकी व्यवस्था का भार शिक्षा-मंत्री पर छोड़ा जा सकता है। परंतु, चूँकि यह कार्य कठिन है अतः शिक्षक को इसकी गतिविधियों का विशेष ध्यान रखना चाहिए तथा वालकों को स्वयं अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करने की आदत डालनी चाहिए। ग्रंथालय के लिए पुस्तकें चुनने में वालकों की राय भी ली जानी उपयुक्त होगी। इससे वालकों को उपयुक्त पुस्तकें खरीदने का प्रशिक्षण मिलेगा।

(८) मौसम-तालिका—बुनियादी शाला के वालकों को नियमित रूप से मौसम तथा ऋतुओं का अवलोकन करना चाहिए। इस अवलोकन के अनुसार उन्हें मौसम-तालिका भरना भी सीखना चाहिए। विज्ञान की शिक्षा के लिए ये मौसम-तालिका वहुत ही उपयुक्त साधन सिद्ध हो सकती है। मौसम-तालिका आदि भरने का काम वालकों की टोलियाँ वनाकर भी कराया जा सकता है।

(९) अंतर-विद्यालय समिति--बुनियादी शालाओं को आपस की अन्य शालाओं के अनुभवों से भी लाभ उठाना चाहिए। प्रत्येक बुनियादी शाला में कुछ-न-कुछ प्रयोग हमेशा किए ही जाते हैं। इन प्रयोगों के परिणामों का लाभ एक दूसरे को लेना चाहिए। इस समिति के द्वारा बुनियादी शालाएँ एक दूसरे की प्रगति का ज्ञान भी प्राप्त कर सकती हैं। इस समिति के द्वारा ही उद्योग-कौशल या वाद-विवाद या अन्य सांस्कृतिक प्रतियोगिताएँ आयोजित की जा सकती हैं।

(१०) स्कूल-प्रदर्शनी—प्रत्येक बुनियादी शाला में प्रदर्शनी की व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रदर्शनी में शाला के उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं को रखा जाना चाहिए। इस प्रदर्शनी को देखने आदि के लिए बालकों के अविभावकों को समय-समय पर बुलाया जाना चाहिए। साल में एक या दो बार अंतरशालेय समिति जनता के द्वारा कई शालाओं की सामूहिक प्रदर्शनी भी आयोजित होनी चाहिए। इससे जनता को शाला में होने वाले कार्यों का ज्ञान भी होगा और शाला के प्रति उनकी रुचि भी बढ़ेगी।

(११) उत्सवों का मनाना—विभिन्न उत्सव हमारी अपनी संस्कृति और सभ्यता की देन हैं। बुनियादी शाला में इन उत्सवों के साथ-साथ महान् पुरुषों के जन्मदिवस तथा पुण्यतिथियाँ भी मनाई जानी चाहिए। इन उत्सवों तथा पुण्यतिथियों के मनाए जाने की शैक्षणिक उपयोगिता का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। आवश्यकतानुसार बाहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा विद्वानों को बुला कर उनके व्याख्यान आदि का आयोजन भी बुनियादी शालाओं में होना चाहिए।

(१२) शिक्षण-समिति—प्रत्येक बुनियादी शाला में एक शिक्षण समिति होनी चाहिए। इस शिक्षण-समिति का सभापति अधिपाठक हो। शिक्षण-समिति का कार्य शाला-विकास की योजना तथा प्रगति का मूल्यांकन करना होगा। यह शिक्षण-समिति समय-समय पर बैठ कर अपनी अन्य समस्याओं पर विचार करके उपयुक्त हल भी निकाल सकती है।

(१३) गाँव-समाज से संपर्क—बुनियादी शाला को समाज के पुनर्निर्माण में सहायक होना चाहिए। अतः, आवश्यक है कि शाला और समाज का घनिष्ठ संबंध हो। घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के लिए शाला के शिक्षकों तथा अधिकारियों को समाज के लोगों का शाला के प्रत्येक कार्य के लिए अधिक-से-अधिक सहयोग लेना चाहिए। समय-समय पर समाज के लोगों को शाला की प्रगति या विकास से संबंधित समस्याओं पर विचार करने के लिए निमंत्रित करना चाहिए। अभि-भावक-दिवस आदि मनाकर भी एक दूसरे को अधिक-से-अधिक जानने की चेष्टा

करनी चाहिए। शाला में उत्सव तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन के समय समाज के लोगों को निमंत्रित करना चाहिए। यह तो समाज को शाला में लाने की बात हुई।

शाला को समाज तक ले जाना भी आवश्यक है। हमारी शाला का कोई भी कार्यक्रम तब तक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि वे समाज में घर-घर न पहुँच जाए। शाला की सफाई, सांस्कृतिक कार्यक्रम, शाला के उद्योग की गतिविधियाँ गाँव के कोने-कोने तक पहुँचनी चाहिए। इसके लिए यहाँ के शिक्षकों को कभी-कभी समाज के लोगों के पास जाना चाहिए। ग्राम-सफाई और दवा का वितरण आदि सब शाला के माध्यम से ही होना चाहिए। यहाँ अखबार, ग्रंथालय की पुस्तकें, खेल-कूद का सामान गाँव के समाज के उपयोग में लाने की व्यवस्था होनी चाहिए। शाला को समाज-शिक्षा का केंद्र भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षकों को बालकों के विचार, उनकी रुचि और उनकी समस्याओं को समझने के लिए अभिभावकों से मिलते-जुलते रहना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि शाला और समाज दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं रह जानी चाहिए। शाला के कार्यक्रम तथा शाला की शिक्षा गाँव की गतिविधियों पर असर डालें तथा गाँव के कार्यक्रम शाला की शिक्षा पर असर डालें। यह एक दूसरे पर असर डालने की खिड़कियाँ बन जाएँ और समाज हमारी शालाओं को प्रकाशित करने वाले केंद्र बन जाएँ, तभी हम शिक्षा के इन केंद्रों को इसके बाद सामाजिक या आर्थिक क्रांति करने वाले केंद्रों के रूप में देख सकेंगे।

महात्मा गांधी और स्त्री-शिक्षा

महात्मा गांधी का विचार था, "पारिवारिक गाड़ी के संचालन में स्त्री-पुरुष दो पहिये के स्वरूप हैं। अतः, पारस्परिक समझ पैदा करने तथा उत्तरदायित्व निभाने की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों को शिक्षित होना आवश्यक है। एक पहिये के विपरीत स्थिति में रहने के कारण दांपत्यरूपी गाड़ी का संचालन सुविधाजनक और शांतिपूर्ण ढंग से हो सकेगा।

गांधीजी ने अपने शिक्षा-संबंधी लेखों तथा भाषणों में स्त्री-शिक्षा को अत्यंत महत्त्वपूर्ण बतलाया है तथा बाल्यावस्था से ही बालिकाओं की शिक्षा का विधान किया है। पेस्टालात्सी ने बालकों की शिक्षा में घर को अनिवार्य साधन माना है तथा माता को सभी प्रकार की वास्तविक शिक्षा की प्रेरक शक्ति ठहराया है। स्पार्टा में

नारी का बड़ा आदर था; क्योंकि वह सैनिक नागरिक की माता थी। वहाँ आरंभ से सात वर्ष तक बालक माता द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करता था। इसलिए स्पार्टा में बालिका की शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था।

बालक की शिक्षा सर्वप्रथम माता की गोद में ही शुरू होती है। यों तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक अपनी माता के गर्भकाल में ही उन कतिपय संस्कारों को धारण कर लेता है, जो बड़े सूक्ष्म और स्थायी होते हैं तथा उनके भावी जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। अर्जुनपुत्र अभिमन्यु चक्रव्यूह-भेदन क्रिया से अपनी माता के गर्भकाल में ही अवगत हो गया था। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जिनसे मालूम पड़ता है कि संसार के कई महापुरुषों का निर्माण बाल्यकाल में उनकी माता द्वारा दी गई शिक्षा के आधार पर ही हुआ था। शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बालक अपनी माता से अधिक प्रभावित होते हैं। परोक्ष एवं अपरोक्ष रीति से माता के गुण-अवगुण को वह धारण कर लेता है, जो समय पर पुष्पित और पल्लवित होते हैं। अतः, बालिकाओं की शिक्षा जो वयक्रम में पत्नी और माँ बनती हैं, अपने और अपनी संतान के साथ-साथ समाज तथा राष्ट्र के लिए भी कितना आवश्यक है, इसे कोई भी विचारशील व्यक्ति सहज ही अनुभव कर सकता है। कहा भी गया है कि "एक पुरुष को शिक्षित करके एक व्यक्ति को ही शिक्षित किया जाता है, परंतु एक बालिका को शिक्षित करने का तात्पर्य है--पूरे परिवार को शिक्षित करना।"

परिवार, समाज और राष्ट्र के निर्माण में स्त्री-शिक्षा का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी आधुनिक भारत की अधिकांश स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। वे मामूली पढ़ने-लिखने से भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं। शहरों में बालिकाओं को पढ़ाने की कुछ व्यवस्था हुई है, वहाँ के अभिभावक भी इस ओर जागरूक हुए हैं। परंतु, गाँवों की अवस्था अत्यंत शोचनीय है। यहाँ तो विद्यारंभ भी नहीं कराया जाता। स्त्री-शिक्षा की इस दुःखद स्थिति के मुख्य कारणों का उल्लेख हमलोग इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) आर्थिक समस्या,
(२) पाठ्यक्रम,
(३) जनता में निरक्षरता,
(४) जनता के विचारों की संकीर्णता,
(५) बाल-विवाह,
(६) पर्दा-प्रथा और
(७) प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का अभाव।

(१) भारत की आर्थिक अवस्था बड़ी दयनीय है। यहाँ की जनता मुश्किल से अपना भोजन भी जुटा पाती है। ऐसी स्थिति में अभि भावकों के लिए अपने पुत्रों को पढ़ाना ही समस्या बन जाती है। बालिकाओं को पढ़ाना तो दूर की बात है। ग्रामीण-जन अपनी बालिकाओं को खेतों में मजदूरी करने के लिए अथवा अन्य कार्यों में सहायता करने के लिए रख छोड़ते हैं। अपनी पुत्रियों को विद्यालयों में भेजना उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम होता। गाँव में चार-पाँच वर्ष की उम्र की बच्चियाँ भी घर-परिवार के छोटे-मोटे कार्यों में सहायता पहुँचाना शुरू कर देती हैं। किशोरावस्था प्राप्त युवतियाँ तो माता-पिता की आर्थिक स्थिति में सहायता पहुँचाते हुए घर का प्रायः सारा काम-काज संभालने लगती हैं। आर्थिक कमी के कारण ही समाज अथवा स्वतः सरकार भी लड़कियों के लिए विद्यालय की व्यवस्था नहीं कर पाती अथवा जो विद्यालय खुलते भी हैं, वे अव्यवस्थित हो जाते हैं। ब्रिटिश शासन-काल में जो राशि स्त्री-शिक्षा पर व्यय की जाती थी, वह अत्यंत अल्प थी।

(२) विद्यालयों का वर्त्तमान पाठ्यक्रम स्त्रियों के लिए नीरस और अनुपयोगी है। लड़कियों का पाठ्यक्रम लड़कों से भिन्न होना चहिए। डॉ० एस० एन० मुखर्जी अपनी पुस्तक 'एडुकेशन इन इंडिया टुडे ऐंड टुमारो' के पृष्ठ २३३ पर स्त्रियों के पाठ्यक्रम के संबंध में लिखते हैं कि चूँकि लड़के-लड़कियों के जीवन की आवश्यकताएँ अलग-अलग हैं, अतः लड़कियों के, जो भावी माताएँ भी हैं, पाठ्यक्रम में जीवनोपयोगी विषयों का ही समावेश किया जाए। लड़कियों का पाठ्यक्रम अत्यधिक साहित्यिक और सैद्धांतिक होने के कारण ही भारतीय समाज के सांस्कृतिक और व्यावहारिक आवश्यकताओं से अपने को संबद्ध करने में यह असफल है।

सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट के पृष्ठ ५८ पर इस संबंध में अपना मतव्य प्रकाशित करते हुए लिखा है कि प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति, घर और समाज में संगठन तथा एकरूपता के लिए लड़कियों को 'होम साइंस' के विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। घर, स्कूल और समाज के जीवन में अंतर्विरोध की समाप्ति के निमित्त 'होम साइंस' के विषय अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगे। व्यावहारिकता की ओर ध्यान देते हुए लड़कियों के पाठ्यक्रम में उन विषयों को संमिलित किया जाना चाहिए, जो उन्हें कुशल गृहिणी बना सकें। हाँ, जो उच्च शिक्षा की इच्छुक हों, उनके लिए भी पर्याप्त अवसर की गुंजाइश हो।

(३) भारत की अधिकांश जनता निरक्षर है, जो शिक्षा के सांस्कृतिक महत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनके दृष्टिकोण में स्त्री-शिक्षा कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात

नहीं; अतः अपनी कन्याओं को शिक्षा देना वे समय का अपव्यय और अर्थ का दुरुप-योग मानते हैं।

(४) विचारों की संकीर्णता भी स्त्री-शिक्षा की प्रगति में बहुत बड़ा रोड़ा है। देश के अधिकांश परिवारों में, विशेषकर ग्रामों में, स्त्रियों का घर से बाहर जाना संमान की दृष्टि से बुरा माना जाता है। कई माता-पिता यह भी समझते हैं कि पढ़ने-लिखने से लड़कियाँ उच्छृंखल हो जाती हैं। अतः, उनका घर में ही रहना श्रेयस्कर है।

(५) पर्दा-प्रथा के कारण भी स्त्री-शिक्षा की प्रगति नहीं हो पाती। हिंदू और मुसलमान दोनों ही पर्दा-प्रथा के शिकार हैं। इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि पर्दा एक पवित्र और आवश्यक गुण है और किसी जमाने में इसकी अनिवार्य आवश्यकता थी, परंतु इसके अत्यधिक प्रयोग ने आज स्त्रियों को पंगु बना दिया है। ऐसे परिवारों की कमी नहीं, जहाँ पर्दा-प्रथा के कारण गाँव के विद्यालय तक में जाना संमान और मर्यादा का उल्लंघन समझा जाता है।

(६) बाल-विवाह तो स्त्रियों की शिक्षा में बहुत बड़ा अवरोधक रहा है। यद्यपि धीरे-धीरे बाल-विवाह की प्रथा कम हो रही है, तथापि अभी भी गाँवों में इसका बहुत प्रचार है। बाल-विवाह के कारण लड़कियों की शादी बहुत कम उम्र में ही हो जाया करती है तथा वे गृहस्थी के झंझटों में इस प्रकार फँस जाती हैं कि पढ़ने-लिखने का विचार-मात्र भी उन्हें नहीं स्पर्श कर पाता है। देहातों में जहाँ बालिका विद्यालयों की अत्यधिक कमी है, वहाँ विवाहिता लड़कियों को बालकों के विद्यालयों में भेजना सामाजिक प्रथा के विरूद्ध माना जाता है।

(७) बालिका विद्यालयों तथा प्रशिक्षित स्त्री-शिक्षिका की नितांत कमी है, जिसके कारण भी देश में अधिकांश बालिकाओं की शिक्षा उनके माता-पिता या अन्य अभिभावकों के पढ़ाने की प्रबल इच्छा के बावजूद अधूरी ही रह जाती है।

परंतु, उपर्युक्त सभी कारणों में सबसे प्रमुख कारण यह है कि हमलोग परतंत्र थे। विदेशी शासकों को मात्र इस बात की चिंता थी कि चाहे जिस प्रकार हो, यहाँ उनका शासन स्थायी रहे। भारतीय जनता के बौद्धिक-सांस्कृतिक विकास के निमित्त कुछ करना या सोचना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते थे। यद्यपि अँग्रेजी राज्य-काल में समय-समय पर विभिन्न आयोगों की नियुक्तियाँ होती रहीं तथा उन लोगों ने इन संबंध में सरकार के समक्ष अपनी सहानुभूतिपूर्ण सिफारिशें भी प्रस्तुत कीं, परंतु उन सुझावों का कार्यान्वयन आदर्श रूप में नहीं किया गया।

सन् १८५४ ई० में ही "वुड के घोपणापत्र' में स्त्री-शिक्षा के ऊपर विचार किया गया। सन् १९४४ ई० में सार्जेंट योजना ने भी स्त्री-शिक्षा की वर्त्तमान अवस्था को दुःखद वतलाया।

सन् १९४८ ई० में राधाकृष्णन् कमीशन ने भी अपना रिपोर्ट में कहा कि प्रत्येक विश्वविद्यालय, जिसमें पुरुष पढ़ते हैं, स्त्रियों को अध्ययन का अवसर दिया जाए तथा उन्हें प्रत्येक प्रकार की सुविधा प्राप्त हों। स्त्रियों के पाठ्यक्रम को उनके अनुकूल वनाया जाए तथा अध्यापिकाओं को अध्यापकों के समान ही वेतन देने की व्यवस्था हो।

स्त्री-शिक्षा के लिए वीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अत्यधिक प्रयत्न किए गए। स्त्रियों के प्रति जो दृष्टिकोण अव तक आ रहा था; उसमें भी व्यापक परिवर्तन आ गया। उनकी शिक्षा के लिए जनता में रुचि उत्पन्न हुई और उनको कतिपय सुविधाएं प्रदान की गईं। एनी वेसेंट के द्वारा सन् १९०४ ई० में सेंट्रल हिंदू गर्ल्स कालेज की स्थापना वाराणसी में की गई। सरकारी शिक्षा विभाग भी स्त्री-शिक्षा के लिए विशेप सचेष्ट हुआ। लड़कियों के लिए लड़कों से अलग स्कूलों की स्थापना की गई। लार्ड कर्जन ने भी स्त्री-शिक्षा के प्रसार में अपनी रुचि दिखलाई। उसने लड़कियों के लिए केवल अलग स्कूलों की स्थापना ही नहीं की, वरन् पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता भी प्रदान की। सन् १९१६ ई० में लड़कियों के लिए प्रथम मेडिकल कॉलेज 'लेडी हार्डिंग कॉलेज' की स्थापना की गई।

स्त्री-शिक्षा के विकास में राष्ट्रीयता की भावना ने अत्यधिक योग दिया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में जनता ने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। इसके वाद पाश्चात्य विचारधारा ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए सजग किया। सन् १९१७ ई० में एनी वेसेंट की अध्यक्षता में 'वीमेंस इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की गई। इसी प्रकार सन् १९२५ ई० में "नेशनल कौंसिल ऑफ वीमेंस' की स्थापना की गई, जिसने सन् १९२७ ई० में प्रथम शिक्षा संमेलन आयोजित किया। सन् १९२६-२७ ई० तक समस्त वृटिश भारत में लड़कियों के लिए ३१९८ विद्यालय थे। इस युग के वाद स्त्री-शिक्षा ने तीव्रता से उन्नति की। सन् १९४७-४८ ई० में लड़कियों के स्कूलों को संख्या १६९५१ थी, जो कि १९५४-५५ जिसमें लड़कियों के स्कूलों को लड़कों के स्कूलों के समान ही सहायक अनुदान देने की सिफारिश की गई। आज्ञापत्र में उल्लेख किया गया कि "हम पूर्ण रूप से सहमत हैं कि भारत में स्त्री-शिक्षा को सरकार को ओर से उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण सहायता मिलनी चाहिए।" आज्ञापत्र ने देश के उत्थान के लिए स्त्री-शिक्षा को अत्यंत महत्त्व-

पूर्ण बतलाया। (The importance of female education in India cannot be over rated and we have observed with pleasure the evidence which is now afforded of an increased desire on the part of India to give a good education to their daughters........'Wood's Despatch).

लार्ड रिपन के समय में ३ फरवरी, १८८२ ई० को हंटर कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने भी स्त्री-शिक्षा की शोचनीय अवस्था पर दुःख प्रकट किया तथा सरकार को इसके लिए उदारतापूर्वक सहायता देने का प्रस्ताव दिया। अध्यापिकाओं को वेतन-अनुदान के लिए भी सिफारिश की गई तथा उनके उचित प्रशिक्षण के लिए नार्मल स्कूल खोलने पर बल दिया। लड़कियों की शिक्षा को सरल तथा उपयोगी बनाने के लिए प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को सरल एवं भावी जीवन में उपयोगी बनाने की सलाह दी। लड़कियों की शिक्षा में उन्नति लाने के लिए महिला निरीक्षिकाओं की नियुक्ति की सिफारिश की।

सन् १९२९ ई० में 'हर्टोग समिति' ने देश में व्यापक स्त्री-शिक्षा पर असंतोष प्रकट करते हुए अपनी अनुशंसा दी कि छात्राओं के पाठ्यक्रम को महिलोपयोगी बनाया जाए। अध्यापिकाओं की नियुक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में हों तथा स्त्री-शिक्षा के निरीक्षण का भी उचित प्रबंध किया जाए। जनसाधारण स्त्री-शिक्षा के प्रति उदासीन है। अतः, उनको इस ओर सचेष्ट और जागरूक करने की आवश्यकता है।

सन् १९३७ ई० में 'वुड ऐब्ट रिपोर्ट' ने भी अपने मंतव्य में प्रकाशित किया कि लड़कियों की शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जाए; क्योंकि उनसे ही भविष्य में योग्य अध्यापिकाओं की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री-शिक्षा क्रमशः विकसित और उन्नत होती गई है। वर्त्तमान काल में स्त्रियाँ प्रत्येक विभाग में सहायता पहुँचा रही हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रति जनता का दृष्टिकोण भी बदलता जा रहा है।

देश की विशाल जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए स्त्री-शिक्षा अभी शैशवावस्था में ही कही जाएगी। यद्यपि नगरों में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ है, तथापि गाँवों की दशा अब तक शोचनीय ही है। गणतंत्र भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ है, तथापि गाँवों की दशा अब तक शोचनीय ही है। गणतंत्र भारत में स्त्री-शिक्षा की दुःखद अवस्था को सुधारने तथा उन्हें पूर्णतः शिक्षित करने के लिए जनता और सरकार दोनों को पूर्णतः सचेष्ट होना चाहिए। आदर्श स्थिति

से हमलोग बहुत दूर हैं। गणतंत्र की आधारशिला शिक्षित जनता पर ही अवस्थित होती है। अपने देश में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही मताधिकार का अधिकार प्राप्त है। ऐसी अवस्था में स्त्री-समाज को अशिक्षित छोड़ हमलोग कदापि आगे नहीं बढ़ सकते। स्त्री-समाज को सब प्रकार शिक्षित बनाना हमारा प्रमुख कर्त्तव्य ही नहीं, आवश्यक धर्म भी है।

स्त्री-शिक्षा की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हमलोग सर्वप्रथम उन कारणों को समूल नष्ट करें, जो इसके मार्ग में अवरोधक हैं। देश में स्त्रियों की अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए तथा शहर और देहात के क्षेत्र में पर्याप्त विद्यालयों की स्थापना हो, जिनमें केवल स्त्री अध्यापिकाएँ ही रहें। स्त्री अध्यापिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो तथा उनके वेतन और रहने की जगह आदि मुख्य समस्याओं को आकर्षक बनाया जाए। परंतु, सबसे आवश्यक है कि विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सुधार हो। स्त्री-शिक्षा में शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदि समस्याओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। बालिकाओं के विद्याध्ययन को सुलभ-सुगम-आकर्षक बनाने के लिए छात्रवृत्तियों की व्यवस्था होनी चाहिए। विश्व के अनेक देशों में स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर देशहितार्थ युद्ध में भी उत्साहपूर्वक जाती हैं तथा बहादुरी के साथ लड़ती हैं। समाज और देश-हित के लिए वे सब प्रकार पुरुषों के समान ही सहायता को तैयार रहती हैं। इसका मूल-मंत्र है कि उन्हें शुरु से ही ऐसी शिक्षा दी जाती है, ऐसी ट्रेनिंग की व्यवस्था होती है, जिससे उन्हें इस प्रकार की शक्ति प्राप्त है। भारत में भी आज बालिकाओं के साथ-साथ प्रौढ़ स्त्रियों तक को पूर्णतः शिक्षित करने की योजना अनिवार्य और आवश्यक है। समाज और सरकार ही नहीं, अपितु प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति को समान रूप से, देश की इस महान् आवश्यकता की पूर्ति में अपनी संकीर्णता, भेद-भाव तथा कट्टरपन को भूल कर, सहयोग देने की आवश्यकता है, तभी भारत का नैतिक और सांस्कृतिक उत्थान होगा और ऐसा होना बुनियादी शिक्षा द्वारा ही संभव है।

महात्मा गांधी और अनुशासन

आज सर्वत्र इस विषय की चर्चा है—"शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासनहीनता फैल गई है। विद्यार्थी अनुशासनहीन हो गए हैं। विद्यार्थियों की उच्छृंखलताओं के कारण विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का वातावरण विषाक्त हो गया है, फलस्वरूप भारतीय समाज के रचनात्मक कार्यों की प्रगति अवरुद्ध होती जा रही है। अनुशासन के अभाव में प्रबंध और प्रशासन ढीला पड़ गया है।" इस विषय पर आलोचना-

प्रत्यालोचना, सभा-सोसायटी में, क्लब में, रेल, बस, या ट्राम में अथवा अन्य सामाजिक या सांस्कृतिक संमेलनों के अवसर पर हमें प्रायः सुनने को मिलती है।

गत कुछ वर्षों से हम देख रहे हैं कि विद्यालय और विश्वविद्यालय-क्षेत्र में अनुशासनहीनता की अनेक घटनाएँ हो रही हैं। छोटी-छोटी बातों पर हड़ताल, सत्याग्रह तथा तोड़-फोड़ की नौवत आ जाती है। परीक्षा-भवन में बैठे हुए तनिक कठिन प्रश्न-पत्र देखकर परीक्षार्थी परीक्षा-भवन की कुर्सियाँ तोड़ देते या शीशे फोड़ देते हैं। बात यहाँ तक पहुँच चुकी है कि नकल करते हुए पकड़ लेने की भूल करने वाले पर्यवेक्षक या अधीक्षक या अपने अध्यापक पर विद्यार्थी आक्रमण कर चुके हैं। छात्रावास में साधारण असुविधा होने पर, फीस में कुछ वृद्धि करने पर, सरकारी बसों में बिना टिकट यात्रा करने के कारण अधिकारियों के हस्तक्षेप पर छात्र क्या नहीं करते ! छात्र यूनियन की ओर से विरोध करना तो सामान्य बात है। वे अनुशासन-भंग करने के लिए शायद अधिक उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार देश के विद्यार्थियों में सामान्य रूप से अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है।

कभी-कभी ऐसा भी सुनने को मिलता है कि 'इन घटनाओं के लिए महात्मा गांधी जिम्मेवार हैं। उन्होंने विद्यार्थियों को विद्यालयों और विश्वविद्यालयों से असहयोग (असहयोग आंदोलन) का ऐसा पाठ पढ़ाया कि विद्यार्थी -वर्ग आज 'समस्त वातावरण' से ही असहयोग करने पर उतारू हो गया है। वृटिश शासनकाल में महात्मा जी द्वारा चलाए गए आंदोलनों के फलस्वरूप छात्रों ने 'शासन' के प्रति विरोध करना अपना स्वभाव बना लिया। शासन के प्रति विरोध की इस भावना ने शनैः-शनैः विद्यालय, परिवार और समाज एवं राष्ट्र के प्रति भी विद्रोहात्मक रूप ले लिया है। इस परिस्थिति में हमलोगों को यह विचारना अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि क्या सचमुच महात्मा गांधी अथवा उनके द्वारा प्रदत्त उनकी बुनियादी शिक्षा-पद्धति इन समस्त बातों के लिए जिम्मेदार हैं ? अगर महात्मा गांधी का वर्तमान शिक्षा-जगत् में व्याप्त अनुशासनहीनता से कोई संबंध नहीं है, तो सभी इसे स्वीकार करें कि वे निर्दोष हैं।

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम और विद्यार्थी-समाज

निःसंदेह भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में विद्यार्थियों ने खुल कर भाग लिया तथा सक्रिय सहयोग दिया। स्वाधीनता-संग्राम के राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेने के कारण भारतीय विद्यार्थियों में प्राधिकारी तथा तत्कालीन शासन के विरुद्ध आवाज

बुलद करने का विद्रोहात्मक एवं प्रतिकारात्मक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन की आदत पड़ गई। उस समय भारतीय राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की ओर से भी विद्यार्थियों की इस मनोवृत्ति को बढ़ावा दिया जाता था। समय-समय पर राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं तथा अन्य धार्मिक सामाजिक सुधारकों द्वारा तत्कालीन पाठ्य-प्रणाली की आलोचना की जाती थी। विद्यार्थियों को यह बतलाया जाता था कि 'इस पढ़ाई से कोई विशेष लाभ नहीं। इससे तो अंगरेजी राज्य के संचालन-हेतु कुछ सहायक कर्मचारी उत्पन्न होते हैं। इसका लक्ष्य संदेहास्पद है। अतः, यह त्याज्य है।'

फलतः छात्रों ने स्कूलों और कॉलेजों का त्याग किया तथा वे स्वाधीनता-युद्ध के सिपाही बने। किसी कारणवश जो विद्यार्थी आंदोलनों में भाग नहीं भी ले सके, वे अपने नेताओं के विचारों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित जरूर हुए। परिणाम-स्वरूप तीन बातें प्रतिफलित हुईं।—

(क) विद्यार्थियों में एकाएक स्कूल और कॉलेजों की पढ़ाई के प्रति अरुचि उत्पन्न होती गई।

(ख) विद्यार्थियों में अपने प्रत्येक प्राधिकारी के प्रति विद्रोहात्मक भावना का प्रादुर्भाव हुआ।

(ग) अधिकांश शिक्षकों ने राजनीतिक आंदोलनों में भाग नहीं लिया। अतः, शिक्षकों की सामाजिक मर्यादा वर्गविशेष के रूप में कम पड़ गई।

उपर्युक्त तीनों बातों ने क्रमशः विद्यार्थियों को अनुशासनहीन बनने को उत्प्रेरित किया।

हम इस बात से अच्छी तरह अवगत हैं कि वंग-भंग के पश्चात् स्वतंत्रता-संग्राम बढ़ता गया। इसी समय महात्मा गांधी ने अपना मंगलमय मंत्र फूंका। उन्होंने अपने भाषणों और लेखों द्वारा जनता को जगाना प्रारंभ किया। सामान्य जनता, पढ़ा-लिखा वर्ग तथा विद्यार्थी समाज सभी महात्मा गांधी की आवाज से प्रभावित हुए। पंजाब में जालियानावाला बाग कांड हुआ। युवक वर्ग इन घटनाओं से बहुत प्रभावित हुआ। 'स्कूल-कॉलेज छोड़ दो' का नारा लगा तथा विद्यार्थियों से अंगरेजों द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं को छोड़ देने के लिए कहा गया। परिणामस्वरूप हजारों-हजार छात्रों ने इन आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया। सन् १९४२ ई० के आंदोलन में बहुतों ने स्कूल-कॉलेज छोड़ा और जेल गए। असहयोग आंदोलनों की समाप्ति के बाद भी बहुत विद्यार्थियों के आत्मसंमान ने उन्हें स्कूल-कॉलेज जाने से रोका।

वस्तुस्थिति

वृटिशकालीन भारत में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने 'शासन और अधिकार' के विरोध में विद्यार्थियों की आंदोलनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया अवश्य,

परंतु अब ऐसा होना 'आदर्श' नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उस समय भी महात्माजी ने अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। सत्य और अहिंसा के पुजारी से ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती थी। ये कुछ अन्य व्यक्ति थे, जिन्होंने उनके विचारों को, उनकी प्रवृत्ति एवं आदेश को, गलत ढंग से अपनाया और उसकी वास्तविक स्थिति पर अमल नहीं कर, वे महाशक्ति का दुरूपयोग कर बैठे। 'चौरी-चौरा कांड और महात्मा गांधी'—इन समस्त बातों को आज भी स्पष्ट कर सकते हैं कि वस्तुतः राष्ट्रपिता महात्मा गांधी क्या चाहते थे। अतः, आज की अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति के लिए महात्मा गांधी को जिम्मेवार ठहराना युक्तिसंगत नहीं। अगर आजादी के पहले राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने विद्यार्थियों को उत्साहित और उत्प्रेरित कर राजनीतिक कार्यों के निमित्त प्रेरित भी किया, तो अब हमारा लक्ष्य पूरा हो चुका है। अब हम अपने वांछित उद्देश्य की पूर्त्ति कर बाईस वर्ष से आजाद हैं। अब विद्यार्थियों की उस मनोवृत्ति को उभारना, जिससे वे शासन और अधिकार का विरोध करें, एक सामाजिक और राष्ट्रीय अपराध है। यह कार्य चाहे किसी भी गुट द्वारा किया जाता हो, देशहित के लिए पूर्णतः अहितकर है।

वृटिशकालीन भारत में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा शासन और अधिकार के विरोध में विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देना एक सीमा तक समयानुकूल था। परंतु, अब भी वही स्थिति वर्त्तमान है। राजनीतिक नेता तथा अन्य सामाजिक कार्यकर्त्तागण स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों को राजनीतिक प्रचार और चुनाव-अभियान के निमित्त उपयोग में लाते हैं। २० मार्च, १९६५ ई० को बाल-शिक्षा मंदिर नामक एक मांटेसरी स्कूल के द्वितीय वार्षिकोत्सव का उद्घाटन करते हुए गिरीडीह में बिहार के तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री कृष्णवल्लभ सहाय ने बतलाया था कि "छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के लिए शिक्षक, अभिभावक एवं नेतागण सभी दोषी कहे जा सकते हैं।" अब उत्तरदायी तथा जिम्मेवार राजनीतिक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को इस ओर बहुत सावधान होना चाहिए। बालकों और किशोरों की मनोवृत्ति को इस ओर खींचना और उत्तेजित करना सर्वथा अनुचित कहा जाएगा। इस प्रसंग में भूतपूर्व केंद्रीय शिक्षा-मंत्री श्री० एम० सी० छागला का विचार द्रष्टव्य है :—"यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हमारे विद्यार्थी अनुशासनहीनता के रोग से ग्रस्त हैं, बल्कि सत्य यह है कि वे उचित नेतृत्व तथा मार्गदर्शन के अभाव में गैरजिम्मेवार राजनीतिज्ञों के स्वार्थों के शिकार हो जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आज विद्यार्थियों को अपना भविष्य, जो अंधकारमय नजर आता है, उसके सामने एक निश्चित लक्ष्य होना चाहिए। यह कमी इसलिए है कि जो लोग शिक्षा के क्षेत्र में हैं, वे ढीले हैं तथा विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करने में अग्रसर नहीं होते।"

(यह २२-१२-६४ को योजना-अंक में प्रकाशित उनके मतव्य का उद्धरण है।) लखनऊ, अगस्त १६५६ की 'शिक्षा' नामक पत्रिका में डॉ० एल० मुखर्जी ने अनुशासनहीनता के कारणों की व्याख्या करते हुए वतलाया है कि इस समस्या का जन्म अध्यापकों के आदर-संमान की कमी के कारण हुआ। अध्यापकों की दुर्दशा के लिए उन्होंने राजनीतिक आंदोलनों को उत्तरदायी वतलाया है। वृटिश शासन-काल में अध्यापकों के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा अनेक प्रकार से विद्यार्थियों को दी जाती थी। उसी प्रकार आज के राजनीतिक दल छात्रों को कांग्रेस सरकार के विरुद्ध उभारते हैं। सन् १६५३ ई० में आचार्य नरेंद्रदेव समिति ने शिक्षा संस्थाओं में व्याप्त अनुशासनहीनता के प्रश्न पर विचारते हुए एक प्रमुख कारण यह भी वतलाया कि 'विद्यार्थी-संगठनों का दुरुपयोग दलों की ओर से हो रहा है। आजादी से पहले विद्यार्थी राजनीति में आकृष्ट होकर आ गए थे, यद्यपि देश के स्वतंत्र होने से यह स्थिति वदल गई है। परंतु, अव भी राजनीतिक दल विद्यार्थी-वर्ग से अनुचित लाभ उठा कर अपनी शक्ति वढ़ाना चाहते हैं। कभी-कभी अध्यापकों को भी दलगत भावना का शिकार वनाया जाता है।' ऐसा करना सर्वथा अनुचित और अशोभनीय है। वालक और किशोर विद्यार्थियों के भविष्य के साथ ऐसा खेल करना किसी भी जिम्मेवार नागरिक के लिए सामाजिक और राष्ट्रीय पाप है। राजनीतिक दलों को ऐसा करने के पहले गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि वे क्या करने जा रहे हैं।

विहार के भूतपूर्व गवर्नर श्री आर० आर० दिवाकर ने 'छात्र-अशांति की समस्या और उसका समाधान' नामक अपने निवंध में इस ओर हमारा ध्यान आकर्पित करते हुए निम्नलिखित वातें वतलायी हैं, जो सर्वथा उपयोगी हैं। उन्होंने लिखा है—"छात्रों तथा उनसे संवद्ध सभी व्यक्तियों को विचार करके निश्चय कर लेना चाहिए कि वे हिंसात्मक विचारों और कार्यों को तिलांजलि देंगे, जिससे प्राणों और संपत्ति का नाश न हो। दुर्भाग्य से हमारे देश में ऐसे राजनीतिक गुंडे तथा गुंडा-दल हैं, जो छात्रों, किसानों और मजदूरों द्वारा हिंसात्मक कार्य का समर्थन करते हैं। छात्रों को इन तत्त्वों से सावधान रहना चाहिए और उनके द्वारा दिखलाए गए आकर्षक भविष्य के चित्र से प्रभावित नहीं होना चाहिए। हिंसात्मक विचार, हिंसात्मक वचन तथा हिंसात्मक कार्य करने की मनोवृत्ति ही मानव जाति की प्रगति में वाधक हैं। छात्रों को इस तरह की मनोवृत्ति से मुक्त रह कर सृजनात्मक तथा लोकतंत्रीय विचारों का साथ देना चाहिए। उन्हें तर्क तथा वुद्धि से कार्य लेना चाहिए। जो लोग मानव-जाति की प्रगति में रुचि रखते हैं, उन्हें छात्रों द्वारा लोकतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाने तथा हिंसा से दूर रहने में सहायता करनी चाहिए,

ताकि मानवीय संबंधों में सुधार आ सके। वस्तुतः छात्रों के लिए तात्कालिक कार्य यह है कि वे ऐसे प्रत्येक कार्य के विरुद्ध दृढ़ता का रूख अपनावें और अपना समस्त ध्यान शिक्षाप्राप्ति में केंद्रित कर उसमें सफलता प्राप्त करें। इस दृष्टिकोण से सभी संबद्ध पक्षों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होगा और अनुकूल परिणाम लाएगा। अनुशासनहीनता और हिंसा से कुछ भी नहीं मिल सकता, ऐसे उचित दृष्टिकोण से ही सहानुभूति और स्नेह प्राप्त किया जा सकता है जो सभी प्रकार की सहायता और समर्थन का द्वार खोल देगा।' अतः स्पष्ट है कि अनुशासनहीनता के लिए, गांधीजी कभी भी दोषी नहीं हैं।

मुदालियर कमीशन रिपोर्ट ने अपने प्रकाशित मंतव्य में इस विषय पर विचारते हुए बतलाया है कि १७ वर्ष की उम्र के नीचे के किशोरों को राजनीतिक प्रचार और चुनाव-अभियान में व्यवहृत करने वाले व्यक्तियों के विरूद्ध 'एलेक्शन-ऑफेंस' (Election-offence) की सरकारी कारंवाई करने के लिए आवश्यक कानून की व्यवस्था होनी चाहिए।

(Suitable legislation should be passed making it an election-offence to utilise students below the age of 17 for the purpose of Political Propaganda or Election Compaigns.—Secondary Education Commission Report.)

उपर्युक्त संदर्भ में अब स्पष्टरूपेण हम यह कह सकते हैं कि छात्र-अशांति अथवा छात्र-अनुशासनहीनता के लिए महात्माजी दोषी नहीं कहे जा सकते, अपितु दोषी कोई दूसरा है। महात्मा गांधी अथवा उनका शिक्षा-दर्शन दोनों सत्य थे। गांधीजी के सारे विचार अहिंसा के आधार पर अवस्थित हैं। अगर हम समूचे रूप में बुनियादी शिक्षा-पद्धति को अपनाते हैं, तो निःसंदेह हमारा, हमारे समाज एवं हमारे राष्ट्र का आज बहुत बड़ा कल्याण होगा और अनुशासनहीनता के दोष का स्वतः समूल नाश हो जाएगा।

अनुशासनहीनता के वास्तविक कारण

अब हमारे लिए यह विचारना आवश्यक है कि अनुशासनहीनता का वास्तविक कारण क्या है। किन परिस्थितियों में हम जाने-अनजाने महात्मा गांधी को अनुशासन-हीनता की प्रवृत्ति को जाग्रत करने के लिए जिम्मेवार कह बैठते हैं। इन परिस्थितियों की जानकारी हमें अवश्य हो जानी चाहिए, ताकि महात्मा गांधी इस कलंक से बच सकें और हमें वास्तविक स्थिति का भान हो जाए।

आज अनुशासनहीनता के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

१. हमारा पाठ्यक्रम संकुचित और एकांगी है,
२. विद्यार्थियों के समक्ष उचित लक्ष्य का अभाव,
३. रुचि एवं गुण के अनुसार शिक्षा का अभाव,
४. विद्यालयों में पाठ्यक्रमेतर विषयों का अभाव
५. परीक्षा की प्रचलित प्रणाली,
६. वर्ग में पिछड़ने के कारण हीनता की भावना,
७. विद्यार्थियों और शिक्षकों में व्यक्तिगत संपर्क का अभाव,
८. शिक्षकों की आर्थिक स्थिति,
९. भौतिकवादी युग और शिक्षकों का संमान,
१०. शिक्षा-प्रणाली की सार्वजनिक आलोचना,
११. निराश व्यक्तियों द्वारा शिक्षण-कार्य,
१२. अध्यापक की विधियाँ,
१३. पाठ्य-विषय की एकरूपता या एकरसता,
१४. विद्यालयों की प्रवंध-समितियाँ,
१५. धार्मिक और नैतिक शिक्षा का अभाव,
१६. संयुक्त-परिवार का विश्रृंखलन तथा
१७. समाज की शैक्षणिक महत्ता का ह्रास।

उपर्युक्त कारणों पर हम एक-एक कर विचार करें।

१. हमारा पाठ्य-क्रम संकुचित और एकांगी है

भारतीय शिक्षा का पाठ्यक्रम केवल पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित है। इसमें व्यावहारिक शिक्षा का अभाव है। परंतु, बौद्धिकता अधिक है। हमलोग अपने यहाँ आज भी इंगलैंड के १९ वीं शताब्दी के ग्रामर स्कूल का अनुकरण कर रहे हैं। युग-परिवर्तन के साथ-साथ हमलोग अपनी शिक्षा में परिवर्तन नहीं ला रहे हैं।

हम प्राचीन परंपराओं के मोह से अभी तक मुक्त नहीं हुए हैं। दर्शन, साहित्य, न्याय, तर्क आदि ज्ञान की शाखाओं में विचार और मनन की आवश्यकता रहती थी, इसमें क्रियात्मक तथा व्यावहारिक बातों का कोई स्थान नहीं था। प्रायः इसी प्रकार की प्रणाली को हमलोगों ने विज्ञान, वाणिज्य आदि विषयों की शिक्षा के लिए भी अपनाया है। इन विषयों के अध्ययनार्थ इनके बौद्धिक और सैद्धांतिक पहलुओं को ही चुना है। इसी कारण पुस्तकों की ही पढ़ायी प्रधान बन गई है तथा

पाठ्यक्रम में जीवनोपयोगी तथ्यों का कोई स्थान नहीं है। पुस्तकों की पढ़ायी पर अधिक बल देने के कारण निष्क्रियता का अवगुण पैदा होता है तथा विद्यार्थियों के शारीरिक, सामाजिक और भावात्मक विकास को क्षति पहुँचती है।

पाठ्यक्रम में सुधार की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम की उपादेयता और स्वाभाविकता नवीन शिक्षा का प्रमुख एवं सर्वमान्य सिद्धांत है। इसी लक्ष्य से महात्मा गांधी ने 'बुनियादी तालीम' को उपयोगी बनाने पर बल दिया था। १ अक्टूबर, १९६६ ई० को नई दिल्ली में संसत्सदस्यों की विशेष तौर पर आयोजित एक बैठक में छात्र-अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार करते हुए तत्कालीन स्वराष्ट्र मंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा ने कहा था "उच्च-स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव किया जाना चाहिए तथा उन्हें जल्द-से जल्द बदलना नहीं चाहिए।"

२. विद्यार्थियों के समक्ष उचित लक्ष्य का अभाव

पाठ्यक्रम संकुचित होने के कारण आज के अधिकांश विद्यार्थियों की शिक्षा निरूद्देश्य होती है। माध्यमिक विद्यालयों अथवा कॉलेजों में पढ़ने वाले अधिकांश विद्यार्थियों के सामने अपने भविष्य की कोई निश्चित योजना नहीं होती और न उन्हें यही मालूम रहता है कि पढ़ाई समाप्त करने के बाद वे क्या करेंगे। भावी आशंका से उनका मन और मस्तिष्क सर्वदा एक निराशा और भय की अवस्था से गुजरता है।

विद्यालय की पढ़ायी समाप्त करने के बाद बड़ी संख्या में विद्यार्थी महाविद्यालयों में केवल इसीलिए आ जाते हैं कि इसके अतिरिक्त कुछ करने को उन्हें सूझ नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि तरुण छात्र और छात्राओं का एक बड़ा भाग विश्वविद्यालयों में इसलिए नहीं पहुँचता कि उनमें उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने की कोई विशेष योग्यता है अथवा इसमें उनकी कोई विशेष रुचि है, अपितु केवल इसलिए पहुँचता है कि जब तक उन्हें कोई अन्य काम न मिले, तब तक समय कैसे बिताया जाए। इसका मूल कारण है कि इसके अतिरिक्त उन्हें कोई अन्य उपाय का पता नहीं है, उनकी अन्य योग्यताओं का विकास ही नहीं हुआ है। अध्ययन-काल के पश्चात् उनका भविष्य बड़ा अंधकारमय तथा निरानंद हो जाता है।

इस प्रकार की अप्रिय और घुटी हुई परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करते हुए अनेक छात्रों के मन में कटुता और रोष की भावना उत्पन्न हो जाती है, जो इस युग की समानतावादी प्रवृत्ति के कारण और भी प्रबल हो उठती हैं। जब ये छात्र अपनी दशा की तुलना समाज के उस छोटे से वर्ग के साथ करते हैं, जो आर्थिक दृष्टि से भली दशा में होता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उनमें से अनेक के अंदर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना जाग उठती है। इस विषम

मानसिक परिस्थिति तथा अंतर्द्वंद्व की भयावह अवस्था में अनुशासनविहीन कार्यों की ओर उनका प्रवृत्त होना सर्वथा एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

इन दोषों को दूर करने का यही उपाय है कि पाठ्यक्रम इस प्रकार निर्मित, सुनियोजित और गठित किए जाएँ कि इस विषम समाज के अमीर और गरीब, दोनों वर्गों के विद्यार्थी इसमें स्थान पा सकें। अधिक पढ़ कर धनोपार्जन करने वाले विद्यार्थियों के लिए अगर व्यवस्था हो तो वैसे किशोरों के लिए भी सुविधा दी जाए, जो एक अल्प अवधि के पश्चात् ही धनोपार्जन की कामना करते हों। इसके अतिरिक्त एक विशेष उम्र-सीमा पर विद्यार्थियों को उनके लक्ष्य-निर्धारण की व्यवस्था अवश्य हो, जिससे उन्हें इसकी स्पष्ट जानकारी हो जाएगी कि भावी जीवन में उन्हें किन व्यवसायों को अपनाना है और जीविकोपार्जना के लिए आगे बढ़ना है। इसीलिए प्रोफेशनल शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासन की समस्या बहुत कम उठा करती है।

३. रुचि और गुण के अनुसार शिक्षा का अभाव

विद्यार्थियों के लिए उनकी रुचि और गुण(Attitude and Ability) के अनुसार शिक्षा का अभाव है। हमारा पाठ्यक्रम व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत के विपरीत है। किशोरों की अभिरुचि, क्षमता तथा बुद्धि आदि की भिन्नता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। फलस्वरूप पाठ्य-विषय में उनका मन नहीं लगता। उनमें अवधान का अभाव हो जाता है।

रुचि और अवधान के अभाव में किशोरों का मस्तिष्क कहीं अन्यत्र घूमता रहता है, यद्यपि वे सशरीर वर्ग में अवश्य विराजते होते हैं। ऐसे विद्यार्थियों का अनुशासनहीन होना स्वाभाविक है। इनकी मानसिक और शारीरिक शक्ति उद्दंडतापूर्ण व्यवहार और अधिकार के प्रति विद्रोहात्मक क्रियाओं में खर्च होती है। जब तक किसी विषय में विद्यार्थियों की रुचि रहती है, तब तक कक्षा में अनुशासन की समस्या उत्पन्न नहीं होती।

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के लिए पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत को अपनाया जाना चाहिए। शिक्षा को रुचि और गुण के मुताबिक होना आवश्यक है। रूचि एवं अवधान की जागृति के लिए विद्यालयों में 'दृश्य-श्रव्य साधनों' के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था आज सर्वथा और सर्वदा उपयोगी होगी। हमारे प्राचीन शास्त्रों में भी रूचि और गुण के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था के विधान का वर्णन है।

वेद-मंत्र बतलाता है कि शिष्य की शिक्षा उसकी मानसिक रुचि के अनुरूप होनी चाहिए। जिसकी जिस विषय में रुचि हो, उसको उसी विषय की शिक्षा दी जानी चाहिए और अपने अभिलषित विषय का विशेषज्ञ बनने का अवसर देना चाहिए।

४. विद्यालयों में पाठ्यक्रमेतर विषयों का अभाव

पाठ्यक्रमेतर विषयों (सह-पाठ्यक्रम) के अभाव में भी विद्यार्थी अनुशासनहीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें अपने अवकाश के समय के सदुपयोग का कोई व्यावहारिक, स्थिर और रचनात्मक साधन नहीं मिलता।

शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्यक्रमेतर विषयों के व्यापक प्रचलन द्वारा अनुशासन की समस्या का निदान एक बड़ी सीमा तक निश्चित है। श्री हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्र भारत में शिक्षा' के पृष्ठ ८९-९० पर इस संबंध में विचार व्यक्त करते हुए बतलाया है— "विद्यालयों में विद्यार्थियों को केवल औपचारिक शिक्षा ही नहीं मिलनी चाहिए, अपितु सहकारी और सृजनशील जीवन की कला का अभ्यास करने का अवसर भी मिलना चाहिए।" इसका अर्थ है कि विद्यालयों में पाठ्यक्रमेतर विषयों (Extra-Curricular Activities) के लिए सुविधाएँ होनी चाहिए, जो अनेक दृष्टियों से विद्यालय के विशुद्ध साहित्यिक पहलू की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। खेल, क्रीड़ा, अभिनय (नाट्य-क्रियाएँ वाद-विवाद, पर्यटन साहित्यिक क्रियाएँ (साहित्यिक क्रियाओं में स्कूल-पत्रिका निकालना, व्याख्यान की व्यवस्था, निबंध-प्रतियोगिता, कहानी-प्रतियोगिता, कवि-संमेलन-और कवि-दरबार आदि प्रमुख है) तथा अन्य सामाजिक गतिविधियाँ बालकों को नागरिकता की कला में प्रशिक्षित करती है विद्यार्थियों के समक्ष चौबीस घंटे का एक निश्चित कार्य-क्रम उपस्थित रहेगा तथा स्व-रुचि के अनुसार पाठ्यक्रमेतर विषयों में भाग लेने की छूट रहेगी, ऐसी अवस्था में अनुशासनहीनता के कामों में भाग लेने का उन्हें अवकाश ही नहीं प्राप्त होगा। १६ जनवरी, १९६५ ई० को पटना में किशोर दल के तेइसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री अनंतशयनम् आयंगर ने अपने उद्घाटन-भाषण में बतलाया कि "बच्चे देश के भविष्य हैं। इन्हें अनुशासन तथा एकता की शिक्षा दी जानी चाहिए। देश का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है, जब बच्चों में अनुशासन तथा एकता के बीज हों। इस दिशा में बच्चों की सामूहिक रैली तथा शारीरिक प्रदर्शन का आयोजन जो इस समय यहाँ किया गया है, वह बहुत उपयोगी है।" सैडलर कमीशन रिपोर्ट के खंड २१, भाग १, पृष्ठ ३४४ पर खेल की महत्ता के संबंध में निम्नलिखित आशय का मंतव्य प्रकाशित किया गया

है—"जो बालक सर्वदा काम-ही-काम करता है और खेलता नहीं, वह न केवल एक वृद्ध लड़का बन जाता है, अपितु वह दुःखी और कुसाम्यस्थापित भी होता है। बच्चे के विकास के लिए खेल एक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है। यदि बालकों को खेल का अवसर नहीं मिलता, तो उनकी यह प्रवृत्ति अन्य रूपों में प्रकट होने लगती है, जिसे हम अनुशासनहीनता कहते हैं।" इससे स्पष्ट है कि विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रमेतर विषयों का प्रचलन बहुत आवश्यक है।

५. परीक्षा की प्रचलित प्रणाली

परीक्षा की वर्त्तमान प्रणाली भी आज विद्यार्थियों में व्याप्त अनुशासनहीनता का एक बड़ा कारण है। 'गंभीर अनुशासनहीनता त्रुटिपूर्ण परीक्षा-प्रणाली की देन हैं'—ऐसा विचार है श्री एल० मुखर्जी का।

परीक्षा वर्ष में एक बार या दो वर्ष में एक बार होती है तथा पूर्ण सफलता के लिए उसी में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। फलस्वरूप कुछ विद्यार्थी वर्ष भर अपना समय नष्ट करते हैं और अनुशासनविरोधी कार्यों में लगे रहते हैं। ऐसे विद्यार्थियों का मनोभाव यह होता है कि परीक्षा के निकट के दिनों में दिन-रात पढ़ कर या आवश्यक प्रश्नों का पता लगाकर अथवा कोई अन्य प्रयत्नलाघव का रास्ता अपना कर या गेस-पेपर (Guess), की (Key), नोट्स (Notes) के आधार पर सफल बन जाएँगे। ऐसे विद्यार्थी प्रश्नपत्रों में दिए गए प्रश्नों की जानकारी के लिए पिल पड़ते हैं। वर्ष भर समय का नाश करने वाले ऐसे नवयुवक समाजविरोधी, अनुशासनहीन ऐसे अपवित्र कार्यों को अपनाना प्रारंभ करते हैं, जिससे व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, समाज और राष्ट्र पर भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस स्थल पर स्मरण रखना चाहिए कि कुछ शिक्षकगण भी विद्यार्थियों को इस प्रकार के असामाजिक और अपवित्र कार्य करने को प्रेरित करते हैं तथा उनका भावी मार्ग ऊपर से तो सुगम, परंतु आंतरिक दृष्टि से अवरुद्ध करते हैं।

परीक्षा की मूल्यांकन-प्रणाली में आवश्यक सुधार करके ही हमलोग इस त्रुटि से त्राण पा सकेंगे।

मूल्यांकन-संबंधी सुधार के लिए, मौखिक परीक्षा पर बल तथा नवीन परीक्षा-पद्धतियों का अनुसरण किया जाना चाहिए। इसके लिए क्युमुलेटिव रेकर्डस का प्रचलन किया जाए। मात्र अंतिम परीक्षा को ही महत्वपूर्ण नहीं माना जाए। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर वार्षिक सफलता का निर्णय हो। विद्यार्थियों के मानसिक, शारीरिक, चारित्रिक और भावात्मक विकास

की प्रगति का लेखा-जोखा रखा जाए। बालकों के लिखने-लिखाने के कार्य की ओर शिक्षक विशेष ध्यान दें। केवल पढ़ने और सोचने से पाठ्य-विषय स्पष्ट नहीं होता। जब पाठ्य-विषय अस्पष्ट रह जाता है, तभी 'शार्ट कट मेथड' अपना कर किसी प्रकार परीक्षा में विद्यार्थी उत्तीर्ण होना चाहते हैं।

६. वर्ग में पिछड़ने के कारण हीनता की भावना

रुचि और अवधान की कमी के फलस्वरूप शनैः-शनैः बालक अयोग्य बन जाते हैं। उनकी अयोग्यता का लक्ष्य वर्ग पाठ प्रगति में पिछड़ने में दृष्टिगत होता है। कभी-कभी किसी शारीरिक रोग, जैसे आँख में माँड़ा आदि हो जाने के कारण भी योग्य बालक वर्ग में पिछड़ जाते हैं। पारिवारिक झंझट, पुस्तकों का अभाव, अयोग्य बालकों का ऊँचे वर्ग में नाम लिखा दिया जाना आदि भी पिछड़ने का कारण होता है। वर्ग में इस प्रकार पिछड़ने के कारण उनमें हीनता या अहंम्यता की भावना घर करने लग जाती है। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति में भी बालक उद्दंडता-पूर्ण व्यवहार करने लग जाते हैं। अपने सहपाठियों एवं शिक्षकों को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रदर्शनकारी भावना के कारण किशोर विद्यार्थी उन कार्यों को करना प्रारंभ करते हैं, जो उनको अनुशासनहीन बना डालते हैं।

शिक्षकों और अभिभावकों को इस प्रकार विशेष सचेष्ट रहना चाहिए। वर्ग शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह बालकों की प्रगति के संबंध में जानकारी रखे। इसमें विद्यालय के सभी शिक्षकों के सहयोग से ही पूरी सफलता मिल सकेगी। शिक्षकों का प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार भी बालकों में पाठ के प्रति रुचि पैदा करेगा। विद्यालय में डाक्टरों की व्यवस्था हो, जो समय-समय पर उनकी शारीरिक जाँच करें। सरकार को इस ओर अभिमुख बना कर ही हमलोग प्रगति कर सकेंगे।

७. विद्यार्थियों और शिक्षकों में व्यक्तिगत संपर्क का अभाव

विद्यार्थियों और शिक्षकों में व्यक्तिगत संपर्क (Personal Relation) का अभाव भी अनुशासनहीनता का एक प्रमुख कारण है।

वर्ग छोटा होता है और विभिन्न सभ्यता, संस्कृति एवं वातावरण में उत्पन्न तथा पले हुए विद्यार्थी अधिक संख्या में एक जगह एकत्र हो कर प्रायः दिन भर बैठते और पढ़ते हैं। इन विद्यार्थियों में अच्छे, सज्जन, सद्व्यवहारशील, चरित्रवान व्यक्तियों के साथ रहने वाले एवं अनुकूल वातावरण में पलने वाले विद्यार्थी तो होते ही हैं, साथ ही गुंडे, दुराचारी, बदमाश, चोर-जैसे व्यक्तियों के साथ रहने वाले विद्यार्थी भी होते हैं। शिक्षक सभी बालकों पर समान रूप से ध्यान देने में असमर्थ होता है।

विद्यार्थियों की संख्या अधिक होने के कारण शिक्षक उनकी मानसिक और शैक्षिक प्रगति भी अच्छी तरह नहीं जान पाते। वर्ग में शिक्षक आते है, पढ़ाते हैं, विषयों की व्याख्या करते हैं और घंटी समाप्त होने होने के पश्चात् चले जाते हैं। शिक्षक और छात्र में व्यक्तिगत संपर्क के अभाव के फलस्वरूप विद्यार्थियों में कतिपय जैसे दुर्गुणों का प्रादुर्भाव होता है,जो अंततः उन्हें अनुशासनहीन बनाते हैं। मार्च,१९६५ ई० में बिहार विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० पी० एल० श्रीवास्तव ने अपने सिनेट के बजट-अधिवेशन में भाषण करते समय विद्यार्थियों को अनुशासनहीनता की चर्चा की और बतलाया कि "यह केवल हमारे देश के लिए ही समस्या नहीं, बल्कि एक अंतर्राराष्ट्रीय समस्या बन गई है।" अनुशासनहीनता के विभिन्न कारणों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि "ऐसा गुरु-शिष्य के प्राचीन परंपरागत संबंधों का ह्रास, शिक्षा-संस्थाओं म छात्रों की भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव और भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि, छात्रों पर अभिभावकों के नियन्त्रण के अभाव आदि कारणों से हुआ है।"

व्यक्तिगत संपर्क के अभाव में शिक्षक को विद्यार्थी की मानसिक और शैक्षिक प्रगति की जानकारी नहीं हो पाती। विद्यार्थी अपने वर्ग में पिछड़ता चला जाता है। पढ़ने से उसकी अरुचि होने लगती है, फलस्वरूप वह वैसी प्रतिक्रियात्मक कार-वाइयों में भाग लेने लगता है, जो विद्यालयीय मर्यादा के विरुद्ध होती हैं। व्यक्तिगत संपर्क के अभाव में विद्यार्थियों से शिक्षक बहुत दूर रहते हैं, फलस्वरूप वे अपने व्यक्तित्व, सदाचरण, सद्व्यवहार, मृदुलता, एवं विनम्रता आदि गुणों से बालकों को प्रभावित नहीं कर पाते। प्रभाव के अभाव में वे बालकों का नेतृत्व करने में सक्षम और समर्थ नहीं होते।

समस्त विद्यालयीय वातावरण को हम स्व-शासन, विद्यार्थी-संसद्, गृह-प्रणाली तथा इस प्रकार की अन्य योजनाओं के रूप में स्वीकार करें। स्व-शासन सहयोग-भावना को उत्पन्न करने का प्रमुख साधन है। स्व-शासन और गृह-प्रणाली के फल-स्वरूप विद्यार्थी एवं उनके शिक्षकों के बीच आत्मीय और मधुर संबंध स्थापित होगा। इस आत्मीय और मधुर संबंध का सुफल होगा—आत्म संमान, आत्म विश्वास और उत्तरदायित्व की भावना का विकास। इन्हीं महान् सद्गुणों के आधार पर समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि अनुशासन की विकट समस्या के निदान के लिए स्व-शासन का अपना विशेष महत्त्व है।

विद्यालय की समस्त गतिविधियों का संचालन छात्रों द्वारा होगा, परंतु शिक्षकों की देखरेख में। अध्यापक एक हितचिंतक, अभिभावक और मार्गदर्शक

के रूप में छात्रों की आवश्यक गतिविधियों का निर्देश करेंगे। चौबीस घंटे का कार्यक्रम विद्यार्थी अपनी विद्यार्थी-परिषद् द्वारा निर्माण करेंगे। प्रातःकाल (उपाकाल) में प्रार्थना, पुस्तकालय, वाचनालय तथा पाठ्यक्रमेतर विषयों का संचालन और अपने भोजन, वस्त्र, शयन, सफाई आदि सभी कार्यों का प्रबंध विद्यार्थियों द्वारा होगा। सभी छात्र, छात्रावास में रहेंगे और विद्यालय तथा छात्रावास-संबंधी अपने समस्त कार्यों का प्रबंध शिक्षक की देखरेख में स्वयं निर्धारित, व्यवस्थित और संचालित करेंगे। इस प्रकार वे अध्यवसायी बने रहेंगे और अनुशासन की समस्या बड़े शांति-पूर्ण ढंग से हल हो जाएगी। वस्तुतः तब यह समस्या उठेगी ही नहीं। विद्यालय के प्रायः बाह्य और आंतरिक, समस्त कार्यों को, निर्धारित करने वाला विद्यार्थियों का यह स्व-शासन अगर अपने आदर्श रूप में गठित कर प्रस्तुत किया जाए, तो शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच अवश्य मधुर और व्यक्तिगत संबंध स्थापित होगा। सेकें-डरी एडुकेशन कमीशन रिपोर्ट के निम्नांकित मंतव्य से भी इस बात की पुष्टि होती है :—

"In order to promote discipline personal contact between the teachers and pupils should be strengthened. Self Government in the form of house-system with pre-fects or monitors and student councils, whose respon-sibility will be to draw up a code of conduct and enforce its observance should be introduced in all schools. S. E. C. R.

विद्यालयों में विद्यार्थी-परिषद् के निर्माण और स्व-शासन के प्रचलन पर राइबर्न और डगलस-जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने भी अपनी सहमति प्रकट की है। शिक्षक-शिक्षार्थी के पारस्परिक संबंध को दृढ़ करने के लिए भारतीय गुरुकुल-प्रणाली में भी विद्यार्थी-परिषद् की व्यवस्था का विधान किया गया था। विद्याध्ययन-काल में ब्रह्मचारी अनेक कठोर एवं आवश्यक नियमों का पालन करते हुए प्रायः आचार्य के पास रहते थे। इसलिए उन्हें अंतेवासी (गुरुगृह में निवास करने वाला) या आचार्य कुलवासी कहा गया है। वे अपना समस्त छात्र-जीवन गुरु के निकट बैठ कर विद्यालय में व्यतीत करते थे। इस प्रकार छात्र आचार्य के निकट-संबंध (Perso-nal relation) में रह कर उनसे सीधा संपर्क स्थापित कर विद्योपार्जन करते थे। अपने गुरुकुल आश्रम या गुरुगृह का समस्त आंतरिक और बाह्य प्रबंध उन्हें ही करना पड़ता था। उन्हें गुरु के लिए समिधा लाने, अग्नि को प्रज्ज्वलित रखने, आश्रम की सफाई, अपने गुरु और गुरु-भाई की सेवा-सुश्रूषा के लिए सदैव तत्पर रहना

ड़ता था। आचार्य के पास रहने और गुरुगृह की आंतरिक एवं वाह्य कार्य क्रम के ंगठन में सक्रिय भाग लेने के फलस्वरूप विद्यार्थियों का मन और मस्तिष्क आचार्य के चरित्र, गुण, कर्म एवं तपोमय जीवन के पूर्णतः प्रभावित होता था। विद्यार्थियों र अपने गुरु के नैतिक एवं नैष्ठिक जीवन की प्रबल छाप पड़ती थी और परिणामतः कशोरों का भावी जीवन सहज ही पूर्णरूपेण विकसित व्यक्तित्व का होता था। यजुर्वेद ा मंत्र है:—

शर्मास्यवधूतं रक्षो,
अवधूता अरायतः। यजुर्वेद १।१४

मंत्र से स्पष्ट है कि वेद से हमें आदेश मिलता है कि शिक्षक और विद्यार्थी ें व्यक्तिगत संबंध स्थापित हो। पाठशाला और अध्यापक, छात्रों के लिए प्रिय स्तु उसी समय बनेंगे, जब दोनों में पारस्परिक मधुर संबंध स्थापित होगा।

: शिक्षकों की आर्थिक स्थिति

गृहस्थ आश्रम का कठिन जीवन व्यतीत करते हुए आज के शिक्षक 'अल्प-तन भोगी' (Low paid) होते हैं। उन्हें जो वेतन मिलता है, उससे वे अपनी ारिवारिक समस्याओं का समाधान नहीं कर पाते। स्कूल के शिक्षकों की ही नहीं, तिपय कॉलेजों के प्रोफेसरों की भी परिस्थिति उस समय और भी दयनीय हो जाती , जब उन्हें मासिक वेतन की राशि प्राप्त होती है बहुत कम, परंतु अधिकारी-वर्ग े समक्ष सरकार द्वारा निर्धारित पूरी रकम पर ही, एक्विटेंश रौल (Acquitta-nce Roll) पर हस्ताक्षर करना पड़ता है जब कि सरकार द्वारा निर्धारित शिक्षकों के इस मासिक वेतन की राशि स्वतः बहुत कम है। देश में उत्तरोत्तर बढ़ती ई महँगाई ने तो उसमें और भी अधिक असंतुलन उत्पन्न कर दिया है। ऐसी यावह आर्थिक अवस्था में उन्हें समाज में सम्मान और मर्यादा से जीवन-यापन रने के लिए स्वेच्छया के प्रतिकूल अनेक ऐसे साधनों का सहारा लेना पड़ता है, जनसे वे कुछ विशेष द्रव्योपार्जन कर सकें। इसी कारण शिक्षक विवश हो कर ाइवेट ट्यूशन' करते हैं अथवा अर्थप्राप्ति के निमित्त अन्य व्यवसायों की ओर वृत्त होते हैं। परिणामतः शिक्षक शिक्षण-कार्य में सही ढंग से दिलचस्पी नहीं पाते। उनकी मानसिक शक्ति और शारीरिक क्षमता कहीं अन्यत्र खर्च होने गती है।

प्राइवेट ट्यूशनों के कारण शिक्षक का विद्यार्थी से एक सामान्य आर्थिक ंबंध तो हो ही जाता है, निकट का एक ऐसा भी संबंध स्थापित हो जाता है, जससे वे उनके 'प्रभाव' या उनकी 'धाक' में नहीं रह जाते। अनुशासन के लिए

यह प्रभाव या धाक एक शक्तिशाली माध्यम है। सन् १९५३ ई० में आचार्य नरेंद्रदेव समिति ने अनुशासनहीनता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया था 'अध्यापक बदलते हुए संसार और नई दिशा को समझने में असमर्थ हो रहा है। वह जो कुछ पढ़ाता है, वह ज्ञान नहीं हो कर सूचना का संग्रह-मात्र है, जिसका खोखलापन शिक्षक और छात्र दोनों को विदित है। आर्थिक स्थिति ऐसी है कि चारों ओर निराशा ही-निराशा व्यप्त है। समाज की रचना बड़ी जटिल हो गई है। अध्यापक की दशा एक मजदूर के समान है, उसका आध्यात्मिक प्रभाव नष्ट हो चुका है।"

उपर्युक्त त्रुटियों के निवारणार्थ सरकार और समाज दोनों को ध्यान देने की आवश्यकता है। दोनों को शिक्षकों की आर्थिक सुव्यवस्था के लिए आवश्यक और ठोस कदम उठाना पड़ेगा, अन्यथा इस विकट समस्या का निदान असंभव है।

६. भौतिकवादी युग और शिक्षकों का संमान

इस वाणिज्यिक और भौतिकवादी युग में समाज में संमान प्राप्त करने का अर्थ एक श्रेष्ठ साधन है। शिक्षकों की आय थोड़ी होती है। तथाकथित 'पावर' (Power) का भी उनके पास सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में आज का भौतिकवादीयुगीन समाज शिक्षकों को वह संमान नहीं देता, जिसके वे योग्य है। एक युग था, जब वे समाज के सर्वश्रेष्ठ आसन पर विराजमान थे और राजे-महाराजे उनके समक्ष नतमस्तक होते थे। परंतु, आज बदल चुका है, देश और समाज में परिवर्तन आ गया है। शिक्षक अपना संमान खो चुके हैं। आज की भौतिकवादी सभ्यता शिक्षकों के उस गौरव को स्वीकार नहीं करती। आज सर्वत्र अर्थ के दृष्टिकोण से सामाजिक महत्त्व आँका और स्वीकार किया जाता है, फलस्वरूप शिक्षक बहुत पीछे रह जाते हैं। जब विद्यार्थियों के अभिभावकगण ही शिक्षकों का नेतृत्व, संमान और प्रभाव स्वीकार नहीं करते, तो उनके किशोरावस्था के बालक क्यों स्वीकार करेंगे? परिणामस्वरूप विद्यार्थी विद्यालयों और कॉलेजों में निर्द्वंद्व हो कर उच्छृंखलतापूर्ण व्यवहार करते हैं।

राष्ट्रनिर्माता शिक्षकों की इस विपरीत स्थिति में सुधार आवश्यक है। उनकी आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए यथाशीघ्र व्यवस्था हो और समाज अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाए। इस भौतिकवादी युग में अर्थ बहुत कुछ है, परंतु सब कुछ नहीं। अर्थ के परे भी कुछ चीजें हैं, जिनके सुसंपादन में ये शिक्षक लगे हुए हैं। निःसदेह शिक्षकों की सामाजिक अवस्था में सुधार के लिए सरकार की ओर से कुछ प्रयत्न हुए हैं, परंतु अभी वे बहुत कम ही कहे जाएँगे।

१०. शिक्षा-प्रणाली की सार्वजनिक आलोचना

परंपरागत शिक्षा-प्रणाली की सर्वत्र आलोचना होती रही है। 'मात्र किरानी' बनाने वाली इस पढ़ाई के प्रति विद्रोहात्मक भाव उत्पन्न रहा है। वर्षों से विद्यार्थी और अभि भावक ऐसा सोचते रहे हैं कि इस पढ़ाई से जब कोई निश्चित आर्थिक लाभ नहीं है, तो पढ़ने से क्या फायदा? इससे तो दफ्तरों में काम भी नहीं मिल पाता है। अंगरेजी सरकार के जमाने में इस प्रणाली की व्यापक आलोचना होती रही है। जिम्मेवार और प्रतिष्ठित राजनैतिक कार्यकर्त्तागण भी इसकी व्यापक आलोचना करते रहे हैं। लोगों का ऐसा विश्वास था कि इस शिक्षा-प्रणाली से गुलामी मनोवृत्ति का पोषण होता है। इस शिक्षा-प्रणाली की में निंदा के क्रम शिक्षकों की भी निंदा की जाती थी। फलस्वरूप अध्यापकों का आत्मविश्वास और नैतिक बल भी प्रभावित हुआ। जनता में इस पेशे के प्रति अनादर का भाव जाग उठा। इस प्रकार की आलोचना के फलस्वरूप विद्यार्थियों में भी इस शिक्षा-प्रणाली और शिक्षकों के प्रति तिरस्कार की भावना जाग्रत हुई। परिणामस्वरूप वे अनुशासनहीन होते गए।

वर्त्तमान शिक्षा और शिक्षकों की सार्वजनिक आलोचना अब बंद की जानी चाहिए। शिक्षा-व्यवस्था के लिए मात्र शिक्षक ही जिम्मेवार नहीं होते। शिक्षक तो राष्ट्र के निर्माता और संरक्षक हैं। विद्यार्थियों को ज्ञान देने के कारण वे छात्रों के लिए पूज्य ही नहीं, पिता से भी बढ़ कर हैं। अतः, अभिभावक और शिष्य दोनों के हृदयों में शिक्षकों के लिए संमान का भाव होना चाहिए। समाज और राष्ट्र की धमनियों में शक्ति एवं क्षमता का स्रोत उत्पन्न करने वाले, किसी भी राष्ट्र-उन्नायक एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता से शिक्षकों का महत्त्व कम नहीं है। अतः, प्रत्येक देशवासी के हृदय में शिक्षकों के लिए संमान और आदर का भाव होना आवश्यक है।

११. निराश व्यक्तियों द्वारा शिक्षण-कार्य

शिक्षण-कार्य को कुछ वैसे व्यक्ति भी स्वीकार करते हैं, जिन्हें कहीं अन्यत्र दूसरा पेशा नहीं मिलता, जो जीवन के अन्य आर्थिक लाभ के क्षेत्र में असफल बन चुके हैं।

विद्यार्थियों एवं शिक्षण-संस्थाओं में व्याप्त अनुशासनहीनता को अगर हम समाप्त करना चाहते हैं, तो इस प्रकार के शिक्षकों की ओर से हमें सावधान होना पड़ेगा। पढ़ने-लिखने में जिन सज्जनों की रुचि नहीं, उन्हें अध्यापन-कार्य नहीं अपनाना चाहिए। 'रुचि और लगन' का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत यहां भी लागू है। अच्छे अध्यापक का एक प्रमुख नैतिक गुण है—अपने कार्य की उच्चता और श्रेष्ठता में विश्वास।

अध्यापन का कार्य योग्य और प्रतिभावान व्यक्तियों के हाथ में दिया जाए। जिनमें अध्यापक का गुण हो, उन्हें ही अध्यापन-जैसे महत्वपूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा जाए। आज से प्रायः पाँच सौ वर्ष पहले जर्मनी के महान् विचारक मार्टिन लूथर ने कहा था कि राष्ट्र की उन्नति या अवनति उस देशविशेष के शिक्षक के हाथ में है। अतः, योग्य व्यक्तियों के हाथ में ही अध्यापन-कार्य की जिम्मेवारी दी जाए। लूथर अध्यापक को समाज का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मानते थे। जॉन लॉक का विचार था कि शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। शिक्षण के गुप्त रहस्य एवं पढ़ाने के ढंग को जानने के लिए शिक्षण-विधि को जानना शिक्षकों के लिए परमावश्यक है। प्राचीन रोम के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री क्विंटिलियन क्रोधी तथा शुष्क हृदय के व्यक्ति को अध्यापक बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार अध्यापक को सदैव प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। उनमें दया, क्षमा, प्रेम, स्नेह, सहानुभूति एवं प्रशंसा आदि गुणों का होना आवश्यक है। विद्यार्थी प्राचीन भारतीय गुरुकुलों और विहारों को अपना घर समझते थे; क्योंकि आचार्य का पितृवत् व्यवहार उनसे बिल्कुल आत्मीय संबंध स्थापित करता था। अध्यापकों के गुणों के संबंध में, उनके उत्तरदायित्व के संबंध में कितनी ऊँची कल्पना उपर्युक्त पंक्तियों में की गई है। श्री के० सी० सैय्यदैन ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा की पुनर्रचना' में इस संबंध में जो निर्देश किया है, वह ध्यातव्य है :—"वर्तमान परिस्थिति का उचित मूल्यांकन करने की कोशिश करते समय हम अध्यापकगण अपने उत्तरदायित्व की ओर से आँखें नहीं मूँद सकते। ऐसा करना अपने दोष को नहीं देखना और दूसरे के छोटे-से-छोटे दोष को भी बढ़ा-चढ़ा कर देखना होगा। क्या हम ईमानदारी के साथ यह कह सकते हैं कि समाज में हमारा पद नीचा होने का एकमात्र कारण यह है कि सरकार और आम लोग हमारे उचित महत्त्व को नहीं समझते और यह कि अपने काम में स्वयं हमारी अयोग्यता और कर्त्तव्यपरायणता की अपर्याप्त भावना का इसमें कोई हाथ नहीं है? सामाजिक तथा सांस्कृतिक विघटन की जो प्रक्रिया हमारे पूरे समाज को बहुत समय से दूषित करती रही है, उसने हमारा मनोबल भी नष्ट कर दिया है। हमने अपने सच्चे उद्देश्यों को दृष्टि से ओझल कर दिया है और इसीलिए हमारे अंदर वह प्रेरणा और व्यवसाय के प्रति निष्ठा की प्रबल भावना नहीं रह गई। इस निष्ठा की भावना के अभाव में समाज और राष्ट्र का कोई भी बड़ा काम नहीं किया जा सकता। हमारे बीच बहुत से ऐसे लोग हैं, जिनमें बौद्धिक योग्यता, काम के प्रति लगन और कर्त्तव्यपरायणता की भावना बहुत कम है।" ३ दिसंबर, १९६६ ई० को नई दिल्ली में, अध्यापकों के संमान में आयोजित राष्ट्रीय पुरस्कार समारोह में बोलते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा था कि अध्यापकों को अपना जीवन ऐसा

वनाना चाहिए, जो छात्रों के लिए आदर्श हो। छात्र सदैव अध्यापक का अनुकरण करते हैं। अतः, यह आवश्यक है कि अध्यापकों का स्वयं का जीवन आदर्शों से अनुप्राणित हो। अपने अध्यापन-जीवन का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि यह उनका निजी अनुभव है कि अध्यापकों का छात्रों के जीवन को बनाने में बहुत बड़ा हाथ है। यदि वे चाहें, तो उसे बना सकते हैं तथा चाहें तो बिगाड़ सकते हैं।

१२. अध्यापन की विधियाँ (शिक्षण-प्रणाली)

अध्यापन की वर्त्तमान विधि भी कभी-कभी बालकों को अनुशासनहीन बनने के लिए उत्प्रेरित करती है। दस से चार बजे तक एक बड़े अध्ययन-कक्ष (कक्षा-प्रणाली) के एक निश्चित स्थान पर बैठे हुए बालक-बालिकाओं की रुचि और मनोवृत्ति अध्ययन-कार्य से ऊब जाती है। अध्यापक वर्ग में पढ़ाते हैं, परंतु विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता मात्र होते हैं। विषय पर उनका ध्यान नहीं ठहरता। ऐसी स्थिति में वे कुछ परिवर्तन चाहते हैं। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वे विद्यालयीय वातावरण एवं विद्यालय के नियमों के विरुद्ध कुछ कार्य करते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति और मनोवृत्ति क्रमशः दृढ़ होकर अनुशासनहीनता के कार्य करने लगती है।

इस प्रकार की अनुशासनहीनता को रोकने के लिए विद्यालयों में शिक्षा की आधुनिक पद्धतियों (बालोद्यान पद्धति, मांटेसरी पद्धति, डाल्टन पद्धति, ह्यूरिस्टिक पद्धति, प्रोजेक्ट पद्धति, बुनियादी पद्धति, खेल पद्धति आदि) का भी प्रचलन किया जाना चाहिए। इन पद्धतियों की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है।

शिक्षा की आधुनिक पद्धतियों के प्रचलन के फलस्वरूप विद्यार्थी मन, मस्तिष्क और शरीर से सदैव कार्यरत रहते हैं। उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनके समक्ष सर्वदा इतना कार्य बना रहे कि पूरा प्रयत्न करके ही वे उसे समाप्त कर सकें। जिन बालकों के समक्ष हमेशा कार्य बना रहता है, वे प्रायः अनुशासनप्रिय होते हैं। शिक्षकों (स्कूल और कॉलेज) को भी सर्वदा रचनात्मक कार्यों की ओर ही अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

१३. विद्यालयों की प्रबंध-समितियाँ

विद्यालय की प्रबंध समितियाँ भी व्याप्त अनुशासनहीनता के लिए जिम्मेवार है। विद्यालयों के प्रबंधकों और उनकी गठित समितियों में अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए होड़ मची हुई है। इस होड़ के फलस्वरूप वहाँ 'गंदी राजनीति' व्याप्त है। प्रबंध-समितियों के प्रभावशाली प्रबंधक और अन्य कार्यकर्त्तागण अपनी स्वार्थसिद्धि एवं प्रभाव की वृद्धि में संलग्नशील हैं। उनकी इस दलबंदी और शक्तिवर्द्धन

की होड़ से प्रधानाध्यापक, सहायक अध्यापकगण तथा विद्यार्थीवृंद भी खूब प्रभावित होते हैं। स्वेच्छापूर्वक या किसी बाहरी दबाव के फलस्वरूप उन्हें इस दलगत राजनीति में आ जाना पड़ता है। ये समस्त व्यक्ति दो, तीन या कभी-कभी इससे भी अधिक दलों में विभाजित हो जाते हैं और तब विद्यालयीय वातावरण अत्यधिक दूषित हो जाता है। ऐसे वातावरण में अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थी भी अनुशासनात्मक कार्यो का ओर से विमुख होते हैं या बना दिए जाते हैं। कॉलेजों के साथ भी यही बात लागू है। प्रबंध-समितियों के गठन के समय कभी-कभी तो सरकारी को पुलिस और मजिस्ट्रेट का पहरा बिठाना पड़ता है।

प्रबंध-समितियों के गठन में सुधार तभी संभव है, जब कि इन संस्थाओं से संबद्ध सभी व्यक्ति इसके लिए सत्प्रयत्नशील हों। अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को समझ कर अपने नैतिक स्तर में सुधार लाने के फलस्वरूप ही हम इस दोष से त्राण पा सकेंगे।

१४. पाठ्य-विषय की एकरूपता या एकरसता

पाठ्य-विषय की एकरूपता या एकरसता के कारण भी अनुशासन की समस्या उत्पन्न होती है और शिक्षकों को अपने अध्यापन-कार्य से एक प्रकार की अरूचि हो जाती है। शिक्षण-कार्य उत्साहीन, जीवनहीन और यंत्र-सदृश्य हो जाता है। इस संबंध में श्री हुमायुँ कबीर अपनी पुस्तक 'स्वतंत्र भारत में शिक्षा' में बतलाते हैं—"माध्यमिक और प्राथमिक स्तर पर अध्ययन की उत्कृष्टता की सबसे बड़ी शत्रु है—कार्य की एकरसता और नीरसता। साल के बाद साल उन्हीं पाठों को दुहराते-दुहराते उस विषय में शिक्षकों की रूचि नहीं रहती। इस एकरसता को समाप्त करने के लिए कुछ-कुछ उपाय किए जानें चाहिए।"

पाठ्य-विषय की एकरूपता के निवारणार्थ शिक्षकों के लिए परिचर्याएँ एवं पुनर्बोध प्रशिक्षण (Seminars and Refresher Courses) की व्यवस्था आवश्यक है। अध्यापकों के लिए नवचेतनाप्रद पाठ्यक्रमों तथा सेवाकाल में दिए जाने वाले प्रशिक्षण की व्यवस्था को विशेष रूप से बढ़ाया जाए और समय-समय पद संमेलन, विचार-गोष्ठी, अध्ययन-शिविरों आदि का संगठन किया जाए। नवचेतनाप्रद पाठ्यक्रम और सेवाकाल में दिया जाने वाला प्रशिक्षण अध्यापक के जीवन की एकरसता की समाप्ति की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के अतिरिक्त हमें इन अध्यापकों को अवकाश-शिविरों और स्वास्थ्य-सुधार-गृहों के द्वारा आत्मिक एवं शारीरिक शक्ति संग्रह करने का भी अवसर देना चाहिए। माध्यमिक और प्रारंभिक विद्यालयों के बहुत थोड़े प्रधान अध्यापक और उससे भी कम अध्यापक

आर्थिक कठिनाइयों के कारण इस योग्य नहीं होते हैं कि अवकाश के दिनों में कहीं जा कर आनंद मना सकें, जवकि उन्हें इस प्रकार की सुविधाओं की आवश्यकता अन्य अधि-कांश पेशे वाले लोगों की अपेक्षा अधिक है। साल के वाद साल एक ही अध्यापन-कक्ष में काम करने के कारण अध्यापकों की ऊर्जा और जीवनशक्ति सूख जाती है। यदि उन्हें इस प्रकार की छुट्टियाँ नहीं दी जाएं, जिसमें कि वे नई शक्ति-संचय कर सकें, तो उनका काम उत्साहहीन, जीवनहीन तथा यंत्र-सदृश हो जाता है।

१५ धार्मिक और नैतिक शिक्षा का अभाव

धार्मिक और नैतिक शिक्षा के अभाव में अनुशासनहीनता की वृद्धि हुई है। भारत के महान् शिक्षाशास्त्री, डॉ० संपूर्णानंद ने वालकों में व्याप्त अनुशासन की वर्त्तमान समस्या पर विचारते हुए इस प्रकार का भाव व्यक्त किया था "ईश्वर और धर्म की आस्था की कमी के कारण भी अनुशासनहीनता अपने सर्वव्यापी विकराल रूप में उपस्थित होती जा रही है।" उनका विचार है कि "यह समस्या सकारण उत्पन्न हुई है। वास्तव में यह एक ऐसे युग की ही देन है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक हलचल चारों ओर दृष्टिगोचर हो रही है। आम लोगों को एक मानसिक तनाव का अनुभव हो रहा है। पुरानी परंपराएं टूट रही हैं, उनकी शक्ति नष्ट हो रही है या निरर्थक सिद्ध हो रही है। मनुष्य के मन से ईश्वर, धर्म, समाज और कानून का भय उठता जा रहा है। जाति तथा परिवार, विवाह, पेशा तथा खानदानी संमान आदि की समस्याएं इतनी विषम वन गई हैं कि विद्यार्थी अपने मन को तटस्थ नहीं रख सकते। उनके मन में अशांति तथा विद्रोह की भावना काम कर रही है। इसी से अनुशासनहीनता उत्पन्न हो गई है। इस समय वातावरण में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन्हें समझने की आवश्यकता है। विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार होना चाहिए।"

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् विद्यालयों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा के प्रचलन पर वल देते हुए वतलाते हैं कि धार्मिक शिक्षा के आधार पर मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ परिशोधित हो सकेंगी तथा वह मानवता के उच्च गुणों से अपना गहरा संवंध स्थापित कर सकेगा। स्वामी विवेकानंद और एनी वेसेंट ने भी विद्यालयों में बालक एवं किशोर विद्यार्थियों के लिए धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को आवश्यक वतलाया है। एनी वेसेंट ने वड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह अवस्था संवेगों का काल है। इस समय संवेगों का विशेष रूप से प्रावल्य रहता है। अतः, धार्मिक भावना को सबल और सजग वनाने के लिए शिक्षकों को प्रयत्न करना चाहिए। नैतिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य संवेगात्मक शक्तियों को समुचित रूप से

विकसित और नियंत्रित करना है। भौतिक शिक्षा का अंतिम परिणाम मन, वचन एवं कर्म में सामंजस्य स्थापित करना है। इससे विद्यार्थियों में सामाजिक गुण, कर्त्तव्यपरायणता, उत्तरदायित्व की भावना का सृजन तथा प्रेम-भाव की उत्पत्ति होगी। बच्चे एवं किशोर सद्यवहारशील बनेंगे। सद्व्यवहारशील बनना, अनुशासनात्मक प्रवृत्तियों का पहला चरण है। अतः, शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासन के विकास के लिए धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का प्रचलन बहुत आवश्यक है।

१६. संयुक्त परिवार प्रथा का विश्रृंखलन

वालकों और किशोरों में अनुशासन की भावना करने में परिवार का सर्वप्रमुख हाथ है। परिवार वालक की नैतिक शिक्षा का आधार होता है। बालक के व्यक्तित्व-निर्धारण में परिवार (घर) को बहुत अधिक श्रेय प्राप्त है। परिवार एक ऐसा स्थान है, जहाँ वालक का प्रथमतः भावनात्मक विकास होता है। वालक सर्वप्रथम परिवार में ही प्रेम, उदारता, श्रद्धा, आत्मीय जनों के प्रति सद्व्यवहार, अभिवादन तथा शिष्टता-प्रदर्शन के अन्य ढंग, वी-फीलिंग (We-feeling) की भावना, सामाजिकता आदि विभिन्न सद्गुणों के साथ-साथ स्वार्थपरता, चोरी, हठ, असत्य भाषण अथवा इस प्रकार के अन्य दुर्गुण भी प्राप्त करता है। वालक की रुचियों, मानसिक झुकावों धार्मिक आस्था, रहने, खाने-पीने, उठने-बैठने की आदतों आदि का निर्माण भी सर्वप्रथम अपने परिवार में होता है। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक वर्ट्रेंड रसेल अपनी पुस्तक 'आन एडुकेशन' (On Education) में वालक की शिक्षा प्रारंभिक अवस्था, उसकी एक वर्ष की उम्र वतलाते हैं। उनका विचार है कि अपनी एक वर्ष की अवस्था में ही वालक उन सद्गुणों एवं अवगुणों को धारण कर लेते हैं, जिनसे उनका भावी जीवन प्रभावित होता है। अनेकों जटिल आदतें एक वर्ष की अवस्था में ही पड़ जाती हैं। अतः, वालकों में आत्मसंयम, वीरता की आदत आदि सद्गुणों से उनको एक या दो वर्ष की आयु में प्रभावित किया जा सकता है। परिवार में आत्म-प्रकाशन के कार्य, को प्रलोभन मिलने पर वालक वीर पुरुष बनते हैं। परंतु, जिस परिवार में छोटी-छोटी वातों के लिए भी माता-पिता द्वारा झिड़की और डांट मिलती है, अच्छे कामों के लिए भी प्रोत्साहन नहीं मिलता, माता-पिता तथा अन्य अभिभावक वालकों के प्रति उदासीनता का भाव प्रदर्शित करते हैं, उस परिवार के वालक कायर, दव्बू और हतोत्साही बन जाते हैं। उनका भावी व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है। यदि परिवार की शिक्षा से उच्छृंखलता, स्वार्थपरता, असहिष्णुता आदि दुर्गुण उत्पन्न हो रहे हों, तो राष्ट्र का पतन निश्चित है।

परिवार की अच्छी अथवा बुरी आर्थिक परिस्थिति वालक के मन और मस्तिष्क को आंदोलित करती है तथा उनके वर्त्तमान और भावी जीवन के निर्माण में सहायक

होती हैं। अतः, बहुत आवश्यक है कि परिवार का वातावरण शांतिमय एवं आदर्श हो। जिस परिवार में माता-पिता और सगे-व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध दूषित होता है, वहाँ के बालकों का मस्तिष्क भी तदनुकूल ही बनता है। ऐसी विषम परिस्थिति में जीवन-यापन करने वाले बालक पीछे 'समस्या बालक' (Problem Child) की संज्ञा से विभूषित किए जाते हैं।

शैशवकाल के संस्कार बालक के अचेतन मन में स्थान ग्रहण कर लेते हैं। ये संस्कार उम्र की वृद्धि होने पर भी मन से बाहर नहीं निकलते। जिन बातों को कोई व्यक्ति सोच-विचार कर ग्रहण करता है उनको वह इच्छानुकूल अवस्था में त्याग भी सकता है, परंतु जिन बातों को वह सोचने की शक्ति के पूर्व ग्रहण करता है, उन्हें यत्न करने पर भी नहीं छोड़ पाता। बालक के शैशवकाल में एकत्रित संस्कार उसके भावी जीवन में बहुत शक्तिशाली होते हैं। अतः, माता-पिता का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे अपने बालकों को उस वातावरण से अलग रखें, जिसमें ऐसे संस्कार मस्तिष्क और हृदय पर असर डालते हैं। यह विकास का प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण है। एडलर नामक मनोवैज्ञानिक का कहना है कि शैशवकाल में पूरे जीवन का क्रम तैयार होता है। इसी प्रकार फ्रायड ने भी कहा है कि व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम चार-पाँच वर्ष में जो कुछ बनने को होता है, बन जाता है। मांटेसरी तथा फ्रोबेल ने भी इसे महत्त्व दिया है। हमारे मानसिक गुणों, हमारी प्रवृत्तियों, आदतों आदि की नींव इसी काल में पड़ती है। शिशु का मस्तिष्क बहुत ग्रहणशील होता है। यह भावुक, संवेदनशील तथा क्रियापूर्ण होता है। एम० सी० एलमर नामक विद्वान ने इस बात को बड़े तर्कपूर्ण ढंग से सिद्ध किया है कि परिवार की सहायता के बिना बालक-बालिकाओं की शिक्षा अपूर्ण रहती है।

परिवार एक ऐसी संस्था है, जो बालकों के लिए सर्वप्रथम शैक्षिक वातावरण की सृष्टि करती है। अच्छे परिवार का वातावरण अनुशासनपूर्ण होता है। मनमानी निरंकुशता, पारस्परिक ईर्ष्या और अनियमित जीवन को रोकने का प्रयत्न परिवार में ही होता है। बालकों के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, संवेगात्मक, धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक अंगों के पूर्ण विकास के लिए परिवार में अनुकूल परिस्थितियों की योजना अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः ये ही गुण अनुशासन के जनक हैं तथा इनके अभाव में बालक उच्छृंखल बनते हैं। व्यवस्थित परिवार के उच्च आदर्शों द्वारा प्रशिक्षित बालक सद्व्यवहारशील बनेगा, अनुशासन उसके चरित्र का अंग होगा, किंतु इसके अभाव में वह अनुशासनहीन बनेगा। परिवार बालकों को अनुशासनबद्ध जीवन-यापन करने की शिक्षा देने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।

वर्तमान भारतीय संमिलित परिवारों का स्वरूप विशृंखलित और भग्नावस्था में है। अनेक परिवार स्वार्थ, कलह, वैमनस्य, अंधविश्वास, संकीर्णता आदि के कारण टूट रहे हैं। वहाँ नियम, संयम, प्रेम, सद्व्यवहार आदि का अभाव ही नहीं, लोप भी हो रहा है। अर्थाभाव आदि के कारण बहुत माता-पिता दिन में कल-कारखानों अथवा अन्य संस्थाओं में काम करते हैं और घर से अनुपस्थित रहते हैं। आज भौतिकवादी सभ्यता के फलस्वरूप माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों में पारस्परिक प्रेम का अभाव होता है। वे एक दूसरे से छिप कर व्यक्तिगत सुख-साधन संचय करने की चेष्टा करते हैं। उनमें अलग रहने की प्रवृत्ति भी बल पकड़ती है। अधिकांश परिवारों में मनोरंजन एवं खेल के साधनों की कमी है, स्थान का अभाव है तथा अर्थ की कमी के कारण दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की कमी है। ऐसी परिस्थिति में बालकों का मन और मस्तिष्क अल्पावस्था से ही कमी, अवरोध, शून्यता तथा त्रुटियों का अनुभव करने लगता है। भग्न-परिवार के बालक भी संवेगात्मक दृष्टि से अविकसित और अपरिपुष्ट होंगे। अनुशासनहीन बनना अथवा किसी नियम के विरुद्ध आचरण करना उनका स्वभाव बन जाएगा। आज ऐसे बालक और किशोर दंड के योग्य नहीं, वे तो स्नेह और सहानुभूति के पात्र हैं।

अगर हम अनुशासन की समस्या का समाधान चाहते हैं, तो ऐसा सोचते हैं कि विद्यार्थी अनुशासन की मर्यादा को अपना कर जीवन-यापन करें, तो हमें अपने परिवार को शिक्षित और अनुशासित कर उनमें सुधार लाना होगा। अधिकांश भारतीय परिवार अपने शिक्षा-संबंधी उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो रहे हैं। विद्यार्थियों के बीच व्यापक रूप से अनुशासनहीनता का यह बड़ा कारण है। इसका निराकरण होना चाहिए।

२७. समाज की शैक्षणिक महत्ता का ह्रास

समाज की शैक्षणिक महत्ता निर्विवाद है। समाज की रूपरेखा त्रुटिपूर्ण होने पर विद्यालय और परिवार का रूप कभी सामान्य नहीं हो सकता। परिवार और विद्यालय का वातावरण श्रेष्ठ रहने पर भी अगर समाज की स्थिति ठीक नहीं है, दुराचरणों और कुनीतियों का प्राबल्य है, तो बालकों के व्यक्तित्व और चरित्र का विकास संयतरूपेण असंभव है। उनकी मानसिक, नैतिक और शारीरिक प्रगति अवरुद्ध होगी तथा वे निश्चित रूप से अनुशासनहीन होंगे। विश्व के विभिन्न समाजों का परीक्षण किया गया है। जिस समाज की जैसी स्थिति रही है, वहाँ के बालक वैसा ही आचरण करते पाए जाते हैं। आदर्श समाज के बालक अनुशासनबद्ध जीवन-यापन करने वाले होते हैं, वे धार्मिक और चरित्रवान होते हैं, उनका मानसिक उन-

यन भी उचित रूप में होता है। परंतु विशृंखलित समाज के किशोर समाजविरोधी कार्य करने वाले, मानवोपयोगी तत्त्वों से रहित एवं अनुशासनविहीन होते हैं।

समाज और पास-पड़ोस के स्वस्थ वातावरण का प्रभाव किशोरों में उत्तरदायित्व की भावना के विकास और वर्द्धन के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। एक बालक जिसे अपने परिवार में शिक्षा की समस्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं, साथ ही, वह एक आदर्श विद्यालय में पढ़ने के लिए भी भेजा जाता है, परंतु यदि उसका पड़ोस अच्छा नहीं है, तो उसकी शिक्षा त्रुटिपूर्ण होगी। कर्त्तव्यहीनता, धूम्रपान या मदिरापन, गाली-गलौज, भद्दे प्रदर्शन, मारपीट, असहिष्णुता, अनाचार, गंदगी एवं व्यभिचार आदि अनुशासनविरोधी प्रवृत्तियाँ बालक में कहाँ से प्रादुर्भूत होती हैं? परिवार में माता-पिता बालकों और किशोरों को इन दुर्गुणों से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं, अभिभावक और शिक्षक भी समझाते-बुझाते हैं, तथापि विद्यार्थी दुर्गुणों के शिकार हो जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि वे अपने पास-पड़ोस और बाह्य समाज में उपर्युक्त वर्णित दुर्गुणों को देखते, सुनते और उनसे प्रभावित होते हैं। अपने समाज के प्रौढ़ जनों को बालक और किशोर चोरबाजारी करते और घोर अनैतिकता से काफी धन कमाते देखता-सुनता है। उन्हें बिना टिकट यात्रा करते भी देखता है। गलती करके भी क्षमा-याचना के स्थान पर उनको विशेष रूप से उद्दंडतापूर्ण व्यवहार करते देखता है। अपने से बड़ों को काम से जी चुराते देखता है। बाजारों और सड़कों पर घटने वाली घटनाएं चरित्र-निर्माण में अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। कतिपय भीषण दुर्गुणों से हमारा वर्त्तमान समाज ग्रस्त है। हमारे विद्यार्थी नित्य-दिन अनुशासनहीनता के कार्य-कलाप सड़क, बाजार, मेला, रेलवे-प्लेटफार्म और सभा आदि विभिन्न सामाजिक स्थानों पर देखते और सुनते हैं। इन अवांछनीय सामाजिक तत्त्वों पर कोई वैधानिक और नैतिक रोक नहीं है।

आज सिनेमा के अश्लील गानों की सर्वत्र धूम है। सिनेमा के अश्लील पोस्टर बिना हिचक सर्वत्र चिपकाएँ जाते हैं। किसी भी सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक उत्सव के अवसर पर धड़ल्ले से सिनेमा के कामोत्तेजक गीत सुने जाते हैं, जिनसे किशोर-किशोरियों की यौन-प्रवृत्ति असमय में ही प्रस्फुटित हो जाती है। पुस्तकालयों और वाचनालयों में भी सनसनीखेज यौनप्रवृत्तिमूलक उपन्यासों और कथा-कहानियों की पुस्तकों की ही भरमार है। भला इस विषम सामाजिक स्थिति में हम बालकों से अनुशासन की आशा क्यों और कैसे कर सकते हैं?

हमारे विद्यालय समाज के प्रतिरूप हैं। जैसा समाज होगा, विद्यालय का रूप प्रायः वैसा ही बनेगा। विद्यालय में समाज के अवांछनीय तत्त्व प्रदर्शित होते

हैं। नहीं चाहने पर भी उनको हटाना कठिन नहीं, बल्कि असंभव है। मानव का सांस्कृतिक इतिहास इस सत्य का दिग्दर्शन करता है कि जब जैसी उसकी सामाजिक अवस्था रही है, तदनुरूप उसकी शिक्षण-संस्थाओं की रूपरेखा भी दृष्टिगत हुई है। डॉ० डिवी ने कहा है—(School is a miniature of society) अर्थात् विद्यालय समाज का एक सूक्ष्म चित्र है, एक लघु रूप है। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन (१९५२) ने भी अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करते हुए यह बतलाया है कि विद्यालय वृहत समाज का एक छोटा रूप है। अगर उस वृहत् समाज में अनुशासनहीनता व्याप्त है, तो इस लघु समाज अर्थात् विद्यालय में भी अनुशासनविरोधी कार्यों का प्रदर्शन होगा। समाज के दोष विद्यालयों में भी चित्रित होते हैं। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बड़े खेद की बात है कि आज स्कूल और समाज दोनों के कार्यों में अनुरूपता नहीं है। स्कूल एक ऐसा छोटा-सा समाज है, जो एक *विशाल समाज के बीच स्थित है। यदि दोनों के कार्य अनुरूप और एक दूसरे के* पूरक नहीं होते, तो सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। वास्तव में यदि आज चारों ओर अनुशासनहीनता दृष्टिगत होती है, तो उसके लिए समाज दोषी है। जब तक स्कूल से बाहर के समाज का रूप सही नहीं होगा, तब तक स्कूलों का वातावरण शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसी विपरीत स्थिति में, वे अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में असमर्थ रहते हैं। स्कूलों में जो मान्यताएँ सिखायी जाती हैं, उन्हें सर्वथा विपरीत मान्यताएँ वे बाहर देखते और अनुभव करते हैं। अनुशासन की शिक्षा सैद्धांतिक ढंग से नहीं दी जा सकती, यह तो अनुकरण का विषय है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज और स्कूल दोनों जगह अनुशासन वर्त्तमान हो, अपितु अनुशासन की समस्या का निदान कठिन ही नहीं, असंभव भी है। अनुशासनहीनता के संबंध में सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन रिपोर्ट के ये शब्द हैं—"We should in the first place take due note of the fact that the school is a small community within a larger community and the attitude, values and modes of behaviour-good or bad which have currency in national life are bound to be reflected in the schools. When we complain of indiscipline or lack of earnestness or slipshod methods of work or failure to appreciate the dignity of labour in the students, we should not forget that may be due largely to defects in the community." S. E. C. R.

समाज में वे समस्त शैक्षनिक तत्त्व विद्यमान हैं, जिन्हें वालक विद्यालयों में ग्रहण करता है। डॉ० डिवी ने ठीक ही लिखा है—"जिस सामाजिक परिस्थिति में वालक रहता है और जिसकी आवश्यकताओं से वालक की शक्तियों को स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है, वह स्फूर्ति और प्रेरणा की सच्ची शिक्षा है। समाज और शिक्षा का वड़ा घनिष्ठ संवंध है।" श्री लिडलेहूक ने शिक्षा की परिभाषा करते हुए लिखा है—"समाज की संस्कृति को आत्मसात् करना और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण करना ही शिक्षा है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि समाज का संस्कृति के संक्रमण का एक वहुत वड़ा काम शिक्षा के द्वारा होता है। समाज की उपेक्षा कर हम अपना हितचिंतन कदापि नहीं कर सकते। समाज में दुर्गुण और दुर्व्यवस्था व्याप्त है, उनकी समाप्ति की चेष्टा होनी चाहिए। प्रत्येक विचारवान नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वे बुरे सामाजिक तत्त्वों को नष्ट करें। इसके प्रतिकारस्वरूप वे दत्तचित और कटिवद्ध हों। तन, मन, धन से अपने भावी नागरिकों के निर्माण-हितार्थ उन सामाजिक तत्त्वों को विनष्ट करने में वे प्रयत्नशील वनें, जो वालकों एवं किशोरों के सुनियोजित एवं विकसित व्यक्तित्व के निर्माण में वाधक हैं। इस आदर्श की पूर्ति के लिए भारत का प्रत्येक नागरिक इस मनोवृत्ति से अपने को प्रभावित और पुरित करे कि—"वह एक सफल समाज-सुधारक है, समाज के प्रति उसके महान् उत्तर-दायित्व हैं।" कड़े सामाजिक नियमों का प्रचलन और व्यवहार भी आवश्यक है। नैतिक और वैधानिक दोनों प्रकार के दवाव के फलस्वरूप ही सामाजिक दुर्गुणों का लोप होगा।

भारतीय विद्यार्थियों में व्याप्त अनुशासनहीनता की समाप्ति के लिए भारत के प्रत्येक नागरिक को उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करना पड़ेगा। मुदालियर कमीशन रिपोर्ट के अनुसार भारतीय विद्यार्थियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति अनुशासनात्मक है। परंतु, भारतीय नागरिक आज एक क्षण के लिए भी यह सोचने को तैयार नहीं हैं कि उनमें क्या और कैसे अनुशासनहीनता वर्त्तमान है। जव तक भारतीय नागरिक शांतचित्त से अपनी व्यापक अनुशासनहीनता के निदानार्थ सोच-विचार और मनन नहीं करेंगे, तव तक इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय और सामाजिक समस्या का अंत नहीं होगा।

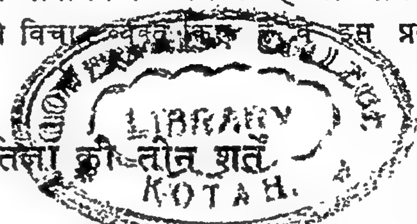
समस्या का निदान

अनुशासन की समस्या का निदान एक या दो दिन में नहीं हो सकेगा। अनुशासन हमारा नैतिक गुण है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का, समाज की सामाजिक उन्नति का और राष्ट्र की जीवनी-शक्ति का माप दंड है। यह गुण किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में एक दिन में आविर्भूत नहीं होता। यह उनकी वर्षों की तपस्या

और साधना का प्रतिफल है। कहावत है रोम का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ था (Rome was not built in a day)। किसी भी रचनात्मक अथवा ठोस वस्तु के निर्माण में वर्षों का समय लगता है। अगर आपको किसी व्यक्ति में या किसी समाज में अथवा राष्ट्र में अनुशासन दिखलायी पड़ता है, तो आप समझ लें कि यह उसकी वर्षों की शांतिपूर्ण तपस्या और चेतनायुक्त साधना का सुफल है। उसी प्रकार अगर किसी व्यक्ति में, समाज अथवा राष्ट्र में अनुशासन का अभाव है, नियंत्रण की कमी है, तो आप निःसंदेह मान लें कि इसका आधार-स्तंभ हिल चुका है।

पिछले पृष्ठों में हम लोग इस तथ्य से पूर्णतः अवगत हो चुके हैं कि मनुष्य को शिक्षित बनाने वाली विभिन्न संस्थाओं के संमिलित प्रयास तथा विवेकशील नागरिकों को शताब्दियों की कठोर साधना के मूर्त्त रूप में ही व्यवस्थित अनुशासन का आविर्भाव होता हैं। जब किसी देश के प्रौढ़ नागरिक पूर्ण संलग्नशील एवं दत्तचित्त हो कर, शिक्षा को सुगठित एवं सुनियोजित बनाने का प्रयास करते हैं, तभी हमें उसके बच्चों के जीवन में अनुशासन का दर्शन होता है। अतः, इस ओर सबकी समान जिम्मेवारी है। इस संबंध में ३० नवंबर, १९६६ को पटना विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० के० के० दत्त ने सिनेट की प्रथम बैठक में जो कहा था, वह पूर्णतः अनुकरणीय है—"जहाँ स्वतंत्र चिंतन खत्म हो जाता है चाहे वह साहस की कमी हो अथवा अनुशासन की कमी से, वहाँ निरंकुशता के कोटे भरने लगते हैं। हम सभी के लिए यह घोर चिंता का विषय है कि विघटनकारी शक्तियाँ विश्वविद्यालयों पर भी अपना प्रभाव डाल रही हैं तथा समाज में अराजकता की की स्थिति पैदा कर रही हैं।" उपकुलपति ने कहा कि "कुछ दिनों से शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासनहीनता खतरनाक रूप धारण करती जा रही है। इसका मूल बड़ा ही गहरा है। कुछ लोगों ने इसके लिए राजनीतिक दलों या गुटों के द्वारा छात्रों के संवेदनशील मन पर डाले गए गंदी राजनीति के हानिकारक प्रभावों को जिम्मेवार बतलाया है। कुछ लोग इसकी जिम्मेवारी विश्वविद्यालयों के ही कुछ स्वार्थी व्यक्तियों पर, जो गंदी राजनीति में लगे रहते हैं,डालना चाहते हैं। परंतु, एक दूसरे पर कीचड़ उछालने से कोई लाभ नहीं। समय आ गया है कि हम सभी अपनी जिम्मेवारी समझें तथा इस दोष को शीघ्र खत्म करने के लिए कदम उठावें। उन्होंने कहा कि एक ही संस्थान में भारी संख्या में भरते जाने की प्रक्रिया को खत्म करना चाहिए। छात्रों के आवास की समुचित व्यवस्था की जाए। सुचारू रूप से संचालित खेल-कूद तथा अन्य कार्यों में सभी छात्रों के भाग लेने का प्रबंध हो। शिक्षकों और छात्रों के मध्य घनिष्ठ संबंध तथा संपर्क बढ़ाया जाए।" वस्तुतः आज इस ओर हम सभी लोगों को दृढ़तापूर्वक ऐसा ही संमिलित प्रयास करना है।

पिछले कुछ अनुच्छेदों में मैंने अनुशासनहीता के मूलभूत कारणों की एक संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत की है। इस संदर्भ में अब यह स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा गांधी शिक्षा-संस्थाओं में व्याप्त आज की अनुशासनहीनता के लिए कतई जिम्मेवार नहीं हैं। 'असहयोग' को भी जिस अर्थ में उन्होंने अपनाया था, वह आज के रूढ़ अर्थ में सर्वथा भिन्न ही है। उनके 'असहयोग' को अपनाने के लिए शांति एवं संयम की आवश्यकता है। विद्यार्थी वर्ग एवं असहयोग आंदोलन के संबंध में महात्मा गांधी ने समय-समय पर विभिन्न स्थानों में जो अपने विचार व्यक्त किए हैं वे इस प्रकार द्रष्टव्य हैं :—



असहयोग की प्रतिज्ञा की तीन शर्तें

(१५-११-२० के 'नवजीवन' में प्रकाशित 'विद्यार्थियों के बीच में गांधीजी' नामक लेख से)

"असहयोग को मानने वाला किसी भी विद्यार्थी के हाथों में शांति-भंग देखना नहीं चाहता। असहयोग को मानने की इसकी तीन शर्तें मंजूर होनी चाहिए। उनमें से पहली शर्त हैं—शांति। तुम अपने दिल में लिख रखना कि हमें शांति भंग नहीं करनी है, न किसी को गाली देनी है, न गुस्सा करना है, न किसी को मारना है और न 'शर्म-शर्म' की आवाजें लगानी है। जब तक ऐसा न हो; कोई इस लड़ाई में शरीक नहीं हो सकता।

"असहयोग शांतिपूर्ण, बिना तलवार के होना चाहिए। जबान भी तलवार है, हाथ भी तलवार है और लोहे का धारदार टुकड़ा भी तलवार है। दूसरी शर्त संयम या अपने पर काबू रखना है और तीसरी शर्त यज्ञ है। हम जब शुद्ध होते हैं, तब यज्ञ या बलिदान कर सकते हैं। बलिदान किए बिना कोई पवित्र नहीं हो सकता और शुद्ध हुए बिना तुम्हें अपनी पाठशाला न छोड़नी चाहिए। यहाँ आज लगभग ६० विद्यार्थी हैं। उनमें से पाँच विद्यार्थी ही रह जाएँ, तो उनसे भी विद्यापीठ अपना काम चला लेगा। उसकी बुनियाद शुद्ध होगी, तो उस बुनियाद पर स्वराज्य कायम होगा। जिसने अपनी शुद्धि नहीं की, वह उस पवित्र बुनियाद की सफाई में वृद्धि नहीं करेगा, बल्कि उसे बदनाम करेगा। इसलिए इस महाविद्यालय में भरती होने की इच्छा रखने वालों विद्यार्थियों से मैं कहता हूँ कि तुम असहयोग की इन तीन शर्तों का पालन न करना चाहो, तो इसे छोड़ देना।"

सूत के धागे से स्वराज्य

(१)

(गुजरात महाविद्यालय के आचार्य, अध्यापकों और विद्यार्थियों से गां
जी तारीख १३-१-२१ को महाविद्यालय में मिले थे। निम्न उद्धरण उस अवसर
दिए हुए व्याख्यान से है।)

"अपनी जिंदगी में खास-खास चीजों को मैं खास-खास वक्त पर ही बल
साफ तौर पर देख सकता हूँ, जैसे रौलट बिल के आंदोलन के समय नड़ियाद में
एक दिन अचानक सूझा कि कानून को विनय के साथ तोड़ने के लिए अभी न
तैयार नहीं। इसी तरह आज तीन-चार दिन से एक बात मेरे मन में पैदा हो
है। अगर हम असहयोग को सफल बनाना चाहते हैं, विद्यार्थियों को इसमें
करना चाहते हैं और एक वर्ष में स्वराज्य लेना चाहते हैं, तो हमें क्या करना चाहिए
जो बात मैं पहले से ही मानता आ रहा हूँ, वही बात मैं अब आपके सामने
हूँ। मेरा विश्वास तो इस चीज में शुरू से ही अटल रहा है। मगर यह
क्यों है, इसका एक पहलू जैसा मैं अब समझा हूँ, वैसा पहले नहीं समझता था।

कुलपति की हैसियत्त से मैं आपसे कुछ भी कहने नहीं आया हूँ। बड़े
या बुजुर्ग के नाते सलाह देने और मशविरा करने आया हूँ। यह सलाह आग्रह
साथ तो जरूर देनी है। जितनी दृढ़ता और विश्वास के साथ यह चीज मैं
कहूँगा, उतनी दृढ़ता और विश्वास के साथ मैंने पहले कभी उसे आप लोगों के ने
नहीं रखी थी। अगर आपका कहना यह हो कि पाठशालाएँ छोड़ना, शिक्षा
बिना रहना, आत्महत्या करने के बराबर है, तो मैं आपसे कहूँ कि पाठशाला
रहने का पाप छोड़ कर आप जरूर आत्महत्या कीजिए। इस आत्महत्या के लिए
ईश्वर आपको माफ कर देगा। अब तक मैं आपको कई तरह की वानगियाँ परोसता
रहा हूँ, आज तो यही कहने आया हूँ कि आप असहयोग को सच्चा साबित करना
चाहते हों, तो अपना सारा वक्त सूत कातने में ही लगाइए। यह आपको नई बात
लगेगी, इससे आपको चोट पहुँचेगी। जिन्हें बी० ए० होने की इच्छा है और जिन्हें
यह विश्वास दिलाया गया है कि विद्यापीठ यह डिग्री देगी, उनसे कहता हूँ कि
आज हिंदुस्तान के लिए चरखा चलाना ही सबसे बड़ी डिग्री है। मैं यहाँ तक जाता हूँ,
क्योंकि मेरे विचारों में इस वक्त जितनी तेजी है, उतनी ही तेजी मैं आप में आई
हुई देखना चाहता हूँ।

"हिंदुस्तान हमारे हाथ से इसलिए गया कि हमने स्वदेशी को छोड़ दिया। हिंदुस्तान में सूत कातना कोई अलग धंधा नहीं था। हरेक वर्ग की हरेक स्त्री सूत कातती थी। कुछ मर्द भी कातते थे। ढाके की मलमल का सूत कातने वाले पुरुष थे। मगर, यह तो मैंने कुछ पेशेवर आदमियों की बात की। आमतौर पर कातना कोई पेशा नहीं था, बल्कि कर्त्तव्य या फर्ज समझा जाता था, धर्म माना जाता था। जब तक हिंदुस्तान में कातना जारी था, तब तक हिंदुस्तान खुशहाल था, मालामाल था। हमारा पैदा किया हुआ कपड़ा सिर्फ देश की भीतरी माँग को ही पूरा नहीं करता था, बल्कि पिछला इतिहास बताता है कि कपड़ा उससे भी ज्यादा होता था और विदेशों में भी जाता था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने कैसे-कैसे पवित्र या साधनों से कपड़ा बुनने का उद्योग बरबाद किया, करोड़ों रुपए कमाने के लिए लड़ाइयाँ लड़ीं, बंदरगाह हथिया लिए, व्यापार पर कब्जा किया और अंत में राज कायम कर लिया। हम जब तक पछतावा न करेंगे, बाप-दादों पर गुजरे हुए जुल्मों के लिए जब तक प्रायश्चित नहीं करेंगे, तब तक स्वराज्य किस तरह ले सकते हैं? सजा देकर हरगिज न ले सकेंगे, सजा देने का तरीका हमें छोड़ना पड़ेगा। दंड देकर नहीं, अपनी शुद्धि करके ही हमें ताकत हासिल करनी है और उसी से अंग्रेजों को हुकूमत करने से रोकना है। अगर आप यह मानते हों कि वे हमारी अपवित्रता के कारण ही हुकूमत कर रहे हैं, टिके हुए हैं और शुद्ध साधनों से ही हिंदुस्तान को फिर से अपना बनाना है, तो क्या करना चाहिए? प्रायश्चित करना चाहिए। पहले की तरह कातने का काम फिर हाथ में लेना चाहिए। यह धंधा और किसी धंधे के बदले नहीं करना है, बल्कि जनता के फालतू वक्त का उपयोग करके सूत कातना है और उसी से हिंदुस्तान का उद्धार करना है। हमारा प्रायश्चित उसी वक्त पूरा होगा, जब स्त्री, पुरुष और बच्चे सब कातने लगें।

"ब्रिटिश माल के बहिष्कार या बायकाट के हिमायती लंकाशायर को पछाड़ने के लिए बहिष्कार की बात करते हैं, मगर मुझे यह बात करना ठीक लगता है कि दूसरों को पछाड़ने के बजाय हम किसी से न पछाड़े जा सकें। जापान, इंगलैंड और अमरीका का दरवाजा बंद करना हो, तो हमें अपनी जरूरत का सारा कपड़ा अपने घर में ही तैयार कर लेना चाहिए। जब तक हम सूत पैदा नहीं करेंगे, तब तक हम अपनी जरूरत का कपड़ा नहीं बुन सकते। अनुभवी व्यापारियों का कहना है कि हम अपनी जरूरत का तमाम कपड़ा मिलों के जरिए तैयार कराना चाहते हों, तो उतनी मिलें खड़ी होने के लिए पचास बरस चाहिए। तो नौ महीने में यह काम कैसे पूरा हो? मिलों से करोड़ों आदमियों का उद्धार आप कभी नहीं कर सकेंगे। जो

बहुतेरे भाई और बहने नंगे फिरते हैं, उनका तन नहीं ढँक सकेंगे। कोई भी देश अकेली खेती पर गुजर नहीं कर सका है, नहीं कर सकता। खेती के साथ-साथ कोई सहायक धंधा होना ही चाहिए। वह धंधा कातने-बुनने का ही है। जब तक उसका हम फिर से उद्धार न करेंगे, उसे नहीं सीख लेंगे, तब तक हमारी और सब पढ़ाई बेकार है।

"यह सब कह कर मैं यह साबित करना चाहता हूँ कि अगर यह बात सही मालूम होती हो—और देश की कांग्रेस ने प्रस्ताव करके इस बात की सचाई को खुले तौर पर मंजूर किया है—तो हमें अब क्या करना चाहिए? अगर नौ महीने में स्वराज्य लेना हो, तो विद्यार्थियों के लिए सच्ची विद्या यही है कि वे हिंदुस्तान का कपड़े का अकाल मिटा दें। आज हिंदुस्तान में कपड़े का अकाल है, अनाज का इतना अकाल नहीं। इस कपड़े के लिए ६० करोड़ रुपए हर साल बाहर चले जाते हैं। हिंदुस्तान आज ४० करोड़ रतल सूत बाहर से मँगाता है। इतनी सूत हमें घर में कात लेनी चाहिए। बुनने वालों की हमारे यहाँ कमी नहीं, कातने वालों को इस वक्त कमी है। बुनने वालों की संख्या का ठीक-ठीक आँकड़ा अभी मुझे नहीं मिला है, पर उनकी संख्या पचास लाख या उससे ज्यादा है। अगर हमें यह रुपया बचाना है, तो सूत कातने लग जाना चाहिए। इसको सोचिए कि ६० करोड़ रुपए का व्यापार देश में ही हो, तो कितने आदमियों को रोजी मिले। कपड़े को घी की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। हमारी ऐसी हालत नहीं कि हम जितना चाहें, उतना कपड़ा खर्च कर सकें। सिर्फ कुर्ते से काम चलता हो, तो और कुछ नहीं पहनना चाहिए। छोटी धोती से काम चल सकता हो, तो लंबी नहीं पहननी चाहिए। ६० करोड़ रुपए बचाने के लिए उतना ही बड़ा बलिदान देना पड़ेगा।

"विद्यार्थी अगर यह पूरा साल इसी काम में लगा दें, तो कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार एक बरस के भीतर स्वराज्य घर आ सकता है। मगर, इसके लिए बड़ी भारी कोशिश करने की जरूरत है। किसी खास शर्त पर ही आप अपना यह ध्येय प्राप्त कर सकते हैं। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई बंद करके हिंदुस्तान के लिए मजदूर बन जाएँ। अगर आप अपनी मजदूरी के लिए कुछ मेहनताना न लें, तो आपकी मिहरबानी है, मगर जिसे लेना हो, वह खुशी से ले सकता है।

"अगर मैं आपको सलाह देने लायक हूँ, तो मैं सलाह दूँगा कि आप अपने कॉलेज छोड़ दीजिए। स्वराज्य की लड़ाई मे आप पूरा हाथ बँटाना चाहते हों, तो हिंदुस्तान के लिए जितनी सूत कात सकते हों, कातिए। रोज छह घंटे या उतना न हो सके, तो कम-से-कम चार घंटे तो कातने में जरूर लगाइए। मेरा यह आग्रह

नहीं कि आप बिलकुल पढ़ाई छोड़ दें। मैं नहीं मानता कि छोड़ भी दें, तो उससे आपकी विचारशक्ति कम हो जाएगी। जिसका मन मैला नहीं होता, उसकी सोचने की ताकत कभी नहीं घटती। मेरा अपना तो यह अनुभव है कि जब मैं जेल में था और पढ़ने के लिए मुझे कोई पुस्तक नहीं मिलती थी, तब मैं ज्यादा विचार कर सकता था। हमारे दिमाग पढ़-पढ़ कर सड़ गए हैं। इसलिए मैंने आपसे कहा कि आप छह घंटे कातिए और बाकी के समय में पढ़िए। आपसे तो मैं यह भी कहता हूँ कि आप अगर कातने में होशियार हो जाएँ, तो गाँवों में भी चले जा सकते हैं। अगर आपको अपने पर इतना भरोसा न हो, तो आप कॉलेज में भी रह सकते हैं। मगर, मुझे इतना भरोसा है कि सबके चार-छह घंटे रोज कातने में दिए बिना हमें स्वराज्य नहीं मिल सकता। एक महीने या ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में आप कातना सीख कर देहात में पहुँच जाने के लिए तैयार हो सकेंगे और वहाँ उसका प्रचार कर सकेंगे। सूत का अकाल मिटा कर हिंदुस्तान को जितना आगे बढ़ा सकते हैं, उतना और किसी तरह नहीं बढ़ा सकते। इसके सिवाय ऐसा नहीं करेंगे, तो अब हमें कांग्रेस के विधान के अनुसार जो मतदाता-संघ बनाना है, वह कैसे हो सकेगा? गुजरात के गाँवों को आज मैं क्या पैगाम पहुँचा सकता हूँ? अंग्रेजों को गाली देने को कहूँ? या उन्हें तलवार-बंदूक दूँ? तब उन्हें क्या कहूँ? मेरा संदेश यही है कि सब सूत कातने लग जाएँ। कोई गाँव का आदमी अहमदाबाद जाकर जब कपड़ा ले जाता है, तो उससे मुझे दुःख होता है। मेरा स्वदेशी धर्म यह है कि हर एक गाँव अपनी जरूरत की चीजें खुद ही बना ले। इस पुराने रिवाज को हम फिर जारी कर सकें, तो इस हिंदुस्तान पर कोई बुरी नजर नहीं डाल सकेगा। आचार्य महोदय और अध्यापकों से मैं दरखास्त करता हूँ कि एक साल के लिए तो आप यही तरीका अख्तियार कर लीजिए और विद्यार्थियों को गाँवों में जाने के लिए तैयार कीजिए।

"इस साल के भीतर आपकी शिक्षा इतनी हो जाए तो, काफी है। अपनी गुजराती सुधारिए, अंग्रेजी को छोड़ दीजिए, हिंदुस्तानी सीखिए, उर्दू लिपि सीख लीजिए और चरखा चलाना सीख लीजिए। इतना करेंगे, तो हम अगले साल के लिए तैयार हो जाएँगे। मैं तो चाहता हूँ कि स्वराज्य मिलने तक यही तरीका जारी रखा जाए। ऐसा न हो सके, तो कम-से कम एक बरस के लिए तो जरूर रखिए। यह मेरा आज का संदेश है।

"आप बेधड़क होकर जो शंका हो, पूछ लेना। जिसको श्रद्धा न हो, ऐसा एक भी विद्यार्थी इस नई बात को अपना ले, यह मैं नहीं चाहता। आपकी बुद्धि और हृदय माने, तो ही मेरी बात मानना।"

सवाल-जवाब

"विद्यार्थी : चरखे से असहयोग आंदोलन को क्या मदद मिलेगी ?

गांधीजी : चरखे से हिंदुस्तान की आर्थिक स्वतंत्रता ली जा सकेगी। जब तक आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिलेगी, तब तक हम स्वराज्य नहीं भोग सकेंगे। हम साबुन के बिना, सूई के बिना या पिन के बिना काम चला सकते हैं। मगर कपड़े के बिना काम नहीं चल सकता। इस वक्त जितना माल हम बाहर से लाते हैं, उतना दे नहीं सकते। इससे हर साल आर्थिक घाटा बढ़ता ही जाता है। फौज का भारी खर्च हमें उठाना ही पड़ता है। ६० करोड़ कपड़े में दे देते हैं और दूसरा फिजूल की जरूरतों में चला जाता है, सो अलग। यह सही हो, तो हमें आर्थिक स्वत्रंता हासिल कर ही लेनी चाहिए। जो ६० करोड़ रुपया हम बचा सकते हैं, वह बचा लें। ६० करोड़ बचा लेंगे तो और भी बचाने की शक्ति आ जाएगी, या उस वक्त वैसी चीजें बाहर से लेना भी बर्दाश्त किया जा सकेगा। घड़ी या पिन का कारखाना हिंदुस्तान में न हो, तो हिंदुस्तान अनाथ नहीं हो जाएगा। लेकिन, कपड़े के बिना तो हिंदुस्तान सचमुच अनाथ जैसा हो जाएगा।

विद्यार्थी : चरखा जारी करने से विद्यार्थियों में फिर खलबली मच जाएगी।

गांधीजी : खलबली से तो विद्यार्थी ऊँचे उठते हैं। खलबली पैदा करना मेरा और अध्यापकों का धर्म है। इस वक्त विद्यार्थी जागते हुए भी सो रहे हैं। जहाँ माँ-बाप के साथ, दुनिया के साथ और अपने साथियों के साथ इस प्रकार की तकरार होती है, वहाँ संभव है कुछ लोग जाग उठें॥ इसमें गिरावट नहीं।

विद्यार्थी : विद्यार्थियों के सिवाय दूसरे लोगों से आप कातने को क्यों नहीं कहते ? विद्यार्थियों से पढ़ाई क्यों छुड़वाते हैं ?

गांधीजी : यह मानना कि कातना शिक्षा नहीं, हमारी पहली भूल है। यह मानना कि बलिदान शिक्षा नहीं, दूसरी भूल है। कल ही यदि तमाम लड़के समझ जाएं कि पढ़ाई का बलिदान करके देश की सेवा करनी है, तो मैं उसी क्षण समझ लूंगा कि मेरा एक बरस का काम पूरा हो गया।

विद्यार्थी : पाठशालाओं में ऐसा फेरबदल करने से असहयोग की हलचल को धक्का नहीं पहुँचेगा ?

गांधीजी : नहीं। सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ने वाले को यह समझ कर उन्हें छोड़ना है कि सरकारी शिक्षा गंदी चीज है। अगर इस विद्यालय के लालच से ही छोड़ते हों, तो उन्हें अपने कॉलेज हीं मुबारक है। जिन्हें सिर्फ अक्षर-ज्ञान ही देना हो, वे भले ही इस तरह का अलग कॉलेज खोलें। अगर हमें ये सूझता हो कि हमारा

यही कर्त्तव्य है, साल भर यह काम करेंगे तो देश का फायदा होगा, हम स्वराज्य के साधन बन सकेंगे, तो हमें यह काम करना ही चाहिए।

स० : क्या आप यह नहीं मानते कि सिर्फ चरखे की तरफ ही ध्यान देने से मौजूदा शिक्षा भूल जाएंगे?

ज० : चरखे के काम से स्वतंत्र होकर अक्षर-ज्ञान लेने के लिए सच्ची लियाकत हासिल करेंगे। इस तरह चरखे के काम से तो मौजूदा शिक्षा सतेज बन जाएगी।

('बंगाल की जागृति' शीर्षक महादेव देसाई के पत्र से)

"आज मैं तुम्हें एक नया संदेश देने आया हूँ। ज्यादा अच्छा संदेश देने आया हूँ। अगर तुम एक साल के भीतर स्वराज्य लेने का आग्रह रखते हो, अगर तुम्हें एक बरस के अंदर स्वराज्य चाहिए, जो उसे लेने का रास्ता, मैं जो सलाह देना चाहता हूँ, उसे मान कर ज्यादा साफ और आसान करने के लिए मैं तुमसे कहता हूँ। जिन्होंने स्वराज्य लेने के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका मार्ग अधिक सरल और सुगम करने के लिए मैं तुमसे कहता हूँ।

"अगर तुम यह मानते हो कि स्कूल-कॉलेज आज जैसे चल रहे हैं, वैसे ही चलते रहने से स्वराज्य मिल सकेगा, तो तुम भारी भूल करते हो। किसी भी देश को तकलीफें उठाए बिना और बलिदान दिए बिना आजादी नहीं मिली, नया जन्म प्राप्त नहीं हुआ। और त्याग या बलिदान का अर्थ क्या? अंग्रेजी का 'सेक्रिफाइस' शब्द 'पवित्र करना' धातु से निकला है। असहयोग आत्मशुद्धि की क्रिया है और आत्मशुद्धि की खातिर मौजूदा कामकाज छोड़ना पड़े, तो भी वह जरूरी है। अगर मैं बंगाल को जानता हूँ, तो मुझे लगता है कि तुम वह कर्त्तव्य नहीं छोड़ोगे और मुझे ठीक जवाब दोगे।

"हमारी तालीम में दो बड़ी खामियाँ हैं। हमारा शिक्षाक्रम तैयार करने वालों ने शरीर और आत्मा की शिक्षा की उपेक्षा की। असहयोग करने से ही तुम्हें आत्मा की शिक्षा मिल जाती है; क्योंकि असहयोग का अर्थ पाप का संपर्क छोड़ना ही है। अगर हम यह संपर्क सच्चे दिल से सोच-समझ कर छोड़ते हैं, तो हम ईश्वराभिमुख होकर चलते हैं। इतना होने पर आत्मा की पढ़ाई शुरू हो जाती है या पूरी हो जाती है। लेकिन, हमारी शारीरिक शिक्षा की तरफ ध्यान नहीं दिया गया और हिंदुस्तान चरखा छोड़ कर और 'वाघरी के लिए भैंस'[1] मार कर गुलाम बन बैठा

1. वाघरी—चमड़े की डोरी
वाघरी के लिए भैंस को मारना—यानी नाम मात्र के लाभ की खातिर बहुत बड़ा नुकसान उठाना। वाघरी की जरूरत पूरी करने के लिए भैंस को मारने की मूर्खता करना।

है। इसलिए मैं तुम बंगाली युवकों के सामने चरखा रखने में हिचकिचाता नहीं। और मैं चाहता हूँ कि आत्मशुद्धि के इस एक साल में चरखा सीखना और जितना हो सके, उतनी सूत पैदा करना ही तुम्हारा मुख्य उद्देश्य और मुख्य काम हो जाए। तुम अपनी मामूली पढ़ाई स्वराज्य कायम होने के बाद शुरू करना। मेरी माँग है कि आज बंगाल का हरएक युवक और युवती अपना सारा समय और शक्ति कातने में ही लगा दे।"

नवजीवन ३-२-'२१

असहयोग और पढ़ाई

('मेरी टिप्पणी' में से लिया हुआ भाग)

"पढ़ाई की जरूरत तो है ही। अक्षर-ज्ञान भी चाहिए। मगर लिखना-पढना ही सब कुछ नहीं। यह साध्य नहीं, सिर्फ साधन है। जिसे समझ है, उसे अक्षर-ज्ञान न हो, तो क्या? दुनिया के बड़े शिक्षक—सुधारक पढ़े-लिखे नहीं थे। पैगंबर ईसा मसीह को, पैगंबर मुहम्मद को कहाँ अक्षर-ज्ञान था? फिर भी उन्होंने दुनिया को जो अकल दी और सेवा की, वैसी बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं या अर्थशास्त्रियों ने नहीं की, न कभी करेंगे। बोअरों के प्रेसिडेंट क्रूगर को लिखना-पढ़ना इतना कम आता था कि, वे मुश्किल से अपने दस्तखत करते थे। अफगानिस्तान के पिछले अमीर को भी इतना ही अक्षर-ज्ञान था। मगर, इन दोनों की समझशक्ति अपार थी।

लेकिन, कोई कहेगा कि यह तो मैंने असाधारण पुरुषों की बात की। यह सही है। मगर, इससे मैंने बताया कि अक्षर-ज्ञान के बिना काम चल ही नहीं सकता, सो बात नहीं। आज भी दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा पढ़ा-लिखा नहीं है, पर वह जड़ नहीं है। उसी के बूते पर हम जीते हैं। उसकी मामूली समझ से दुनिया का काम चल सकता है। यह सब लिखने का मतलब इतना ही है कि हमारे बच्चे आज़ादी की लड़ाई जारी रहने तक पढ़ाई के बिना रह जाएँगे, तो इससे उनको और जनता को लाभ होगा। जैसे किसी मकान में ज़हरीली हवा पैदा हो गई हो, तो उस वक्त के लिए उसे छोड़ देने में ही हमारी समझदारी है, जैसे ही इन जहर-जैसी सरकारी पाठशालाओं को छोड़ने में ही फायदा है।

"मगर, उतने समय तक बच्चे क्या करें? जनता में ज्ञान हो तो जनता के बड़े-बड़े मकान वगैरा हमारे काम आ सकते हैं और उनमें बच्चों को पढ़ाया जा सकता है। मगर वे भी न मिलें, तो हम बच्चों को खुले में तालीम दें। उनसे कतवाएँ, भजन गवाएँ और कवायद कराएँ। कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार बहुतेरे

शिक्षकों को तो जेलयात्रा की तैयारी करनी पड़ेगी। इसलिए अब शिक्षा का स्वरूप ऐसा बनाएँ कि जिससे कम-से-कम शिक्षकों से हम अपना काम चला सकें। प्रौढ़ स्त्रियों के हाथ में बच्चों को सौंपने में मुझे भी हिचक नहीं होती। वे चरखा तो चलाती ही हैं। वे बच्चों की देखरेख रखें। अगर हमने अपने बच्चों को विनय सिखाया होगी, तो वे स्त्रियों का ज्यादा आदर करके ज्यादा विवेकी बनेंगे और स्त्रियाँ भी सेवा करने लग जाएँगी।"

नवजीवन, १५-१-'२२

असहयोग संकुचित धर्म है ?

(असहयोग पर कविसम्राट् रवींद्रनाथ द्वारा किए गए आक्षेपों के 'अंग्रेजी विद्या और रविबाबू' नामक जवाब में से)

"आज अगर लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं, तो व्यापारी बुद्धि से और कहे जाने वाले राजनैतिक फायदों के लिए ही पढ़ते हैं। हमारे विद्यार्थी ऐसा मानने लगे हैं (और अभी की हालत देखते हुए यह बिलकुल स्वाभाविक है) कि अंग्रेजी के बिना उन्हें सरकारी नौकरी हरगिज नहीं मिल सकती। लड़कियों को तो इसीलिए अंग्रेजी पढ़ाई जाती है कि उन्हें अच्छा वर मिल जाएगा। मैं ऐसी कई मिसालें जानता हूँ, जिनमें स्त्रियाँ इसीलिए, पढ़ना चाहती हैं कि अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी बोलना अंग्रेजी आ जाए। मैंने ऐसे कितने ही पति देखे हैं कि जिनकी स्त्री उनके साथ या उनके दोस्तों के साथ अंग्रेजी में न बोल सकें, तो उन्हें दुःख होता है। मैं ऐसे कुटुंबों को भी जानता हूँ, जिनमें अंग्रेजी भाषा की अपनी जबान 'बना लिया' जाता है। सैंकड़ों नौजवान ऐसा समझते हैं कि अंग्रेजी जाने बिना हिंदुस्तान को स्वराज्य मिलना नामुमकिन-सा है। इस बुराई ने समाज में इतना घर कर लिया है, मानो शिक्षा का अर्थ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के सिवा कुछ है ही नहीं। मेरे खयाल से तो ये सब हमारी गुलामी और गिरावट की साफ निशानियाँ हैं। आज जिस तरह देशी भाषाओं की उपेक्षा की जाती है और उनके विद्वानों व लेखकों को रोटी के भी लाले पड़े हुए हैं, सो मुझसे देखा नहीं जाता। माँ-बाप अपने बच्चों को और पति अपनी स्त्री का अपनी भाषा छोड़ कर अंग्रेजी में पत्र लिखे, तो वह मुझसे कैसे बरदाश्त हो सकता है।

"मुझे लगता है कि कविसम्राट् के बराबर ही मैं भी चंडूल की स्वतंत्रता पर मुग्ध हूँ। मुझे भी खुली हवा पर श्रद्धा है। मैं नहीं चाहता कि मेरा घर सब तरफ खड़ी हुई दीवारों से घिरा रहे और उसके दरवाजे और खिड़कियाँ बंद कर दी जाएँ।

मैं भी यही चाहता हूँ कि मेरे घर के आसपास देश-विदेश की संस्कृति की हवा बहती रहे। पर, मैं यह नहीं चाहता कि उस हवा से जमीन पर से मेरे पैर उखड़ जाएँ और मैं औंधे मुँह गिर पड़ूँ। मैं दूसरे के घर में अतिथि, भिखार या गुलाम की हैसियत से रहने के लिए तैयार नहीं। झूठे घमंड के वश होकर या कही जानेवाली सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए मैं अपने देश की बहनों पर अंग्रेजी इल्म का नाहक बोझ डालने से इनकार करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के जवान लड़के-लड़कियों को साहित्य में रस हो, तो वे भले ही दुनिया की दूसरी भाषाओं की तरह ही अंग्रेजी भी जी भर कर पढ़ें। फिर मैं उनसे आशा रखूँगा कि वे अपने अंग्रेजी पढ़ने का लाभ डॉ० बोस, राय और खुद कविसम्राट् की तरह हिंदुस्तान को और दुनिया को दें। लेकिन, मुझे यह नहीं बरदाश्त होगा कि हिंदुस्तान का एक भी आदमी अपनी मातृभाषा को भूल जाए, उसकी हँसी उड़ाए या उससे शरमाए या उसे यह भी लगे कि वह अपने अच्छे-से-अच्छे विचार अपनी भाषा में नहीं रख सकता। मैं संकुचित या बंद दरवाजे वाले धर्म में विश्वास ही नहीं रखता। मेरे धर्म में ईश्वर की पैदा की हुई छोटी-से-छोटी चीज के लिए भी जगह है। मगर उसमें जाति, धर्म, वर्ण या रंग के घमंड के लिए कोई स्थान नहीं। मुझे यह देख कर बहुत अफसोस हुआ कि इस अंतरशुद्धि के, सुधार के और सारी दुनिया का भला करने वाले देशाभिमान के महान् आंदोलन के बारे में कविसम्राट् को गलतफहमी हुई है। कवि-सम्राट् धीरज रखेंगे, तो वे देखेंगे कि हिंदुस्तान आज ऐसी कोई बात नहीं कर रहा है, जिससे उन्हें विदेशों में अपने देशभाइयों के लिए अफसोस करना पड़े या नीचा देखना पड़े। उन्हें मैं नम्रता के साथ चेतावनी देता हूँ कि वे ऐसा न मान लें कि इस आंदोलन के सिलसिले में जो थोड़ी-सी अफसोस करने लायक घटनाएँ हो गई हैं, वे ही इस आंदोलन का सच्चा स्वरूप हैं। डायर और ओडायर पर से अंग्रेजों की कीमत आंकना जितना गलत है, उतना ही गलत लंदन में बताई हुई कुछ विद्यार्थियों की नासमझी या माले गांव की ज्यादतियों पर से असहयोग की कीमत लगाना भी है।"

नवजीवन, १३-६-'२१

असहयोगी विद्यार्थी

(१)

"मैं सुना करता हूँ कि मेरी कही हुई कुछ बातों से असहयोगी विद्यार्थियों में खलबली मची हुई है। कुछ विद्यार्थी मुझे पत्रों के जरिए शब्दबाण भी मार रहे हैं।

"मुझे विद्यार्थियों के किए हुए त्याग पर अभिमान है। मैं जानता हूँ कि विद्यार्थियों ने देश की सेवा की है। मगर, विद्यार्थियों ने बहुत कुछ किया है, तो उससे करोड़ों गुना ज्यादा करना अभी बाकी रहा है। त्याग की हद नहीं होती। 'इतना त्याग बहुत है' यह कहने वाले को घमंड आया और उसका त्याग बेकार गया। पूरे त्याग के बाद स्वराज्य आता है। यही हमारी कसौटी है। जब तक स्वराज्य नहीं मिलता, तब तक त्याग अधूरा ही है।

"इसके सिवाय, जो त्याग दुःख देता है, वह त्याग नहीं। जिस त्याग से मनुष्य का दिल हलका होता है, शांत होता है, खुश होता है, वही सच्चा त्याग है। बुद्ध के लिए भोगविलास दुःखदायी बन गया, तो उसने उसे छोड़ दिया। वह त्याग ही उसके लिए भोग बन गया, इसलिए टिक गया।

"सरकारी स्कूलों का वही त्याग सच्चा, जिसके बाद में विद्यार्थियों को ऐसा लगे कि, "हाँ, अब मैं आजाद हुआ"। सोने के पिंजरे में रहने वाले तोते को साँप वगैरा का कोई खतरा नहीं होता। उसे खाने-पीने को बराबर मिलता रहता है। इतने पर भी मालिक पिंजरे का दरवाजा खोल दे, तो वह वहाँ से भाग जाएगा और किसी पेड़ की डाली पर जा बैठेगा और वहाँ झूलने में ही खुशी मानेगा। वह जानता है कि अपनी इस आजादी के साथ-ही-साथ उसे अब खाना तलाश करने की चिंता करनी पड़ेगी और साँप और बड़े पक्षियों का डर भी रहेगा। मगर, इसकी उसे परवाह नहीं। यह सोने के पिंजरे के साथ, उसके मालिक के साथ, तोते का असहयोग हमेशा निभेगा; क्योंकि तोते ने त्याग को -- असहयोग को -- सुख माना है। मालिक का प्रेम उसे स्वार्थ भरा मालूम होता था। मालिक के यहाँ मिलने वाले सुभीते उसे अड़चन मालूम होते थे। तोता समझता था कि आजादी की कीमत नहीं हो सकती। जवाहरात से जड़ा हुआ पिंजरा भी आखिर तो पिंजरा ही है, ऐसा विश्वास तोते को हो गया था, इसीलिए पिंजरा खुलते ही वह भागा।

"जिन विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों को मोहजाल समझकर छोड़ा है, उन्हें वे सोने के लगे, तो भी वे वहाँ वापस नहीं जाएंगे—फिर भले ही उनके लिए स्वतंत्र विद्यालय हों या न हों। ऐसे त्यागी विद्यार्थियों को ही सरकारी स्कूलों से बाहर रहने का अधिकार है। असहयोग मुलतवी करने का अर्थ यह है कि असहयोग की कीमत जिनकी समझ में अभी तक न आई हो, उन्हें असहयोग को छोड़ने की सहूलियत मिले और इसमें कोई बदनामी न माने—कोई उनकी बुराई न करे। जो त्याग हमसे सहा न जा सके, भूल-भरा लगे, उस त्याग से हमें फायदा नहीं होता।

ऐसे त्यागियों पर से कांग्रेस का नियंत्रण दूर हो जाएगा और वे निडर होकर वापस सरकारी स्कूलों में जा सकेंगे ।

"मगर जिन्हें सरकारी स्कूल कैदखाने-जैसे लगेंगे, वे जबतक स्वराज्य नहीं मिलेगा,तब तक जान चली जाए तो भी अपना त्याग जारी रखेंगे । इस तरह विद्यार्थियों के लिए और दूसरे असहयोगियों के लिए भी सवाल तो जो पहले था, वही आज भी है । फर्क सिर्फ इतना ही है कि जिनके लिए कांग्रेस के प्रस्ताव की पाबंदी थी, वे उससे छूट जाएंगे । लेकिन, जिन्हें अपनी आत्मा का बंधन था और जो आत्मा की आवाज के वश हो कर इसमें पड़े थे, उनके लिए वह पाबंदी कायम ही है ।

"इस तरह सरकारी शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा का फर्क खयाली है; क्योंकि यह सिद्धांत का फर्क नहीं है । सिद्धांत-भेद तो झंडे का है, स्वामित्व का है । मेरे घर में और दूसरे के घर में बननेवाली रोटी एक ही किस्म की होने पर, भी यह दूसरे की होने के कारण उसे लेना चोरी है । और इसलिए त्याज्य है । कैदखाने में घर-जैसा खाना मिलता हो, तो भी कैदखाने का खाना लेने लायक नहीं । इसी तरह जिस विद्यार्थी को सरकारी स्कूल कैदखाने-जैसा न लगे, उसके लिए उसमें वापस चला जाना उचित है । उसकी टीका करने का दूसरों को अखितयार नहीं । एक के लिए जो चीज कैद-जैसी हो, वही दूसरों के लिए आजादी-जैसी हो सकती है ।

"सच्चा आंदोलन विचार को बदल देता है । आचार विचार के पीछे आता ही है । मगर, बिना विचार का आचार विचारशील को बोझ-सा लगता है, विचारशून्य को उससे कोई नफा-नुकसान नहीं होता । जो विचार नहीं होता करता, वह दूसरों की नकल करता है और आम तौर पर हम विचारशून्य होते हैं । इसीलिए भक्तों ने सत्संग की बड़ाई की है ।

"अब जमाना सोच-समझकर असहयोग करने का ही रह गया है । कांग्रेस वगैरा की बाहरी पाबंदियां दवा की पुड़िये की तरह थोड़े दिन काम दे सकती हैं । तीन-चार साल के प्रयोग के बाद हम देखते हैं कि बहुत से विद्वान लोगों को विद्यालयों के असहयोग के बारे में शक होने लगा है । अगर उन्हीं की राय मानी जाए, तो उनका बहुमत सरकारी स्कूलों को छोड़ने के खिलाफ ही निकलेगा । ऐसे प्रतिकूल वातावरण में थोड़े ही विद्यार्थी स्वतंत्र विचार करके अपना असहयोग कायम रख सकते हैं । ऐसे थोड़े से विद्यार्थियों की मदद करना राष्ट्रीय विद्यालयों का काम है । मैं कुलपति माना जाता हूं । इस जगह के लिए मेरी योग्यता का आधार मेरी विद्वत्ता पर तो जरा भी नहीं हो सकता । मुझ में कुलपति की योग्यता हो भी, तो उसका कारण असहयोगी के रूप में मेरी विशेपता ही हो सकती है ।

इसलिए अगर मैंने पढ़ाई के सिलसिले में असहयोग को बल पहुँचाने वाले अंगों पर ज्यादा जोर दिया है, तो वह माफी के लायक ही नहीं, बल्कि तारीफ के काबिल समझा जाना चाहिए।

"मगर, मेरी इस स्थिति का अर्थ यह लगाया गया है कि मैं पढ़ाई-लिखाई विद्वता—का वैरी हूँ। सत्य तो इससे उलटा ही है। मैं नहीं चाहता कि राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़ाई-लिखाई बंद करके सिर्फ कातना-पींजना ही सिखाया जाए या कराया जाए। मैं चाहता हूँ कि विद्यार्थियों को काफी और मुनासिब अक्षर-ज्ञान दिया जाए। मैं चाहता हूँ कि वे पढ़ने-लिखने में सरकारी स्कूलों के विद्यार्थियों की बराबरी कर सकें।

"मगर मुझे सिर्फ अक्षर-ज्ञान से संतोष नहीं हो सकता। सरकारी स्कूलों में नौकरी का, मुंशीगिरी का उद्देश्य सामने रखकर सिर्फ पढ़ना-लिखना ही सिखाया जाता है। राष्ट्रीय पाठशालाओं का हेतु स्वराज्य, आजादी, स्वावलंबन है, इसलिए विद्यार्थियों को अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ हृदयबल और शरीर-यज्ञ—जाती मेहनत—की तालीम देनी चाहिए। राष्ट्रीय पाठशालाओं में स्वराज्य को ताकत पहुँचाने वाली चीजें होनी चाहिए। राष्ट्रीय स्कूलों में पढ़ाई-लिखाई को साध्य समझने के बजाय उसे चरित्रबल बढ़ाने का और स्वराज्य के काम का साधन मानना चाहिए। दिल को मजबूत बनाने के लिए हमें हृदयबल वाले शिक्षक चाहिए। और चरखा स्वराज्य लेने का एक जबरदस्त साधन होने के कारण, जिस राष्ट्रीय विद्यालय में चरखे की इज्जत न हो, उसे मैं राष्ट्रीय हरगिज नहीं मान सकता। कांग्रेस ने अपने प्रस्तावों में चरखे को खूब महत्त्व दिया है। यह सच है कि इन प्रस्तावों को पास करने वाले उन पर अमल नहीं करते। जो प्रस्ताव कांग्रेस ने पास किए हैं, उन पर अगर सदस्यों ने ही पूरी तरह अमल किया होता, तो आज हम स्वराज्य लेकर शांति से बैठ गए होते या उसे दरवाजे के चमकीले तोरण बड़ी आतुरता से देख रहे होते। लेकिन, सदस्यों की सुस्ती और बेवफाई की असहयोगी विद्यार्थियों को नकल न करनी चाहिए। बच्चे बड़ों की बराबरी करने जाएँगे, तो मर जाएँगे। तुलसीदास जी ने कहा है कि "समरथ को नहीं दोष गुसाईं"। लेकिन, हम मामूली लोग समर्थ बनने चलें तो हमारा नाश हो जाए। जिस राष्ट्रीय विद्यालय में हिंदी, उर्दू सिखाना लाजिमी न हो, उससे राष्ट्र को ताकत नहीं पहुँचती। जो राष्ट्रीय विद्यालय अछूतों का बहिष्कार करें, उस विद्यालय के बंद हो जाने में ही देश का भला है। राष्ट्रीय विद्यालय में हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी जातियों के विद्यार्थियों को सगे भाइयों की तरह पढ़ना चाहिए। मेरे ख्याल से ये सब बातें विद्यालय के राष्ट्रीय

होने के चिह्न हैं। इसमें मुझे शक नहीं कि राष्ट्रीय शिक्षा की ज्यादा पुकार बिना सोचे-समझे की जाती है। पढ़ाई की किताबों में फेरबदल, इतिहास वगैरा पढ़ाने के तरीके की विचित्रता वगैरा गौण चीजें हैं। इनके लिए बेशुमार रुपया नहीं खर्चा जा सकता, अलग संस्थाएँ नहीं खोली जा सकतीं। कोशिश करने से ऐसे फेरबदल सरकारी स्कूलों में भी कराए जा सकते हैं। ऐसे फेरबदल न होने से सरकारी स्कूलों को छोड़ना शोभा नहीं दे सकता, संभव नहीं हो सकता। सरकारी स्कूलों के छोड़ने के कारणों की जाँच मैं कर चुका। सरकारी पाठशालाओं और राष्ट्रीय पाठशालाओं में जो फर्क रहना चाहिए, उस पर भी मैं नजर डाल चुका। इस फर्क में व्यवस्थापकों की, शिक्षकों की और विद्यार्थियों की कसौटी है। यह फर्क असहयोग की बाहरी निशानी है। असहयोग में इनके सिवाय दूसरी बहुत सी बातें भले ही हों, मगर असहयोग में ये चिह्न नहीं, वह असहयोग हरगिज नहीं हो सकता।"

नवजीवन, २१-१२-'२४

"एक भाई लिखते हैं—

"गुजरात महाविद्यालय के आपके भाषण और दूसरे लेख पढ़ने पर भी जो सच्चाई है, वह ध्यान में से नहीं जाती।

"विद्यार्थियों ने असहयोग करके अपना फर्ज अदा किया है, किसी पर उपकार तो हरगिज नहीं किया। तब भी यह बात तो ध्यान में रखनी ही चाहिए कि उन्होंने सबसे ज्यादा आर्थिक नुकसान उठाया है।

"इस वक्त असहयोग मुलतवी हो जाने और आंदोलन के ठंडा पड़ जाने के कारण समाज में स्नातकों का मान-मरतबा नहीं रहा। है भी, तो नाम मात्र को। कितने ही भावना में बहें, तो भी पेट तो सभी के लगा है। इस पर भी यह तो आप जानते ही हैं कि हमारे विद्यार्थियों को पढ़ाई के साथ-साथ कुटुंब का भरण-पोषण भी करना पड़ता है।

"आप यह मानते हैं कि पढ़ाई का नतीजा आजीविका की प्राप्ति होना चाहिए, मगर उसमें भी आज बहुत-सी मुश्किलें हैं।

"और सब लोग तो असहयोग मुलतवी करके अपना असली कारबार फिर से शुरू कर सकते हैं। पर विद्यार्थी ऐसा करना भी चाहें, तो नहीं कर सकते।

"असहयोग करके प्रसिद्ध होने के बाद वे वकील भी, जिन्हें पहले मुकदमे नहीं मिलते थे, अब बहुत अच्छी कमाई कर रहे हैं। विद्यार्थियों का कोई भाव तक नहीं पूछता। उलटे उनकी तरफ घृणा से देखा जाता है।

"आप १५ तारीख को राजकोट पधारने वाले हैं। देशी राजाओं को तो काबिल आदमियों से काम है। मुझे मालूम नहीं कि उनके लिए कोई ऐसी सरकारी

पाबंदी है कि वे बंबई युनिवर्सिटी के स्नातकों को ही रखें। तो फिर आप देशी रियासतों को विद्यापीठ के स्नातकों को रखने की सलाह नहीं दे सकते ? मैं मानता हूँ कि आप और कहीं नहीं तो भी राजकोट और भावनगर की प्रजा-प्रतिनिधि-सभा में इस बारे में प्रस्ताव पास करा सकते हैं और शासकों की मंजूरी भी दिला सकते हैं। इसके सिवाय, आप जब राजकोट में राष्ट्रीय पाठशाला की नींव डालने के मौके पर जा रहे हैं, तब तो इस मामले के लिए यह समय खूब अनुकूल हो सकता हैं। इसमें शक नहीं कि इस तरह देशी राजा विद्यापीठ को अप्रत्यक्ष ढंग से मदद दें। तो सवाल बहुत आसान बन जाए।

"विद्यार्थियों के त्याग की जिक्र तो मैं कई बार कर चुका हूँ। पर, यह अपवादरहित नियम है कि जो अपने त्याग का खुद बखान करते हैं, उनके त्याग की दुनिया कद्र नहीं करती; क्योंकि जिस त्याग की जिक्र खुद त्याग करने वाले को करना पड़ता है, वह त्याग ही नहीं। त्याग अपने-आप जाहिर होनेवाली चीज है। विद्यार्थी अपने किए हुए त्याग की कीमत लगाने के बजाय इस बात का हिसाब क्यों न करें कि उन्हें लाभ क्या-क्या हुए ?

"जो यह नहीं जानता कि राष्ट्रीय तालीम पाने में ही उसकी कीमत है, वह कुछ नहीं जानता। स्नातक को यह मानने की कोई जरूरत नहीं कि विद्यापीठ के स्नातकों का भाव आज घट गया है। इस तरह स्नातक अपना भाव क्यों घटाए ? मैं राष्ट्रीय विद्यापीठ के स्नातकों से आत्मविश्वास की आशा रखता हूँ। उन्हें दीन-भिखारी न बनना चाहिए। उन्हें ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए। स्नातक मेरे द्वारा देशी राज्यों से भीख मँगवाना क्यों चाहें ? स्नातक अपने ज्ञान और चरित्र-बल के कारण महँगे क्यों न बनें ? ऐसा वक्त आना चाहिए कि जब दूसरी तरफ से राष्ट्रीय स्नातकों की माँग हो। ऐसे समय को लाने का दारमदार अकेले स्नातकों पर है। काँच के ढेर में पड़ा हुआ हीरा पहचान ही लिया जाता है। वैसा ही राष्ट्रीय स्नातकों को होना चाहिए। मैं तो अपने काठियावाड़ के दौरे में स्नातकों के बारे में एक शब्द भी नहीं बोलना चाहता। मैं काठियावाड़ में खादी और चरखे के प्रचार के लालच से जा रहा हूँ। अधिकारियों को खादी-प्रेमी बनाने जा रहा हूँ और राजाओं से अपने धर्म की तरफ ध्यान देने के लिए प्रार्थना करने जा रहा हूँ। अगर खादी और चरखे की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, तो समझ लीजिए कि राष्ट्रीय स्नातकों की भी बढ़ेगी ही; क्योंकि जो चरखाशास्त्र को घोल कर नहीं पी गए, वे राष्ट्रीय स्नातक नहीं। मैं इस तरह का वातावरण काठियावाड़ में पैदा करने के लोभ से जा रहा हूँ कि जैसे अधिकारियों को होशियार अंग्रेजी जानने वाले मंत्री की जरूरत पड़ती थी, वैसे अब होशियार चरखाशास्त्री की जरूरत हो।

अब लिखने वाले भाई की दो-तीन भूलें सुधारने की इजाजत लेता हूँ। यह खयाल ठीक नहीं कि असहयोगी विद्यार्थी और लोगों की तरह अपना असहयोग मुलतवी नहीं कर सकता। दुःख और शर्म की बात तो यह है कि हजारों विद्यार्थी असहयोग करने के बाद वापस सहयोगी बन गए और अब भी बनते जा रहे हैं। दुःख और शर्म की बात तो यह है कि कुछ असहयोगी स्नातकों ने राष्ट्रीय प्रमाणपत्र लेकर भी सरकारी परीक्षाएँ दी हैं। इससे उलटे कितने ही वकीलों की सनदें अदालतों ने छीन ली हैं और वे जबरदस्ती असहयोगी-जैसे बन गए हैं। इसके सिवाय कितने ही सरकारी नौकरों की, जो नौकरियाँ छोड़े बैठे हैं, हालत दीन न लग कर बादशाहों-जैसी लगती है; क्योंकि जहाँ सरकारी नौकरी में वे पराधीन थे, वहाँ अब नौकरी छूटने पर स्वाधीन हैं, स्वतंत्र हैं और इसलिए अपने को भाग्यवान समझते हैं।

"इसलिए जो विद्यार्थी निराश हो गए हैं, उन्हें मैं कहना चाहता हूँ कि उन्हें नाउम्मीद होने का कोई कारण नहीं। इतना ही नहीं, उन्हें तो आगे बढ़ना है। हाँ, इसमें एक शर्त है। असहयोगी विद्यार्थियों के बारे में यह खयाल होता है कि वे ईमानदार, निडर, संयमी, उद्यमी और देशसेवक होते हैं। ऐसे विद्यार्थियों के लिए कभी निराशा का कारण नहीं। उन पर देश का उद्धार निर्भर है। उन्हीं पर आजादी की देवी का स्वर्णमंदिर खड़ा होगा।"

शिक्षा में असहयोग

(१)

('विद्यार्थी क्या करें' शीर्षक लेख से)

"असहयोग के दूसरे हिस्सों में चाहे जो तब्दीलियाँ हों, पर राष्ट्रीय पाठशालाओं का काम तो चलना ही चाहिए, चलेगा और न चले तो जनता की नाक कट जाएगी।

"इतना ही नहीं, समय पाकर राष्ट्रीय स्कूल बढ़ने चाहिए। स्वराज्य मिलने पर असहयोगी वकील अदालतों में वकालत करने जाएँगे, मगर असहयोगी स्कूल कायम ही रहेंगे। दूसरे स्कूल उन स्कूलों के माफिक होंगे, असहयोगी पाठशालाएँ सरकारी पाठशालाओं के माफिक नहीं होंगी। यह स्वराज्य भले ही आज न आए, भले ही उसे जुग-जुग लग जाए, मगर उस वक्त जो असहयोगी पाठशालाएँ मौजूद होंगी, वे नमूने की होंगी और जनता उन पर न्योछावर होगी।

"इसलिए मुझे कहना चाहिए कि जहाँ-जहाँ असहयोग मुलतवी करने की मेरी सूचना से घबराहट पैदा होती है, वहाँ-वहाँ मैं असहयोग के बारे में अश्रद्धा

देखता हूँ। जिसे अपने उसूल के बारे में या काम के बारे में श्रद्धा होगी, यह दूसरे की अश्रद्धा से या दूसरे के त्याग से क्यों डरेगा, क्यों घबराएगा, क्यों अनिश्चित बनेगा ? श्रद्धालु आदमी दूसरे की अश्रद्धा से दुगुना पक्का बनता है। सुरक्षित आदमी रक्षकों के न रहने पर जैसे असावधानी छोड़ कर सावधान बनता है, वैसे श्रद्धालु अपने साथियों को भागते हुए देखकर खुद दृढ़ बन कर शेर की तरह अकेला जूझता है और पहाड़ की तरह अटल रहता है।"

'नवजीवन' २३-११-२४

(२)

('असहयोग और शिक्षा' शीर्षक लेख से)

"असहयोग के एक भी अंग के बारे में मैं खुद जरा भी ढीला नहीं पड़ा हूँ। शिक्षा के बारे में मेरे विचार जो १९२०-२१ में थे, वे ही आज भी हैं, और अगर मुझमें विद्यार्थियों को या उनके बड़ों को समझाने की ताकत हो, तो एक भी विद्यार्थी सरकारी पाठशालाओं में न रहे। 'नवजीवन' में इस मामले की चर्चा जो बार-बार नहीं होती, उसका कारण यही है कि अब भाषणों या लेखों द्वारा समझा कर सरकारी स्कूल खाली कराने की बात नहीं रह गई। अब तो जो पाठशालाएँ असहयोग पर कायम रही हैं, उनको पालना-पोसना है। मुझे दुःख के साथ इतना कबूल करना चाहिए कि खादी की तरह राष्ट्रीय शिक्षा का काम बढ़ नहीं रहा है। संख्या के ख्याल से उसमें कमी होती जा रही है। उस कमी का मौके से जिक्र करने में मुझे संकोच नहीं होता। पर, वह जिक्र हमेशा करना जरूरी नहीं। मगर उस कमी से मुझे जरा भी डर नहीं लगता। अगर हम श्रद्धा न छोड़ें, तो इस भाटे के बाद ज्वार आकर ही रहेगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो स्कूल असहयोग पर कायम हैं, वे शुद्ध भाव से डटे रहें और असहयोग के उसूलों को जरा भी ढीला न होने दें, तो नतीजा अच्छा ही होगा। अब असहयोग का काम न देखादेखी करना है और न किसी 'पालिसी' या तरकीब के वश होकर करना है। जो असहयोगी रहे हैं, वे आत्म-विश्वासपूर्वक अपने बल पर लड़ते हैं। संभव है, उन्हें अब भी मुश्किल वक्त में से गुजरना पड़े। पर ऐसा हुआ, तो जैसे कुंदन की जाँच तपने पर ज्यादा होती है, वैसे ही असहयोगियों की भी होगी। जो आखिर तक डटे रहेंगे, वे ही सच्चे असहयोगी माने जाएँगे। वे भले ही एक हों या अनेक, मगर स्वराज्य उन्हीं से मिलेगा।"

'नवजीवन' ३०-५-२६

(३)

('विद्यार्थी और असहयोग' शीर्षक लेख से)

"बर्लिन या और किसी यूरोप की युनिवर्सिटी में जाने की इच्छा असहयोग की वृत्ति नहीं दिखाती। यह तो अंग्रेजी कपड़ा छोड़ कर जापानी कपड़ा लेने की वृत्ति-जैसी है।

हम अंग्रेजी कपड़ा नहीं लेते, इसका कारण यह नहीं कि वह अंग्रेजी है, बल्कि यह है कि वह कपड़ा हमारे गरीबों से उनके बाप-दादों का धंधा छीन लेता है और उन्हें ज्यादा गरीब बनाता है। जापानी कपड़ा भी अंग्रेजी कपड़े के बराबर ही गरीबों को लूटता है। इसी तरह सरकारी संस्थाओं को हम छोड़ते हैं, तो इस-लिए कि वे नुकशान पहुँचाने वाली हैं। इसलिए उन्हें छोड़ कर हम दूसरे नाम वाली वैसी ही संस्थाओं में तो न जाएँ और मानते रहें कि हम असहयोगी हैं। असह-योग का अर्थ है—आर्य-संस्कृति में जो अच्छी-से-अच्छी चीज है, उसके साथ सह-योग। यह सहयोग की शक्ति हम बर्लिन जाकर पैदा नहीं कर सकते। हमें अपने तमाम प्रयोग हिंदुस्तान में ही करने चाहिए। इसलिए हमारे पास ज्यादा नहीं, तो काम चलाने जैसी संपूर्ण और कार्य-साधक संस्था है, तब तक तो सरकारी स्कूलों को छोड़ना ही पहली सीढ़ी है और देश के लिए ऐसे ही विद्यार्थियों का त्याग समय पा कर ज्यादा फायदेमंद साबित होगा।

लेकिन जिसे अपने त्याग पर पछतावा होता हो या असंतोष होता हो, उसे सरकारी संस्थाओं में जाने में जरा भी संकोच न करना चाहिए; क्योंकि यह तो आदर्श आदर्श के बीच का झगड़ा है और अगर असहयोग का आदर्श अच्छा होगा और हिंदुस्तान के वातावरण के अनुकूल होगा, तो वह सभी तरह की रुकावटों को पार करके सफल होगा।"

'नवजीवन' १८-७-२६

असहयोग नाकामयाब हुआ ?

"बार-बार अखबारों में पढ़ने में आता है कि असहयोग पूरी तरह असफल रहा। कितने ही विनयी समालोचक अकसर माफी माँग कर बातचीत में यह सवाल उठाते हैं और धीरे से मुझे कहते हैं कि अगर मैं अपने विचारहीन असहयोग से देश को उलटे रास्ते न ले गया होता, तो देश ने बड़ी प्रगति की होती। ऐसा कहा जा सकता है कि इस प्रश्न का मौजूदा राजनीति के साथ कोई संबंध नहीं, फिर भी मैंने इसका उल्लेख इसीलिए किया है कि असहयोग के रूप में एक जाग्रत ताकत हमें मिली है। मेरी श्रद्धा है कि वह कभी भी विराट् स्वरूप धारण कर लेगा और जो लोग आलोचना और शंकाशीलता का मुकाबला करते हुए बहादुरी के साथ असहयोग पर

डटे हुए हैं, मुझे उन्हें हिम्मत बंधानी है। फिर भी एक भयंकर अर्द्धसत्य मैं मान लेता हूं कि जिस क्षण असहयोग हिंसात्मक बना, उसी क्षण वह पूरी तरह असफल साबित हो जाए। असल में देखें, तो 'असहयोग' और 'हिंसा' ये दो शब्द इस जगह एक दूसरे के खिलाफ हैं। हिंसा आत्मघाती है और उसके सामने प्रतिहिंसा हो, तभी वह जी सकती है। इसी जीती-जागती श्रद्धा से ही तो अहिंसात्मक असहयोग का जन्म हुआ है। इसलिए जिस क्षण असहयोग में हिंसा घुसी, उसी क्षण उसका प्राण और राष्ट्र का संगठन करने की उसकी शक्ति चली गई। पर, यह साफ है कि जिस हद तक वह अहिंसात्मक था और रहा, उस हद तक वह पूरी तरह कामयाब रहा। १९२० ई० में एकाएक जो आम जागृति की ज्वाला प्रगट हुई, उसमें अहिंसा की शक्ति का सबसे अच्छा प्रदर्शन हुआ कहा जा सकता है। सरकार की जो प्रतिष्ठा चली गई है, वह अब वापस आने वाली नहीं है। सरकारी खिताबों, अदालतों और शिक्षण-संस्थाओं का जो असर १९२० ई० में पड़ता था, वह अब नहीं रहा। देश के कितने ही पहले दरजे के वकीलों ने हमेशा के लिए वकालत का पेशा छोड़ दिया है और वे गरीबी स्वीकार करके सुखी हुए हैं। जो थोड़े-बहुत राष्ट्रीय स्कूल-कॉलेज चल रहे हैं, वे अपनी सेवा का सुंदर हिसाब दे रहे हैं। जिस गुजरात के हरे-भरे बगीचे को बाढ़ ने मरुभूमि बना दिया था, वहीं देखिए कि संकट-निवारण के लिए कैसा संगठन बन गया है। अगर राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थी और शिक्षक और दूसरे असहयोगी न होते, तो गुजरात के दुःखी किसानों के लिए जो मदद निहायत जरूरी थी और जो उन्हें वक्त पर मिल गई, वह हरगिज नहीं मिल सकती थी। ऐसे कई दृष्टांत देकर यह साबित किया जा सकता है कि हिंदुस्तान में जहां-जहाँ सच्चा राष्ट्रीय जीवन है, जहाँ-जहां सफेदपोश लोगों और आम जनता में मेल हैं, वहाँ-वहां इसका श्रेय असहयोग को ही देना पड़ेगा।

"साथ ही इस कार्यक्रम के तीन रचनात्मक अंगों का विचार कीजिए। राष्ट्र को फिर से ऊँचा उठाने में खादी का हाथ बढ़ता जा रहा है। लगभग दो हजार सेवकों की सेना के द्वारा खादी १५०० से ज्यादा गाँवों में मदद पहुँचा रही है और ५०००० से ज्यादा कत्तिनों को वह कम-से-कम दसेक हजार जुलाहों, रंगरेजों, छीपियों, धोबियों और ऐसे ही दूसरे कारीगरों को राहत दे रही है। अस्पृश्यता मुर्दा हालत में पहुँच गई है और आखिरी साँस ले रही है। हिंदू-मुसलमानों की एकता में कितनी शक्ति भरी है, यह १९२०-२१ की एकता ने बता दिया था। आज इन दो बडी कौमों में पड़ी हुई फूट में जो हिंसा, दगाबाजी और झूठ वगैरा दिखायी देती है, वे जरूर बेहुदा चीजें हैं, मगर ये भी थोड़ी-बहुत अस्मिता की ही निशानियाँ हैं।

असहयोग आंदोलन एक मंथनक्रिया थी और है। इस मंथन से कूड़ा-कचरा ऊपर आ गया है। और अगर अहिंसात्मक असहयोग को भी जाग्रत और पवित्र शक्ति होगी, तो इस वक्त ऊपर तैरते दीखने वाले और हमारी नजर को रोक रखने वाले कचरे के नीचे एकता का जो निर्मल नवनीत तैयार हो रहा है, वह थोड़े ही समय में हमारे सामने आ जाएगा। इसलिए मुझे तो दीपक की तरह साफ दिखायी देता है कि सच्चा स्वराज्य इस वक्त आएगा, तब वह लंदन की कृपादृष्टि के रूप में नहीं आ टपकेगा, बल्कि पाप की व्यवस्थित शक्ति के साथ कड़ा और आरोग्यदायक असहयोग करके ही हमें उसे लेना होगा।"

'नवजीवन' १३-११-२७

शिक्षकों से

('शिक्षक-परिषद्'[1] शीर्षक लेख)

"यह परिषद् आई और चली गई। शिक्षकों के खयाल से और जनता के खयाल से भी यह परिषद् महत्त्व की मानी जानी चाहिए। लेकिन, यह ऐसा समय नहीं कि दोनों में से कोई भी उसे महत्त्व दे। शिक्षकों की कीमत न उनकी अपनी नजर में है, न जनता की नजर में। कीमत का अंदाज उनके वेतन से लगाया जाता है। शिक्षकों का वेतन एक मुंशी से भी कम होता है। इस तरह रिवाज के माफिक शिक्षक की कीमत मुंशी से कम होती है। क्या इसीलिए हम शिक्षक को मुंशीजी कहते होंगे?

"तो शिक्षक की कद्र कैसे बढ़े? सात लाख गाँवों के सात लाख शिक्षकों का वेतन कोई बढ़ा सकता है? इतने ज्यादा शिक्षकों का वेतन न बढ़े और बढ़ाना जरूरी माना जाए, तो थोड़े से गाँवों में महँगे शिक्षक रख कर बाकी गाँवों को शिक्षणरहित रख कर काम चला लिया जाए। अंग्रेजी राज कायम होने के बाद हम ऐसा ही करते आए हैं। हम देखते हैं कि यह तरीका गलत है। इसलिए हमें ऐसी तरकीब ढूँढनी चाहिए, जिससे सब गाँवों को शिक्षा दे सकें। वह युक्ति यह है कि शिक्षकों की कीमत वेतन से न आँकी जाए और शिक्षक वेतन को गौण समझ कर शिक्षा को ही मुख्य समझें। सार यह कि शिक्षा ही शिक्षक का धर्म माना जाना चाहिए। यह यज्ञ किए बिना जो शिक्षक खाए, उसे चोर समझना चाहिए। ऐसा होने से शिक्षकों

---

१. यही परिषद् राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् थी, जिसके अध्यक्ष की हैसियत से दिया हुआ व्याख्यान पिछले प्रकरण में दिया गया है।

की कमी नहीं रहेगी और भी उनकी कीमत करोड़पति से करोड़ गुनी ज्यादा मानी जाएगी। हर एक शिक्षक अपनी भावना बदल कर आज भी यह स्थान पा सकता है।

"इस परिषद् को सफल बनाना, न बनाना शिक्षकों के हाथ में है। शिक्षकों की प्रतिज्ञा में सफलता की कुंजी है। शिक्षक धर्म समझ कर कताई-संबंधी सारी क्रियाएँ सीख लें और हर महीने कम-से-कम ३००० गज सूत कांग्रेस को भेंट करें, तो शिक्षा-परिषद् बहुत कुछ कामयाब मानी जाएगी। इतना तो हर शिक्षक करके दिखा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षकों का अभी का काम स्वराज्य लेने में मदद देना है। सूत कातना और खादी पहनना कम-से-कम और पहली मदद है। जो इतना करते हैं, वे और सब कुछ करते हैं। और सब कुछ करने पर भी जो यह नहीं करता, वह कुछ नहीं करता।

"और गीता के न्याय से जैसा बड़े लोग करते हैं, वैसा ही और लोग करते हैं। इसी तरह जैसा शिक्षक करेंगे, वैसा ही शिष्य करेंगे। इस तरह जनता को सहज में शिक्षक और शिष्यों की तरफ से बड़ी भेंट मिलेगी।

"दूसरी कसौटी छुआछूत की है। शिक्षकों में आत्मबल होगा, तो वे अपनी पाठशाला में अछूतों को जरूर खींच लाएँगे। इससे पाठशाला टूट भी जाए, तो क्या हुआ? धर्म के पीछे स्कूल है, स्कूल के लिए धर्म नहीं है। बच्चों को अगर अस्पृश्यता छोड़ने का पदार्थ पाठ न दिया जाए, तो बच्चे और क्या सीखेंगे? कोई माँ-बाप यह कहें कि "हमारे लड़कों को बहुत सचाई न सिखाना, नहीं तो हमारे बच्चे व्यापार के लायक नहीं रहेंगे।" तो शिक्षक क्या कहेगा? क्या वह बच्चों को छोड़ नहीं देगा? सचाई के बिना इतिहास, भूगोल या अंकगणित क्या फायदा पहुँचाएँगे? इस तरह शिक्षक अपने गाँव के मुसलमानों, पारसियों और दूसरी कौमों से भी अपने बच्चों को राष्ट्रीय पाठशाला में भेजने की प्रार्थना जरूर करेगा।

शिक्षक गुजारे को भूल कर शिक्षा देने के अपने फर्ज को ही याद रखें, तो ही स्कूलों में नई जान आए और स्कूल सचमुच राष्ट्रीय बनें, तो ही राष्ट्रीय हलचल में उसका उपयोग हो। जिसे हमने अंगीकार कर लिया, उनके लिए वफादार रहना तो बूढ़े, बच्चे, स्त्री-पुरुष सभी के लिए पहला सबक है।"

'नवजीवन' १०-८-२४

राष्ट्रीय शिक्षा की मर्यादा

(१)

('महाविद्यालय में गांधीजी' शीर्षक लेख से)

"महाविद्यालय के विद्यार्थियों को कुछ बातें समझ ही लेनी चाहिए। जिस

बुनियाद पर इस विद्यालय की इमारत खड़ी हुई है, उसे इस संस्था में आने वाले हरएक आदमी को जान लेना चाहिए। इसके बिना यह राष्ट्रीय महाविद्यालय राष्ट्रीय नहीं रहता। स्वराज्य के जो-जो साधन सोचे गए हैं, वे समझने चाहिए। उन्हें समझ कर उन पर अमल नहीं करेंगे, तो दुनिया को धोखा देंगे। विद्यालय में खूब विद्या प्राप्त की हो, अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान हो, संस्कृत का इतना बढ़िया उच्चारण करते हों कि काशी के पंडित भी सिर झुकाएँ, तो भी उसमें कुछ नहीं रखा। यहां तो तुम्हें ये चीजें मिलेंगी नहीं। कोई-न-कोई अलौकिक चीजें लेनी हैं। दूसरी सब चीजों से वे ऊपर हैं। ये चीजें हैं चरखा, अछूत से मिलना और हिंदू, मुसलमान और पारसी कौमों की एकता कायम करना। तुम किसी अछूत के लड़के से मिले हो? किसी मुसलमान या पारसी के लड़के से मिलते हो? और क्या उसे समझाते हो कि महाविद्यालय में उनके लिए गुंजाइश है? उनसे महाविद्यालय में आने की प्रार्थना करते हो? इतना करने पर भी वे न आएँ, तो कसूर तुम्हारा नहीं, विधाता का ही है।

"बाहर से कोई आदमी तुम्हारा इम्तहान लेने आए, तो वह अंग्रेजी, गुजराती या संस्कृत की जानकारी बताने वाले तुम्हारे जवाब से मोहित नहीं होगा। वह तो दूर से ही देख लेगा कि तुम्हारे यहाँ चरखा चलता है या नहीं, अस्पृश्यता को निकाल दिया गया है या नहीं। किसी भी देखने वाले को दीखना ही चाहिए कि चरखा, अस्पृश्यता और हिंदू मुसलमानों की एकता के बारे में यहाँ अच्छा काम हो रहा है। इनके अलावा दूसरी बातों में तुम पास हो जाओ; तो उसमें कुछ नहीं - तुमने महाविद्यालय में बिताए हुए वर्ष व्यर्थ ही गँवाए।"

'नवजीवन' १०-८-२४

(२)

(तिलक विद्यापीठ के पदवीदान समारंभ के मौके पर दिए हुए भाषण से)

"तुम जो विद्या सीख रहे, उसका उद्देश्य स्वराज्य है। गुजरात में मैं जो कुलपति बन कर बैठा हूँ, तो वह भी स्वराज्य के लिए लड़नेवालों की हैसियत से बैठा हूँ और इस मकसद से बैठा हूँ कि विद्यार्थियों को स्वराज्य के सिपाही बना कर निकालूँ। मैं ६ अगस्त, १९१४ के ई० दिन विलायत में उतरा था। वहाँ मैंने क्या देखा? जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे तमाम 'इन्स' बंद होती गईं। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज में भी पढ़ाई का काम बहुत कुछ बंद हो गया। विद्या को उन्होंने लड़ाई के मुकाबले गौण स्थान दिया। और दें भी क्यों नहीं? विद्या का फल यह है कि विद्यार्थी बढ़िया नागरिक बने, उत्तम देशसेवक बने और देश, समाज और गृहस्थाश्रम को सुशोभित करे।

"कोई नया आया हुआ अंग्रेज यहाँ की सरकारी संस्थाओं को देख कर तुम्हारी संस्था देखने आवे, तो यहाँ क्या देखने की आशा रखेगा ? क्या वह तुम्हारे मकान देखेगा, विद्वान शिक्षक देखेगा, तुम्हें अंग्रेजी में बोलते हुए सुनने की उमीद रखेगा ? नहीं, वह यहाँ कोई नई तस्वीर देखने की आशा रखेगा। दूसरी सब संस्थाओं में उसे कताई देखने को नहीं मिली होगी। यहाँ वह कताई-बुनाई देखना चाहेगा। तुम्हारे आँगन में कपास पैदा होती देखना चाहेगा। तुम्हारी सूत देखना चाहेगा और अच्छी सूत देखेगा, तो मन में कहेगा कि मैंचेटर पर आफत आ रही है। मोटी सूत देखेगा, तो कहेगा कि मैंचेस्टर को चिंता नहीं। वह तुमको साहब बने हुए देखने की उम्मीद नहीं रखेगा, वह तुम्हें गरीबों-जैसे देखने की आशा रखेगा। तुम्हें अपनी भाषा में ही काम-काज चलाते हुए देखने की आशा रखेगा।

"तुम्हारे लिए अच्छी अंग्रेजी बोलने वाले शिक्षक मिलें, इसमें कुछ नहीं। हिंदी या मराठी के जरिए पढ़ाने वाले, भिखारी, धार्मिक, सब कुछ त्याग करने वाले शिक्षक तुम्हारे यहाँ हों, यही तुम्हारा भूषण है। भले ही विद्वत्ता में वे औरों से हार जाएँ। मैं तुमसे यही चाहता हूँ कि तुम विद्यापीठ की मर्यादा जान लो और उसके ध्येय को अच्छी तरह समझ लो !"

'नवजीवन' १४-९-२४

गुजरात महाविद्यालय की स्थापना

('कुलपति का भाषण':१५-११-'२०)

" अपनी जिंदगी में मैंने बहुतेरे काम किए हैं। उनमें से बहुत से कामों के लिए मैं अपने मन में गर्व भी करता हूँ, कुछ के लिए पछतावा भी होता है। इनमें से बहुत से बड़ी जिम्मेदारी के भी थे। पर, अभी जरा भी अतिशयोक्ति किए बिना मैं कहना चाहता हूँ कि मैंने ऐसा एक भी काम नहीं किया, जिसके साथ आज के काम का मुकाबला हो सके। इस काम में मुझे बड़ी जोखम लगती है। यह इसलिए नहीं कि उससे जनता का नुकसान होगा। पर, मुझे जिस बात का दुःख हुआ करता है या मैं अपने मन में जिसका मुकाबला कर रहा हूँ, वह यही है कि मैं जो काम करने बैठा हूँ, उसके लिए मैं लियाकत नहीं रखता। यह मैं विवेक-दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ, बल्कि जो कुछ मेरी आत्मा कह रही है, उसी का चित्र आपके सामने रख रहा हूँ। मुझे अगर पता होता कि अभी जो काम करना है, वह शिक्षा के सच्चे अर्थ के आधार पर करना है, तो मुझे यह प्रस्तावना न करनी पड़ती। इस महाविद्यालय की स्थापना करने का मकसद सिर्फ विद्या देना नहीं है, बल्कि गुजारे का साधन जुटा देना भी है,

और इसलिए जब मैं इस विद्यालय की तुलना गुजरात कॉलेज आदि से करता हूँ, तब मुझे चक्कर आ जाते हैं।

"इसमें भी अतिशयोक्ति नहीं। कहाँ गुजरात कॉलेज और ऐसे ही दूसरे कॉलेज और कहाँ हमारा यह छोटा-सा महाविद्यालय। मेरे खयाल से तो यह बड़ा ही है। पर, मुझे डर है, तुम्हारी नजर में हिंदुस्तान के कॉलेजों के मुकाबले में यह महाविद्याल अणु-विद्यालय लगता होगा। इस विद्यालय का विचार करते वक्त तुम्हारे मन में ईंट-चूने की तुलना होती होगी। ईंट-चूना तो मैं गुजरात कॉलेज में ज्यादा देखता हूँ। रेल में आ रहा था, तब मैं यही विचार करता आ रहा था कि तुम्हारे सामने आज मैं क्या विचार रखूँ, जिससे यह ईंट-चूने की तुलना तुम्हारे दिल से निकाल सकूँ। यह बात मुझे चुभ रही है कि यह विचार मुझे अभी तक नहीं सूझा। ऐसा कठिन अवसर मैंने अपने लिए पहले कभी पैदा नहीं किया। इस वक्त अनायास यह मेरे माथे आ पड़ा है। मेरे दिल के अंदर जो चीज सिद्ध है, उसे मैं तुम्हारे सामने उसी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। यह मैं किस तरह बताऊँ कि जिसे तुम खामी समझते हो, वह खामी नहीं? इन खामियों को सरल भाव से बता कर भाई किशोरलाल (महामात्र) ने मेरा काम आसान कर दिया है। तुम यह मानना कि इन खामियों के होने पर भी यह काम बड़ा है। मेरे दिल में इसके लिए जो श्रद्धा है; वैसी ही श्रद्धा परमात्मा तुममें पैदा करे। मैं वह श्रद्धा तुममें पैदा नहीं कर सकता, मेरी इतनी तपस्या नहीं। मुझे अपनी असमर्थता मंजूर करनी चाहिए। मैंने शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा काम नहीं किया कि मैं तुम्हें बता सकूँ कि यह काम बड़े-से-बड़ा है। हिंदुस्तान की आज की परिस्थिति में हम जो काम कर रहे हैं, वही शोभा देता है। मकानों की क्या तुलना?

"आज तो एक इंच जमीन भी हमारी नहीं है। सब कुछ सरकार का है। यह जमीन, ये पेड़, सब कुछ सरकारी हैं। शरीर भी सरकार का है और आज मुझे इसमें भी शंका हो रही है कि हमारी आत्मा भी हमारी अपनी है या नहीं। ऐसी दयाजनक हालत में हम महाविद्यालय के लिए अच्छे-से अच्छे मकान क्यों ढूँढे? विद्वानों को ढूँढते रहें, तो कैसे काम चले? कोई अज्ञानी-से-अज्ञानी और अनाड़ी आदमी भी आ कर कहे और समझा सके कि हमारी आत्माएँ सूख गई हैं और यह देश निस्तेज और अज्ञान हो गया है, तो उस मनुष्य को मैं आचार्य की पदवी दूँगा। मुझे यकीन नहीं कि तुम किसी गड़ेरिये को आचार्य का ओहदा देने को तैयार होगे। इसलिए हमें भाई गिडवानी को ढूँढना पड़ा है। मैं इनकी उपाधि पर मोहित नहीं। तुम इन्हें इनकी उपाधि के सिवाय और तरह से शायद न पहचानते होगे। पर, इस

विद्यालय की जाँच के लिए दूसरा आँक अखना। मैं चाहता हूँ कि इसकी परख के लिए तुम दूसरी कसौटी ढूंढो। मामूली कसौटी पर कसोगे, तो यह पीतल-सा दिखायी देगा; पर चरित्र की कसौटी पर कसोगे, तो ये तुम्हें पीतल नहीं, खरा सोना दिखायी देगा।

"यहाँ इस विद्या के काम के लिए जो संगम हुआ है, वह तीर्थ की तरह है। यहाँ चरित्रवान लोग इकट्ठे हुए हैं। सुंदर सिंधियों, सुंदर महाराष्ट्रियों और सुंदर गुजरातियों का मिलाप हुआ है। ऐसा संगम हमें कहाँ से मिल सकता है?

"यहाँ जो भाई और बहन आए हैं, पहले उनसे मैं प्रार्थना करूँगा। इस महाविद्यालय की स्थापना के आप गवाह हैं। आप में से किसी को भी यह स्थापना करना तमाशा-सा लगता हो, तो उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि आप इस स्थापना में न बैठिए। आप यहाँ वपना आशीर्वाद देने के लिए ही बैठना। आपका आशीर्वाद मिलने से महाविद्यालय महान् बन जाएगा। मगर वह मूँह से ही नहीं, दिल से दिया जाना चाहिए। दिल से आशीर्वाद तो आप अपनी लड़के-लड़कियों को महाविद्यायल भेज कर ही दे सकते हैं। हिंदुस्तान में रुपया देने की शक्ति बहुत है। रुपए की कमी से कोई तरक्की नहीं रुकती। काम रुकता है तो आदमियों की कमी से, अध्यापकों या मुखिया के अभाव से और मुखिया हो, तो उसके शिष्यों के यानी सिपाहियों के अभाव से। मैं मानता हूँ जहाँ नेता लायक होते हैं, वहाँ सिपाही मिल ही जाते हैं। अपने औजार कितने ही भोंथरे हों, तो भी बढ़ई कभी उनके साथ झगड़ा नहीं करता। वह भोंथरे-से-भोंथरे औजारों से भी अपना काम निकाल लेगा। इसी तरह मुखिया भी सच्चा कारीगर होगा; तो जैसी चीज मिलेगी, उसी से देश की मिट्टी में से सोना पैदा कर लेगा। आचार्य से मेरी यही प्रार्थना है।

"आचार्य और अध्यापकों की यहाँ काम करने में एक ही भावना है विद्या का नहीं, बलिक चरित्र का चमत्कार दिखा कर तुम आजादी दिलाने वाले हो। सरकार की तेज तलवार का मुकाबला तलवार से करके नहीं, बल्कि सरकार की अशांत करने वाली राक्षसी प्रवृत्ति का अपनी शांतिमयी दैवी प्रवृत्ति से—भले ही वह अपूर्ण हो तो भी—मुकाबला करके। इस वक्त हमें आजादी का बीज बोकर व उसे पानी पिला कर उससे स्वराज्य का सुंदर वृक्ष पैदा करना है। वह चरित्र से, शुद्ध दैवी बल से ही बड़ा होगा। जब तक आचार्य और अध्यापक यही एक दृष्टि रख कर काम करते रहेंगे, तब तक हमारी जरा भी बदनामी न होगी। आचार्य और अध्यापकों के बारे में मेरी जो श्रद्धा है, वह ईश्वर सच्ची साबित करे। यह अटल श्रद्धा मुझमें न होती, तो मैं बेपढ़ा आदमी यह कुलपति का पवित्र स्थान मंजूर

न करता। मैं इसी काम में जीने और मरने के लिए तैयार हूँ। जैसे इस काम में मरने को ही मैं जीना समझता हूँ, वैसे ही आप भी समझते हैं, यह जान कर ही मैं आपके साथ रहता हूँ और इसलिए इस बड़े ओहदे को मैंने मंजूर किया है।

"अगर आचार्य और अध्यापक अपना धर्मपालन करें, तो विद्यार्थियों को मुझे क्या कहना है? विद्यार्थियों पर इलजाम लगाने का नीच काम मैं नहीं करूँगा। विद्यार्थी तो परिस्थिति का आइना है। उनमें दंभ नहीं, द्वेष नहीं, ढोंग नहीं। वे जैसे हैं, वैसे ही अपने को दिखाते हैं। अगर उनमें पुरुषार्थ नहीं, सत्य नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, अस्तेय नहीं, अपरिग्रह नहीं और अहिंसा नहीं, तो यह उनका दोष नहीं, दोष माँ-बाप का है, अध्यापकों का है, आचार्य का है, राजा का है। पर, इसमें राजा को भी क्या दोष दिया जाए? कल ही मैंने बंबई में विद्यार्थियों से कहा था कि जैसे 'यथा राजा तथा प्रजा' सच है; वैसे 'यथा प्रजा तथा राजा' भी सच है, बल्कि यही सच कहा जाएगा। पहला दोष जनता का है। जनता के दोष विद्यार्थियों में आए हैं और इसलिए वे विद्यार्थियों में साफ तौर पर दिखाई देते हैं। तो हमें—माँ-बाप, आचार्य और अध्यापकों को—वे खराबियाँ दूर करने के लिए जो कुछ करना जरूरी हो, वह करना चाहिए।

"हिंदुस्तान का हर एक घर विद्यापीठ है—महाविद्यालय है, माँ-बाप आचार्य है। माँ-बाप ने यह आचार्य का काम छोड़ कर अपना धर्म छोड़ दिया है। बाहर की सभ्यता को हम पहचान नहीं सके, उसके गुणों और दोषों का अंदाज नहीं लगा सके। बाहर की सभ्यता को हमने किराए पर ले लिया, मगर हम किराया कुछ नहीं देते, इसलिए हमने उसे चुरा लिया है। ऐसी चोरी की सभ्यता से हिंदुस्तान कैसे ऊँचा उठ सकता है?

"हम इस विद्यालय की स्थापना विद्या की दृष्टि से नहीं, बल्कि राष्ट्रीय दृष्टि से करते हैं, विद्यार्थियों को बलवान और चरित्रवान बनाने की खातिर करते हैं। मैं चारों तरफ कह रहा हूँ कि मुझे जितनी कामयाबी विद्यार्थियों में मिलेगी, उसी हद तक हम हिंदुस्तान को स्वराज्य के लायक हो सकेंगे। स्वराज्य और किसी तरह कायम नहीं हो सकता। ऐसे विद्यालयों को सफल बनाने के लिए हम अपना रुपया, अपना चरित्र जितना खर्च कर सकें, उतना थोड़ा है।

"यह बोलने की बात नहीं, करने की बात है। मेरे दिल में जो बात आई, वह मैंने आपसे कह डाली है। आपसे जो माँगना था, माँग लिया। अब पढ़ने वाले विद्यार्थियों से भी माँगता हूँ। इसमें शक नहीं कि उनके पास साहस है। जो भरती हो चुके हैं, उन्हें मैं विद्यार्थी नहीं समझूँगा। यानी उन्हें मैं जिम्मेदारी से मुक्त नहीं

समझूँगा। जिन विद्यार्थियों ने यहाँ नाम लिखाया है, वे आधे शिक्षक माने जाएँगे। उन्होंने महाविद्यालय की नींव डाली है। उन्हीं पर महाविद्यालय की इमारत खड़ी हुई है। वे भरती न हुए होते, तो महाविद्यालय खड़ा ही नहीं हो सकता था। इसलिए उनकी भी पूरी जिम्मेदारी है। तुम उसके पूरी तरह साझीदार हो और तुम अपना हिस्सा पूरी तरह न दो, तो शिक्षक कितनी ही कोशिश करें, तो भी सफल नहीं होंगे. पूरी तरह सफल तो हो ही नहीं सकते। जिन विद्यार्थियों ने अपने स्कूल छोड़े हैं, उन्हें जान लेना चाहिए कि वे क्या समझ कर यहाँ आए हैं, उन्हें यहाँ क्या मिलेगा। परमात्मा उनमें ऐसी शक्ति भर दे कि कितने ही समय तक यह भयानक लड़ाई चले, तो भी इस बीच वे अपना काम करते रहें। ऐसा हुआ, तो मुझे भरोसा है कि मुट्ठी भर विद्यार्थी होंगे, तो भी यह महाविद्यालय शोभा पाएगा और सारे हिंदुस्तान में आदर्श विद्यालय बनेगा।

"इसका कारण न गुजरात का धन है, न गुजरात की विद्या; पर इसका कारण यह है कि असहयोग की पैदाइश की जगह गुजरात है। असहयोग की जड़ गुजरात में जमी है, उसकी सिंचाई गुजरात में हुई है और उसके लिए तपस्या भी गुजरात में हुई है। इस पर से यह न मान लेना कि यह आदमी झूठा घमंड करता है। यह न मानना कि यह सारी तपस्या मैंने ही की है, या यह जड़ मैंने ही जमाई है। मैंने तो सिर्फ मंत्र दिया है। एक वनिए का बेटा अगर ऐसा कर सकता हो, तो मैंने यह ऋषि का काम किया है।

"इससे ज्यादा मैंने कुछ नहीं किया। उसकी जड़ तो मेरे साथियों ने जमाई है। उनकी श्रद्धा मुझसे भी ज्यादा थी, तभी तो काम हुआ। मेरा दावा है कि मुझे अनुभव-ज्ञान है। देवता भी आकर समझाएँ, तो मेरी श्रद्धा हिल नहीं सकती। जैसे इन आँखों से मुझे सामने के पेड़ साफ दिखाई देते हैं, वैसे मुझे लगता है कि हिंदुस्थान की उन्नति शांत असहयोग से ही होगी। पर, मेरे साथियों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने तर्क से, दलील से, श्रद्धा से माना है कि इस शांत असहयोग से ही तरक्की हो सकेगी।

"हिंदुस्तान में या दुनिया में कहीं भी कोई अपने ही अनुभव से काम नहीं करता। कुछ को अनुभव होता है, जब कि और लोग वही काम श्रद्धा से करते हैं।

"मेरे साथियों ने बुनियाद डाली है। उनमें ज्यादा गुजराती हैं, महाराष्ट्रीय भी हैं। पर ये महाराष्ट्रीय गुजरात में आकर आधे, पौने या सवाये गुजराती हो बन गए हैं। उनके हाथों यह शास्त्र उज्ज्वल बना है। इसका पूरा चमत्कार अभी हमने नहीं देखा। जिस काम के लिए लड़कियों ने अपनी चूड़ियाँ निकाल कर

मुझे दी हैं, उसका चमत्कार आप छह महीने के अंदर ज्यादा देखेंगे। पर इन सबकी जड़—उसकी दृश्य मूर्ति—यह महाविद्यालय है। हिंदू मूर्तिपूजक हैं और इसके लिए हमें अभिमान है। इस मूर्ति के अलग-अलग अंग हैं। उनमें से कुलपति मैं खुद हूं। अध्यापक, आचार्य और विद्यार्थी उसके दूसरे अंग हैं। मैं खुद बूढ़ा हूं, पका पत्ता हूं, दूसरे कामों में लगा हुआ हूं। मेरे जैसा पका पत्ता झड़ जाए, तो पेड़ को कोई आंच न आएगी। आचार्य और अध्यापक भी पत्ते हैं, अलवत्ता अभी कोमल पत्ते हैं। थोड़े समय में वे भी पक कर शायद गिर जाएंगे। पर, विद्यार्थी इस सुंदर पेड़ की डालियाँ हैं और इन्हीं डालियों में से आचार्यों और अध्यापकों के रूप में पत्तियाँ फूटेंगी

"विद्यार्थियों से मेरी प्रार्थना है कि तुम्हारी जितनी श्रद्धा मुझ पर है, उतनी ही तुम अपने अध्यापकों पर रखना। पर, तुम्हें अपने आचार्य या अध्यापक कमजोर जान पड़ें, तो उस वक्त तुम प्रह्लाद की तरह आग से इन आचार्यों और अध्यापकों को भस्म कर डालना और अपने काम को आगे बढ़ाना। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है और यही मेरा विद्यार्थियों को आशीर्वाद है।

"आखिर में मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं और उस प्रार्थना में आप सबकी संमति चाहता हूं। मेरी प्रार्थना में आप सब साफ से दिल से शरीक होना

"हे ईश्वर, इस महाविद्यालय को ऐसा बनाइए कि इसके भीतर हम जिस आजादी का जप रात-दिन कर रहे हैं, वह आजादी मिले और इस आजादी से अकेला हिंदुस्तान ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया, जिसमें हिंदुस्तान एक बूंद के बराबर है सुखी हो।"

(२)

शिक्षा और अस्पृश्यता

"गुजरात विद्यापीठ के एक निर्दोष प्रस्ताव से अहमदाबाद, बंबई वगैरा जगहों पर खलबली मच रही है। विद्यापीठ ने जो प्रस्ताव पास किया है, वह यह है कि जो कोई पाठशाला सिर्फ अछूतों का बहिष्कार करेगी, उसे मान्य नहीं समझा जाएगा। यह प्रस्ताव विद्यापीठ के उसूल की वजह से ही पास हुआ है। तो भी इस प्रस्ताव से बहुत से हिंदुओं के दिल दुखे हैं और उनमें से कुछ मुझे सलाह दे रहे हैं कि मुझे इस बात की चर्चा नहीं करनी चाहिए थी। कुछ लोग कहते हैं कि अस्पृश्यता के बारे में अपने, विचारों से मैं अपने हिंदूपन को बट्टा लगा रहा हूं। और कुछ लोग इन विचारों के कारण मेरा सनातनी होने का दावा खारिज करते हैं। मैं अपने को चुस्त सनातनी क्यों मानता हूं, इसके कारणों की जाँच मैं बाद में करूंगा।

"अभी तो मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि विद्यापीठ ने अपने प्रस्ताव से कोई नया फैसला नहीं किया। विद्यापीठ दूसरा प्रस्ताव करता, तो वह एक नया फैसला कहलाता। सरकारी पाठशालाओं में आज अछूत जाति के लड़के पढ़ते हैं। बंबई के बहुतेरे हाई स्कूलों में ऐसे विद्यार्थी हैं। गुजरात के हाई स्कूलों में भी हैं।

"अगर हम आज तक इन स्कूलों में वैष्णव लड़कों को भेजते रहे हैं, तो क्या राष्ट्रीय पाठशालाओं में उन्हें न आने देकर नया रिवाज चलाएँ? अस्पृश्यता को पुनर्जीवित करके क्या हम स्वराज्य लेने की आशा रखते हैं?

"रेलगाड़ी में, होटलों में, अदालतों में, मिलों में अस्पृश्यता आड़े नहीं आती, तो क्या स्कूलों में ही, जहाँ शिक्षकों की देखभाल में सुघड़ता के नियम पालन करके ही बैठा जा सकता है, अस्पृश्यता कायम रखी जाए?

"मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी वगैरा को हम अछूत नहीं समझते। अछूत मान कर उन्हें हम भाई नहीं बना सकते, तो फिर जो हिंदू धर्म के ही एक अंग हैं, उन्हें उन राष्ट्रीय स्कूलों में भी, जहाँ दूसरी जातियाँ आ सकती हैं, अछूत ही माना जाए?

"मुझ पर यह इल्जाम लगाया गया है कि विद्यापीठ से यह प्रस्ताव पास करा कर मैंने भी सरकार की तरह ही हिंदुओं पर जुल्म कराया है। ऐसा आरोप करने वालों को मैं नम्रता के साथ याद दिलाना चाहता हूँ कि मैं आपको अपने तरीके पर पाठशालाएँ चलाने से नहीं रोकना चाहता, आप मुझे न रोकिए। इसमें जुल्म कैसा? सच तो यह है कि मुझे रोकने का इरादा करके आप जुल्म करते हैं। जो राष्ट्रीय भावना पैदा करने में अस्पृश्यता को हानिकारक मानते हैं, उन्हें उस तरह का आंदोलन करने से आप कैसे रोक सकते हैं? आप दूसरे आदर्श वाले, अस्पृश्यता को धर्म मानने वाले विद्यापीठ बनाइए। उससे आपको कोई नहीं रोकेगा।

"मुझे पक्का भरोसा है कि अस्पृश्यता अधर्म है। वह हिंदू धर्म की ज्यादती है। इस ज्यादती को पनपने देना दुराग्रह है। तपस्या करके उसे दूर करना सत्याग्रह है। सत्य का आग्रह ही धर्म है। रूढ़ि के माने हुए हर दोष को पकड़ रखने का आग्रह अधर्म है।"

'नवजीवन' २१-११-२०

आजादी की लड़ाई की पुकार

(तिथि २८-६-२० की शाम के वक्त अहमदाबाद के विद्यार्थियों के सामने दिए गए भाषण का मुख्य भाग)

"अपमान इतना ही नहीं किया गया था कि पंजाब में विद्यार्थियों को १६-१८ मील तक चलाया गया और कुछ लड़कों को कोड़े लगाए गए, बल्कि विद्यार्थियों को यूनियन जैक को सलामी देने के लिए भी बुलाया जाता था। इस तरह जबरन यूनियन जैक को और खुद परमेश्वर को भी सलामी दिलवायी जाए, तो जिन पर यह जबरदस्ती की गई हो, उन पर और खुद परमेश्वर पर इसका क्या असर होगा, यह सोचने का काम मैं विद्यार्थियों को ही सौंपता हूँ। इसके सिवाय कुछ लोगों को कॉलेज से निकाल दिया गया था। ऐसे कुछ विद्यार्थियों के पत्र मेरे पास आते थे उन्हें तो ऐसा ही लगता था कि हम बेहाल हो गए और सब कुछ खो बैठे विद्यार्थियों को अगर पंजाब की घटनाओं से कुछ सीखना है, तो यही कि वे कॉलेज का मोह छोड़ दें और यह ख्याल दिल से निकाल दें कि वहाँ नहीं जाएँगे, तो रोटी नहीं मिलेगी। जब मैं लाहौर गया था, तब विद्यार्थियों के चेहरों पर जो खुशी थी उससे मैंने देखा कि उनका कॉलेज का मोह कुछ कम हुआ है। अगर मैं विद्यार्थियों के साथ घबड़ा जाता और गलत हमदर्दी दिखाता कि हम कॉलेजों में नहीं जाएँगे, तो आदमी ही नहीं रह जाएँगे, तो उनका मोह बढ़ता। अगर विद्यार्थी सरकारी कॉलेजों में न होते, तो सरकार उनका क्या कर लेती? मैं कहता हूँ कि विद्यार्थी सरकारी कॉलेजों में न होते, तो सरकार उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकती थी, उन्हें सलामी देने को मजबूर नहीं कर सकती थी। विद्यार्थियों को सबसे बड़ा डर इसी बात का था कि हम यूनियन जैक को सलाम करने नहीं जाएँगे, तो मर ही जाएँगे, अगर ये विद्यार्थी स्वतंत्र यानी सरकार से कोई वास्ता न रखने वाले स्कूल-कॉलेज में पढ़ते होते, तो इन लोगों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। लेकिन, विद्यार्थियों के सरकारी स्कूलों में होने से ही सरकार उन पर ज्यादा काबू रख सकी और उसने जनता की नाक काट ली। विद्यार्थियों की बदौलत तो हम आजादी लेंगे और विद्यार्थियों की कमजोरी से ही हम गुलामी में फँसे रहेंगे। यह सच है कि मैंने कौंसिलों के बहिष्कार पर खूब जोर दिया है। मैं जानता हूँ कि हर इंसान मूर्त्ति की पूजा करने वाला है। इसलिए जब ऐसे नेता, जो प्रतिनिधि बनने के लायक हैं, धारासभाओं में जाना छोड़ देंगे, तो थोड़ी देर के लिए उसका बहुत बड़ा असर होगा। यह काम चूँकि अभी किया जा सकता है, इसलिए तुरंत होना चाहिए। उसका असर भी बहुत होगा। फिर भी मैं यह वादा करता हूँ कि सरकार के मातहत चलने वाले सारे स्कूल कॉलेज खाली हो जाएँ, तो आप एक महीने के भीतर हिंदुस्तान का चेहरा बदला हुआ देखेंगे। हर विद्यार्थी एकाएक कल ही निकल जाए, तो इसका जनता और सरकार दोनों पर जो असर पड़ेगा, वह और किसी बात का नहीं पड़ेगा। जितना असर विद्यार्थियों के स्कूल-कॉलेज छोड़ने का होगा, उतना वकीलों के

अदालत छोड़ने का भी नहीं हो सकता। जब विद्यार्थी सरकारी स्कूलों से निकल जाएंगे, तब सरकार समझ जाएगी कि अब हमारा टान्सा वॉटर वर्क्स—इतनी दूर किसलिए जाएं? दूधेश्वर वॉटर वर्क्स—बंद हो गया। विद्यार्थियों पर ही हिंदुस्तान की आजादी निर्भर करती है; क्योंकि विद्यार्थी नौजवान हैं। वकील बुजुर्ग माने जाते हैं। उनके साथ उनके काम-धंधे लगे हुए हैं। पर, विद्यार्थियों की जिंदगी निर्दोष होती है। वकीलों के पीछे स्वार्थ (पेट भरने का) लगा हुआ है, इसलिए वकीलों से वकालत छुड़वाना मुश्किल है। परंतु, विद्यार्थियों का कोई स्वार्थ न होने के कारण वे सिर्फ सरकारी शिक्षा-संस्थाओं का मोह छोड़ दें, तो उनके लिए उन्हें छोड़ना आसान है।

"कोई कहेगा कि विद्यार्थियों को ऐसा क्यों करना चाहिए? स्कूल-कॉलेज किसलिए छोड़े जाएं? इस आंदोलन के विरुद्ध हमारे बड़े, धर्मधुरंधर, जनता की सेवा में खूब तपे हुए पंडित मदनमोहन मालवीय जी, हिंदुस्तान के बहुत विचार करने की शक्तिवाले शास्त्रीजी और हमारे दूसरे नेता—लाला लाजपतराय तक ऐसा कह रहे हैं कि विद्यार्थियों से स्कूल-कॉलेज छुड़वाना बड़े जोखम का काम है। मैं यह नहीं चाह सकता कि तुम पर उनके विचारों का असर न हो। इसलिए विद्यार्थियों को मैं यही बात सुझा रहा हूं कि हमारे ऐसे देशभक्त नेताओं के कहने पर तुम पूरी तरह विचार करना और इस तरह विचार करने पर भी अगर तुम्हें लगे कि मैं जो कह रहा हूँ, वही ठीक है, तो ही स्कूल-कॉलेज छोड़ना।

"कोई यह सवाल कर सकता है कि हम जो शिक्षा पा रहे हैं, वह आज ही जहर-जैसी क्यों हो गई? सरकार कितनी ही खराब क्यों न हो, पर जिन स्कूलों और कॉलेजों में हम जाते हैं, उनका इंतजाम अच्छा हो, वहाँ के प्रोफेसर अच्छे हों, शिक्षक अच्छे हों, तो हमें उन्हें क्यों छोड़ना चाहिए? यह प्रश्न हर एक के मन में उठ सकता है।

"पंजाब की घटना हुई और खिलाफत का मामला हुआ, तब सरकारी नीति बरदाश्त होने लायक थी। मैं तुम्हें निश्चय के साथ कहना चाहता हूं कि मैं जब वहाँ था, तब मुझे यह विश्वास था कि हमें न्याय मिले बिना हरगिज नहीं रहेगा। मुसलमान भाइयों से भी मैं यही कहता था कि आपको जो वचन प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने दिया है, उतना तो जरूर मिलेगा। फिर भी हमें पंजाब के बारे में सख्त कोड़ा लगा और उस अन्याय को दबा देने के लिए बुरे-से-बुरे षड्यंत्रों से काम लिया गया। खिलाफत के मामले में ऐसा वचन-भंग किया गया, जिसे बच्चा भी समझ सकता है।

"पंजाब में जिन-जिन लोगों पर ज्यादतियाँ की गईं, वे कोई मामूली आदमी नहीं थे। वल्कि जिन पढ़े-लिखे लोगों को सरकार ने शिक्षा दी थी, उन्हीं पर जितना अत्याचार करना था, किया गया।

"सरकार ने हिंदुस्तान का स्वत्व छीन लिया है। अगर कोई लुटेरा हमारा घर बार लूट ले जाए और हमीं से आकर कहे कि "मैं तुम्हारा जो धन लूट ले गया हूँ, उसी से बनी हुई इस पाठशाला में पढ़ो।", तो मुझे यकीन है कि हम उस डाकू को यही जवाब देंगे कि "हमें तुम्हारी शिक्षा नहीं चाहिए।" मेरा घर कोई डाकू लूट ले जाए, तो उसे मैं सह सकता हूँ; क्योंकि मैं दूसरा सामान जुटा सकता हूँ। परंतु, मेरा मानभंग हो जाए, मेरा पुरुषत्व या स्त्रीत्व लूट लिया जाए, तो वह मुझे वापस कैसे मिल सकता है? मेरी नाक काट ली जाए, तो उसे साबित कैसे किया जा सकता है? काठियावाड़ के डाकू मुसाफिरों की नाक काट लेते थे और एक डाक्टर ऐसा था, जो कटी हुई नाक साबित कर देता था। मगर हिंदुस्तान की नाक को, जो कट गई है, चपटी हो गई है, नुकीली बनाने वाला कोई डाक्टर है ही नहीं। इस नाक को अगर कोई नुकीली बना सकता है, तो हमीं बना सकते हैं। जैसे अच्छे-से-अच्छे दूध में भी संखिया पड़ जाने पर हम उसे फेंक देते हैं, उसी तरह हमें मान ही लेना चाहिए कि अच्छी-से-अच्छी शिक्षा में भी जहर पड़ जाए, तो वह छोड़ने लायक हो जाती है। मुझे यह शक जरूर होता है कि जितना दर्द मुझे इन घटनाओं से हुआ है, उतना पंडित मालवीय जी और शास्त्रीजी को हरगिज नहीं हो सकता। सरकार ने जो नीति दिखाई है, वह उन्हें दूध की शकल में दिए हुए जहर-सी लगती हो, तो जो मैं कहता हूँ, वही वे भी कहेंगे। मुझे कहना चाहिए कि सरकार की शिक्षा में घुले हुए जहर को हमारे ये महान् नेता नहीं पहचान सकते।

"अगर हम इस हालत में कुछ भी नहीं करेंगे, तो हमारी नाक सदा के लिए कट जाएगी, कितने ही समय तक जनता अपना स्वत्व इस दुनिया के सामने बताने के लिए नालायक बन जाएगी। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि तुम विद्यार्थी बच्चे हो। इसलिए तुम अपने माँ-बाप वगैरा बड़ों को आदर के साथ कह कर कल ही स्कूल-कॉलेज छोड़ दो। लेकिन, मैं चाहता हूँ कि जिस आजादी का उपयोग सोलह बरस से ऊपर के लड़के और लड़कियाँ कर सकती हैं, उसकी शर्तें तुम पूरी तरह समझ लो।

"जिन्हें बुखार चढ़ गया है—दिमागी और दिली—और जो यह मानते हैं कि "इस सरकार की सल्तनत मुझसे एक पल भी नहीं सही जा सकती, जिस सल्तनत में अन्याय का जहर फैल गया है, उसमें रहना मेरे लिए शर्म की बात है।" उन्हीं को

पाठशाला छोड़ने का हक है। जैसे कोई लुटेरा हमारा सब कुछ छीन ले, तो हम उसके हाथ का दान नहीं ले सकते, वैसे ही सरकार द्वारा दी हुई शिक्षा हम न लें, इसी में माँ के प्रति, बाप के प्रति, गुरु के प्रति और नेता के प्रति हमारी विनय है, इसी में हमारी अधीनता है। जिस किसी को अंदर से दिल की आवाज आती है कि 'मुझे यह काम करना ही चाहिए', उस आदमी को ऐसा करने का हक है। तुम्हें इन चीजों पर भरोसा होता हो, तो मैं चाहता हूँ कि तुम कल से ही स्कूल और कॉलेज छोड़ दो।

दूसरे स्कूल-कॉलेज कहाँ हैं, ऐसा पूछने वाले विद्यार्थियों को मेरा जवाब यह है कि तुम्हें अभी राह देखने की जरूरत है, माँ-बापों के साथ सलाह करने की जरूरत है; क्योंकि तुम्हें अभी शक है। जिस कमरे में साँप रहता हो, उससे निकल जाने में मुझे शक किस बात का हो सकता है? अगर तुम यह सोचना चाहते हो कि कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया है, उसका क्या अर्थ है, तो मैं तुम से कहता हूँ कि उस प्रस्ताव में नए स्कूल मिलने की शर्त नहीं है। हमें नए स्कूल मिलें या न मिलें, पर जो स्कूल हमारे लिए जहर हो गया है, उसे तो छोड़ना जरूरी ही है।

"इससे कोई यह न समझ ले कि मैं शिक्षा के खिलाफ हूँ या शिक्षा के बारे में मेरे जो विचार हैं, मैं उनका प्रचार करना चाहता हूँ। उन विचारों का प्रचार मैं राष्ट्रीय पाठशालाओं के जरिए कर रहा हूँ और जब हमें उस तरह की शिक्षा का प्रचार बढ़ाना होगा, तब मैं अपना साधन ढूँढ़ लूँगा। मगर, इस वक्त जिस खयाल से स्कूल-कॉलेज छुड़वाना चाहता हूँ, वह खयाल सिपाही का है। जब लड़ाई छिड़ जाती है, तब विद्यार्थी पढ़ना छोड़ देते हैं, अदालतें खाली हो जाती हैं और जेलें भी खाली कर दी जाती हैं। जेल में रहने वाले कैदी भी अपना स्वभाव छोड़ देते हैं और लड़ाई में कूद पड़ते हैं। उसी तरह हमारे लिए यह युद्ध का समय आ गया है। अगर यह जनता हथियार उठाने वाली होती, तो हिंदुस्तान में कभी से बेशुमार नंगी तलवारें निकल आतीं, मगर हिंदुस्तान में अभी यह चीज चल नहीं सकती। अभी तो मैं साधारण विचार से, दुनियावी खयाल से ही यह सवाल जनता के सामने रख रहा हूँ कि जिस सरकार के हाथों हमारा इतना अपमान हुआ है, उससे हम दान नहीं ले सकते, मदद नहीं ले सकते। इसलिए अगर यह सिद्धांत मंजूर हो, तो यह सवाल रहता ही नहीं कि पाठशालाएँ हैं या नहीं। इसलिए तुम्हें तो इस दृष्टि से सोचना है कि विद्यार्थियों का अभी तुरंत पाठशालाएँ छोड़ना फर्ज हो गया है या नहीं। पाठशालाएँ छोड़ कर विद्यार्थी क्या करें? संधिकाल में जो विद्यार्थी बेकार बन जाएँ,

वे क्या करें ? ये सब सवाल तुम पूछ सकते हो। सिद्धांत वही है, जो मैंने बता दिया है। उसमें से जो छोटे-मोटे सिद्धांत निकलते हैं, वे मैं तुम्हारे सामने रखता ही नहीं। मुख्य सिद्धांत के अनुसार अपने दिल में जो फैसला करें, उसी पर अटल रह कर अमल करना चाहिए। मगर, यह कहना भी मेरा फर्ज है कि शक मिट जाने के बाद कमजोरी के मारे एक भी विद्यार्थी को कॉलेज या स्कूल में रहने का अधिकार नहीं है। यह वक्त जनता के कमजोरी दिखाने का नहीं है।"

(२)

(दूसरे दिन शाम की उसी जगह पर शिक्षकों को ध्यान में रख कर गांधीजी ने जो भाषण किया था, उसका सार।)

"एक बार मैं खुद शिक्षकों में से ही था। यह दावा किया जा सकता है कि अब भी मैं शिक्षक हूँ। मुझे शिक्षा का अनुभव है। मैंने उसके प्रयोग करके देखे हैं। यह काम करते-करते मुझे ऐसा लगा कि जिस जाति के शिक्षक पुरुषत्व खो बैठे हैं, वह जाति कभी उठ नहीं सकती।

"हमारे शिक्षक अपना पुरुषत्व जरूर गँवा बैठे हैं। जो बात वे नहीं करना चाहते, वही वे जबरन करते हैं। मारपीट कर उनसे कोई कुछ नहीं कराता, लेकिन सूक्ष्म बलात्कार तो उन पर होता ही है। अपने बड़े अफसरों की धमकियों, तनखाह के नुकसान या वेतन न बढ़ सकने की धमकियों या सूचनाओं से शिक्षक घबरा जाते हैं। अब हमारे सामने ऐसा मौका आ खड़ा हुआ है, जब शिक्षक और शिक्षिकाएँ अपनी जान, अपना माल और अपना वेतन सब कुछ जोखम में डाल कर भी जो चीज जैसी है, वैसी ही हिम्मत करके विद्यार्थियों के सामने रख दें। अगर वे ऐसा नहीं कर सकते, तो अपनी आजीविका का साधन उन्हें छोड़ देना चाहिए। इतना अगर आज मैं शिक्षकों को बता दूँ, तो मेरा आज का काम निपट गया। मेरे खिलाफ शास्त्रीजी-जैसे महान् शिक्षक हैं। पंडित मालवीयजी भी, जिन्होंने हिंदू युनिवर्सिटी-जैसी संस्था कायम की है, मानते हैं कि मैं जनता को उलटे रास्ते ले जा रहा हूँ। जो राष्ट्रीय पक्ष के हैं, उन्हें भी शंका है। फिर भी मुझे लगता है कि मैं सही रास्ते पर हूँ।

"बगदाद से आए हुए एक साहब ने मुझे वहाँ का अपना अनुभव सुनाया, जिससे मैं चकित हो गया हूँ। मैं कहता हूँ कि हिंदुस्तान में रहना मेरे लिए मुश्किल हो गया है। अगर मैं चौबीसों घंटे असहयोग का ही विचार न करता रहूँ—सोते वक्त भी मेरा मन इसी विचार से शांत होता है – तो मेरे लिए हिंदुस्तान में रहना संभव हो जाए। मैं मानता हूँ कि बगदाद के अपढ़ अरब हम से करोड़ों गुने आगे बढ़े हुए हैं। ये सज्जन कोई फालतू आदमी नहीं हैं। वे बगदाद में सरकारी नौकरी

में बड़े ओहदे पर थे। वे अंग्रेज सरकार के दुश्मन नहीं हैं। मैंने पूछा, "क्या वहाँ अंग्रेजों का राज कायम रहेगा?" उन्होंने कहा, "वह हिंदुस्तान है क्या?" जब तक एक भी अंग्रेज मैसोपोटेमिया में है, तब तक अरब चैन से नहीं बैठेंगे। अरबों के पास गोला-बारूद या तलवार वगैरा सामान नहीं—होगा भी तो निकम्मा। मगर, केवल एक सामग्री उनके पास जरूर है: "यह देश हमारा है। हमारे इस मुल्क में जिसे हम न रहने दें, वह एक पल भी नहीं रह सकता।"

"अंग्रेज सरकार ने वहाँ जितने सिक्ख भेजे, उन सबको उन्होंने काट डाला। मैं हिंदुस्तान को यह सीख नहीं देता? मैं तो उलटे इस तरफ जाने से रोकता हूँ। अरबों का मकसद क्या था। अंग्रेजों ने उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलायीं। बगदाद में इतनी गरमी पड़ती है कि आप सब जैसे यहाँ बैठे हैं, वैसे वहाँ की रेत में नहीं बैठ सकते। वहाँ की रेत इतनी तप जाती है कि उस पर खाना पकाया जा सकता है। अंग्रेज सरकार ने कहा कि हम तुम्हारे लिए पक्की सड़कें बनाएँगे, रेल लाएँगे और जिनसे तुम्हें सुख मिलें, वे सब सहूलियतें कर देंगे। तुम्हें शिक्षा देंगे। मोटर भी अरबों ने पहले-पहल अभी ही देखी। किंतु, अरब तो एक ही बात जानते थे। उन्होंने कहा, "तुम हमारा मुल्क लेने आए हो।" यहाँ के मुसलमानों से पहले ही मेसोपोटेमिया के मुसलमान अंग्रेजों को अपने देश से निकाल रहे हैं।

"अंग्रेजों के हवाई जहाज उन्हें डरा नहीं सकते। हवाई जहाज हों या और कुछ हो, अरबों को इससे क्या? वे तो मौत को हथेली में लिए फिरते हैं। उनके पास है क्या, जो कोई ले लेगा? वे अपने खुद के लिए नहीं लड़ते। उनके कपड़े तो चमड़े के होते हैं। वे तंबू में रहने वाले ठहरे। अपने देश को—भले ही वह रेतीला ही हो—उन्हें बचाना है। बगदाद शरीफ में, जो पाक जमीन है और जहाँ कई पीर हो चुके हैं, इजाजत के बिना कौन जा सकता है? वहाँ अंग्रेज, सिक्ख या उनके भाई-बंधु कोई नहीं रह सकते।

"अरब हमसे कहीं ज्यादा बढ़े-चढ़े हैं। यह हमारा देश है, इस पर कोई उँगली उठाए, तो उसकी उँगली काट डालेंगे, तीसरे को यहाँ रहने न देंगे।"—यह जोश जिनमें है, वे सच्चे सुखी हैं। हम मानते हों कि अरब जंगली हैं और हम सुधरे हुए हैं, तो हम उनके और खुद अपने साथ बेइंसाफी करते हैं। हमें गुलाम होने पर भी थोड़े-बहुत सुख और भोग मिलते हैं। जब तक इस तरह के भोग-विलास की इच्छा रखते हैं, तब तक हम अरबों से नीचे ही हैं।

"हमारे बाप-दादा कह गए हैं, वेदों और उपनिषदों में कहा है कि पवित्र भूमि को अपवित्र न होने दो। दूसरे लोग तुम्हारी धरती पर पैर रखें, तो मेहमान

बन कर ही रख सकते हैं। जिसने आजादी को खो दिया, उसने सब कुछ खो दिया, धर्म भी खो दिया।

"मैं यह नहीं मानता कि अंग्रेजी राज में हम अपना धर्म सुख से पाल सकते हैं और मुसलमानी राज में नहीं पाल सकते थे। मैं जानता हूँ कि मुसलमानी राज प्राणपीड़क था, उसमें घमंड था। आज का अंग्रेजी राज तो नास्तिक है, धर्म से विमुख है, इस राज में हमारा धर्म जोखम में पड़ गया है।

हमारे आसपास के मुल्कों में पठानों, ईरानियों और अरबों की हालत हमसे अच्छी है। हमारे-जैसी शिक्षा उन्हें नहीं मिलती, फिर भी वे हमसे बढ़ कर हैं।

"इसी तरह हमारी दीन-दशा का चित्र खींचने के बाद मैं शिक्षकों के सामने अपना मामला पेश करता हूँ। जब तक हम अपनी शिक्षा को कुरबान करने को तैयार न होंगे, तब तक हम देश को स्वतंत्र नहीं कर सकेंगे।

"आजकल बहुत से विद्यार्थी मेरे पास आकर अपनी बात इस ढंग से कहते हैं कि दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, फिर भी मैं देखता हूँ कि वे घबराए हुए हैं। वे ऐसे सवाल करते हैं कि हम स्कूल छोड़ दें, तो कल ही दूसरा स्कूल मिलेगा या नहीं। यह शिक्षा का मोह है। यह कोई नहीं कह सकता कि मैं खुद शिक्षा का विरोधी हूँ। मैं पल पर भी पढ़े या विचार किए बगैर नहीं रहता। लेकिन, जब चारों तरफ आग लगी हो, तो हम डिकन्सन या बाइबिल लेकर पढ़ने नहीं बैठ सकते। इस वक्त दावानल लगा हुआ है। इस वक्त शिक्षा का मोह हरगिज न रखना चाहिए।

"अगर आप निश्चित रूप से मानते हैं कि अंग्रेजों ने पंजाब और खिलाफत के मामले में हिंदुस्तान पर जुल्म किया है, उसे दगा दिया है, तो जब तक इस जुल्म का वे पूरा प्रायश्चित न करें, अपना मैला दिल पूरी तरह साफ न कर लें, तब तक किसी भी तरह का दान या वेतन या शिक्षा उनसे लेना बड़ा भारी पाप है। हम राक्षस से शिक्षा नहीं लेते। मैले हाथों से दिया जाने वाला शुद्ध-से-शुद्ध शिक्षण भी मैला ही है। अंग्रेज तो अपनी गंदगी को भी सफाई कह कर बताते हैं।

"इस वक्त हम में जो दीनता है, पामरता है और हम जिस भ्रम में पड़े हुए हैं, वह अंग्रेजी तालीम का ही प्रताप है। यह कहना सरासर झूठ है कि हमें अंग्रेजी शिक्षा न मिली होती, तो हम इस वक्त कोई हलचल न करते होते।

"देश के लिए मरने की जो वृत्ति अरबों में है, वह हम में नहीं है। मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि जब तक हम ऐसी गिरी हुई हालत से नहीं निकलेंगे, तब तक हिंदुस्तान आजाद नहीं हो सकेगा।

"शिक्षकों और प्रोफेसरों से मैं हिम्मत के साथ कहता हूँ—उमंग और उत्साह भरना हो, तो आप कल ही इस्तीफे दे दें। इस्तीफे दे कर शिक्षक विद्यार्थियों को बड़े-से-बड़ा सबक सिखाएगा।

"अगर शिक्षकों में वीरता या बहादुरी आ जाए, उन्हें समझ में आ जाए, कि जो सल्तनत इंसाफ नहीं करती और अपने अन्याय का प्रायश्चित नहीं करती उससे तनख्वाह नहीं ली जा सकती, तो गुजरात में आज ही स्वराज्य हो जाए। शिक्षक अगर हिम्मत करके कहें कि हम भीख माँग कर सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा ही देंगे, तो आकाश में देवता भी देखने आएँगे और रुपयों की वर्षा करेंगे।"

(३)

(तिथि ६-१०-२० को सूरत के छात्रों के सामने दिए हुए व्याख्यानों में से)

"मैंने सरकार की हुकूमत का जोड़ लगाया, तो जमा के बजाय नामे बाकी ही निकला। सुधारों (रिफार्म्स) में देने के बजाय ले लेना दिखाई दिया। सरकार की ताकत मशीनगनों में नहीं है, बल्कि हमारा उसके लिए जो मोह है, उसमें है। यह मोह तीन तरह का है : द्विजेंद्रनाथ टैगोर ने जिसे मायामृग कहा है, वह धारा-सभाओं का मोह, अदालतों का मोह और शिक्षा का मोह है। खिताबों और पदवियों को तो मैं छोड़ ही देता हूँ; क्योंकि ये बहुत कम लोगों के पास हैं। मगर, इन तीन मोहों में हम बहुत लोग फँसे हुए हैं। हमारे विद्वान और बुजुर्ग नेता लाला लाजपतराय भी इसमें फँसे हुए हैं। मालवीयजी महाराज मेरे लिए सदा पूजनीय हैं। वे भी मानते हैं कि मेरी अकल मारी गई है और मैं सबको उलटे रास्ते ले जा रहा हूँ। वे समझते हैं कि कौंसिलों में जाना धर्म है, पाठशालाओं में जाना धर्म है। मेरे खयाल से कौंसिलों में जाना पाप है अदालतों में जाना पाप है और स्कूलों में जाना महापाप है।

"मैं वकीलों को अगर नहीं समझा सकता, तो इसका कारण है। मैं जानता हूँ, उनमें कितनी माया भरी है। बाल-बच्चों का, आरामकुर्सी का और मोटरगाड़ी का छोड़ना मुश्किल है। पर, विद्यार्थियों के लिए वैसा कुछ भी नहीं। उन्हें जिधर मोड़ो, उधर ही मुड़ जाएँगे। वे गुलामी की तालीम लें, नौकरी के लिए स्कूलों में जाते ही रहें और मैं उन्हें न रोकूँ, तो हुकूमत की जड़ नहीं उखड़ सकती। मैं यह जड़ उखाड़ना चाहता हूँ। विद्यार्थियों के जरिए हुकुमत को खाद-पानी मिलता है। यह पानी नायगरा प्रपात जैसा--गंगा, जमुना और ब्रह्मपुत्र के इकट्ठे प्रपात-जैसा है। आप इशारे में समझ सकते हैं कि यह वहमी विद्या, गुलामी की विद्या, हमें नहीं चाहिए। मैं जब तक गुलामी छोड़ने का अलिफ-बे—ककहरा—न सिखाऊँ, तब तक और सब कुछ बेकार है। मैले बर्तन में दूध डालते रहें, तो बर्तन साफ नहीं होगा,

पर दूध मैला हो जाएगा। हम गुलामी के वर्तन से विगड़े होंगे, तब तक शिक्षा वेकार ही रहेगी। ऊपर देवता लोग हों और देखें कि हिंदुस्तान मैला वर्तन है, तो शिक्षा की वरसात फिजूल है। इसलिए पहले शुद्ध वनो। कानून और डाक्टरी का ज्ञान नहीं मिलेगा, तो हिंदुस्तान रसातल में नहीं चला जाएगा। तव हिंदुस्तान इंसानों का नहीं, वल्कि हैवानों का देश माना जायगा। मनुष्य किसी से-वड़ी हुकूमत से भी दव कर--अपने दिल की सच्ची वात न कह सके, तो इसी का नाम गुलामी है। इससे छुटकारा पाना हमारा पहला सवक है। जो लगन मुझे लगी है, वही जालियाँवाला के उदाहरण से और इस्लाम के अपमान से सवको लगे।"

(४)

('काशी में गांधीजी' नामक लेख से)

"कुछ महीने पहले मैंने तुमसे संयम के वारे में कुछ कहा था। आज भी तुम्हारे पास अपने ढंग से मैं संयम की वात करने आया हूँ। आजकल ऐसा कहा जाता है कि मैं विद्यार्थियों को वहका रहा हूँ। मैं अपनी जिम्मेदारी समझ कर कहता हूँ कि मैं किसी को वहकाना नहीं चाहता। मैं विद्यार्थियों को वहका ही नहीं सकता। मैं भी एक विद्यार्थी था और विद्यार्थी की हालत में भी जो कुछ काम करता था, अदव से करता था। इनके सिवाय मैं चार वेटों का वाप हूँ और सैकड़ों लड़के मेरे पास आ चुके हैं, इनके लिए पिता के करावर होने का मैं आज भी दावा करता हूँ। ऐसे आदमी के मुँह से वहकाने की वात निकल ही नहीं सकती।

"लेकिन आज जमाना ऐसा है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसमें वुजुर्ग लोग ऐसा समझते हैं कि मैं उनके साथ अन्याय कर रहा हूँ। उन्हें लगता है कि जिस सत्य का मैं आग्रह करता हूँ, उससे भी मैं कुछ विचलित हुआ हूँ और जिस विवेक का मैं दावा करता हूँ, वह विवेक भी आज मेरी भाषा में नहीं रहा। सव वातों का मैं विचार कर रहा हूँ। पर, मेरी आत्मा गवाही देती है कि मैं अविवेकी भाषा इस्तेमाल नहीं करता।

\+ + + +

"पंडितजी का एक व्याख्यान 'लीडर' में आया है। मैं देखता हूँ कि वह उनकी संमति लेकर छापा गया है। उसके एक वाक्य की तरफ मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ। वह यह है कि 'सव कुछ सोच-विचार कर तुम्हें अपनी अंतरात्मा जो कहे, वही करना।' मैं भी यही वात कहना चाहता हूँ। और तुम्हें अंतरात्मा की आवाज के वारे में कुछ भी शक हो, तुम अपने दिल में फैसला न कर सको, तो तुम मेरी न मानना, और किसी की न मानना, सिर्फ अपने पूज्य भाईसाहव पंडितजी की ही मानना।

\+ + + +

"पंडितजी को ऐसा ख्याल हो गया है कि तुम में से कुछ लोग बिना विचारे कदम उठा रहे हैं; और बिना विचारे कुछ भी करोगे, तो अपनी जगह से गिर जाओगे। लेकिन, तुम्हें ऐसा लगता हो कि इस संस्था में पढ़ना पाप है, तो तुम इसे फौरन छोड़ देना और पंडितजी तुम्हें आशीर्वाद देंगे। लेकिन, तुम्हारी आत्मा जाग्रत न हुई हो, तो तुम पंडितजी की ही सुनना।

"जब तुम्हारा काम साफ हो, उसका हेतु साफ हो और उसक नतीजा साफ हो, तभी वह अंतरात्मा की प्रेरणा से हुआ माना जाएगा। लेकिन, उस पर एक और पाबंदी शास्त्रों ने लगायी है। जो संयमी है, जो अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का पालन करने वाला है, वही कह सकता है कि मुझे अंतरात्मा का हुक्म हुआ है। तुम ब्रह्मचारी न हो, तुम्हारे दिल में दया न हो, मर्यादा न हो, सचाई न हो, तो तुम्हारा कोई काम अंतरात्मा की आवाज से प्रेरित नहीं कहा जा सकता। पर, जैसा मैंने बताया, वैसा तुम्हारा दिल हो, तुमने पश्चिमी ढंग छोड़ दिया हो, तुम्हारे स्वच्छ हृदय-मंदिर में प्रभु का निवास हो, तो तुम अपने माँ-बाप का भी सविनय अनादर कर सकते हो। उस हालत में तुम आजाद हो और इसलिए कदम उठा सकते हो। मुझे मालूम है कि पश्चिम में मनमानी का दौरदौरा है। लेकिन, मैं हिंदुस्तान के विद्यार्थियों को स्वेच्छाचारी नहीं बनाना चाहता। इस पवित्र काशी क्षेत्र में, इस पवित्र जमीन पर, मैं तुम्हें मनमानी करने वाला बनाना चाहूँ, तो मैं अपने काम के लायक नहीं।

"मैं लड़कों को क्यों समझा रहा हूँ कि स्कूल छोड़ना तुम्हारा धर्म है? क्या मैं तुम्हारा पढ़ाई का जीवन खराब करना चाहता हूँ? नहीं; मैं अब तक पढ़ाई का जीवन बिता रहा हूँ, विद्यार्थी हूँ। पर, मैं कहना चाहता हूँ कि जिसे स्वतंत्रता की तालीम नहीं मिली—और वह बेशक मिल की "लिबर्टी"; पढ़ने से नहीं मिलती—वह स्वतंत्र नहीं कहलाता।

\+ + + +

"रावण के पकवान और दास-दासियों को छोड़ कर अशोकवाटिका में सिर्फ फल फूल से गुजर करने वाली सीताजी की तरह शांतिमय असहयोग करने की ताकत तुममें नहीं आएगी, तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हिंदुस्तान फना हो जाएगा और गुलामी में ही सड़ा करेगा।

"अगर आज हिंदुस्तान के हर स्त्री-पुरुष की एक ही भावना हो जाए, तो हिंदुस्तान आज ही आजाद हो सकता है। पर, जिन-जिन मुल्कों ने ऐसी लड़ाई छेड़ी

है, उनमें मतभेद भी रहे ही हैं। इन सब में से पार होकर वे स्वतंत्र हुए हैं। उन्होंने जो तकलीफें उठाई हैं, उन तकलीफों को सहे बिना हमारा देश भी आजाद नहीं हो सकता। तुम अपनी सभ्यता न छोड़ो, विनय न छोड़ो, नम्रता न छोड़ो। तुम्हारा साथ न देने वाले विद्यार्थियों से नफरत न करो, उन्हें न सताओ। तुम ऐसे काम करो, जिससे तुम्हारे बारे में हमारे माननीय भाइयों में जो अविश्वास है, वह मिट जाए। तुम विद्यालय से निकल कर अपना धर्माचरण बढ़ाओगे, तो उनका आशीर्वाद तुम्हें मिल जाएगा। तुम बिना सोचे कॉलेज छोड़कर अपना स्वार्थ साधोगे, दंभी बनोगे, व्यसनी बनोगे, सेवा धर्म छोड़ोगे, तो उनकी आत्मा को और मेरी आत्मा को दुःख होगा। तुम किसी की सलाह चाहते हो, तो पंडितजी की ही सलाह मानना। मगर, तुम्हें किसी की सलाह की जरूरत न रही हो, और तुमने निश्चय कर लिया हो, तुम्हारा दिल पुकार कहता हो कि असहयोग तुम्हारा धर्म है, तो तुम बेशक निकल आओ और पंडितजी का आशीर्वाद लेकर निकल आओ, वे तुम्हें पल-भर भी न रोकेंगे।

"असहयोग बहुत बड़ा संयम धर्म है। तुममें असहिष्णुता हो, तो असहयोगी नहीं हो सकते। माँ-बाप के प्रति जो तुम्हारा फर्ज है, उसके बारे में इतना ही कहता हूँ कि तुमने निश्चय कर लिया हो, तो बड़े अदब से, विनय के साथ उनके पास चले जाओ और उनके साथ दलील करो। और तुम्हें ऐसा लगे कि उनकी बात से तुम्हारा दिल हिल गया, तो तुम जरूर उनकी बात मानो। मैं तुम्हारे हर काम में विनय चाहता हूँ, धर्म चाहता हूँ। अगर धर्म-पालन को तुच्छ समझोगे, तो जो प्रतिज्ञा करके तुम पाठशाला छोड़ोगे, वह प्रतिज्ञा भंग हो जाएगी। इसलिए तुम्हें विनय की तालीम पहले लेनी पड़ेगी और तुम्हें भारी बलिदान देना पड़ेगा। 'भारी' इसलिए कहता हूँ कि आज की दीन-दशा में हम नामर्द हो गए हैं और आजीविका का साधन छोड़ना भी बड़ा बलिदान है।

अंत में भी मैं बार-बार कहता हूँ कि तुम्हारा जिन पर भरोसा हो, उन अध्यापकों और मालवीयजी से मिल कर तथा निश्चय करके पाठशाला छोड़ना और उनका आशीर्वाद लेना।

'नवजीवन' ५-१२-२०

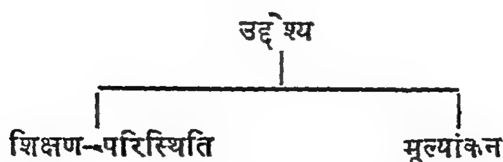
बुनियादी शिक्षण-पद्धति और मूल्यांकन

बुनियादी शिक्षण-पद्धति के उद्देश्य-निर्धारण तथा इस लक्ष्योपलब्धि के निमित्त दृढ़तापूर्वक एकाग्रचित हो कर संलग्न होने से ही हमारा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। हमें दक्षतापूर्वक इस विषय-वस्तु की भी जानकारी करनी है कि हमारे

छात्रों ने पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों के समझने ,सीखने और धारण करने में कितनी प्रगति की है। छात्रों की इस प्रगति और विकास का मूल्यन करना ही मूल्यांकन कहलाता है। मूल्यांकन मापन का पर्याय नहीं है। मूल्यांकन का तात्पर्य व्यक्तित्व के व्यापक परिवर्तनों और शिक्षा के विस्तृत उद्देश्यों से है। मूल्यांकन का संबंध केवल बुद्धि-विकास या विषय-ज्ञान की प्राप्ति मात्र से नहीं है। इसका संबंध विषय-ज्ञान के साथ-साथ अभिरुचि व्यक्तित्व के गुण रूचि-अभिरूचि आदि के परिवर्द्धन और विकास से भी है। यह वर्ग तक ही या परीक्षा तक ही सामित नहीं है, वरन् यह एक प्रक्रिया हैं, जो शैक्षिक और सामाजिक भूमिका में चलती रहती है। गांधी शिक्षा-दर्शन का यह प्रमुख आदर्श है।

मूल्यांकन आधुनिक शिक्षण-पद्धति मे एक नया प्रयोग है। इसमें उद्देश्य, शिक्षा·अनुभव (शिक्षण-परिस्थिति) और मूल्यांकन तीनों में समन्वय स्थापित किया जाता है। पहले परंपरागत्त शिक्षा-प्रणाली में इस उद्देश्य की अवहेलना कर दी जाती थी। उस समय मात्र लिखित परीक्षा ही महत्वपूर्ण थी। शिक्षण-परिस्थितियाँ भी उद्देश्य के अनुरूप हीं प्रस्तुत की जाती थीं। अतः, उपलब्धि संभावित रूप में प्राप्त नहीं होती थी। जब उद्देश्य सुस्पष्ट रहते हैं और तदनुरूप शिक्षण-परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, तब उपलब्धि संभावित रूप में प्राप्त होती है। मूल्यांकन में शिक्षक के सामने पाठ्य-वस्तु के उद्देश्य स्पष्ट रहते हैं और उनके अनुरूप ही शिक्षानुभव उ- स्थित किए जाते हैं, जिससे शिक्षार्थी उन उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकें और उपलब्धि आशानुरूप हो।

मूल्यांकन से हमें यह ज्ञात होता है कि उद्देश्य के लिए जो शिक्षण-परिस्थितियाँ प्रस्तुत की गईं, उनके द्वारा छात्रों में अपेक्षित व्यवहार-परिवर्तन हो रहे हैं कि नहीं ? अगर नहीं, तो इसके कारणों का विश्लेषण कर संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं। उद्देश्य, शिक्षण-परिस्थिति और मूल्यांकन के संबंध को नीचे के चित्र से समझा जा सकता है :—



मूल्यांकन, शिक्षण के उन्नयन में तो सहायक होता ही है, यह शिक्षण और अध्यापन का अभिप्रेरण-अभिरोचन भी करता है। मूल्यांकन-प्रक्रिया द्वारा छात्रों और शिक्षकों के सामने शिक्षण-अध्ययन के उद्देश्य निश्चित एवं निर्दिष्ट रूप में आते हैं। शिक्षक समझते हैं कि उन्हें छात्रों को क्या पढ़ाना है और छात्र जानते हैं कि उन्हें

क्या प्राप्त करना है। अतः, ये दोनों उक्त उद्देश्य के अनुसार निर्दिष्ट उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील,रहते हैं। स्पष्ट और सुनिश्चित उद्देश्य के बिना हम लक्ष्यहीन हो जाते हैं और अंधकार में भटकते रहते हैं। स्पष्ट और सुनिश्चित उद्देश्य होने से शिक्षण-अध्ययन के समस्त कार्य उसी की प्राप्ति में लगा दिए जाते हैं। इस प्रकार मूल्यांकन-प्रविधि के द्वारा शिक्षण के उद्देश्य केवल सुस्पष्ट ही नहीं किए जाते, बल्कि उनका मूल्यन भी होता है। इससे उद्देश्य का भी पता लगता है। पुनः उनको सुधारने का भी अवसर मिलता है जिससे कि वे सजीव, सुनिश्चित, सुस्पष्ट और प्राप्य हो पाते हैं। शिक्षण, मार्ग-दर्शन, चुनाव, क्रम-स्थापन और प्रमाणन इन सबके लिए मूल्यांकन उपयोगी है।

मूल्यांकन-प्रक्रिया के द्वारा शिक्षक, शिक्षण-विधि, पाठ्य-पुस्तक, पाठ्यक्रम और शिक्षण-साधन इन सभी का मूल्यन होता रहता है, जिससे शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षकों को शिक्षा में सुधार लाने के लिए दृष्टि मिल जाती है। शिक्षक को यह पता लग जाता है कि उनके शिक्षण में कहाँ त्रुटियाँ हैं। इससे उन्हें शिक्षण-पद्धति के सुधार में मार्ग-दर्शन मिलता है। पाठ्यक्रम-निर्माता को यह पता लग जता है कि पाठ्यक्रम कहाँ तक सुनिश्चित उद्देश्यों को ध्यान में रख कर बनाया गया है तथा वह छात्रों के मानसिक स्तर, प्रौढ़ता और वर्ग-स्तर के कहाँ तक अनुकूल है। अगर इनमें कहीं कुछ त्रुटि रही, तो वे इसका निराकरण भी कर पाते हैं। इस प्रकार पाठ्यग्रंथ लेखक को भी अपनी (पाठ्यग्रंथ) त्रुटि का पता लगता है।

मूल्यांकन के द्वारा विद्यार्थी की उपलब्धि का साक्ष्य सर्वदा एकत्र किया जाता है, जिससे यह पता लगता है कि उपलब्धि में कहाँ त्रुटि हो रही है। इसलिए उसकी पूर्ति के लिए शिक्षक और छात्र सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं।

मूल्यांकन द्वारा क्रम-स्थापन (ग्रेडेशन) होते रहने से विद्यार्थियों में प्रतियोगिता की भावना आती है। प्रतियोगिता की भावना का आविर्भूतिकरण शिक्षक के दृष्टिकोण से अत्यंत आवश्यक है। हिंदी-शिक्षण में लेखन-कार्य, निबंध अथवा कविता, अभिनय आदि की ओर प्रवृत्ति की भावना प्रतियोगिता के फलस्वरूप ही संभव है। इस क्रम मे विद्यार्थी प्रगति करने का प्रयत्न करते हैं। उनका शिक्षण-अध्ययन अभिप्रेरित होता है।

मूल्यांकन-प्रविधि के द्वारा मूल्यांकन के परीक्षा-उपकरणों का भी मूल्यन होता है और यह पता लगता है कि शिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति में परीक्षण-उपकरण कहाँ तक साधक अथवा बाधक रहे हैं। अगर ये बाधक सिद्ध हुए हैं, तो उनमें कहाँ क्या त्रुटियाँ रही हैं तथा उन त्रुटियों का निराकरण कैसे हो सकता है।

मूल्यांकन से विद्यार्थी की अभिरुचि, योग्यता आदि की जानकारी होती है तथा उनके भविष्य के झुकाव का भी अनुमान लग जाता है। इस क्रिया द्वारा उनके शैक्षिक मार्ग-दर्शन में सहायता प्राप्त होती है। मूल्यांकन छात्रों की वैयक्तिक विभिन्नताओं की जानकारी देता है। ज्ञानवर्द्धन के निमित्त वैयक्तिक विभिन्नताओं का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना इस तथ्य से हम अनभिज्ञ रहेंगे कि किस विद्यार्थी की रुचि किस विषय में है। कोई छात्र कविता में रुचि रखता है, तो कोई अच्छा निबंधकार अथवा अभिनेता हो सकता है। उनकी विभिन्न साहित्यिक प्रतिभा के ज्ञान के बिना उनका उचित मार्ग-दर्शन हमारे लिए एक असफल प्रयास मात्र ही होगा।

स्पष्ट है कि मूल्यांकन का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के विकासोन्मुखी व्यापक परिवर्तनों से संबंधित है। मूल्यांकन-प्रविधि के द्वारा सभी विषयों के उद्देश्य केवल सुस्पष्ट ही नहीं होते, बल्कि उनका परिमार्जन भी होता है, जिससे वे और अधिक उपयुक्त बन जाते हैं। इसके द्वारा शिक्षानुभव को समृद्ध और सुनियोजित किया जाता है।

परीक्षा ही ऐसी वस्तु है, जिसके आधार पर हमलोग यह जान पाते हैं कि बालक-बालिकाओं ने किस सीमा तक कौन-कौन से अनुभव प्राप्त किए हैं और अभी कितना कार्य बाकी है। परीक्षा वस्तुस्थिति की परिचायक होती है, ज्ञान एवं अनुभव की कसौटी होती है। परीक्षा बालकों के विकास का साधन होती है। यदि अपनी कमजोरियों को जानना है, अपनी सफलताओं का पता लगाना है, उनके प्रकाश में प्रगति के पथ पर चलना है, तो परीक्षा की अनिवार्यता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

शिक्षक का उद्देश्य बालक के भीतर उत्तम शैक्षिक विकास करना होता है। परीक्षा एवं मूल्यांकन शैक्षिक विकास के साधन मात्र हैं। इनके द्वारा छात्रों के विभिन्न विकासों की मात्रा नापी जा सकती है। अतः, शिक्षण प्रक्रिया की अंतिम सीढ़ी समीता की प्रक्रिया होता। तात्पर्य यह है कि शिक्षण की क्रिया परीक्षा एवं मूल्यांकन की पद्धति से पूर्ण होती है, परीक्षा की सफलता अच्छे प्रश्नों पर आधारित है।

अच्छे प्रश्नों की विशेषताएँ

सफल और वैज्ञानिक परीक्षा के लिए प्रश्नपत्रों में निम्नांकित चार गुणों का होना आवश्यक है—

(१) वस्तुनिष्ठता (Objectivity),
(२) प्रामाणिकता (Validity),

(३) विश्वसनीयता (Raliability) और
(४) व्यावहारिकता (Practicaility)।

उपर्युक्त विषय पर हमलोग क्रमशः विचार करें।

(१) वस्तुनिष्ठता—प्रश्न ऐसे हों कि उनके मूल्यांकन में व्यक्तिपरकता नहीं आने पावे। विभिन्न परीक्षकों द्वारा भी जाँच में एकरूपता बनी रहे। विद्यार्थियों की शक्ति और दुर्वलता के संबंध में ठोस निर्णय लिया जा सके।

(·) प्रामाणिकता—किसी भी विषय-शिक्षण के लिए कुछ उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हुई, इसी की जानकारी के लिए हम प्रश्न वनाते हैं। जिन उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रख कर हम परीक्षा का अयोजन करते हैं, उसकी पूर्ति का ठीक-ठीक मुल्यांकन हो जाए, तभी परीक्षा प्रामाणिक कही जाएगी।

पाठ्यक्रम में निर्धारित सभी विषयों के बुनियादी शिक्षा-पद्धति के शिक्षण के साथ भी ऐसी ही वात है। हिंदी की परीक्षा ऐसी होनी चाहिए कि उससे इस वात का संकेत मिल सके कि हमारे हिंदी-शिक्षण के उद्देश्यों की पूर्ति किस सीमा तक हुई। यदि परीक्षा के द्वारा भाषा-कौशल की जाँच करना चाहते हैं, तो उसके प्रश्न ऐसे हों, जो मुख्यतः भाषा-कौशल की ही जाँच करें, न कि ज्ञान अथवा अभिरुचि की।

परीक्षा की प्रमुख आवश्यकता है कि वह प्रामाणिक हो। प्रश्न प्रामाणिक तभी होंगे, जव उस विषय का उद्देश्य विल्कुम स्पष्ट हो, जिसकी हम जाँच करना हैं। उद्देश्य स्पष्ट होने पर हमारा प्रत्येक प्रश्न किसी-न-किसी ऐसे सुनिर्दिष्ट उद्देश्य पर केंद्रित होगा, जिसकी पूर्ति की हम जाँच करना चाहते हैं।

(३) विश्वसनीयता—किसी भी परीक्षा अथवा जांच को हम तभी विश्वसनीय कहेंगे, जव एक ही जाँचपत्र कई वार दिए जाने पर भी परिणाम में एकरूपता वनी रहे। जो परीक्षा जिस हद तक एकरूपता का मापन करती है, वह उसी हद तक विश्वसनीय है। हिंदी-परीक्षा की विश्वसनीयता के लिए निम्नांकित वातें आवश्यक हैं—

(क) प्रश्नों की जांच में वस्तुनिष्ठता आ सके और उसमें व्यक्तिपरकता की गुंजाइश नहीं के वरावर हो। एक ही उत्तर-पुस्तिका की जांच जव विभिन्न परीक्षाकों द्वारा हो और उनके द्वारा दिए गए अंकों में विभिन्नता रहे, तो ऐसे प्रश्न-पत्र विश्वसनीय नहीं माने जाएंगे। इस प्रकार की त्रुटियां विशेषतः निवंधात्मक प्रश्नों में पायी जाती है। ऐसे प्रश्न प्रायः सुनिर्दिष्ट नहीं होते और उनके उद्देश्य भी सुस्पष्ट नहीं होते। फलतः अलग-अलग परीक्षक अलग-अलग दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते हैं, जिससे कि प्रतिफल में पर्याप्त अंतर पड़ जाता है।

(ख) जिस जाँच-पत्र में जितने ही अधिक प्रश्न-पत्र होंगे, उसकी विश्वसनीयता उतनी ही अधिक बढ़ेगी। परंतु, समय की सीमा को ध्यान में रखते हुए प्रश्न-पत्र में अनेक निबंधात्मक प्रश्न नहीं दिए जा सकते। इस दिशा में वस्तुनिष्ठ प्रश्नों से लाभ उठाया जा सकता है। निर्धारित समय में बिना किसी परिवर्तन के हम अनेक वस्तुनिष्ठ प्रश्न दे सकते हैं।

(४) व्यावहारिकता—विद्यालय का वातावरण, विद्यालय की समय-सारणी, परीक्षा की कालावधि आदि बातों को ध्यान में रखते हुए यह भी देखना है कि प्रश्न ऐसे हों, जिनसे व्यवहार में कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं हो सकें। ये प्रश्न सुवीधाजनक दृष्टि से दिए जा सकें तथा सहूलियतपूर्वक पढ़े जा सकें। शिक्षक प्रश्नों का व्यवहार वर्ग-शिक्षक के सकय करेंगे तथा समय-समय पर विद्यार्थियों की प्रगति की जाँच भी करेंगे। अतः, प्रश्न ऐसे हों, जो इन सारी परिस्थितियों में व्यावहारिक हों। इन प्रश्नों के निर्माण में आर्थिक पहलू पर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। ये प्रश्न ऐसे हों कि इनके निर्माण या व्यवहार में अधिक खर्च नहीं पड़े। यह भी आवश्यक है कि शिक्षकों को उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँचने में कम-से कम समय लगे। प्रश्न की भाषा ऐसी हो कि छात्रों को समझने में कठिनाई नहीं हो। विद्यार्थी प्रश्न पढ कर यह समझ जाएँ कि प्रश्न पूछने में प्रश्नकर्त्ता का क्या उद्देश्य है। उदाहरणतः—हम अपनी मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा को लें।

हिंदी-शिक्षण के दृष्टिकोण से परीक्षा प्रश्नों के प्रकार :—हिंदी-शिक्षण के दृष्टिकोण से प्रश्नों के मुख्यतः दो प्रकार होंगे——

(१) निवंधात्मक और (२) वस्तुनिष्ठ। अब हम इन दोनों पर विचार करें।

(१) निबंधात्मक प्रणाली

जहाँ तक निबंधात्मक प्रणाली की प्रबलता, पुष्टि, सिद्धि, लाभ और उपयोगिता का प्रश्न है, वहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह प्रश्न तंत्रमूलक है। इसमें परीक्षक का अधिकरण संबंध इतना विस्तृत बन जाता है कि बहुत अंशों तक इसकी यथार्थता और विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। परीक्षा की सफलता के लिए जिन गुणों की चर्चा मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में की है, निबंधात्मक प्रश्नो में उनका प्रायः अभाव पाया जाता है। यहाँ वस्तुनिष्ठता, प्रामाणिकता, विश्वसनीयता और व्यावहारिकता इन चारों तत्वों की बहुत अधिक कमी रहती है। यह मुख्यतः अवसर, भाग्य, परीक्षक के दृष्टिकोण एवं रटने की क्रिया पर आधारित होती है। डॉ० आर०-

एस० दवे और श्री एच० एस श्रीवास्तव ने भी इन विचारों की पुष्टि की है।[1]

आज हिंदी भाषा की प्रगति की जाँच के लिए, विहार प्रांत में परंपरागत परीक्षा-प्रणाली ही प्रचलित है। प्राथमिक शालाओं से उच्च विद्यालयों तक में परीक्षा की इस लिखित प्रणाली द्वारा हम अपने विद्यार्थियों के हिंदी भाषा के ज्ञान का मूल्यांकन करते हैं। परंतु, लिखित परीक्षा-प्रणाली का यह वर्तमन रूप भ्रांतिमूलक और त्रुटिपूर्ण है तथा इसमें अब आवश्यक सुधार होना अत्यंत आवश्यक है, ऐसा सभी शिक्षाशास्त्री मानते हैं। इसमें व्यक्तित्व के समस्त अंगों की परीक्षा नहीं हो पाती, फलस्वरूप शिक्षण शालाओं से निकले हुए आज के विद्यार्थी सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व के नागरिक नहीं बन पाते। केवल मानसिक विकास ही मनुष्य का सब कुछ नहीं है, जीवन के विस्तृत क्षेत्र में विभिन्न विषयों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक जिम्मेवार नागरिक को करनी पड़ती है। इसके लिए उन्हें व्यवस्थित शिक्षा की आवश्यकता है। इसके साथ ही हमें यह सर्वदा स्मरण रखना है कि जहाँ शिक्षा की आवश्यकता है, वहाँ उसके लिए मापदंड भी चाहिए। वर्त्तमान वैज्ञानिक और जनतांत्रिक युग में मनुष्य को उसकी मानसिक विकास के साथ-साथ नैतिक, सामाजिक, भावात्मक और राष्ट्रीय गुणों की भी आवश्यकता है, जिसका बीजवपन बाल्यावस्था में ही कुछ तो घर में, कुछ समाज में और शेष विद्यालय में होता है। वस्तुतः विद्यालय--जैसी पवित्र और शिक्षा की सर्वप्रमुख संस्था में ही व्यक्ति के अधिकांश गुणों का विकास संभव है। भारत के प्राचीन गुरुकुल इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अतः, आज हमारा यह एक आवश्यक कर्त्तव्य है कि विद्यालय के समस्त वातावरण के साथ--साथ अपनी परीक्षा-प्रणाली को भी उत्कृष्ट और यथार्थ बनावें। हिंदी भाषा की उन्नति भी इसी में निहित है। हर्टौग कमीशन रिपोर्ट (१९२९ पृष्ठ७) ने भी इसकी अल्पता और न्यूनता को स्वीकार किया है। कमीशन का विचार है कि वर्त्तमान परीक्षण-प्रणाली के निर्धारित रूप और नियमों द्वारा विद्यार्थियों की मानसिक बुद्धि की प्रगति की जाँच स्पष्टतः नहीं हो पाती। परीक्षा की वर्तमान त्रुटिपूर्ण प्रणाली के संबंध में सन् १९०२ ई० में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग ने अपना मंतव्य पेश करते हुए इस आशय के शब्द

---

1. "Written examinarions as they are prevalent at present suffer from some very serious shortcomings, chief among which are—

A. Emphasis on Memorization, B. Subjectivity,

C. Poor Content Coverage, and D. Other Administrative Issues,

Dr. R. Dave & Sri H, S. Srivastave, Improvement of Written Examinations, Page I. (National Institutes of Education. New Delhi—16

लिखे हैं—"सबसे बड़ी त्रुटि जिससे भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा ग्रस्त है, वह यह है कि शिक्षण परीक्षण के अधीन है न कि परीक्षण शिक्षण के अधीन।" राधाकृष्णन् कमीशन रिपोर्ट ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर विश्वविद्यालय के अंदर 'केवल एक' सुधार का नाम लिया जाए, तो वह है—'परीक्षा'। इस संबंध में सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने भी अपना मंतव्य प्रकाशित किया है,—"यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्तमान समय में व्यवहृत परीक्षएँ विद्यार्थियों की वास्तविक ज्ञान राशि उपलब्धि की जाँच में भी ठीक-ठीक सहायक नहीं होती।[1]"

निबंधात्मक प्रणाली की कुछ त्रुटियाँ इस प्रकार द्रष्टव्य हैं—

(क) वस्तुनिष्ठता का अभाव—वस्तुनिष्टता के विचार से निबंधात्मक प्रणाली अत्यंत दोषपूर्ण है। इसमें व्यक्तिपरकता की पर्याप्ता गुंजाइश होती है। दो परीक्षकों के अकन-स्तर में अंतर की बहुत संभावना रहता है। इस संबंध में किए गए अनेक अध्ययन तथा अनुभव के आधार पर यह सिद्ध है कि एक ही उत्तर-पुस्तिका की जाँच यदि भिन्न-भिन्न परीक्षक करें, तो उनके द्वारा दिए गए अंकों में बहुत असमानता दिखलाई देगी। इतना ही नहीं, बल्कि एक ही परीक्षक यदि दो परिस्थितियों में एक ही उत्तर-पुस्तिका की दो बार जाँच करें, तो दोनों बार के अंकों में पर्याप्त अंतर होने की संभावना रहती है। परीक्षक की शारीरिक और मानसिक अवस्थओं का असर भी इस प्रणाली की उत्तर-पुस्तिकाओं के मूल्यांकन पर पड़ता है।

(ख) न्यून प्रामाणिकता—सफल परीक्षा के लिए एक प्रमुख और आवश्यक तत्त्व प्रामाणिता के दृष्टिकोण से निबंधात्मक प्रणाली दोषपूर्ण है। ऐसे प्रश्नों से यह यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि प्रश्नकर्त्ता के उद्देश्य क्या हैं। वह क्या जाँचना चाहता है, यह ठीक पता नहीं लगता। परिणामस्वरूप मूल्यांकन का मूलाधार ही नष्ट हो जाता है और परीक्षा प्रामाणिकता ही नहीं शेष रहती। अधिकांश निबंधात्मक प्रश्नों की संरचना (विन्यास) इतनी त्रुटिपूर्ण होती है कि उनके उत्तर अनिश्चित एवं अर्थ अस्पष्ट होते हैं। प्रश्नप्रत्र ऐसे बनाए जाते हैं कि उनमें पुस्तकीय ज्ञान पर ही अधिक बल रहता है। तर्क-वितर्क का अभ्यास कम होता है। रटंत-प्रणाली को प्रोत्साहन देने में भी वर्तमान परीक्षाएँ ही उत्तरदायी हैं। छात्र मुख्यतः संभावित प्रश्नों, अनुमानियप्रश्नों अनुमानित प्रश्नों, कुंजिकाओं तथा गाइडों पर ही निर्भर करते

---

1. "It may therefore be fairly inferred that as at present conducted, examinations do not help us to evaluate correctly even the tellectual attainments of the pupils." S.E.C.R., Page 153.

हैं। परीक्षा में प्रश्न इस ढंग से निश्चित किया जाना चाहिए, जिसके द्वारा स्वतंत्र चिंतन और समीक्षात्मक स्वावलंबन की प्रवृत्ति बढ़े—

(ग) न्यून विश्वसनीयता —प्रश्नपत्र अवैज्ञानिक रीति से तैयार किए जाते हैं। इसमें संयोग की अत्यधिक संभावना रहती है। प्रश्नों की भाषा ऐसी रहती है कि प्रश्नोत्तर में भी संयोग की संभावना बनी रहती है। हिंदी भाषा के प्रश्नपत्रों के साथ तो इस विषय में अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। हिंदी एक साहित्यिक भाषा है। अतः, इसका प्रश्नपत्र स्पष्ट होना चाहिए, जिसमें द्विविधा की कोई गुंजाइश नहीं रह जाए। इसके अतिरिक्त इसमें एक ही जाँचप्रत्र एक ही परीक्षक को कई बार या भिन्न-भिन्न परीक्षक को दिए जाने पर परिणाम में एकरूपता नहीं रखती। समय की सीमा को ध्यान में रखते हुए निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली में अधिक प्रश्न नहीं दिए जा सकते। ऐसी अवस्था में हम पूरे पाठ्यक्रम को प्रश्नों के द्वारा समाविष्ट नहीं कर पाते। निर्धारित समूचा विषय पढ़ने वाले छात्र पीछे हट जा सकते हैं, परंतु चुने हुए अंशों को पढ़ने वाले छात्र अच्छी तरह बाजी मार ले जा सकते हैं। अतः, विद्यार्थियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चुने हुए अंशों को पढ़ते के लिए ही बढ़ावा मिलता है। प्रश्नों के उत्तर के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं रहती। जो परीक्षार्थी जितना जानता है, लिख सकता है। हिंदी भाषा के साथ तो यह बात विशेषरूपेण लागू है।

(घ) पाठ्यक्रम पर दुष्प्रभाव—वर्त्तमान शिक्षण-प्रणाली में पाठ्यक्रम के विषयों का चुनाव अथवा निर्वाचन परीक्षक की दृष्टि से ही किया जाता है। आजकल जिन बातों की लिखित परीक्षा नहीं हो सकती, उनका पाठ्य क्रम में स्थान नहीं। हिंदी भाषा शिक्षण में बोलचाल प्रणाली को उतना ही महत्त्व प्राप्त है, जितना लिखित प्रणाली को। वस्तुतः विचार कर देखा जाए तो हिंदी में बोलचाल प्रणाली को सबसे अधिक महत्त्व मिलना चाहिए; क्योंकि इससे देश की राष्ट्रभाषा तथा बहुत प्रांतों की मातृभाषा होने के कारण दैनिक और व्यावहारिक जीवन में इसी के माध्यम से बातचीत अथवा अन्य कार्यों के संपादन का अवसर मिलता है। परंतु, अभी परीक्षाओं में मौखिक, शाब्दिक अभिव्यक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं। अगर बिहार प्रांत के कुछ स्कूलों में हैं भी, तो बहुत कम, और वे भी महत्त्वपूर्ण अवस्था में नहीं हैं।

(ङ) शिक्षण-विधि पर दुष्प्रभाव—आज की परीक्षा-प्रणाली साधन होते हुए भी साध्य बन गई है। परीक्षा तो ज्ञान और अनुभव की जाँच का एक साधन है, किंतु दुर्भाग्यवश वह शिक्षा का उद्देश्य या साध्य बन गई है। वर्त्तमान रटंत-

प्रणाली परीक्षाओं की देन है। इसमें ज्ञानप्राप्ति और मानसिक उन्नति पर न्यूनतम बल दिया जाता है। शिक्षा-संस्थाओं में परीक्षा को ही दृष्टि में रख कर पढ़ाया जाता है। सबका लक्ष्य होता है—परीक्षा पास करना। पाठ्य-पुस्तकों के वे विषय जो परीक्षा की दृष्टि से 'आवश्यक' नहीं, उनको अछूता ही छोड़ दिया जाता है, वर्ग में पढ़ाया भी नहीं जाता। 'अमुक पुस्तक' एक अध्ययन या 'बाजारू नोट' पढ़ाना या प्रत्यक्ष स्पष्ट अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित करना भी शिक्षकों द्वारा होता है। शिक्षक, अभिभावक सभी की इच्छा विद्यार्थी को किसी प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण देखने की होती है। उनकी समस्त प्रतिष्ठा सफल या असफल होने में छिपी रहती है। परीक्षा में, असफल हो जाना अत्यंत हीनता एवं न्यूनता का द्योतक है; क्योंकि यह परीक्षा भावी जीवन के निर्माण का आधारस्तंभ है। मूल विषय को समझाए बिना सभी की इच्छा रहती है कि हमारे विद्यार्थी किसी प्रकार परीक्षोत्तीर्ण हो जाएं। परंतु, स्पष्ट है कि इस प्रकार न तो बालक की योग्यता बढ़ेगी और न क्षमता। परिणामतः न तो पाठन-प्रणाली में सुधार हो पाता है और न सच्ची शिक्षा की ओर ही कदम बढ़ाया जाता है। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में तो ऐसी प्रवृत्ति अशोभन और अहितकर स्थिति ही पैदा करती है।

(च) छात्रों पर दुष्प्रभाव—लिखित परीक्षा-प्रणाली के दोषों का कुप्रभाव सबसे अधिक छात्रों पर पड़ता है। उन पर हमेशा परीक्षा का भूत सवार रहता है। उन्हें दिन-रात परीक्षा की चिंता लगी रहती है और ऐसी हालत में वे जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण बातों की उपेक्षा करते हैं। वे न तो चरित्र-निर्माण पर विशेष ध्यान देते हैं, न व्यक्तित्व-निर्धारण पर। उनके समस्त कार्य-कलाप परीक्षा की ही दृष्टि से होते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अवस्था अत्यंत कटु कहलाएगी। इस भयावह स्थिति में उनमें मानसिकग्रंथियाँ पड़ जाती हैं, जो भावी जीवन को कुसंयोजित बना देती हैं। विद्यार्थियों की मानसिक अशांति, अंतर्द्वंद्व, निरंतर चिंता, असफलता के कारण निराश की भावना, आलस्य एवं अकर्मण्यता आदि तत्कालीन परीक्षा-प्रणाली के ही दुष्परिणाम हैं। सफलता प्राप्त करने की तीव्र इच्छा उन्हें अनैतिक साधनों के उपयोग करने की ओर उत्तेजित और उत्प्रेरित करती है। छात्रों की महत्त्वाकांक्षाएं चरित्रहीनता में बदल जाती हैं। परीक्षा में सफलता पाना ही उनका मुख्य लक्ष्य होता है, न कि ज्ञान की आराधना। इस प्रसंग में शिक्षाशास्त्री श्री व्रे के विचार द्रष्टव्य हैं—"परीक्षा में जिससे कुछ फल-प्राप्ति की आशा नहीं, ऐसे विषयों को पढ़ने के प्रति विद्यार्थियों की भावना में अनिवार्यतः परिवर्तन हो जाता है और वे लोग उसके अध्ययन में केवल समय का नाश ही

समझते हैं।"[1] यह भी लिखित परीक्षा-प्रणाली का ही दोष है कि वर्ष के सात-आठ महीने आराम के साथ गुजार कर अंतिम दो-तीन महीनों में रात-दिन इतनी पढ़ायी करते हैं कि इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। कुछ विद्यार्थी परीक्षा के दिनों में बीमार हो जाते हैं और कुछ परीक्षा के बाद। विद्यार्थी-अवस्था में बालक का स्वास्थ्य विकासोन्मुख होता है। अतः, प्रति वर्ष का यह कठोर आघात बहुत हानिकर सिद्ध होता है।

(छ) अध्यापक पर दुष्प्रभाव—शिक्षक की प्रवृत्ति भी केवल परीक्षा में संभावित प्रश्नों के उत्तर सिखाने की ओर ही रहती है; क्योंकि नौकरी, मर्यादा आदि सांसारिक विषयों में उनकी भावी उन्नति उस विषय की परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों पर ही आश्रित है। परीक्षा के दबाव में उनकी मानसिक स्वच्छंदता का नाश हो जाता है, जिसका प्रभाव उनके समस्त व्यक्तित्व पर पड़ता है। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट (पृष्ठ १५६) में निम्न आशय का मंतव्य दिया—"जिन निर्धारित पाठ्यों की परीक्षा होगी उसको पढ़ाने के लिए शिक्षकों को बाध्य जाता है, फलस्वरुप सफलतापूर्वक उसको संपन्न करने के लिए उनको 'चम्मच से खिलाने' (Spoun-feed) की कहावत चरितार्थ करनी पड़ती है। इससे विद्यार्थियों के स्वतंत्र अध्ययन करने की आदत के विकास में अवरोध ही नहीं पहुँचता, वरन् गहरा धक्का भी लगता है।"

हिंदी का विकास तभी होगा, जब इस भाषा के अध्यापक स्वतंत्र होकर पाठ्य-पुस्तकों एवं अन्य साधनों का सफल प्रयोग करें। एक निश्चित नियम और सीमा में बँध कर मात्र परीक्षा के दृष्टिकोण से ही अगर वे कुछ गद्य एवं पद्य पढ़ावेंगे, कुछ निबंध लिखा कर व्याकरण रटा देंगे, तो हम अपनी निश्चित-निर्धारित सीमा को कभी नहीं छू सकेंगे, हमारा लक्ष्य, मात्र लक्ष्य बन कर ही रह जाएगा।

(ज) अधूरी पढ़ाई—निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें प्रायः समाप्त नहीं हो पातीं अथवा शिक्षक किसी कारणवश उन्हें समाप्त नहीं कर पाते। परंतु, परीक्षा निर्धारित पाठ-विधि के अनुसार नियत समय पर अवश्य होती है, जिससे विद्यार्थियों का ज्ञान अधूरा रह जाता है। हिंदी चूँकि एक भाषा है और साहित्य के रूप में इसकी पढ़ाई होती है, अतः विद्यार्थियों पर इसका असर विशेष रूप से पड़ता है। आजकल की प्रचलित निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली में हम देखते हैं कि प्रायः प्रश्नपत्र में आठ, दस अथवा

---

1. "The attitude inevitably changes to that of nothing that will not pay in the examination is to be regarded at all, for it is a waste of time." Indian School Organisation, Bray, Page 54.

कभी-कभी बारह प्रश्न, दिए जाते हैं, किंतु इन प्रश्नों से विद्यार्थियों की वास्तविक योग्यता का पता लगाना कठिन कार्य है। यह संभव नहीं होता कि बालक जो कुछ जानता है, वे सभी बातें इस प्रश्नपत्र के द्वारा पूछी जा सकें। परिणामतः परीक्षा 'अवसर का खेल' बन गई है। बालक जो कुछ जानता है; अगर वे ही बातें पूछी गई, तो पास हो जाता है। परंतु जिन बातों को वह नहीं जानता है, अगर वे प्रश्नपत्र में पूछी गई तो वह अनुत्तीर्ण हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो विद्यार्थी (परीक्षार्थी) एक बार परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है, तो वह दूसरी बार भी परीक्षा में उत्तीर्ण ही हो जाए अथवा उसी के अनुसार अंक प्राप्त कर ले। इतना ही नहीं, यदि एक ही उत्तर-पुस्तिका को अलग-अलग परीक्षक जाँचते हैं, तो कोई दस अंक देता, कोई पंद्रह, तो कोई बीस तक दे सकता है। कभी-कभी तो यदि वही उत्तर-पुस्तिका, वही परीक्षक पांच-सात दिन बाद देखे, तो उसके द्वारा दिए अंक बदल जाते हैं। इस पर परीक्षक की मनोभावना का भी बड़ा असर पड़ता है। यदि वह प्रसन्न मुद्रा में होगा, तो संभव है अधिक अंक दे। परंतु अगर भावावेश, शोक अथवा क्रोध में है, तो कम अंक भी दे सकता है।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि प्रश्नपत्र जितना लंबा होगा अर्थात् प्रश्न जितने अधिक होंगे, उसी के अनुसार विद्यार्थी की योग्यता का मापन हो सकता है। आज तीन घंटे के अंदर प्रायः दस प्रश्नों में छह-सात प्रश्नों के उत्तर लिखने पड़ते हैं और विद्यार्थी के हिंदी-संबंधी ज्ञान की जांच हो जाती है। ऐसी जाँच कभी सफल नहीं हो सकती। पाठ्य-पुस्तक अथवा निर्धारित कोई विषय पूरा-पूरा पढ़ा कर उन सबसे अगर प्रश्न किए जाएँ, तो उचित होगा।

निबंधात्मक परीक्षा के गुण

निबंधात्मक परीक्षा में त्रुटियां अवश्य हैं। इससे पूर्व मैंने कुछ प्रमुख त्रुटियों की चर्चा भी की है। परंतु, अपनी त्रुटियों के बावजूद हिंदी-शिक्षण के दृष्टिकोण से निबंधात्मक प्रणाली में कुछ ऐसे गुण भी हैं, जिसके कारण हमलोग इससे अपना संबंध विच्छेद करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यह परीक्षा, हिंदी-शिक्षण के दृष्टिकोण से किस प्रकार और कितनी उपयोगी है, इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं :—

(क) मानसिक शक्तियों की जानकारी—इन परीक्षाओं द्वारा विद्यार्थियों की उच्च मानसिक शक्तियों, तर्कशक्ति एवं विचारशक्ति आदि का पता चलता है।

(ख) भाषा-प्रवाह की जांच—छात्र-छात्राओं की मुक्त भावाभिव्यंजना की शैली और लिखित अभिव्यक्ति तथा भाषा-प्रवाह की जांच के लिए ऐसे प्रश्न-पत्र अत्यंत उपयोगी होते हैं। ऐसे ही प्रश्नों के द्वारा रचनात्मक और आलोचनात्मक

विचारों को अपनी लिखित शैली में परीक्षकों के समक्ष रखने की क्षमता की जांच संभव है। *ऊँची कक्षाओं में हिंदी भाषा-शिक्षण के ये ही तो प्रमुख उद्देश्य हैं।* इससे छात्र-छात्राओं को अपने विचारों को व्यवस्थित रूप में व्यक्त करने में बहुत सहायता मिलती है। उनके अध्ययन की वृद्धि होती है तथा धैर्य का विकास होता है।

(ग) प्रश्नों का निर्माण सरल है—हिंदी-शिक्षण के दृष्टिकोण से हम देखते हैं कि इस प्रकार के प्रश्नों का निर्माण भी प्रायः सरल है। उत्तर-पुस्तिकाओं की जाँच में जो कठिनाइयाँ और मिहनत हैं, उन्हें यदि नजर-अंदाज कर दिया जाए, तो भाषा और अपेक्षित साहित्य तथा पत्रकारिता के लिए अपेक्षित गुणों का विकास निबंधात्मक प्रणाली के प्रश्नों द्वारा ही सर्वाधिक उत्तमता के साथ किया जा सकता है।

(घ) प्रवृत्ति आदि की जाँच—लिखित परीक्षा द्वारा बालक-बालिकाओं की विभिन्न योग्यता, बुद्धिचातुर्य, गुण, रुचि, एवं प्रवृत्ति आदि की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। हिंदी भाषा-शिक्षण के निमित्त, इन गुणों की जानकारी हिंदी शिक्षक को अवश्य ही होनी चाहिए।

(ङ) श्रेणियों में विभाजन—इस परीक्षा-प्रणाली का यह बहुत बड़ा गुण है कि हम इसके माध्यम से छात्रों की मानसिक अवस्था का न्यूनाधिक मात्रा में अनुमान एवं जाँच कर सकते हैं तथा उत्तम श्रेणी, मध्यम श्रेणी और औसत श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं। इस प्रकार विभिन्न श्रेणियों के छात्रों को विभिन्न कक्षाओं में विभाजित किया जा सकता है तथा उनकी ग्राह्य शक्ति के अनुसार उन्हें विभिन्न स्तरों की शिक्षा दी जा सकती है। यदि विभिन्न स्तरों के छात्रों को एक ही वस्तु की शिक्षा प्रदान की जाए, तो अच्छी बुद्धि वाले कुछ ही छात्र उसे ग्रहण करेंगे, परंतु जिनका मस्तिष्क इतना परिपक्व नहीं हो कि वे उसे ग्रहण कर सकें, तो वे निराश होकर विषय से अभिमुख हो जाएंगे। इससे छात्रों को अधिक परिश्रम की प्रेरणा भी प्राप्त होती है।

(च) शिक्षण-विधियों का मूल्यांकन—विभिन्न शिक्षण-विधियों का मूल्यांकन, कक्षाओं का वर्गीकरण, विकास-लेखा आदि तैयार करने में भी निबंधात्मक परीक्षा-प्रणाली उपयोग है।

(छ) विषय-वस्तु की अनुकूलता की जांच—निबंधात्मक परीक्षाओं द्वारा हमें यह भी ज्ञात होता है कि प्रदत्त विषय-वस्तु विद्यार्थियों के लिए अनुकूल है अथवा

नहीं। कभी-कभी शिक्षा-विधि में त्रुटि रहने के कारण भी कोई-कोई वस्तु छात्रों को स्पष्ट नहीं हो पाती और वैसी परिस्थिति में परीक्षा द्वारा ही हम यह जान पाते हैं कि शिक्षण-विधि में क्या परिवर्तन किया जाए तथा अन्य त्रुटियों का सुधार कैसे हो। इनके द्वारा लिखने-पढ़ने की ओर अध्यापक प्रेरित कर सकते हैं, समय-समय पर उन्हें अधिन्यास दिया जा सकेगा, जो डाल्टन प्रणाली की मुख्य विशेषता है।

(ज) निजी विद्यालय की तुलना—निबंधात्मक (परंपरागत) परीक्षा-प्रणाली द्वारा विभिन्न विद्यालयों के छात्रों की परीक्षा होने से विद्यालयों के प्रधानों को भी यह अवसर मिलता है कि वे अन्यान्य अपने समकक्ष विद्यालयों से, निजी विद्यालय की तुलना कर सकें तथा तत्संबंधी दोषों को दूर कर पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा सभी विषयों के शिक्षण-क्षेत्र में प्रगति कर सकें। स्वयं अध्यापकों को भी अपने शिक्षण-कार्य एवं शिक्षण-विधियों की त्रुटियों की जानकारी होती है।

अपनी मातृभाषा "हिंदी भाषा" के शिक्षण के दृष्टिकोण से हम लिखित परीक्षा-प्रणाली को बिल्कुल छोड़ नहीं सकते। हाँ, इसके संबंध में पूर्णतः सोच-विचार कर वांछनीय एवं आवश्यक सुधार अवश्य करें।[1]

(२) वस्तुनिष्ठ प्रणाली

वस्तुनिष्ठता से मेरा तात्पर्य है—वस्तु का यथातथ्य वर्णन अर्थात् प्रश्न के उत्तरों की एकरूपता। विद्यार्थी से प्रश्न इस प्रकार पूछे जाएँ जिनके शुद्ध उत्तर एक ही हों अर्थात् विचार-विभिन्नता की गुंजाइश नहीं हो। इसका परिणाम यह होगा कि शिक्षक का व्यक्तिगत पक्षपात उनकी मनोदशा आदि का प्रभाव उत्तरों के मूल्यांकन पर नहीं पड सकेगा। यहाँ विद्यार्थियों को प्रश्नों के उत्तर देने में अधिक समय नहीं लगता। प्रश्नपत्रों की जाँच भी शीघ्र हो हो जाती है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा-प्रणाली में प्रश्न के उत्तरों को चाहे एक व्यक्ति जाँचे चाहे अनेक, उनके कार्य में विषमता नहीं होगी। इस प्रकार के ही प्रश्न परीक्षा में रहें, जिनके अनेक उत्तर नहीं हों। वस्तुनिष्ठ प्रकार की परीक्षा लेख-प्रकार की परीक्षा की प्रतिक्रिया रूप में प्रादुर्भूत हुई है। शिक्षाविशारदों ने देखा कि निबंधात्मक प्रकार की परीक्षा से बालक के बौद्धिक ज्ञान की पूरी-पूरी जांच नहीं हो पाती है, अतः यह अविश्वसनीय है। ऐसी

1. "———the written examinations, btecause they are the most commonly used ones, play a very important role. They have developed some' shortcomings. These shortcomings are not inherent in the very concept of written examinations but can be remedied, with a little thoughtful effort." Dr. R. H. Dave & Shri H. S. Srivastava, Improvement of Written Examinations., Page 1.

स्थिति में एक अमेरिकन शिक्षाशास्त्री होरेस मान ने वस्तुनिष्ठ प्रकार की परीक्षा की रूपरेखा तैयार की। इस प्रसग में उसने निम्नलिखित दो प्रमुख बातों का उल्लेख किया :—

(क) लिखित परीक्षा से मौखिक परीक्षा अधिक ठीक है और

(ख) लेख-प्रकार के प्रश्नों के स्थान में कई ऐसे प्रश्न देने चाहिए, जिनमें से प्रत्येक का एक स्पष्ट उत्तर हो,

एक दूसरे शिक्षाशास्त्री जे० एम० राइस ने इस जाँच–प्रणाली को प्रत्यक्ष रूप दिया। स्टार्च और इलियट-जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने इसका विशेष विकास किया। सन् १९३० ई० तक अमेरिका में इस पद्धति का विशेष विकास हो चुका था। वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं में जो प्रश्नपत्र बनाए जाते हैं, उनमें छोटे-छोटे प्रश्न होते हैं। कुछ विशेष चिह्न बनाने होते हैं अथवा शब्द मात्र लिखने होते हैं। प्रश्न पूरे पाठ्यक्रम पर होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर निश्चित होते हैं। परीक्षकों को इनका मूल्यांकन करने में किसी प्रकार की व्यक्तिगत छूट नहीं होती। इन परीक्षाओं द्वारा विद्यार्थियों के समस्त ज्ञान की सही-सही परीक्षा होती है। मूल्यांकन समान होने के कारण ही इन्हें वस्तुनिष्ठ (वस्तुगत) परीक्षाओं की संज्ञा प्रदान की गई है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा के निम्नलिखित दो मुख्य रूप हैं—

(१) अभिज्ञानात्मक परीक्षा (Recognitions type Test) एवं
(२) प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा (Recall Type Test)।

अभिज्ञानात्मक परीक्षा के अंतर्गत निम्नलिखित परीक्षाएँ आती हैं :—

(क) बहुनिर्वचनात्मक परीक्षा (Multiple Choice Test)

(ख) एकांतर प्रत्युत्तरात्मक परीक्षा (Alternate Response Type Test)

(ग) प्रश्नोत्तर को सही उत्तर से मिलाने वाली परीक्षा (Matching Type Test)

(घ) वर्गीकरण परीक्षा (Classification Test)

प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा के अंतर्गत निम्नलिखित परीक्षाएँ आती हैं :—

(क) साधारण प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा (Simple Recall Type Test)

(ख) रिक्त स्थानों की पूर्ति वाली परीक्षा (Completion Type Test)

ऊपर अभिज्ञानात्मक तथा प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा के जो विभिन्न प्रकार दिए गए हैं; उन पर विचार करना आवश्यक है।

अभिज्ञानात्मक परीक्षा

(क) वहुनिर्वचनात्मक परीक्षा—इसके प्रश्न एक कथन के रूप में होते हैं। प्रत्येक प्रश्न के चार–पाँच उत्तर दिए रहते हैं, जिनमें से सही उत्तर को परीक्षार्थी चुन लेता है। सही उत्तर को चुनाव दो ढंग से किया जाता है—(१) ऐसे प्रश्न देना, जिनमें केवल एक सही उत्तर निकालना पड़े। (२) ऐसे प्रश्न देना, जिनमें केवल सबसे उत्तम उत्तर देना पड़े। उदाहरण के लिए कृपया देखें, इस अध्याय के अंत में परिशिष्ट (क)।

वहुनिर्वचनात्मक परीक्षा के उपर्युक्त दो रूपों के अलावे आजकल एक और रूप प्रचलित हो रहा है–विपरीत वहुनिर्वचनात्मक परीक्षा (Reverse Multiple Choice Test)। ऐसे प्रश्नों में प्रत्येक प्रश्न के सही उत्तरों के साथ एक गलत उत्तर भी दिया जाता है। परीक्षार्थी को उस गलत उत्तर को ही छाँटना पड़ता है। परंतु, मनोवैज्ञानि दृष्टि से ऐसा करना उचित नहीं जँचता। यह हमें निषेधात्मक प्रणाली की ओर ले जाती है।

(ख) एकांतर प्रत्युत्तरात्मक परीक्षा—इसमें ऐसे प्रश्न दिए जाते हैं, जिनका उत्तर 'हाँ' या 'ना' में आता है। कुछ प्रश्नों में छात्रों को यह वताना पड़ता है कि दिया गया कथन सही है या गलत। इस प्रकार इसके दो रूप प्रचलित हैं:—(१)'सत्य-असत्य' रूप वाले प्रश्न,(२)'हाँ-नहीं' रूप वाले प्रश्न। उदाहरण के लिए कृपया देखें इस अध्याय का परिशिष्ट (क)।

(ग) प्रश्नों को सही उत्तर से मिलाने वाली परीक्षा—ऐसे प्रश्नों में दो स्तंभ होते हैं। पहले स्तंभ में कुछ कथन दिए रहते हैं और दूसरे स्तंभ में उनके उत्तर। उत्तर उसी क्रम में नहीं रहते, जिस क्रम में उनके कथन। परीक्षार्थी को प्रत्येक कथन को उपयुक्त उत्तर से मिलाना पड़ता है। उदाहरणार्थ, कृपया देखें इस अध्याय का परिशिष्ट (क)।

(घ) वर्गीकरण परीक्षा यह परीक्षा वस्तुतः सही उत्तर से मिलाने वाली परीक्षा का ही एक रूप है।

प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा

(क) साधारण प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा—इसमें एक छोटा-सा प्रश्न पूछा जाता है, जिसका उत्तर भी संक्षेप में होता है। परीक्षार्थी से एक वाक्य में या एक छोटे वाक्य में उत्तर माँगा जाता है।

(ख) रिक्त स्थानों की पूर्त्ति वाली परीक्षा—इस प्रकार की परीक्षा में किसी कथन के बीच एक या अधिक स्थान रिक्त छोड़ दिए जाते हैं और परीक्षार्थी को उपयुक्त शब्दों द्वारा उनकी पूर्ति करनी होती है।

प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा के उपर्युक्त दोनों रूप सरल हैं। अतः, इनका प्रयोग निम्न कक्षाओं में विशेष रूप से हिंदी भाषा के शिक्षणार्थ किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कृपया देखें इस अध्याय का परिशिष्ट (क)।

वस्तुनिष्ठ परीक्षा-प्रणाली के कुछ दोष

मातृभाषा हिंदी-शिक्षण के मूल्यांकन के दृष्टिकोण से वस्तुनिष्ठ परीक्षा-प्रणाली भी सर्वथा दोषमुक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसमें भी कतिपय त्रुटियाँ वर्त्तमान हैं। उनमें कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

१ विचार-संगठन की जाँच करने में अक्षम—वस्तुनिष्ठ परीक्षा-प्रणाली द्वारा परीक्षार्थी के विचार-संगठन और विचार-प्रकाशन की क्षमता की जाँच नहीं होती।

२. अभिव्यक्ति-शक्ति की जाँच करने में अक्षम—इसमें विद्यार्थियों की विचार एवं तर्क आदि मानसिक शक्तियों, भाषा-शैली और अभिव्यक्ति-शक्ति की परीक्षा नहीं हो पाती। प्रश्नों के प्रकार में विविधता अवश्य होती है, लेकिन वे प्रायः स्मरणशक्ति की परीक्षा ही कर पाते हैं, जबकि भाषा की परीक्षा में तो विशेष कर भाषा-शैली, बोधशक्ति एवं अभिव्यक्ति-शक्ति की परीक्षा करनी होती है।

३. पढ़ी हुई बातों को संक्षेप में लिखने का अवसर नहीं—परीक्षा की इस प्रणाली में परीक्षार्थी को तुलना करने, अर्थ बतलाने, परिभाषा देने, पढ़ी हुई बातों को संक्षिप्त अथवा विस्तारपूर्वक लिखने अथवा कहने का अवसर ही नहीं मिलता। हिंदी एक भाषा है। भाषा की जाँच के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम एक वैसे माध्यम की खोज करें, जहाँ इन अभावों की पूर्ति हो।

४. विवरण आदि अशुद्धियों की जांच कठिन—यहाँ लिखावट की सुंदरता या विवरण की शुद्धि, अशुद्धि की जाँच कठिन है। अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा हिंदी के उन्नयन के लिए हमें इसकी जांच अवश्य करनी है।

५ सामान्य सूझ आदि की जांच कठिन—हिंदी परीक्षा की इस प्रणाली में परीक्षार्थी की सामान्य सूझ, मौलिक रचना की शक्ति, तथ्यों को अपने शब्दों में व्याख्या करने की ताकत-जैसे गुणों की जाँच नहीं हो सकती है। इसके बिना हम उन छात्रों की प्रतिभा की जानकारी नहीं प्राप्त करे सकेंगे, जिनमें स्वतंत्र रचना

की शक्ति है तथा जो एक दिन महान् कवि और निवंधकार बन सकते हैं। इस जानकारी के अभाव में हम उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित भी नहीं कर सकते।

६. संभावना की गुंजाइश —परीक्षा की इस आधुनिक प्रणाली में शुद्ध और अशुद्ध जाँच, विविध चुनाव, संख्यात पद जाँच तथा कई कथनों के भीतर चुनाव करने से परीक्षार्थी में अनुमान अथवा संभावना से उत्तर देने की बुरी आदत पड़ने की गुंजाइश रहती है।

७. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोष— अशुद्ध कथन एवं अनेक उत्तरों को अल्पवयस्क छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण है।

८. व्यावहारिक कठिनाइयाँ— बिहार प्रांत में हिंदी भाषा-शिक्षण के निमित्त वस्तुनिष्ठ परीक्षा को पूर्णतः अपनाने में बहुत व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। इस प्रणाली में प्रश्नपत्र तैयार करने में पर्याप्त समय एवं प्रवीण शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है। वर्त्तमान अवस्था में यहाँ इस कला में प्रशिक्षित और दक्ष शिक्षक बहुत कम मिलेंगे। उत्तर-पुस्तिकाओं की जाँच के लिए बहुत ईमानदार व्यक्ति चाहिए। परीक्षा के समय वीक्षक की तत्परता और परीक्षा-हॉल की परिस्थिति बहुत उत्तम होनी चाहिए।

समीक्षा

ऐसी अवस्था में वस्तुनिष्ठ प्रश्नों को अभी प्रयोगात्मक रूप में ही चलाया जाना चाहिए, ताकि विद्यार्थी इस प्रविधि से पूर्ण अवगत हो जाएँ तथा शिक्षक ऐसे प्रश्नों के निर्माण और संगठन में पूर्ण दक्ष बन जाएँ।

मातृभाषा हिंदी-परीक्षा का रूप कैसा हो ?

महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा-पद्धति में इस बात पर बहुत बल दिया है कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।[1] अतः, उदाहरणार्थ हमारे लिए अपनी मातृभाषा हिंदी शिक्षण के दृष्टिकोण से दोषमुक्त परीक्षा-प्रणाली की बात ही सोचनी है। इससे पहले हम किसी परीक्षा-प्रणाली को अपनाने का निर्णय लें, हमें परीक्षा के उद्देश्यों को समझ लेना चाहिए। पिछले पृष्ठों में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि परीक्षा का उद्देश्य यह जानना है कि विद्यार्थियों ने कितना सीखा है तथा कितना शेष है। यह शेष नहीं सीखने का कारण क्या है। परीक्षा द्वारा अध्यापक यह पता लगाता है कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो रहा है। एतदर्थ, परीक्षा-

१. अध्याय ३० में आप देखेंगे कि इस संदर्भ में महात्मा गांधी के विचारों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।

प्रणाली विषय-शिक्षण के उद्देश्यों के अनुकूल ही होनी चाहिए। प्राथमिक वर्ग से ले कर उच्च वर्ग तक हिंदी भाषा-शिक्षण का प्रमुख उद्देश्य है कि विद्यार्थी दूसरों के लिखित भाव, विचार एवं अनुभव को समझ सकें तथा वे (विद्यार्थी) अपने भाव, विचार एवं अनुभवों को मौखिक अथवा लिखित रूप में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सके। हिंदी भाषा की परीक्षा लेते समय हमें सबसे अधिक महत्त्व बच्चों की ग्रहण-शक्ति एवं अभिव्यक्ति शक्ति के मूल्यांकन को ही देना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति निबंधात्मक परीक्षाएँ ही कर सकती हैं।

विद्यार्थी अपने भाव, विचार एवं अनुभवों को लिखित रूप में किस प्रकार व्यक्त करते हैं तथा दूसरों द्वारा लिपिबद्ध व्यक्त विचारों को किस सीमा तक वे समझते हैं, इसकी जाँच के लिए निबंधात्मक परीक्षाएँ अत्यंत आवश्यक हैं। निबंधात्मक परीक्षाओं के द्वारा विचार-संग्रह, विचार-व्यवस्था, विचार-विश्लेषण एवं भाव-प्रकाशन आदि में बड़ी सहायता मिलती है। इसके द्वारा ही विद्यार्थियों से उनके निर्धारित पाठ्य-ग्रंथों के गद्यांश भागों का भाव अथवा सारांश लिखवाया जाता है और व्याख्या अथवा समीक्षा करायी जाती है। हिंदी में भाषा-संबंधी अशुद्धियों का सर्वप्रमुख कारण लिखित अभ्यास की कमी है। हिंदी के साहित्यकारों के सामान्य एवं साहित्यिक जीवन की पूरी जानकारी के प्राप्ति-स्रोत एकमात्र ये निबंधात्मक परीक्षाएँ ही हैं।

स्पष्ट है कि निबंधात्मक परीक्षाओं के बिना हिंदी-शिक्षण का हमारा लक्ष्य पूरा नहीं होगा। हाँ, निबंधात्मक परीक्षाओं के वर्त्तमान रूप में हम सुधार अवश्य करें।

सुधरा हुआ रूप

अच्छी परीक्षा के लिए जिन आवश्यक गुणों की चर्चा पिछले पृष्ठों में मैंने की है, निबंधात्मक प्रश्नों में उनका स्पष्ट अभाव पाया जाता है। ऐसे प्रश्नों के पूछने में प्रश्नकर्त्ता के क्या उद्देश्य हैं, स्पष्ट नहीं हो पाता है। वह ठीक-ठीक क्या जाँचना चाहता है, पता नहीं चलता। इसका फल यह होता है कि मूल्यांकन का मूलाधार ही नष्ट हो जाता है और तब परीक्षा की प्रामाणिकता ही नहीं रह जाती। प्रश्नों के प्रारूप तथा भाषा तक की पुनरावृत्ति के कारण रटने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। विद्यार्थी घुमा-फिरा कर बारंबार पूछे जाने वाले प्रश्नों का चुनाव कर लेते हैं और पूर्ण पाठ्य-वस्तु को छोड़ कर केवल चुने हुए अंशों को ही पढ़ कर परीक्षा में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे प्रश्नों के द्वारा हम पूरी पाठ्य-पुस्तक को समेट नहीं पाते। उनमें प्रश्नोंत्तरों के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं रहती। जो परीक्षार्थी जितना जानता है,

उतना लिख सकता है। ऐसे प्रश्नों में विश्वसनीयता का प्रायः अभाव रहता है। इन प्रश्नों की भाषा कुछ इस ढंग की होती है कि विभिन्न परीक्षक उनके उत्तर के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोण बना लेते हैं। मूल्यांकन करते समय वे उन्हीं विभिन्न दृष्टिकोणों से काम लेते हैं और उनके सामने ऐसे प्रश्नों के उत्तर भी नहीं होते कि अंक देते समय वे निश्चित अवधि से बाहर नहीं जा सकें। अंक देने की किसी निश्चित रूपरेखा का कोई विवरण भी नहीं रहता।

उदाहरणार्थ—निम्नलिखित निबंधात्मक प्रश्नों को देखा जाए :—

प्रश्न १- अपनी पाठ्य-पुस्तक से पठित निबंध के आधार पर साहित्य के व्यापक प्रभाव का वर्णन करें।

पिछले पृष्ठों में निबंधात्मक प्रश्नों की जिन त्रुटियों का वर्णन किया गया है, वे प्रायः सभी उपर्युक्त प्रश्न पर लागू होती हैं। प्रश्नकर्त्ता का सुनिर्दिष्ट उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं है। यह पता नहीं चलता कि वह ठीक-ठीक क्या जाँचना चाहता है। अपेक्षित उत्तर की सीमा का कोई निर्धारण नहीं है। इसके उत्तर के प्रति विभिन्न परीक्षक विभिन्न दृष्टिकोण बना लेंगे और एक ही प्रकार के उत्तर में विभिन्न अंक देंगे। इस प्रकार इस प्रश्न में न तो प्रामाणिकता है, न विश्वसनीयता और न वस्तुनिष्ठता।

प्रश्न २. 'प्रणति' शीर्षक कविता का आशय स्पष्ट कीजिए।

इस प्रश्न से भी प्रश्नकर्त्ता का सुनिर्दिष्ट उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। उत्तर की सीमा भी निर्धारित नहीं है। विभिन्न परीक्षकों की जाँच में एकरूपता नहीं आ सकती। निबंधात्मक प्रश्नों की अन्य त्रुटियाँ भी इस प्रश्न में स्पष्ट हैं।

उपर्युक्त प्रश्न के सुधरे हुए रूप—

निबंधात्मक प्रश्नों में सुधार लाने के लिए अच्छी परीक्षा के गुणों को ध्यान में रख कर दो प्रकार के प्रश्न बनाए जा सकते हैं—

१. विस्तृत उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्नपत्र और

२. संक्षिप्त उत्तरवाले निबंधात्मक प्रश्नपत्र।

अब हमलोग उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रश्नों पर विचार करें।

१. विस्तृत उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्नपत्र—ऐसे प्रश्नों में मुक्त अभिव्यक्ति के लिए कुछ छूट अवश्य रहती है, किंतु प्रश्नों के उद्देश्य सुनिर्दिट होते हैं और उत्तर की सीमा बहुत अंशों तक निर्धारित रहती है। परंतु, मूल्यांकन करने में वस्तुनिष्ठता का निर्वाह पूरा-पूरा नहीं हो पाता है।

२. संक्षिप्त उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्नपत्र—संक्षिप्त उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्न-पत्रों को लघुत्तरात्मक प्रश्नों के नाम से भी पुकारते हैं। ऐसे प्रश्नों के उत्तर छोटे-छोटे होते हैं। इनके द्वारा निर्धारित सीमा और सुनिर्दिष्ट उद्देश्य का पता लग जाता है। इन प्रश्नों द्वारा अभिव्यक्ति-कौशल, अभिरुचि तथा, प्रवृत्ति आदि की जाँच हो सकती है। लघुत्तरात्मक प्रश्नों द्वारा मूल्यांकन में जितनी वस्तुनिष्ठता का निर्वाह हो सकता है और पाठ्य-वस्तु के जितने अंशों को समाविष्ट किया जा सकता है, उतना विस्तृत उत्तर वाले प्रश्नों द्वारा संभव नहीं है। अतः, हिंदी-शिक्षण को सफल बनाने के दृष्टिकोण से इस प्रकार के प्रश्नों का ही निर्माण श्रेष्ठ है। इस प्रकार के प्रश्नों की संख्या अधिक-से-अधिक होनी चाहिए, ताकि वे पाठ्य-वस्तु के अधिकाधिक अंश को समाविष्ट कर सकें।

पिछले पृष्ठों में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि प्रयोग के लिए वस्तुनिष्ठ प्रणाली की परीक्षा भी कुछ सीमित क्षेत्रों में अवश्य लागू रखनी चाहिए, किंतु वृहद् रूप में जब सभी माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक के छात्रों पर हमें वस्तुनिष्ठ ढंग की परीक्षा लागू करनी होगी, तो वर्तमान परिस्थिति में हमें शैक्षणिक और प्रशासनिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। बिहार प्रांत के प्राथमिक शालाओं अथवा उच्च विद्यालयों में अभी उतने प्रशिक्षित और दक्ष शिक्षक उपलब्ध नहीं हैं, जो इतने व्यापक पैमाने पर सभी विषयों के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का निर्माण इच्छित समय पर कर सकें। यहाँ परीक्षा हॉल की परिस्थिति भी वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के लिए बहुत हेय कोटि की है। अतः, वृहद् पैमाने पर लागू करने के लिए लघुत्तरात्मक प्रश्न प्रधान प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें निबंधात्मक परीक्षा की कुछ अनिवार्य विशेषताओं की रक्षा करते हुए, वस्तुनिष्ठ परीक्षा की कुछ विशेषताओं का भी समावेश किया जा सकता है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर से छात्रों को अधिक बहकने का अवसर नहीं मिलता। अभिव्यक्ति की प्रायः सीमा निर्धारित कर दी जाती है। उद्देश्य भी सुनिर्दिष्ट रहता हैं। अतः, मूल्यांकन में बहुत हद तक वस्तुनिष्ठता का निर्वाह किया जाता है। अधिक-से-अधिक प्रश्न दे कर परंपरागत परीक्षा में लगने वाले समय की अवधि में ही पाठ्य-वस्तु के अधिकांश अंशों को समाविष्ट किया जा सकता है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर संक्षिप्त होते हैं। अतः, जाँचने में भी कम कठिनाई होती है। संक्षिप्त उत्तर के कारण आदर्श उत्तरों के संकेत तैयार में आसानी हो सकती है और परीक्षकों के बीच उनका वितरण कर अंकन में बहुत कुछ एकरूपता लायी जा सकती है। चूँकि लघुत्तरात्मक प्रश्न भी निबंधात्मक परीक्षा के ही सुधरे हुए रूप हैं, अतः वृहद् पैमाने पर इन्हें लागू कर देने पर भी कोई नहीं कह सकता कि पुरानी परीक्षा-प्रणाली को हठात् बदल देने के कारण छात्रों-शिक्षकों तथा प्राशनक-परीक्षाओं को बहुत बड़े

झटके का सामना करना पड़ेगा। लघुत्तरात्मक प्रश्नों को निम्नलिखित कारणों से अधिमान्यता की जानी चाहिए—

(१) इसके द्वारा हम बीच का मार्ग अपनाते हैं, जो अति से अलग रख कर हमें सुविधा और सहूलियत प्रदान करता है। परंपरागत निबंधात्मक और नवीनतम वस्तुनिष्ठ, इन दोनों प्रणालियों के बीच की प्रणाली है—लघुत्तरात्मक। अतः, इनके द्वारा न तो हमें परंपरा से बहुत दूर हटना पड़ता है, न हठात् नवीनता की गोद में समर्पित हो जाना पड़ता है।

(२) परंपरागत (निबंधात्मक) प्रणाली के जो अवगुण हैं, वे तो बहुत अंशों में छूट जाते हैं, परंतु इसके गुण इसमें वर्त्तमान रहते हैं जैसे—उद्देश्य की अनिश्चितता, प्रश्नों की भाषा की अस्पष्टता, अंकन की व्यक्तिपरकता और उत्तर के दायरे की असीमता आदि दुर्गुण तो समाप्त हो जाते हैं, किंतु रचनात्मक और आलोचनात्मक विचारों को संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त करने वाला गुण उपस्थित रहता है।

(३) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के गुण तो इसमें मौजूद रहते हैं, किंतु अवगुण छूट जाते हैं। जैसे—वस्तुनिष्ठता, प्रामाणिकता और विश्वसनीयता तो बहुत अंशों में आ जाती है, किंतु व्यावहारिक कठिनाइयों वाला दुर्गुण समाप्त हो जाता है।

(४) उतने ही निर्धारित समय में अधिक प्रश्न के उत्तर दिए जा सकते हैं। अतः, पाठ्य-वस्तु को अधिक-से-अधिक समाविष्ट किया जा सकता है। इससे प्रामाणिकता बढ़ जाती है।

(५) उत्तर लिखने तथा उत्तर-पुस्तिकाओं का अंकन करने दोनों में समय की बचत होती है।

(६) परिश्रम और निष्ठा से तैयार करने पर प्रश्नों को अधिकाधिक सुनिर्दिष्ट बनाया जा सकता है।

(७) केवल तथ्यात्मक प्रश्नों के बदले अधिकाधिक विचारप्रेरक प्रश्न दिए जा सकते हैं।

(८) कम-से-कम शब्दों में सही-से-सही उत्तर लिखने का अभ्यास होता है।

(९) उत्तर में अनुमान की आदत अथवा अप्रासंगिक बातों को लिखने का अभ्यास समाप्त हो जाता है।

(१०) इन प्रश्नों के आधार पर छात्रों की योग्यता की सही माप अधिक संभव हो सकती है।

(११) विद्यार्थियों की निर्बलता को जानने-खोजने में आसानी होती है। चूँकि पूरी पाठ्य-वस्तु को प्रश्नों द्वारा समाविष्ट किया जाता है, अतः किस पाठ्य-विषय में कौन विद्यार्थी कमजोर है, इसका पता उसके उत्तर की छानबीन से सहज ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार उसे पुनः पढ़ाया जा सकता है।

(१२) वर्ग-शिक्षण में प्राक्परीक्षा अथवा पुनरावृत्ति परीक्षा दोनों के लिए लघुत्तरात्मक प्रश्न अत्यंत उपयोगी सिद्ध होते हैं; क्योंकि पूछने और जवाब देने, दोनों में संक्षिप्तता प्रधान रहती है।

(१३) उच्च-स्तर की मानसिक प्रक्रिया, जैसे—विचार, तर्क, अनुमान और निर्णय आदि के विकास के लिए भी लघुत्तरात्मक प्रश्न अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

(१४) उत्तर-पुस्तिकाओं के अंकन में सुविधा होती है और अधिकाधिक वस्तुनिष्ठता की संभावना रहती है; क्योंकि इसके उत्तर सीमित होते हैं तथा आदर्श उत्तर के संकेत प्राप्त रहते हैं।

(१५) उद्देश्य अधिक-से-अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट किए जा सकते हैं।

(१६) परीक्षा-हॉल की परिस्थिति परंपरागत निबंधात्मक अथवा केवल वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की तुलना में अपेक्षाकृत उत्तम रहती है; क्योंकि अधिक प्रश्नों के उत्तर में व्यस्त छात्रों का आपस में एक दूसरे की सहायता का बहुत कम अवसर मिलता है तथा उत्तर में वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के जैसे संकेत मात्र से काम नहीं चल सकता।

(३) मौखिक परीक्षा

हिंदी-शिक्षण तथा मूल्यांकन के दृष्टिकोण से निबंधात्मक परीक्षाओं के सुधरे हुए रूपों का प्रचलन अवश्य करें। दोनों रूप (१-विस्तृत उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्न एवं २. संक्षिप्त उत्तर वाले निबंधात्मक प्रश्न) हिंदी-शिक्षण में प्रगति लाने के निमित्त प्रबल साधन हैं। परंतु, मौखिक परीक्षा भी हमारे इस लक्ष्य में बहुत दूर तक मंगलकारिणी होगी। प्राथमिक कक्षाओं से उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तक हिंदी-परीक्षा की यह प्रणाली बहुत उपयोगी है।

मौखिक परीक्षा के द्वारा मौखिक अभिव्यक्ति, उच्चारण, वाचन-योग्यता, और बोलचाल की शैली आदि की जाँच की जानी चाहिए। हिंदी भाषा के उत्थान के लिए विद्यार्थियों की इन योग्यताओं का पता लगाना आवश्यक है। हिंदी भाषा की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है कि विद्यार्थी दूसरों के मौखिक-लिखित भावों एवं

विचारों को समझे तथा अपने भावों, विचारों एवं अनुभवों को मौखिक-लिखित भाषा में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकें। हिंदी भाषा की परीक्षा लेते समय हमें सर्वाधिक महत्त्व विद्यार्थियों की ग्रहण-शक्ति तथा अभिव्यक्ति-शक्ति को मापने में ही देना है। हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति में मौखिक परीक्षाएँ बहुत सहायक होंगी।

हम प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष मौखिक रूप में अपने विचार व्यक्त कर उनका आशय उन्हीं के शब्दों में मौखिक रूप में वर्णन करने को कह सकते हैं। विद्यार्थियों के अनुभव के आधार पर प्रश्न किया जा सकता है, जिसका उत्तर वे मौखिक भाषा में देंगे। उच्च एवं उच्चतर कक्षाओं में पाठ्य-विषयों की व्याख्या' भाषा-शैली की समीक्षा, चरित्र-चित्रण और रूपांतर-कार्य कराना श्रेष्ठ होगा। इस प्रकार हम विद्यार्थियों की भाषा एवं अभिव्यंजना की शैली, भाव-भिव्यक्ति अथवा बोलने की प्रणाली, वार्तालाप, शब्दोच्चारण और भाषण-योग्यता की परीक्षा ले सकते हैं। हिंदी भाषा में प्रगति लाने के लिए मौखिक परीक्षा अत्यंत आवश्यक है। अपनी मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिंदी के शुद्ध, परिमार्जित, परि-निष्ठित रूप के समयानुकूल व्यवहार की क्षमता तथा भावी जीवन में आवश्यकता-नुसार सूक्ष्म भावों एवं विचारों की सशक्त, प्रभावशाली अभिव्यक्ति की योग्यता की उपलब्धिहितार्थ हमें अपनी शिक्षा-संस्थाओं में मौखिक परीक्षा को भी लिखित परीक्षा के समान ही महत्त्वपूर्ण मान कर चलना होगा।

(४) मूल्यांकन-संबंधी सुधार

मूल्यांकन करने के पहले प्रश्नपत्र के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चित करना चाहिए। विभिन्न परीक्षाओं को आपस में अंक देने की पद्धति एवं स्तर पर पूर्व में विचार-विमर्श होना आवश्यक है। उत्तर-पुस्तिकाओं को उत्तम, मध्यम एवं साधारण--इन तीन श्रेणियों में बाँटना चाहिए। एक उत्तर-रुचिका को देख कर दूसरी लेने के बदले एक प्रश्न को लेना चाहिए और सभी उत्तर-रुचिकाओं के उसी प्रश्न का अंक निर्धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् दूसरे प्रश्नोत्तर का मूल्यांकन एवं अंक-निर्धारण होना चाहिए। अंक जोड़ते समय पीछे से वापस अंक भी गिनते जाना चाहिए, ताकि जोड़ में कहीं त्रुटि नहीं रह जाए। जब उत्तर-पुस्तिकाएँ अधिक हों, तो मुख्य परीक्षक द्वारा स्तर का प्रामाणिकीकरण हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अंक में (१, २, ३, ४, ५, ६,) मूल्यांकन की अपेक्षा अ, ब, स, द, ल के रूप में मूल्यांकन अधिक श्रेयस्कर है। सन् १९२९ ई० में हटॉग शिक्षा-समिति ने 'ऐन इग्जामिनेशन ऑफ इग्जामिनेशन्स' पर अपना विचार प्रकट करते हुए ऐसे ही विधान के पक्ष में अपना मंतव्य दिया था। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में

अ, ब, स, द प्रणाली के द्वारा मूल्यांकन को ही श्रेष्ठ ठहराया है।[1] उत्तर-पुस्तिकाओं की जाँचहितार्थ हमें अब इस प्रणाली को ही प्रश्रय देना है।

अभिलेख

बुनियादी शिक्षा में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें तो परीक्षा दिनचर्या का एक अंगमात्र बन जाती है। इसलिए यह घबराहट उत्पन नहीं करती, बालकों की रटने शक्ति की जाँच नहीं करती, अपितु वास्तव में किए गए कार्य का मूल्यांकन करती है। मूल्यांकन करता है—अध्यापक, जो दिन भर छात्र के कार्य का पर्यवेक्षण करता है, उसकी प्रत्येक क्रिया को देखता है। उसकी रूचि को परखता है और उसकी लगन तथा तल्लीनता को समीप से देखता है। इसलिए छात्रों की परीक्षा प्रत्येक क्रिया की समाप्ति पर स्वयंमेव हो जाती है या कह सकते हैं कि उनकी परीक्षा प्रतिदिन हो जाती है। इसके अतिरिक्त उनकी परीक्षा के लिए अध्यापक द्वारा तैयार किए गए अभिलेख काम आ सकते हैं। साप्ताहिक, मासिक तथा त्रैमासिक अभिलेख रखने का उद्देश्य है कि उनसे छात्रों की प्रगति की जाँच की जा सके। इस प्रकार एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में चढ़ाने लिए इन्हीं अभिलेखों को अध्यापक वर्ग अपने अनुभव का आधार मान सकते हैं।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में जिस प्रकार पाठ्यक्रम का विधान किया गया है, उसमें अभिलेखों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। अभिलेखों के आधार पर भी विद्यार्थियों की प्रगति का मूल्यांकन किया जाता है। इसलिए बुनियादी शिक्षा-केंद्रों में अध्यापकों एवं छात्रों, दोनों के अभिलेखों का बहुत महत्व है। इन अभिलेखों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं–

(१) अध्यापक का व्यक्तिगत अभिलेख,

(२) कक्षा तथा स्कूल का अभिलेख और

(३) छात्रों का व्यक्तिगत अभिलेख।

इनमें मुख्य-मुख्य अभिलेख की कापियाँ एवं रजिस्टर निम्नलिखि होते हैं -

१-अध्यापक की :—

(क) डायरी—इसमें उसकी कक्षा से संबंधित यह बातें हैं :

बालकों के नाम, आयु, औसत आयु, उनकी साप्ताहिक, मासिक एवं वार्षिक प्रगति का अभिलेख, कक्षा की समय-सारणी, त्रैमासिक पाठ्य-क्रम की योजना, दैनिक पाठ-संकेत आदि।

1"In this system pupils are grouped in broad divisions which are more easily distinishable than the differences indicated by percentile marks. We recommend that this system be adopted for school records." S. E. C. R., Page 159.

(ख) व्यक्तिगत स्वाध्याय से संवंधित एवं अन्य स्वाध्याय से आवश्यक बातें प्रतिदिन नोट की जाएँ।

(२) कक्षा तथा विद्यालय-संवंधी :—

(क) प्रवेश एवं निष्कासन रजिस्टर—इसमें छात्रों के नाम, छात्रों के पिता के नाम, पूरा पता, पिता की आयु, छात्रों की जन्मतिथि, जाति, प्रवेशतिथि और निष्कासन तिथि आदि विवरण होते हैं।

(ख) दैनिक उपस्थिति का रजिस्टर--इसमें छात्रों के स्कूल खुलते समय तथा वंद होते समय प्रतिदिन हाजिरी लगती है। उनकी फीस और जुर्माना आदि सबका हिसाव होता है।

(ग) अध्यापकों की उपस्थिति का रजिस्टर—इसमें प्रतिदिन अध्यापक को अपने आने तथा जाने का समय लिखने एवं हस्ताक्षर करने होते हैं।

(घ) पत्र-व्यवहार का रजिस्टर—इसमें जो पत्र आते हैं तथा जो पत्र जाते हैं, उनका विवरण खर्चसहित होता है।

(ङ) वेतन रजिस्टर—इसमें अध्यापकों एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं के मासिक वेतन का विवरण एवं रसीदें होती हैं।

(च) आदेश एवं सूचना रजिस्टर—इसमें स्कूल-प्रवंध से संवंधित मुख्य अध्यापक द्वारा आदेश एवं सूचनाएँ अन्य अध्यापकों के लिए लिखी जाती हैं।

(छ) कच्चे सामान का रजिस्टर—इसमें स्कूल में प्रयोग होनें वाले वीज, रूई, गत्ते आदि वस्तुओं का वजन, मूल्य आदि का हिसाव होता है।

(ज) तैयार सामान का रजिस्टर—इसमें उस सामान की संख्या, भार आदि का वर्णन होता है, जो स्कूल के छात्रों एवं अध्यापकों द्वारा बनाया जाता है।

(झ) अन्य सामग्री का रजिस्टर—इसमें पाठशाला की मेजों, कुर्सियों, आलमारियों, यंत्रों आदि उन सारे सामानों की सूची तथा मूल्य सहित होती है, जो कि साधारणतया खर्च हो जाने वाला न हो।

(ञ) पुस्तकालय रजिस्टर—इनमें विद्यालय की पुस्तकों का पूरा विवरण तथा उनको उधार देने एवं वापस आने का पूरा विवरण होता है।

(ट) प्रगति रजिस्टर—इसमें छात्रों की प्रगति का वर्णन होता है। इसी में उनका मासिक, वार्षिक परीक्षा-परिणाम आदि भी लिखा जाता है।

(ठ) उद्योगों के पृथक्-पृथक् रजिस्टर—प्रत्येक उद्योग की आमदनी, खर्च, कच्चे माल, तैयार माल आदि के हिसाब का पृथक्-पृथक् रजिस्टर होना चाहिए।

(ड) निरीक्षण का रजिस्टर—विद्यालय के निरीक्षण के रजिस्टर में निरीक्षक महोदय समय-समय पर जाँच करके अपनी संमति आदि लिखते हैं। इन सबके अतिरिक्त अन्य रजिस्टर निम्नलिखित हैं :—

विद्यालय-पत्रिका, बिक्री का, कटीजेंसी, पारितोषिक, दंड-विवरण, शिक्षक-सभा, छात्र-सभा रसीदों का आदि।

३. बच्चों की व्यक्तिगत कापियाँ :—

क—प्रत्येक विषय की भिन्न-भिन्न कापी,
ख—दैनिक डायरी तथा प्रगति का रिकार्ड,
ग—उद्योग-संबंधी कापी,
घ—स्वाध्याय की कापी और
ङ—अन्य कार्यों के रिकार्ड की कापी।

क्या गांधी शिक्षा-दर्शन व्यावसायिक है ?

महात्मा गांधी का शिक्षा-दर्शन जिन प्रमुख आधारस्तंभों पर अवस्थित है, उनमें 'शिक्षा में स्वावलंबन' (आत्मनिर्भरता) तथा उसका किसी 'मूल उद्योग' (कताई-बुनाई, बढ़ईगिरी और खेती-बारी) के आधार पर अवस्थित होना हैं। महात्मा गांधी भारतीय समाज की अत्यंत शोचनीय आर्थिक अवस्था का सुधार चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अपनी 'शिक्षा-पद्धति' की रूपरेखा प्रस्तुत की। इस पद्धति में 'हस्तकला' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अतः, कुछ आलोचकों का विचार है कि बुनियादी शिक्षा-पद्धति, व्यावसायिक शिक्षा है; क्योंकि इस शिक्षा-योजना के अनुसार शिक्षकों को अपना वेतन एवं विद्यालय का खर्च विद्यार्थियों द्वारा हस्तकार्यों-त्पादित सामग्री से निकालने की आशा की जाती है। ऐसी अवस्था में विद्यालय उद्योग-केंद्रों के समान बन जाएँगे और उदार तथा सांस्कृतिक शिक्षा (Liberal and Cultural type of Education) का अभाव हो जाएगा। अर्थोपलब्धि के लोभ में शिक्षक एवं विद्यार्थी उत्पादन-कार्यों की होड़ में तल्लीन होते जाएँगे। द्रव्योपार्जन ही उनका अंतिम लक्ष्य हो जाएगा और अंततः विद्यालय एक कारखाना हो जाएगा। बुनियादी शिक्षा-समिति के सदस्य प्रो० के० टी० शाह ने कहा भी था—"शिक्षा को स्वावलंबी बना कर आप बच्चों में प्रारंभ से ही क्रय-विक्रय की

भावना भर देंगे, जो किसी भी प्रकार श्रेयस्कर नहीं है।.......सात वर्ष की आयु में विद्यार्थियों को यदि आर्थिक झमेले में डालेंगे, तो अवश्य ही उनमें एक प्रकार की मानसिक दासता प्रवेश कर जाएगी।"

इस संबंध में वस्तुस्थिति यह है कि महात्मा गांधी एक भविष्यद्रष्टा थे। उनका सर्वप्रमुख उद्देश्य था—"भारत की भावी गरीबी को दूर करना।" भारतवासियों को भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा मिल जाए, ऐसा वे अवश्य चाहते थे और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने पूरी चेष्टा की। उन्होंने बुनियादी शिक्षा-पद्धति की जो कल्पना की और उसे साकार रूप दिया, वह बहुत ही व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक है, साथ ही भारतीय समाज के सर्वथा अनुकूल भी है। इस पद्धति में बालक-बालिकाओं को सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश में शिक्षित बनाने का प्रयास किया जाता है। हस्तकला से महात्मा गांधी का आशय किसी व्यवसाय से नहीं, अपितु क्रिया द्वारा सीखने से है।

कुछ क्षणों के लिए अगर हम मान भी लें कि बुनियादी शिक्षा-पद्धति व्यावसायिक है, तो भी कोई हानि नहीं। भारतीय समाज प्रायः बाईस वर्षों की आजादी के बाद भी बेरोजगारी की मार से तबाह है। नौजवानों को रोजी नहीं मिलती। नौकरी की तलाश में वे मारे-मारे फिरते हैं। उनके स्वाभिमान का उस समय सर्वनाश हो जाता है, जब वे समाज के 'तथाकथित बड़े आदमी' के निकट जाते हैं और उनको सादर अभिवादन करके दुःख से कातर चेहरा लिए हुए एक कोने में खड़े हो जाते हैं। वह 'तथाकथित बड़ा आदमी' उनकी कुछ सुनता भी नहीं, उनसे बातें तक नहीं करता और तब उन निराश नवयुवकों की आशा पर तुषारापात हो जाता है, उनके आत्मगौरव का सर्वनाश हो जाता है। जिन किशोरों को उल्लास और हर्ष से फूला रहना चाहिए था,—वे मात्र रोजी-रोटी की तलाश में हतप्रभ बन जाते हैं। सोच नहीं पाते—कहीं जाएँ, क्या करें। अगर उनके परिवार की आर्थिक अवस्था शोचनीय है, तो उन किशोर नौजवानों की अवस्था और भी बदतर हो उठती है। यह रंगीन समाज उनके लिए दुःख और यातना की चहारदीवारी बन जाता है।

महात्मा गांधी सचमुच महान् थे। इस त्राण के निवारणार्थ भारत की गरीबी को दूर करने के लिए ही उन्होंने हमें 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति' दी। वस्तुतः हमें आज बुनियादी शिक्षा की ही आवश्यकता है। बुनियादी शिक्षा-पद्धति एवं व्यावसायिक शिक्षा में निःसंदेह गहरा संबंध है। व्यावसायिक शिक्षा अपने-आप में

एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। इस प्रसंग में व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में जानना हमारे लिए अपेक्षित है।

व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता

यजुर्वेद का मंत्र है :

इषमूर्जमावद। यजुर्वेद १/१६

त्वया वयं संघातं जेष्म। यजुर्वेद १/१६

अर्थात् छात्रवर्ग को ऐसा उपदेश देना चाहिए कि वह अपने जीवन के लिए 'इष' अन्नादि भोगों की पुष्कल सामग्री प्राप्त कर सके और प्रत्येक प्रकार से बलवान एवं ओजस्वी बन कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ रख सके।

जिस विद्या को प्राप्त करके विद्यार्थीजन जीवन-निर्वाह तक न कर सकें तथा निर्बल और शक्तिशून्य हो कर रोगग्रस्त और अभावपीड़ित रहें—वह शिक्षा व्यर्थ है। विद्या के लिए अर्थकारी होना परमावश्यक है। साहित्य-शिक्षा के साथ यदि कला-कौशल का भी संमिश्रण रखा जाए और स्नातकों को किसी शिल्प का ज्ञान करा दिया जाए, तो आर्थिक समस्याओं का सहज ही समाधान हो सकता है।

प्रत्येक विद्यार्थी अपनी महात्वाकांक्षा को स्पष्ट शब्दों में कहे कि—हे पूज्य गुरुदेव ! आपकी शिक्षा को पा कर हम बड़े-से-बड़े सैन्य समूहों पर विजय प्राप्त कर सकें। जिस शिक्षा के कारण छात्र वर्ग में दासता से घृणा नहीं उत्पन्न होती और पराधीनता से उत्कट द्वेष नहीं पैदा होता, वह शिक्षा व्यर्थ है। ऋग्वेद में बतलाया गया है :—

अर्थं हस्य तरणि। ऋग्वेद ३।११।३

अर्थात्, इस समाज-व्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए सबसे बड़ा निमित्त धन है। धन के अभाव में कोई व्यवस्था होनी असंभव है। ऋग्वेद में पुनः निर्देश किया गया है :—

रायस्खामुपसृजा। ऋग्वेद ६।३६।४

आ न इस प्रयच्छतं रयिं विश्वायुपोषसम्। ऋग्वेद ६।३१।१२

उरु गायमधि धेहि श्रवो नः। ऋग्वेद ६।६५।६

द्रविणं च धत्तम्। अरिष्टेनः पथिभि पारयंत। ऋग्वेद। ६।६९।१

अर्थात्, धन के अभाव में कोई योजना पूरी नहीं हो सकती। नदी की धारा के समान धन हमारे समक्ष सदा बहता रहे। धनप्राप्ति के लिए परिश्रम तथा कर्मठता अनिवार्य है। धन भाग्य से नहीं, परिश्रम से मिलता है।

अर्थोपलब्धि हमारे जीवन की अगर सर्वश्रेष्ठ नहीं, तो सर्वश्रेष्ठ समस्याओं में एक अत्यधिक प्रमुख समस्या अवश्य है। धर्मशास्त्रों ने भी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष-मानव-जीवन की इस चार प्रमुख लक्ष्यों की चर्चा की है। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। ये हैं–अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। इनकी उपलब्धि के निमित्त ही हमारे समस्त कार्य-कलाप होते हैं। मानव-जाति का इतिहास इस सत्य को लक्षित करता है कि उसकी समस्त शक्तियाँ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के निमित्त सतत् प्रयत्नशील रही हैं तथा भविष्य में भी इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ही वे सदैव उद्योगशील बनी रहेंगी। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक तत्त्व की प्रधानता मानी जाती है, किंतु अपने सर्वोत्तम काल (गुप्त युग आदि)में भी आध्यात्मिक और बौद्धिक—दोनों तत्त्वों पर समान बल दिया गया था। धर्म और मोक्ष के नियमों के पालन के समान हो अर्थ और काम की महत्ता थी। यह कहा जाता था कि चारों की प्राप्ति का प्रयास समान रूप से किया जाना चाहिए। जो एक का ही सेवन करता है, वह निंदा का पात्र है।

वर्त्तमान युग 'भौतिकवादी युग' (Materialistic Age) तथा वर्त्तमान सभ्यता 'भौतिक सभ्यता' (Materialistic Civilization) के नाम से पुकारी जाती है। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हम विशेष चेष्टावान् हैं। धन, सुख एवं ऐश्वर्य की ओर हम अधिक उन्मुख हैं। आज, प्रायः मनुष्यों में धर्म और मोक्ष से भी अधिक बलवती 'अर्थोपलब्धि' की इच्छा है। हमारे जीवन की समस्याएँ ऐसी दुरुह हो गई हैं और ऐसी विकट रूप धारण कर चुकी हैं कि एक आदर्श नागरिक के लिए भौतिक सुख-साधन पूर्ण जीवन-यापन तो बहुत दूर की बात है, व्यय-साध्य होने के कारण जीवन की कुछ प्रधान समस्याओं का ही सुगमतापूर्वक समाधान, कठिन बन गया है।

भौतिकवादी सभ्यता ने धर्म और मोक्ष की भावना पर भी गहरा आघात पहुँचाया है। धर्म एवं परलोक की चर्चा के प्रति मनुष्यों की उतनी गहरी आस्था नहीं, जितनी प्राचीन एवं मध्ययुगीन युगों में बनी रही। यूरोप में धर्म के नाम पर वर्षों युद्ध चलते रहे। इसीलिए यूनान में सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा था, इसीलिए फिलस्तीन में ईसा को सूली पर लटकना पड़ा था। यूरोपियनों ने अमेरिका में इस संस्कृति का अंत किया। सोलहवीं शताब्दी में चार्ल्स पंचम के शासनकाल में केवल हालैंड में रोमन कैथोलिकों के भिन्न सिद्धांतों वाले जिन प्रोटस्टेंटों को चिता पर जला कर या अन्य ढंग से मारा गया, उनकी संख्या पचास हजार थी। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम ने सन् १५४५ ई० में आल्प पर्वतमाला के तीन हजार निरीह निःशस्त्र कृषकों के कत्लेआम की आज्ञा दी थी। उनका एकमात्र अपराध यही था कि

ईसाइयत के मूल सिद्धांतों में विश्वास रखते हुए वे पोप तथा पादरियों की प्रभुता नहीं मानते थे। २३-२४ अगस्त, १५७२ ई० को केवल एक ही रात में पेरिस में दो हजार फ्रेंच प्रोटेस्टेंटों का वध किया गया था। समूचे फ्रांस में यह क्रूर कांड एक माह तक चलता रहा। इस अल्प काल में ही धर्म के नाम पर ७० हजार नर-नारियों तथा अबोध शिशुओं की बलि चढ़ायी गई थी। इस धार्मिक पागलपन का मूल कारण यही था कि रोमन कैथोलिक यह नहीं चाहते थे कि कोई उनसे भिन्न धार्मिक विश्वास रखे। इस उग्र रूप में तो भारत में कभी धार्मिक असहिष्णुता नहीं रही, तथापि यहां भी धार्मिक आस्था की वह प्रबल वेग धीमी पड़ गई है, जो आज से कुछ सौ वर्ष पहले वर्त्तमान थी। वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषणों के कारण लोगों का दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक बनता जा रहा है। तर्क एवं विचार की कसौटी पर जो बात सत्य उतरती है, उसी में वास्तविकता है। परंपरागत रहस्यमय धारणाओं की आधारशिला को चिंतन, मनन, तर्क तथा विचार ने गहरा आघात पहुँचाया है। अब वे ही विचारधाराएँ सत्य एवं ठीक हैं, जिनकी वस्तुस्थिति की हमें जानकारी है।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में यथार्थवाद की लहर आई। विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों वैज्ञानिकों, धर्मप्रवर्त्तकों तथा समाज सुधारकों का जन्म हुआ। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की विवेचना करने वाले न्यूटन (१६४३-१७२७ ई०) भी इसी युग में जनमे और विज्ञान जगत को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत किया था। कोपरनिकस, जान केपलर गैलीलियो-जैसे-वैज्ञानिक, मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०), कॉल्विन (१५०९-१५६४ ई०) नाक्स-जैसे धार्मिक सुधारक तथा रॅबेल, मुलकास्टर, मॉन्टेन, बेकन, कॉमेनियस और जॉन लॉक-जैसे शिक्षाशास्त्रियों का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ। इनके प्रतिपादित विचारों से मानव-जाति की परंपरागत धारणाओं में एक क्रांति उत्पन्न हुई। यह क्रांति केवल एक ही विषय तक सीमित नहीं था, अपितु जन-जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, समस्त क्षेत्र इससे आंदोलित-प्रकंपित प्रभावित हुए। नई चेतना एवं नए विचार का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तियों में वस्तु की यथार्थता की जानकारी के लिए प्रबल भावना का विकास हुआ; क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधानों ने प्रकृति को उस गूढ़ रहस्य का रहस्योद्घाटन किया, जो अभी तक उनके समक्ष 'एक दैवी लीला मात्र' असंभव अथवा गूढ़ समस्या का रूप धारण कर उपस्थित थी। वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप मनुष्यों का विचार भी वैज्ञानिक होने लगा; क्योंकि मानवी ज्ञान-भंडार विस्तृत और विशाल बनता जा रहा था। इस प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं आविष्कारों ने हमारे दृष्टिकोण में सर्वथा परिवर्तन प्रारंभ किया। इसका मुख्य कारण सहज ही हमारी समझ में आ सकता है। धर्म में भावना की प्रधानता होती है, जब कि विज्ञान में तर्क, यथार्थवाद और प्रमाण ही सब कुछ होता है। धर्म एक

स्वर्गिक कल्पना की वस्तु हो सकता है, परंतु विज्ञान की उपलब्धियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण होती हैं। धर्म को हम 'कानो सुना' कहें, तो विज्ञान को 'आँखों देखा' कह सकते हैं। विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाणों ने मानव जाति को यथार्थवाद की ओर खींचा। फलस्वरूप धर्म के प्रति जो हमारी संकीर्ण परंतु प्रबल भावना और धारणा थी अथवा कहा जाए कि धार्मिक प्रमत्तता का जो विचार था, उनमें परिवर्तन आ गया।

यथार्थवाद परलोक की पूर्णतः उपेक्षा करता है। यथार्थवाद के अनुसार केवल वही वस्तु सत्य है, जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवादी प्रत्यक्ष जगत को ही सत्य मानते हैं, अप्रत्यक्ष को नहीं। अतः, यथार्थवाद भौतिक जगत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। उसके विचार से भौतिक जगत की वस्तुओं में सफलता-प्राप्ति मनुष्य का मुख्य कार्य है। जो व्यक्ति संसार को समझ लेगा, वह वास्तव में सत्य को प्राप्त कर लेगा। अतः, शिक्षा भी इस प्रकार की होनी चाहिए, जो हमें यथार्थ की जानकारी करावे।

अब धर्म की भावना ने सामाजिक रूप धारण किया। भौतिकवादी सभ्यता ने धर्म और मोक्ष की भावना पर आघात जरूर किया, परंतु मानव-चेतना में एक ऐसा संस्कार उत्पन्न किया, ऐसी भावना को प्रादुर्भूत किया कि उसका दृष्टिकोण सामाजिक होना वांछनीय था। इसका एक प्रबल कारण यह था कि भौतिकवादी सभ्यता समाज में ही पनप सकती थी। इसका उत्थान होता गया एवं भारत की जनसंख्या तो बढ़ती गई, परंतु भूमि की मात्रा ज्यों-की-त्यों बनी रही। हमारे हिस्से में दुनिया की केवल ढाई प्रतिशत जमीन है, लेकिन जनसंख्या है दुनिया की चौदह प्रतिशत। सन् १९५१ ई० में हमारे देश में खेती पर निर्भर करने वाले व्यक्तियों की संख्या ६६·८ प्रतिशत थी, जो अब घट कर ६४·८ पर आ गई है। पिछले दस वर्षों की अवधि में तरह-तरह की परियोजनाएँ और आर्थिक योजना लागू करके हमारी सरकार रोजगार में लगे व्यक्तियों की संख्या में प्रायः तीन करोड़ की वृद्धि कर सकी है। एक ओर जहाँ रोजगार में एक ही आदमी की गुंजाइश की जगह बन पाती है, वहाँ ढाई लोग पैदा हो जाते हैं। गत दस वर्षों की अवधि में देश की जनसंख्या साढ़े सात करोड़ से भी अधिक बढ़ी है।

निःसंदेह ये सब भौतिकवादी सभ्यता की ही देन हैं। मानव-जीवन की इस भौतिकवादी सभ्यता के प्रतिक्रियास्वरूप ही स्वामी दयानंदजी ने हमें बतलाया 'वेदों की ओर लौटें' तथा महात्मा गांधी ने कहा 'गाँवों की ओर मुड़ें'। ऐसे समाजवेत्ताओं एवं चिंतनशील महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के मूल में यही भावना व्याप्त थी कि हमारा जीवन विशेष भौतिकवादी हो गया है। अतः, हमें सरल जीवन को

अपनाना और धारण करना चाहिए। वर्त्तमान भौतिकवादी सभ्यता सवत्र व्याप्त हो चुकी है, इसकी जड़ जम चुकी है। ऐसी स्थिति में इससे लड़ने को हमें तैयार होना है, अपने को इतना सक्षम और शक्तिशाली बनाना है कि हमारे नवयुवक इसके लिए तैयार हों।

हमारे नवयुवक भौतिकवादी परिस्थिति से लड़ने को तैयार हों—इसके लिए उनमें क्षमता उत्पन्न करनी है और यह लक्ष्य तभी पूरा हो सकेगा जब हमारी शिक्षा तदनुकूल होगी। अर्थात् शिक्षा की महिमामयी शक्ति के माध्यम से ही हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें शिक्षा के व्यावसायिक आदर्श को स्वीकार करना होगा। व्यावसायिक शिक्षा में ही ऐसी क्षमता है, जो हमारे किशोरों और नौजवानों में वह शक्ति उत्पन्न कर सकेगी, जिसके आधार पर वे भौतिकवादी सभ्यता के अनुकूल अपने को सबल और सक्षम बना सकेंगे तथा प्रतिद्वंद्विता के लिए तैयार हो सकेंगे।

व्यावसायिक शिक्षा को विश्व में व्याप्त वर्त्तमान भौतिकवादी सभ्यता एवं विषम सामाजिक आर्थिक परिस्थिति को देखते हुए प्रमुखता देने का यह अर्थ नहीं होता कि हम अपने धार्मिक, पारलौकिक आदि उद्देश्यों को सर्वथा भूल जाएँ। शिक्षा का उद्देश्य तो वस्तुतः व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। उसकी आत्मा, मन, मस्तिष्क, शरीर, चरित्र, नैतिकता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता की भावना आदि व्यक्तितत्व के समस्त अवयवों का विकास शिक्षा द्वारा हो—इसकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिए। हमारा प्रयास अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मानव-जीवन की चारों प्रमुख विशेषताओं की पूर्णतया उपलब्धि के निमित्त हो। हमारे छात्र भौतिकवादी सभ्यता के अनुकूल पूर्णतः तैयार हों। इसके लिए अवश्य ही हमें व्यावसायिक शिक्षा की भी पूरी-पूरी व्यवस्था करनी है।

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विलक्षणता यह थी कि इसमें मनुष्य के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान दिया गया था। उसका लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार की उन्नति करना था। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। ये हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्ष आत्मिक विकास के लिए तथा अर्थ और काम शरीर एवं मन की उन्नति के लिए। इनकी समुचित उन्नति के लिए जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया था। धर्म और मोक्ष का सेवन उतना ही आवश्यक था, जितना अर्थ और काम का सेवन। मनुष्य का आदर्श अपना सर्वांगीण विकास है। अतः, वह धर्म और मोक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता और न काम या अर्थ को प्रमुखता दे सकता है।

जब तक भारतीय संस्कृति ऐहिक और धार्मिक दोनों तत्त्वों पर समान ध्यान देती रहे, उसका उत्कर्षण एवं वर्द्धन होता रहे। भारतीयों के पतन का सूत्रपात उसी समय प्रारंभ हुआ, जब यहाँ दोनों के उचित सामंजस्य-समन्वय में संकीर्णता और अल्पता का प्रवेश हुआ।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है कि वह बालकों को शांति एवं सरलतापूर्वक जीवन-यापन करने की क्षमता प्रदान करे, उन्हें इस योग्य बनावे कि वे जीविकोपार्जन की समस्या को अपने व्यावहारिक ज्ञान के माध्यम से सुगमतापूर्वक सुलझा सकें तथा अपने विद्यालयीय जीवन की समाप्ति के पश्चात् उन्हें मात्र नौकरी का ही आश्रय नहीं ढूँढना पड़े, अपितु प्राप्त शिक्षा के आधार पर वे अपनी रोजी-रोटी की समस्या का समाधान, बिना किसी परिश्रम के स्वयं निकाल सकें।

पिछले पृष्ठों में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि पुराने जमाने में जमीन के अनुपात से जनसंख्या कम थी, अतः जीवन-यापन सरल था। परंतु, परिवर्तित परिस्थिति में स्थिति वर्त्तमान नहीं रह सकी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली ने भारतीयों को इस प्रकार पंगु बना दिया कि मात्र दफ्तरों की नौकरी के अतिरिक्त उनके पास वैसा कोई अन्य साधन शेष नहीं रह सका, जिससे वे अपना जीविकोपार्जन कर पाते। अंगरेजी शिक्षा-नीति के सूत्रधार लॉर्ड मेकाले ने २ फरवरी, १८३५ ई० को अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था—"हम चाहते हैं कि भारतीय केवल रंग में ही भारतीय रहें, किंतु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार इत्यादि सभी बातों में अंगरेज बन जाएँ।" इसी शिक्षा-नीति के फलस्वरूप परंपरागत शिक्षा का सूत्रपात हुआ। यह शिक्षा अपने वास्तविक रूप में छात्रों के सर्वांगीण विकास के निमित्त नहीं, अपितु विशेष संकीर्ण उद्देश्य की पूर्ति के हेतु उपस्थित थी। अंगरेज तो चाहते थे कि उनके दफ्तरों के कार्य-संचालन के निमित्त क्लर्क तैयार हों, अतः उन्हें व्यावसायिक शिक्षा की चिंता क्या पड़ी थी। वे इसके लिए क्यों यत्नशील बनते? यही नहीं, भारतीय जनसमूह में व्याप्त समस्त व्यवसायों पर उन्होंने गहरा कुठाराघात किया और उसे समूल नष्ट करने की सफल चेष्टा भी की। व्यावसायिकों के हाथ काट डाले गए। अंगरेजी शिक्षाकाल में समय-समय पर आयोजित विभिन्न शिक्षा-समितियों ने व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति के लिए अपने सुझाव पेश किए, परंतु किसी-न-किसी प्रकार वह टाल दिया गया। इस तरह परंपरागत शिक्षा-प्रणाली का यह मूल उद्देश्य था कि छात्र कार्यालयों में 'फाइल वर्क' करने वाला 'एक बाबू' बने। वस्तुतः हुआ भी वैसा ही। अंगरेज अपनी इस लक्ष्यसिद्धि में पूर्णतः सफल हुए।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी एवं अन्य महान् राजनीतिक और धार्मिक नेताओं के कठिन परिश्रम तथा वलिदान के फलस्वरूप भारत अब एक गणतंत्र राष्ट्र बन कर जगत के समक्ष उपस्थित है। भारत में जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की व्यवस्था की गई है। सबको समान अधिकार है, अतः सबकी समान जिम्मेवारी भी है। भारतीय नागरिकों को अपनी जिम्मेवारी पूर्णतः वहन करने के लिए अपनी रोजी की व्यवस्था करनी है; क्योंकि पराश्रयी होना दुःख की बात तो है ही, सामाजिक पाप भी है। अतः अपनी शिक्षा की व्यवस्था हमें इस प्रकार करनी पड़ेगी, अपने पाठ्यक्रम का निर्णय इस ढंग से करना होगा कि व्यावसायिक शिक्षा को अधिकाधिक प्रश्रय मिले तथा भारतीय नवयुवक विभिन्न व्यवसायों में प्रशिक्षित हों। सरकार का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह इस पर पूरा-पूरा ध्यान दे कि उसका कोई नागरिक पराश्रित नहीं रह सके, नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटके नहीं, विद्योपार्जनोरांत अपनी जीविका की व्यवस्था कर ले। परंपरागत शिक्षा-प्रणाली ने नवयुवकों का जीवन अनिश्चित एवं दुखी बना दिया है। परंतु, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कॉलेज से निकलने वाले हजारों-हजार नवयुवकों को नौकरी प्रदान करना, समाज और सरकार के लिए संभव नहीं। अतः, नौकरी की तलाश में घूमने वाले नौजवानों के जीवन से अनिश्चितता और निरूद्देश्यता हटाने तथा उनकी जीविका की समस्या के समाधान के लिए व्यावसायिक शिक्षा ही क्षमतावान हो सकेगी। अगर विद्यार्थियों में आज अनुशासनहीनता है, तो उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि उनके भावी जीवन का कार्यक्रम अनिश्चित है, उनके जीवन के समक्ष एक भावी निश्चित योजना नहीं है। फलस्वरूप उनका मन और मस्तिष्क किसी विषय पर केंद्रित नहीं रहता है और जिसकी प्रतिक्रिया होती है—अनावश्यक और असामाजिक कार्यों के रूप में। उनका भावी व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है; क्योंकि उनको अपनी रुचि एवं अपने ज्ञान के अनुरूप व्यवसाय का साधन नहीं मिल पाता। अतः, आज व्यावसायिक शिक्षा के प्रचलन के लिए हमलोगों को विशेष रूप से उद्यत होना चाहिए।

व्यावसायिक शिक्षा किशोरावस्था के मनोविज्ञान के अनुकूल है। किशोरावस्था में ध्यान समाज और संसार की यथार्थता पर होता है। इस समय किशोरों की इच्छा होती है कि अपने भावी जीवन को सुखी बनाने के लिए वे कौन ऐसा काम सीख लें, जिससे उसको अपने जीविकोपार्जन में सुविधा हो। किशोरावस्था किशोर को उसी शिक्षा की ओर बढ़ाती है। व्यावसायिक शिक्षा में जीविका की समस्या के समाधान के निमित्त बड़ी शक्ति है, उसमें एक बड़ा प्रयोजन अंतर्निहित है।

पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा को प्रमुखता प्राप्त हो, इस विषय की विशेष चर्चा यूरोपीय देशों में प्रायः सोलहवीं शताब्दी से यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों द्वारा

प्रारंभ हुई। परंतु, भारत में व्यावसायिक शिक्षा अपनी विशेषताओं के कारण वैदिक युग में ही पाठ्यक्रम में प्रमुखता प्राप्त कर चुकी थी। वस्तुतः वैदिक, ब्राह्मण तथा बौद्ध तीनों शिक्षा-प्रणालियों में व्यावहारिक शिक्षा को महत्त्व दिया गया था। यद्यपि शिक्षा का आंतरिक स्वरूप आध्यात्मिक था, तथापि बालकों को जीवन-यापन के लिए भी शिक्षा मिले, इसके लिए प्राचीन गुरु सदैव सचेष्ट रहते थे। 'शिक्षा संपूर्ण जीवन की तैयारी में सहायक हो'-- इस उद्देश्य से विद्यार्थियों को शिक्षित बनाया जाता था। वैदिककालीन शिक्षा में केवल अध्यात्म को ही नहीं, अपितु जीवन की व्यावहारिकता को भी पूर्णरूपेण महत्त्व प्रदान किया जाता था। अध्यात्म के साथ-साथ अन्य जीवनोपयोगी शिक्षाओं का भी समावेश था। गुरु अनेक जीवनोपयोगी विषयों की शिक्षा छात्र को देते थे। छात्र गुरु की सहस्रों गायों को चरा कर और उनकी देखरेख, पशु-पालन के या डेरी-फार्म की कार्यविधि एवं व्यवसाय का अध्ययन कर लेते थे। गुरु के खेतों को जोत कर वे कृषि-कार्य का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। ऋषियों के आश्रम जीवन की प्रयोगशाला स्वरूप थे। छात्र इन प्रयोगशालाओं में भावी जीवन में आने वाली गूढ़तम समस्याओं का अध्ययन सरलता से कर लेते थे।

ब्राह्मणकालीन शिक्षा की विशेषताओं की चर्चा करते हुए व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में एक लेखक के शब्द हैं—"उस समय के शिक्षक बालकों को व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करते थे। फलस्वरूप वे अपने भावी जीवन के संघर्षों से नहीं घबड़ाते थे।" पुनः बौद्धकालीन व्यावसायिक शिक्षा की विशेषताओं की चर्चा करते हुए लिखा गया है-- "बौद्धकालीन शिक्षा-पद्धति के अंतर्गत व्यावसायिक विषयों की शिक्षा व्यावहारिक रूप से ही प्रदान की जाती थी। विद्यार्थीगण कुशल मिस्त्रियों के साथ रख दिए जाते थे। उनके साथ रह कर वे विभिन्न विषयों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे।" बौद्धकालीन शिक्षा के पाठ्यक्रम के अंतर्गत औद्योगिक कला-कौशल एवं जीवनोपयोगी विषयों की शिक्षा को पर्याप्त स्थान दिया गया था। विभिन्न प्रकार के शिल्पों के वर्णन हमें तत्कालीन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। उस काल में शिल्प-विद्या तथा आयुर्वेद की बहुत उन्नति हुई। जीवक तथा चरक-जैसे आयुर्वेदाचार्य इसी युग में हुए थे। इस युग में सर्प-दंश-चिकित्सा भी बहुत उन्नत अवस्था में पहुँच गई थी।

इस युग में मूर्तिकला, चित्रकला तथा वास्तुकला की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक तथा लौकिक उद्योगों की भी सुंदर व्यवस्था थी। तक्षशिला (वर्त्तमान पेशावर के समीप तक्षशिला भारत का विख्यात नगर था, जो ४५५ ई० तक यहाँ के विख्यात शिक्षा-केंद्र के रूप में प्रसिद्ध रहा) में कृषि, व्यापार, आयुर्वेद, सर्प-दंश-चिकित्सा, वास्तुकला, चित्रकला और सैन्यविद्या की शिक्षा दी जाती

थी। नालंदा में आयुर्वेद, वास्तुकला, चिकित्साशास्त्र तथा अन्य कला-कौशलों की शिक्षा दी जाती थी।

गुप्त-युग की अभूतपूर्व समृद्धि का कारण यह था कि भारतीय व्यापार के व्यवसाय में दक्ष थे। इन दिनों भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। इससे पहले सातवाहन-युग में ही रोम को भारत से इतना माल भेजा जाता था कि उसका मूल्य चुकाने के लिए रोमन-शासन-व्यवस्था को कई करोड़ सोने के सिक्के भारत भेजने पड़ते थे।

मध्यकालीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया गया था। इस समय ज्योतिष, आयुर्वेद-चिकित्सा के पठन-पाठन की उपयोगिता समझी गई। इस समय के विभिन्न उपयोगी शिल्पों, वास्तुकला, मूर्ति, कृषि, रत्न-परीक्षा, धातु-विज्ञान आदि पर बहुत पुस्तकें हैं। मध्यकाल में आयुर्वेद के कई प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे गए। वग्गभट्ट ने ८०० ई० के लगभग-'अष्टांगहृदय' और माधव ने 'माधव-निदान' की रचना की। १०६० ई० में बंगाल के चक्रपाणिदत्त ने चरक, सुश्रुत पर टीकाओं के अतिरिक्त "चिकित्सा-सार-संग्रह' की रचना की। सन् १२०० ई० के लगभग "शार्ङ्गधर संहिता' लिखी गई। इसमें अफीम, और पारा आदि औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ी-विज्ञान के भी विषय दिए गए हैं। वनस्पतिशास्त्र के कोषों में 'शब्द-प्रदीप' और 'निघंटु' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ शरीर और शल्य-विद्या भी उन्नत अवस्था में थी। प्राचीन भारतीय कृत्रिम दाँतों के बनाने, लगाने तथा कृत्रिम नाक को बना कर जोड़ने की कला भी जानते थे। मोतियाबिंद को ऑपरेशन द्वारा दूर करते थे। पथरी, आँत-वृद्धि, भगंदर, नाड़ी-व्रण एवं अर्श को ठीक करते थे। स्त्रियों के रोगों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ऑपरेशन तथा शल्य-क्रिया द्वारा गर्भ-विमोचन की विधि से भी वे सुपरिचित थे। आठवी शताब्दी में खलीफा अलमंसूर ने भारत के कई वैद्यक ग्रंथों का अरबी-अनुवाद कराया था। हारूरशीद ने कई भारतीय वैद्य बगदाद बुलाए। अरबों द्वारा भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली यूरोप पहुँची। यूरोप में दसवीं शताब्दी में औषधालयों की स्थापना हुई मानी जाती है, परंतु भारत में इसका सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के अभिलेखों में है। पाँचवीं शताब्दी में फाहियान तथा सातवीं शताब्दी में युआन-च्वांग ने क्रमशः पाटलिपुत्र, तक्षशिला और मथुरा आदि की पुण्यशालाओं का उल्लेख किया है, जहाँ निर्धनों तथा विधवाओं को भोजन-वस्तु के अतिरिक्त मुफ्त औषधि भी दी जाती थी। भारतीय पशु-चिकित्सा में भी बहुत उन्नत थे। आज गणतंत्र भारत के पाठ्यक्रम-निर्माण करते समय हमें अपने प्राचीन इतिहास के उज्ज्वल आदर्श को अपने समक्ष रखना है। इन विषयों को अपने

पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान कर ही हम व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति में प्रगति कर सकेंगे।

जब हम इस्लामी शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें यह देखने का स्पष्ट अवसर मिलता है कि इस्लामी शिक्षा में सांसारिक एवं धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का संमिश्रण था। इसमें धार्मिक तथा भौतिक शिक्षा का समन्वित स्वरूप दिग्दर्शित होता है। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ जीवनोपयोगी शिक्षा का पूरा-पूरा प्रचलन था। कुरान के अनिवार्य अध्ययन के साथ-साथ कला-कौशल, चिकित्सा, कृषि, कानून, बही-खाता आदि विषयों का गंभीर अध्ययन कराया जाता था। इस युग में वास्तुकला एव शिल्पकला का अच्छा विकास हुआ।

इस्लाम धर्म के अनुयायी आध्यात्मिकता, परलोक तथा मानव के पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करते, अतः उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे भौतिक शिक्षा को अधिक महत्व देते। उनकी शिक्षा आध्यात्मिकता की ओर नहीं जा कर व्यावहारिकता की ओर झुकी। सम्राट औरंगजेब भी अधिक व्यावहारिक शिक्षा देने का पक्षपाती था।

मुस्लिम साम्राज्य के भग्नावशेष पर भारत पर वृटिश सामंतशाही का 'युनियन जैक'' लहराने लगा। वृटिश-राज्य की आधारशिला दृढ़ से दृढ़तर हो, इसके लिए अंगरेज प्रयत्नशील बने। इस लक्ष्य की सफलता के लिए उन्होंने स्वनिर्मित और स्वगठित शिक्षा-नीति का आलंवन किया। शिक्षा ही वह प्रबल शक्ति है, जिसके माध्यम से सरकार अपने मनोनुकूल नागरिकों के स्वरूप की कल्पना साकार करने में समर्थ बन पाती है। आज रूस, चीन, अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन और इटली आदि देशों का शिक्षा-इतिहास इस सत्य का उदाहरण है। अँगरेज अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भारतीय नागरिकों को कुछ विद्यालयीय शिक्षा दे कर तैयार करना चाहते थे। वे वैसी शिक्षा की क्यों व्यवस्था करते, जिससे भारतीय विद्यार्थी किसी व्यवसाय की शिक्षा ग्रहण कर अपने को आत्मनिर्भर बना सकते? यद्यपि भारतीयों द्वारा सरकार की इस नीति की आलोचनाएँ होती रहीं। निःसंदेह सरकार ने समय-समय पर विभिन्न शिक्षा कमिटियों का गठन भी किया, जिन्होंने अपनी रिपोर्ट में व्यावसायिक शिक्षा के लिए पूर्ण सहानुभूति भी दिखलायी, परंतु तथ्य यही रहा कि भारतीयों को मात्र एक लिखित सांत्वना के कुछ हाथ नहीं आ सका।

हंटर कमीशन (हंटर कमीशन की नियुक्ति ३ फरवरी, १८८२ ई० को लॉर्ड रिपन द्वारा की गई थी, जिसने ८ महीने तक समस्त देश का दौरा कर ६१० पृष्ठों में भारत शिक्षा-विकास के लिए सारगर्भित सुझाव की रिपोर्ट का प्रतिपादन किया था) ने हाई स्कूल के पाठ्यक्रम में औद्योगिक विषयों का समावेश किया था। इस कमीशन ने पाठ्यक्रम के विषय में कहा था कि प्रत्येक प्रांत अपनी आवश्यकताओं को ध्यान

में रखते हुए अपने पाठ्यक्रम का निश्चय करें। साथ ही, इसने पाठ्यक्रम में व्यावसायिक विषयों जैसे कृषि, भौतिक-विज्ञान, बही-खाता आदि को भी संमिलित करने पर बल दिया।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार वोर्ड ने सन् १९३५ ई० में व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में अपनी संमति देते हुए यह कहा था कि "देश की वर्त्तमान आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए केवल वौद्धिक शिक्षा पर ही वल नहीं दिया जाए, अपितु व्यावहारिक तथा व्यावसायिक शिक्षा पर भी वल दिया जाए।"

सन् १९३७ ई० में भारतीय शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् 'वुड एवड रिपोर्ट' ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा को अत्यधिक महत्वपूर्ण बतलाया। औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा पर श्री एबट की सिफारिशों का स्वरूप निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है :—

१. एवट के अनुसार सामान्य शिक्षा के साथ व्यावसायिक शिक्षा भी देना अत्यंत आवश्यक है। दोनों का एक दूसरे से संवंध है। व्यावसायिक शिक्षा भी सामान्य शिक्षा के बिना महत्त्वहीन है और उसका जीवन के लिए कोई लाभ नहीं है। व्यावसायिक शिक्षा के साथ ही सामान्य शिक्षा का प्रवंध करना चाहिए।

२. व्यावसायिक शिक्षा का विस्तार सोच-समझ कर करना चाहिए। अभी देश का औद्योगिक विकास कम है। परिणामस्वरूप अधिक औद्योगिक शिक्षा के प्रसार से देश में वेकारी फैलने की संभावना है।

३. अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक प्रांत को व्यावसायिक शिक्षा का प्रवंध करना चाहिए।

४. व्यावसायिक शिक्षा के संगठन में वड़े-बड़े उद्योगपतियों को पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिए तथा छोटे-छोटे कुटीर-उद्योग-धंधों की शिक्षा का भी समुचित प्रवंध करना चाहिए।

५. सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा के स्कूल अलग-अलग होने चाहिए।

६. देश के विशाल संगठित उद्योगों के लिए तीन प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता रहती है। प्रथम प्रवंधक, दूसरे निरीक्षक तथा तीसरे यंत्र-संचालक। अत: इन तीनों प्रकार के कर्मचारियों के लिए उचित प्रशिक्षण का प्रवंध होना परम आवश्यक है।

७. रिपोर्ट में इस बात पर वल दिया गया कि प्रत्येक प्रांत में व्यावसायिक शिक्षा-सलाहकार समितियों की आयोजना हो। इन समितियों के अंतर्गत कपड़ा-व्यवसाय इंजीनियरिंग, कृषि, कुटीर-उद्योग और वाणिज्य-शिक्षा-संवंधी उप

समितियों का निर्माण किया जाए। ये उप समितियाँ प्रत्येक प्रांत में व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम-संगठन का भार स्वयं वहन करें।

८. व्यावसायिक स्कूल दो प्रकार के हों। प्रथम जुनियर तथा दूसरा सीनियर। मिडिल पास छात्रों का प्रवेश जुनियर व्यावसायिक स्कूलों में किया जाए। इसी प्रकार सीनियर व्यावसायिक स्कूलों में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पास छात्र प्रवेश करें। जूनियर व्यावसायिक स्कूलों का कोर्स दो साल का होना चाहिए। इस कोर्स को पास करके वे सीनियर व्यावसायिक स्कूलों में भी प्रवेश ले सकते हैं। सीनियर कोर्स पास करने वाला छात्र इंटरमीडिएट की परीक्षा पास करने वाले छात्र के समान माना जाएगा।

९. जो व्यक्ति नौकरी कर रहे हैं, उनके लिए 'पार्ट टाइम' विद्यालयों का प्रबंध शीघ्रतम होना चाहिए।

१०. कृषि-शिक्षा पर विचार करते हुए समिति ने रिपोर्ट दी कि कृषि कॉलेज खोलने में शीघ्रता नहीं की जाए। प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में कृषि को वैकल्पिक विषय के रूप में रखा जाए। वाणिज्य को भी यही स्थान प्रदान किया जाए।

११. विभिन्न उद्योग-धंधों की शिक्षा प्रदान करने के लिए बहुधंधी स्कूल खोलने की सिफारिश की गई।

१२. रिपोर्ट ने शिक्षा को एक दूसरा दृष्टिकोण भी दिया और उसके एक-मार्गी कोष को दूर करके बहुमार्गी बनाने की सिफारिश की।

५ अक्टूबर, सन् १९३४ ई० को शिक्षित युवकों में फैली हुई बेकारी की जाँच करने के लिए तथा उससे त्राण पाने के निमित व्यावहारिक सुझाव के लिए सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई थी, जिसने अपनी सिफारिश पेश करते हुए बतलाया कि "पाँचवीं से आठवीं कक्षा तक अनिवार्य व्यावसायिक शिक्षा हो।"

सन् १९४४ ई० में सार्जेंट योजना ने अपनी रिपोर्ट में व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए हाई स्कूलों की शिक्षा का विभाजन दो रूपों में कर दिया। प्रथम टेकनिकल तथा दूसरा एकेडेमिक (साहित्यिक)। पहले प्रकार के स्कूलों में व्यावहारिक विज्ञान तथा व्यापारिक विषयों को पढ़ाया जाना था जैसे इंजीनियरिंग ड्राइंग, शॉर्टहैंड, एकाउन्टेंसी आदि विषय। दूसरे प्रकार के स्कूलों में कला तथा विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाएगी, जिसमें प्रमुख विषय होंगे—अंग्रेजी, मातृभाषा

इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, संगीत आदि। टेकनिकल शिक्षा की महत्ता वुड-एबड रिपोर्ट में भी बतलायी गई। इसमें औद्योगिक विकास के लिए चार प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता बतलायी गई।

१. उच्चतम श्रेणी के छात्र औद्योगिक हाई स्कूल की शिक्षा समाप्त करके विश्वविद्यालय की टेकनोलॉजिकल विभाग में जाएंगे।

२. निम्न श्रेणी के अंदर फोर-मेन आदि होंगे।

३. कुशल कारीगर वे होंगे, जो कि सीनियर हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के बाद औद्योगिक हाई स्कूलों की परीक्षा समाप्त कर लेंगे।

४. अकुशल कारीगरों की भर्ती सीनियर बेसिक स्कूलों से पास करने वाले छात्रों में से की जाएगी। सार्जेंट रिपोर्ट में प्रौढ़ों की उन्नति के लिए व्यावसायिक शिक्षण की व्यवस्था की सिफारिश भी की गई थी।

यदि व्यावसायिक शिक्षा को इसके वास्तविक रूप में संगठित किया जाए, बालक को उसकी रुचि के अनुरूप व्यवसाय चुनने का अवसर दिया जाए तथा व्यवस्थित उचित शिक्षा-प्रणाली अपनायी जाए, तो जिन बुराइयों और त्रुटियों की कल्पना का जाती है, वे कदापि उत्पन्न नहीं होंगी। व्यावसायिक शिक्षा बालकों को स्वावलंबी बनाने के साथ-साथ उचित अर्थ में शिक्षित भी बना सकेगी। इसमें उनके विचार और उनकी निरीक्षण-शक्ति जाग्रत करने की क्षमता है। यह उनकी वैयक्तिक विशेषताओं के विकास का अवसर प्रदान कर उनको समाजोपयोगी बनाने में सहायता उपलब्ध कराती है।

व्यावसायिक शिक्षा में व्यक्ति एवं उसके व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण क्षमता है। यदि बालकों को पढ़ने-लिखने एवं गिनती सीखने अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने के बदले हाथ से कार्य करना सिखाया जाए तथा अन्य विषयों की शिक्षा, खेल और पाठ्यक्रमेतर विषयों को भी संबद्ध कर दिया जाए, तो वह व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सफल सहायक होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति से सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व के वैसे नागरिकों का निर्माण होगा, जो परमुखापेक्षिता की भावना से सर्वथा दूर होंगे और उनका जीवन सुखी होगा। कार्ल मार्क्स, रूसो, जॉन लॉक और हरबर्ट स्पेंसर-जैसे विद्वान विचारकों ने शिक्षा में इस प्रणाली को अपना कर अग्रसर होने के लिए बल दिया है। 'शिक्षा में जीविकोपार्जन'—उद्देश्य के प्रमुख समर्थकों में हरबर्ट स्पेंसर का नाम प्रमुख है। उनका विचार था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो मनुष्य को जीविकोपार्जन में सहायता प्रदान करे। वास्तविक शिक्षा वही है, जो मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए क्षमता देने में समर्थ होती है।

रॉवेल, जिनके शैक्षणिक आदर्शों से लॉक और रूसो-जैसे शिक्षाशास्त्री भी प्रभावित हुए, बच्चों को उनके वातावरण से संबंधित वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराना चाहते थे। वे बच्चों और किशोरों में व्यावसायिक शिक्षा के समर्थक थे। लॉक ने व्यावसायिक शिक्षा की अनिवार्यता का अनुभव किया था, अतः उन्होंने इसको अपने पाठ्यक्रम का प्रमुख विषय बनाया। वे हिसाब-किताब रखने के लिए बच्चों को मुनीमी पढ़ाना आवश्यक समझते थे। लॉक के अनुसार बालकों को बढ़ई तथा माली के काम की शिक्षा भी देनी चाहिए। शिक्षा में प्रकृतिवाद का प्रयोग करने वाले तथा विश्व के प्रमुख विचारक रूसो भी शिक्षा में व्यावहारिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि "मैं बच्चे को पुस्तकों पर दृढ़ रहने की अपेक्षा वर्क-शॉप में व्यस्त रखना पसंद करता हूँ। उसके हाथ, उसके मस्तिष्क के लाभ के लिए कार्य करेंगे।" पेस्टालॉजी भी शिक्षा को पूर्णतः व्यावहारिक बनाने के पक्ष में थे। अतः, उनकी इच्छा थी कि व्यवसाय और शिक्षा को एक साथ रखा जाए। 'शिक्षा और व्यवसाय' को एक साथ रख कर वे शिक्षा-संस्थाओं में व्यावहारिकता का समावेश करना चाहते थे। दैनिक जीवन में कुशलता के लिए शिक्षा में कृषि तथा व्यापार-संबंधी विषयों को स्थान दिया जाए—ऐसा प्लेटो का विचार था। प्राचीन मिस्र की शिक्षा भी व्यावहारिक कार्यों द्वारा होती थी। वहाँ के बालकों में यह क्षमता उत्पन्न की जाती थी कि वे तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शिक्षा को ही नहीं ग्रहण करें, अपितु उन बातों को भी सीखें, जिनसे उनके भविष्य का निर्माण हो। यहूदियों के यहाँ एक नियम है, जिसे वे 'मिशना' कहते हैं। इस नियम के अनुसार केवल शिक्षा ग्रहण करना ही आवश्यक नहीं है, वरन् कार्य करने की क्षमता भी उतनी ही जरूरी है। महात्मा मोसेस द्वारा निर्धारित यहूदी शिक्षा जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उन बातों को सिखाना आवश्यक समझती थी, जिनके द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। वे शिक्षा में व्यावसायिक प्रवृत्ति के पूर्णतः समर्थक थे।

यथार्थवादी शिक्षा के समर्थकों ने केवल पुस्तकीय ज्ञान का विरोध करते हुए कहा है कि यह शिक्षा बच्चों को अव्यावहारिक ज्ञान प्रदान करती है। स्कूलों में प्राप्त किया हुआ पुस्तक-ज्ञान बच्चों को वास्तविक सांसारिक जीवन के योग्य नहीं बनाता है। अतः, बालकों को ऐसी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए, जो उनको वातावरण से अवगत करावे। अपने वातावरण से अवगत होने पर ही छात्रगण अपने जीवन की समस्याओं को समझने और सुलझाने में सफल हो सकेंगे। वातावरण से अवगत कराने वाली शिक्षा उन्हें अव्यावहारिक नहीं बना कर जगत में

व्यवहारकुशल प्राणी बनावेगी। यथार्थवादी शिक्षा का मूल उद्देश्य बच्चे को उसके वातावरण से अवगत होना मानते हैं। बच्चा यदि अपने वातावरण से अवगत हो जाएगा, तो अपने जीवन को सुखी बनाने में सफल होगा। अतः, शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो मनुष्य को वास्तविक जीवन के लिए तैयार करे। इस दृष्टिकोण से शिक्षण-संस्थाओं में साहित्यिक और कलात्मक ज्ञान पर हो ध्यान नहीं दे कर, व्यावसायिक शिक्षा को प्रश्रय प्रदान करना चाहिए। मि० डेवेन पोर्ट का विचार है कि "किसी भी व्यक्ति को बिना व्यवसाय के शिक्षा तथा बिना शिक्षा के व्यवसाय नहीं चुनने देना चाहिए। यदि स्कूल बच्चों को कुछ व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करेगा, तो वे अपनी जीविका के लिए धनार्जन करने में सफल होंगे। इस प्रकार वे अपनी दैनिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में रुकावट नहीं अनुभव करेंगे।"

व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता का अनुभव यूरोप और अमेरिका-जैसे प्रगतिशील देशों में की गई है। वहाँ के शिक्षाशास्त्रियों, मनोविज्ञानवेत्ताओं एवं अध्यापकों ने इसकी प्रमुखता को स्वीकार कर पाठ्यक्रम में समुचित स्थान दिया है। वे बाल-मनोविज्ञान के आधार पर उनकी प्रारंभिक अवस्था में ही बालकों की रुचि एवं क्षमता की जानकारी का पता लगा लेते हैं तथा अमुक बालक को किस प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जाए, उसका मस्तिष्क किस ओर प्रशिक्षित किया जाए, इसकी व्यवस्था और उपाय करते हैं। किसी उद्योग-धंधे की सिफारिश करने के पहले वे बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति, योग्यता, बुद्धि, प्रधान अध्यापक की राय, डॉक्टर की रिपोर्ट तथा पारिवारिक स्थिति आदि का पता और अध्ययन करते हैं, फिर तदनुकूल किसी विशेष उद्योग-धंधे की शिक्षा देने की व्यवस्था करते हैं। बालक की रुचि एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति का पता लगाने के लिए वे बड़े ध्यान से उसकी गतिविधि का अध्ययन करते हैं और विशेष प्रकार की परीक्षाएँ लेते हैं।

भारत अब एक सर्वप्रभुतासंपन्न गणतंत्र राष्ट्र है। इस समय हमारे समस्त कार्य-कलाप इस लक्ष्य और उद्देश्य को ध्यान में रख कर होने चाहिए; क्योंकि हमें अपने बालकों का सर्वांगीण विकास करना है। हमें उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे पूर्ण सक्षम हो कर अपनी जीविका सरलता एवं सुगमतापूर्वक चला सकें। उन्हें परमुखापेक्षिता की भावना का शिकार नहीं होना पड़े। अतः, पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था अत्यंत आवश्यक है। व्यावसायिक शिक्षा की योजना एवं क्षमता प्रदान करने के लिए बालकों को उनकी प्राथमिक अवस्था की शिक्षा से ही कार्य प्रारंभ करना होगा। सन् १९३४ ई० में सर तेजबहादुर सप्रू की

अध्यक्षता में जो शिक्षा-समिति गठित हुई थी, उसके विचार सर्वदा मान्य हैं। उसमें निर्देश है कि बालकों को उनकी प्रारंभिक शिक्षा से ही व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए। आज अपनी उन्नति के लिए हमें व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता को पूर्णतः स्वीकार कर प्रचलित करना होगा।

व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त नवयुवक केवल अपनी जीविकोपार्जन की समस्या का ही सरलता और सुगमतापूर्वक समाधान नहीं करेंगे, अपितु वे अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति में भी पूरा-पूरा योगदान दे सकेंगे। सभ्यता और संस्कृति का विकास अवकाश के समय में ही होता है। मनुष्य को जब अवकाश मिलता है, तो वह चिंतन करता है। वह व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति तथा आध्यात्मिक प्रगति की बात सोचता है। जिस देश के लोग मुश्किल से चौबीस घंटे में एक जून भी अपना पेट भरने में असमर्थ हैं, वे अपनी या अपने समाज की अन्य उन्नतियों और प्रगतियों के बारे में भला क्यों सोच पाएँगे। अतः, जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा में व्यावसायिक प्रशिक्षण का समायोजन अत्यंत आवश्यक है।

वर्त्तमान काल में जीविकोपार्जन की शिक्षा का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। जो शिक्षा उपयोगी हो, उस पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। शिक्षा के प्रति यह दृष्टिकोण कि शिक्षा का ध्येय केवल शिक्षा ही है, उसमें उपयोगिता का कोई स्थान नहीं, पूर्णरूपेण परिवर्तित हो चुका है। यह माना जाने लगा है कि वास्तविक शिक्षा वही है, जो व्यक्ति को सम्यक् रूप से अपना जीवन व्यतीत करने के निमित्त तैयार करे, वह सुखी बन सके। सुखी वही बन सकता है, जिसके समक्ष अर्थोपलब्धि की समस्या का विकट रूप नहीं उपस्थित रहे और इसके समाधान की क्षमता व्यावसायिक शिक्षा में ही है।

महात्मा गांधी ने अपनी प्रदत्त बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा के इन्हीं उद्देश्यों को पूर्णरूपेण समावेश करने का प्रयत्न किया है ("A vocation or vocations are the best medium for the all round development of a boy or girl and therefore as far as possible the syllabus should be woven round vocational training."—Mahatma Gandhi) महात्मा गांधी के विचार से व्यवसाय लड़के-लड़कियों के विकास का मुख्य साधन है, अतः, पाठ्यक्रम में जहाँ तक संभव हो, व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित परंपरागत शिक्षा-प्रणाली के विरोध में बुनियादी शिक्षा-व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की थी। परंपरा-

गत शिक्षा-प्रणाली पुस्तकीय थी, विषयकेंद्रित थी। इसका मुख्य उद्देश्य था कि भारतीय नवयुवक कार्यालयों के लिए सहायक रूप में तैयार हों। अतः, महात्मा गांधी ने इस अव्यावहारिक सैद्धांतिक शिक्षा के विरोध में बुनियादी शिक्षा-प्रणाली की रूप-रेखा प्रस्तुत की, जो बालक को स्वावलंबी बनाने के हेतु किसी हस्तकला पर आधारित कार्य-प्रणाली द्वारा स्थायी ज्ञान ग्रहण करने पर बल देती है। उन्होंने बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान पर बल दिया है। उनका विचार था कि बच्चों की बनायी हुई वस्तुएँ केवल किसी अजायबघर के लिए अथवा दिखाने के लिए ही नहीं हों, अपितु वे इस प्रकार की हों कि बाजार में अन्य कारीगरों का मुकाबला कर सकें।

बुनियादी शिक्षा वही है, जो बालकों को स्वावलंबी बनावे। किशोर नौजवान आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक सभी प्रकार स्वावलंबी हों और उनका भावी गार्हस्थ्य जीवन सुखी एवं शांतमय वातावरण में व्यतीत हो। शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् वे अपने पैरों पर खड़ा हो सकें। महात्मा गांधी की ऐसी धारणा थी कि भारत-जैसे निर्धन देश में शिक्षा तभी अनिवार्य हो सकती है, जब यह उपाय निकाला जाए कि बालक स्वयं अपनी शिक्षा के खर्च के हेतु धनोपार्जन कर सकें। इसी अव-स्था में उन्होंने बालक के हस्तकौशल द्वारा धनोपार्जन करके शिक्षा-व्यय निकालने का सुझाव प्रस्तुत किया। उनका यह तात्पर्य नहीं था कि बालकों के परिश्रम से अध्या-पक अर्थोपार्जन करें। इसी विचार से उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति में हस्तकला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

महात्मा गांधी ने लिखा है-- "व्यवसाय या अनेक व्यवसाय एक लड़के-लड़की के सर्वांगीण विकास का सर्वोत्तम माध्यम है और इसीलिए जहाँ तक सभव हो, पाठ्य-क्रम व्यावसायिक प्रशिक्षण के चारों ओर होना चाहिए।" बुनियादी शिक्षा-पद्धति में हस्तकला को केंद्रीय स्थान दिया जाता है। इससे बालक एक ओर तो विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करता है, साथ ही; भविष्य के लिए इस क्षमता को प्राप्त कर लेता है कि अपना जीविकोपार्जन कर सके। महात्मा गांधी 'हरिजन' में लिखते हैं-- "स्थानीय उद्योग अथवा दस्तकारी ही शिक्षा की धुरी है। इसके द्वारा ही बच्चों को अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान की जाए। यह उद्योग यंत्रवत् नहीं, बल्कि वैज्ञा-निक ढंग से क्यों और कैसे का ज्ञान कराते हुए सिखाया जाए तथा इसी प्रसंग में अन्य विषयों की ज्ञानप्राप्ति करायी जाए।"

स्पष्ट है कि हमारी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में तभी सुधार होगा, जब हम बुनियादी शिक्षा-पद्धति को अपनावेंगे।

गांधी शिक्षा-दर्शन में मानव-विकास की पूर्ण क्षमता

मनुष्य सृष्टि के आदिकाल से ही ज्ञान प्राप्त करने का अभिलाषी रहा है। शिक्षा सदा से मानव-जीवन की सहायिका रही है। मनुष्य इनी साधन के द्वारा अपने अभीष्ट तक पहुँच सकता है। बालक को किस प्रकार से प्रकाश में लाया जाए, उसे किस प्रकार जीवन में सफल होने योग्य बनाया जाए-- यह एक ऐसी समस्या है, जो शिक्षा के इतिहास के इतने बड़े दीर्घकाल में शिक्षाशास्त्रियों को परेशान करती रही होगी। इसी कठिन समस्या का निराकरण करने में शिक्षा से अभिरुचि रखने वाले विद्वानों ने आदिकाल से अब तक अनेक शिक्षण-विधियों को जन्म दिया है।

जीवन और शिक्षा का संबंध अविच्छिन्न है। मनुष्य दूसरों को जो कुछ करते देखता है, उसे वह सीखने की कोशिश करता है। कोई न भी बतलाने वाला हो, तो भी वह अपनी सहज प्रवृत्ति से शिक्षा ग्रहण करता है। वह दूसरों के कार्यों का अनुकरण करने लगता है। अनुकरण की प्रवृत्ति मौलिक है और वह शिक्षा का आधार है। प्रारंभ में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं। वह पशुओं को मार कर अपना उदर-पोषण कर लेता था। इसलिए शिकार में कुशल होना उसका एकमात्र उद्देश्य था। बच्चों को इसी कला का अभ्यास कराया जाता था। वे खेल में वयस्क जीवन के कार्यों का अनुकरण करते थे। जैसे— शिकार खेलना, तीर चलाना, एक बालक का दूसरे बालक पर घोड़े की भांति चढ़ना आदि। इस प्रकार जीवनधारा के उद्गम-स्थान में अनुकरण-विधि का आविर्भाव हुआ।

आगे चल कर समाज का रूप कुछ जटिल हो गया। खेती-बारी और पशु-पालन आदि जीवन-निर्वाह के साधन बन गए। आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ वस्तुओं के उत्पादन, उनका संचय और प्राप्ति के साधन का कार्य चल पड़ा। सभ्यता और संस्कृति का उदय, उत्सवों और रीतियों के रूप में हुआ। अब बालकों को इस उद्देश्य से तैयार किया जाने लगा कि वे समाज के नियमों का पालन कर सकें। एक विशेष आयु प्राप्त करने पर उनको दीक्षित करने की प्रथा चल पड़ी। पुरोहित ही शिक्षक के मूल रूप में आया। इतने दिनों तक बालक अनुकरण द्वारा जो कुछ सीख सकता था, सीख लेता था। अब पुरोहित प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देने लगा। वह बालक के सामने एक क्रिया करके दिखाता था और बालक उसका अनुकरण कराता था।

धीरे-धीरे जीवन और भी जटिल होता गया। सभ्यता का विकास हुआ। छोटे-बड़े गांव बसने लगे। शिक्षा का महत्त्व बढ़ गया। साथ ही, शिक्षक का संमान

भी बढ़ने लगा। गुरुकुलों और आश्रमों में जाकर शिक्षा पाने की व्यवस्था चल पड़ी। बालक आचार्य के निकट रह कर शिक्षा पाता था। यूनान में भी शिक्षक द्वारा शिक्षा देने की प्रथा थी। एक आश्रम में बालकों की संख्या थोड़ी होती थी। शिक्षक सभी विद्यार्थियों को एक स्थान पर एकत्र करके वर्ष बाद यूरोप के शिक्षा-विशारदों, जैसे हरबर्ट आदि के 'पंचसोपान' से साम्य रखते हैं। उस काल में आग-मन और निगमन विधियों का भी प्रयोग होता था। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में शिक्षण-विधियाँ आज की ही भाँति वैज्ञानिक थीं और उन्हें सीखने के लिए प्रशिक्षण भी आवश्यक था। आवश्यकतानुकूल आचार्य टीका-प्रणाली या शास्त्रार्थ-प्रणाली का प्रयोग करते थे।

पाश्चात्य देशों में शिक्षण-विधि का अभी विकास नहीं हो पाया था। अनु-करण-विधि से ही काम लिया जाता था। परंतु, इस विधि से बालकों के मानसिक विकास में बाधा पड़ती थी। यूनान में इस विधि का विरोध हुआ और आलोचना-विधि का प्रयोग हुआ। आगे चल कर इस विधि में कुछ परिवर्तन करके सोक्रेटिज और प्लेटो ने 'तर्क-विधि को जन्म दिया। अभी तक प्रयोग में पायी जाने वाली कथन-विधि में कुछ दोष थे। यह विधि अमनोवैज्ञानिक थी। छात्रों के विचारों तथा उनके मनोभावों की उपेक्षा की जाती थी। शिक्षक जो कुछ बतलाता था, उसमें विश्वास करना आवश्यक था। पर, यह विश्वास अंधविश्वास का रूप ले रहा था। बालक शिक्षक के पास कुछ पूर्वसंस्कार लेकर आते थे। उनके मन में अपने संस्कारों और शिक्षा के द्वारा बताए गए विचारों में वैषम्य दीख पड़ता था, फलतः उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती थी। इन मनोदशाओं को ध्यान में रख कर सोक्रेटिज ने तर्क-विधि का आविष्कार किया। इस विधि में शिक्षक पहले प्रश्नों द्वारा बालक के संदेह की पुष्टि करता है और फिर तर्कों द्वारा उसके पूर्वविचारों का खोखलापन उसके सामने रख देता है। तब वह नई शिक्षा का सूत्रपात करता है।

पर, यूनान का यह स्वर्ण युग जिसमें सोक्रेटिज, प्लेटो और ऑरिस्टाटल-जैसे उद्भट् विद्वान अवतीर्ण हुए थे, समाप्त हो गया। यूनानियों की पराजय के बाद रोम-राज्य की स्थापना हुई। परंतु, रोमन लोगों में प्रतिभा का अभाव था। उन लोगों ने शिक्षण-विज्ञान के विकास में कोई ठोस सहायता नहीं दी। उस युग का सर्वश्रेष्ठ शिक्षाचार्य क्विंटीलियन भी कहा करता था कि अनुकरण-विधि सरल तथा सुगम है। उस युग में अनुकरण तथा कंठस्थ कराने की विधि को प्रधानता दी जाती थी। विद्यार्थियों को 'Twelve Table' रटाया जाता था। सचाई, ईमान-दारी और साहस आदि गुण वे अनुकरण द्वारा सीखते थे।

इसी बीच महात्मा ईसा का अवतार हुआ। उनके द्वारा प्रचारित धर्म के प्रकाश में यूनान का अनीश्वरवाद लुप्त हो गया। तर्क के स्थान पर विश्वास पुनः आसीन हो गया था। तर्क द्वारा मनुष्य का दृष्टिकोण अस्थिर और संदेहात्मक हो जाता है, हृदय में अशांति छायी रहती है। पुनः गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और उसके वचन में अटूट विश्वास के कारण 'कथन-विधि' का बोलवाला हो गया। उसी विधि द्वारा पादरी मठों में उपदेश देते थे।

मध्ययुग के पियरे अबेलार्ड (Pierre Abelard, 1079-1142 A.D,) और सेंट टॉमस ऐक्वीनाज (St. Thomas Acquinas, 1223-1274 A. D) जैसे शिक्षाचार्यों ने विचार-विमर्श (Discussion)तथा शास्त्रार्थ (Disputation) विधि को जन्म दिया। ऐक्वीनाज ने अपनी शिक्षण-प्रणाली का विवरण अपनी पुस्तक (Summa Theologica) में दिया है। उसके अनुसार पाठ का अध्ययन विद्यार्थी के ऊपर ही छोड़ देना है। शिक्षक को पाठ्-सामग्री प्रश्नों द्वारा प्रस्तुत करनी चाहिए। अध्यापक अनुमानशास्त्र (Syllogism) की सहायता से विषय की आलोचना करे और संदेहों को दूर करे। अनुमानशास्त्र के द्वारा शिक्षक और शिष्य एक दूसरे पर आक्रमण तथा बचाव करते हैं। शिक्षण की यह विधि शाब्दिक थी।

मध्यकाल में कथन-विधि को पनपने का अच्छा अवसर मिला। यूरोप में विश्वविद्यालयों का जन्म हुआ। पुस्तकों के अभाव के कारण अध्यापक का महत्त्व बढ़ गया। पुस्तक पढ़ कर अध्यापक नोट तैयार कर लेता था और उसे कक्षा में पढ़ता था। इस प्रकार 'भाषण-विधि' का आविर्भाव हुआ। हैले विश्वविद्यालय (University of Halla) में जहाँ संभवतः सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था, भाषण विधि का प्रयोग होता था, वहाँ भाषण के साथ-साथ शास्त्रार्थ का भी प्रयोग होता था। उच्च कक्षाओं में गवेषणात्मक कार्य करने के बाद छात्र आलेख (Thesis) प्रस्तुत करते थे। अध्यापकों एवं छात्रों की एक सभा होती थी। अनेक प्रश्न किए जाते थे और खोज करने वाले विद्यार्थी को उन प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते थे।

'ज्ञान का पुनरोदय' (Renaissance) के बाद फिर से प्राचीन यूनानी साहित्य पर जोर दिया जाने लगा। पहले पढ़ने-लिखने वालों की संख्या बहुत कम थी। अब लोग यह समझने लगे कि बिना पढ़े-लिखे हमारा उद्धार न होगा। अतः, इसी समय से छोटे बालकों की शिक्षा प्रारंभ हुई। पुरानी शिक्षण-विधियाँ अब अनुपयुक्त सिद्ध होने लगीं; क्योंकि वे वयस्क लोगों के काम की थीं। बालकों के लिए नई विधि की आवश्कता थी।

सुधारवादियों ने तर्क-विधि की उपादेयता पर ज़ोर दिया। उधर रूढ़िवादियों ने भी अपनी शिक्षण-विधि में कुछ परिवर्तन किए। उन्होंने एक नए संगठन की नींव डाली, जिसे जेसुइट ऑडर (Jesuit Order) कहते हैं। उन्होंने प्राचीन धर्म को तर्कसंगत बताया। जेसुइट ऑडर के प्रधान स्तंभ ल्वायला (Loyla) ने शिक्षण-विधि को सुचारू रूप देने में बड़ी सहायता पहुँचायी। उसने शिक्षण-विधि को वैज्ञानिक रूप देने की ओर सर्वप्रथम संकेत किया और अध्यापक के प्रशिक्षण पर जोर डाला। उसके अनुसार ऊँची कक्षाओं में पढ़ाई शास्त्रार्थ-पद्धति से और भाषण पद्धति होनी चाहिए। विद्यार्थी आवश्यक बातों को नोट करते जाएँ और अंत में उन्हें प्रश्न करने का अवसर मिले। अंत तक पाठ को कम-से कम एक बार दुहरा लिया जाए। छोटी कक्षाओं में आधे समय में पुस्तक समाप्त हो जाए और शेष समय में उसे दुहरा लिया जाए। वास्तव में जेसुइट लोग शिक्षण-विधि के जनक थे। शिक्षा देने में 'नाटक' का उपयोग करके उन्होंने इतिहास पढ़ाने के आधुनिक नाटकीय ढंग का पूर्वाभास कराया और भाषा की शिक्षा से प्रत्यक्ष (Direct) विधि का प्रयोग किया। आधुनिक समय में, उनकी 'दुहराने की विधि' का, शिक्षक बड़ खूबी से प्रयोग करते हैं।

जेसुइट मत के अध्यापक टीका या 'व्याख्या-विधि' का भी प्रयोग करते थे। भारत में प्राचीनकाल से ही ये विधियाँ प्रचलित थीं। टीका-विधि का प्रयोग साहित्यिक एवं दार्शनिक विषयों के शिक्षण में होता था। इसका उद्देश्य पद अथवा श्लोक की व्याख्या करना, व्याकरण-संबंधी गुत्थियाँ सुलझाना और अलंकार आदि का उल्लेख करना था। व्याख्या-विधि (Prelection) के अंतर्गत अध्यापक किसी भी खंड को पहले तैयार कर लेता था। वर्ग में जाकर पढ़ता था और विद्यार्थी याद करने योग्य बातों को नोट कर लेते थे। फिर दुहराते समय अध्यापक भाषा और शैली आदि पर प्रकाश डालता था। जेनसेनिस्ट (jansenist) लोगों ने जेसुइट लोगों की शिक्षण-विधि का विरोध किया; क्योंकि वे लोग बच्चों की रूचि का ध्यान रखने का संकेत करते थे।

विद्वानों के आविर्भाव से पुरानी मान्यताओं को भी एक धक्का फिर लगा। कोपरँनिकस और गैलीलियो ने प्राचीन सिद्धांतों का खंडन किया। भौतिक विज्ञान का जन्म हुआ और मनुष्य की चिंतन-शैली पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शिक्षा में वैज्ञानिक विधि का जन्म हुआ। इस विधि की विशेषताएँ हैं—(१) सुचारूरूपता (Systamatisation), (२) प्रयोगात्मक (Experimentation) और (३) इंद्रियजनित ज्ञान पर विश्वास (Trust of Senseperception)। विज्ञान के विकास ने शिक्षा को एक सुव्यवस्थित रूप दिया। सर्वप्रथम कॉमेनियस ने शिक्षा-

संगठन, शिक्षण-विधि, शिक्षा के उद्देश्यों और पाठ्यक्रम की पुस्तकों को सुचारू रूप देने का उपक्रम किया। उसने बड़े ही व्यावहारिक ढंग से पढ़ाने की एक प्राकृतिक विधि तैयार की। उसने कहा कि यदि प्रकृति का अनुसरण किया जाए, तो पढ़ाने में कभी भूल हो ही नहीं सकती।

विज्ञान का प्रभाव इंद्रियजनित ज्ञान पर भी पड़ा। पहले इस प्रकार के ज्ञान को 'माया' कहा जाता था। इसलिए प्राचीन काल में इंद्रिय-दमन पर जोर डाला जाता था। विज्ञान ने बताया कि सफलता ने दार्शनिकों का ध्यान इंद्रियों के महत्त्व की ओर आकृष्ट किया। पहले ज्ञान को इंद्रियों से परे माना जाता था। लॉक ने बताया कि ज्ञान इंद्रियजनित है। प्रारंभ में मनुष्य का मस्तिष्क एक कोरे कागज के समान रहता है। ज्ञान अनुभव के द्वारा प्राप्त होता है। बाह्य पदार्थों और भौतिक जगत से मनुष्य का संबंध इंद्रियों के माध्यम से होता है। शिक्षा बाह्य प्रभाव को बेढंगे तौर से मस्तिष्क पर पड़ने से रोकती है। वह ज्ञान को नियमित तथा सुव्यवस्थित बनाती है। लॉक के इसी सिद्धांत का प्रभाव हरबार्ट पर पड़ा। उसने पंचपदी 'शिक्षा-पद्धति' का निर्माण किया। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अध्यापक को क्रमशः विचार वृत्त (Circle of Ideas), इच्छा (Desire), रुचि (Interest) और दृढ़ता (Will) की स्थितियों को पार करना पड़ता है।

लॉक के विचारों का परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में पर्यवेक्षण और इंद्रियों के अभ्यास पर विशेष जोर दिया जाने लगा। पर्यवेक्षण द्वारा अनुभव को अधिकाधिक ठोस बनाने के लिए शैक्षणिक उपकरणों की सहायता ली जाने लगी। रंग-बिरंगे चित्र, चार्ट, मॉडेल आदि का प्रयोग होने लगा। सर्वप्रथम कॉमेनियस ने शब्द-ज्ञान कराने के लिए रंग-बिरंगे चित्रों से सुसज्जित एक पुस्तक तैयार की। उन्होंने अपनी पुस्तक (Diddactica) में पाठ्य-विषय को ज्ञानेंद्रियों की सहायता से पढ़ाने के सामान्य नियम तक लिख डाले। पेस्टालॉजी ने वस्तु-पाठ (Object-lesson) की अनूठी विधि का आविष्कार किया। इस विधि में बच्चे के सामने एक वस्तु रख कर उसे तत्संबंधी ज्ञान कराया जाता था। फ्रोबेल (Froebel) ने किंडरगार्टेन विधि में उपहारों को स्थान दिया। उपहारों से बच्चों में बचपन से ही पर्यवेक्षण का अभ्यास पड़ जाता है। मेरिया मांटेसरी की विधि में भी ज्ञानेंद्रियों के अभ्यास का महत्त्व है।

विज्ञान की भांति मनोविज्ञान में भी उपर्युक्त प्रयोग होने लगे। पहले बालक को एक वयस्क का लघु रूप समझा जाता था। एक वयस्क और एक बालक के मन:स्तर में कोई अंतर नहीं समझा जाता था। मनोविज्ञान ने सिद्ध किया कि

दोनों के मानसिक जगत् में आकाश-पाताल का अंतर है। बाल-मनोविज्ञान का विकास होने लगा और उसके फलस्वरूप बच्चों के लिए उनकी रुचि के अनुरूप शिक्षण-विधियों का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual differences) की खोज हुई। इसके आधार पर एक ही कक्षा में एक प्रकार से दी जाने वाली शिक्षा से सभी बालक एक गति से लाभ नहीं उठा सकते। अतः, शिक्षण-विधि में अंतर लाना आवश्यक समझा गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के डाल्टन नगर में हेलेन पार्कहर्स्ट नामक महिला ने कुछ प्रयोग किए, जिसके परिणामस्वरूप 'डाल्टन विधि' का जन्म हुआ।

पहले यह समझा जाता था कि मनुष्य प्रारंभ से ही दुष्प्रवृत्तियों का दास है। उसके जन्म का कारण पूर्व-पाप समझा जाता था। अतः, शिक्षा का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों का दमन द्वारा संस्कार करना था। बालक दुष्ट और पापी समझे जाते थे। इसलिए उन्हें कठोर अनुशासन और नियंत्रण में रखा जाता था। अनुशासन बनाए रखने के लिए ताड़ना, शांति रखना, बेंत से मारना आदि अनेक कष्टकर विधियों का प्रयोग होता था। शिक्षक विद्यार्थियों के साथ कैदियों का-सा व्यवहार करते थे। उनके मनोभावों को कुचल कर शिक्षा दी जाती थी। उनका स्वागत लात, घूँसों, डंडों और गालियों से होता था।

बालकों की इस शोचनीय अवस्था के विरूद्ध सर्वप्रथम कॉमेनियस ने आवाज उठाई थी। उनके प्रति नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने वाले मानवतावादी कहे जाते थे। इस विचारधारा को फैलाने में कई सौ वर्ष लग गए। इरास्मस मोंटेग और मार्टिन लूथर ने ठोस कदम उठाया। आगे चल कर रूसो ने प्रकृतिवाद को जन्म दिया। उन्होंने कहा कि बालक में जन्म से ही स्वर्गीय गुण पाए जाते हैं। सामाजिक वातावरण उन्हें दूषित करता है। उन्होंने प्रभावशाली शब्दों में कहा कि वर्त्तमान शिक्षा अनिश्चित भविष्य के लिए मधुमय वर्त्तमान को नष्ट करती है। शिक्षा बालक के स्वभाव और उसकी अभिरूचि के अनुकूल होनी चाहिए। रूसो के मतानुसार शिक्षण-विधि ऐसी होनी चाहिए, जो मनोरंजक हो और जिससे बच्चों की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। बच्चों से प्रेम करो और खेलों का आनंद लेने दो।

पर, स्वतंत्रता में उत्तरदायित्व का अंश प्रधान है। रूसो के समकालीन इमेनुएल कांट (Imnanuel Kant) ने कुछ मुख्य शिक्षण-सूत्रों को सामने लाया। उसके अनुसार बच्चों को उन बातों में स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए, जो उनके लिए हानिकर है। वे दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण न करने पाएँ। स्वतंत्रता का ठीक

से प्रयोग करना उन्हें सिखाया जाए। रूसो के सिद्धांतों को बेसडो (Basedow) ने अपने फिलेन्थरोपिनम (Philanthropinum) में व्यवहार रूप में लाया। यहाँ बच्चों को पूरी स्वतंत्रता मिलती थी। चित्रों की सहायता से पढ़ाई होती थी। खेल-कूद शिक्षा का साधन बना गया। स्टेनली हाल (Stanley Hall) तथा कार्ल ग्रूस (Karl Groos) की खोजों ने खेल के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया। इस प्रकार खेल-शिक्षण-विधि का आविर्भाव हुआ। कॉल्डवेल कूक (Caldwell Cook) ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार पूर्ण प्रकाश डाला है।

दमनपूर्ण शिक्षण-विधि को रूसो ने केवल बुरा बताया। उसने कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित नहीं किया। इस पर मनोवैज्ञानिक खोज फ्रायड (Freud) ने की। धार्मिक व्यक्ति मानव-प्रवृत्तियों को पाशविक बताते थे, जिनके वश में होकर मनुष्य अनेक पाप कर डालता है। फ्रायड ने कहा कि प्रवृत्तियाँ पापमय नहीं हैं, बल्कि उनका दमन होने से वे सुप्त मन की गहराई में जा छिपती हैं और विभिन्न प्रकार की मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करती हैं। उसने उदात्तीकरण (Sublimation) तथा संतुष्टिकरण (Gratification) पर जोर दिया। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रवृत्तियों का दमन नहीं, वरन् उसका संस्कार है। इसलिए फ्रायड शिक्षा में उत्सुकता, प्रेम, सहवास और प्रतियोगिता की प्रवृत्तियों पर मुख्य स्थान देता है। यही कारण है कि आधुनिक शिक्षण-विधि इन प्रवृत्तियों के संतुष्टिकरण का ध्यान रखती है।

बाल-स्वातंत्र्य आंदोलन ने स्वयं खोज की विधि को जन्म दिया। इस विधि में बालक अन्वेषक के रूप में शिक्षा ग्रहण करता है। शिक्षा पर प्रजातांत्रिक आंदोलनों का भी काफी प्रभाव पड़ा। प्रजातंत्र के सिद्धांतों के अनुसार भी प्रवृत्तियों का दमन दोषपूर्ण है। बाल्यकाल में ही विचारशक्ति का हनन होने से विद्यार्थी कभी भी राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं निभा सकेंगे। दमन के द्वारा हम उन्हें भेंड़ बना सकते हैं, शेर कदापि नहीं। शेर शासक होता है और भेंड़ शासित। इन आंदोलनों के फलस्वरूप शिक्षक का स्थान गौण हो गया है। उनका कार्य केवल रंगमंच के लिए उपयुक्त सामग्री जुटाना और निर्देशन करना रह गया है, अभिनेता तो बालक ही होते हैं।

विज्ञान की प्रगति ने एक नए दर्शन को जन्म दिया, जिसे प्रयोजनवाद (Pragmatism) कहते हैं। इसके अनुसार सत्य का एक निर्धारित मूल्य नहीं है। एक परिस्थिति में जो कुछ सत्य है, वही दूसरी परिस्थिति में असत्य हो सकता है। प्रयोजनवादी दार्शनिक उपयोगिता के आधार पर मूल्यों का निर्धारण करते हैं। सत्य की

बार-बार परीक्षा आवश्यक समझते हैं। इस विचार के प्रतिपादक अमेरिकन दार्शनिक पियर्स और जेम्स हैं। प्रयोजनवाद से प्रभावित होकर जॉन डिवी और किलपैट्रिक जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षण-विधि में परिवर्तन लाया। डिवी ने अपनी पुस्तक 'Democracy & Education' और किलपैट्रिक ने The Changing Education' में प्राचीन शिक्षण-विधि की कड़ी आलोचना की; क्योंकि प्राचीन शिक्षण-विधि विद्यार्थी के मन में पूर्व प्रतिपादित सिद्धांतों को ज्यों-का-त्यों अविवेकपूर्ण ढंग से ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है। उन्होंने शोधात्मक-विधि पर जोर दिया। किसी सिद्धांत को ग्रहण करने के पूर्व प्रयोगात्मक तौर पर उसकी सत्यता की परीक्षा अनिवार्य है। इस आवश्यकता को ध्यान में रख कर अमेरिकन शिक्षा-विशारदों ने प्रोजेक्ट-विधि का आविष्कार किया।

हमने यह देखा कि अधुनिक शिक्षण-विधियाँ पाश्चात्य देशों की देन हैं। पौर्वात्य देशों में एक दीर्घ काल तक ज्ञान-विज्ञान का प्रवाह मंद पड़ा रहा। फिर भी राजनैतिक चेतना का उदय सर्वप्रथम भारत में हुआ। गांधी ने देश की अर्थिक और सामाजिक कमजोरियों को दूर करने के लिए एक नवीन शिक्षा-पद्धति को जन्म दिया, जिसे बुनियादी शिक्षण-विधि कहते हैं। इन विधि में शिक्षा किसी-न-किसी प्रकार के उद्योग से संबंधित रहती है और बालक कार्य द्वारा सीखता है।

बुनियादी शिक्षा-प्रणाली मुख्यतः चार मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है—

(१) स्वयं शिक्षा, (२) करके सीखना, (३) आवयविक शिक्षा और (४) श्रम का आदर।

बुनियादी शिक्षा के प्रमुख सिद्धांत हैं—(१) अनिवार्य शिक्षा, (२) मातृभाषा द्वारा शिक्षा, (३) किसी हस्तकौशल के आधार पर शिक्षा (४) शिक्षा को स्वावलंबी बनाना। (यद्यपि शिमला कांफ्रेंस में इस चौथे सिद्धांत की मान्यता कम कर दी गई थी।) (५) समवाय।

भारतीय समाज में श्रम को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, परंतु अपनी तथा देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हमारे विद्यार्थी काम करने में गर्व का अनुभव करें। श्रम करना, गरीबी का द्योतक नहीं—जीवन और महत्ता का चिह्न है। शेरशाह चढ़ाई के समय जहाँ कहीं अपनी सेना के पड़ाव डालता था, एक घेरा बना लेता था तथा घेरा बनाते समय अपने सैनिकों के साथ स्वयं फावड़ा चलाता था। श्रम की इस महत्ता ने ही उसे एक दिन राजगद्दी का अधिकारी बनाया। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय एब्राहम लिंकन ने बाल्यावस्था में एक

धनाढ्य महिला के यहाँ लकड़ी चीर कर मजदूरी के रूपमें कुछ पैसे प्राप्त किए थे और एक कठिन आर्थिक समस्या से मुक्ति पायी थी। वे श्रम की मर्यादा से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने घोषणा की थी—"जिस दिन मेरी सेना जीतेगी, उसी दिन मैं गुलामों को मुक्त करूँगा।" महात्मा गांधी ने अनुभव किया कि नागरिक के भविष्य को उसके जीवन के आरंभिक वर्षों में, जबकि उसका निर्माणकाल रहता है, सबसे अच्छी तरह ढाला जा सकता है। अतः, सर्वोदय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने बुनियादी शिक्षा-प्रणाली की योजना प्रस्तुत की और श्रम को उसका प्रमुख आधार बनाया।

मानव की प्राथमिक आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र और आवास की हैं। ये हमारे समग्र विकास के अविभाज्य अंग हैं। इसमें स्वावलंबन प्राप्त किए बिना मानव के स्वाभिमान का विकास स्वतः अधूरा रह जाएगा। इसे पूरा करने के लिए उसे उद्योग करना पड़ता है, बुद्धि लगानी पड़ती है और इस प्रकार शरीर तथा बुद्धि का संतुलित विकास होता है। गांधीजी का विचार था कि बुद्धि का सच्चा विकास आँख और कान आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का सबसे अच्छी तरह और शीघ्रातिशीघ्र विकास होता है। इसी कारण, नई तालीम में उद्योग को शिक्षा का एक माध्यम बनाया गया। उसमें भोजन की आवश्यकता के लिए कृषि, उद्योग, वस्त्रों के लिए वस्त्र-उद्योग, आवास के लिए आवास-निर्माण-उद्योग को शिक्षा-क्रम में रखा गया। इनके अतिरिक्त इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कुछ पूरक और सहायक आवश्यकताएँ हैं। उनको पूरा करने की योग्यता प्राप्त करना भी आवश्यक है। इस कारण नई तालीम के शिक्षा-क्रम में साबुन-उद्योग, औषधि-निर्माण-उद्योग, चमड़ा-उद्योग, बाँस-उद्योग, लाख-उद्योग, विद्युत्-उद्योग, मधु-उद्योग और बरतन-उद्योग आदि सहायक उद्योगों को स्थान दिया गया है। शिक्षक अपने क्षेत्र की आवश्यकता तथा अपने साधन और अपनी सुविधा के आधार पर इस प्रकार के उद्योगों में से अपने क्षेत्र के मानव-जीवन के अनुकूल उद्योगों को शिक्षण के लिए चुनता है।

मानव-जीवन का दूसरा प्रमुख अंग है—सामाजिक वातावरण, जिसके अंतर्गत जीवन के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम समाज-सेवा, उत्सव और त्योहारों के आयोजन, राष्ट्रीय सांस्कृतिक कार्य तथा विभिन्न पाठ्क्रमेतर विषयों की योजना आदि हैं। इन कार्यक्रमों को शिक्षाक्रम में समावेश करने में बालकों में राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक शिष्टाचार तथा सहकारिता की भावना का विकास होता है। उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के संकुचित दृष्टिकोण सामा-

जिक हित में परिवर्रित हो जाते हैं। उनके भीतर के पारस्परिक ईर्ष्या, भेद-भाव आदि निकल जाते हैं और उनमें भ्रातृत्व का उदय होता है। इस प्रकार प्रजातांत्रिक प्रणाली की शासन-व्यवस्था में बुनियादी तालीम द्वारा सहयोग मिलता है।

मानव-जीवन का तीसरा प्रमुख अंग है—अज्ञात तत्त्वों की खोज तथा प्रकृति पर अधिकार पाने की स्वाभाविक लिप्सा। प्रकृति की सुरम्य छटाओं ने सदैव उसके लिए विभ्रांत मस्तिष्क और हृदय को सुख-शांति तथा कलात्मकता प्रदान की है। प्राचीन भारतीय गुरुकुल जंगलों और नदियों के तट पर अवस्थित थे; क्योंकि वहाँ का शांत, एकांत और पवित्र वातावरण प्रकृति के साथ सर्वथा संबद्ध था। स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल की स्थापना हरद्वार में की तथा विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांति निकेतन की स्थापना की पाई नदी के तट पर। इसका मुख्य लक्ष्य प्रकृति का परिचय पाना ही था। बुनियादी तालीम मानव-जीवन के इस कार्यक्रम को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार की गई है। इसके अंतर्गत प्रकृति के समस्त कार्यकलापों से संबंध स्थापित किया जाता है। फलस्वरूप बालकों की सर्जनात्मक शक्तियों के विकास में, वैज्ञानिक समावृत्ति और सौंदर्यबोध के उचित दृष्टिकोण उत्पन्न करने में समावृत्ति अर्थात् बालकों के सर्वांगीण विकास में बुनियादी शिक्षा सफल और सहायक होती है।

कतिपय व्यक्तियों की धारणा है कि बुनियादी तालीम केवल कताई की शिक्षा है। परंतु, यही वास्तविकता नहीं है। कताई विद्यालय के कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग भर है, सब कुछ नहीं जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में इस तथ्य की विवेचना की गई है, बुनियादी तालीम में विभिन्न विषय, विभिन्न कालक्रम सन्निहित हैं। मालावार-जैसे इलाकों में, कपास की पैदवार नहीं होती, कताई के बदले में चटाई बनाने का कार्य होता है। स्थान और आवश्यकता के अनुसार दस्तकारी में परिवर्तन होता है। बुनियादी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों को श्रम की मर्यादा समझा कर किसी एक दस्तकारी में प्रवीण करना है। उन्हें कुछ इस रूप में दक्ष बनाना है, जिससे उनमें हाथ से काम करने, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा दत्तचित्त होकर काम करने की आदत पड़े।

जिस प्रकार नई तालीम के उद्देश्य, शिक्षण-पद्धति और शिक्षाक्रम तथा मूल्यांकन की विधियाँ पुरानी शिक्षा-प्रणाली अथवा परंपरागत शिक्षा-पद्धति से सर्वथा भिन्न हैं, उसी प्रकार उनमें अनुशासन और व्यवस्था का स्वरूप भी पुरानी तालीम के एकात्मक केंद्रीय व्यवस्था के बिल्कुल प्रतिकूल है। बुनियादी तालीम अथवा नई तालीम में व्यवस्था का स्वरूप लोकतंत्रात्मक होता है। इसमें बालकों को अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं खोजने, अपना प्रबंध अपने-आप करने का अवसर देने

तथा उनमें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपने से उनमें कर्त्तव्य-भावना उत्पन्न होती है, निर्णायिका बुद्धि का विकास होता है।

जीवन के समग्र विकास के कार्यक्रम की इस रूपरेखा से यह ज्ञात हो जाता है कि तालीम केवल तकली-खुरपे के उद्योग से जुलाहा और किसान बनाने वाली तालीम नहीं, वरन् यह तो मानव के सम्यक् और सर्वतोमुखी विकास की पूर्ण वैज्ञानिक प्रणाली है। राष्ट्रीयता, नैतिकता, स्वावलंबी समाज की रचना की संयोजित चेष्टा है, जिसका कार्यक्रम देश, काल और समाज के विकास की आवश्यकताओं के साथ चलता है। बुनियादी तालीम के उद्देश्य; पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति तथा समीक्षा के ढंग से स्पष्ट हो जाता है कि यह शिक्षा-प्रणाली विश्व की आधुनिक मनोवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणालियों में पूर्ण विकसित प्रणाली है, जिसमें संसार के घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि विदमताओं को हटाकर सत्य, प्रेम और न्याय की आधारशिला पर, 'वसुधैव कुटुंबकम्' में विश्वास रखनेवाले, सबके भले में अपना भला समझने वाले समाज की रचना की महान् शक्ति है। इसमें मानव के सम्यक् सर्वतोमुखी विकास की अपूर्व क्षमता है। इस सर्वांगीण राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाला को विशुद्ध रूप में अपने समाज और राष्ट्र के सभी क्षेत्रों में, सभी पहलुओं में शांतिपूर्ण क्रांति के लिए आज हमें पूर्णरूपेण स्वीकार करना है।

भारतीय शिक्षा–दर्शन पर गांधीवाद का प्रभाव

वर्त्तमान युग में भारतीय शिक्षा-दर्शन पर गांधीवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है और उस वाद ने एक नई शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया है, जिसका नाम 'नई तालीम' है। क्या गांधीवाद इन वादों से भिन्न है या गांधीवाद का इन वादों पर किसी-न-किसी रूप में प्रभाव पड़ा—इसलिए गांधीवाद के पहलुओं पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

गांधीजी का प्रादुर्भाव उस युग में हुआ, जब चारों तरफ से संहारक शक्तियाँ विश्व की सभ्यता को नष्ट करने पर तुली थीं। जिस देश में गांधीजी पैदा हुए थे, उस देश की स्थिति और भी बुरी थी और उस पर विदेशी सत्ता का राज्य था। निर्धन एवं दुर्बल व्यक्तियों का आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्तर बहुत नीचा था। गांधीजी के संमुख भारत की जो आत्माएँ थीं वे दलित, पराजित तथा दुःखी थीं। केवल भारत की ही वह स्थिति नहीं थी, बल्कि समस्त विश्व में अनेक ऐसे देश थे, जैसे अफ्रीकी देश, जहाँ के लोग कष्ट में थे। इसलिए महात्मा गांधी का अवतार पीड़ित आत्माओं के उद्धार के लिए हुआ। अतएव, गांधीवाद का दर्शन उसी

चिरस्थायी सत्य पर आधारित है, जिसका दिग्दर्शन होने से मनुष्य संसार की पीड़ित आत्माओं को प्रेम करने लगता है।

गांधीजी की राजनीति धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। पुनश्च, अपने दर्शन को उन्होंने निम्नांकित वाक्यों में व्यक्त कर दिया है :—

"मुझे इस नश्वर पृथ्वी का स्वराज्य नहीं चाहिए। मैं स्वराज्य के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ, जिससे मुक्ति मिलती है ! मेरी समझ में मुक्ति अपने देश और मानवमात्र की सेवा करने से मिलती है। मैं अपने को प्राणिमात्र के रूप में देखना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में मैं मित्र और दुश्मन दोनों के साथ शांतिपूर्वक रहना चाहता हूँ। देशभक्ति मेरी यात्रा का वह स्तर है, जिससे मैं यांत्रिक स्वतंत्रता और शांति प्राप्त कर सकता हूँ। इसलिए मेरी समझ में धर्म के बिना कोई राजनीति ठीक नहीं होती और धर्म के बिना राजनीति मृत्यु के जाल-जैसी है, जो आत्मा को मार देती है।"

अतः, गांधीजी एक अत्यंत ही धार्मिक पुरुष थे और उनमें मनुष्यता का विकास पूर्णरूपेण हुआ। धर्म का अर्थ वे ईश्वरीय कर्म ही समझते थे। ईश्वर को वे परमतत्त्व समझते थे। जब कभी उनके मन में संदेह होता था, तो वे उसे ईश्वर पर छोड़ देते थे। तो क्या ऐसा करने से उन्हें पूर्ण शांति का अनुभव होता था ? हाँ, ऐसा मालूम होता था, जैसे उन्हें एक कठिन समस्या का समाधान मिल गया। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि संसार की प्रत्येक वस्तु में एक अदृश्य शक्ति है। वे उस शक्ति को देखते तो नहीं थे, किंतु उसे अनुभव करते थे। उन्हें ऐसा विश्वास था कि जो इस संसार में ईश्वर में अटूट विश्वास करेगा; वह उस शक्ति का अनुभव अवश्य करेगा। उन्हें इस शक्ति पर परम विश्वास था, इसलिए वे ऐसा मानते थे कि चाहे उनके शरीर का अंत कोई करेगा, वे मर नहीं सकते हैं। किंतु, यदि इस विश्वास को कोई उनसे हटा ले, तो उनकी मृत्यु अवश्य हो जाएगी। ईश्वर को वे 'राम' कह कर पुकारते थे। राम में उनका अटूट विश्वास था। इस पार्थिव शरीर को छोड़ते हुए भी उनके मुँह से 'हे राम' शब्द ही निकला। वे ईश्वर के संपूर्ण एकत्व में विश्वास रखते थे। उनके ही शब्दों में––"केवल ईश्वर ही सत्य है, संसार माया है। सृष्टि के परिवर्तन में केवल वही स्थिर है।"—(God alone is real, the world is illusion. He alone persists in the midst of change."—Young India.)

गांधीजी का विचार शंकराचार्य के विचारों से मिलता है। उनका ऐसा विश्वास था कि हाड़ और मांस का बना मनुष्य भूल करता है। जब वह अपनी

भूलों को सुधारता हुआ ईश्वर-पथ पर चलता है, तब उसे भी ईश्वर का दर्शन होता है। ईश्वर के मार्ग पर चलने के अनेक रास्ते हो सकते हैं, इसलिए उनकी समझ में इस्लाम का अल्लाह, ईसाई धर्म का ईसा और हिंदू धर्म का भगवान एक ही है। एक धर्म में भी ईश्वर के अनेक नाम हो सकते हैं। ईश्वर अनेक नहीं है। वह एक है और उसके भिन्न-भिन्न नाम, उसके भिन्न-भिन्न गुणों के द्योतक हैं। यद्यपि ईश्वर अनश्वर है, रूप, स्पर्श, गंध से परे है, अवर्णनीय और अगाध है इसलिए ईश्वर में अगाध प्रेम रखनेवाले व्यक्ति को सब धर्मों के प्रति समान रूप से प्रेम और श्रद्धा रहती है—यह भूल है कि एक धर्म मानने वाले दूसरे धर्म में ईश्वरप्राप्ति-मार्ग को अच्छा नहीं समझते हैं और दूसरे को अपने धर्म में बदलने का प्रयत्न करते हैं। गांधीजी ने ईसा मसीह के जीवन में अहिंसा-सिद्धांत का ज्वलंत उदाहरण पाया। ईसा मसीह के जीवन से उनके जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने धर्म की जो परिभाषा की है। वह यह है कि धर्म वही है जो मनुश्य के स्वभाव को बदल कर उसे ईश्वर की बातों पर ले चले। आत्मा तब तक अशांत रहती है, जब तक वह अपने कर्त्ता का दिग्दर्शन नहीं करती।

गांधीजी ने ईश्वर और सत्य को एक माना है। सत्य, प्रेम और अहिंसा से प्राप्त होता है। सत्य का ज्ञान परम आत्मशुद्धि से प्राप्त होता है। जिसका अंतःकरण निर्मल होता है, वही ईश्वर को देखता है। अर्थात् जिसके सुपरइगो का साम्राज्य उसके 'इड' और 'इगो' पर पूर्णरूपेण होता है, वही ईश्वरीय संदेश को सुनता है। वही व्यक्ति स्वच्छ हृदय का बन सकता है, जो मोह और घृणा से दूर रहता है। वही मन, वचन और कर्म के अपवित्र चिंतन के बंधनों से मुक्त रहता है, जिसमें न भय है, न अहंकार है जैसा कि तपस्वियों का जीवन होता है। तपस्या का अर्थ मानव-कल्याण के लिए सत्य कर्मों को करने से ही सार्थक होता है। मनुष्य का ईश्वरीय स्वभाव उसी प्रकार का होता है। अतः, गांधीजी ने प्राणिमात्र में ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने संसार को वह दर्शन दिया, जिससे अपने और पराए की भावनाओं से दूर हटने का अमोघ मंत्र मिलता है। उनके दर्शन के अनुसार प्राणिमात्र में किसी प्रकार का भेद नहीं है। संसार में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमता मानव-कृत है। यह मनुष्य की दुर्बलता के परिणामस्वरूप भी है। इसलिए जब मनुष्य का चिंतन ईश्वरीय होता है, तब वह उन विषमताओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इसलिए गांधी जी ने व्यक्ति में तीन प्रकार के गुणों पर विशेष जोर दिया है। व्यक्ति को निर्भय होना चाहिए। समाज के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए और प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए। अर्थात् गांधी जी मनुष्य

की भौतिक शक्ति की भिन्नता में उनकी आध्यात्मिक शक्ति की एकता को स्वीकार करते थे।

उनके दर्शन को अपनाने के लिए मुख्यतः तीन मार्ग हैं :—

(१) सत्य, (२) अहिंसा और (३) प्रेम।

अहिंसा द्वारा व्यक्ति सत्याग्रह कर सकता है। गांधीजी ऐसा मानते थे कि मनुष्य को कर्म करने में या अपनी समस्याओं को हल करने में सत्य-मार्ग का अवलंबन करना चाहिए और इस बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि उसका विचार हिंसक तो नहीं हो रहा है। वह कर्म अहिंसामय समझा जाता है, जिससे संसार के किसी प्राणी का भी अनिष्ट न होता है। अर्थात् मनुष्य-मनुष्य से प्रेममय वर्त्ताव करता हो। आगे इस प्रकार के दर्शन से शिक्षा में एक विशेष प्रकार का दर्शन निकला, जिस पर आधारित नई तालीम का जन्म हुआ है। इसलिए आज के विश्व के लिए नई तालीम ऐसा दर्शन लेकर चलती है, जो एकदेशीय नहीं है, वल्कि सभी देशों के लिए उपयुक्त है। एम० ए० पटेल ने कहा है—"यदि दर्शन जीवन की समस्याओं के लिए प्रासंगिक तथ्यों के यथाक्रम तथा तथ्यपूर्ण दृष्टिकोण एवं उनकी व्याख्या और यथार्थवाद से संबंधित है, तो निःसंदेह गांधीजी विश्व के महान् दार्शनिकों की श्रेणी में हैं।"

नई तालीम विश्व में (१) व्यक्ति-स्वावलंबन, समाज-स्वावलंबन, राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय एवं परस्पर स्वावलंवन (२) श्रम-निष्ठा (३) सभी धर्मों एवं संस्कृतियों के प्रति समान आदर (४) जाति, वर्ग, धन, शक्ति और राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम सीमाओं से वाहर एक सार्वलौकिक स्वतंत्र मानव-लोक की स्थापना (५) अकेंद्रित आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे की स्थापना आदि की परिकल्पना करती है और उसका लक्ष्य इन्हीं की प्राप्ति है। सत्य, अहिंसा और प्रेम इन लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए मानव-मात्र के प्रयत्न के आधारस्तंभ हैं।

गांधीवादी शिक्षा पर प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं व्यवहारवाद का प्रभाव

गांधीजी के शिक्षा-दर्शन पर प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं व्यवहारवाद का प्रभाव पड़ा है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गांधीवादी शिक्षा इन तीनों वादों का समन्वय मात्र ही है। मैं ऐसा मानता हूँ कि गांधीवादी शिक्षा उनके स्वतंत्र चिंतन के प्रादुर्भाव मात्र है। व्यक्ति के चिंतन पर उसके पूर्वजों के चिंतन का प्रभाव पड़ता ही है।

इसलिए गांधीजी के चिंतन पर प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं व्यवहारवाद का प्रभाव पड़ा है। गांधीजी ने अपने पूर्व-चिंतकों के विचारों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयत्न किया है। अतः, एक तरफ तो उनके विचारों पर प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं व्यवहारवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है और दूसरी ओर इन वादों के सूक्ष्म अंतर भी दीख पड़ते हैं।

गांधीजी प्रकृतिवाद में केवल जैविकीय प्रकृतिवाद को अंशतः स्वीकार करते हैं। वे शिक्षा में प्रकृतिवाद के बालकेंद्रित मनोवैज्ञानिक रूप को मानते हैं। वे ग्राम्य वातावरण में व्यवहार की शिक्षा देने का आयोजन करते हैं। वे मानते हैं कि शिक्षालयों का कर्त्तव्य है कि वे व्यक्ति में निहित समानता के उचित विकास के लिए पृष्ठभूमि, अवसर तथा कार्यशीलन आयोजित करें। इस विकास-क्रम में व्यक्ति को भी प्रमुख भूमिका निभानी है। उन्हें स्वतंत्र होकर आवश्यकतानुसार ज्ञान प्राप्त करनी हैं। लेकिन, स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं।

गांधीजी की प्रक्रिया में शिक्षक का भी उचित स्थान रहता है। शिक्षक बालक की विभिन्न रूचियों, भली-बुरी प्रवृत्तियों आदि का अध्ययन कर उचित मार्ग-प्रदर्शन करें। किंतु, शिक्षा का केवल पुस्तकीय एवं सैद्धांतिक होने के कारण बालक की अभिरुचियों और बचपन की चंचलता नष्ट हो जाती है। गांधीजी शिक्षा का लक्ष्य सत्य की खोज मानते थे। अतः, वे शिक्षा में प्रकृतिवादी विधि को ही मानते थे। वे शिक्षा का लक्ष्य आदर्शवादी मानते थे। रूसो के विचार से वे बहुत-कुछ प्रभावित थे। किंतु, प्रकृतिवादी विधि और गांधीजी की शिक्षण-विधि में अंतर है। जहाँ जैविकीय-प्रकृतिवादी विधि ने विश्व में स्पर्धा को जन्म दिया है तथा नव-डार्विनियन विधि सिद्धांत ने 'योग्यतम ही जीता है' की भावना को जन्म दिया है, वहाँ गांधीवादी शिक्षण-विधि विश्व से स्पर्द्धा का अंत चाहती और सर्वोदयवाद को जन्म देती है। जहाँ रूसो का 'एमिल' नागरिक समाज से दूर जंगल में चरित्रवान, सदाचारी, कर्मठ, चुस्त और साहसी बनता है, वहाँ गांधीवादी शिक्षा में बालक समाज में रहते हुए, निजी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए और जीवन के कड़वे-मीठे घूँट पीते हुए, सेवा, शांति, संयम और आत्मानुभूति द्वारा अपने व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करता है। रूसो की शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का कोई स्थान नहीं रहता है। किंतु, गांधीवादी शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का दायित्वपूर्ण स्थान रहता है। रूसो की शिक्षा-प्रणाली निषेधात्मक है और गांधीजी की शिक्षा-प्राणाली विधेयात्मक। पुनश्च प्रकृतिवाद शिक्षा की सीमा व्यक्ति की केवल युवावस्था तक सीमित रखती है, किंतु गांधीवाद शिक्षा-परिधि को जीवनपर्यंत मानता है। वह शिक्षा को स्वयं जीवन ही मानता है।

शिक्षा जीवन के लिए जीवन की प्रक्रियाएँ देती है। गांधीजी ने प्रकृतिवादी विधि को उसी अंश में माना है, जिससे पुस्तकीय ज्ञान एवं शिक्षा का आदर्श बालक पर जबरदस्ती लादा नहीं जाए, बल्कि वह उसके प्राकृतिक रूप में विकसित होने का प्रकाश-स्तंभ-जैसा काम करे। अर्थात् गांधीजी ने प्रकृतिवाद से शिक्षण-विधि का उतना ही अंश लिया, जितने से बालक को समाज द्वारा निर्धारित मूल्य के अपनाने में किसी प्रकार की अड़चन या अस्वाभाविकता नहीं मालूम हो। रूसो ने एमिल को समाज से दूर, किसी भी आदर्श के अनुसार, पालन-पोषण करने की परिकल्पना की होगी। इस तरह उनका उद्देश्य भी आदर्शवादी है। लेकिन, गांधीजी और रूसो में अंतर यह है कि गांधीजी चाहते थे कि बालकों का भरण-पोषण तथा शिक्षा समाज के भीतर अपने जीवन की दैनिक प्रक्रिया करते हुए सामाजिक, भौतिक एवं औद्योगिक प्रतिवेशों के अनुकूल हो। बच्चों पर किसी प्रकार का ज्ञान लादा नहीं जाए, बल्कि जो भी ज्ञान उन्हें मिले, उसका संबंध समाज से, प्रकृति से एवं उद्योग से इस प्रकार अनुबंधित हो कि वे तीनों प्रतिवेशों की गोद में पलते हुए स्वभावतः ज्ञान प्राप्त कर लें। उनकी शिक्षण-विधियों के अनुसार बालक ज्ञान की प्राप्ति और अपने ज्ञान की जिज्ञासा, आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है। इसलिए वह ज्ञान की उपयोगिता को भी साथ-साथ समझता जाता है तथा सामाजिक आदर्श एवं नैतिक भावना के अनुसार उसका परिष्करण भी होता है। प्यास, भूख, काम, (मैथुन या संतानोत्पत्ति), निद्रा (विश्राम), परिष्करण (शरीर से अनावश्यक मलमूत्र, पसीना आदि का त्याग) एवं ताप स्थूलन--ये छह मनुष्य की प्रथम आवश्यकताएँ हैं। इनके बिना प्राणी का व्यक्तित्व ही असंभव है। वे प्राणी की रचना की मूल क्षुधाएँ हैं। इन क्षुधाओं की तृप्ति एवं उनके लिए प्रयत्न करना प्राणी, की मूल प्रकृति है। प्राणी की यह मूल क्षुधाएँ तत्काल पूर्ति चाहती हैं। वह प्रत्यक्ष पूर्ति खोजती है, परोक्ष नहीं। भूख लगने पर उसे आहार चाहिए, पैसा नहीं। हमारी मूल प्रवृत्ति को तनिक भी देर या पीड़ा सहन नहीं। बच्चे एवं पशु के समान उसे समय या असमय का जरा भी ध्यान नहीं रहता है। वह महर्षि चारवाक के सुख-सिद्धांत की अनुगामिनी है। बहुधा उसकी इच्छाओं एवं आशाओं में अव्यस्तता भी पायी जाती है। वह यह नहीं जानती कि आहार के बाद शौच एवं शौच के बाद आहार की बारी आती है। वह बंधनरहित स्वच्छंद एवं उन्मुक्त है। उसे जब जिस वस्तु की इच्छा या आवश्यकता होगी, वह उसे उसी समय चाहिए। प्राणी की मूल प्रकृति यही है। किंतु, जगत और जीवन में प्राणीविशेष एवं उसकी मूल प्रवृत्ति ही सब कुछ नहीं है। उस प्राणी के अतिरिक्त बाह्य जगत एवं अन्य प्राणियों का भी अस्तित्व है, जिनकी मूल प्रकृति भिन्न है।

किसी भी प्राणी को प्राथमिक अवस्था की पूर्ति एवं अस्तित्व-रक्षा के लिए पहले बाह्य जगत से संघर्ष करना पड़ता है।

इस प्रकार बच्चे अपने प्राकृतिक रूप में पशुवत् व्यवहार करते हैं। शिक्षा उसकी इस प्रकृति को परिमार्जित और परिवर्द्धित करती है। बच्चों को शिक्षा समाज से मिलती है। उन्हें समाज के आदर्शों एव विधि-विधानों के अनुसार चलना पड़ता है। उन्हें समाज-व्यवस्था के विधि-निषेधों के अंतर्गत आवश्यकता के अनुसार अपनी आवश्यकता की पूर्ति की सुविधा रखनी पड़ती है। इस प्रकार अकेले एक व्यक्ति समाज से, जो बहुमत का प्रतीक है, पार नहीं पा सकता। मानव अपनी मूल प्रवृत्ति पर नियंत्रण रख, उसकी पूर्ति समाज-व्यवस्था के अंतर्गत विधि-निषेधों के अनुकूल ही करता है। यह काम मनुष्य अपने बुद्धि-बल से करता है।

फ्रायड ने मानव-मस्तिष्क के 'इड', 'इगो' और 'सुपर इगो' के त्रिगुणात्मक गुणों का वर्णन किया है। 'इड' हमारी मूल प्रकृति है। उसका रूप एवं गुण हमारी प्रवृत्ति के रूप या गुण के ही समान है। बालक को शैशव अवस्था में 'इड' का प्रभुत्व रहता है, इसलिए उसे औचित्यानौचित्य का तनिक भी ध्यान नहीं रहता है, किसी से उसे कोई वस्तु माँगने में लज्जा नहीं आती। उसकी फरमाइशें भी अन्य प्रकार की होती हैं। कभी-कभी उसकी इच्छाएँ एवं मांग परस्परविरोधिनी भी होती हैं। कुछ बड़े होने पर उसे समाज के नियमों एवं आदर्शों का पालन करना पड़ता है। इस समय वह 'इड' की अवस्था से निकल कर 'इगो' की अवस्था में आ जाता है और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे शिक्षा के कारण 'सुपर इगो' की अवस्था में आगे बढ़ता जाता है। यहीं 'सुपर इगो' मनुष्य को बुरे कर्म करने से रोकता है। जब भी वह कोई बुरा कर्म करने लगता है, अगर उसका 'सुपर इगो' ठीक है, तो उसके अंतःकरण में एक ऐसी आवाज मालूम होती है, जो उसे कुकर्म करने से रोकती है। सुपर इगो के कारण ही व्यक्ति दिव्य संदेश को सुन कर शांत होता है और दूसरे को सुनाता भी है। जहाँ से इस तरह की आवाज सुनायी पड़ती है, उसे अंतःकरण कहते हैं। व्यक्ति के विकास की यही चरम सीमा भी है। गांधीजी ने अपनी शिक्षा में बच्चों के मस्तिष्क की प्राकृतिक गतिविधियों को लिया है और उसके अनुसार शिक्षा देने की व्यवस्था भी सोची है। जैसे, जब बच्चा 'इड' की स्थिति में रहता और वह खाने के बाद शौच जाता है, तो उसे शौच जाकर, शरीर की सफाई कर, जलपान करने की शिक्षा दी जाती है। इसके दैनिक जीवन का यह प्रथम कर्म समझा जाता है। उसी प्रकार जब मनुष्य में काम की आवश्यकता होती है, तब मैथुन की भी शिक्षा मिलती है, ताकि वह पशु-जैसा व्यवहार नहीं करे। काम की इच्छा मनुष्य

की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह एक पवित्र प्रकृति है। उससे सृष्टि का निर्माण होता है, किंतु काम-पिपासा को शांत करने में मनुष्य जब समय-असमय तथा सामाजिक बंधनों का उल्लंघन कर पशुवत् व्यवहार करता है, तब उसके मस्तिष्क में 'इड' की प्रधानता रहती है। लेकिन, जब वह 'सुपर इगो' से मन-ही-मन इस काम-पिपासा को शांत करता है, तब वह मनुष्य के आदर्श रूप को अपनाता है। इसलिए मनुष्य गृहस्थ आश्रम में भी 'साधु' कहलाने का अधिकारी होता है। इस तरह गांधीजी ने प्रकृतिवाद से केवल कुछ विधियों को लिया है, लेकिन, उनकी शिक्षा मनुष्य के स्वाभाविक विकास के लिए उपयोगी ज्ञान देने की व्यवस्था मात्र ही है। रूसो और गांधीजी में सबसे बड़ा अंतर यह है कि रूसो बालक की पाशविक प्रकृति में विश्वास करती है और गांधीजी बालक के भीतर ईश्वरत्व की भी कल्पना करते हैं।

जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि गांधीजी का लक्ष्य आदर्शवादियों का लक्ष्य है। आदर्शवादी सत्य के अन्वेषण और आत्मज्ञान पर जोर देते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में गांधीजी अंतरात्मा की आवाज सुनने की ओर संकेत करते हैं। वे सत्याग्रह को भी केवल नैतिक और चारित्रिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए एक अहिंसाप्रधान साधन मानते हैं। किसी प्रकार की स्वकर्म की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह का आग्रह लेना गांधीजी के विचारों में सत्य की अवहेलना करना है। वे इस बात में विश्वास नहीं करते हैं कि समाज से दूर रह कर व्यक्ति आत्मचिंतन करके आत्मोन्नति प्राप्त करे। उनका दर्शन यह चाहता है कि व्यक्ति समाज में रह कर, समाज और विश्व के कर्त्तव्यों को पूरा करता हुआ प्राणिमात्र की सेवा करे और उस सेवा से आत्मोत्थान करें। आज विश्व में धर्म-धर्म के कारण, स्वार्थ-स्वार्थ के कारण तथा दुरंगी विचारधाराओं के कारण संघर्ष चल रहा है। व्यक्ति एक दूसरे को हिंसा द्वारा परास्त करना चाहता है। विश्व में अनेक प्रकार के हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्र भी निकाले गए हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक समाज दूसरे समाज से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से डरता है। सारे विश्व में भय और विषमता का साम्राज्य फैला हुआ है। इसलिए गांधीजी ने विश्व की स्थिति के कारण सत्य, अहिंसा और प्रेम का दर्शन दिया है। उनका सत्य ईश्वर है, इसलिए एक प्राणी में जो सत्य, (ईश्वर) है, वही ईश्वर दूसरे प्राणी में भी है। इसलिए प्राणी के नाश करने वाले प्राणी सत्य का नाश करते हैं। प्राणी को प्राणी से प्रेम करना चाहिए और जब प्राणी इस सत्य को समझ लेगा, तब आपस के जो द्वंद्व हैं, वे आप-से-आप गायब हो सकते हैं। यदि कोई प्राणी दूसरे को कष्ट देना चाहता है, तो कष्ट देने वाले प्राणियों के कामों के प्रति कष्ट भोगने वाले प्राणियों को सच्चे रूप में सत्याग्रह करना चाहिए। यह सत्याग्रह अहिंसात्मक होगा और सत्याग्रह करने से ही कष्ट देने वाले प्राणी की

अंतरात्मा पर प्रभाव पड़ेगा और वह कष्ट देना आप-से-आप छोड़ देगा। अतः, गांधीजी ने आदर्शवादी लक्ष्यों को समय के अनुसार समझा है और उनके इस प्रकार के आदर्शवाद से विश्व में निर्भयता, समता एवं अस्तित्व-भावना आदि विचारों का प्रचलन भी हुआ है। इसलिए गांधीजी का आदर्शवाद इस विज्ञानवादी और औद्योगिक सभ्यता की बुराइयों को दूर करने के हेतु अपने ढंग का एक अनूठा दर्शन है।

इस प्रकार गांधीजी के शिक्षा-दर्शन और अभ्यास में प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद का प्रभाव कुछ अवश्य पड़ा है, किंतु उसमें व्यवहारवाद भी मिलता है। गांधीजी ने शिक्षा को उद्योग-केंद्रित माना है। उद्योग से उनका तात्पर्य जीवन के सारे उद्देश्यपूर्ण रचनात्मक तथा समाज की दृष्टि से उपयोगी क्रियाशीलनों से है। बालक इन्हीं क्रियाशीलनों को करता हुआ स्वभावतः ज्ञान प्राप्त करता है। वह प्रारंभ से अपने स्वार्थों को इन्ही क्रियाशीलनों के अनुकूल परिमार्जित करता है। इसलिए वह विभिन्न प्रकार के क्रियाशीलनों की योजनाएँ बनाता है। जैसे, भोजन बच्चों की प्रारंभिक आवश्यकता है। भोजन में पूर्ण सामानों की आवश्यकता होती है। वह इन सामानों को प्राप्त करने के लिए योजना बनाता है। जैसे—साग-भाजी की वह खेती करता है। यह योजना को वह अपने परिवार, विद्यालय एवं समाज के आवश्यकतानुसार बनाता है। इसलिए उसकी योजना वैयक्तिक, पारिवारिक, विद्यालय, समाज तथा राष्ट्र की भी होती है। इस योजना की पूर्ति के लिए वह तरह-तरह के काम करता है। काम के करने में उसे विभिन्न प्रकार की जानकारियों की आवश्यकता होती है। लेखा-जोखा रखना पड़ता है। अन्य देशों में इनको कहाँ-कहाँ और कितना पैदा करते हैं, आज के युग से और प्राचीन युग में पैदा की दृष्टि से किस प्रकार की व्यवस्था थी, कैसा रूप था, इत्यादि बातों को जानने में उसे विज्ञान, गणित, समाजशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान स्वभावतः प्राप्त करना पड़ता है। इस प्रकार गांधीजी ने अपनी शिक्षा में परियोजना-विधि को अपनाया है और अनुसंधान द्वारा खोज कर ज्ञान प्राप्त करने पर जोर दिया है। ज्ञान उपयोगितावाद के सिद्धांत पर ही अधारित रहता है। वे संश्लेषणात्मक शिक्षा और छात्र की सक्रियता को महत्व देते हैं। गांधीजी ने आत्मकथा का नाम भी रखा 'सत्य संबंधी मेरे अनुसंधान।' इस तरह उनका यह विचार बहुत-कुछ व्यावहारवादी सिद्धांत से भी मिलता-जुलता है। जॉन ड्यू व्यवहारवादी शिक्षा-दार्शनिक माने जाते है। उनके भी विचार इसी तरह के हैं, किंतु गांधीजी की परियोजना उपयोगितावाद की आधारशिला पर जॉन ड्यू से अधिक दृढ़ स्थापित हुई है। जॉन ड्यू ने सभी प्रकार के क्रियाशीलनों को लिया है। जैसे, छोटी-छोटी ईंटें बना कर खिलौनों के रूप में एक छोटा-सा घर बनाना और उससे ज्ञान प्राप्त करना। उनकी शिक्षा एक अच्छी परियोजना समझी

जाती है। लेकिन, गांधीजी के विचार में जब छात्र इस लायक हों कि वे अपने विद्यालय के भवन के लिए ईंट पार सकें, ईंट को जोड़ सकें, तभी उनकी इस प्रकार की योजना होनी चाहिए । वे खिलौने के धर में आस्था नहीं रखते थे। उनका तो कहना था कि लड़के अपने परिवार या समाज के आवश्यकतानुसार जीवनोपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति पर परियोजना बनावें और इन्हीं परियोजनाओं को पूर्ण करते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करें, अर्थात् बालक की अवस्था और उम्र के अनुसार उसकी आवश्याकताएँ होती हैं और इन्हीं के अनुसार परियोजना होनी चाहिए । इसलिए उनके दर्शन में व्यक्ति द्वारा उत्पादित की गई वस्तुएँ केवल जिज्ञासा को शांत करने के लिए नहीं पैदा की जातीं, बल्कि उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैदा की जाती हैं। इसमें गांधीजी व्यवहारवादी दार्शनिकों से आगे बढ़ गए हैं। दूसरा जो अंतर मुझे दिखता है, वह यह है कि जॉन ड्यू ने शिक्षा को बालक की कुछ ही अवस्था तक सीमित रखा है। उन्होंने अपने विचार-दर्शन से शिक्षा की भिन्न सीढ़ियों का निर्माण नहीं किया, किंतु गांधीजी ने अपने दर्शन पूर्व-बुनियादी, उत्तर-बुनियादी और बुनियादी की परिकल्पना की है। इसलिए उनकी शिक्षा अपने में बिल्कुल पूर्ण है ।

इस तरह हम लोगों ने देखा कि गांधीजी जिस युग में रहे हैं, उसी युग के पूर्व होने वाले जितने दार्शनिक हुए हैं—चाहे वे प्रकृतिवादी हों, आदर्शवादी हों या व्यवहारवादी उनके विचारों से प्रभावित हुए हैं। लेकिन, उनके भीतर आज के युग के अनुसार एक स्वतंत्र दार्शनिक का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसे कसौटी पर कसने पर प्रकृतिवाद, आदर्शवाद या व्यवहारवाद का कुछ रंग तो अवश्य मिलता है, किंतु वह स्वतः पूर्ण एवं स्वतंत्र है। इसलिए गांधीजी आज के युग के एक महान् दार्शनिक एवं युगांतकारी पुरुष हो गए हैं। उनके द्वारा चलायी गई शिक्षा अपरिग्रही, दर्शन, विकेंद्रित, स्वावलंबी, अर्थनीति तथा श्रेणीहीन समाज-व्यवस्था पर आधारित है।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति की आलोचना

महात्मा गांधी प्रदत्त उनकी बुनियादी शिक्षा की आलोचनाएँ कुछ इस प्रकार हुई हैं :—

१. आलोचकों के मतानुसार शिक्षा की यह पद्धति मुख्यत: 'क्राफ्ट केंद्रित' है, 'बाल-केंद्रित' नहीं । आधुनिक युग के शिक्षाशास्त्री शिक्षा को बाल-केंद्रित बनाना चाहते हैं। एक मुख्य क्राफ्ट द्वारा सभी पाठ्य-विषयों को समवायित नहीं किया जा सकता।

२. इसमें बालक को विभिन्न रुचियों, उनकी प्रकृति, आवश्यकता एवं योग्यता आदि पर ध्यान नहीं दिया जाता तथा यह आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से सर्वथा विपरीत है।

३. बुनियादी शिक्षा विशेष भावनात्मक विचार पर ही आधारित है; क्योंकि यह राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नाम एवं कार्य से संबंधित है।

४. इसमें धार्मिक शिक्षा का अभाव है।

५. आत्मनिर्भरता का विचार अव्यावहारिक है अर्थात् विद्यालय को स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता। सार्जेंट कमिटी रिपोर्ट ने (इस कमिटी ने १६ जनवरी, १६४४ ई० को भारतीय शिक्षा का पूर्ण पर्यवेक्षण करके अपनी अत्यंत महत्त्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की थी) भी इसको अव्यावहारिक बतलाया है। उसका कहना है कि शिक्षा प्राप्त करने के दृष्टिकोण से विद्यार्थियों द्वारा बनायी गई वस्तुओं को बेच कर विद्यालय का खर्च निकाला जा सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

६. विशेषज्ञता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से विद्यार्थियों को एक विशेष हस्त-कौशल का निर्वाचन करना पड़ता है, जो आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध पड़ता है। विद्यालयीय जीवन बालकों का विकासकाल रहता है। इस निर्माणावस्था में ही हमेशा के लिए एक निश्चित हस्तकौशल को चुन लेना बालक की अन्य रुचियों के विकास में बाधक होगा।

७. पाठ्यक्रम में जो विषय हैं, वे विस्तृत अव्यावहारिक और शिक्षाविरोधी हैं तथा विद्यार्थियों पर भारस्वरूप होते हैं।

८. बुनियादी शिक्षा-योजना में महात्मा गांधी ने ग्रामीण पक्ष को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ नगरों की समस्याओं और आवश्यकताओं की सर्वथा उपेक्षा की गई है।

६. स्त्री-शिक्षा के लिए इसमें उचित प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई है।

१०. महात्मा गांधी का शिक्षा-दर्शन 'लोप-साइडेड' है; क्योंकि विश्वविद्यालयीय शिक्षा कैसे प्रदान की जाएगी, इस पर उन्होंने न तो स्पष्ट विचार हीं किया है और न इसके लिए एक निश्चित कार्यक्रम ही प्रस्तुत किया है। उनकी शिक्षा-योजना प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक ही विशेषरूपेण सीमित रह गई है।

११. बुनियादी शिक्षा-योजना के अनुरूप शिक्षकों का अभाव है।

बुनियादी तालीम के संबंध में आलोचकों द्वारा जिन त्रुटियों का उल्लेख किया जाता है, उनमें कई निर्मूल हैं। महात्मा गांधी ने बुनियादी तालीम की रूपरेखा

पर्याप्त सोच-विचार एवं मनन के पश्चात् और तत्कालीन भारतीय समाज को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत किया था। यह शिक्षा-व्यवस्था चार मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर अवलंबित करके बनायी गई है, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है। (१) स्वयं-शिक्षा, (२) काम करते हुए शिक्षा, (३) आवयविक शिक्षा तथा (४) श्रम का आदर-- ये चारों सिद्धांत वर्त्तमान युग के शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों को सर्वथा मान्य हैं। यह योजना पेस्टालॉजी के शिक्षण-सिद्धांतों तथा प्रयोग-प्रणाली से संबंधित है। साथ ही, रूसो के प्रकृतिवाद तथा डॉ० डिवी के प्रयोजनवाद से बहुत समानता रखती है। भारत-जैसे देश में जहाँ अत्यधिक सामाजिक और आर्थिक विषमता व्याप्त है, वहाँ श्रम के प्रति आदर तथा अमीरी और गरीबी की खाई को मनोवैज्ञानिक ढंग से पाटने के लिए यह शिक्षा-प्रणाली एक अद्वितीय माध्यम है।

बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में प्रमुख रूप में क्रिया का केंद्र बालक रहता है। शिक्षा द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास बिना किसी बाधा के किया जाए। उनके ऊपर बाह्य ज्ञान को लादा नहीं जाए। इस प्रणाली में बालक की आंतरिक शक्तियों को विकसित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश है। बालक स्वतंत्रता के वातावरण में ज्ञान ग्रहण करें, ऐसा महात्मा गांधी चाहते थे। वर्तमान और भविष्य के जीवन में बालक स्वतंत्र एवं सुखी बनें, यही महात्मा गांधी का सामाजिक दर्शन है और इसी की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने शिक्षा-दर्शन को प्रस्तुत किया। बालक के विकास के लिए किन परिस्थितियों तथा किस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता है, इस बात पर भी पूरा ध्यान रखा जाता है। बालक को उनकी रुचि के अनुसार ही शिक्षा प्रदान की जाती है। चूंकि बालक स्वभावतः क्रियाशील होते हैं, वे शांत एवं चुप रहना पसंद नहीं करते। अतः, बुनियादी शिक्षा में अपना दर्शन निहित करने वाले ने क्रियाशीलता को महत्त्व प्रदान किया। परिस्थितिवश भले ही बुनियादी तालीम को अपनाने में हम सक्षम नहीं हो सकें अथवा अपनी कमजोरियों के कारण इसको धारण नहीं कर सकें, परंतु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह शिक्षा-प्रणाली, जिसमें महात्मा गांधी ने अपने उस शिक्षा-दर्शन को मूर्त किया और जो उनके जीवन-दर्शन एवं सामाजिक दर्शन से पूर्णतः प्रभावित है, एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधारशिला पर अवस्थित है। इसमें बालकों के सर्वांगीण विकास की संभावना निहित है। समय की माँग के अनुकूल महात्मा गांधी ने इसे संगठित किया था। बुनियादी तालीम एक युग की पुकार थी। यह अपने-आप में यह एक व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली है। ३१ जुलाई, सन् १९३७ ई० को उन्होंने 'हरिजन' में लिखा था--

"प्रत्येक स्कूल अपना खर्च आप निकाल सकता है, परंतु इस शर्त पर कि हुकूमत स्कूल में अपनी बनायी हुई चीजों को खरीद ले।" ऐसी अवस्था में स्वावलंबन को अव्यावहारिक नहीं कहा सकता, यद्यपि शिमला कांफ्रेंस के अवसर पर विद्यालय को स्वावलंबी बनाने की बात छोड़ दी गई थी। वैसे स्वावलंबन एक श्रेष्ठ गुण है और इससे आत्मविश्वास बढ़ता है।"

बुनियादी तालीम में धार्मिकता के अभाव की चर्चा नितांत अयुक्तिसंगत है; क्योंकि सत्य, अहिंसा और ज्ञान, गांधी-दर्शन के तीन मुख्य स्तंभ पर आधारित बुनियादी शिक्षण-पद्धति में बालक एक स्वतंत्र वातावरण में संगठन, सामाजिकता, राष्ट्रीयता एवं विश्वबंधुत्व का पाठ सीख रहे हैं। हाथ, हृदय और मस्तिष्क तीनों की शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों का समग्र एवं संतुलित विकास किया जा रहा है तथा विद्यार्थी सामुदायिक भावना, स्वावलंबन और अनुशासन के आधार पर अपने चारित्रिक तथा नैतिक विकास में संलग्नशील हैं-- ऐसी अवस्था में बुनियादी तालीम को धार्मिकविहीन कैसे कह सकते हैं। धार्मिक और नैतिक शिक्षा का उद्देश्य क्या है? मनुष्य का चारित्रिक विकास। शिक्षा का अर्थ है-- मनुष्य के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास करने की शक्ति। सच्चे अर्थ में मनुष्य वही है जिसका शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक आदि सभी प्रकार का विकास हुआ हो। कॉमेनियस अपने शिक्षा-दर्शन में बतलाता है—"शिक्षा मनुष्य का संपूर्ण विकास है।"

महात्मा गांधी ने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने शिक्षा-दर्शन को बुनियादी तालीम में मूर्त किया। वे स्वयं एक धार्मिक व्यक्ति थे, ईश्वर में उनकी अटूट श्रद्धा थी। भला वे धर्म के मूल-तत्त्व को अपनी शिक्षा-योजना में कैसे छोड़ सकते थे? वे प्राणिमात्र का कल्याण चाहते थे। इसीलिए सर्वोदय को लक्ष्य करके उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना प्रस्तुत की। प्रत्येक विषय को हस्तकला के माध्यम से पढ़ाया जा सकता है, अगर निष्ठा की भावना हो।

निःसंदेह इसके लिए योग्य और अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता होगी। शनैः-शनैः शिक्षक का अभाव भी पूरा हो जाएगा। शिक्षक का अभाव समाज एवं देश की परिस्थिति, वातावरण तथा आवश्यकता से संबंधित हुआ करता है। अगर महात्मा गांधी के शिक्षा-दर्शन में हमारा विश्वास है, अगर हमलोग बुनियादी तालीम को अपनाना चाहते हैं, तो कालक्रम में शिक्षकों का अभाव भी दूर हो जाएगा।

बुनियादी तालीम गर्भाधान से मृत्युपर्यंत चलने वाली एक वृहत् शिक्षा योजना है, ऐसी स्थिति में इस पर 'लोप साइडेड' होने का दोषरोपण नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी बच्चे की शिक्षा का विधान उसी समय से करना चाहते हैं

जिस समय से उसने माता के गर्भ में जीवन-धारण किया तथा उसकी शिक्षा-प्रक्रिया उस दिन तक चलती रहेगी, जब तक वह जीवित है। कुछ वर्षों तक ही, जीवन की एक विशेष अवधि तक ही, वे इसको सीमित नहीं करना चाहते थे। इस सत्य को बुनियादीशिक्षा के चार प्रमुख भाग परिलक्षित करते हैं, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है।

स्वतंत्रता से दस वर्ष पहले (सन् १९३७) महात्मा गांधी ने सर्वोदय समाज की रचना के उद्देश्य से बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों को देश के समक्ष रखा था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सर्वथा आवश्यक था। केंद्रीय शासन-पद्धति तथा देश की वर्त्तमान उत्पादन पद्धति के कारण समाज में बड़ी विषमता व्याप्त थी। गांधीजी ने इसके स्थान पर ग्राम-राज्य एवं ग्राम-उद्योग की स्थापना का विचार किया। भारत गाँवों का देश है, कृषकों की भूमि है। तथाकथित शहरी जीवन से इसकी मूलभूत समस्याएँ हल नहीं हो सकेंगी। हमारा कल्याण गाँवों में जाने से ही होगा। इसीलिए उन्होंने कहा था—"गाँवों की ओर लौटें।" उन्हें सरल जीवन और उच्च आदर्श का सिद्धांत मान्य था। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि मात्र सामाजिक रचना में परिवर्तन करने से ही हमारा लक्ष्य पूरा नहीं होगा, अपितु हमें अपने देशवासियों के विचार और मस्तिष्क में परिवर्तन लाना होगा। विषमता और शोषण का मूल कारण है कि व्यक्तियों ने गलत धारणाओं को अपनाया है, अमान्य एवं अवांछनीय तत्त्व ही उन्हें मान्य हो रहे हैं। सर्वोदय का आदर्श अपनाने से ही भावना में परिवर्तन हो सकेगा। परंतु सर्वोदय की पहली सीढ़ी है—'बुनियादी शिक्षा'। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को प्रगतिशील साँचे में ढालने की शक्ति इस बुनियादी शिक्षा में ही निहित है। इस शिक्षा-प्रणाली द्वारा महात्मा गांधी सत्य, ज्ञान और अहिंसा की नवीन ज्योति का आलोक मानव-मात्र को देना चाहते थे। परंपरागत शिक्षा प्रणाली मनुष्य को धन की वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करती है। यदि शिक्षा के द्वारा मनुष्य-समाज में प्रेम की वृद्धि हो जाए तथा धन की प्यास मिट जाए, तो मानव-समाज सुखी और शांत हो जाएगा। उनमें तब सच्चरित्रता, नैतिकता और संतोष स्वयं आ जाएँगे। बुनियादी शिक्षा, मानव-जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करने में सफल और समर्थ हो सकेगी। इस शिक्षा की महत्ता के संबंध में काका कालेलकर ने निम्नांकित भाव प्रकट किया है—"बुनियादी शिक्षा केवल यांत्रिक नहीं, न वह केवल गृह-उद्योगों की शिक्षा है, वह तो सर्वांगीण बौद्धिक विकास तथा सांस्कृतिक समन्वय की शिक्षा है। बौद्धिक विकास तथा संस्कृति के उच्च आदर्श तक पहुँचना उसका उद्देश्य है। जन-सेवा उसका प्रथम और अंतिम लक्ष्य है।"

महात्मा गांधी ने शिक्षा के लक्ष्य को संबोधित करते हुए ३१ जुलाई, सन् १९३७ ई० को 'हरिजन' पत्र में लिखा था—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक की साक्षरता और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के उत्कृष्ट एवं सर्वांगीण विकास से है। साक्षरता–शिक्षा की अंतिम सीढ़ी नहीं है और न प्रथम सोपान है। यह तो पुरुष और स्त्री सभी को शिक्षित करने का एक साधन है। केवल साक्षरता अपने में शिक्षा नहीं कही जा सकती। By Education I mean an all round drawing out of the best in child and man body, mind and spirit. Literacy is not end of education nor even the beginning. It is one of the means whereby man and woman can be educated. Literacy in it self is no education." 'Harijan' dated 31-3-37. M. K. Gandhi

गांधीजी वस्तुतः भारतीय बालक-बालिकाओं का सर्वांगीण विकास चाहते थे, पर एक पक्षीय नहीं। अतः उन्होंने भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था के अनुरूप ही एक शिक्षा-पद्धति की कल्पना की और यह योजना भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सर्वथा उपयुक्त है। इसमें भारत के भावीं नागरिकों में आत्मविश्वास; आत्मगौरव, आत्मसंतोष-जैसे भावों को भरने के साथ-साथ आत्मोत्थान तथा समाज-सेवा जैसे सद्गुणों को विकसित करने की अलौकिक शक्ति है। आवश्यकता है, सच्ची आस्था, दृढ़ कर्त्तव्य तथा पूर्ण ईमानदारी के साथ इसको स्वीकार कर आगे बढ़ने की।



अध्याय २५

स्वामी श्रद्धानंद

भूमिका

हरद्वार के समीप कांगड़ी नामक स्थान में अपनी वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरुप गुरुकुल जो इन दिनों एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय है, की स्थापना कर अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंद (१८५६ ई०-१९२६ ई०) ने महर्षि दयानंद के शैक्षणिक आदर्शों को मूर्तिमान ही नहीं किया, अपितु भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचलन करते हुए अपनी प्रबल दूरदर्शिता, अदम्य साहस और असीम देशभक्ति का भी ज्वलंत उदाहरण दिया। स्वामी श्रद्धानंद भारत के एक सुप्रसिद्ध धार्मिक नेता के रूप में ही नहीं, अपितु एक महान् शिक्षाशास्त्री के रूप में भी वंदनीय हैं। वीरता, निर्भीकता, उत्साह, साहस, सदाचार, त्याग और पवित्रता आदि सद्गुणों से युक्त उनका आदर्शवादी व्यक्तित्व, भारत के एक-एक विद्यार्थी के लिए आज नवजीवन का जीवित संदेश है। वे एक महान् पुरुष, महान् भारतीय और महान् आत्मा थे। उन्होंने वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए ही धर्म एवं मानवता की वेदी पर अपने को निष्काम भाव से बलिदान कर दिया। उनके तपोमय जीवनोत्सर्ग की कहानी हमारे लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

जीवन-परिचय

हमारे अमर विभूति स्वामी श्रद्धानंद की संपूर्ण जीवनलीला इतनी शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक है कि अपने-आप में वह एक 'शिक्षाशास्त्र' है। उनके जीवन की एक-एक घटना 'शिक्षाशास्त्र' के पन्नों के समान है। किशोर नवयुवकों के लिए वहाँ वह अद्भुत शक्ति प्रस्फुटित हो रही है, जिसके प्रकाशपुंज में उनका मार्ग स्वतः प्रशस्त होगा। यदि भारत का किशोर और युवावर्ग उनकी आत्मकथा 'कल्याण-

मार्ग का' परिक शीर्षक पुस्तक पढ़े, तो उन्हें अपने सर्वांगीण समाज का पथ सुगमता से प्राप्त होगा और वे अपने प्रगति-मार्ग को प्रशस्त कर सकने में सक्षम होंगे ।

परिवार

आपका जन्म (१८५६ ई०) फाल्गुन कृष्ण त्रयोदसी संवत् १९१३ (विक्रमी) को जिला जालंधर के ग्राम तलबन में एक ऐसे परिवार में हुआ था, जो अपने उद्योग, अध्यवसाय और पुरुषार्थ के बल पर 'विशिष्टता' को प्राप्त हुआ था। धार्मिकता इस परिवार की परंपरागत विभूति थी। वीरता, सज्जनता, निर्भयता और स्पष्ठ-वादिता आदि सद्गुण उन्हें पारिवारिक विरासत में ही मिले थे। इनके परदादा का नाम श्री सुखानंद था। श्री सुखानंद सर्वदा प्रसन्न रहने वाले एक गंभीर व्यक्ति थे। उनके पांच पुत्र थे, जिसके नाम हैं—कन्हैयालाल, हीरानंद, माणिकचंद्र, गुलाबराय और महताबराय। श्री गुलाबराय के पोते का ही नाम 'श्रद्धानंद संन्यासी' पड़ा था। श्री गुलाबराय भी बहुत धार्मिक और ईश्वरभक्त थे। इसके साथ ही उनमें निर्भीकता और स्पष्टवादिता के गुण भी वर्त्तमान थे। श्री गुलाब राय को छह संतानें थीं। इनमें सबसे बड़े का नाम श्री लाला नानकचंद था। श्री लाला नानकचंद को भी सीताराम, प्रेमदेवी, मूलराज, द्रोपदी, आत्माराम और मुंशीराम छह संतान थीं। श्री मुंशीराम, श्री लाला नानकचद की सबसे छोटी संतान थे। श्री मुंशीराम ही कालक्रम में महात्मा मुंशीराम और तत्पश्चात् अमर शहीद 'श्री स्वामी श्रद्धानंदजी संन्यासी' के नाम से जगत् में सुप्रसिद्ध हुए।

बाल्यावस्था

श्री नानकचंद भी बहुत धार्मिक, स्वाभिमानी, स्पष्टवादी और वीर पुरूष थे। भगवान शिव में उनकी बड़ी आस्था थी। अपनी कर्मठता के फलस्वरूप ही उन्होंने पुलिस-सर्विस में ऊँचा पद प्राप्त किया था। वे वर्षो तक काशी (वाराणसी) में कोतवाल थे। बालक मुंशीराम का नाम चौथी श्रेणी में यहीं लिखा गया था। काशी से श्री मुंशीराम का बहुत गहरा संबंध था। एफ० ए० की परीक्षा तक आप प्रायः काशी में ही रहे। काशी में अच्छे गुण भी सीखे और कुछ दुर्गुण भी। उनकी बाल्यावस्था अधिक खेल-कूद और लाड़-प्यार में ही व्यतीत हुई। परंतु, आप इसी समय प्रतिभासंपन्न और कुशाग्रबुद्धि के समझे जाने लगे थे। अपने पिताजी द्वारा पूजा के समय पाठ करते हुए धार्मिक ग्रंथों के बहुत से स्रोत और काशी माहात्म्य आदि सुन कर ही आपको स्मरण हो गया था। आप में धार्मिकता का गहरा संस्कार इसी समय पड़ा। बाल्यावस्था से ही आपको महाभारत, तुलसीदासकृत रामचरित-मानस और श्री हनुमानचालीसा से स्वाभाविक प्रेम था। अपने भावी जीवन में

भावावेश के कतिपय अवसरों पर, आप तुलसीकृत रामायण के पाठ और धार्मिक संस्कार के फलस्वरूप, नैतिकता के सामान्य गुणों से थोड़ी दूर हट कर भी, ऊँचे उठते चले गए और इतिहास में भारत की एक महान् विभूति के रूप में अमर हुए। अपनी आत्मकथा के पृष्ठ ४० पर स्वामी श्रद्धानंद ने लिखा है—"रामचरितमानस के स्वाध्याय ने मेरे आचार-व्यवहार की, आवारगी के दिनों में भी रक्षा की थी।"

स्वामी श्रद्धानद के पिता श्री नानकचंद एक ऐसी सरकारी नौकरी में थे, जिसमें दौरा और स्थानांतरण की पर्याप्त गुंजाइश थी। यत्र-तत्र इनका स्थानांतरण हुआ करता था। मुख्यालय से दौरे पर जाना पड़ता था। श्री मुंशीराम भी इनके साथ आया-जाया करते थे। अपनी वाल्या और किशोरावस्था में विभिन्न स्थानों में आने-जाने एवं विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से मिलने-जुलने के फलस्वरूप श्री मुंशीराम को लाभ यह हुआ कि वे जीवन के अनेकों अनुभवों से परिचित हो गए। इन्होंने जीवन की अनेक घटनाओं एवं परिस्थितियों से वहुत कुछ सीखा। ये अनुभव भावी जीवन में लाभदाक हुए।

इंट्रेन्स की परीक्षा

श्री मुंशीराम को कतिपय व्यक्तिगत और पारिवारिक लापरवाहियों के कारण इंट्रेंस की परीक्षा में सफल घोषित होने में कई वर्ष लग गए थे। परंतु, अंत में आपने काशी में रेवड़ी तालाव के स्कूल (जयनारायण कॉलेज) से सेकंड डिवीजन में प्रथम हो कर यह परीक्षा पास की और आगे की पढ़ाई के लिए क्वींस कॉलेज में दाखिल हुए। एफ० ए० के प्रथम वर्ष में अच्छे अंक प्राप्त किए थे। अंगरेजी के पर्चे में ६७ प्रतिशत अक मिले थे। इसी अवस्था में आपको पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त अंगरेजी के नाटक, उपन्यास और कविता पढ़ने का शौक हुआ। शेक्सपियर के सब नाटक स्वतंत्र रूप से पढ़ गए थे। उर्दू-कविता से आपको प्रेम था। काशी के इस जीवन में भारतेंदु वावू हरिश्चंद्र से भी इनका परिचय हुआ। इन दिनों आपके पिता वलिया में पदस्थापित थे। श्री मुंशीराम छुट्टियों में प्रायः वलिया चले जाते थे। वहाँ वे अपने पिताजी के भय से चंद्रमा के प्रकाश में अंगरेजी उपन्यास पढ़ा करते थे। आपकी माता जी का देहांत उसी समय हो गया, जव आपके पिताजी वलिया में पदस्थापित थे और आप काशी में इंट्रेन्स की परीक्षा की तैयारी में लगे थे।

विवाह

ऊपर की पंक्तियों में मैंने इस वात की चर्चा की है कि श्री मुंशीराम की माताजी का देहांत उसी समय हो गया, जव आप इंट्रेंस के विद्यार्थी थे। माँ की

बड़ी इच्छा थी कि अपनी सबसे छोटी संतान की शादी करें, परंतु ऐसा हो नहीं सका और असमय में ही इनकी मृत्यु हो गई। माँ की मृत्यु के पश्चात् पिताजी ने ही इस पवित्र रस्म को पूरा किया। श्री मुंशीराम की शादी जालंधर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम की लड़की से संपन्न हुई। आपकी धर्मपत्नी का नाम शिव देवी था। श्रीमती शिव देवी का आदर्श और पवित्र जीवन प्राचीन भारतीय नारी के सद्गुणों से संपन्न था। अपने पति को वे सर्वदा प्रेरणा देती रहीं। ३१ अगस्त, १८६१ ई० को लगभग पाँच बजे सायंकाल चार छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ कर आप इस संसार के मायाजाल से मुक्त हो गईं। अब बच्चों के पालन-पोषण की समूची जिम्मेवारी श्री मुंशीराम पर ही आ गई। परंतु, आप में एक आदर्श पिता की कर्त्तव्यपरायणता और स्नेहमयी माँ की ममता भी थी। अतः, आपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह सँभाला।

एफ० ए० की परीक्षा

शादी के पश्चात् श्री मुंशीराम ने एफ० ए० परीक्षा में उत्तीर्णता-हेतु इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कॉलिज में नामांकन कराया। परंतु दुर्भाग्यवश, परीक्षा के दिनों में ही बीमार हो गए। अंतिम पर्चे की परीक्षा में तो आप बैठ भी नहीं पाए। फलतः केवल आठ अंकों के लिए एफ० ए० की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए।

महर्षि स्वामी दयानंद का दर्शन

जिन दिनों इनके पिता बरेली में थे, उस समय, उस शहर में आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानंद का आगमन हुआ। स्वामी दयानंद के दर्शन मात्र से श्री मुंशीराम की बहुत शंकाएँ दूर हो गईं और उनके जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। इन दिनों श्री मुंशीराम का झुकाव नास्तिकता की ओर भी हो रहा था। परंतु उन्होंने दयानंद के कई व्याख्यान सुने, 'शंका-समाधान' में भी गए। इन समस्त बातों से इनका जीवन इतना अधिक प्रभावित हुआ कि एक दिन भारत ने उनको 'श्रद्धानंद संन्यासी' के रूप में जाना। अब यहीं से उनका सार्वजनिक जीवन प्रारंभ होता है। स्वामी दयानंद के दर्शनोपरांत अपनी मनोभावना का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है—"इन दिनों में ऋषि-जीवन-संबंधी अनेक घटनाएँ मैंने देखीं, जिनमें से कुछेक का प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।" अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में भी आप लिखते हैं—"युगविधाता आचार्य दयानंद के जीवन-चरित् का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है।"

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

श्री मुंशीराम ने कुछ दिनों तक पुलिस-विभाग में नौकरी भी की, परंतु अपने निश्छल, स्पष्टवादी स्वभाव के कारण बहुत दिनों तक उसे निभा नहीं पाए। तब मुख्तारी पास कर जालंधर में कानूनी पेशे में पैर रखा। बाद में पंजाब युनिवर्सिटी से कानून की परीक्षा पास कर वे एक सफल वकील भी बने, परंतु परमात्मा की कृपा, महर्षि स्वामी दयानंद का पवित्र दर्शन और अपना अनोखा संस्कार, उन्हें संसार के कल्याणार्थ किसी दूसरे जीवन में खींच ले गया। आर्य समाज में प्रवेश तो आप पहले ही कर चुके थे। विभिन्न स्थानों पर आर्य-समाज के उत्सवों में जनता ने आपके बड़े ही ओजस्वी व्याख्यान भी सुने थे। अब मुंशीराम ने समाज को अपना जीवन दान दे कर महर्षि स्वामी दयानंद के शेष कार्यों को पूरा करने का व्रत लिया। इन्हीं शेष कार्यों में महर्षि दयानंद के उस 'गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आदर्शों का संगठन और विस्तार-कार्य' भी एक था, जो भारतीय जनता और भारतीय संस्कृति के पुनरूद्धार में अत्यधिक सहायक हुआ। महर्षि दयानंद के शैक्षिक आदर्शों को महात्मा मुंशीराम ने कांगड़ी के गुरुकुल और उसकी विभिन्न शाखाओं में साकार कर दिखाया। समाज ने उन्हें अब 'महात्मा' पद से विभूषित किया।

स्वामी श्रद्धानंद

सार्वजनिक जीवन अपना कर वर्षों तक महात्मा मुंशीराम गुरुकुल के संगठन में व्यस्त रहे। विभिन्न स्थानों पर गुरुकुल की शाखाएं खुलीं। आर्य समाज के माध्यम से वे सर्वसाधारण की भी सेवा में संलग्न रहे। परंतु ९ अप्रील, १९१७ ई० को (गुरुकुल के पंद्रहवें उत्सव पर) 'महात्मा मुंशीराम' ने जगत् के कल्याणार्थ 'श्रद्धानंद संन्यासी' बनना स्वीकार किया। आज के दिन नौ बजे प्रातः फनखल में गुरुकुल के आचार्य का पीला वस्त्र उतार कर उन्होंने गेरुआ-वस्त्र धारण किया। गुरुकुल के एक सीमित क्षेत्र से निकल, प्राणिमात्र के सेवक बन गए। सेवा धर्म में विशेष समय देने के लिए ही वस्तुतः महात्मा मुंशीराम, संन्यासी स्वामी श्रद्धानंद बने थे। ९ अप्रील, १९१७ ई० को कनखल में संन्यास धर्म में प्रविष्ठ होते हुए आपने इन उन शब्दों में अपना उद्‌गार प्रकट किया था—"श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज तक के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्य देवी है। अब भी श्रद्धाभाव से प्रेरित हो कर ही मैं संन्यासाश्रम में प्रवेश कर रहा हूं। इसलिए इस यज्ञकुंड की अग्नि को साक्षी रख कर मैं अपना नाम 'श्रद्धानंद' रखता हूं, जिससे मैं अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूं।"

कर्तव्यनिष्ठ आचार्य महात्मा मुंशीराम आज के दिन भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना नहीं भूले थे। प्रातःकाल उन्होंने महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों को

उपदेश दिए थे। गुरुकुलहितार्थ आज के दिन उन्होंने एकहत्तर हजार रुपए भी जमा किए थे।

शहीद स्वामी श्रद्धानंद

संन्यासाश्रम में प्रवेश होने के बाद भी शहीद होने के दिन तक (२३ दिसंबर, सन् १६२६ ई०) कभी भी आप अपने पुनीत कर्त्तव्य से विचलित नहीं हुए। अपने दृढ़ व्रत एवं उच्च चरित्र के द्वारा सदैव भारतवासियों की सेवा करते रहे। सेवा का जीवन आपके जीवन का सदैव ही आधार बना रहा। गुरुकुल से अपने को विलग करने तथा संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने के बाद भी गुरुकुल से आपका हृदय जुड़ा रहा। आप कांगड़ी गुरुकुल में 'कुलपति' भी बने और पुनः कुछ समय इसकी सेवा में लगाए। अपने जीवनकाल के अंतिम क्षण तक आप अपने गुरुकुलों के हितार्थ सोचते-विचारते और परामर्श करते रहे।

२३ दिसंबर, १६२६ ई० के अपराह्न काल में स्वामी श्रद्धानंद, अब्दुल रशीद नामक एक मुसलमान युवक की गोलियों द्वारा, दिल्ली में शहीद हो गए।

स्वामी श्रद्धानंद का शिक्षा-दर्शन

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी श्रद्धानंद, महर्षि स्वामी दयानंद के शैक्षणिक विचारों के पूर्ण पोषक थे। स्वामी दयानंद के शैक्षणिक आदर्शों को मूर्त्तरूप देने के लिए ही उन्होंने काँगड़ी में गुरुकुल की स्थापना की थी। भारत के अन्य स्थानों में भी अपने सफल प्रयास के फलस्वरूप, आपने गुरुकुल की शाखाएँ खोलीं। गुरुकुल के संगठन और संचालन में इन्होंने प्रायः अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनके शैक्षणिक विचार निम्नांकित हैं—

१. राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचलन पर बल

परंपरागत शिक्षा-प्रणाली इनको अमान्य थी। परतंत्र भारत और इसकी प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार-हितार्थ वे शिक्षा का रूप ऐसा देना चाहते थे, जिससे देशप्रेमी, चरित्रवान और विद्वान नवयुवक पैदा हों और संसार पुनः इस देश को अच्छी तरह पहचान सके। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचलन पर बल दिया।

२. प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार

महर्षि स्वामी दयानंद के समान ही इनकी भी ऐसी दृढ़ धारणा थी कि भारतीय समाज की रक्षा अपनी प्राचीन संस्कृति को अपनाने से ही संभव है। भारत देश और यहाँ की संस्कृति को विदेशियों ने आक्रांत जरूर कर लिया है, परंतु भार-

तीय संस्कृति अपने-आप में अत्यंत महान् है और मानवता के प्रादुर्भूतिकरण के समस्त लक्षण इसमें वर्तमान हैं। भारत देश की मिट्टी और वातावरण के अनुकूल अनुरूप इसकी अपनी संस्कृति शनैः-शनैः आविर्भूत हुई है। वह पूर्वजों की बड़ी कमाई है, अतः उसे छोड़ना अथवा उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन लाना, अपने-आप के साथ घात करने के समान है। शिक्षा में सुधार ला कर तथा किशोर नवयुवकों को तदनुरूप उसमें ढाल कर हम अपने मनोवांछित लक्ष्य की सिद्धि कर सकेंगे—ऐसा उनका विश्वास था।

स्वामी श्रद्धानंद वस्तुतः पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रगति की अवहेलना नहीं करते हुए भी भारत की संस्कृति के अनुरूप प्राचीन शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे। पंडित मदनमोहन मालवीय और रवींद्रनाथ ठाकुर के समान ही श्री स्वामीजी प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली के प्रशंसक थे। शिक्षा-संस्थाओं का संगठन वे प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली के आधार पर करना चाहते थे। कांगड़ी अथवा अन्य गुरुकुल की स्थापना का यही उद्देश्य था।

३. चरित्रवान ब्रह्मचारी विद्यार्थी

चरित्र व्यक्ति का ही नहीं, किसी भी समाज और राष्ट्र का अधारस्तंभ है। जिन दिनों स्वामी श्रद्धानंद, 'मुंशीराम' के रूप में काशी और बरेली आदि स्थानों में घूम रहे थे, उन्होंने समाज को बहुत नजदीक से देखा था और तभी से उनकी यह दृढ़ इच्छा हो चुकी थी कि भारतीय समाज में एक बड़े परिवर्तन की जरूरत है। परिवर्तन का आधार एकमात्र शिक्षा ही हुआ करती हैं। गुरुकुल का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया।

शिक्षा की दृढ आधारशिला पर सुदृढ़ समाज और प्रभुसत्तासंपन्न गणतंत्र राष्ट्र का विकास होता है। इस विकास मे नवयुवक किशोरों को ही सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है। अतः, स्वामी श्रद्धानंद चाहते थे कि भारतीय नवयुवक वर्णाश्रम धर्म का पालन करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सर्वप्रथम 'ब्रह्मचारी' रहें और दृढ़ चरित्र का निर्माण करें। चरित्र-निर्माण और ब्रह्मचर्य भारतीय संस्कृति का प्रमुख आधार है। महर्षि दयानंद ने विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन अत्यंत आवश्यक बतलाया है। अपनी शिक्षा-योजना में वे उच्च चरित्र-निर्माण और ब्रह्मचर्य-पालन पर बहुत बल देते हैं।[1]

४. व्यायाम और धर्म पर बल

स्वामी श्रद्धानंद विद्यार्थियों के लिए 'व्यायाम' और धार्मिक जीवन आव-

१. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ २२-२३।

श्यक मानते थे। धर्म से उनका वही लक्ष्य था, जिसे स्वामी विवेकानंद और डॉ० राधाकृष्णन् ने स्वीकार किया है। व्यायाम करने वाला स्वस्थ व्यक्ति ही, अपने धर्म का भी पालन करने में सक्षम और समर्थ होता है। शिक्षाशास्त्री रूसो स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास मानते थे। हमारे धर्मग्रंथों में भी कहा गया है.... "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्।" शरीर से तात्पर्य स्वस्थ शरीर से ही है। स्वामी श्रद्धानंद किशोरों के लिए व्यायाम अत्यंत आवश्यक मानते थे; क्योंकि ऐसे विद्यार्थी ही अपने धर्म और अपनी नैतिकता में भी विश्वास करेंगे और अंततः उसी से उनके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण होगा। स्वामी श्रद्धानंद को स्वयं भी अपनी किशोरावस्था में टहलने, घूमने, व्यायाम और धार्मिक आचरण का बड़ा शौक था। वाराणसी में विद्याभ्यास के लिए बिताए गए साढ़े चार वर्ष के स्वतंत्र जीवन में भी सवेरे गंगा-विश्वनाथ आदि मंदिरों के दर्शन देवी-देवताओं के पूजन आदि का आपको व्यसन-सा था। ६७ वर्ष की आयु में भी राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में व्यस्त कार्य के बावजूद आप बीस मिनट व्यायाम, सरसों के तेल की मालिश और टहलना तथा स्नान, उपासना, गीता एवं उपनिषद आदि के पाठ करना कभी नहीं भूले। अपनी आत्मकथा 'कल्याण-मार्ग का पथिक' के पृष्ठ १६५ में आप लिखते हैं "मुझे जाड़े में भी चारों ओर की वायु का मार्ग खोल कर सोने का अभ्यास था।" व्यायाम के संबंध में उनके ये अमृततुल्य शब्द प्रत्येक विद्यार्थी को सर्वदा स्मरण रखन चाहिए—"व्यायाम का अभाव उनके (श्रद्धानंद के पिता नानकचंद) रोगग्रस्त होने का कारण हुआ, जिससे भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठकों को भी लेनी चाहिए।"[१] स्वामी दयानंद को बरेली में उषाकाल मे एकांत में टहलते और दौड़ते देखा, स्वामी श्रद्धानंद बड़े प्रभावित हुए थे। शरीर और स्वास्थ्य-रक्षा के प्रति—इतनी गहरी आस्था के फलस्वरूप ही ये अधिक आयु तक सक्रिय रहे। उनके विरोधी, उनके विराट् और मजबूत शरीर को देखकर ही हत-प्रभ हो जाते थे। आज के विद्यार्थी समाज के लिए स्वामी दयानंद और स्वामी श्रद्धानंद का जीवन कितना प्रेरणाप्रदायक है!

५. सरल जीवन : उच्च विचार

स्वामी श्रद्धानंद का सरल जीवन और उच्च विचार में विश्वास था। विद्यार्थियों के लिए जीवन के इस सिद्धांत को वे अत्यंत आवश्यक मानते थे। वस्तुतः शिक्षा का यही आदर्श है। भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में विद्यार्थी, इसे पूरा-

---

१. कल्याण-मार्ग का पथिक, पृष्ठ १०१

पूरा पालन करते थे। स्वामी श्रद्धानंद ने भी अपनी कांगड़ी गुरुकुल की स्थापना कर, शिक्षा के इस पवित्र नियम को मूर्त्त किया।

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकेगी, जब वहाँ के नागरिकों का विचार उच्च होगा। विचारों की उच्चता के पश्चात् ही मनुष्य में मानवोचित गुणों का आविर्भाव होता है, श्रेष्ठता के लक्षण आते हैं तथा वे शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, जिनके सहारे वह अपना ही नहीं अपितु अपने समाज, राष्ट्र और विश्व तक का कल्याण करता है। जीवन में सरलता के आविर्भाव के पश्चात् ही उच्च विचारों की ओर हम उन्मुख होते हैं। अतः, श्रेष्ठ मनुष्य का लक्ष्य है कि वह 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के सिद्धांत को अपनावे और अपने जीवन में धारण करे। प्राचीन एथेंस के नगर राज्य के निवासियों का जीवन अत्यंत सरल था, फलतः उन्होने इतिहासप्रसिद्ध उन्नति की। यहूदी जनजाति के प्राण महात्मा मोसेस, जर्मन विद्वान मार्टिन लूथर, महर्षि दयानंद और महात्मा गांधी, सभी 'सरल जीवन, उच्च विचार' के सिद्धांत के पोषक ही नहीं थे, अपितु अपने जीवन में इसे धारण कर, जगत् के समक्ष इसे चरितार्थ करने वाले महापुरुष थे।

६. माता-पिता द्वारा शिक्षा

माता-पिता की शिक्षाएँ भी बड़ी मूल्यवान होती हैं, अतः विद्यार्थियों को उन्हें अपने जीवन मे अपनाना चाहिए। वस्तुतः परिवार की शैक्षणिक महत्ता को कौन अस्वीकार कर सकता है? माता-पिता, सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा-केंद्र हैं। मेरे पिताजी[1], जो स्वतः एक अत्यंत उच्च चरित्र के महान् उदार, सच्चे और धार्मिक पुरुष थे, की अमूल्य शिक्षाओं का फल मेरे व्यक्तिगत जीवन पर पड़ा है। आज, जब कभी, अपनी माताजी[2] से कुछ देर मैं बातें करता हूँ, तो उनकी निर्मल शिक्षाओं का मेरे चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है। स्वामी श्रद्धानंद के जीवन में अपने पिता एवं पितामह का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपनी आत्मकथा में, अपनी माताजी के प्रति वे कितनी आस्थापूर्ण बात लिखते हैं-- "आज मन-ही-मन पश्चाताप करता हूँ कि माता की विद्युत्रूपी स्वाभाविक शिक्षा को, दो अक्षर पढ़ लेने के अभिमान मे फँस कर, मैंने अपने आगे के जीवन में क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखा।"[3]

---

१. श्रीयुत् बाबू रामचरित्र प्रसाद, (१८८९ ई०-१९५६ ई०) डिस्ट्रिक्ट इंसपेक्टर ऑफ स्कूल्स, (१९३८ ई०-१९४५ ई०), चंपारण।
२. श्रीमती अधिकारी देवी (१८९१ ई०)
३. स्वामी श्रद्धानंद कल्याण-मार्ग का पथिक, पृष्ठ ५।

७. जो कहो, सो करो

चरित्र और व्यक्तित्व का महान् सूत्र है-- 'जो कहो, सो करो।' हमारे चरित्र की परिपक्वता तभी परिलक्षित होती है, जब हम वही करते हैं, जैसा कहते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जीवन-सिद्धांत यही था। स्वामी श्रद्धानंद ने भी कहा है 'जो कहें, सो करें।' उन्होंने स्वयं भी इस जीवन-दर्शन में विश्वास किया और अपने व्यक्तिगत जीवन में दर्शाया भी। उनके मन, वचन और कर्म में एकरूपता थी। विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए भी उन्होंने यही रास्ता बतलाया है। अपनी आत्मकथा के पृष्ठ ९१ में उन्होंने स्पष्ट लिखा भी है– "हम सबके कर्त्तव्य और मंतव्य एक होने चाहिए।"

विद्यार्थियों एवं शिक्षकों से स्वामी श्रद्धानंद यही अपेक्षा करते थे। आदर्श समाज में आदर्श नवयुवक तभी उत्पन्न होंगे, जब शिक्षक आदर्श होंगे। शिक्षकवृंद ही तो समाज की रोशनी हैं। आदर्श शिक्षक बनने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता की जरूरत है। प्रस्तुत प्रसंग में स्वामी श्रद्धानंद अपनी आत्मकथा, पृष्ठ ९५ में लिखते हैं-- "बहुत से मनुष्यों के लिए मन-परिवर्तन का निर्णायक कोई विशेष सामाजिक प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती हैं, किंतु मेरे लिए यह मत-परिवर्तन जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इस समय भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि मैं साधारण-से-साधारण सिद्धांत के प्रश्न को जीवन और मृत्यु का प्रश्न बना लेता हूँ।"

८. गुरु-शिष्य संबंध

शिक्षा-संस्थाओं की पवित्रता तभी बनी रहेगी, जब शिक्षकों और विद्यार्थियों का संबंध, मधुरता और निश्छलता की आधारशिला पर अवस्थित होगा। गुरु अपने शिष्यों को पुत्र के रूप में देखेंगे तथा शिष्य अपने गुरुओं को देव-स्वरूप। इस लक्ष्य की सिद्धि उभय पक्ष के मन-परिवर्तन और चरित्र की दृढ़ता से ही संभव है। आदर्श शिक्षा-व्यवस्था ही इस संबंध की रीढ़ है। स्वामी श्रद्धानंद ने अपने गुरुकुलों में इस शिक्षण-सिद्धांत को परिलक्षित करने की पूरी चेष्टा की।

९. शिक्षा-संस्थाएँ : आवासीय

स्वामी श्रद्धानंद ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना जनकोलाहल से दूर, ऐसे स्थान पर हो, जहाँ का वातावरण पवित्र और शांत हो। वातावरण का प्रभाव ही हमारे मन, मस्तिष्क को नियंत्रित करता है। अतः, उन्होंने 'आवासीय विश्वविद्यालयों की स्थापना' पर बल दिया। भारत के

प्राचीन शिक्षा-केंद्र सभी जनकोलाहल से दूर अवस्थित किए गए थे। किसी ज़माने में ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज-जैसे विश्वविद्यालयों की नींव भी एकांत स्थान का चयन करके ही रखी गई थी। स्वामी श्रद्धानंद ने कांगड़ी गुरुकुल या इसकी अन्य शाखाओं की स्थापना इसी उद्देश्य से की कि जन-रव से दूर, शांत पवित्र वातावरण में शिक्षक शिष्य एक साथ रहेंगे, फलतः ज्ञानोपार्जन की ओर उनका मन, मस्तिष्क स्वतः उत्प्रेरित होगा। यहाँ पर एक साथ रहने, सोचने, विचारने, बोलने और करने की पर्याप्त गुंजाइश होगी। यहाँ एक आदर्श समाज होगा जिसमें राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श फलेगा, फूलेगा, पुष्पित-पल्लवित होगा। फलतः भारत और इसके नागरिक महान् बनेंगे।

शिक्षा जनतंत्रात्मक और उपयोगी हो

अपनी शिक्षा-योजना को स्वामी श्रद्धानंद जनतंत्रात्मक आदर्शों से संपोषित बहुमुखी और उपयोगी बनाना चाहते थे। उनकी शिक्षा-योजना व्यावहारिक थी, मात्र आदर्श या कोरी कल्पना नहीं। सामान्य ज्ञान के साथ उन्होंने आयुर्वेद, कला एवं कृषि आदि के पठन-पाठन और पुस्तक-रचना पर बल दिया। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय के सिद्धात में उनकी दृढ़ आस्था थी। कांगड़ी गुरुकुल के रहन-सहन एवं वहाँ के पाठ्यक्रम-निर्धारण में शिक्षा के इस सिद्धांत को फलित होते हुए हम देखते हैं।

हिंदी के महान् उन्नायक

स्वामी श्रद्धानंद हिंदी भाषा के महान् उन्नायक थे। उर्दू के एक ओजस्वी लेखक होते हुए भी, हिंदी के प्रति आपके हृदय में असाधारण श्रद्धा थी। पंजाब में आर्य समाज द्वारा, हिंदी का जो व्यापक प्रचार हुआ, उसका समस्त श्रेय आपको ही है। हिंदी को अपनाने के बाद कभी व्यक्तिगत व्यवहार में भी आपने उर्दू अथवा अंगरेजी से काम नहीं किया। महात्मा गांधी के एक अंगरेजी पत्र का हिंदी में उत्तर देते हुए आपने उन्हें लिखा था—"जो व्यक्ति हिंदी को देश की भाषा बनाना चाहता है, उसको कोई अधिकार नहीं कि वह दूसरी भाषा में पत्र-व्यवहार करे।" तबसे महात्मा गांधी आपको हिंदी में ही पत्र लिखते थे। स्वामी श्रद्धानंद के आदेशानुसार काँगड़ी गुरुकुल के समस्त कार्यों का माध्यम हिंदी ही स्वीकृत था। हिंदी के लिए किए, महत्त्वपूर्ण कार्यों के फलस्वरूप हिंदीभाषी जनता ने आपको भागलपुर में हिंदी साहित्य संमेलन के चतुर्थ अधिवेशन पर अपना सभापति बनाया था। समेलन के सभापति-पद से किए गए स्वामी श्रद्धानंद के भाषण की सर्वाधिक विशेषता इस बात में है कि उन्होंने सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए 'मातृभाषा' शब्द

का प्रयोग किया था। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के नाते भी आपने हिंदी में ही अपना भाषण प्रस्तुत किया था। हिंदी को राष्ट्रीय महासभा के मंच पर अधिष्ठित करने का श्रेय उन्हें ही है। हिंदी में आपने श्री लेखराम की जीवनी, महर्षि दयानंद के पत्र-व्यवहार, आदिम-सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रंथों की रचना की। गुरुकुल के शिक्षकों द्वारा उन्होंने कृषिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भौतिकी और रसायन आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर उच्च-स्तर के ग्रंथों की रचना करवायी और गुरुकुल की ओर से उन्हें प्रकाशित कराया।

हिंदी, जब अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी, स्वामी श्रद्धानंद ने इसके उन्नयन हितार्थ अपना सफल प्रयास किया। हिंदी को वे राष्ट्रीय स्तर पर ले जाए। हिंदी-जगत् उनके ऋण से कभी मुक्त नहीं होगा।

हिंदी की सेवा और स्वामी श्रद्धानंद के गुरुकुल के संबंध में भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की कितनी ऊँची कल्पना थी, वह स्वामी श्रद्धानद की दशवर्षी के उपलक्ष्य में लिखे देशरत्न के इन शब्दों में स्पष्ट है—"स्वामी श्रद्धानंद जी से प्रथम परिचय का सौभाग्य मुझे भागलपुर में हिंदी साहित्य-संमेलन के समय प्राप्त हुआ। उस वक्त तक स्वामी जी ने संन्यास नहीं लिया था और महात्मा मुंशीरामजी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। गुरुकुल की स्थापना करके राष्ट्रीय पद्धति से शिक्षा देना उन्होंने बहुत पहले ही आरंभ कर दिया था और गुरुकुल का काम शान से चल रहा था। आपके हिंदी-प्रेम और हिंदी-सेवा को देख कर ही संमेलन ने सभापति के पद पर आपका निर्वाचन किया था। संमेलन को जिस खूबी के साथ आपने निबाहा, वह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। पर, स्वामीजी के और गुणों को भारतवर्ष सन् १९१९ और उसके बाद ही पूरी तरह जान सका। स्पष्टवादिता और निर्भीकता के वह मूर्तिमान रूप थे। वह निर्भीकता जिस प्रखर ज्योति के साथ अंग्रेजी सरकार के सामने चमकती थी, उसी ज्योति के साथ औरों के मुकाबले में भी उसने अपनी छटा दिखलायी थी। जो लोग काले कानून के विरोधी आंदोलन के समय दिल्ली के चाँदनी चौक में मौजूद न भी थे, उनके हृदयपट पर भी स्वामीजी की वह मूर्ति अमिट रूप से चित्रित है, जिसने सीने को अंग्रेजी गोलियों और संगीनों के सामने खोल कर हृदय की शुद्धता और निर्भीकता दिखलायी है, उसी शुद्धता ने जामा-मस्जिद की मीनार पर से उपदेश करवाया और हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का मनोरम दृश्य दिखलाया और दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता ने आततायी के हाथों शरीरपात भी कराया। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामीजी का स्थान पथप्रदर्शन का है। और, जिनको साक्षात् का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ,

उनके लिए जीवन-वृतांत पढ़ना ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने वाला है। स्वामीजी ने गुरुकुल की स्थापना करके कुछ ब्रह्मचारी विद्यार्थियों के ही शिक्षण का प्रबंध नहीं किया, अपितु उनका सारा जीवन देश के लिए एक महान् गुरुकुल का काम कर रहा है और करता रहेगा।" प्रस्तुत प्रसंग में श्री काका कालेलकर के भी ये शब्द द्रष्टव्य हैं—"स्वामी जी का उज्ज्वल सेवा-कार्य आज भी हमारे सामने प्रत्यक्ष है। दश-वर्षों के बाद भी उनका शुरू किया हुआ एक भी कार्य हमने पूरा नहीं किया है। राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा का प्रचार और हरिजन-उद्धार—ये तीनों कार्य इस क्षण भी मेरे सामने खड़े हैं। 'कल्याण-मार्ग का पथिक' जो कुछ कह गया और कर गया, उसी को इन थोड़े वर्षों में हम पूर्ण करें, तो हमारा ज़माना सचमुच कृतार्थ होगा।"

उनके शैक्षणिक विचार और उनकी शिक्षा-योजना महान् थी। सच्चे अर्थ में वे विश्व के एक महान् शिक्षाशास्त्री थे।

मन, वचन, कर्म में एकरूपता : कांगड़ी में गुरुकुल

अपने समस्त शिक्षा-दर्शन को स्वामी श्रद्धानंद ने कांगड़ी में गुरुकूल की स्थापना कर मूर्त कर दिखाया। वस्तुतः जैसा वे सोचते थे, वैसा ही कहते तथा करते भी थे। उनके मन, वचन और कर्म में एकरूपता थी। यह तथ्य ही उनके जीवन-दर्शन का आधार है।

गुरुकुल कांगड़ी, स्वामी श्रद्धानंद के शिक्षा-दर्शन की वास्तविक रंगस्थली है। उन्होंने वहाँ अपने शैक्षणिक विचारों को चरितार्थ किया। अगली पंक्तियों में हम कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना और उनके विकास पर दृष्टिपात करेंगे।

(क) कांगड़ी में गुरुकुल की नींव

हरिद्वार के पास कांगड़ी नामक स्थान में २ मार्च, १९०२ ई० को गुरुकुल की नींव रख स्वामी श्रद्धानंद ने आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानंद के शिक्षा-दर्शन को तो मूर्त रूप दिया ही, भारत के उन प्राचीन विद्या-केंद्रों का स्मरण भी करा दिया जो अपनी धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवन, ज्ञान गरिमा एवं प्रकाश-पुंज के लिए वैदिक, ब्राह्मण, बौद्ध तीनों कालों में विश्व में प्रसिद्धि पाते रहे। आध्यात्मवाद, आत्मनिग्रह, आत्मसंयम आदि सद्गुण भारत के वैदिक और ब्राह्मणकालीन गुरुकुलों तथा बौद्ध विहारों की विशेषता थी। इसी आदर्श को कांगड़ी गुरुकुल में परिलक्षित करना स्वामी श्रद्धानंद का लक्ष्य था। अतः, मात्र चौंतीस बालकों के साथ हिंसक जीव-जंतुओं से घिरे हुए कांगड़ी नामक स्थान के सघन वन में पहुँच कर उन्होंने अपने 'शैक्षणिक विचारों की जड़ जमायी, उसे मूर्तिमान किया

श्रौर एक ऐसा मौलिक तथा महान् कार्य कर दिखाया, जिस पर आज हम भारतीय गर्व करते हैं।

देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल शिक्षा-पद्धति में भी संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन किया जाए, ऐसा विचार देश के सभी क्षेत्रों के नेता स्वीकार कर रहे थे। परंतु, अपने विचारों और सिद्धांतों को एक मूर्त रूप में जनता के समक्ष रखने की शक्ति स्वामी श्रद्धानंद-जैसे कुछ दृढ़निश्चयी महापुरुषों में ही थी। गुरुकुल में पढ़ने के लिए उन्होंने अपने दो पुत्र, (श्री हरिश्चंद्र और श्री इंद्रचंद्र) को वहाँ का विद्यार्थी बनाया। अगस्त, १८९८ ई० में 'प्रचारक' पत्र में उन्होंने इस बात की घोषणा की कि जब वे तीस हजार रुपए इस कार्य के निमित्त इकट्ठा नहीं कर लेंगे, घर में पैर नहीं रखेंगे। जालंधर से २६ अगस्त, १८९८ ई० को इस पवित्र कामना की पूर्ति हेतु वे अपनी वकालत पेशा को त्याग, देशाटन के लिए निकल पड़े।

सज्जनवृंद और मित्रमंडली की ओर से इस प्रयास में कहीं-कहीं निराशा भी मिली, बीमार भी पड़े। परंतु, इस विरोधी वातावरण से वे कभी हतोत्साहित नहीं हुए। आप श्रद्धा, लगन और आस्था की भावना से कार्य कर रहे थे। वस्तुतः वे पतनोन्मुख भारतीय समाज का कल्याण और प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार चाहते थे। 'विद्यार्थियों को ब्रह्मचारी रह कर विद्योपार्जन करना चाहिए' इस सिद्धांत में उनका पूर्ण विश्वास था। स्वामी दयानंद के शैक्षणिक आदर्शों पर दृढ़ आस्था रखने के कारण, उनका विश्वास, दृढ़तर भी हो चुका था। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वामी श्रद्धानंद अपनी योजना के साथ आगे बढ़ते गए। शिक्षा की इस राष्ट्रीय योजना का भारत में स्वागत भी खूब हुआ। अफ्रीका प्रवासी आर्यों ने भी अपने उत्साह का परिचय दिया। ८ अप्रील, १९०० ई० तक उन्हें अपने कार्य में बहुत सफलता मिल गई। इस कार्य के लिए उनके पास प्रायः चालीस हजार रुपए जमा हो गए थे।

(ख) महात्मा का पद

स्वामी श्रद्धानंद के इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अच्छी सफलता से आर्य-जगत् में बड़ा हर्ष छा गया। उनका हार्दिक अभिनंदन हुआ। उन्हें अब 'महात्मा' का पद दिया गया। अपने पवित्र लक्ष्य और आदर्श व्यक्तित्व के फलस्वरूप श्री मुंशीराम 'महात्मा मुंशीराम' के नाम से अब सुविख्यात हुए। महात्मा का पद भी उनके लिए छोटा ही कहा जाएगा। गुरुकुल की स्थापना के लिए आपने वस्तुतः अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था। भारत में विद्याप्रसार की तीव्र वेदना रूपी आग में आपके तन, मन, धन, आशा, आकांक्षाएँ सभी होम हो चुके थे।

(ग) पठन-पाठन प्रारंभ

गुरुकुल की स्थापना के लिए बहुत वर्षों से स्वामी श्रद्धानंद स्थान ढूँढ़ रहे थे। गुरुकुल की स्कीम आदि वे पहले ही तैयार कर चुके थे। आर्य भाइयों ने उनको ही इसका अधिष्ठाता बनाया था। स्कीम के कार्यान्वयन की पूरी जिम्मेवारी इन्हीं को सौंपी गई थी। हरिद्वार के पास चंडी पर्वत की तराई का स्थान स्वामी श्रद्धानंद को बहुत जँचा था। इस स्थान पर जमीन खरीद कर गुरुकुल की स्थापना की बात हो रही थी कि नजीबाबाद के रईस चौधरी अमन सिंह ने इस पवित्र कार्य के लिए उसी स्थान के समीप, जहाँ गुरुकुल की स्थापना की बात सोची जा रही थी, अपना कांगड़ी गांव और उसके आस पास की बारह सौ बीघा जमीन देने को कहा। स्वामी श्रद्धानंद और उनके सहयोगियों को इस दान से बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा निश्चय किया गया कि आगामी २१, २२, २३ और २४ मार्च, सन् १९०२ ई० को गुरुकुल का उद्‌घाटनोत्सव मनाया जाए। परंतु, हरिद्वार में प्लेग फैल जाने के कारण सार्वजनिक रूप से उत्सव मनाने का कार्य क्रम रद्दी करना पड़ा, तथापि बिना निमंत्रण के ही उक्त अवसर पर चार-पाँच सौ स्त्री-पुरुष पधारे थे। गुजरावाले से ब्रह्मचारी विद्यार्थी, भी कांगड़ी आ गए थे। फाल्गुन पूर्णिमा को पैंतालीस ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का वेदारंभ-संस्कार हुआ और चैत्र बदी प्रतिपदा को कांगड़ी के इस गुरुकुल में पठन-पाठन प्रारंभ हो गया। तब से शनैः-शनैः गुरुकुल का आकार-प्रकार बढ़ता ही गया। स्त्री-शिक्षा के प्रचारार्थ कंया गुरुकुलों की भी व्यवस्था की गई।

(घ) गुरुकुल की शाखाएँ

स्वामी श्रद्धानंद के जीवनकाल में ही विभिन्न स्थानों में कांगडी गुरुकुल की शाखाएँ खुलीं। सर्वप्रथम मुलतान में गुरुकुल की शाखा बनी। दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में स्थापित हुई। देहली से बारह मील की दूरी पर गुरुकुल इंद्रप्रस्थ, रोहतक जिले में गुरुकुल महिण्डू, लुधियाना जिले में गुरुकुल रायकोट, गुजरात प्रांत में गुरुकुल विद्यामंदिर-सूपा आदि भी क्रमशः स्थापित होते गए। ज्वालापुर, वृंदावन, सासनी और देहरादून आदि स्थानों में भी गुरुकुल की शाखाएँ खोली गईं।

(ङ) विश्वविद्यालय का रूप

सन् १९१२ ई० में कांगड़ी गुरुकुल ने विश्वविद्यालय का रूप धारण किया, जब कि दो स्नातकों को 'विद्यालंकार' की पदवी से विभूषित कर उनको प्रमाणपत्र दिया गया। प्रमाणपत्र के लिए, दीक्षांत समारोह बहुत धूमधाम से मनाया जाता था। उस समय आचार्य का भाषण होता था। सर्वप्रथम दीक्षांत समरोह के अवसर पर स्वामी श्रद्धानंद ने कांगड़ी के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए निम्नांकित

शब्द कहे थे—"यज्ञरूप परमात्मा धन्य है, जिसकी अपार कृपा से आर्य समाज के रचे हुए इस ब्रह्मचर्य-आश्रमरूपी महान् यज्ञ का पहला चरणआज समाप्त होता है। आर्य जाति का कौन ऐसा सभासद है, जिसे सहस्रों वर्षों से लुप्त हुए उस दृश्य का आज पुनः प्रदर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो। गुरुकुल के स्नातको ! तुम गुरुकुलरूपी वृक्ष के पहले फल हो। सारे सभ्य संसार की आँख तुम पर लगी हुई है। परमात्मा आशीर्वाद करें कि तुम संसार में धर्म और शांति फैलाने के साधन बन कर अपने कुल के यश को सारे संसार में फैलाओ। तुम्हारा कर्त्तव्य इस कारण भी अधिक है कि पीछे आने वाले स्नातक तुम्हारा अनुकरण करेंगे। उनके लिए केवल तुम ही आदर्श होगे। मैं जानता हूँ कि तुमको बड़ी कठिनाई होगी, जब कि तुम्हारे लिए इस समय कोई जीवन-आदर्श नहीं है। परंतु, मुझे पूर्ण आशा है कि तुम्हारे आचार्य और उनके दूसरे सहकारियों ने जो-जो प्रयत्न तुम्हारी शिक्षा पूर्णतया फलदायक बनाने के लिए किए हैं, वे अवश्य अत्युत्तम फल लावेंगे और तुम पीछे आने वाले स्नातकों के लिए एक अत्युच्च आदर्श बनोगे। मैं आज आर्य समाज को भाग्यशाली समझता हूँ, जिसके लगातार यत्नों को सफलता प्राप्त हुई है। आर्य समाज के लिए जिन सभासदों और सेवकों ने कठिन-से-कठिन आँधियों का भी सामना करते हुए अपने विश्वास को दृढ़ रखा, उन्हें आज अपना सिर परमात्मा के सामने धन्यवाद के साथ झुका देना चाहिए। इस यज्ञमंडप में उपस्थित देवियों और सभ्य पुरुषों से मेरी प्रार्थना है कि वे सब एकत्रित हो कर इन स्नातकों को आशीर्वाद दें, जिससे वे अपने धर्म और अपने देश के यश को देश-देशांतरों में पहुँचाने में कृतकार्य हों। हे करुणामय दयालु पिता ! तुम वीर्य और ज्योति के भंडार हो। हम सबको बल दो कि हम वीर्यवान हो कर उस तेज को धारण करें, जिसके दृश्य-मात्र से सब दुःख हमसे दूर हो जाएँ।"

कितने हृदयग्राही, भावपूर्ण और ऊँची कल्पना युक्त स्वामी श्रद्धानंद के ये संदेश हैं !

(च) गुरुकुल का आंतरिक दैनिक जीवन

कांगड़ी गुरुकुल का आंतरिक और दैनिक जीवन का रूप पारिवारिक था। पारस्परिक प्रेम और मर्यादा के आधार पर संपोषित यहाँ के गुरु-शिष्य सदैव ज्ञानोपार्जन में संलग्न रहते थे। सादा जीवन, उच्च विचार की भावना से वे विद्योपार्जन करते थे। स्वामी श्रद्धानंद का विराट् व्यक्तित्व सदैव उनका मार्ग-दर्शन करता था।

स्वामी श्रद्धानंद का गुरुकुल के विद्यार्थियों के साथ एक पिता का व्यवहार होता था। उनको विद्यार्थियों की पढ़ाई-लिखाई, उनके स्वास्थ्य एवं उनके चरित्र आदि समस्त बातों की प्रगति की चिंता रहा करती थी। उन्होंने गुरुकुल के संगठन

एवं प्रगति हितार्थ अपने को वस्तुतः होम कर दिया था। उनके इन सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप ही गुरुकुल भारत में लोकप्रिय बनता गया। इस शिक्षण संस्था को देखने के लिए दूर-दूर के विद्वान आने लगे। भारतीय आर्य जनता के अलावा विदेशी भी कांगड़ी की इस पवित्र भूमि में पधारे। अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी का कमीशन आया था और यहाँ का पवित्र, संगठित तथा मर्यादापूर्ण जीवन देख कर अत्यंत प्रभावित हुआ था।

कांगड़ी गुरुकुल के विद्यार्थियों का त्यागपूर्ण आदर्श, तपोमय जीवन और स्वामी श्रद्धानंद का महान् व्यक्तित्व, दोनों का ऐसा विलक्षण समन्वय हुआ था कि भारतीय अथवा विदेशी जो भी यहाँ आते थे, इस शिक्षा संस्था के अपने बन जाते थे। मि० एंड्रूज और महात्मा गांधी कांगड़ी गुरुकुल के वातावरण से अत्यंत प्रभावित हुए थे। महात्मा गांधी के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थी तो महीनों तक यहाँ के अतिथि थे। श्री गोपालकृष्ण गोखले और श्री मेकडानल्ड की भी स्वामी श्रद्धानंद और उनकी कीर्ति इस गुरुकुल में बड़ी श्रद्धा एवं लगन थी।

यहाँ शिक्षा का आधार हिंदी को स्वीकार किया गया था। सरल जीवन और उच्च विचार के शैक्षणिक सिद्धांत में विश्वास करने वाले, ब्रह्मचारी विद्यार्थी और शिक्षक, जनतंत्रात्मक जीवन का उदाहरण पेश करते हुए एक साथ शाकाहारी, सादा तथा पवित्र भोजन करते थे। स्वामी श्रद्धानंद के अथक परिश्रम के फलस्वरूप भारतीय संकृति यहां मूर्त रूप में उपस्थित थी।

स्वामी श्रद्धानंद गुरुकुल की शाखाओं से देश को पूर्ण करना चाहते थे। उनका लक्ष्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय को कुछ ऐसा रूप देने को था, जिससे इसका रूप अंतर्राष्ट्रीय होता। विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग, कला तथा कृषि विभाग आदि को वे विशेष संगठित करना चाहते। वे गुरुकुल के विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजने का भी विचार रखते थे। कतिपय कारणों से वे अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पाए, तथापि इस महान् तपस्वी शिक्षाशास्त्री की दूरदर्शिता के समक्ष हम सदैव नतमस्तक रहेंगे।

(छ) गुरुकुल से विछोह

कांगडी गुरुकुल को एक सुव्यवस्थित विश्वविद्यालय का रूप दे कर स्वामी श्रद्धानंद ने अब 'संन्यासाश्रम' में प्रवेश करना चाहा। गुरुकुल के एक सीमित क्षेत्र से उनकी तबियत संभवतः हटने लगी थी। अब वे चिंतन, मनन और धर्म-चर्या का जीवन चाहने लगे थे। एकांतवास उन्हें विशेष पसंद आया। गुरुकुल के शांत, पवित्र वातावरण में कुछ उद्विग्नता भी आ गई थी। अतः, इसके संगठन का उत्तरदायित्व

अन्य सज्जनों पर छोड़ ६ अप्रील, १९१७ ई० को महात्मा मुंशीराम 'श्रद्धानंद संन्यासी' बन गए।

(ज) पुनः गुरुकुल में : पुनः अलगाव

निश्छल प्रेम का बंधन तोड़ना कुछ साधारण काम नहीं। स्वामी श्रद्धानंद संन्यासाश्रम में प्रवेश करने पर भी अपनी उस प्यारी शिक्षा-संस्था से बिल्कुल विलग नहीं हो सके। जिस रंगस्थली में उन्होंने एक दिन सायंकाल, अपने मात्र चौंतीस विद्यार्थियों के साथ पदार्पण किया था, वहाँ के जंगलों को साफ किया था; हिंसक जीव-जंतुओं को भगाया था, वहाँ से एकाएक हटना क्या संभव था? कई क्षेत्रों से, आपसे जब आग्रह किया गया कि आप पुनः कांगड़ी आवें और इस गुरुकुल का उत्तरदायित्व सँभालें, तो आप उसे अस्वीकार नहीं कर सके। ११ फरवरी, सन् १९२० ई० को 'कुलपति' की हैसियत से आपने पुनः गुरुकुल में पदार्पण किया। इसकी उन्नति में भी आज से ही लग गए। २३ जुलाई, सन् १९२० के 'श्रद्धा' के अंक में उन्होंने गुरुकुल के लिए बीस लाख रुपयों की अपील की थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बर्मा देश तक का दौरा किया और साठ हजार रुपए गुरुकुल हितार्थ ले आए। परंतु, कतिपय सहयोगियों के साथ पारस्परिक मतभेदों के कारण कुलपति स्वामी श्रद्धानंद ने अपने को पुनः अलग कर लिया। अपने को अलग करने में भी उनकी यही इच्छा थी कि इस शिक्षण-संस्था की सर्वप्रकारेण उन्नति हो।

(झ) शिक्षा-जगत को देन

स्वामी श्रद्धानंद के अथक परिश्रम, अपूर्व साहस, अटूट धैर्य, त्याग, तपस्या से युक्त कर्मठ जीवन का सुफल कांगड़ी गुरुकुल 'एक विश्वविद्यालय' के रूप में ज्ञान की आभा से आज हजारों किशोरों को रास्ता दिखला रहा है। सत्रह वर्षों तक वे गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता, आचार्य और कुलपति के रूप में सेवा करते रहे। शहीद होने के दिन (२३ दिसंबर, १९२६ ई०) तक भी वस्तुतः आप अपने द्वारा संपोषित गुरुकुलों से बिल्कुल अलग हो गए हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गुरुकुल इंद्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता के आग्रह पर ता० ८ दिसंबर, १९२६ ई० को कुरुक्षेत्र गए थे। अमर पद की प्राप्ति के जिन भी कन्या गुरुकुल की आचार्या विद्यावती जी से आपने भेंट की थी। बलिदान के तीसरे दिन जो आपकी अर्थी का अभूतपूर्व जुलूस निकला था, उसमें हरिद्वार से गुरुकुल कांगड़ी के प्रायः सभी ब्रह्मचारी और कार्य-कर्त्ता कुलपति के अंतिम दर्शनार्थ दिल्ली आए थे।

कांगड़ी गुरुकुल से स्वामी श्रद्धानंद का जीवन किस प्रकार संबद्ध था, इसकी संक्षिप्त चर्चा मैंने पिछले पृष्ठों में की है। गुरुकुल के आंतरिक वातावरण एवं

संगठन में उतार-चढ़ाव से उनका हृदय और मस्तिष्क समय-समय पर किस प्रकार प्रभावित होता रहा, उसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन, उनकी जीवनी में उल्लिखित है।[1] विद्यार्थियों एवं शिक्षाप्रेमियों के लिए उसे मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भ्रम और विरोध

"अल्प रूप में आरंभ किए गए इस महान् कार्य को सफलता तक पहुँचाने के लिए महात्माजी को आदि से अंत तक बराबर विरोधी परिस्थिति में से ही होकर गुजरना पड़ा था। एक तो गुरुकुल को कालेज-दल वालों ने अपने मुकाबले में खड़ी की गई संस्था समझकर उसके संबंध में भ्रम फैलाने और उसका विरोध करने में कोई बात उठा नहीं रखी। गुरुकुल की स्थापना होने के बाद पहिले ही वर्ष में पंजाब में कुछ इस प्रकार की निराधार बातें फैलायी गई थीं कि गुरुकुल में भोजन का ठीक प्रबंध नहीं है, मकानों में नमी बहुत अधिक है, बीमारों की देखरेख का कोई प्रबंध नहीं है, सब ब्रह्मचारियों के पेट फूल आए हैं, दस ब्रह्मचारियों की मृत्यु हो चुकी है और ७५ सैंकड़ा इस वर्ष में काल के ग्रास हो जाएँगे। ऐसी निराधार बातों का निराकरण 'प्रचारक' द्वारा निरंतर किया जाता रहा। उनसे हानि तो अवश्य हुई, किंतु ऐसी हानि नहीं हुई, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

विरोधी दल वालों की अपेक्षा अपने ही दल के लोगों द्वारा विरोध निस्संदेह ऐसा था, जो गुरुकुल की उन्नति और उसके विकास के लिए वास्तव में बाधक साबित हुआ। कुछ लोग तो सभी स्थानों में ऐसे होते हैं, जिनको भले कार्यों का विरोध किए बिना संतोष नहीं होता। संभवतः ऐसे ही कुछ लोगों ने गुरुकुल की स्थापना होते ही उसके मार्ग में कांटे बखेरने शुरू कर दिए थे। महात्माजी पर गबन और कई रकमें बेजा खर्च करने का भी दोष लगाया गया था। सन् १९०५ तक के प्रतिनिधि-सभा और गुरुकुल के आय-व्यय को लेकर संदेह, भ्रम तथा विरोध का इतना बड़ा तूफान खड़ा किया गया कि २७ मई, १९०५ की प्रतिनिधि-सभा में सभा के प्रधान होते हुए भी उनके प्रतिकूल इस आशय के प्रस्ताव उपस्थित किए गए कि--"सात प्रतिनिधियों द्वारा पेश की गई निम्नलिखित बातों के लिए जाँच कमिटी नियुक्त की जाए— (१) लाला मुंशीराम इस योग्य नहीं हैं कि उन पर सार्वजनिक कामों के लिए दान में दिए जाने वाले रुपए के संबंध में विश्वास किया जा सके; क्योंकि उन्होंने आर्य-प्रतिनिधि-सभा के १४ हजार रुपए का गबन किया है; और (२) न लाला मुंशीराम किसी धार्मिक संस्था के जिम्मेवार और विश्वसनीय पद के अधिकारी बनाए जाने के योग्य हैं; क्योंकि अपने विरोधी सज्जनों पर झूठे दोष लगाने तथा

---

१. श्री सत्यदेव विद्यालंकार : 'स्वामी श्रद्धानंद'।

उनको गढ़ने की उनकी आदत है, जिससे सर्वसाधारण में उनके विरोधियों की कुछ प्रतिष्ठा न रहे।" पर, प्रतिनिधि-सभा में विरोधियों की दाल नहीं गली। ४४ के विरुद्ध १७ संमतियों से यह प्रस्ताव गिर गया। उसके बाद विरोधियों ने समाचार-पत्रों में गंदगी फैलाना और पैम्फलेट छाप कर बँटवाना शुरू किया। विरोधियों की हरकतें जब अति पर पहुँच गईं, तब महात्माजी ने 'दुखी दिल की पुरदर्द दास्तान' के नाम से कोई छह सौ पृष्ठ की पुस्तक लिख कर उस विरोध के तूफान को शांत किया। इन विघ्न-संतोषी लोगों का दल बाद में धवन-पार्टी की त्रिमूर्ति के नाम से मशहूर हुआ, जो 'आर्यपत्रिका' द्वारा समय-समय पर गुरुकुल पर प्रायः धावा बोलता रहा।

"विरोध और भ्रम पैदा करने वालों में ऐसे लोग भी कुछ कम नहीं थे, जो गुरुकुल से किसी कारणवश पृथक् किए गए थे। ऐसे अलग किए हुए अध्यापकों तथा अधिष्ठाताओं ने कनखल-हरिद्वार में महीनों डेरा जमा कर गुरुकुल की जड़ों को उखाड़ने का यत्न किया। पर, वे भी अपने यत्नों में सफल नहीं हो सके। महीनों महात्माजी की गोद में बच्चों की तरह पलने वाले, आर्यसमाज की शरण में आकर मियाँ से आर्य बनने वाले अब्दुलगफूर उर्फ 'धर्मपाल' ने भी गुरुकुल के विरुद्ध कुछ कम उपद्रव नहीं मचाया। आर्य समाज में उसने जो गंदगी फैलायी थी, उसमें कमीनेपन की हद कर दी गई थी। गंदगी और कमीनेपन का वैसा उदाहरण कहीं ढूँढने पर भी मिलना संभव नहीं। गुरुकुल से गबन के अपराध में निकाले गए गोविंदराम, अपनी ही करतूतों से मौकूफ हुए। नारायणदास और सरदार गुरुबख्श सिंह आदि को शिखंडी बना कर धर्मपाल ने अपने पत्र 'इंद्र', 'पतींद्र' और 'अर्जुन' द्वारा गुरुकुल पर काले बादलों का घटाटोप पैदा करने में कोई कसर नहीं रखी, किंतु महात्माजी ने बरसने से पहिले ही इस घटाटोप को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

"इस प्रकार किए जाने वाले अधिकांश आक्षेप मनोरंजन की ही सामग्री होते थे, किंतु उनके भी निराकरण के लिए महात्माजी को 'प्रचारक' के कई पृष्ठ काले करने पड़ते थे। संवत् १९६५ में ऐसे आक्षेप किए जाते थे कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी मूँछ-दाढ़ी मुंड़वाते और बाल सँवारते हैं, उनको घोड़ों की सवारी सिखायी जाती है, वे साबुन लगाते हैं, उनको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, वे अंग्रेजी ढंग के खेल खेलते हैं, उनको इतिहास तथा भूगोल पढ़ाया जाता है, साइंस की पढ़ाई पर अधिक खर्च किया जाता है, अध्यापक ही परीक्षा लेते हैं और शिक्षा मुफ्त नहीं दी जाती। इन आक्षेपों के उत्तर में महात्माजी को संवत् १९६५ के ८ श्रावण के 'प्रचारक' में

कोई ५ पृष्ठ का लेख लिखना पड़ा था। वैसे भी प्रत्येक वर्ष में एक वार तो उनको विरोधियों के प्रतिकूल खड्गहस्त होना ही पड़ता था।

"जिस लेख की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उसके आरंभ में महात्मा जी ने लिखा था—"आर्य समाज के अंदर ही ऐसे विश्वासघाती पुरुष विद्यमान हैं, जिन्होंने अपने-आप को गुरुकुल का हितैषी प्रसिद्ध करते हुए उसको जड़ से उखाड़ने का बीड़ा उठा लिया है। स्वार्थ ने ऐसे पुरुषों को अंधा कर दिया है।" संवत् १९६७ के माघ मास में 'प्रचारक' में १५ पृष्ठ का लेख ऐसे ही आक्षेपों के निराकरण के लिए लिखा गया था, जिसका शीर्षक था—"बड़े-से-बड़े जत्थों के आक्रमण से भी परमात्मा ने गुरुकुल की रक्षा की है' और उसका आरंभ किया गया था; 'मन्यु रसि मन्युं मयि धेहि' की वैदिक प्रार्थना से, जिससे पता लगता है कि उस समय ये आक्षेप सभ्यता की मर्यादा का भी अतिक्रमण कर गए थे। उस लेख की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये थीं—"ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिए जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उसके प्रबंध-संबंधी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना आरंभ किया था, उसी दिन से गुरुकुल पर वज्र-प्रहार शुरू हो गए थे। अपनों और वेगानों, आर्यों और अनार्यों—सभी प्रकार के पुरुषों ने उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किए। किंतु, जब गंगा-तट पर पहुँच कर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेदमंत्रों की ध्वनि से गुँजाना शुरू किया, तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही नहीं रही। हर तीसरे महीने गुरुकुल की समाप्ति सूचक विचित्र भविष्यवाणियाँ सुनने में आती रहीं। जत्थों पर जत्थे इसको गिराने के लिए बने, आक्रमणों पर आक्रमण हुए, जिनसे न केवल इसके सेवकों के ही बदन चलनी-से बन गए, प्रत्युत् उन चोटों के निशान गुरुकुल की संस्था और उसके प्रबंध पर भी अब तक लगे हुए हैं।" इन उद्धरणों से पता लगता है कि किस विरोधी परिस्थिति में लंका में विभीषण की तरह महात्माजी को गुरुकुल के संचालन का काम करना पड़ता था। यह उनके ही धैर्य और उनकी हिम्मत का काम था कि ऐसे विरोध में भी वे इतने वर्षों तक अपने कर्त्तव्य-पालन में बराबर लगे रहे।"

गुरुकुल और प्रकाश-पार्टी

"इस धैर्य और हिम्मत के सामने तब सहसा ही सिर झुक जाता है, जब यह देखने में आता है कि गुरुकुल की स्वामिनी प्रतिनिधि-सभा और उसकी प्रबंधकारिणी अंतरंग-सभा भी महात्माजी के लिए उतनी सहायक सिद्ध नहीं हुई, जितनी कि होनी चाहिए थी। गुरुकुल की समर्थक लाहौर की प्रकाश-पार्टी की भी गुरुकुल के प्रति प्रायः टेढ़ी ही दृष्टि रही। गुरुकुल का काम करते हुए यह शिकायत महात्मा

जी को बराबर रही कि प्रतिनिधि-सभा अथवा अंतरंग-सभा गुरुकुल को यथेष्ट समय नहीं दे सकी। २८ वैशाख संवत् १९६८ के 'प्रचारक' में 'गुरुकुल के साथ सच्चे प्रेम का प्रमाण दीजिए' शीर्षक से लिखे गए लेख में आपने लिखा था—"जो माता शरद् ऋतु में बिछौना गीला हो जाने पर बच्चे का रोना सुन उसके मुँह, नाक, कान को कपड़ों से बंद करके उसकी छाती से जकड़ कर उसका गला घोंट देती है, उसे भी तो बच्चे से अगाध प्रेम होता है। किंतु उसका प्रेम बच्चे में जीवन डालने के स्थान में उसका काम ही तमाम कर देता है।.........अब गुरुकुल प्रतिनिधि-सभा की अन्य कार्यवाहियों के साथ एक पुछल्ला-सा बना हुआ है। प्रतिनिधि की अंतरंग-सभा प्रचारादि अन्य विषयों के विचार में जितना समय लगाती है, उसका चौथाई समय भी गुरुकुल-संबंधी बड़े-से-बड़े गंभीर विषय के विचार के अर्पण नहीं कर सकती। सभा के सभासद इस त्रुटि को जानते हैं, किंतु गुरुकुल के साथ उनका इतना अगाध प्रेम है कि वे उसको अपने से थोड़े काल के लिए भी जुदा करने को तैयार नहीं, भले ही इस थोड़े समय की जुदाई से उनके प्यारे गुरुकुल को शुद्ध वायु के सेवन से बल मिलने तथा स्वस्थ होने की ही संभावना क्यों न हो। प्रतिनिधि की अंतरंग-सभा को वैदिक धर्म के प्रचार, शुद्धि, शास्त्रार्थ आदि विषयों पर बहुत ध्यान देना है, उसको न शिक्षा-संबंधी विषयों पर विचार करने के लिए समय ही मिलता है और न वह उन पर ठीक प्रकार विचार ही कर सकती है।.........मेरी संमति में सभा के सभासद केवल अविद्या के कारण इस समय अपने कर्त्तव्य-पालन से गिरे हुए हैं।" इससे भी बड़ी शिकायत महात्माजी को यह थी कि प्रतिनिधि-सभा और अंतरंग-सभा के सभासद लाख-सवा-लाख का बजट तो पास कर देते हैं, किंतु उसकी पूर्ति के लिए कभी कोई भी सदस्य सचाई और ईमानदारी से यत्न नहीं करता। इस शिकायत या कठिनाई को दूर करने के लिए आपने सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि प्रतिनिधि-सभा के ही आधीन गुरुकुल के प्रबंध के लिए एक अलग प्रबंधकर्त्ती-सभा नियत की जाया करे, जो गुरुकुल के विषय में सोचा तथा काम किया करे। उस सभा में प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों, संरक्षकों, स्नातकों और दान-दाताओं आदि के प्रतिनिधि तथा वैदिक-साहित्य आदि विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् रखने का आपका प्रस्ताव था। वह सभा एक प्रकार से विद्या-आर्य-सभा ही होती, जो गुरुकुल की प्रबंध-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ प्रतिनिधि-सभा के अधीन शिक्षा-संबंधी सभी संस्थाओं का प्रबंध किया करती। इस प्रस्ताव की उपयोगिता के संबंध में महात्माजी ने कितने ही लेख लिखे थे। दस-बारह वर्षों से भी अधिक लंबे समय तक यह प्रस्ताव प्रतिनिधि-सभा के विचाराधीन प्रस्तावों की फाइल

में पड़ा रहा : ईस्वी सन् १६११ की २७ मई की प्रतिनिधि-सभा के वार्षिक अधिवेशन में उस पर केवल एक बार वाद-विवाद ही हुआ था, संमतियाँ उस अधिवेशन में भी नहीं ली गई थीं ।

उक्त अधिवेशन में हुआ वह विवाद कई दृष्टियों से बड़ा ही मनोरंजक है और महात्माजी के मार्ग की कठिनाइयों पर भी उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है । श्री पंडित विश्वंभरनाथ जी बी० ए० ने, जो महात्माजी के संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुए थे, उस विवाद में कहा था—"प्रतिनिधि-सभा का प्रथम उद्देश्य वेद तथा अन्य प्राचीन आर्य ग्रंथों के लिए विद्यालय खोलना है । इसमें गुरुकुल को एक शिक्षणशाला (एजुकेशनल इंस्टीट्यूशन) कहा गया है, ऐसी किसी भी शिक्षणशाला के खोलने का अधिकार इस सभा को नहीं है ।.... यह याद रखना चाहिए कि विद्या का फलाना प्रतिनिधि-सभा का कोई उद्देश्य नहीं है ।" महाशय कृष्ण जी बी० ए० ने ऊपर की बातों का समर्थन करते हुए कहा था —"गुरुकुल के अधिकारी गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, यह बहुत बुरा है और सभा के उद्देश्यों के सर्वथा बाहर है ।" लाला काशीराम और महता जैमिनी आदि ने भी ऊपर के विचारों का समर्थन किया था । इन विचारों से यह स्पष्ट है कि अंतरंग-सभा का एक दल; जिसको इसी विवाद में महाशय कृष्णजी ने प्रकाश-पार्टी का नाम दिया था, गुरुकुल को केवल वेद पढ़ाने की छोटी-सी चटशाला बनाए रखना चाहा था । वह उसको महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय बनाने के विरुद्ध था । महात्माजी ने इसी विवाद में बहुत साफ शब्दों में कह दिया था—"गुरुकुल जिस मार्ग पर चल रहा है, उससे वह एक विश्वविद्यालय ही बनेगा । अब तक भी वह बहुत कुछ उसी ओर बढ़ा है । वेदों और वेदांगों की पढ़ाई के मुख्य रहने पर भी वहाँ अन्य विद्याओं की पढ़ाई को स्थान दिया जाएगा । कारण इसका यह है कि सब अन्य विद्याएँ वेदों के समझने के लिए साधन-रूप हैं । गुरुकुल में कृषि-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, रसायन तथा अन्य सब कलाएँ एवं विज्ञान सिखाए जाएँगे और सिखाए जाते हैं । यदि प्रतिनिधि-सभा इसे अपने उद्देश्यों के प्रतिकूल समझती है, तो उससे इसी वर्त्तमान गुरुकुल को बंद कर देना चाहिए : जो सज्जन कार्यकर्त्ताओं पर यह दोष लगाते हैं कि वे भविष्य में गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि इस समय भी गुरुकुल यूनिवर्सिटी ही बन रहा है ।"

गुरुकुल को संस्कृत की चटशाला अथवा विविध विषयों के अध्ययन के लिए एक आदर्श शिक्षणलय बनाने के दृष्टिकोण में भेद बढ़ता चला गया । समाचारपत्रों

में भी उस दृष्टिभेद की चर्चा होने लगी। 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्य के संबंध में महाशय कृष्ण जी ने कई लेख लिखे। 'प्रचारक' में 'प्रकाश और गुरुकुल' के शीर्षक से लिखे गए लेखों में उनका उत्तर दिया गया और महाशय कृष्ण जी के आंदोलन के तरीके को 'भयानक प्रकार' बताया गया, किंतु उनका यह 'भयानक प्रकार' लगातार कई वर्षों तक जारी रहा। २२ कार्तिक संवत् १९६८ के 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्यों के विषय में कई एक काल्पनिक परिभाषाएँ गढ़ कर गुरुकुल के कार्यकर्ताओं पर रोष भी प्रकट किया गया और यह भय भी प्रगट किया गया कि गुरुकुल ब्राह्मण न पैदा कर के वैश्य पैदा करने में लग रहा है। उसी समय 'प्रचारक' में लिखा गया था—"प्रकाश के संपादक महाशय कृष्ण जी गुरुकुल की स्वामिनी प्रतिनिधि-सभा के सभासद हैं, गुरुकुल की प्रबंधकारिणी अंतरंग-सभा के भी वे सदस्य हैं और इससे भी बढ़ कर आप उसके उपमंत्री हैं। यदि गुरुकुल के विषय में आपको कोई शिकायत है और यदि गुरुकुल के वर्त्तमान कार्यकर्त्ताओं की किन्हीं चेष्टाओं से आप रुष्ट हैं, तो आपके लिए कई रास्ते खुले हैं और वे कई रास्ते इस वर्त्तमान रास्ते से बहुत प्रिय, बहुत लाभदायक और बहुत सुलभ हैं।" पर, 'प्रकाश'-संपादक ने प्रिय, लाभदायक और सुलभ मार्ग का अवलंबन न करके 'प्रकाश' के कालमों का अप्रिय, हानिकारक तथा जटिल मार्ग ही पकड़े रखा। संवत् १९७१ के माघ मास में फिर 'प्रकाश' में यह भय प्रकट किया गया कि गुरुकुल वेद की पढ़ाई को अप्रधान बना कर लुहारी-तरखानी के काम में कहीं न लग जावे। इस भयावह कल्पना के आधार पर एक भयानक चित्र खींच कर सर्वसाधारण को भ्रम में डालने की निंदनीय चेष्टा की गई थी। इस पर महात्माजी ने संवत् १९७१ के २ फाल्गुन के 'प्रचारक' में लिखा था—"मुझे आश्चर्य है कि यदि महाशय कृष्ण जी को गुरुकुल की वर्त्तमान गति में कुछ संदेह है, तो स्वामिनी-सभा के मंत्री होते हुए, उन्होंने उस सभा द्वारा संशोधन कराने के स्थान में समाचारपत्र की शरण क्यों ली?" इसके बाद महात्माजी ने लिखा था—"मैं महाशय कृष्ण तथा आर्य जनता को निश्चय दिलाता हूँ कि वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन का काम मेरी दृष्टि में गौण बन जाएगा, तो मैं इस गुरुकुल में एक पल भी ठहरना पाप समझूँगा।" इसी लेख में आपने एक बार फिर आयुर्वेद, कृषि-व्यापार और लुहारी-तरखानी आदि की पढ़ाई का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी—"पहिली पाठविधि के अनुसार, जिसका प्रामाणिक खंडन प्रतिनिधि-सभा ने मेरे ज्ञान में नहीं किया, कृषि-महाविद्यालय खोलना भी गुरुकुल का कर्त्तव्य है। मैं दो वर्षों से उसके लिए विशेष परामर्श करता रहा हूँ और अब समय आया है कि कृषि का काम आगामी वर्ष के आरंभ से शुरू किया जाएगा। उसके साथ 'लुहारी-तरखानी' का कारखाना भी खोला जाएगा,

जिसका कुछ सामान तीन वर्षों से आया पड़ा है। यदि इसके संबंध में मंत्री जी अथवा अन्य किन्हीं सभासदों को गुरुकुल अपने उद्देश्य से गिरता दिखाई दे, तो सभा में इस प्रश्न को रख कर पहले ही इसका निश्चय करा लें।" महात्माजी के इतने स्पष्ट लेखों के बाद भी 'प्रकाश' के संपादक और उनकी पार्टी की यह शिकायत बराबर रही कि "उपदेशक नहीं मिलते।" संवत् १९७३ के श्रावण मास में 'प्रकाश' ने यहाँ तक लिखा था कि "न पंजाब में और न संयुक्त प्रांत में कोई ऐसी पाठशाला है, जहाँ उपदेशक तैयार किए जा रहे हों। ऐसी हालत में सवाल तो काबिले-गौर यह है कि उपदेशक कहाँ से आएँ ?" पाठक यह समझ सकते हैं कि इस लेख में संयुक्त प्रांत का उल्लेख करके गुरुकुल पर चोट की गई थी। इस प्रकार सदा ही 'प्रकाश' और उसके दल की गुरुकुल पर वक्र दृष्टि रही, जिसका परिचय कभी-कभी आजकल भी मिल जाता है। इस प्रकरण को इतना खोल कर इसलिए लिखा गया है कि इसका संबंध चरितनायक की जीवनी के साथ कई जगह आता है और गुरुकुल की उन्नति तथा उसके विस्तार में यदि कोई सबसे बड़ी बाधा थी, तो यही थी कि संचालकों और मालिकों की दृष्टि में गुरुकुल के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों में पूर्व-पश्चिम का-सा भेद था। इस भेद को लेकर कई वर्षों तक समाचारपत्रों में जो चर्चा हुई, वह उसके लिए और भी अधिक बड़ी बाधा सिद्ध हुई।"

सरकार की तिरछी नजर

"इन सब बाधा-विरोध के रहते हुए एक और बाधा गुरुकुल के मार्ग में सरकार की संदेहास्पद दृष्टि थी। गुरुकुल का सरकार से बिलकुल स्वतंत्र होना ही उसके संदेह के लिए पर्याप्त था। आर्य समाज पर राजद्रोही होने का जो संदेह था, उससे भी गुरुकुल के संबंध में इस संदेह को विशेष पुष्टि मिली। उस संदेह की उत्पत्ति के इतिहास में न जाकर यहाँ एक गुप्त सरकारी लेख की पंक्तियाँ इसलिए दी जाती हैं, जिससे उस संदेह का रूप पाठकों के सामने आ गए। उस लेख में लिखा गया था—"आर्य समाज के संगठन में अभी जो महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है—गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली। इस प्रांत में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा, किंतु आर्य समाज की धर्म के रूप में आलोचना करते हुए भी उसकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, किंतु भक्तिभाव और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है; क्योंकि यहाँ आठ बरस की ही आयु में बालकों को माता-पिता के प्रभाव से भी

डिष्कल दूर रख कर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायुमंडल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार ढाला जाता है, जिससे उनकी रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्य समाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देखरेख में बालकों का उस सत्रह वर्ष की आयु तक बराबर जारी रहा, जो कि मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक प्रभावग्राही समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तैयार होंगे, वे सरकार के लिए भयानक होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्य समाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धांत के लिए कष्ट-सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर प्राणों तक को न्योछावर कर देना साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव डालेगा। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जाएँगे, जो उनके मार्ग का अवलंबन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसे जाति-धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिंदू एक भ्रातृ-भाव का शृंखला में बंध जाएँगे। वे सब दयानंद के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन-मन-धन-सर्वस्व को देशहित के लिए अर्पण कर दो।"

इस लेख की अगली पंक्तियों का सीधा संबंध गुरुकुल कांगड़ी के साथ है। वे पंक्तियां ये हैं—"सरकार के लिए सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्य समाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों की शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, संदेह, समझौता और भय की गंध भी न होगी और सर्व-साधारण के हृदय पर उसका सीधा असर पड़ेगा। गुरुकुल के संबंध में पैदा हुए संदेह को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए इस लेख का लेखक कहाँ तक पहुँचता था, इसका पता अगली पंक्तियों से लगता है, जिनमें उस दौरे का उलेख किया गया है, जिसमें महात्माजी ने गुरुकुल के लिए तीस हजार रुपया जमा किया था। लेखक लिखता है—"पंजाब की पुलिस की रिपोर्टों में यह दर्ज है कि १८९९ में जब लाला मुंशी-राम अमृतसर के पंडित रामभजंत के साथ गुजरात, सियालकोट और गुज़रांवाला का दौरा करते हुए धन-संग्रह कर रहे थे, तब उन्होंने सरकार की निंदा शरारत से भरे हुए शब्दों में अन्य बातों के साथ यह कहते हुए की थी कि सिपाही कितने मूर्ख हैं, जो

सत्रह-अट्ठारह रुपयों पर भरती होकर अपना सिर कटवाते हैं।" गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसा करने वाले आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।' गुरुकुल के जिन उत्सवों का पीछे कुछ वर्णन किया गया है, उनके संबंध में इस लेख में लिखा गया है

"कांगड़ी में मनाए जाने वाले गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कोई साठ-सत्तर हजार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठा होते हैं। कई दिनों तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्य-रक्षा आदि का सब प्रबंध गुरुकुल के अधिकारी स्वयं करते हैं। बंगाल में मेलों पर जिस प्रकार स्वयंसेवक सब प्रबंध करते हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्मचारी स्वयंसेवकों का सब काम करते हैं। संगठन की दृष्टि से यह काम बिलकुल त्रुटिरहित है। उत्सव पर इकट्ठा होने वाले लोगों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी-बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं और अच्छी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियां आभूषण तक देती हैं।"

गुरुकुल के उद्देश्य की मीमांसा करते हुए उसके तपस्वी, कठोर, संयमी और निर्भीक जीवन का रोना रोते हुए फिर लिखा गया है—

"विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या संबंध रहेगा? इस संबंध में गुरुकुल की, महाशय रामदेव की लिखी हुई, एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अंत में लिखा है कि गुरुकुल में दी जानेवाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों का बाइबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिससे ब्रह्मचारियों की देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उनमें उपदेश और उदाहरण दोनों से देश के लिए उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासियों का दल तैयार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट पैदा कर देगा।"

इसी प्रकार एक गुप्तचर ने अपनी डायरी में गुरुकुल के संबंध में ये पंक्तियाँ लिखी थीं—"गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुए हैं, जिनमें अंगरेजी राज्य से पहले भारत को अवस्था और अंगरेजों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखायी गई है। लखनऊ के सन् १८५७ के राजविद्रोहके चित्र भी लगाए गए हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि० एफ० फ़ोर्ड ने जोन ऑफ आर्क का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल में लगा हुआ देखा था, जिसमे वह अंगरेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।"

इस प्रकार गुरुकुल की हर एक दीवार के पीछे से सरकारी लोगों को राजद्रोह की गंध आती थी। यज्ञशाला के नीचे उनकी दृष्टि में एक तहखाना बना हुआ था;

जिसमें उनकी समझ के अनुसार गोला-बारुद बनाने की ब्रह्मचारियों को शिक्षा दी जाती थी। सरकारी गुप्तचरों का गुरुकुल में तांता बँधा रहता था। वे संन्यासी, साधु, बाबू आदि के वेश में छिपे हुए भेद लेने की सदा कोशिश किया करते थे। जब ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्रा पर गुरुकुल से बाहर जाते थे, तब भी गुप्तचरों की एक सेना उनके आगे-पीछे चक्कर काटा करती थी। साधारण गुप्तचरों की बात ही क्या है. बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी लुक-छिप कर गुरुकुल का भेद लेने की बराबर चेष्टा करते रहे। एक डिपुटी कलक्टर गुरुकुल में अपने को वकील बता कर इसी नियत से आए थे। महात्मा जी को उनके इस प्रकार आने का पहले ही पता लग गया और उनके पीछे गुरुकुल के गुप्तचर छोड़ दिए गए। आधी रात को वे छद्मवेशी वकील उस घिरे हुए अहाते में जा पहुँचे, जहाँ ब्रह्मचारियों को गतका-फरी आदि के खेल सिखाए जाते थे। महात्माजी भी पता लगते ही उनके पीछे वहाँ पहुँच गए और वहाँ पहुँच आपने उनसे पूछा—"क्या आपने हमारे सब भेदों का पता लगा लिया?" बेचारे डिपुटी कलक्टर पानी-पानी हो गए। उन्होंने स्वीकार किया कि गुरुकुल में संदेह की कोई बात नहीं है।

बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की कहानी भी बहुत रोचक है। उन्होंने गुरुकुल आकर ब्रह्मचारियों के कुरते उतरवा कर छाती और भुजाओं के पुट्ठों की परीक्षा की। इस परीक्षा के बाद उनके चेहरे के भाव देखने ही लायक थे। उनसे यह कहे बिना न रहा गया कि "मुझसे बताया गया था कि आपके ब्रह्मचारी धनुर्विद्या में प्रवीण हैं और आपका मुख्य उद्देश्य उनको पहलवान बनाना है। मुझको पता लग गया कि यह सब झूठ है। निःसंदेह खुली वायु में रहने के कारण उनका डीलडौल बाहर के स्कूलों के लड़कों की अपेक्षा अच्छा है। मुझको यह भी बताया गया था कि वे बहुत कुशल घुड़सवार हैं और आकाश में ऊँचे उड़ते हुए पक्षी को अचूक निशाना मार कर नीचे गिरा देते हैं।"

इंगलैंड के वर्तमान प्रधान मंत्री और समस्त संसार के राजनीतिज्ञों के अग्रणी समझे जाने वाले मि० रेम्जे मेकडानल्ड का इस संबंध का यह लेख बहुत ही सुंदर है, जो उन्होंने सन् १९१४ में गुरुकुल देखने के बाद भारत से विलायत लौट कर वहाँ के 'डेली क्रानिकल' में लिखा था। लेख को उन्होंने इन पंक्तियों से ही प्रारंभ किया था —"भारत के राजद्रोह के संबंध में जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने गुरुकुल का नाम अवश्य सुना होगा, जहाँ कि आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धांतों का यह अत्यंत उत्कृष्ट मूर्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्य समाज के संबंध में जितने भी संदेह

किए जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिए गए हैं। इसीलिए सरकार की इस पर तिरछी नजर है, पुलिस अफसरों ने इसके संबंध में गुप्त रिपोर्टें दी हैं और अधिकांश ऐंगलो इंडियन लोगों ने इसकी निंदा की है।

सरकार की तिरछी नजर के कारणों की मीमांसा करते हुए उस लेख में गुरुकुल का बहुत ही सुंदर चित्र अंकित किया गया है। उसमें लिखा गया है—"सरकारी लोगों के लिए गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंगेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब युनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी यहाँ काम में नहीं लायी जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिए यहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से इसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परंतु, गुरुकुल के विषय में यह अंतिन राय नहीं हो सकती। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के संबंध में मैकाले के संमति प्रकट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से सभी भारतवासी असंतुष्ट हैं, किंतु जहाँ तक मुझको मालूम है, गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने असंतोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है। लेख के अंत में उन्होंने लिखा था—"मैं स्वप्न में किसी को यह कहते हुए सुन रहा हूँ—हम केवल यह चाहते हैं कि शांति से हम को ईश्वर का भजन करने दो। क्या यही राजद्रोह है ?" मि० मेकडानल्ड का यह लेख सभवतः गुरुकुल के संबंध में लिखे गए लेखों में सर्वोत्तम है।

इंगलैंड के सुप्रसिद्ध पत्र 'दि न्यू स्टेट्समैन' के २० जून, सन् १९१४ ई० के अंक में आर्य समाज के संबंध में लेख में गुरुकुल के लिए लिखा गया था—"दयानंद ऐंगलो-वैदिक कॉलेज से भी अधिक प्रसिद्ध हरिद्वार का गुरुकुल संभवतः समस्त संसार में शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक मनोरंजक परीक्षण है। गंगा के मनोहर दृश्यों के बीच, हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के नीचे, सांसारिक वातावरण से बहुत दूर एक आश्रम बना हुआ है। केवल जीवन-निर्वाह पर आचार्य, उपाध्याय और सब अध्यापक काम करते हुए स्वेच्छा से गरीबी का जीवन बिताते हैं, यद्यपि उनमें से बहुत से बाल-बच्चों वाले गृहस्थी हैं। सात वर्ष की आयु में बालकों को लिया जाता है और २५ वर्ष तक रखा जाता है। वे बीच में एक बार भी घर नहीं जा सकते। न वे किसी स्त्री का दर्शन कर सकते हैं और न कोई स्त्री ही उनको देख

सकती हैं। वे दिन-रात अपने अध्यापकों के निरीक्षण और संगति में रहते हैं। पहिले सात वर्ष तक उनको केवल संस्कृत और वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती है। फिर दूसरी भाषाएं तथा विज्ञान सिखाया जाता है। हिंदी में ही सब शिक्षा दी जाती है। २५ वर्ष की आयु में समझा जाता है कि वे देश के पूरे सेवक बन गए हैं। भारतीय दृष्टि से उक्त संस्था की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता जात-पाँत के भेदभाव को मिटाना है। उसमें ३०० बालकों में ब्राह्मण से लेकर मेहतर तक सभी जातियों के बालक हैं। सब का एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन है। जात-पाँत का भेद भारत में खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है। पश्चिम की शिक्षा और आदर्शों के सहारे भी उसकी जड़ों को खोदना कठिन है। परंतु, यह गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गई हैं, पश्चिम के नाम पर उसके अनुकरण में नहीं किंतु पूर्व के पुराने और सुंदर आदर्शों को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से। आर्य समाज के शिक्षा के कार्य का यह नमूना है और शिक्षा का यह कार्य उस महान् समाज-सेवा के कार्य का छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्य समाज उत्तरीय भारत में कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः रहित प्रतिभाशून्य बृटिश अधिकारी एकाएक घबड़ा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं? इस-लिए वे उसमें 'राजद्रोह' का संदेह करने के आदी हो गए हैं।

इसके बाद सरकारी अधिकारियों का रुख गुरुकुल के संबंध में बदलता है। उसके बदलने में दीनबंधु ऐंड्रूज का बहुत अधिक हाथ था। उस समय के संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर जॉन ह्यूवेट ने महात्माजी को मिलने के लिए देहरादून बुला कर कहा कि गुरुकुल के संबंध में उनका सब संदेह दूर हो गया है। उनके बाद के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर (इस समय के 'लार्ड') जेम्स मेस्टन १९१३, १९१४ और १९१६ में चार बार गुरुकुल आए। सन् १९१३ में गुरुकुल की ओर से दिए गए मानपत्र के उत्तर में कहा था—"न केवल इस प्रांत में किंतु समस्त भारत में गुरुकुल एक बिलकूल मौलिक और कुतूहलपूर्ण परीक्षण है। मैं यहाँ आकर उन लोगों से भी मिलना चाहता था, जिनको सरकारी रिपोर्टों में निस्सीम, अज्ञात और भयानक आपत्ति का स्रोत बताया गया है।" इसके बाद कर्मचारियों के त्याग तथा सेवा की भावना, प्रबंध तथा शिक्षा की व्यवस्था और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य की प्रशंसा करते हुए आपने कहा था—"एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिए मेरा आदर्श गुरुकुल है।"

लखनऊ के 'ऐडवोकेड' के संचालक स्वर्गीय राव बहादुर बाबा गंगा प्रसाद जी वर्मा ने सन् १९१३ ई० के अप्रैल मास में संयुक्तप्रांतीय-लेजिस्लेटिव कौंसिल में सर जेम्स मैंस्टन के गुरुकुल पधारने पर जो भाषण दिया था, उससे भी पता लगता

है कि सरकारी अधिकारियों की गुरुकुल के प्रति कैसी धारणा थी ? उन्होंने उस भाषण में कहा था—

"मैं श्रीमान् को उस राजनीतिपूर्ण और साहसपूर्ण कार्य के लिए वधाई देना चाहता हूँ जो आपने उन देशभक्त शिक्षकों को दर्शन देकर किया है, जो महात्मा मुंशीराम जी के नेतृत्व तथा संरक्षकता में राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं और जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयों को पूर्वीय आदर्शों के साथ एक कर दिया है। मैं श्रीमानों के गुरुकूल पधारने को इसलिए साहसपूर्ण कार्य कहता हूँ; क्योंकि मुझको मालूम है कि इस प्रांत के अधिकतर अफसर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय में यह संदेह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शांत विकास में विघ्न पैदा करने वाले लोगों के पैदा करने में लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहाँ की गई घोषणा से आशा है ऐसे लोगों के विचार गुरुकुल के संबंध में बदल जाएँगे। आपने उन लोगों को सचमुच प्रोत्साहन दिया है; जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे हुए हैं। इससे वे लोग गवर्नमेंट के अधिक समीप आ जाएँगे, जिनके हृदय मातृभूमि को फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हो रहे हैं।"

इस भाषण में वर्मा जी ने गुरुकुल के आदर्श का चित्र भी बहुत सुंदर शब्दों में अंकित किया था।

सन् १९१६ के २१ अक्तूबर को उस समय के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड भी लेडी चेम्सफोर्ड, सर जेम्स मेस्टन और अन्य सरकारी अधिकारियों के साथ गुरुकुल पधारे थे। आपने गुरुकुल की शिक्षा, प्रबंध और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य पर पूर्ण संतोष प्रकट किया।

कहा जाता है कि उच्च अधिकारियों के इस प्रकार गुरुकुल में आने का एक कारण यह था कि किसी प्रकार गुरुकुल को सरकार की सुनहरी जंजीरों में जकड़ा जाए। यदि गुरुकुल में संचालकों की ओर से कुछ थोड़ा सा भी संकेत, मिलता तो जो सरकारी सहायता दूसरी संस्थाओं को नाक रगड़ने और हाथ-पैर जोड़ने पर भी नसीब नहीं होती, वह अनायास ही गुरुकुल को मिल जाती। पर, गुरुकुल अपने आदर्श पर दृढ रहा और उसके संचालक, विशेषतः महात्माजी, उस से बचे रहे। उन्होंने महाराणा प्रताप का भूख-प्यास का जंगली जीवन पसंद किया और स्वाभिमान को खो कर मानसिंह के भोगविलास के जीवन की ओर आँख भी नहीं फेरी। संभवतः इसी ओर संकेत करते हुए महात्माजी ने लिखा था—

"गुरुकुल अपने जन्मदिन से अब तक, नौकरशाही के जाल से बचा हुआ, अपना काम करता आया है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिए गए? जिन सुनहरी जंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।"

सरकारी अधिकारियों का रुख बदलने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि गुप्तचरों की संदेह-दृष्टि से गुरुकुल की कुछ समय के लिए रक्षा हो गई और उसके अधिकारी एवं संचालक संशयात्मक वृत्ति से ऊपर उठ कर सर्वतोभावेन गुरुकुल की सेवा में लग गए।

आकर्षण और विशेषताएँ

गुरुकुल एक ऐसा परीक्षण था, जिसकी कृतकार्यता और सफलता पर शुरू से ही संदेह प्रकट किया जाता था। श्रीयुत रेम्जे मेकडानल्ड के पीछे दी हुई संमति बिल्कुल ठीक है कि मेकाले के १८३५ ई० के उस सुप्रसिद्ध लेख के बाद, जिसके द्वारा भारत में वर्त्तमान नैतिकताशून्य सरकारी शिक्षा का सूत्रपात हुआ था, केवल गुरुकुल ही एक ऐसा परीक्षण है, जो उसके प्रतिकूल किया गया है। धारा के ठीक विपरीत तैरने वाले की सफलता पर किसको विश्वास हो सकता है? गुरुकुल की भी ऐसी ही स्थिति थी। जंगल में माता-पिता से अलग सोलह वर्ष तक बालकों के रहने की कल्पना तक लोगों के लिए विश्वास से बाहर की बात थी। पर, महात्मा मुंशीराम जी की श्रद्धा, विश्वास और तत्परता ने गुरुकुल की सफलता के रूप में असंभव को भी संभव बना कर दिखा दिया। उसकी जिस लोकप्रियता का पीछे उल्लेख किया जा चुका है, वह उसकी सफलता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

इस प्रसंग में उसकी सफलता की एक और साक्षी दी जाएगी और वह है—गुरुकुल का आकर्षण। इस आकर्षण से आर्य जनता तो गुरुकुल की ओर ऐसी खिंचती चली गई कि गुरुकुल उसके लिए ऐसा तीर्थ बन गया, कि प्रति वर्ष उत्सव के समय जिसके दर्शन करना आर्य जनता अपना कर्त्तव्य समझती है। आर्य जनता के अलावा कट्टर सनातनी, ईसाई, मुसलमान, यूरोपियन—न केवल अंग्रेज किंतु अमेरिकन, फ्रेंच, जर्मन आदि भी गुरुकुल की ओर आकर्षित होते गए हैं। समाज-सुधार, मातृभाषा हिंदी के पुनरुद्धार और मौलिक शिक्षा के विस्तार आदि की दृष्टि से गुरुकुल निस्संदेह आदर्श संस्था है, इसलिए ऐसे लोगों का उसकी ओर

आकर्षित होना स्वाभाविक है; किंतु ऐसे लोग भी गुरुकुल की ओर आकर्षित हुए, जिनका गुरुकुल के साथ कोई सीधा संबंध नहीं था।

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी का कमीशन गुरुकुल आया और उस पर मुग्ध हो गया। डॉ० अंसारी और बैरिस्टर आसफ अली-सरीखे निष्पक्ष मुसलमान गुरुकुल गए और उस पर लट्टू हो गए। जो मुसलमान गुरुकुल को सांप्रदायिक संस्था समझते हुए यह सोचते थे कि उनको वहाँ अपने वर्तन में कोई पानी तक नहीं पिलाएगा, जब ब्रह्मचारियों और अध्यापकों ने उनके साथ बैठ कर भाई-भाई की तरह भोजन किया, तब उनकी आँखें खुलीं और गुरुकुल ने उनके हृदयों में घर कर लिया। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन के प्रधान मि० सैंडलर और श्री आशुतोष मुकर्जी गुरुकुल आए, उन पर गुरुकुल का जो असर हुआ, वह सैंडलर कमीशन की रिपोर्ट में दर्ज है। मि० सैंडलर ने गुरुकुल का खूब गहरा अवलोकन करने के बाद कहा था—"मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।" माननीय श्रीनिवास शास्त्री-सरीखे नरम-से-नरम, लाजपत राय-सरीखे गरम-से-गरम, पंडित मोतीलाल जी नेहरू-सरीखे उग्रतम राजनीतिज्ञ, पंडित मदनमोहन मालवीय-सरीखे फूँक-फूँक कर आगे कदम बढ़ाने वाले गुरुकुल से भी बड़ी संस्था के संस्थापक, सेठ जमनालाल बजाज-सरीखे श्रद्धासंपन्न साधु-स्वभाव महानुभाव, भारतकोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू-सरीखी महिला, शांतिनिकेतन (बोलपुर) के संस्थापक विश्वविख्यात कवि श्री रवींद्रनाथ टैगोर-सरीखे महापुरुष और जगद्वंद्य महात्मा गांधी-सरीखे संत आदि सब को ही, भिन्न-भिन्न रुचि और भिन्न-भिन्न स्वभाव रखते हुए भी, गुरुकुल ने अपनी ओर आकर्षित किया और सबके हृदयों में अपने लिए एक-सा स्थान बनाया। जिले के मजिस्ट्रेट, प्रांत के गवर्नर और भारत के वायसराय के लिए भी गुरुकुल में कुछ आकर्षण था। रुड़की के ज्वायंट मजिस्ट्रेट मि० आर० सी० हावर्ट ने ठीक ही लिखा था—"गुरुकुल एक अद्भुत संस्था है, जिसका प्रबंध अत्युत्तम है। इसको देख कर मुझको चेस्टर- हाउस का अपना विद्यार्थी-जीवन सहसा याद आ गया। गुरुकुल में अपनी मौलिक पद्धति के साथ विलायत के सार्वजनिक स्कूलों की अच्छाई का मिश्रण किया गया है। शिक्षा का माध्यम हिंदी है और जनता की आम भाषा ही शिक्षा का वास्तविक माध्यम है। मैंने भारत में कहीं और ऐसे स्वस्थ और प्रसन्न बालक नहीं देखे। अध्यापक निःस्वार्थी हैं और अपने शिष्यों के चरित्र-गठन का पूरा ध्यान रखते हैं।"

सरकारी अधिकारियों की ऐसी संमतियों से गुरुकुल की संमति-पुस्तक भरी पड़ी है।

विलायत से भारत के सुप्रसिद्ध स्थानों की यात्रा के लिए आने वाले विदेशी यात्री गुरुकुल अवश्य आते थे। यूरोप के कई समाचारपत्रों के प्रतिनिधि नेविंसन ने विलायती पत्रों में गुरुकुल की इतनी प्रशंसा की थी कि कितने ही विदेशी यात्री उनके लेख पढ़ने के बाद ही गुरुकुल आए थे। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाविज्ञ विद्वान् वकील मि० मायरन् एच० फैंक्स ने गुरुकुल की प्रशंसा में इलाहाबाद के 'पायोनियर' में बहुत से विस्तृत पत्र लिखे थे। वे इतने प्रभावशाली पत्र थे कि 'पायोनियर' का वही संपादक लेखमाला के अंत में गुरुकुल की प्रशंसा करने के लिए बाध्य हुआ, जो पहिले उनको प्रकाशित तक करने में संकोच करता था। फैंक्स गुरुकुल के साथ इतने तन्मय हो गए थे कि उनका नाम गुरुकुल में पं० दयानारायण रख लिया गया था। वे धोती-कुरता के वेष में पूरे कश्मीरी पंडित ही जान पड़ते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि यदि मेरा कोई लड़का होता, तो मैं उसको गुरुकुल में भरती करता अथवा मैं ही यदि आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता, तो गुरुकुल में भरती हो जाता। विलायत के 'डेली मेल' के प्रतिनिधि मैक्सवेल, इंगलैंड की सार्वजनिक-सदाचार-समिति के प्रमुख सदस्य एवं सदाचार की समस्या के अध्ययन के लिए ही समस्त संसार की यात्रा पर निकले हुए जी० एन० फोक्सपिट, इंगलैंड की लिबरल क्लब के सदस्य तथा सुप्रसिद्ध लेखक विलियम आर्थर, भारतभक्त दीनबंधु मि० ऐंड्रूज और उनके साथी मि० पियरसन, मि० एच० हालैंड, इस समय के इंगलैंड के प्रधान मंत्री मि० रैम्जे मेकडानल्ड, लार्ड इजलिंगटन, सर थियोडार मारिसन, मि० स्कॉट, मि० एफ० टी० ब्रुक, जर्मनी के मि० वे, हालैंड के मि० कैरीयर, जापान के प्रोफेसर किमूरा इत्यादि कितने ही विदेशी यात्री गुरुकुल आए और उसकी प्रशंसा के गीत गाते हुए वापिस लौटे। मि० हालैंड ने 'मॉडर्न रिव्यू' में गुरुकुल को न केवल भारत, किंतु समस्त संसार की आशा का केंद्र लिखा था। मि० मैकडानल्ड की संमति पीछे दी जा चुकी है। गुरुकुल में दिए व्याख्यान में भी आपने कहा था—गुरुकुल का उद्देश्य भारतीयों को सरकारी यूनिवर्सिटियों की तरह दोगले अंग्रेज न बना कर पूर्ण भारतवासी बनाना है।" लार्ड इसलिंगटन भारत में सन, १९१६ ई० में आए हुए रायल कमीशन के सभापति थे। आपने अपने भाषण में गुरुकुल को बहुत मनोरंजक संस्था कहा था और कहा था कि पश्चिमीय सभ्यता नगरों से उत्पन्न हुई है और पूर्वीय सभ्यता जंगलों से। आप यहाँ जंगलों में बैठे हुए मृतप्राय पूर्वी सभ्यता में फिर से प्राणप्रतिष्ठा कर रहे हैं। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् और वहाँ के विश्वविद्यालयों के अध्यापक श्री किमूरा गुरुकुल से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहा था—"थोड़े से समय के निवास में ही मैंने यहाँ से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, जो मेरे देश के लिए भी बिलकुल नवीन हैं। आशा है, भविष्य

में जापान के बहुत से विद्यार्थी यहाँ आकर भारत की प्राचीन संस्कृति का अध्ययन किया करेंगे।"

इस प्रकार गुरुकुल पश्चिमीय लोगों को भी अपनी सफलता और विशेषताओं पर मुग्ध करने में कृतकार्य हुआ। वहाँ का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि बाहर के लोग उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। गुरुकुल ने एक फैक्स को ही पंडित दयानारायण नहीं बनाया, किंतु कितनों के ही जीवन और विचारों में गुरुकुल ने क्रांति पैदा की थी। मि० ऐंड्रूज का मांसाहार छुड़ा कर उनको शाकाहारी बनाने का गौरव गुरुकुल को ही प्राप्त है। महात्माजी के साथ मि० ऐंड्रूज का इतना अपनापन था कि दोनों का आपस का पत्र-व्यवहार 'माई डियर राम' तथा 'युअर डियर चार्ली' और 'माई डियर चार्ली' तथा 'युअर डियर राम' के शब्दों मे होता था। वह इतना उपयोगी और विस्तृत पत्र-व्यवहार है कि यदि अब भी जितना प्राप्त है, उतना ही प्रकाशित किया जा सके, तो एक शिक्षाप्रद पुस्तक का काम दे सकती है। उस पत्र-व्यवहार से यह प्रकट होता है कि भारत को ईसाई बनाने के सुख-स्वप्न देखने वाले पादरियों के गिरोह में से ऐंड्रूज को निकाल कर उनको भारतभक्त और दीनबंधु बनाने का श्रेय भी गुरुकुल एवं महात्माजी को ही है। श्रीयुत् ऐंड्रूज संसार के किसी भी कोने में रहे, महात्माजी को बराबर पत्र लिखते रहे। प्रिटोरिया (दक्षिण अफ्रीका) से एक पत्र में दीनबंधु ने महात्माजी को लिखा था—"मुझको इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीया माता की आत्मा को संतुष्ट कर सकूंगा। मैं पिताजी से मिलने के लिए इंगलैंड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊंगा। परंतु, उसकी आत्मा तो वहाँ न होगी। वह तो भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" शिमला से महात्माजी को लिखे हुए एक पत्र में लिखा है—"यहाँ आने पर मुझको मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से बिशप और दूसरे लोग मुझसे बहुत असंतुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा ईसाई बन गया हूँ। यही मैं बनना चाहता था। इंगलैंड से भी इस संबंध में बहुत पत्र आए हैं। उनमें मेरे पिताजी का पत्र सबसे अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका तो हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिए दुःखी हूँ। परंतु, मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझको आप के अन्यतम प्रेम का पूरा भरोसा है।" डरबिन से भी

इसी आशय का लिखा हुआ एक पत्र है। गुरुकुल के संबंध में आप सदा ही चिंतित रहते थे। इंगलैंड से आपने एक पत्र में लिखा था—"श्रीयुत् गोखले से मिल कर मुझको बड़ी चिंता हुई। उनको भय है कि गुरुकुल पर पुलिस की नजर है और वहाँ तलाशी आदि होने की संभावना है। सर वेलेंटा इन शिरोल ने भी इस ओर संकेत किया है। मैंने उससे कुछ विस्तार में जानना चहा। पर, वह चुप साध गया। परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना है कि आप पर कोई आपत्ति न आए और पुलिस आप के जीवन तथा कार्य को संकटमय न बना सके।" गुरुकुल के प्रति आपका प्रेम इतना अधिक था कि आप अपने साथी मि० पियर्सन के साथ महीनों गुरुकुल आ कर रहते थे। गुरुकुल को आप दोनों ने अपना घर बना लिया था। मि० एँड्रूज के सौ से अधिक पत्रों में से ऊपर केवल तीन पत्रों की कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं। इनसे स्पष्ट है कि दीनबंधु एँड्रूज महात्माजी को अपना पथप्रदर्शक मानते थे।

कलकत्ता के विशप कालेज के पादरी-अध्यापक मि० आर० जी० मिलबर्न, मि० पियर्सन की प्रेरणा से हिंदी सीखने की इच्छा से सन् १९१४ के फरवरी मास में गुरुकुल पधारे थे। आने से पहले आपने महात्मा जी से गुरुकुल आने की आज्ञा माँगते हुए लिखा था— "मैं पादरी-अध्यापक हूँ। शायद आप गुरुकुल में एक ईसाई पादरी का रहना पसंद न करें। यदि आप मुझसे यह प्रतिज्ञा चाहें कि मैं वहाँ आकर ईसाई धर्म के संबंध में किसी के साथ कोई बात नहीं करूँगा, तो मैं वैसी प्रतिज्ञा करने को भी तैयार हूँ। मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि कभी कोई बालक मुझसे ईसाई धर्म के संबंध में कुछ पूछेगा, तो भी मैं ईसाई धर्म के संबंध में चुप रहूँगा। मैं भारत की भाषा और भारत के धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिए ही गुरुकुल आना चाहता हूँ।" महात्मा जी ने लिखा— "आप जब चाहें, आ सकते हैं। यहाँ आते हुए एक ही प्रतिज्ञा करनी होगी। वह यह कि यहाँ रहते हुए मांसाहार नहीं करना होगा। ईसाई धर्म के प्रचार के संबंध में आप यहाँ आकर देखेंगे कि उदारता का दावा करने वालों की अपेक्षा हमलोग अधिक उदार हैं।" मि० मिलबर्न आए। महीना भर यहाँ रहे। हिंदी सीख गए और साथ में भारत के धार्मिक जीवन का इतना प्रभाव ले गए कि कलकत्ता जाकर पादरीपन को तिलांजलि दे दी।

इसी प्रकार मद्रास के संस्कृत के माने हुए विद्वान श्रीयुत् कृष्णमाचार्य सरस्वती-संमेलन के सभापति हो कर इस शर्त पर आए कि उनका अपना रसोइया साथ में आएगा और वे सबसे अलग बंद कमरे में अपना भोजन किया करेंगे। चार-पाँच दिन वैसा क्रम चला। पर, जाने के एक दिन पहिले महाविद्यालय-भंडार में

उन्होंने ब्रह्मचारियों और महात्माजी के साथ एक पंक्ति में बैठ कर भोजन किया। महात्माजी के व्यक्तित्व और गुरुकुल के वातावरण में कुछ ऐसा ही प्रभाव था कि जो वहाँ आया, कुछ-न-कुछ उसके रँग में रंग कर ही गया। जिस संस्था में शाम को मेहतर तक रामायण का पाठ करते हों, ऊँची श्रेणियों के ब्रह्मचारी धोबियों तथा मेहतरों के बालकों को भी सुशिक्षित करना अपना कर्तव्य समझते हों और जिस संस्था द्वारा चारों ओर दूर-दूर तक गाँव-गाँव में प्रारंभिक विद्यालय खोल कर शिक्षा का प्रसार किया जाता हो, उसके वातावरण में ऐसा जादू का-सा असर होना कोई बड़ी बात नहीं है।

ऐसी सफल संस्था की विशेषताओं पर भी थोड़ा प्रकाश इसलिए डालना आवश्यक है कि उसकी सफलता का रहस्य पाठकों को मालूम हो जाए और चरितनायक के जीवन के सर्वोत्तम और महान् कार्य के साथ उनका उनका पूरा परिचय हो जाए। इन विशेषताओं की व्याख्या यहाँ इसलिए नहीं की जाएगी कि पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र उनका उल्लेख किए बिना भी उनकी व्याख्या हो गई है।

सन् १९२० में महात्मा गांधी द्वारा असहयोग आंदलोन शुरू किए जाने पर जिस स्वतंत्र शिक्षा-प्रणाली के लिए देश पागल हो उठा था, गुरुकुल उसका जीवित चित्र है। गुरुकुल अपने जन्मकाल से स्वतंत्र रूप में अपना काम करता आ रहा है। न उसको सरकार की किसी प्रकार की कोई सहायता प्राप्त है और न किसी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ उसका किसी प्रकार का कुछ संबंध है। यही गुरुकुल की सबसे बड़ी और पहली विशेषता है। प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम-पद्धति तथा गुरु-शिष्य संबंध को पुनरुज्जीवित करना दूसरी विशेषता है। जिस श्रद्धा, विश्वास, स्वाभिमान, नैतिकता और आस्तिक भाव की दूसरी संस्थाओं द्वारा समाप्ति हो रही है, उसको फिर से प्रस्थापित करना तीसरी विशेषता है। भारतीय सभ्यता के मूलमंत्र सादा जीवन तथा उच्च विचार को जीवन का एक हिस्सा बनाते हुए नष्टप्राय भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार करना चौथी विशेषता है। मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा हिंदी द्वारा उच्च-से-उच्च शिक्षा देना गुरुकुल की अपनी ही पाँचवीं विशेषता है। पश्चिम के साथ भारत के वैदिक-संस्कृति-विज्ञान का मिश्रण करना और वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार करना छठी विशेषता है। समाज-सुधार को जीवन के साथ तन्मय करते हुए रूढ़ि तथा परंपरा की जड़ काटना सातवीं विशेषता है। बालविवाह और जात-पात सरीखी हिंदू समाज में घर की हुई कुरीतियों का गुरुकुल ने पूरी सफलता के साथ मुँह काला किया है। उच्च-से-उच्च जाति के बालकों के साथ नीचे-से-नीचे समझी जाने वाली जाति के बालक बिना किसी भेदभाव के एक साथ रहते और शिक्षा प्राप्त करते हैं।

समान भोजन, समान वस्त्र और समान व्यवहार गुरुकुल की आठवीं विशेषता हैं। गुरुकुल ने धनी निर्धन के भेदभाव को भी मिटा दिया है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आर्य समाज द्वारा संचालित होने पर भी गुरुकुल सांप्रदायिक संस्था नहीं है, अपितु ऐसी आदर्श राष्ट्रीय संस्था है, जो किसी राष्ट्रीय संस्था के लिए नमूना हो सकती है। गुरुकुल के दस वर्षों का सिंहावलोकन करते हुए 'प्रचारक' में महात्माजी ने लिखा था—"मेरा यह विश्वास है कि सब मतवादियों के झगड़ों से दूर पले हुए ये गुरुकुल निवासी आर्य जनता के पुत्र ही सनातनी, आर्य मुसलमान और ईसाइयों के पारस्परिक झगड़ों को मिटा कर शांति की स्थापना करेंगे। यदि इस पर भी किसी के मन को संतोष न हो, तो उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए।" इसी उदार दृष्टि से महात्माजी गुरुकुल का संचालन करते थे। इसीलिए गुरुकुल सांप्रदायिक संस्था न हो कर राष्ट्रीय संस्था बन गया है। महात्मा गांधी ने गुरुकुल के संबंध में यह बिलकुल ठीक ही कहा है कि—"आर्य समाज के कार्य का सर्वोत्तम परिणाम गुरुकुल की स्थापना है। यह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्था है, जिसका शासन और प्रबंध सब स्वायत्त है।"

गुरुकुल का सार्वजनिक जीवन भी गुरुकुल की अपनी ही विशेषता है। पढ़ाई के साथ अध्यापकों के निरीक्षण में चलने वाली विवादात्मक सभाओं के अलावा आश्रम में ब्रह्मचारी अपनी सभाएं और पत्र-पत्रिकाएँ स्वतंत्र रूप में चलाते हैं। सभाओं में पार्लमेंट, हिंदी-साहित्य-संमेलन, कवि-संमेलन, कांग्रेस आदि के कितने ही अधिवेशन ब्रह्मचारी स्वयं करते हैं। इनमें जिन्होंने ब्रह्मचारियों को भाषण तथा विचार करते हुए सुना है और पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख पढ़े हैं, उन्होंने उनकी भाषण-शक्ति, विचार-सरणी और लेखन-शैली की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उत्सव पर होने वाले सरस्वती-संमेलनों का आयोजन ब्रह्मचारियों की सभा 'साहित्य-परिषद्' की ओर से ही होता है। इस परिषद् की ओर से कुछ अच्छी साहित्यिक पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। गुरुकुल में आने वाले संमाननीय दर्शकों का आतिथ्य-सत्कार ब्रह्मचारी पूर्ण स्वतंत्रता के साथ स्वयं ही करते हैं। इस स्वाभाविक प्रेमपूर्ण आतिथ्य को गुरुकुल में आया हुआ व्यक्ति कभी भूल नहीं सकता। बाहर से आए लोगों के विचारों से लाभ उठाने के लिए ब्रह्मचारी उनको चिपट जाते हैं। उनको संतुष्ट किए बिना उनसे छुटकारा पाना संभव नहीं होता।

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री शंकरदेवजी विद्यालंकार ने बड़े सुंदर शब्दों में अपनी कुलभूमि का चित्र अंकित किया है। वे लिखते हैं—"गुरुकुल आर्य समाज की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। वह इस युग में भारतभूमि में सबसे पहला राष्ट्रीय ज्ञान-

मंदिर है। धर्म, राष्ट्रीयता और ब्रह्मचर्य की वह तीर्थभूमि है। आत्मिक और मानसिक शांति के यात्रियों का वह शांतिनिकेतन है। सत्य और धर्म की वेदी पर आत्मार्पण करने वाले वीरों का वह सत्याग्रह आश्रम है। शांति की पवित्र मंदाकिनी वहाँ बह रही है। आत्मवीर ऋषि श्रद्धानंद की वह तपोभूमि है।"

ऐसी विशेषताओं से संपन्न गुरुकुल की कल्पना को प्रत्यक्ष सचाई सिद्ध कर देना अथवा उसको विचार कोटि से मूर्त्त रूप में लाकर परीक्षा की मंजिल से पार पहुँचा देना महात्मा मुंशीराम जी के जीवन का इतना बड़ा काम है, जो उनके सब कामों के इतिहास के पृष्ठों पर से मिट जाने पर भी नालंदा और तक्षशिला के विश्वविद्यालयों के समान सदा याद किया जाता रहेगा।

गुरुकुल और महात्मा गांधी

गुरुकुल के साथ जगद्वंद्य महात्मा गांधी का संबंध एक ऐतिहासिक घटना है। उसका उल्लेख स्वतंत्र रूप में ही किया जाना चाहिए। गुरुकुल के प्रति महात्मा गांधी के आकर्षण का एक इतिहास है। जंगल में शहरी जीवन से दूर रहते हुए भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में देश के कष्टों को अनुभव करने और उनके प्रतिकार के लिए कुछ-न-कुछ त्याग करने की अद्भुत भावना घर किए हुए हैं। संवत् १९६४ के दुर्भिक्ष में ब्रह्मचारियों ने अपना दूध बंद करके उसकी बचत दुर्भिक्ष-पीड़ित भाइयों के सहायतार्थ भेजी थी। सवत् १९६५ मे दक्षिण हैदराबाद और संवत् १९३८ में गुजरात मे दुर्भिक्ष पड़ने पर भी ब्रह्मचारियों ने अपने त्याग का योग्य परिचय दिया था। संवत् १९७० (ई० सन् १९१३-१९१४) में जब महात्मा गांधी अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारो के सत्याग्रह का धर्मयुद्ध छेड़े हुए थे और भारत में स्वर्गीय गोखले उसके लिए चदा एकत्रित कर रहे थे, तब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भोजन में कुछ कमी करके और अधिकतर हरिद्वार के दूधिया बाँध पर ठिठुरती सरदी मे कठोर मजूरी करके १५०० रुपया उस धर्मयुद्ध के सहायतार्थ भेजा था। यह रुपया श्रीयुत् गोखले के पास तब पहुँचा था, जब वे हताश होकर गहरी चिंता में पड़े हुए थे। कहते हैं, उन्होंने उस रकम को १५ हजार से भी अधिक कीमती समझा था और वे प्रसन्नता में कुर्सी से उछल पड़े थे। श्रीयुत गोखले ने महात्मा मुंशीराम जी को ता० २७ नवंबर, सन् १९१३ को देहली से एक पत्र में इस संबंध मे लिखा था—"मुझे रेवरेंड एंड्रूज और पंडित हरिश्चंद्र ने बताया कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए घी-दूध छोड़ कर और साधारण कुलियों और मजूरों की तरह मजूरी करके रुपया इकट्ठा कर रहे हैं। दिल हिला देने वाले इस देशभक्तिपूर्ण कार्य के लिए मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ? यह तो उनका

वैसे ही अपना काम है, जैसे कि आपका और मेरा है। वे इस प्रकार भारतमाता के प्रति अपने ढंग से अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। फिर भी भारतमाता की सेवा के लिए त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सामने उपस्थित किया है, उसकी अंतःकरण से प्रशंसा किए बिना मैं नहीं रह सकता। मैं आपका अत्यंत कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरे ये भाव किसी तरह उन तक पहुँचा देंगे। इसी पत्र में आपने लिखा था—"आप मुझे गुरुकुल आने के लिए प्रायः कहते हैं। मुझको अत्यंत खेद है कि मैं अब तक भी गुरुकुल नहीं आ सका। यदि अवस्था अनुकूल रही, तो जनवरी १६१५ में वहाँ आऊँगा। मैं आपके प्रति आदर व्यक्त करता हुआ संस्था का सब प्रकार से अभ्युदय चाहता हूँ।" यह पत्र श्रीयुत गोखले का अपना हाथ से लिखा हुआ है। इससे गुरुकुल के प्रति आपके प्रेम का भी परिचय मिलता है। गुरुकुल न आ सकने का दुःख आपको अंत तक बना रहा और गुरुकुलवासी भी आपके दर्शनों से वंचित रहना दुर्भाग्य ही समझते थे।

ब्रह्मचारियों के त्याग की इस भावना ने गांधीजी को गुरुकुल का प्रेमी बनाया था। मि० एँड्रूज भी इस सत्याग्रह में गांधी जी के सहायक थे। उन्होंने भी आपके दिल में गुरुकुल के लिए प्रेम और आकर्षण पैदा किया था। २१ अक्टूबर, सन् १६१४ को फिनिक्स (नेटाल) से गांधीजी ने मुंशीराम जी को निम्नलिखित सबसे पहला पत्र अंग्रेजी में लिखा था—

"प्रिय महात्माजी,

मि० एँड्रूज ने आपके नाम और काम का मुझको परिचय दिया है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिए आशा है, आप मुझे आपको 'महात्माजी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और मि० एँड्रूज आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। मि० एँड्रूज ने मुझको यह भी बताया है कि आप, गुरुदेव और मि० रुद्रा से वे किस प्रकार प्रभावित हुए हैं। आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिए जो काम किया है, उसका वर्णन भी उन्होंने मुझसे किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुए अपने को गुरुकुल में ही बैठा हुआ समझता हूँ। निस्संदेह उन्होंने मुझे उन तीनों संस्थाओं को देखने के लिए अधीर बना दिया है और मैं उन संस्थाओं के संचालकों, भारत के तीनों सपूतों, के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

आपका

मोहनदास के० गांधी"

गांधीजी के भारत आने से पहले ही आपके फिनिक्स के सत्याग्रह आश्रम के विद्यार्थी भारत आ गए थे और अहमदाबाद में आश्रम की स्थापना का अभी निश्चय नहीं हुआ था। इसलिए आपने अपने विद्यार्थियों के लिए सर्वोत्तम स्थान गुरुकुल ही नियत किया था और आपके विद्यार्थी सवत् १९७१ में गुरुकुल हो आकर महीनों वहाँ रहे भी थे। संवत् १९७२ के कुंभ पर गांधीजी हरिद्वार आए थे और बिना किसी पूर्वसूचना के गुरुकुल भी एकाएक पधारे थे। इतने महान् पुरुष म नम्रता इतनी थी कि गुरुकुल आने पर उसन मुंशारामजी के चरण छू कर नमस्कार किया था। इस समय गुरुकुल आने से पहले आपने पूना से जो पत्र महात्माजी को लिखा था, वह आपकी ही भाषा में यहाँ दिया जाता है-"महात्माजी, आपका तार मुझको मिला था। उसका प्रत्युत्तर तार से भेजा था। वह आपको मिला होगा। मेरे बालकों के लिए जो परिश्रम आपने उठाया और उनको जो प्यार बतलाया, उस वास्ते आपका उपकार मानने को मैंने भाई एंड्रूज को लिखा था। लेकिन आपके चरणों में सिर झुकाने की मेरी उमेद है। इसलिए बिना आमंत्रण आने का मेरी फरज समझता हूँ। मैं बोलपुर से पीछे फिरूँ उस वक्त आपकी सेवा में हाजर होने का मुराद रखता हूँ। — आपका सेवक— मोहनदास गांधी। पत्र का एक-एक शब्द नम्रता की स्याही में कलम डुबो कर लिखा गया था। उसके बाद मायापुर वाटिका में विशेष मंडप सजाकर गुरुकुलवासियों की ओर से ८ अप्रील, १९१५ को गांधीजी की ओर से आपको एक मानपत्र भी अर्पित किया गया था। आज गांधीजी जिस 'महात्मा' शब्द से जगद्विख्यात हैं, उसका सर्वप्रथम प्रयोग आपके लिए गुरुकुल की ओर से दिए गए इस मान पत्र में ही किया गया था। उसके पहले और बाद भी महात्मा गांधी को सैकड़ों मानपत्र मिले होंगे, किंतु उस मानपत्र की मिठास और अपनापन किसी और मानपत्र में आपको अनुभव नहीं हुआ होगा। वह मानपत्र गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के भावों को भी अभिव्यक्त करता था। उसके कुछ प्रारंभिक शब्द ये —"मातृभूमि के वस्त्र फटे हुए हैं, दिन-दिन कृशता घेर रही है, शरीर कांटों से छिदा हुआ है, रूधिर बह रहा है। ऐसे समय में आप ही की ओर वह स्नेह और आशा से देख रही है। आप ही दूसरी जातियों में उसका मुख उज्ज्वल करने वाले हैं। आप स्वाधीनता के दिव्य मंत्र में दीक्षित हैं। जातीयता की नौका के कर्णधार हैं। देशभक्तों के सर्वस्व हैं। इस कुल के पूजनीय अतिथि हैं। गांधी जी ने उनके उत्तर में कहा था—"मैं हरिद्वार केवल महात्माजी के दर्शनों के लिए आया हूँ। मैं उनके प्रेम के लिए कृतज्ञ हूँ। मि० एंड्रूज ने मुझको भारत में अवश्य मिलने योग्य जिन तीन महापुरूषों का नाम बताया था, उनमें महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों की सहायता के लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने फिनिक्स के विद्यार्थियों के

प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूँगा। मुझे अभिमान है कि महात्माजी मुझको भाई कह कर पुकारते हैं। मैं अपने में किसी को शिक्षा देने की योग्य नहीं समझता, किंतु देश के किसी भी सेवक से मैं स्वयं शिक्षा लेने का अभिलाषी हूँ। व्याख्यान का एक-एक शब्द नम्रता और कृतज्ञता के भाव में सना हुआ था। कुंभ के बाद फिनिक्स के विद्यार्थी दुबारा फिर गुरुकुल में रहे थे और अहमदाबाद का स्थान तय हो जाने पर ही यहाँ से वहाँ गए थे। गुरुकुल के चौदहवें वार्षिकोत्सव पर ४ चैत्र संवत् १९७२ को भी फिर गांधी जी गुरुकुल पधारे थे। इस अवसर पर आपने अपने भाषण में कहा था —"इस समय मैं महात्माजी का बंदा बन कर यहाँ आया हूँ। महात्माजी मेरे बड़े भाई हैं। जब मैं विदेश में था, तब मेरे लड़के यहाँ रहे थे। महात्माजी उनके पिता और ब्रह्मचारी उनके भाई थे। अब भी मेरे लड़के मुझे महात्मा जी के पितृवत् व्यवहार और ब्रह्मचारियों के भ्रातृवत् व्यवहार के विषय में प्रायः कहा करते हैं। मैंने चौदह वर्षों से देखा है कि आर्यों में स्वार्थत्याग, शिक्षा और भारत के हित का भाव है। अतएव, मैं इनका सत्संग करना चाहता हूँ।

मुंशीरामजी के प्रति गांधीजी का यह आकर्षण गुरुकुल के कारण था। और उसका कारण था ब्रह्मचारियों का त्याग, तपस्या तथा कष्टसहन, जो गुरुकुल की एक महान् विशेषता है। गांधीजी को जैसे मुंशीरामजी ने 'महात्मा' बनाया, वैसे ही मुंशीरामजी को स्वामी श्रद्धानंद होने के बाद गांधीजी 'सत्याग्रही' बना कर राजनीतिक क्षेत्र में ले आते हैं। यदि दोनों भाई अंत तक मिले रह सकते, तो देश के राजनीतिक क्षेत्र के लिए दोनों एक बड़ी शक्ति सिद्ध होते। देश का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि अंत में दोनों अलग-अलग हो गए और देश उनकी संमिलित शक्ति के लाभ से वंचित रह गया। स्वामी श्रद्धानंद जी के देहली के बलिदान के बाद अनाथ गुरुकुल की जब रजत-जयंती मनायी गई थी, तब भी गुरुकुल पधार कर गांधीजी ने उसको सनाथ कर अनुगृहीत किया था। महात्माजी-सरीखे अलौकिक महापुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर लेना भी गुरुकुल के लिए गौरव की बात है और उस गौरव का सबसे अधिक श्रेय महात्मा मुंशीरामजी के उस व्यक्तित्व को है, जिसके लिए मि० मेकडानल्ड ने ठीक ही लिखा था—"एक महान् भव्य और शानदार मूर्त्ति, जिसको देखते ही उसके प्रति आदर का भाव पैदा होता है, हमारे आगे हमसे मिलने आती है। आधुनिक चित्रकार ईसा मसीह का चित्र तैयार करने के लिए उसको अपने सामने रख सकता है और मध्यकालीन चित्रकार उसको देख कर सेंट पीटर का चित्र तैयार कर सकता है यद्यपि उस मछिहारे की मूर्ति की अपेक्षा यह मूर्त्ति अधिक भव्य और प्रभावोत्पादक है।"

असिद्ध स्वप्न

गुरुकुल के स्वप्न को मूर्तरूप दे कर सफलता तक पहुँचा देने पर भी महात्मा जी की महत्वाकांक्षा उसके संबंध में पूरी नहीं हो सकी। आपके स्वप्न का एक बड़ा हिस्सा अधूरा ही रह गया। गुरुकुल से अलग होते हुए आपने उसकी ओर संकेत भी किया था, किंतु आपके बाद के अधिकारी एवं संचालक भी उसको पूरा नहीं कर पाए। उसके पूरा न होने का एक कारण आर्थिक कठिनाई था और दूसरा वह मतभेद, जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है। गुरुकुल की स्वामिनी सभा में एक अच्छा बड़ा दल गुरुकुल को केवल उपदेशक पैदा करने की फैक्टरी अथवा संस्कृति की चटशाला बनाए रखना चाहता था। इस दृष्टि से पैदा होने वाला संघर्ष भी गुरुकुल की यथेष्ट उन्नति और महात्माजी की गुरुकुल-संबंधी स्वप्न की पूर्ति में बाधक सिद्ध हुआ। 'भारतवासियों पर गुरुकुल के अधिकार' को बताते हुए महात्माजी ने गुरुकुल के लिए पच्चीस लाख रुपए के स्थिरकोष की अपील की थी और उस अपील में उस स्वप्न का पूरा चित्र अंकित किया था, जो उनकी आँखों के सामने सदा नाचा करता था। महाविद्यालय विभाग को आप कहीं अलग ही रखना चाहते थे, जिसके लिए एक लाख की आवश्यकता बतायी गई थी। कृषि-विभाग को आप अच्छे पैमाने पर चलाना चाहते थे, जिसके लिए दो लाख की आवश्यकता थी, कला-भवन के लिए दो लाख, कताई-बुनाई आदि सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए एक लाख और उसके मकानों के लिए एक लाख—सब चार लाख चाहिए था। आयुर्वेद विभाग को संपूर्ण बनाने के लिए जिसमें आयुर्वेद-भवन तथा आयुर्वेद-वाटिका भी शामिल थी, साढ़े चार लाख की जरूरत थी। स्नातकों को विदेश भेज कर गुरुकुल में अध्यापन के लिए पूर्णतया योग्य बनाने के लिए एक लाख, सदा ८० ब्रह्मचारियों के निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकने के लिए चार लाख और विद्यालय विभाग तथा शाखा गुरुकुल की स्थिरता के लिए चार लाख चाहिए था। इन आवश्यकताओं का उल्लेख करने के बाद आपने लिखा था—"इस प्रकार पच्चीस लाख रुपयों की गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगडी को स्थिर करने के लिए आवश्यकता है। यदि इसकी बुनियाद आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हो जाए और यहाँ के कार्यकर्ताओं को आए दिन भीख के लिए बाहर न निकलना पड़े, तो इस संस्था से वे काम हो सकेंगे, जो कोई दूसरी संस्था एक करोड़ का स्थिर कोष जमा करके भी नहीं कर सकेगी।" युद्ध के समय दियासलाई महँगी होने पर गुरुकुल में दियासलाई बनाने का कारखाना खोलने का विचार भी आपने 'प्रचारक' में प्रगट किया था।

केवल गुरुकुल कांगड़ी को ही आप इतना उन्नत, विशाल एवं स्थिर नहीं बनाना चाहते थे, किंतु आप देश भर में उसकी शाखाओं का जाल बिछा देना चाहते

थे। आपने लिखा था—"यदि मेरे पास पचहत्तर लाख रुपया हो, तो गुरुकुल की सौ शाखाएँ तत्काल खोल सकता हूँ।"

ये सब आकांक्षाएँ अधूरी ही रह गईं, तो भी गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की रचाई इस रूप में कायम हो गई कि आर्य समाज के अतिरिक्त सनातनी और जैनी भाइयों ने भी गुरुकुल खोलने शुरू कर दिए। कोरी कल्पना का विषय लोगों के व्यवहार का विषय बन गया। इसीलिए इसमें संदेह नहीं कि गुरुकुल के नाते महात्मा मुंशीरामजी 'क्रांतिकारी शिक्षक' और 'भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के पिता' के नाम से भारत की शिक्षा के इतिहास में सदा याद किए जाएँगे।

गुरुकुल से जुदाई

महात्मा मुंशीरामजी आपस के संघर्ष को टालने में सदा चतुराई से काम लिया करते थे। गुरुकुल को संस्कृत की पाठशाला बनाने किंवा विश्वविद्यालय बनाने का मतभेद दिन-पर-दिन जोर पकड़ता गया। यदि महात्माजी गुरुकुल में बने रहते, तो संभव था कि वह मतभेद संघर्ष में परिणत हो जाता और वह गुरुकुल के लिए भी भयानक सिद्ध होता। प्रकाश-पार्टी के सर्वेसर्वा महाशय कृष्ण जी प्रतिनिधि-सभा के मंत्री थे। सभा में तो महात्माजी के सामने उनकी कुछ चलती नहीं थी, किंतु 'प्रकाश' में गुरुकुल एवं उसके संबंध में महात्माजी के आदर्श की आलोचना करने का कोई अवसर उन्होंने खाली नहीं जाने दिया। प्रकाश-पार्टी के लोग गुरुकुल का काम भी पार्टी लाइन पर चलाना चाहते थे और वे महात्माजी से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वे भी उनकी पार्टी के सभासद होकर सब कार्य उनकी मंत्रणा से ही करें। महात्माजी को इस प्रकार की पार्टीबंदी पसंद नहीं थी। गुरुकुल की स्वामिनी सभा के मंत्री होने से महाशय कृष्ण अपने को गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता से ऊपर का अधिकारी समझते थे। उस उच्चाधिकार का भी वह खुला प्रयोग करने लगे। गुरुकुल के उपाचार्य श्री रामदेवजी की सहानुभूति भी सभा के मंत्री के साथ थी। महात्माजी ने इस अवस्था को भांप लिया और बिना संघर्ष पैदा हुए गुरुकुल से अलग होने का विचार किया। भगवान ने ठीक मार्ग भी दिखा दिया। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का मार्ग स्वीकार करते हुए आपने गुरुकुल से छुट्टी लेने का निश्चय किया। २९ ज्येष्ठ संवत् १९७२ को आपने प्रतिनिधि-सभा के उस समय के प्रधान श्री रामकृष्णजी को लिखा—"वैदिक धर्म की आज्ञा शिरोधार्य समझ कुछ काल से उसके पालन का विचार मेरे अंदर उठ रहा था। अब ऋषि दयानंद के लिखानुसार वह समय आ गया है, जबकि उस आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। मेरा दृढ़ संकल्प हो गया है कि अब मैं संन्यासाश्रम में प्रवेश करूंगा। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी संवत् १९७२, ६ नवंबर १९१५, के दिन में शिखा-सूत्रादि के बंधनों से मुक्त होकर पिता परमात्मा की शरण में पूर्णतया आ

जाऊँगा।" इसके बाद उक्त अवधि तक गुरुकुल का उचित प्रबंध करने के लिए लिखा गया है। श्री रामकृष्णजी ने अपने सरल स्वभाव के अनुसार लिखा—"आपके गुरुकुल से अलग होने पर गुरुकुल की बहुत हानि होगी। ७५ वर्ष की आयु तक संन्यासाश्रम में प्रवेश न किया, तब भी कोई दोष नहीं है। आर्य समाज और गुरुकुल दोनों की सेवा एक साथ हो सकती है। अधूरी अवस्था में गुरुकुल को छोड़ना उचित नहीं है। आशा है, आप पुनः विचार करेंगे।" कई मास तक यह पत्र-व्यवहार होता रहा। २१ आषाढ़ को महात्माजी ने त्यागपत्र ही लिख भेजा। परंतु, प्रधान जी फिर भी आप पर गुरुकुल में रहने के लिए दबाव डालते रहे। महात्माजी का मानसिक संताप इतना बढ़ गया कि श्रावण मास में आपने प्रधानजी को लिखा —"मैंने समझ लिया कि मेरा यही भाग्य है। सहायकों के विघ्न डालते हुए भी यथाशक्ति काम करूँगा। ...... ऐसे सौभाग्यशाली दिन के आने से पहले ही यदि प्राणांत हो गया, तो भी आनंद है; क्योंकि अत्येष्टि-संस्कार तो कुलपुत्रों के हाथ से हो जाएगा।" संवत् १९७२ और १९७३ के दोनों वर्ष इसी पत्र-व्यवहार में निकल गए। जब परिस्थिति बहुत विकट हो गई, तब महात्माजी ने १८ चैत्र संवत् १९७३, ३० मार्च सन् १९१७, को प्रधान जी को इस संबंध में अंतिम पत्र लिखा। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"आपका तथा भक्तरामजी का संदेश पहुँचा। भक्तराम की इच्छा तो स्वाभाविक है, परंतु क्या आप सचमुच मेरे शरीर का भला चाहते हैं? यदि ऐसी इच्छा आपकी है, तो जो कष्ट और कठिनाइयाँ मुझे म० कृष्ण मंत्री, म० रामदेव उपाध्यक्ष और लाला नंदलाल स० मुख्याधिष्ठा की कृपा से उठानी पड़ी हैं, उनको भूल कर आप मेरी निवृत्ति के मार्ग में रोड़ा क्यों अटकाते हैं? मैं तो अब शरीर का नाश कर चुका था। मुझे तो यही अभीष्ट था कि चुपचाप किसी एकांत स्थान में रह कर धर्मग्रंथों पर विचार करता और यदि कुछ जनता की भेंट रखने योग्य अपने पास होता, तो उसको उनके आगे रख देता। परंतु, मुझे अपनी निर्बलताओं का फल मिल रहा है। जिनके लिए मैंने अपयश खरीदा, उन्ही के द्वारा मुझको दारुण दुःख पहुँचे। अब सिवाय जबर-दस्ती छुटकारा लेने के और कौन-सा मार्ग है? बेचारे भक्तराम को क्या मालूम है कि बरसों से मैं गुरुकुल में कुछ भी काम नहीं कर सका हूँ और मेरा यहाँ बैठना निरर्थक है। मैंने, इसलिए कि मेरे मार्ग में विघ्न डालने वाली और मेरे पग-पग पर रुकावटें डालने वाले काम के अयोग्य न हो जाए, एक शब्द भी लिखकर पब्लिश नहीं किया। ऐसी अवस्था में मेरे लिए श्रेय मार्ग वही है, जहाँ मैं विश्वासघाती और मित्रद्रोहियों की क्रियाओं को भूल कर उनके लिए भी परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना कर सकूँ। संभव है कि आप अंतिम युक्ति यह सोचें कि आप गुरुकुल के

जलसे पर आवें ही नहीं। यदि आपने ऐसा भी किया, तब भी मुझे १२ अप्रैल के प्रातःकाल यहाँ से चले ही जाना है।"

पत्र इतना स्पष्ट है कि उसके संबंध में कुछ भी लिखना उसको अस्पष्ट ही करना होगा। इस प्रकार महात्माजी ने गुरुकुल के पंद्रहवें उत्सव के बाद गुरुकुल के संबंध में संघर्ष को टाला और उनके ही कंधों पर गुरुकुल का काम छोड़ दिया, जो आपसे रुष्ट थे।

गुरुकुल में फिर दो वर्ष (क) आगमन

सार्वजनिक राजनीतिक क्षेत्र की सब कहानी एक साथ देने के कारण से गुरुकुल में फिर से बिताए गए दो वर्ष का वर्णन बहुत पीछे पड़ गया है। अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के कार्य से निवृत्त हो कर आप जलियांवाला बाग को 'अमर वाटिका' बनाने के काम में लगने का निश्चय किए हुए थे। पर, गुरुकुल के हितैषियों ने आपको आ घेरा और आपसे कहा कि यदि आप गुरुकुल को नहीं सँभालेंगे; तो गुरुकुल के सामयिक आचार्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति हुए बिना ही उसको एकाएक फरवरी के मध्य में छोड़ जाएंगे और गुरुकुल की इतिश्री हो जाएगी। अंतरंग-सभा के निश्चय, प्रतिनिधि-सभा के प्रधान के आग्रह और गुरुकुलप्रेमियों के अनुरोध पर आप महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी से जलियांवाला बाग के लिए चंदा इकट्ठा करने के काम से छुट्टी माँग कर गुरुकुल चले आए। अंतरंग-सभा में २५ मार्च माघ संवत् १६७६ को आचार्य के पद से श्री रामदेव जी और मुख्याधिष्ठाता के पद से श्री रामकृष्ण जी का त्यागपत्र स्वीकृत करते हुए यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था कि "वर्तमान अवस्था में इस सभा की संमति में श्री स्वामी श्रद्धानंद जी ही पूर्ण योग्यता से इस कार्य का संपादन कर सकते हैं। इसलिए यह सभा सर्वसंमति से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती है कि वे पूर्ववत् इस कार्य को सँभालने की कृपा करें। सभा उनको गुरुकुल का आचार्य और मुख्याधिष्ठाता नियत करती है। श्री स्वामी जी के वही अधिकार होंगे, जो उन दिनों में थे, जब वे पहले गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता थे। चूँकि स्वामी जी की शारीरिक अवस्था इस योग्य नहीं कि वे अंतरंग-सभा के प्रत्येक अधिवेशन में संमिलित हो सकें, इसलिए निश्चय हुआ कि गुरुकुल के प्रबंध संबंधी सब अधिकार प्रधान सभा, श्री विश्वंभरनाथ जी तथा मुख्याधिष्ठाता की उपसभा को प्राप्त होंगे।" स्वामी जी ने गुरुकुल का काम फिर से अपने हाथ में लेने के लिए निम्नलिखित शर्तें पेश की थीं—(१) दो वर्षों तक पाठविधि और प्रबंध में परीक्षार्थ जो परिवर्तन किए जाएँ, उनमें सभा हस्तक्षेप न करे। (२) गुरुकुल की धन-संपत्ति अलग ही सूद पर चढ़ायी जाए

और उसका अधिकार उसके लिए बनायी गई उपसमिति को ही हो। (३) दो वर्ष के लिए अंतरंग-सभा के स्थान में तीन सज्जनों की एक उपसमिति बनायी जाए। उसी की ओर से बजट सीधा बृहद् अधिवेशन में पेश किया करे। (४) कृषि-विभाग पुनः जारी करने और औद्योगिक तथा व्यापारीय विद्यालय खोलने की स्पष्ट आज्ञा दी जावे। (५) गुरुकुल प्रेस की प्रिंटिंग मशीन तथा अन्य सामान के लिए दस हजार रुपया लगाया जावे। (६) गुरुकुल नियंत्रण परिषद् का जो प्रस्ताव दस-ग्यारह वर्ष पहले पेश किया था, उसको पास कराने का पुनः यत्न हो।"

ऊपर के प्रस्ताव से स्वामीजी के प्रति गुरुकुल के संचालकों अथवा स्वामिनी सभा की अंतरंग सभा के विश्वास, श्रद्धा तथा भरोसे का पता लगता है और स्वामी जीकी शर्तों से मालूम होता है कि गुरुकुल के संबंध में अपने असिद्ध स्वप्न की पूर्ति कर आशा और पुरानी महत्त्वाकांक्षा से ही आप फिर गुरुकुल आए थे।

(ख) श्रद्धा

११ फरवरी, १९२०, ४ फाल्गुन १९७६ को स्वामी जी ने कुलपति के रूप में फिर गुरुकुल में पदार्पण किया और पाँच-छः दिनों में गुरुकुल की योग्य व्यवस्था करके आप इंद्रप्रस्थ, कुरूक्षेत्र, मटिण्डू के शाखा गुरुकुलों के उत्सव भुगताने के लिए देहली लौट आए। तीनों उत्सव भुगता कर, ता० १७ मार्च के लगभग देहली का सब काम समेट कर, फिर गुरुकुल पहुँच गए। गुरुकुल की आवाज जनता तक पहुँचाने के लिए 'श्रद्धा' नाम से साप्ताहिक पत्रिका निकालनी शुरू की। पहले अंक में 'श्रद्धा' के उद्देश्य तथा कार्यक्रम के संबंध में स्वामी जी ने लिखा था—"ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा और उद्देश्यों का ठीक प्रचार 'श्रद्धा' का मुख्य उद्देश्य है। परंतु, मुख्यतः ब्रह्मचर्य का संबंध संसार की सब स्थितियों के साथ है, इसलिए संसार की सब घटनाओं को ही 'श्रद्धा' की कसौटी पर परखना 'श्रद्धानंद' का काम होगा। मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और मनुष्य के लिए स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिए इस 'श्रद्धा' के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा यात्रा पर भेजा करूँगा।.........मैंने ब्रह्मचर्य आश्रम के पुनरूद्धार को ही सब विषयों, समाचारों का प्रधान लक्ष्य रखा है।.... मातृभूमि की भक्ति के बिना मनुष्यमात्र को अपना भाई नहीं समझा जा सकता। इस भूलोक की सारी मही का उत्तम फल भारतभूमि थी और अब भी है। केवल भारत-पुत्रों ने धर्म के आदर्श से गिर मातृभूमि के गौरव को घटाया और उनके साथ ही सारे संसार से यदि भोग और स्वार्थ का राज नष्ट करना हो, तो पहले भारतभूमि का तेज पुनः उत्तेजित होना चाहिए। वह आत्मिक तेज ही सारे संसार में भोग की प्रधानता का नाश करके शांति

का राज स्थापना कर सकता है। अतः, मातृभूमि के पुराने आत्मिक बल को फिर से जगाना 'श्रद्धा' का काम होगा।"

ऊपर बताए गए 'श्रद्धा' के अंतिम काम पर मनुष्यमात्र के भ्रातृभाव के नाम से अपने राष्ट्र की उपेक्षा करने वालों को कुछ अधिक ध्यान देना चाहिए। यही स्वामी जी का 'राष्ट्रधर्म' था। स्वामीजी की इस स्वदेशभक्ति में दूसरों के प्रति घृणा, तिरस्कार और उन पर शासन करने की आसुरी लालसा की गंध भी नहीं थी। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम से स्वामी जी की राजनीतिक विचार-सरणि को भी समझा जा सकता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी की राजनीति पर धर्म का एक खोल चढ़ा हुआ था, जिससे कांग्रेस की सूखी राजनीति पर विश्वास रखने वाले नेताओं के साथ आपका निभना कठिन था। 'श्रद्धा' के कार्यक्रम में स्वामी जी ने अपनी आत्मा का पूरा और वास्तविक चित्र अंकित कर दिया था। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम को सामने रखते हुए ही ब्रह्मचर्य सूक्त और मानव-धर्मशास्त्र की व्याख्या प्रति अंक में क्रमशः नियमपूर्वक की जाती थी, जिसको स्वामी जी स्वयं लिखते थे। राजनीतिक क्षेत्र से अलग हो जाने पर भी आपका 'श्रद्धा' के द्वारा ही उसके साथ मानसिक संबंध बना रहा था। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल समाचार आदि के अलावा सामयिक प्रसंगों पर भी आपके विचार 'श्रद्धा' द्वारा खुले शब्दों में प्रगट किए जाते थे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर मुसलमानों में उठे हुए 'हिजरत' के संबंध में आपने लिखा था—"मेरे भाइयो! भागना कायरों का काम है। हम यहाँ ही रहेंगे, यहाँ ही जिएँगे और इसी पवित्र भूमि में माता की सेवा करते हुए प्राण त्यागेंगे। यहाँ से 'हिजरत' के स्थान में यहाँ ही शहीद बनेंगे। अपने सहन तथा तप से गोरी जातियों के कठोर हृदयों को भी ऐसा पिघला दें कि उन्हें भारत के एकएक बच्चे से दीन प्रार्थना करनी पड़े और ब्रिटिश गवर्नमेंट के प्रतिनिधि यह कहने के लिए विवश हों कि "उठो भारत के सच्चे पुत्रो और सच्ची पुत्रियो! अपनी अमानत को सँभालो; क्योंकि अब हम अमानत में खयानत नहीं करना चाहते। पंजाब के मार्शल लॉ के खूनी शासन के संबंध में नियुक्त सरकारी हंटर कमिटी की रिपोर्ट की सामने 'श्रद्धा' में विस्तृत और तीव्र आलोचना करते हुए बहुत बुरी धज्जियाँ उड़ायी थीं। 'लोकमान्य तिलक के देहावसान पर राजनीति का सूर्यास्त' शीर्षक से आपने 'श्रद्धा' में एक मुख्य लेख लिखा था—"भारतवर्ष में राजनीति को अंग्रेजी पढ़ों के पुस्तकालयों से बाहर निकाल कर जनता की झोंपड़ियों में पहुँचाने वाले अगुवा वही थे। 'केसरी' पहिला राजनीतिक पत्र है, जो किसानों की झोपड़ियों और मजदूरों की गोष्ठियों में पढ़ा जाना

शुरू हुआ था और गणपति-पूजा पहिला संगठन है, जिसने जनता के बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया था। राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। फिर क्या अँधेरा हो जाएगा? हे पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाली भारतप्रजा! सूर्य अस्त हो गया, परंतु उसका अत्यंताभाव नहीं हुआ। जो काम एक सूर्य करता था, उससे प्रकाश पाए हुए सहस्रों तारे उसको पूरा करेंगे। भारतमाता के उज्ज्वल मुख की ओर देखो, उसका मुख मलिन नहीं है; क्योंकि वह जानती है कि जो प्रकाश उसके समर्थ पुत्र ने फैलाया था, वह एक-एक भारतपुत्र ने अपने अंदर सुरक्षित कर लिया है। लोकमान्य तिलक के बिछोड़े पर कौन आँसू न बहाएगा? विवश हो कर अश्रुधारा बह निकलती है। परंतु, वह देखो, विद्युत् के अक्षरों में सूर्यलोक पर लिखा हुआ है—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसको प्राप्त करूँगा।"

इन राजनीतिक विचारों के साथ-साथ 'श्रद्धा' में पंजाब में आर्य समाज के दो दलों को एक करने, उसकी प्रगति और सार्वदेशिक-सभा की ओर से मद्रास-प्रचार तथा कन्या गुरुकुल की स्थापना के लिए आंदोलन तथा गुरुकुल के संबंध में किए जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण किया जाता था। आर्य समाजियों की इस धारणा की भी 'श्रद्धा' में अच्छी आलोचना की गई थी कि आर्यसमाज का राजनीति के साथ कोई संबंध नहीं है। वैदिक धर्म और वर्तमान आर्यसमाजी, आर्य कौन है? यदि इतना ही समय अपने सुधार में लगाया जाता, 'वैदिक धर्म किन अर्थों में सार्वदेशिक हैं?' 'क्या धर्मसभा सिद्ध करके बच जाओगे?' और 'क्या संसार में वोल्शेविज्म का राज होगा?' इत्यादि लेख आर्यसमाजियों में राजनीतिक तेजस्विता, स्फूर्ति और उत्साह पैदा करने के लिए ही लिखे गए थे। इनमें आर्य-समाजियों से खंडनात्मक कार्य त्याग कर वैयक्तिक आचरणों द्वारा मंडनात्मक कार्य करने के लिए भी जोरदार अपील की गई थी। दलितोद्धार के लिए 'श्रद्धा' में निरंतर आंदोलन किया गया था। इस संबंध में 'सात करोड़ को गँवा कर क्या स्वराज्य मिलेगा?' शीर्षक से लिखा गया लेख आज भी मनन करने योग्य है। गुरुकुल से अलग होने से पहले 'मेरा भविष्य का कार्यक्रम' शीर्षक से लिखे गए लेख में लिखा था—"इसमें संदेह नहीं कि डाक्टरों की संमति में मुझे आराम-ही-आराम करना चाहिए, कार्य से सर्वथा बचना चाहिए। परंतु, मेरी प्रकृति ऐसी बनी हुई है कि आराम में मुझे मौत और कार्य में मुझे जीवन प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि कार्य उतना ही करूँगा, जितनी मुझमें शक्ति है, परंतु बिना कार्य के मैं संतोष से नहीं बैठ सकता। मनुष्य की शक्ति अल्प है, जीवन थोड़ा है, इसको

अधिक-से-अधिक लाभदायक बनाना चाहिए। इसलिए मेरा संकल्प यह है कि कहीं सुगमता से मेरे उद्देश्य की पूर्ति की आशा होगी, वहीं जा सकूँगा। अन्य स्थानों पर नहीं। यही भावना थी, जिससे आप जीवन की अंतिम घड़ी तक सदा कार्य में ही लगे रहे और बाद में ईर्ष्या पैदा करने वाली मृत्यु द्वारा अपने कार्य की शृंखला को सदा के लिए दृढ़ बना गए। गुरुकुल से चले आने के बाद सन् १९२१ के अक्तूबर के मध्य, आश्विन संवत् १९७८ को 'श्रद्धा' बंद हो गई। 'श्रद्धा' ने अपने पौने दो वर्ष के अल्प से जीवन में दूसरे समाचारपत्रों के दीर्घ जीवन से कहीं अधिक काम कर दिखाया।

गुरुकुल के लिए स्थिर फंड

८ श्रावण, संवत् १९७७, २३ जुलाई, सन् १९२०, के 'श्रद्धा' के अंक में 'भारत-वासियों पर गुरुकुल के अधिकार' शीर्षक लेख में स्वामी जी ने गुरुकुल के लिए बीस लाख रुपए की अपील की थी और बीस लाख का स्थिर फंड जमा करने के लिए समस्त भारत तथा बर्मा का दौरा करने का भी आपने संकल्प प्रगट किया था। ५ भाद्रपद की 'श्रद्धा' में 'गुरुकुल कांगड़ी की वर्त्तमान दशा' के शीर्षक से लिखे गए मुख्य लेख में स्वामी जी ने लिखा था—"आज······ भाद्रपद मास की पहली तारीख है। आज ही मैं गुरुकुल के लिए स्थिर राशि एकत्र करने के उद्देश्य से कुलभूमि से बाहर जा रहा हूँ। ······ मैं कलकत्ता से काम शुरू करूँगा। मेरा विचार यह है कि भारतवर्ष का कोई कोना भी ऐसा न छूटे, जहाँ भिक्षा के लिए मैं न पहुँचूँ। ·······कलकत्ता से मद्रास जाकर मुझे कुछ दिन उस प्रांत में सार्वदेशिक सभा की ओर से धर्म प्रचार करना और कराना होगा। वहाँ से बंबई टिक कर काम करूँगा। बंबई से लौट कर कुछ दिन गुरुकुल में बिता ब्रह्मदेश पहुँचने का विचार है। नवंबर मास के मध्य से दिसंबर के मध्य तक वहीं रहूँगा। ब्रह्मदेश से लौट कर पंजाब के ग्राम और नगर-नगर में घूमने का संकल्प है। पंजाब की जनता में गुरुकुल के लिए असीम प्रेम है। गुरुकुल कांगड़ी ने देवियों के हृदय में विशेष स्थान बना लिया है। यदि आज से ही वे मुझे भिक्षा देने की तैयारी करने लग जाए, तो आश्चर्य नहीं कि ५-६ लाख रुपया पंजाब से ही एकत्र हो जाए। जगा देना तथा दानशीलता की ओर ध्यान दिला देना भिक्षुक का काम है और अपना कर्त्तव्य पालन करना दानियों के अधीन है।

आश्विन की 'श्रद्धा' में फिर आपने लिखा—"कलकत्ता से मेरा विचार धर्म-प्रचारार्थ मद्रास प्रांत की यात्रा का था। कलकत्ता में मैं ऐसा अस्वस्थ हो गया कि मुझे कलकत्ता से सीधा गुरुकुल लौटना पड़ा। जीवन शेष है, तो मद्रास को फिर कभी अनुकूल ऋतु में जाऊँगा।"

इस प्रकार मद्रास और बंबई का कार्यक्रम तो पूरा न हो सका, किंतु अतिसार से शिथिलगात होने पर भी आप ७ कार्तिक संवत् १९७७, २२ अक्तूबर सन् १९२० को गुरुकुल से बर्मा के लिए चल दिए। मार्ग में दानापुर आर्य समाज के उत्सव पर दो भाषण दिए। २५ को प्रातः कलकत्ता पहुँच कर २७ के प्रातः आप अंपेरा जहाज से बर्मा के लिए विदा हुए। २९ को शाम को ५ बजे बर्मा पहुँचे। बर्मा में प्रायः सभी शहरों में आपके स्वागत के लिए स्वागत समितियों का संगठन किया गया था और सभी स्थानों पर आपका अभूतपूर्व हार्दिक स्वागत हुआ था। ३० नवंबर, १६ मार्गशीर्ष, को बर्मा से कलकत्ता के लिए विदा होकर मार्ग में इलाहाबाद आनंदभवन में पं० मोतीलालजी नेहरू के यहाँ ठहरते हुए २२ मार्गशीर्ष को आप गुरुकुल लौट आए थे। गुरुकुल में आपकी इस सफल यात्रा के लिए हर्ष मनाया गया और उसके उपलक्ष्य मे सब ब्रह्मचारियों को उस दिन छुट्टी दी गई। बर्मा में इन ३१ दिनों में आपको १४ मानपत्र दिए गए, जिनके लिए कृतज्ञता प्रगट करते हुए आपको प्रायः एक अच्छा लंबा भाषण ही देना पड़ता था। उनके अलावा आपको साठ भाषण और देने पड़े होंगे। बर्मा की आधी से अधिक भूमि का आपने चक्कर लगाया और कोई दो लाख से अधिक स्त्री-पुरुषों को वैदिक धर्म और मातृभूमि का संदेश सुनाया। नौकरशाही के भय से धनाढ्य आपका दिल खोल कर स्वागत नहीं कर सके और आपके कार्य में हाथ भी नहीं बटा सके। फिर भी ६० हजार रूपया आप गुरुकुल के लिए एकत्र कर ही लाए, जिससे गुरुकुल के आयुर्वेद और कृषि के दो उपाध्यायों की गद्दी स्थिर हो गई। इस दृष्टि से भी बर्मा की यात्रा कुछ सफल नहीं हुई। यद्यपि इस संबंध मे स्वामी जी की संपूर्ण आकांक्षा पूरी नहीं हुई थी।

प्रकाश-पार्टी की फिर अड़ंगा-नीति

इस प्रकार स्वामी जी गुरुकुल को स्थिर और उन्नत बनाने में लगे हुए थे कि प्रतिनिधि-सभा के कुछ सदस्यों के साथ आपका पुराना मतभेद फिर उठ खड़ा हुआ। लाहौर की 'प्रकाश-पार्टी' ने फिर अड़ंगा-नीति से काम लेना शुरू किया और 'प्रकाश' के संपादक महाशय कृष्ण जी ने अपने पत्र में गुरुकुल के उद्देश्य को ले कर फिर वही पुराना राग अलापना शुरू किया। श्री रामदेव जी अब गुरुकुल में नहीं थे, इसलिए उन्होंने भी इस काम में उनका पूरा हाथ बटाया। स्वामी जी ने पहिले इन सारे विरोधों को सहन करना ही उचित समझा। इसीलिए आपने गुरुकुल के संचालन के लिए नियुक्त उपसमिति के सदस्य श्री विश्वंभरनाथ जी को १४ अप्रेल, सन् १९२० के पत्र में लिखा था—"अंतरंग-सभा के अधिकारों के संबंध में महाशय कृष्ण को लिखा हुआ मेरा पत्र आपने देखा होगा। मैंने गुरुकुल आने में चाहे भूल ही क्यों न की हो,

पर आप तथा अन्य गुरुकुलप्रेमियों की अपील पर ही मैं यहाँ आया हूँ और कम-से-कम तीन वर्ष लग कर यहां काम करना चाहता हूँ। मैंने अपने विचार और मंतव्य कभी किसी से छिपाए नहीं, इसलिए आप, कृष्ण, नारायणदत्त, गंगाराम तथा अन्य सज्जनों ने जब अंतरंग में मेरे गुरुकुल आने का प्रस्ताव उपस्थित किया था और सभा ने उसको स्वीकार किया था, तब सब सोच-समझ कर ही किया होगा।" इसके बाद इसी पत्र में आपने आर्य समाज के नेताओं के साथ अपने मतभेद को प्रकट किया था। पत्र के उस हिस्से का आशय यह था—"पहली बात जिससे मैं सहमत नहीं हूँ, यह है कि गुरुकुल को किसी भी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ संबधित सब करना भारी भूल होगी। यदि शिक्षा का अधिकार देशी मंत्रियों के हाथ में चला जाए, तो भी गुरुकुल-पद्धति से शिक्षा देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। दूसरा मतभेद उपदेशकों के संबंध में है। मेरा यह मत है कि आजकल के शास्त्रार्थ वास्तविक धर्म-प्रचार के लिए बड़ी भारी बाधा है। इसलिए मैं अपने शिष्यों में अन्य धर्मों के विरुद्ध खंडनात्मक भाव भरने की अपेक्षा उनके सामने उन सब की अच्छाइयाँ रखूँगा और उनको बताऊँगा कि इन सब अच्छाइयों का मूल वेद है। संभव है, गुरुकुल से इस प्रकार की शिक्षा से निकलने वाले उपदेशकों से आप लोग संतुष्ट न हों। तीसरी बात वैदिक धर्म के साथ राजनीति के संबंध की है। यदि इस संबंध में इस समय के आर्य समाज के नेता यह समझते हैं कि उनका और अधिकांश आर्यसमाजियों का मत मुझसे नहीं मिलता है, तो यह आपका धार्मिक कर्त्तव्य है कि आप मुझको उसकी तुरंत सूचना दे दें, जिससे मेरे कारण आप में से किसी को भी कुछ उलझन में न फँसना पड़े।" इस पत्र से मतभेद के मूलभूत कारणों का पता लगता है और साथ ही स्वामीजी की उदार धार्मिक वृत्ति का भी, जिसका यह स्वाभाविक परिणाम है कि गुरुकुल की परंपरा ही कुछ ऐसी हो गई है कि वहाँ के स्नातकों की मनोवृत्ति न तो कट्टरता है और न सांप्रदायिकता, अपितु उदारता, सहिष्णुता और राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी रहती है।

स्वामीजी के स्वास्थ्य की दृष्टि से बनायी गई तीन सज्जनों की उपसमिति के संबंध में भी कुछ लोगों को शिकायत थी। उसको तोड़ने और सभा के अधिवेशनों में स्वयं उपस्थित होने में असमर्थता प्रगट करते हुए आपने सभा के उस समय के मंत्री महाशय कृष्ण जी को भी २८ चैत्र संवत् १९७६ को एक पत्र लिखा था, जिसमें गुरुकुल आने के समय पेश की गई शर्तों को स्वीकृत कराने, अधिष्ठाता तथा आचार्य के अधिकारों को अंतरंग-सभा से स्पष्ट कराने और यदि स्वास्थ्य काम करने योग्य रहा, तो तीन वर्षों तक निरंतर काम कर देने के संबंध में लिखा था। शिमला, अद्

देहली, के रायसाहब गंगाराम जी को भी १० आश्विन संवत् १९७७ के पत्र में आपने लिखा था—"आपको शायद मालूम नहीं कि मेरे साथ की गई सब शर्तें तोड़ दी गई हैं। आपके साथ हुए फैसले के अनुसार तो मैं यहाँ एक पल भी नहीं रहता, परंतु अब प्रतिज्ञा कर ली है कि ऐसी अवस्था में भी ११-२-२० से ११-२-२३ तक तक काम कर दूँगा। यदि आप लोगों को मुझसे काम बिगड़ता दीखे, तो स्पष्ट लिख दीजिए, मैं उसी समय अलग हो जाऊँगा।" इस पत्र के उत्तर में रायसाहब गंगाराम जी ने भी स्वीकार किया था कि स्वामीजी के साथ की गई शर्तें तोड़ दी गई थीं।

स्वामीजी के इन पत्रों पर भी 'प्रकाश'-संपादक का गुरुकुल के संबंध में भ्रमपूर्ण आंदोलन बढ़ता चला गया। यह आंदोलन उस समय जोरों पर था, जब स्वामीजी गुरुकुल के स्थिर कोष के लिए बीस लाख रुपया जमा करने के लिए समस्त भारत के दौरे पर निकलने की तैयारी कर रहे थे। गुरुकुल के आदर्श के संबंध में इतने विचित्र लेख लिखे गए कि उस समय के गुरुकुल के सहायक-मुख्याधिष्ठाता प्रो० इंद्र विद्यावाचस्पति को ९ माघ १९७७ की 'श्रद्धा' में उनके संबंध में यह लिखना पड़ा था—"कोई अनजान यदि ऐसी बात कहता तो दुःख न था, पर दुःख तो यह है कि गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव से तीन मास पूर्व, जब कि आर्यपुरुष गुरुकुल के लिए चंदा जमा करने की तैयारियों में थे, 'प्रकाश'-संपादक म० कृष्णजी ने आर्य जनता को यह बतला कर बहकावट में डाल दिया है कि गुरुकुल का उद्देश्य अभी निश्चित होने को है। जब म० कृष्णजी ने इतनी अनभिज्ञता प्रकट की, तो क्या आश्चर्य था कि 'आर्य गजट' को गुरुकुल के संबंध में बहुत कुछ लिखने का अवसर मिल गया? 'आर्य गजट' के लेख की उपेक्षा हो सकती है, पर म० कृष्णजी की भूल की उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इसी लेख के अंत में कृष्णजी से प्रार्थना की गई थी कि गुरुकुल पर समाचारपत्रों में तिरछे वार करना छोड़ कर प्रतिनिधि-सभा अथवा अंतरंग-सभा में गुरुकुल के उद्देश्य का प्रश्न उपस्थित करके उसका निबटारा करवा लें। पर, 'प्रकाश'-संपादक ने तिरछे वार करने बंद नहीं किए। स्वामी जी के हृदय पर इन तिरछे वारों से लगी हुई चोट का अनुमान उन पत्रों से किया जा सकता है, जो उन्होंने इस संबंध में सभा के मंत्री और प्रधान को लिखे थे। सभा के प्रधान को आपने १४ अप्रैल, सन् १९२१, २ वैशाख १९७८ को लिखा था—"मैं जानता हूँ कि एक ओर तो अधिकारी और अंतरंग-सभा के सभासद मुझे कहते जाएँगे कि मैं कुछ काम न करूँ और आराम से बैठा रहूँ, दूसरी ओर प्रबंध की शिथिलता में मेरी बदनामी भी फैल जाएगी। अब लाचारी है। स्वास्थ्य पर ध्यान

रखे बिना ही काम करना पड़ेगा और करूँगा। परंतु, फिर भी जब आप लोगों की जबानी हमदर्दी हुआ करेगी, तो मुझे आप लोगों की मानसिक दशा पर शोक हुआ करेगा।" मंत्री को बटाला से १३ जून, सन् १९२० को लिखा था—'गुरुकुल का कार्यभार पुनः सँभालने से पहिले यदि मुझे उन कठिनाइयों का पता लग जाता, जो इसके मार्ग में पड़ चुकी हैं, तो मैं फिर से काम सँभालने का साहस नहीं करता। परंतु, जब एक बार बोझ उठा चुका हूँ, तो किसी मंजिल तक उसे पहुँचाने का यत्न करूँगा।"

पर, 'प्रकाश'-संपादक ने सीमा का इतना उल्लंघन कर दिया कि स्वामीजी को गुरुकुल से अलग होने का ही निश्चय करना पड़ा। आपने वह त्यागपत्र, जो असहयोग के प्रकरण में दिया गया है, सभा के प्रधानजी की सेवा में लिख भेजा। ३ ज्येष्ठ, १९७८ को आपने मंत्री के नाम लिखे गए पत्र में लिखा—"आपने 'श्रद्धा' में मेरा लेख और उस पर ८ तथा १५ मई के 'प्रकाश' में प्रो० रामदेव की आलोचना पढ़ी होगी। अतः, प्रो० रामदेव और महा० कृष्ण अनुचित प्रकार से मुझे बदनाम करके अपना मतलब सिद्ध करना चाहते हैं और न केवल 'प्रकाश' में, प्रत्युत् 'प्रताप' द्वारा भी मेरे विरुद्ध अंधेर मचा रहे हैं। इसलिए मैं सभा के अधिवेशन में पहुँच कर गुरुकुल से अलग होने के सारे कारण वर्णन कर देना चाहता हूँ, जिससे भविष्य में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली स्वार्थियों के स्वार्थ का शिकार न होती रहे।" ९ ज्येष्ठ, संवत् १९७८ को देहली से आपने प्रधानजी की सेवा में फिर लिखा था—"मैंने सभा में कुछ कहने की आज्ञा माँगी थी और एक पत्र 'प्रकाश' में छपवाने को भेजा था। उस पर कृष्णजी का उत्तर आया कि आपने तथा पं० विश्वंभरनाथ जी ने उसे छापने से रोक दिया है। मैंने उनको लिख दिया है कि उस पत्र को लौटा दें। अब उस विषय में कुछ न लिखूँगा। मेरे विरुद्ध जो कुछ फैलना था, वह फैल चुका और आगे भी जो गुप्त और प्रसिद्ध रीति से फैलेगा, वह भी फैलता रहे। मैं नोटिस नहीं लूँगा। अब तो लाहौर भी नहीं जाऊँगा, न कुछ सभा को सुनाऊँगा, गुरुकुल से जो त्यागपत्र भेजा था, बल्कि जिस पर अमल कर छोड़ा है, उसे ही काफी समझता हूँ।........आपकी सभा के साथ अब मेरा संबंध समाप्त हुआ।" पर, इसके बाद भी सभा के प्रधान और मंत्री के आग्रह पर आपने २८ मई को प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन में गुरुकुल से अलग होने के सब कारण निवेदन कर दिए थे।

म० कृष्ण और आचार्य रामदेवजी के प्रति सर्वसाधारण आर्यसमाजियों के भावों का पता इससे लग जाता है कि समाजों में आप दोनों के विरुद्ध निंदा के प्रस्ताव पास होने शुरु हो गए थे। स्वामीजी ने इस प्रवृत्ति को रोका और ऐसे

आर्यसमाजों के नाम इस आशय के पत्र लिखे कि "यह जान कर दुःख हुआ कि आप की अंतरंग-सभा ने महाशय कृष्ण और प्रोफेसर रामदेव पर मेरे कारण 'मलामत का वोट' पास किया है। वे दोनों सज्जन आर्यसमाज की दिल से सेवा कर रहे हैं। यदि वे सच्चे दिल से मेरे अमल को आर्य समाज के लिए हानिकारक समझते हैं, तो क्यों न मेरे विरूद्ध लेखनी उठाएँ? यदि मेरा अपराध न होगा, तो मुझे कोई जोखम नहीं और यदि सचमुच मेरा अपराध है, तो उससे लोगों को सावधान रहना ही चाहिए...... ...महाशय! आर्य समाज में पहले ही काम करने वाले कम हैं। आप क्यों दो श्रेष्ठ काम करने वालों को धर्म-सेवा से उदासीन करने का पाप अपने सिर पर लेते हैं? कृपा कर के 'मलामत का प्रस्ताव' वापिस लीजिए और जिन कठोर वचनों का आपने प्रयोग किया है, उन्हें लौटा लीजिए।"

इस प्रकार इस बार भी गुरुकुल से जुदा होने की कहानी पहली कहानी की पुनरावृत्ति है। ऊपर पत्रों में से केवल कुछ अवतरण दे दिए गए हैं और उन पर ऊपर से कुछ भी नहीं लिखा गया है, केवल इसीलिए कि किसी को कुछ कहने का अवसर न रहे। भी फिर ये सब इतने स्पष्ट हैं कि उन पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

असिद्ध स्वप्न

इस बार भी स्वामीजी गुरुकुल के संबंध में अपना आदर्श पूरा नहीं कर पाए। गुरुकुल के स्थिर कोष के लिए बीस लाख रुपया जमा करने को भारत के कोने-कोने और पंजाब के ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर घूमने का विचार भी कार्य में परिणत न हो सका। गुरुकुल की रजत-जयंती के समारोह में आपका संमिलित होना गुरुकुल के भाग्य में बदा न था। रजत-जयंती के निमित्त आपने अपने अंग्रेजी साप्ताहिक 'लिबरेटर' में गुरुकुल के चंदे के लिए विशेष लेख लिखे थे। देहावसान के कोई दो-ढाई मास पहले आपने 'माई स्पेशल अपील' (मेरी विशेष अपील) के शीर्षक से लिखा था—"इसके अलावा मैं सवा लाख की विशेष अपील करना चाहता हूँ। गुरुकुल की स्थापना के समय से ही मैं घरेलू उद्योग-धंधे की शिक्षा के लिए शिल्प-महाविद्यालय खोलने के यत्न में रहा हूँ। दो उदार दानियों ने उसके लिए बड़ी धनराशि देने के वायदे भी किए, किंतु दुर्भाग्यवश उन दोनों का शीघ्र ही देहावसान हो गया। गुरुकुल से विदाई ले लेने पर भी मैं सेठ रग्घूमलजी से उक्त महाविद्यालय के लिए पांच लाख देने का आग्रह करता रहा। उन्होंने मुझको स्कीम बनाने के लिए कहा ही था कि निठुर मौत ने उनको हमारे बीच से उठा लिया। आशा है, उनके ट्रस्ट के ट्रस्टी गुरुकुल के इस अधिकारपूर्ण दावे को नहीं भूलेंगे। पर, ऐसे दिन

की प्रतीक्षा में हम को नहीं बैठे रहना चाहिए, जिस दिन इतना बड़ा कोई फंड हाथ में आए और काम शुरू हो। पचास हजार मकान के लिए, पचास हजार सामान के लिए और पैंतीस हजार चालू खर्च के लिए चाहिए। छोटी रकम से कुछ न होगा, १२५ उदार दानी ऐसे चाहिए, जो एक-एक हजार रुपया अपने पास से या मित्रों से इकट्ठा करके भेज दें। कोई-कोई उदार दानवीर तो दे, पाँच या दस हजार तक भी दे सकते हैं। अपनी प्रिय संस्था के लिए यह मेरी अंतिम अपील है।"

उस समय कौन जानता था कि वह अंतिम ही अपील थी और उसके बाद अपनी प्रिय संस्था की रजत-जयंती के समारोह को पुनीत किए बिना ही आप इस संसार से चल बसेंगे।

आचार्य रामदेव जी को आपने काशी से गुरुकुल से अलग हो जाने के बाद एक पत्र लिखा था, उससे भी गुरुकुल के संबंध में आपकी उच्च आकांक्षा का पता लगता है। उसमें आपने लिखा था—"यहाँ से जो कुछ गुरुकुल के लिए उपयोगी शिक्षा ली जा सकती है, वह लिखता हूँ। यह सब थियासोफिकल हाईस्कूल में देख कर लिखने का विचार हुआ। गुरुकुल की शाखाओं में लुहारी, तरखानी और बालचर-विधि का प्रचार अवश्य होना चाहिए। कांगड़ी में फिर बालचर परिपक्व अवस्था में होकर बड़ा उपकार होगा। 'फर्स्ट एड' की शिक्षा भी होनी चाहिए। इन सब के लिए विचार करना हो, तो जन्मोत्सव पर आपसे आकर मिल लूँ। कृषि का काम ये बड़ा अच्छा सिखाते हैं और वह मनोरंजक भी होता है। सबसे बढ़ कर स्कूल के ८,९,१० के 'साइंस' क्लासों में क्रियात्मक शिक्षा बहुत दी जाती है। मेरे सामने लड़के स्याही, साबुन और अन्य वस्तुएँ बनाते थे। गायन-विद्या एक ग्रेजुएट अध्यापक सिखाता है। उसकी विधि ऐसी देखी कि बालक राग में लिप्त भी न हों और सीख भी जाएँ। क्रियात्मक विज्ञान के विषय में प्रोफेसर नाग ने प्रोफेसर रामशरण जी को लिखने के लिए कहा है। इन सब बातों की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ का सरस्वती भवन भी देखा। दो अन्वेषण करते हुए पंडित भी देखे। संस्कृत-पुस्तकों का संग्रह बहुत अच्छा, अपूर्व भी, है। क्यों न आप आगामी होने वाले स्नातकों में से दो योग्य स्नातक तैयार करें। यदि इस काम के लिए दो योग्य स्नातक तैयार हो जावें, तो मैं प्रेरणा करता हूँ कि दो छात्रवृत्तियों के लिए धन आ जावे। ४० रुपए मासिक छात्रवृत्ति गवर्नमेंट देती है, वही हम दें।"

वास्तव में स्वामीजी जिस किसी संस्था में जाते थे, उसको इस दृष्टि से ही देखते थे कि उसमें से गुरुकुल के लिए क्या लिया जा सकता है। आप किसी भी संस्था से गुरुकुल को पिछड़ा हुआ नहीं देखना चाहते थे।

स्थान-परिवर्तन

संवत् १९८१,२८ सितंबर, सन् १९२४, भयंकर बाढ़ आने के बाद गुरुकुल को उस भूमि से उठा कर इस पार लाने का प्रकरण भी यहां ही पूरा कर देना चाहिए। प्रो० रामदेव जी, महाशय कृष्ण जी तथा कुछ अन्य सज्जन गुरुकुल को उस पार से उठा लाने का दृढ़ निश्चय किए हुए थे। उनके इस निश्चय को ले कर हुए सब आंदोलन को यहां देने की आवश्यकता नहीं। तीन-चार स्थानों को ले कर विवाद चल रहा था। एक पुरानी भूमि से कुछ ऊपर कांगड़ी गांव के परे की भूमि, दूसरी गंगा के इस पार की भूमि, तीसरा पंजाब में कोई स्थान और चौथा देहली के कहीं आसपास। स्वामीजी ने आपस की बातचीत और समाचारपत्रों द्वारा अपना मत कांगड़ी गांव के ऊपर की भूमि के लिए ही प्रगट किया था और उसके बाद आप देहली के आसपास आने के पक्ष में थे। इस संबंध में स्वामीजी के हृदय की भावना को यहां अंकित करना संभव नहीं है। वह केवल अनुभव और अनुमान का विषय है।

गुरुकुल में ही अंतरंग-सभा का अधिवेशन २१ अक्तूबर, सन् १९२४ को करके इस प्रश्न का अंतिम निर्णय किया गया था। उसमें स्वामीजी भी उपस्थित थे। उस भूमि को छोड़ने का निश्चय हो जाने के बाद स्वामीजी उठ कर आचार्य के बंगले के पीछे, गंगा के ठीक किनारे पर लगे हुए, 'खटुए' के वृक्ष के नीचे आकर निस्तब्ध खड़े हो गए। वाणी से अमृत की मधुर वर्षा करने वाले स्वामी सत्यानंदजी महाराज ने आकर कुछ पूछने का यत्न किया, तो स्वामीजी की आँखों से अश्रुधारा बह निकली। संन्यासी के हृदय में भी ममता का समुद्र उमड़ आया और वह आंखों के रास्ते से बाहर भी निकल पड़ा। वह सूखी सांसारिक ममता नहीं थी, 'तपोभूमि' के उजड़ने तथा 'कर्मभूमि' के नष्ट होने का वह मर्मांतक दृश्य था, जिसकी कल्पना तक स्वामीजी को रुला देती थी। यह प्रश्न उनके हृदय के मर्मस्थल पर ऐसी सीधी चोट करता था कि उसका सुनना भी उनके लिए सह्य न था। कितनी ही बार उन्होंने बातचीत करते हुए कितनों ही के सामने और अकेले में भी उसके लिए आंसू बहाए थे। उनकी इस मर्मांतक वेदना का पता उस पत्र से लगता है, जो उन्होंने उस समय के मुख्याधिष्ठाता श्री विश्वंभरनाथजी को देहली से ८ श्रावण संवत्, १९८१ को लिखा था। उसमें आपने लिखा था—'आपने गुरुकुल का जलवायु खराब बतला कर स्थान-परिवर्तन के लिए एक सब कमिटी बनवायी है। उसके दो सभासद तो पहिले ही से आपके विचार के अनुकूल हैं। सभा ने यह समझा है कि मेरा कभी गुरुकुल से कोई संबंध ही नहीं रहा और मुझसे इस संबंध में कुछ पूछना

उचित नहीं समझा। समाचारपत्रों से मालूम हुआ है कि गुरुकुल को अकृतकार्य सिद्ध करके लाहौर में उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद डाली जाएगी। जब आपकी संमति में गुरुकुल केवल वैदिक-धर्म या आर्य समाज के उपदेशक उत्पन्न करने के लिए ही स्थापित हुआ था और वह उद्देश्य उससे पूरा नहीं हुआ, तो उस पर सवा लाख से अधिक धन खर्च करने की क्या आवश्यकता है? स्थान-परिवर्तन के स्थान में आप यही संमति क्यों नहीं दे देते कि गुरुकुल को बंद ही कर दिया जाए।'

'प्रकाश'-संपादक के गुरुकुल के उद्देश्य को लेकर उसके प्रतिकूल किए गए दस-ग्यारह वर्ष के निरंतर आंदोलन का परिणाम लाहौर की उक्त उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद थी। स्वामीजी की मर्मांतक वेदना की स्पष्ट अवहेलना करके गुरुकुल भी गंगा के इस पार लाया ही गया।

इस संबंध में काशी के दैनिक 'आज' ने बिलकुल ठीक लिखा था—"कांगड़ी का गुरुकुल आपके अदम्य साहस और असीम देशभक्ति का स्वरूप है। हमें यह जान कर दुःख हुआ कि कई सहकारियों में अनबन हुई, जिससे स्वामी जी बड़े दुःखित हुए और उनका संबंध उस स्थान से कम होता गया; इधर गंगा की भयंकर बाढ़ ने गुरुकुल को बड़ी हानि पहुँचायी। संभवतः इसी से वहाँ के कितने ही कार्यकर्ताओं की पुरानी इच्छा और भी पुष्ट हो गई कि वहाँ से गुरुकुल को हटा कर दूसरे स्थान पर ले जाएँ। अब स्वामीजी के विरोध करते रहने पर भी यह निश्चय हो गया। स्वामीजी ने मर्मस्पर्शी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करते हुए इस पर दुःख प्रकट किया है और अपने हाथ के किए हुए कार्य से विदा ले ली है। हमारा भी मत है कि गुरुकुल के अधिकारी भूल कर रहे हैं। प्रत्येक शिक्षा-संस्था की परंपरा उसके मकानों के साथ एक जान हो जाती है और दूसरे स्थान पर जाने से वे भाव कदापि कायम नहीं रह सकते, जो निर्णय के प्रारंभिक कष्टों के समय उत्पन होते हैं और जो वहाँ की एक-एक ईंट से याद आते हैं। यही गलती काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संचालकों ने की, जब अपना पुराना कमच्छा का भवन छोड़ वे नगवा जा बसे थे। धन के अपव्यय के अतिरिक्त उन्होंने पुराने सद्भावों का भी सब अपव्यय कर डाला। हमें दुःख है कि कांगड़ी के गुरुकुल वाले भी यही गलती कर रहे हैं। स्वामी श्रद्धानंद अवश्य वहाँ से विदा हो गए, पर स्वामी श्रद्धानंद का नाम न वह संस्था और न यह भूतल ही भूल सकता है। आधुनिक भारत के शिक्षा-सुधारकों में भी उनका नाम अजर-अमर रहेगा, चाहे किसी को उनसे कितना ही मतभेद क्यों न हो?

कुलपति

"गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता के कार्य से पहली ही बार अलग हो जाने के बाद से आपको गुरुकुलवासी और प्रवासी सब 'कुलपति' के नाम से याद

करते थे। आपने भी उस पद की जिम्मेवारी को बराबर निभाया। आप गुरुकुल को विस्तृत और लोकप्रिय बनाने का कार्य तथा आंदोलन बराबर करते रहे। गुरुकुल की शाखाओं तथा कन्या गुरुकुल के स्थापित किए जाने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। नवसारी के पास सूपा में गुरुकुल की शाखा स्थापित करके आपने गुजरात में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की विजय-पताका फहरायी थी। मद्रास और बंगाल में भी उसके लिए यत्न जारी था। ता० १८ दिसंबर, सन् १६२१ को आपने श्री धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति को लिखा था—"इस समय मद्रास के सब प्रांतों में गुरुकुल खोलने की चर्चा चल रही है। स्थान-स्थान पर तैयारी है। मैं तो फिर भी उधर जा कर मद्रास के प्रांतों को हिलाऊँगा, परंतु उससे कोई लाभ उठाने वाले होंगे, तभी काम चलेगा।"

कलकत्ता के श्री तुलसीदत्त जी आर्य को बंगाल में गुरुकुल खोलने के लिए आप निरंतर प्रेरित किया करते थे और इस संबंध में उनके साथ आपने बहुत-सा परामर्श भी किया था। पर, आपका वह मनोरथ पूरा न हो सका। कुलपति के रूप में आप ब्रह्मचारियों तथा स्नातकों में भी सदा ही नवस्फूर्ति पैदा करते थे और वे आपकी ओर प्रकाश पाने की आशा तथा विश्वास से सदा देखते रहते थे।

संवत् १६७६ की फाल्गुन कृष्णा १० की पंजिका में गुरुकुल के कुलपुत्रों के नाम एक संदेश दर्ज है, जिससे ऊपर की पंक्तियों की यथार्थता का पता लगता है। वह संदेश यह है—"भारतमाता के लिए पुत्रों को धन और तन को ही नहीं, मन के अर्पण करने की भी आवश्यकता है। उसके लिए ब्रह्मचर्यरूपी पूर्ण तप की आवश्यकता है। क्या तुमने उसका अनुष्ठान किया है? यदि नहीं, तो आज ही शुद्ध हृदयपूर्वक आरंभ कर दो। तुम्हारे पुराने आचार्य को माता की सेवा में बलि देने के लिए तपस्वी पुत्रों की जरूरत है। क्या कोई आगे बढ़ेगा? जगत्पिता तुम सब पर तेज की वर्षा करें। यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।" सन् १६२१ में असहयोग आंदोलन में वहाँ से गुरुकुल के पहले स्नातक के जेल जाने पर आपने देहली से इस आशय का तार दिया था—"तुम्हारे जेल जाने के समाचार से मुझको बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम्हारे आचार्य की बधाई तुमको जेल में भी प्राप्त हो।"

गुरुकुल के सभी स्नातकों के संबंध में आप पूरी जानकारी रखते थे और उनको सदा ही उचित परामर्श देते रहते थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और स्नातकों के लिए आपका वियोग ऐसी भारी क्षति है, जिसकी पूर्ति न हुई है और न होनी संभव है। गुरुकुल भी आपके वियोग से अनाथ-सा हो गया है।

स्वामी श्रद्धानंद के उपदेश

श्री लाला लब्भू राम जी नय्यड ने स्वामी श्रद्धानंद के उपदेशों को संग्रह कर पुस्तक का रूप दिया है। शिक्षा-संस्थाओं में व्याप्त आज की वर्त्तमान परिस्थिति में आचार्यों एवं विद्यार्थियों के चिंतन, मनन एवं धारण करने के योग्य स्वामी श्रद्धानंद के कुछ उपदेश इस प्रकार हैं :—

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथक्
देवाः अनुसयन्ति सर्वे। गंधर्वा
एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

अथर्व, कांड ११, अ० ३, सूक्त ५, २ ॥

अर्थात् देव कौन है? "देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा" दान देने से, प्रकाश करने से, उपदेश देने से (दूसरे के अंदर चादना करने से) और सब प्रकाशों की स्थिति का स्थान होने से देव कहाता है। पहिले, दान देने वाले देव, दूसरे, प्रकाश करने वाले सूर्यादिदेव, तीसरे, उपदेश से अंदर चादना देने वाले माता-पिता और आचार्य देव और चौथे प्रकाशकों की भी स्थिति का स्थान परमात्मा परमदेव हैं। देवसमूह में अग्नि, पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चंद्रमा और नक्षत्र, आठ वसु कहलाते हैं; क्योंकि सब पदार्थ इन्हीं में निवास करते हैं। दस प्राण और ११ वाँ जीवात्मा इस लिए रुद्र कहलाते हैं; क्योंकि जब ये शरीर से निकलते हैं, तो मृत के संबंधियों को रुलाते हैं। संवत्सर के बारह महीने आदित्य कहलाते हैं, क्योंकि ये आयु को क्षीण करते चले जाते हैं। ३१ ये और व्यापक विद्युत् तथा यज्ञ सब मिला कर तैंतीस देवसमूह हैं। इन्हीं का विस्तार ३३३ और ६३३३ तक पहुँचता है। ये सब देवसमूह और जुदे-जुदे देव, सब ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं—अर्थात् ब्रह्मचारी के स्वभावतः अनुकूल, ये शक्तियाँ हो जाती हैं। उसके मार्ग में ये शक्तियाँ बाधक नहीं होतीं और गंधर्व भी उसके साथ चलते हैं; उसका रास्ता साफ करते हैं। ये गंधर्व कौन हैं? "गाम् धारंनीति ये ते गंधर्वाः" इन अर्थों में जो अनगिनत सूर्यलोक ब्रह्मांड को प्रकाशित कर रहे हैं, वे गंधर्व हैं। फिर शतपथ में लिखा है—"अहोरात्राणि वै गंधर्वाः" दिन-रात भी गंधर्व हैं। यह दिन-रात का चक्र सबको घुमाता है और बुद्धि को डाँवाडोल कर देता है। परंतु, ब्रह्मचारी को वह भी हिला नहीं सकता।

क्यों सब देव ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं? इसका उत्तर साधारण व्यक्तियों के जीवन में ढूँढिए। जिसका वीर्य सुरक्षित नहीं, वह माथे की तेजमय अग्नि को

मंद कर देता है। जिसका शरीर तप से शुद्ध नहीं, वह मलमूत्र के अनुचित त्याग से पृथ्वी को गंदा कर देता है। जिसका मन वश में नहीं, वह वायु और अंतरिक्ष को निर्वल करने की चेष्टा करता है और जो अविद्या का दास है, उससे उठे हुए बादल सब प्रकाशमान पदार्थों को मंद कर देते हैं।

अब्रह्मचारी से रुद्र पीड़ित और आदित्य दुःखी रहते हैं। विद्युत् और यज्ञ उसकी जान को रोते हैं। परंतु, ब्रह्मचारी अपने तप से इन सब को उत्तेजित करता है। ब्रह्मचारी का क्रियात्मक उपदेश इन सब देवों को शांत करके भरपूर कर देता है। दिन-रात, उलटे चलने के स्थान में सीधे चलने लगते हैं। ब्रह्मचारी का जीवन जगत की काया पलट देता है। ज्ञानगोष्ठी तो और भी महापुरुष करते थे, परंतु बुद्धदेव ने क्यों वाममार्ग के घोर बादलों को छिन्न-भिन्न करके चिरस्थायी प्रभाव संसार पर छोड़ा? ईसा ने क्यों मसीह की पदवी पायी और उनके उपदेश ने क्यों सदियों तक करोड़ों को शांति का पाठ पढ़ाया? इन सब से बढ़ कर प्राचीनकाल में रामचंद्र तथा सीता के जीवन ने क्यों ऐसा उच्च पद प्राप्त किया कि उनके जीवन की कथा के पाठमात्र से अब तक स्त्री-पुरुष पवित्र जीवन लाभ करते हैं? और इस समय ऋषि दयानंद के जीवन का पाठ करके क्यों लाखों आत्मा सन्मार्ग में चल कर शांति-लाभ कर रहे हैं? उत्तर एक ही है कि ये सब महापुरुष ब्रह्मचारी थे।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमनुसंयन्ति देवाः।।

—अथर्व, कांड ११, अ० ३ सूक्त ५, ३।

यहाँ 'रात्रिः तिस्रः' के भावार्थ को ही स्पष्ट करना है। रात अंधकार का समय है। यद्यपि तारागण तथा अर्द्धमास तक चंद्रमा भी प्रकाश देते हैं; परंतु वह प्रकाश सारे अंधेरे को दूर नहीं कर देता। सारा अंधकार तब दूर होता है, जब आदित्य भगवान् अपने यौवन समेत दर्शन देते हैं। यहाँ तीन रातों से साधारण तीन रात्रि से तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत् ब्रह्मचर्य के तीन दर्जों से मतलब मालूम होता है। प्रथम २४ वर्षों तक का ब्रह्मचर्य व्रत है, जिसे पूरा करके ब्रह्मचारी वसु (अर्थात् उत्तम गुणों को अपने अंदर वास कराने वाला) बनता है। परंतु, यह निकृष्ट ब्रह्मचर्य है। जब आचार्य वसु ब्रह्मचारी को घर जाने की आज्ञा देता है, तो श्रद्धादेवी उसे प्रेरित करके उससे कहलाती है—"भगवान्! अभी तो मैं उत्तम गुणों का वास कराने वाला ही बना हूँ। अभी प्रलोभन मुझे गिरा सकते हैं। मुझे विशेष साधन का समय दीजिए।" शिष्य की योग्यता को देखकर आचार्य फिर आज्ञा देते हैं। तब ४४ वर्ष की आयु तक तपपूर्वक विद्याभ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी रुद्र संज्ञा

का अधिकारी बनता है। उसकी वह प्रार्थना स्वीकार होती है, जो उसने आश्रम में प्रविष्ट होते ही आचार्य से की थी—"मा तनु अश्मा भवतु" मेरी बनावट (शरीर और मन) चट्टान की तरह दृढ़ हो जावे।' तब वह ऐसा बलिष्ट हो जाता है कि विषय और पाप उसकी बनावट से टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाते और रोते हैं। उन्हें रुलाने का हेतु होने से ब्रह्मचारी रुद्र बन जाता है।

फिर भी उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। जब विषय और पाप समीप आते रहें, जब अंधेरा आस-पास घूम सके, तब ब्रह्मचारी को जब गुरू समावर्तन की आज्ञा देते हैं, तब वह फिर हाथ जोड़ कर विनय करता है—"भगवन्! अभी अंधकार ने मुझे घेरना नहीं छोड़ा। आत्मा निश्चित नहीं हुई, इस पवित्र आश्रम द्वारा सावित्री माता के गर्भ में सुरक्षित हो कर कुछ काल और निवास करने की आज्ञा मुझे प्रदान कीजिए।"

गुरु की आज्ञा से शिष्य तीसरी रात (अंधकार से घिरी हुई अवस्था) भी गर्भ में बिताता है। तब उसके दृढ़ तप से अंधेरा दूर हो जाता है और वह सावित्री के गर्भ से बाहर आ कर आचार्य को प्रणाम करता है। तब आचार्य उस ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भांति देदीप्यमान देख कर आशीर्वाद देता है—"तू अब आदित्य है। तेरा प्रकाश स्थिर होगा। अंधकार का हौसला ही न पड़ेगा कि तेरे समीप पहुंच सके" बस तीसरी रात भी व्यतीत हो गई और ब्रह्मचारी का दिव्य तेज फैल गया और तब वह द्विज बन कर देव पुरुषों से संमानित होकर उनमें शामिल हो जाता है। इसी वेद-मंत्र की व्याख्या में मनु भगवान् ने कहा है:—

"मातुरग्रेऽधि जननं, द्वितीयं मौञ्जीबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य, मौञ्जिबंधनचिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री, पिता त्वाचार्य्य उच्यते॥"

श्रुति की आज्ञा से द्विज के, प्रथम माता से जन्म, दूसरे उपनयन वा व्रतबंध और तीसरे यज्ञ की दीक्षा में ये तीन जन्म होते हैं। इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में, वेदग्रहणार्थ उपनयन-संस्कार रूप जो जन्म है, उस जन्म से उस (ब्रह्मचारी) की माता सावित्री और पिता आचार्य कहलाते हैं।

आपस्तंभ सूत्र में लिखा है—'सह विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः।" इसी भाव को लक्ष्य में रख कर वर्त्तमान मनुस्मृतिकार ने लिखा है—

"आमान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूति तस्य तां विद्याद्यायोनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जाति विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥"

माता-पिता तो जीवन-विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण कामवश हो कर भी संतान उत्पन्न करते हैं, परंतु वह जन्म अजर और अमर है, जो ब्रह्मचारी को विद्या के गर्भ में रख कर आचार्य देता है। धन्य है वह देश और धन्य है वह जाति, जिसमें आदित्य आचार्य ब्रह्मचारियों को अमर जीवन का दान देते हैं।

आचार्य कौन हो सकता है ? जो शिष्य को अमर जीवन प्रदान करने की शक्ति रखता हो। जिसने स्वयं अमर जीवन प्राप्त नहीं किया, जो स्वयं इंद्रियों का दास और कमजोरियों का शिकार है, उसे पवित्र आचार्यपद ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए। एक बड़े विदेशी अनुभवी विद्वान् की उक्ति प्रसिद्ध है कि कवि की तरह अध्यापक भी गढ़े नहीं जा सकते, वे जन्म से ही शक्ति लेकर आते हैं। अनेक जन्मों के साधनों से बुरे संस्कार धुलते हैं, यह ऋषियों के आदेश का सार है। आत्माओं के कुसंस्कारों को धो कर उनमें उत्तम संस्कारों के प्रवेश कराने के लिए उग्र तप की जरूरत है। तब कैसी गिरी हुई दशा उस देश और उस काल की समझी जाए, जिसमें आचार्य का काम एक पेशा बना लिया जाता है और उसे टका कमाने का साधन समझा जाता है। वेद का उपदेश यह है कि जो शरीर आत्मा और मन की शक्ति से शिष्य को सुरक्षित करके उसे देवसभा का सभासद बना सके, वही आचार्य-पद का अधिकारी है।

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥
अथर्व, कांड ११ अ० ३ सूक्त ५, ४ ॥

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु को गुरु के पास हाथ में समिधा ले कर जाना चाहिए। खाली हाथ जाना मना है। याचक को अभिमान दूर रख देना चाहिए। वेद में कहा है कि श्रद्धा की समिधा लेकर प्रभु की पूजा में प्रवृत्त होना चाहिए। ब्रह्मचारी की संपत्ति समिधा ही है; क्योंकि ब्रह्मचर्य तप रूपी यज्ञ ही है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य वेदविद्या द्वारा ईश्वरप्राप्ति है, वह प्राप्ति ही इस ब्रह्मयज्ञ का फल है।

ब्रह्मचारी तीन स्थूल समिधाओं को तो नित्य प्रदीप्त अग्नि में डालता ही है, परंतु ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भी उसे तीन समिधाओं की आवश्यकता

है। यह तीन समिधा कौन सी है ? प्रथम पृथिवी, द्वितीय द्यौः और तीसरी अंतरिक्ष। इन्हीं के ज्ञान में सारा ज्ञान आ जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय में पहले गुरु शिष्य को, वर्ण, स्वर, मात्रा-प्रयत्न, उच्चारण और संधि का ज्ञान देकर उस शब्द शिक्षा के पश्चात् अर्थशिक्षा आरंभ करता है। अर्थशिक्षा में पाँच अधिकरण बतला कर उनमें पहला अधिलोक प्रकरण है। इस दृश्य कार्यजगत् का नाम ही अधिलोक है। उसमें "पृथिवी पूर्वरूप,, द्यौरुत्तररूपम्, आकाशः सन्धिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।" भूमि ही इस आत्मिक यज्ञ की कार्यसिद्धि में आधारस्वरूप होने से मुख्य साधन है। उस सर्व इंद्रियों से ग्राह्य पृथिवी और उसकी रचना से उठ कर सूर्यादि प्रकाशक लोकों का ज्ञान संभव है। वहाँ बाह्य इंद्रियों में से केवल एक चक्षु इंद्रिय को ही गम्यता है। यद्यपि वह प्रकाश गौण साधन है, तथापि उस दूर स्थित प्रकाश के बिना निकटस्थ पृथिवी के प्रत्यक्ष दर्शन कठिन ही क्या, असंभव है। द्यौः इसलिए उत्तर रूप है परंतु पृथिवी और द्यौः---इन दोनों का मेल कहाँ होता है ? यदि अंतरिक्ष न हो, तो सूर्य का प्रकाश ब्रह्मचारी तक कौन पहुँचावे ? इसलिए अंतरिक्ष ही उन दोनों के मेल का स्थान है। पृथिवी और द्युलोक की विद्या की प्राप्ति असंभव है जब तक कि अंतरिक्ष उन्हें परस्पर मिलाने वाला न हो। तब अंतरिक्ष की विद्या से ही पहली दोनों विद्याओं का निश्चय होता है। ये तीनों इस शिक्षारूपी आत्म-यज्ञ की तीन समिधा हैं। इन्हीं तीनों का ज्ञान नित्य प्राप्त करने से आत्म-यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त रहती है। ये तीन समिधा हैं, परंतु इनको यज्ञ-कुंड में डालने का हाथरूपी मुख्य साधन वायु है....यह उपनिषद् ने स्पष्टीकरण के लिए विशेष व्याख्या की है। प्रकाश भले ही अंतरिक्ष में रहे, परंतु उसकी किरणें वायु के बल से ही पृथिवी तक पहुँचती हैं।

ब्रह्मचारी को संसार के प्रलोभन चारों ओर से घेरते हैं,। विषयों की प्रबल शक्तियाँ उस पर सारे बल से प्रहार करती हैं। उनका मुकाबला अल्प जीव कैसे करे ? उनका मुकाबला नहीं हो सकता; उन शक्तियों को तृप्त करने से ही वे ब्रह्मचारी का पीछा छोड़ती हैं ? क्या भोग से उनकी तृप्ति होती है ? मनुष्य अज्ञानवश समझता है कि वह विषयों को भोग रहा है; उलटा विषय उसका भुगतान कर देते हैं। तब उनके चंगुल से कैसे छूटे ? इस बात का जिक्र करते हुए कि जो मनुष्य कामभोग नहीं करता और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है, उसमें वीर्य स्खलित होने का सर्वथा अभाव असंभव है। अमेरिका के डॉ० विलियम् जे० राबिसन, एम० डी० लिखते हैं—"इस कथन में केवल एक ही अपवाद हो सकता है वह यह कि जो लोग लगन से किसी मानसिक काम में लगे हुए हैं, वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत

करते हुए भी महीनों और वर्षों तक भी विना वीर्य-स्खलन के रह सकते हैं। डॉ० राविसन से बहुत पहिले ऋषि दयानंद ने इस विषय पर लिखा था—"जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-रक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता, उसका वीर्य विचाराग्नि में ईंधनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है।"

ब्रह्मचारी सांसारिक विरोधी शक्तियों को कैसे तृप्त करता है? पृथ्वी प्रकाश और अंतरिक्ष से जो आक्रमण उस पर होते हैं, उनको वह कैसे निवारण करता है? वह इन्हीं तीनों को समिधा बनाता है और उन्हें ज्ञानाग्नि में आहुति देकर भस्म कर देता हैं। भस्म का तात्पर्य यह नहीं कि उनका अत्यंताभाव हो जाता है, प्रत्युत् मतलब इतना ही है कि रूपांतर में जाकर वे उस ब्रह्मचारी को अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते।

हाँ, इन तीन समिधाओं से आत्मयज्ञ प्रदीप्त कैसे किया जाए? उसके लिए श्रम की आवश्यकता है। उस श्रमरूपी बल की प्राप्ति के लिए मेखला ही एक मात्र साधन है। जननेंद्रिय को स्वाद के प्रलोभन से बचाने के लिए ब्रह्मचारी मेखला धारण करता है। बिना समिधाधान के मेखला धारण करने के योग्य (अर्थात् लंगोट का सच्चा, यति) नहीं हो सकता और बिना मेखला (तड़ागी) धारण किए अर्थात् लंगोटबंद हुए श्रमी नहीं हो सकता और उस 'श्रम' से ही अंत में तप की प्राप्ति होती है। तब सब लोकों को तृप्त करने का साधन तप ही सिद्ध होता है।

इसलिए उपनिषद् की भाषा में कह सकते हैं कि "समिधा पूर्वरूपम्, मेखला उत्तररूपम्। श्रमः सन्धिः। तपः संधानम्॥" यदि ब्रह्मचारी तप द्वारा श्रमी बन कर वीर्य-रक्षा द्वारा उस बल को दृढ़ कर ले और फिर अपनी सारी शक्तियों को पृथ्वीलोक, द्युलोक और अंतरिक्षलोक की विद्या के प्राप्त करने में एकचित्त हो कर लगा दे, तो फिर वह तप में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है और तपस्वी बन कर सर्व बाह्य शक्तियों को ऐसा तृप्त कर देता है कि वे उसको गिराने का साहस करने कि स्थान में उसकी सहायक होती हैं।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्राह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥
—अथर्व, कांड ११, अ० ३, सूक्त ५, ॥

सृष्टि प्रवाह से अनादि है—यही सिद्धांत सृष्टि-उत्पत्ति की समस्या को हल करता है। और कोई भी कल्पना करो—शून्य से सृष्टि हुई, सदा से कार्य जगत् ऐसा ही है इत्यादि—ब्राह्मण में सृष्टि की समस्या हल नहीं होती। तब सृष्टि

प्रवाह से अनादि है—सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण करती है और फिर अपने उपादान कारण में लीन हो जाती है, यही प्रवाह चल रहा है।

सृष्टि के आदि में जहाँ परमात्मा ने भौतिक आँखों को लाभदायक बनाने के लिए भौतिक सूर्य का प्रकाश किया, वहाँ मनुष्य की बुद्धिरूपी अंतरीय आँखों को सुखदायक बनाने के लिए वेदज्ञान का भी प्रकाश किया। जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का उदय हुआ, उसी तप के बल (तेभ्यः तप्तेभ्यस्त्रयो वेदाऽजायन्त) से तीनों (ज्ञान, कर्म, उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्मविद्या का जिसके द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्मवेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर (गति + ज्ञान, गमन, प्राप्ति) गतिमान हो कर, जिसने पहले उसमें गमन करके उसको प्राप्त किया, इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है। तेजोऽसि तेजो मयी धेहि। इस प्रार्थना को ब्रह्मा ने ही सार्थक बनाया। तप द्वारा उस उग्र तेज को धारण करके वह सबसे ऊँचा उठ कर मनुष्य की सृष्टि का आदि गुरु बना। जब-जब सृष्टि होती है, उसका उत्तर क्रम चढ़ाने वाला आदिपुरुष भी उत्पन्न होता है। इसी भाव को लेकर श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"। इसी भाव को प्रकट करते हुए उपरोक्त वेदमंत्र का मानो एक प्रकार का भाष्य ही मुंडकोपनिषद् में किया है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
ब्रह्मविद्यायां सर्वविद्याप्रतिष्ठाथवयि ज्येष्ठपुताय प्राह।"

"कल्प के आरंभ से सर्व (वर्णाश्रम) धर्म का प्रचारक और (उस विद्या के प्रचार द्वारा) सब प्राणियों का रक्षक, वेदवेत्ताओं में पहिला (अर्थात् समग्र वेद को जानने वाला) पुरुष अमैथुनी सृष्टि में ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। सब विविध विद्याओं में निष्णात् ब्रह्माजी ने उस ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को उपदेश किया।"

अथर्वा ने अंगिरा को और उसने अपने शिष्यों को—इसी प्रकार शिष्य-प्रशिष्य परंपरा से ब्रह्मविद्या का प्रचार चला आता है। वेद के तीनों कांडों का शंका-समाधान हो कर अथर्ववेद में उनका पूर्ण ज्ञान होता है, इसलिए अथर्ववेद को वेद का अंत कहना ठीक है। इसलिए जिस समर्थ शिष्य को ब्रह्मा ने वेदज्ञान दिया, उसका नाम अथर्वा हुआ और उसी से वेदांत के प्रचार की परंपरा चली।

ब्रह्मा पहिला ब्रह्मचारी हुआ, उसी से ब्रह्म वेद के जानने वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मण कौन है? जन्म से तो सब शूद्र है—ब्रह्म को पहचानने से ही ब्राह्मण बनता है।

"जन्मना जायते शूद्रस्संस्काराद्द्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासाद भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।"

आदि, सब से ऊँचे स्थित, ब्रह्मचारी ब्रह्मा ने ही संस्कार द्वारा दूसरा जन्म देकर अथर्वा को ब्राह्मण बनाया और फिर वही परंपरा चलती रही। सब विद्वान् ब्रह्मा की प्रथम शिक्षा को शिरोधार्य समझकर ही मोक्षरूपी अमृत का पान करते हैं और अब भी यदि सच्चा आचार्य मिल जावे और वह ब्रह्मचारी को विद्या माता के गर्भ में स्थित कराके, तीन रात्रि (४८ वर्षों की आयु) तक रख कर उसकी पूर्ण रक्षा के पश्चात् दूसरा आत्मिक जन्म दे, तो निस्संदेह वह आदित्य ब्रह्मचारी अमर जीवन को साथ ले कर ही उत्पन्न हो। इसी भाव को कैसी उत्कृष्ट भाषा में मनु भगवान् ने प्रकट किया है:—

"ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥"

पृथ्वी में ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वही धर्म के खजाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है; क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यपालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता। वह इतना ऊँचा उठता है कि उसे भोग नीचे नहीं खींच सकता। वह सारे जगत् के पदार्थों को अपना ही समझता है, इसलिए उसके वास्ते कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती—

"सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥"

"जो कुछ भी जगत् के पदार्थ हैं, वे सब ब्राह्मण के हैं, ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सपूर्ण को ग्रहण करने योग्य है। तब तो मनु महाराज का कहना ठीक ही है कि—

"स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वयं वस्ते स्वयं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजनाः ॥"

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहिरता और अपना ही दान देता है। इसमें संदेह नहीं कि और लोग ब्राह्मण का दिया हुआ भोगते हैं। संसार के भोगों में आप न फँस कर जो ब्राह्मण अन्य सारी प्रजा को यथार्थ भोग के लिए कमाई करने का सीधा मार्ग दिखाता है— वही धन्य है।

अब भी यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है। यजमान और अन्य सब यज्ञ पुरुषों को विपय में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुओं को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान से धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून-से-न्यून तीन वेदों के जुदा-जुदा जानने वाले तीन की धर्मसभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता, तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी दे उसको बड़े-बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

संसार में जब तक ऐसी गुरु-शिष्य-परंपरा स्थिर रहती है, तब तक उसके अंदर धर्म और शांति का राज रहता है और जब उस परंपरा में बाधा पड़ती है, तब ही अधर्म और अशांति का दौर-दौरा चलने लगता है। जब-जब भी पहले ब्रह्मचारी का आदर्श सर्वसाधारण की आंखों से ओझल होता है, तब-तब ही प्रजा की संमिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल हो कर पुकारती है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल शुद्ध भाव प्रवेश करता है, तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

हे संसार की व्याकुल प्रजा! क्या लाखों के रक्त और करोड़ों की आत्म-हत्या ने तेरे हृदय को अब तक शुद्ध नहीं किया, जिससे कि अब तक तेरे अंदर ब्रह्मचारी ब्रह्मा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। तब प्रभु से प्रार्थना करो कि वह सच्ची शुद्धि प्रदान करे, जिससे संसार का शीघ्र कल्याण हो।

"ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः
कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥"

अथर्व, कांड ११, अ० ३, सूक्त ५, ६ ॥

ब्रह्मचारी को तीनों लोकों की विद्या प्राप्त करने में ऐसी लगन से जुट जाना चाहिए और उन लोकों की घटनाओं को इस प्रकार हस्तामलक कर लेना चाहिए कि वे उसके अंतःकरण के लिए समिधावत् हो जाएं। उनको वह ब्रह्मचारी ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त यज्ञकुंड में डाल कर यज्ञ-मंडप की शोभा को चौगुना बढ़ा दे। उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि से उसका अपना हृदयरूपी मुख अत्यंत प्रकाशित होगा। यह तेज जो ब्रह्मचारी के पवित्र मुख को प्रकाशित कर रहा है, क्षणिक न रहेगा। यह तेज स्थिर होगा।

यह सारा तैयारी का जमाना है—यह साधन काल है, जिसमें मनुष्य साधन-संपन्न बनता है। कर्म के बंधनों में फँसे हुए साधारण मनुष्य के लिए विषयों में प्रवृत्ति साधारण अवस्था क्या—एक प्रकार से स्वाभाविक बन जाती है। उस अवस्था को बदलना ही ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति-मार्ग का आश्रय ले कर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उनका स्वामी बनता है। परंतु यह निवृत्ति-मार्ग, जहाँ जीवात्मा को अपनी बनावट तथा तन्निर्दिष्ट ब्रह्मांड की गुलामी से आजाद कर देता है, वहाँ यह बड़ा बीहड़ रास्ता है। इस दुर्गम पथ पर चलना तलवार की धार पर नृत्य करने के बराबर है। तब क्या यह मार्ग असाध्य कर्म है? साधनशून्य पुरुषों के लिए जहाँ यह असाध्य है, वहाँ साधनसंपन्न ब्रह्मचारी के आगे इसकी सब मंजिलें अपने-आप साफ हो जाती हैं और वह बेखटके इनमें से गुजर जाता है। ब्रह्मचारी को न शारीरिक चुनाव की सुध है और न उस के सिंगार की बुध। वह तत्त्व के उच्चासन की ओर दृष्टि लगाए सांसारिक फँसावटों से बेलाग जा रहा है।

ब्रह्मचारी जब अपने व्रत को पूर्ण करके विद्या-व्रत स्नातक हो कर समावर्तन के लिए तैयारी करता है, तो उसका वेश क्या होता है? काले मृग का चर्म तो उसका ओढ़ना है और दाढ़ी-मूँछें उसकी बहुत बढ़ी हुई हैं। अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते-करते जहाँ मनुष्यों को परमात्मा के दिए हुए श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ पचाने के लिए गर्म मसालों और खटाई आदि की जरूरत होती है, वहाँ शौच के नियमों को भुला कर मनुष्यों ने और भी अनावश्यक अवस्थाएँ उत्पन्न कर ली हैं। ब्रह्मचारी के लिए नापित की आवश्यकता नहीं और न सेफटीरेजर और मशीन या कैंची की। उसके शरीर के बाल, स्वतंत्रता से बढ़ कर, जहाँ उसके अंदर की विद्युत् को उत्तेजित करके उसकी रक्षा करते हैं, वहाँ काले मृग का चर्म उसके शरीर को सर्दी-गर्मी के बाह्य आक्रमणों से बचा कर उसको निःस्पृह जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाता है। ब्रह्मचारी को धुन लगी है, और वह धुन है—तत्त्वान्वेषण की। इसके लिए वह संसार के सुखों को न्योछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। और वह भोगों में फँसे भी कैसे? जब वह प्रत्येक अवस्था में आनंद अनुभव करता है, जब अपने त्याग के आगे इंद्रियों का और विषयों को सिर झुकाए देखता है—जब देखता है कि सचमुच इनका स्वामी वह बन रहा है, तब वह भोगों का भोग्य पदार्थ कैसे बन सकता है?

काले मृग का चर्म धारण, बढ़ी हुई दाढ़ी मूँछों वाला ब्रह्मचारी ही भोगों से भोगे जाने के स्थान में उन्हें अपना आज्ञापालक सेवक बनाता है। मनु भगवान्

ने यज्ञप्रधान देश में ही ब्राह्मण को बसने की आज्ञा देते हुए यज्ञप्रधान देश के जो विशेषण बतलाए हैं, उनमें एक विशेषण यह है कि उस प्रदेश में काले मृग स्वतंत्रता से विचरते हों। इसलिए काले मृग का चर्म प्राप्त करने के लिए उनके घात करने को मनुस्मृति ने भी लक्ष्य में नहीं रखा। जहाँ काले मृग स्वतंत्रता से विचरते हैं, वहाँ उनका चर्म, उनकी स्वाभाविक मृत्यु पर वनियों के लिए प्राप्त करना बहुत सुगम है।

जिस आश्रमनिवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी-गर्मी की ताड़ना से ऊँचे उठ कर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है, वही दीक्षा का अधिकारी होता है—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति।' चाहे विद्या की पाठविधि समाप्त भी कर चुका हो, परंतु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है, जब कि वह व्रतस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त कर ले, तब वह पहिले समुद्र को नियमपूर्वक लाँघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहिला समुद्र है। जिसने इस पहिले समुद्र में गोते खाए हों, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोग कर खोखला कर दिया हो, वह गृहस्थाश्रमरूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों करता है? इसलिए कि अविद्या ने उसको अंधा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ-रूपी उत्तर समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकाररूपी बड़े-बड़े मगरमच्छ मुँह खोले विचर रहे हैं, भयंकर भोग की लहरें उठ रही हैं—वहाँ इंद्रियदमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है। ब्रह्मचर्य-साधन का फल क्या है? वेद का उत्तर है—'लोक-संग्रह।'

समुद्र अथाह है, आँधी के थपेड़े लहरों को बल्लियों ऊपर ले जा रहे हैं और उसके अंदर मनुष्यों से भरी हुई किश्ती फँस गई है। आमने-सामने की लहरों ने किश्ती को भँवर में फँसा दिया है। उस किश्ती को कौन निकाले? किनारे पर हाहाकार मच रहा है, परंतु किसी का साहस नहीं पड़ता कि हिल सके। किश्ती के यात्री लहरों की हलचल के मद से उन्मत्त अपनी शोचनीय अवस्था को अनुभव नहीं करते। सिर में चक्कर आ रहा है और ऐसा अँधेरा छा गया है कि उन्हें अपना हीन दशा का परिज्ञान ही नहीं। ऐसी दशा में एक तेजस्वी महात्मा जंगल से चले आ रहे हैं। एक क्षण में उन्होंने सारी अवस्था को जाँच लिया और एकदम से समुद्र में कूद पड़े। देखते-देखते वह गए! वह गए!! किश्ती को जा पकड़ा और उछल कर ऊपर चढ़ गए। पतवार को भय के नशे में चूर भोगी से छीन कर अपने हाथ में लिया और किश्ती सँभल गई। वह लहरों को भँवर से निकली और किनारे पर लग गई।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी किसलिए तैयारी करता है? क्या विषयों का दास बनने के लिए? यदि यही उद्देश्य होता, तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब? ब्रह्मचारी सारी तैयारी इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूल कर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःखहरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्गदर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त्त के गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है? यदि नहीं, तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिए।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापों लोक प्रजापति परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वास तस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततई ॥७॥
-- अथर्व, कांड ११ अ० ३ सूक्त ५, ७ ॥

ब्रह्मचर्य की आधारशिला वेदारंभ-संस्कार है। ब्रह्मचारी सबसे पहिले आचार्य से वेदमंत्र (गायत्री) की दीक्षा लेता है। फिर से ही उसे प्राणविद्या का ज्ञान होता है। ज्ञान के बिना अभ्यास के कुछ भी फल नहीं लाता। प्राणविद्या का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उससे प्राणों को वश में लाया जा सके। इसलिए वेदाभ्यास के साथ ही उसे तीन प्राणायाम नित्य करने की शिक्षा मिलती है। तप ब्रह्मचर्य का मूल है और मनु भगवान कहते हैं कि (प्राणायामः परंतपः) प्राणायाम ही बड़ा तप है। प्राणों को वश में करने से ही मन वश में आता है और तब इंद्रियाँ डाँवांडोल नहीं होतीं। मन की एकाग्रता से ही संसार का यथार्थ दर्शन होता है। डाँवांडोल मन संसार के वास्तव्य को नहीं समझ सकता। संसार का वास्तविक स्वरूप देखने के लिए निश्चल मन की आवश्यकता है। जब लोक-संग्रह ब्रह्मचारी का परम अधिकार है, तो उससे पहिले उसे लोक का यथार्थ स्वरूप मालूम होना चाहिए। वेदविद्या को प्राप्ति का फल प्राणविद्या में प्रवेश और प्राणविद्या द्वारा प्राणों को वश में करने का फल जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना है।

लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान किसलिए चाहिए? इसलिए कि उस लोक के ठीक (लोक-दर्शन) दर्शन हो सकें। रूप से विमोहित हो कर मनुष्य व्याकुल पागलों की भाँति उसी की ओर टिकटिकी लगा देते हैं। परतु, प्राणों को वश में करके ब्रह्मचारी विचार करता है—क्या अस्थि, मज्जा और चर्मादि की यह चमक है, जो सुंदर मानवी चेहरे का दहका रही है? क्या जड़ प्राकृतिक जिह्वा के अंदर वह लालित्य है, जो सहस्रों को मूर्च्छित कर देता है? क्या पत्थर, पानी और पोल के अंदर वह घटा छिपी हुई है, जो हिमशिला की ओर स्वभावतः मनुष्यों को बाहरी आँखों को आकर्षित कर रही है? प्राण के विजेता ब्रह्मचारी की अंदर की आँखें खुल जाती

हैं और वह देखता है कि जड़ में सौंदर्य नहीं है। जिस प्रकार चंद्रादि लोक सूर्य से प्रकाशप्राप्ति करके ही प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार सारी प्रकृति सौंदर्य को किसी अन्य उच्च शक्ति से धारण करती है। सारा सौंदर्य उस प्रभु का है, जो सबसे ऊँचा, सब में व्यापक हो कर सबको प्रकाश दे रहा है—जो सूर्यलोकों का भी द्योतक तथा देव और ऋषि-महात्माओं के हृदयों का भी प्रकाशक है।

ऐसी निर्मल बुद्धि को लेकर ब्रह्मचारी दीक्षा से व्रत का अधिकारी बनता है, तब उसे बाहर के प्रलोभन अपनी ओर नहीं खींच सकते। मोक्ष-स्वरूप परमात्मा के अंदर जब आत्मा स्थित हो गया, तब अडोल हो जाता है। यही उसका अपूर्व गर्भ है। जब इस गर्भ में स्थित हुआ, तो बाहर की 'सुधबुध' भूल जाता है। हर मुल्क और हर समय में आदर्श विद्यार्थी उसी को माना जाता रहा है, जिसका विद्याप्राप्ति की धुन में बाहरी दुनिया के साथ कोई संबंध नहीं रहता। जिसने बालों की दासता, वस्त्रों की दासता, चटोरी जबान की दासता और गोष्ठी की दासता में समय और शारीरिक बल को नष्ट किया है, वह सावित्री माता के गर्भ में कभी गया ही नहीं।

जिस प्रकार हाथ, पैरादि अवयव बन जाने पर प्राकृतिक माता के गर्भ में बालक हाथ-पैर मारने लगता है और बुद्धिमती माता उसे धार्मिक पिता की सहायता से शांत कर देती है, इसी प्रकार जब सावित्री माता के गर्भ में ब्रह्मचारी जल्दबाजी से कुछ व्याकुल होने लगता है, तो आचार्य की सहायता से विद्या माता उसे सावधान कर देती है। यह गर्भ का समय बड़ा नाजुक है, विशेषतः आरंभ का समय। जब आरंभ के पाँच मास व्यतीत हो जाएँ, तो फिर माता-पिता संतान की ओर से निश्चिंत हो जाते हैं, इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी गुरुकुल निवास के पहले दस वर्षों के अंदर से सही-सलामत गुजर जाए, तो जहाँ वेद-विद्या पर उसका विश्वास हो जाता है, वहाँ आचार्य भी उसकी रक्षा से अपेक्षतया निश्चिंत हो जाता है। जब इस प्रकार सुरक्षित ब्रह्मचारी जन्म लेकर द्विजन्मा बनता है, तब निसंदेह वह (इंद्र) पद का अधिकारी होता है।

'इंद्र' कौन है? मानवी बनावट के अंदर ही देव और असुर दोनों हैं। ज्ञानेंद्रिय देव हैं; क्योंकि जीवात्मा जितना भी ज्ञान उपार्जन करता है, वह इन्हीं के द्वारा अंदर पहुँचता है। काम, क्रोध, मोह, लोभादि असुर हैं और वे भी कहीं बाहर से नहीं आते। देवभाव के उलट जाने से अंदर ही इनकी उत्पत्ति होती है। इंद्रिय-रूपी देवों को जब जीवात्मा वश में कर लेती है, तब उसकी 'इंद्र' संज्ञा होती है और अविद्यारूपी विरोचन (विगत प्रकाश) काम-क्रोधादि को उत्पन्न करके विषयों

में जीवात्मा को इंद्रियों का दास बना लेता है, तभी उसकी मनुष्य से भी नीचे राक्षस संज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का अंतिम उद्देश्य यह है कि ब्रह्म (वेद और परमेश्वर) तेज धारण करके संसार का कल्याण किया जाए और यह नहीं हो सकता जब तक कि काम-क्रोधादि के दलों को केवल भगा ही न दिया जाए, प्रत्युत उनको 'दग्धबीजवत्' नष्ट भी न कर दिया जाए।

ब्रह्मचर्य का आदर्श इस समय लोप हो रहा है, संसार इसलिए भोग और स्वार्थ के जाल में फँस रहा है। इस फाँस को काट कर जनता को मुक्त कराना इस समय का सबसे बड़ा काम है। क्या माता के गर्भ में कोई ऐसा बालक रक्षा पा रहा है? उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे
उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

—अथर्व, कांड ११, अ० ३ सूक्त ५,८ ॥

स्वयं प्रकाशमान् तथा प्रकाशमानों से प्रकाशित—दो ही प्रकार के लोकों से जड़ित यह अंतरिक्षरूपी अथाह समुद्र है। ये दोनों प्रकार के लोक एक ही नियम में परस्पर ग्रथित हैं। जहाँ एक सौर नक्षत्र के सब अंग एक दूसरे को अपनी ओर खींच लें और एक सूर्य के गिर्द एक ही नियम से चक्कर लगाने पर अपनी स्थिति स्थिर रख सकते हैं, वहाँ असंख्यात सौर नक्षत्र एक बड़े नक्षत्र के गिर्द चक्कर लगाते हुए ही शायद, आकाश की शोभा बढ़ाते रहते हैं। इनमें से हमारी पृथ्वी अप्रकाशमान् लोकों की प्रतिनिधि रूप से तथा हमारा सूर्य प्रकाशमान लोकों के प्रतिनिधि रूप से ही सारी भौतिक विद्या के स्रोत हैं। इन दोनों की विद्या को ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही प्रकाशित करता है। विस्तृत फैली हुई पृथ्वी और मानवी आँखों के लिए गंभीर सूर्यलोक विद्यार्थी की दृष्टि में एक अचंभा-सा दिखायी देते हैं, जब तक कि आचार्य का उपदेश उसके लिए उनके रहस्यों को खोल कर नहीं सुलझा देता। आचार्य (अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक ब्रह्मचारी की इच्छा करने वाला) ही सचमुच पृथ्वी और सूर्य को ब्रह्मचारी के लिए आकृति देने वाला है।

आचार्य ने द्यावापृथिवी का यथार्थ ज्ञान ब्रह्चारी को दे दिया, परंतु फिर भी क्या उस ज्ञान से ब्रह्मचारी स्थिर लाभ उठा सकता है? बिजली चमक जाती है, कुछ काल के पीछे फिर चमक जाती है। परंतु, क्या इससे मनुष्य मात्र को कुछ भी

लाभ मिला ? अमेरिका में 'वेनजामिन फ्रैंकलिन' से पहिले कितनी वार पहाड़ों पर और जंगलों में विजली चमकी, परंतु सिवाय इसके कि वहां की वालवुद्धि प्रजा आश्चर्यित हो कर मुंह वाय दे, उसका कुछ भी परिणाम न हुआ। परंतु, फ्रैंकलिन ने उसी आकाशव्यापिनी विद्युत् को पृथ्वी पर जंजीरों में पकड़ लिया और आज वलवती विद्युत् निर्वल-से-निर्वल दिमाग वाले मनुष्य की भी दासी वनी हुई है। आकाश से उतार कर पृथ्वीतल पर वली विद्युत् को वंदीगृह में फ्रैंकलिन ने, किस शक्ति के आधार पर, डाला। निस्संदेह वह तप की ही उत्कृष्ट शक्ति थी। उसी तप की शक्ति से आज तक प्रकृति के प्रवल-से-प्रवल चमत्कारों को क्रियावान् विद्वान् कवूल करते रहे हैं। तप की शक्ति वड़ी है। आचार्य से मिली हुई शिक्षा को दृढ़ता से धारण करने के लिए तप की ही आवश्यकता है।

एक ही प्रकार का वीज विविध भूमियों में वोया जाता है। सब स्थानों में एक-सी ही उपज नहीं होती। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि उन भूमियों में शक्तिभेद है। एक ही आचार्य के पास वहुत से विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। परिणाम में वहाँ भी वहुत वड़ा भेद पड़ जाता है। जहाँ एक विद्यार्थी मूर्ख-का-मूर्ख रह जाता है, वहाँ दूसरा मौलिक सिद्धांतों का आविष्कार करने वाला सिद्ध होता है। यह भेद क्यों ? यहाँ तप का अभाव वा भाव ही मुख्य कारण है। विद्यारूपी वीज सव के लिए एक-सा खुला है और एक ही प्रकार शिक्षा का हल चला कर उसे वुद्धिरूपी खेतों में वोया जा रहा है। परंतु जहाँ तप नहीं, वहाँ पहिले तो वीज उगता ही नहीं और यदि उगता भी है, तो ठीक उपज नहीं होती। आचार्य का परिश्रम तभी फलीभूत होता है, जब कि ब्रह्चमारी के अंदर तप का साधन जागृतावस्था में हो।

एक ही गुरुकुल में, एक ही आचार्य की संरक्षा में, एक ही प्रकार के उपाध्यायों से शिक्षा पाते हुए क्या कारण है कि कोई उत्तम ब्राह्मण वनता है, कोई वीर प्रजापालक क्षत्रिय वनता है, कोई वैश्य वनता है और कोई शूद्र भी नहीं वन सकता। यहाँ भी तप ही असमानता का कारण है।

आचार्य जो ज्ञान देता है, ब्रह्मचारी तप से उसकी रक्षा करता है। जिस वैदिक ज्ञान के संसार में प्रसरण का कारण भी तप ही है, उसके विस्तार की रक्षा का मूल साधन भी तप ही हो सकता है। ब्रह्मचर्य का भीषण व्रत भी तप के चट्टान पर ही स्थिर रह सकता है। तव आचार्य के लिए गुरुदक्षिणा यही उत्तम है कि जो ज्ञान उसने शुद्ध हृदय से ब्रह्मचारी को दिया है, उसकी रक्षा ब्रह्मचारी तप द्वारा करे, उसका फल क्या होगा ? उस ब्रह्मचारी में सव देवता एक मन होंगे अर्थात् उसके जीवन में विघ्नकारी न होंगे, प्रत्युत् सहायक होंगे। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, वारह

आदित्य तथा इंद्र और प्रजापति उसके वश में होंगे। आग और पानी, हवा और सूर्य, प्राण और मन, विद्युत् और यज्ञ—सभी उसके वश में होंगे। उसके लिए लोक-लोकांतरों के पर्दे उठ जाएँगे और वह प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के निज स्वरूप को देखता हुआ आत्मिक जग में भी राज्य करने के योग्य बन जावेगा।

तप की कैसी महिमा है? जो तप, आह्लाद से भी ऊपर उठा कर, परमानंद शांत अवस्था तक पहुँचा सकता है, जो तप दुःखों की गंध को भी समीप आने से रोक देता है, जो तप अपने स्वरूप को पहिचानने के योग्य बनाता है—उस तप से मुक्त होने को ही जो नराधम स्वर्ग का साधन समझते हैं, वे ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी जीवन के गौरव को समझ ही नहीं सकते। "सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतो सुखम्।" विद्या तपस्वी के लिए है, सुखी के लिए नहीं। स्वर्ग की कामना से जो यह करते हैं, वे अनुभव के बाद स्वयं तपस्वी हो जाते हैं। परमपिता संसार भर के विद्यार्थियों को तप के लिए प्रेरित करें, यह संन्यासी की हार्दिक प्रार्थना है।

इमां भूमिं पृथ्वीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥
—अथर्व, कांड ११, अ० ३, सूक्त ५, ६॥

सब दानों में ब्रह्मविद्या का दान ही श्रेष्ठ है। कूप तड़ागादि, वस्त्र, भोजनादि—सब दानों में ब्रह्मदान ही उत्तम है। मनुस्मृति में कहा है—

"सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम्॥"

जल, अन्न, गाय भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी—इन दानों से ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या का दान अधिक विशेष है। आचार्य ही वेदविद्या का दान देता है। वेद की पढ़ाई में, ब्रह्मविद्या के अध्यापन में भी यदि टकापंथ ही चला, तो फल कुछ नहीं होगा। विद्या कोई भी हो, उसका अध्ययन ब्रह्मविद्या द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए होना ही श्रेयस्कर है और उस ब्रह्मविद्या का सौदा नहीं हो सकता, उसका निष्कामता से दान ही हो सकता है। जो टकों के बदले पढ़ाता है वह टीचर हो, प्रोफेसर कहलाए, प्रिंसिपल भी प्रसिद्ध हो, परंतु वह आचार्य नहीं बन सकता। आचार्य बनने के लिए पहिला स्वाभाविक गुण यह होना चाहिए कि निष्कामता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाए। धन कमाने वाला बनिया आचार्य नहीं बन सकता, शारीरिक दंड देने वाला क्षत्रिय भी आचार्य नहीं बन सकता, फिर शूद्र का तो कहना ही क्या है। आचार्य बनने के लिए 'ब्राह्मण' का ही अधिकार है और ब्राह्मण को वेद में शरीर के मुख्य भाग से उपमा दी है। उस भाग में प्राण हैं, जो सारे शरीर को

अपने दान से पुष्ट रखता है। प्राण की महिमा इसीलिए बहुत अधिक की गई है। उपनिषदों से आगे बढ़ कर अथर्ववेद तक में प्राण की प्रशंसा है। यहाँ तक कहा है कि सारे ब्राह्मण का आधार प्राण ही है—

"प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥
मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्चप्रज्ञां च विधेहि न इति।"

माता जैसे संतान की रक्षा करती है, वैसे ही प्राण शरीर के सर्व अंगों तथा प्रत्यंगों की रक्षा करता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाजरूपी पुरुष की बनावट में ब्राह्मण ही सबका आधार है। ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है। ब्राह्मण यद्यपि दूसरों की कमाई का अन्न-जल ग्रहण करके पलता है, तथापि मनुस्मृति में सब कुछ (जो भी संसार में है) ब्राह्मण का ही बतलाया है—'सर्वं स्वयं ब्राह्ण येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्' और फिर कहा है—

"स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजना : ॥

ब्राह्मण भोजन करे, पहिरे वा देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है। दूसरे लोग जो भोजनादि करते हैं, वह केवल ब्राह्मण की कृपा है।

सारा संसार ब्राह्मण के दान से ही पलता है। उस दानशील श्रेष्ठ ब्राह्मण *आचार्य से ब्रह्मचारी पहली भिक्षा में प्रत्यक्ष, विस्तृत भूमि का ज्ञान उपलब्ध करता* है। तृण से लेकर पृथ्वीपर्यंत का ज्ञान आचार्य पहिले देता है। वह एक समिधा हुई। परंतु, एक हाथ से ताली नहीं बजती। दो के बिना पूर्ति नहीं होती। पृथ्वी प्रत्यक्ष है, इंद्रियग्राह्य है परंतु उसके अंदर के रहस्य बिना विशेष प्रकाश के समझ में नहीं आते। तब आचार्य ब्रह्मचारी को परोक्ष ज्ञान देता है। पृथ्वी से उसको 'द्युलोक' में ले जाता है। भौतिक सूर्य से ले कर आत्मा तक को प्रकाश देने वाला, 'प्रकाशस्वरूप' तक ले जाता हुआ आचार्य शिष्य के लिए भिक्षा पूरी कर देता है।
५८ परिशिष्ट दान को प्राप्त कर के ब्रह्मचारी 'समित्पाणि' हो कर गुरु के दरबार की ओर चलता है; क्योंकि आचार्य से मिली भिक्षा भी निंदनीय नहीं—वह भी सराहनीय है, कल्याणकारी है। परंतु "स पूर्वषामपिगुरुः का लेनानवछेदात्" उस गुरुओं के भी गुरु, पूर्व आचार्यों के भी आचार्य, जिसके लिए भूत और भविष्यत् कोई अस्तित्व नहीं रखता—उस परम गुरु से भिक्षा प्राप्त किए बिना ब्रह्मचारी अपने परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं होता। आचार्य से प्राप्त किया हुआ दान उसे अगले दान का अधिकारी मात्र बनाता है। पृथ्वी और द्यौ के ज्ञानरूपी दो समिधाओं को श्रद्धांजलिरूपी दोनों हाथों में ले कर ब्रह्मचारी उस परम तत्त्व के समीप पहुँचता है।

इन्हीं दोनों समिधाओं पर सब लोक आश्रित हैं। वहाँ पहुँच कर ब्रह्मचारी सर्वदेवों, प्रकाशकों, ब्रह्मांड के चलाने वाली शक्तियों को एक ही वीणा की तार बनी हुई, एक ही स्वर से अलापते सुनता है। वहाँ पहुँच कर वह द्वंद्व से मुक्त होता है और अपने आचार्य के लिए सच्चे धन्यवाद का भाव उसके हृदय में उत्पन्न होता है।

संसार सच्चे आचार्यों के बिना पीड़ित हो रहा है। उसका अशांत हृदय सच्चे पथ-दर्शकों के बिना व्याकुल हो रहा है, परंतु उधर से आशाजनक शब्द भी सुनायी देता है। शिकायत यह है कि अच्छे विद्यार्थी नहीं मिलते, किंतु शिकायत करने वाले यह भूल जाते हैं कि सच्चे आचार्य दुर्लभ हो गए हैं। जिस वेद का उपदेश ऊपर दिया गया है, उस वेद का प्रचार जिस देश में खुला था और जिसके आचार्यों के चरणों पर बैठ कर सदाचार की शिक्षा लेने अन्य देशों के लोग आते थे, उसी देश में जब आचार्य का अभाव है, तो और किसी स्थान से क्या आशा हो सकती है ? नवीन ट्रेनिंग कॉलिज ऐसे आचार्य उत्पन्न करने में अशक्त हैं। जहाँ दिन-रात आचार्यों के वेतन बढ़ाने का प्रश्न उठ कर बनियों का-सा सौदा कराता है—उन शिक्षालयों से आशा रखना व्यर्थ है। हे परमगुरो ! तुम्हीं अपने शिक्षणालय के अंदर इस देव-निर्मित भूमि के विद्वानों को खींच लो, जिससे वे सांसारिक कामनाओं पर विजय प्राप्त करें और ब्रह्मविद्या का दान देने की शक्ति धारण करके विस्तृत भूमि और प्रकाश की शक्तियों की समिधा ब्रह्मचारियों के हाथों में दे कर उन्हें विविध शक्तियों के एकत्र करने के लिए केंद्र बना सकें।"

स्वामी श्रद्धानंद का व्यक्तित्व और प्रभाव

स्वामी श्रद्धानंद हमारे सच्चे और सफल नेता थे। शिक्षा, धर्म, राजनीति, और समाजसेवा सभी क्षेत्रों में उनकी महान् देन है। मानव-कल्याणार्थ उन्होंने अपने को बलिदान कर दिया। गणतंत्र भारत के प्रथम गृह-मंत्री लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने स्वामी श्रद्धानंद को 'वीरता और बलिदान की मूर्ति' माना है। वस्तुतः वे भारत माँ के एक सच्चे भक्त थे और यहाँ के भारतवासियों को भी राष्ट्र का सच्चा सेवक बनाना चाहते थे। शिक्षा की महति शक्ति का उन्होंने इसके लिए माध्यम चुना था। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रचलन, संस्थापन, संगठन और उन्नयन में उनका यही उद्देश्य था कि देश-प्रेम के उमंगों में भरे हुए उच्च चरित्र के प्रतिभा-शाली ऐसे ब्रह्मचारी नवयुवक यहाँ उत्पन्न हों, जिनसे भारतीय संस्कृति की पूर्ण रक्षा हो सके। इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना प्रायः समस्त जीवन लगा दिया। कवींद्र रवींद्र ने स्वामी श्रद्धानंद के बारे में लिखा है—"सत्य के प्रति निष्ठा रखने का आदर्श स्वामी श्रद्धानंद इस देश को दे गए हैं।" वीर और निर्भीक

स्वामी श्रद्धानंद का पवित्र जीवन-चरित् त्याग और बलिदान की अनुपम कहानी है। वे गरीबों और दलितों के मसीहा थे।" सी० एफ० ऐंड्रूज ने उन्हें 'दलितों का दोस्त' कह कर संबोधित किया है। उनका अनुपम भव्य व्यक्तित्व सर्वथा और सर्वदा निराला ही बना रहेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामीजी की कीर्ति सर्वदा अमर बनी रहेगी। उनके शिक्षा-दर्शन से शिक्षक और विद्यार्थी सदैव एक प्रेरणा लेंगे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने उनकी दशवर्षी के उपलक्ष में लिखा था—"श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानंद जी की पुण्यस्मृति का संमान करने में मैं हृदय से आपके साथ हूँ। उनका उत्कृष्ट उदाहरण युवक पीढ़ियों के लिए स्फूर्ति का स्रोत होगा, जो सदा उनमें आत्मत्याग, तपस्या और कष्ट-सहन की भावना का विकास करने वाला और कर्त्तव्य-पालन में उत्साह और साहस का संचार करने वाला होगा।"

डॉ० धीरेंद्र मेहता के भी ये शब्द स्वामी श्रद्धानंद के सभी क्षेत्रों में महानता के परिचायक हैं—"स्वामी श्रद्धानंद ही थे, जिन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की असली कीमत को पहचाना और इसलिए उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य ऐसी शिक्षा-प्रणाली का निर्माण करना ही बनाया, जिस शिक्षा-प्रणाली से राजभक्त, गुलाम और डरपोक पैदा न हो कर, देश के नवयुवक बहादुर, निडर राष्ट्रभक्त उत्पन्न हों।"

स्वामी श्रद्धानंद द्वारा निर्धारित उनकी शिक्षा-नीति हमारे लिए सर्वदा प्रेरणा-प्रदायनी बनी रहेगी।



अध्याय ३६

अरविंद घोष

अरविंद घोष (१८७२ ई०-१९५० ई०) का जीवन के प्रति अत्यंत व्यापक और विशाल दृष्टिकोण था। उनकी विचारधारा प्रांत और देश की एक सीमा तक ही अवरुद्ध नहीं थी, अपितु उसके विस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत विश्व के समस्त मानव समाहित थे। समस्त वाल्यावस्था तथा किशोरावस्था लंदन एवं कैंब्रिज विश्व-विद्यालयों में समाप्ति (१८७९ ई०-१८९३ ई०) तथा ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन एवं इटालियन आदि भाषाओं पर पूर्ण आधिपत्य के साथ-साथ इन भाषाओं के महान् लेखकों एवं कवियों की मौलिक रचनाओं के अध्ययन के वावजूद वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के महान् पोषक थे।

विश्व-कल्याण की भावना

अरविंद के अनुसार स्वयं व्यक्ति जव तक विकास के पथ पर अग्रसर नहीं होगा, तब तक राष्ट्र और विश्व का कल्याण संभव नहीं। अतः, प्रत्येक व्यक्ति को अपने आंतरिक विकास की ओर उन्मुख और सचेष्ट होने की आवश्यकता है। व्यक्ति के विकास से राष्ट्र का विकास होगा तथा राष्ट्रों के उन्नयन से विश्व का कल्याण होगा। विकास का तात्पर्य क्रमशः ही मानव का अतिमानव की ओर अग्रसर होना है। अरविंद के जीवन-दर्शन में प्राणिमात्र का कल्याण प्रतिपादित है। वे विश्व के पहले दार्शनिक थे, जिन्होंने दर्शन को व्यावहारिकता का रूप प्रदान किया। विश्व-कल्याण की महान् भावना की यही लहर उनके शिक्षा-दर्शन में भी दृष्टिगत होती है।

शिक्षा का लक्ष्य

अरविंद के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की आंतरिक शक्तियों

शक्तियों का विकास और वर्द्धन कर हमलोग पूर्ण का विकास है। अपनी आंतरिक इसी उद्देश्य से अरविंद आध्यात्मिक शिक्षा को मानव की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि साहित्यिक और वैज्ञानिक विषयों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, उनके विचारानुसार शिक्षा में सभी विषयों को भी उन्होंने बहुत प्रमुखता दी है। स्थान दिया जाना चाहिए, परंतु उसका मूल उद्देश्य मानव-विकास हो। अरविंद के अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भूगोल, इतिहास, भाषा, केंद्र (पांडिचेरी) के पाठ्यक्रम में आधुनिक सभी विषय विज्ञान, मनोविज्ञान, भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन और विश्व सामंजस्य (World Integration) आदि को भी समिलित किया गया है। वैज्ञानिक प्रयोग के लिए स्कूल में औद्योगिक ऑपरेटस से युक्त प्रयोगशालाओं की भी पूरी व्यवस्था है, यद्यपि इस केंद्र का प्रमुख उद्देश्य अरविंद-दर्शन के अनुसार 'पूर्ण शिक्षा' (Integral Education) प्रदान करना तथा व्यावहारिक रूप देना है।

अरविंद के मतानुसार जिस शिक्षा द्वारा बच्चों की सुप्त शक्तियों का विकास होता है तथा जीवन मानवता, राष्ट्र की आत्मा एवं मस्तिष्क से उचित संबंध जोड़ने में सहयोग प्राप्त होता है, वही सच्ची एवं जीवित शिक्षा है। अरविंद का विश्वास है कि मनुष्य ने निश्चित बौद्धिक प्रवृत्तियों का विकास किया है, जैसे आत्मा, मस्तिष्क एव विवेक बुद्धि, अतः, पूर्ण जीवन एवं शिक्षा के लिए उसका विकास इस प्रकार मार्ग-दर्शन होना चाहिए, जिससे प्रशिक्षित मस्तिष्क एव विवेक बुद्धि के तत्वावधान में उसको समुचित मोड़ मिल सके।

अरविंद के अनुसार वही सच्ची शिक्षा है, जो बच्चों की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों के उच्चतम विकास में सहायता प्रदान करती है। अतः, शिक्षा को बच्चों के स्वभाव के मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। वे आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों से इस बात पर सर्वथा सहमत थे कि बच्चों पर कोई बात जबरदस्ती लादी नहीं जाए वरन् एक स्वतंत्र, उच्च आदर्श वातावरण में उनकी आंतरिक शक्तियों को पुष्पित और वर्द्धित होने का अवसर दिया जाए। वे उनकी पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। फ्रोबेल, स्वामी विवेकानंद और रवींद्रनाथ ठाकुर के समान ही उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि बालकों के अंदर स्वयं विकास करने की शक्ति है। वे स्वतः इसके लिए प्रतिभासंपन्न हैं, अतः सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार द्वारा उनका स्वतः विकसित होने का अवसर एवं वातावरण प्रदान किया जाए।

बालक का स्थान

अरविंद ने शिक्षा में बालक का स्थान अत्यंत ऊँचा बतलाया है। उनका कहना था कि बालकों को शिक्षकों पर इतना आश्रित और अवलंबित नहीं बना दिया जाए कि वे उन्हें जैसे चाहें घुमा दें, अर्थात् बालक शिक्षकों के विचार के सर्वथा दास हो जाएँ। शिक्षक का कार्य मार्गदर्शक और सहायक का है। उन्हें स्वेच्छानुसार निर्मित करने से अधिक श्रेयस्कर है कि स्वयं की प्रवृत्तियों के अनुसार उनको विकसित होने का अवसर दिया जाए। शिक्षक और अभिभावक बालकों पर ज्ञान का बोझ नहीं लादें, अपितु उनकी आंतरिक शक्तियों का पता लगावें और तदनुरूप ऐसे साधन जुटावें, जिससे बालक बिना किसी त्रुटि और अवरोध के स्वतः ज्ञान की उपलब्धि करें। अध्यापक से बच्चे के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की आशा नहीं की जाती। वस्तुतः उसे यह दिखलाना चाहिए कि बच्चा किस प्रकार ज्ञान के साधनों को पूर्ण करे। इस प्रकार शिक्षक का प्रधान कार्य केवल ज्ञान प्राप्त करने का ढंग बतलाना है, विद्यार्थी स्वतः अपने लिए ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

शिक्षा और रुचि

अरविंद का विचार है कि शिक्षा बालकों की रुचि एवं मनोवृत्ति के अनुकूल हो। जिस प्रकार आधुनिक शिक्षा-मनोवैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते हैं कि बालकों की शिक्षा-व्यवस्था उनकी इच्छा के अनुकूल हो, समान अंतःप्रवृत्ति के अनुसार बालकों को शिक्षित बनाया जाए, उसी प्रकार अरविंद ने भी इसका अनुमोदन किया है कि बालकों की रुचि और मनोवृत्ति के अनुरूप ही ज्ञान का समुचित प्रबंध हो। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस मनोवैज्ञानिक विशेषता पर पूरा ध्यान दिया जाता है। बच्चों की प्रतिभा माता-पिता अथवा शिक्षक के इच्छानुसार मोड़ी नहीं जानी चाहिए; क्योंकि इसका उल्टा फल होता है। किशोरों पर बलपूर्वक नियम लादना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को नष्ट करना तथा उनके विकास की पूर्णता को अवरोधित करना होगा। इस संबंध में मेरिया मांटेसरी ने लिखा है कि बालक अपने जीवन का स्वयं निर्माण करते हैं। माता-पिता के उत्पादक वीर्यांश तथा वातावरण के सामंजस्य से बालक का निर्माण होता है। जिस प्रकार पेड़ का बीज बो देने पर उसके निर्माण में माली को कुछ नहीं देना पड़ता, केवल अपेक्षित वातावरण बनाए रखना ही उसका कर्त्तव्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार बालक का निर्माण भी स्वयं होता है। शिक्षकों को केवल विशुद्ध वातावरण बनाना चाहिए। संभवतः शिक्षकों के इस महान् उत्तर-

दायित्व को ध्यान में रखते हुए ही इस युग के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री डॉ० जॉन डिवी ने शिक्षकों को ईश्वर का प्रतिनिधि कहा है।

अरविंद के अनुसार बालक की वर्त्तमान स्थिति पर पूर्ण ध्यान देते हुए उनको भविष्य के लिए तैयार करना चाहिए। उन्हें पेवलॉव, मैगडुगल, गाल्टन, उगडेल एवं स्टेवक आदि आधुनिक शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित वंश-परंपरा तथा मैंडल, इटार्ड एवं कोडोल आदि द्वारा उपस्थापित वातावरण का सिद्धांत सर्वथा मान्य था। वंश-परंपरा तथा वातावरण मानव-स्वभाव के आधार हैं। अतः, बच्चे के विकास में इन दो आधारभूत अंशों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, यद्यपि वातावरण को व्यवस्थित करने में बहुत हद तक बच्चे की रुचि और शिक्षा भी सहायक होती है। अगर वंश-परंपरा और वातावरण को ध्यान में रख कर हमलोग बालकों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करें, तो निश्चित रूप से उनके वास्तविक विकास का आधारस्तंभ स्थापित करने में समर्थ होंगे। अरविंद का कहना है कि "भूत हमारी नींव, वर्त्तमान हमारा उपकरण और भविष्य हमारा लक्ष्य है।" किसी भी शिक्षा-पद्धति में भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य तीनों को उचित स्थान देना चाहिए। भूत से तात्पर्य वंश-परंपरा तथा सांस्कृतिक जन्मजात गुणों से है। वर्त्तमान को व्यक्ति का स्वभाव और तात्कालिक सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति एवं समाज दोनों के कल्याण और सुख के लक्ष्य की उपलब्धि भविष्य के अंतर्गत हैं।

अरविंद के मतानुसार सर्वप्रथम विद्यार्थियों में ज्ञान, काम और जीवन के प्रति जिज्ञासा एवं रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। ऐसा करने में हमें विषय को रोचक बनाना पड़ेगा, ताकि विद्यार्थियों की प्रवृत्ति स्वतः इसको जानने, समझने और ज्ञान प्राप्त करने की ओर हो। इस लक्ष्य की उपलब्धि में बालकों के ज्ञान के उपकरण अर्थात् ज्ञानेंद्रियों का उचित विकास करना चाहिए। ज्ञानेंद्रियों के उचित विकास को आवश्यक बतलाते हुए मेरिया मांटेसरी ने भी अपनी शिक्षा-पद्धति में इसकी विस्तृत विवेचना की है। बालकों में किसी विषय की जानकारी के लिए जब जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है तथा तदनुरूप उसकी पूर्ति भी हो जाती है, तो उसका वह प्राप्त ज्ञान स्थायी और हितकर होता है। उत्सुकता की प्रवृत्ति बालक की ज्ञानवृद्धि में बड़े महत्त्व की सिद्ध होती है। यह प्रवृत्ति उसकी बुद्धि के विकास का आधार है। जिस व्यक्ति में नई बातों को जानने की जितनी अधिक जिज्ञासा, उत्सुकता और योग्यता होती है, वह उतना ही अधिक विद्वान बन जाता है। अतः, शिक्षण-संस्थाओं में बालकों की स्वाभाविक कुतूहल-वृत्ति का समुचित समाधान अनिवार्य है। अरविंद का विचार है कि प्रत्येक बच्चा प्रश्न करना, अनुसंधान करना, विश्लेषण करना तथा

रचना करना पसंद करता है। उसे अचेतन रूप में वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति प्राप्त करने में सहयोग देना चाहिए। आध्यात्मिक जानकारी के लिए विद्यार्थियों की बौद्धिक जिज्ञासा को प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि वह स्वयं और विश्व को समझ सके। प्रत्येक बालक में प्राकृतिक रूप से अनुकरण तथा कल्पना की शक्ति विद्यमान होती है। उन्हें कलात्मक बनाने के लिए उनकी इन शक्तियों का विकास आवश्क है।

शिक्षा का माध्यम

शिक्षा के माध्यम के संबंध में अरविंद घोष और महात्मा गांधी के विचारों में पूर्णतः समतुल्यता है। महात्मा गांधी के समान ही अरविंद भी प्राथमिक अवस्था में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा का होना स्वीकार करते हैं। अरविंद का विचार है कि मातृभाषा द्वारा बालक अपनी आंतरिक मनोवृत्तियों एवं भावनाओं का प्रकटीकरण सुगमता और सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो सकता हैं। अतः, जहाँ तक संभव हो, मातृभाषा द्वारा ही उनको ज्ञान की उपलब्धि करायी जाए। तत्पश्चात् उन्हें उनके साहित्य के रूचिकर एवं महत्त्वपूर्ण भागों की शिक्षा देनी चाहिए। विद्यार्थियों को उनके राष्ट्रीय इतिहास की प्रमुख घटनाओं एव विषयों का ज्ञान कराना भी आवश्यक है।

धार्मिक और नैतिक शिक्षा

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के संबंध में अरविंद के विचार अत्यंत उदार एवं स्पष्ट थे। उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता का भान नहीं होता। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के संबंध में उनका विचार था कि इस अवस्था में विद्यार्थियों की विचारधारा अपरिपक्व होती है, उनमें स्थिरता एवं गहराई का अभाव होता है। अतः, छात्रों को धर्म और संप्रदाय का ज्ञान कराना अथवा धार्मिक पाठ्य-पुस्तकों की शिक्षा देना उनके लिए हितकर नहीं हो सकता; क्योंकि केवल सिद्धांत या मत बालकों की नैतिकता एवं पवित्रता की वृद्धि में सहायक नहीं होंगे। नैतिक पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा ऊँची चीजों के संबंध में भी विचार यांत्रिक एवं कृत्रिम हो जाते हैं। हाँ, इस संबंध में बालकों के लिए सुझाव बहुत सहायक होंगे। विद्यार्थियों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्तिगत उदाहरण जो बच्चों की पहुँच के अंदर हों, सर्वोत्तम सुझाव हैं। उनको उन नैतिक प्रवृत्तियों को विकसित होने का सुअवसर मिलना चाहिए, जो उनमें प्रकृतिप्रदत्त हैं। वस्तुतः धर्म का तत्त्व ईश्वर के लिए, मानवता के लिए, देश के लिए, दूसरों के लिए तथा

स्वतः अपने-आप को भी इन्हीं के अंतर्गत समझ कर जीवित रहना है। डॉ० डिवी के समान अरविंद का विचार था कि नैतिक और धार्मिक शिक्षा अनुभव के आधार पर दी जानी चाहिए। बालक को ईमानदार बनने का उपदेश देने की अपेक्षा कहीं अच्छा है कि उसके सामने बेईमानी और धोखेबाजी का उदाहरण ही नहीं रखा जाए।



अध्याय ३७

राधाकृष्णन्

गणतंत्र भारत के दूसरे राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त दार्शनिक एवं राजनेता ही नहीं, अपितु महान् शिक्षाशास्त्री भी रहे हैं। अपनी विशिष्ट बहुमुखी प्रतिभा, अध्ययवसायशील प्रवृत्ति एवं प्रभावकारी अद्भुत व्यक्तित्व के कारण शिक्षा के क्षेत्र में भी आपने उतना ही विवेकपूर्ण योगदान किया है, जितना भारतीय दर्शन की धारा को विश्व में प्लावित करने अथवा जगत की अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में।

जीवन-परिचय

उनका जन्म ५ सितंबर, सन् १८८८ ई० को मद्रास में हुआ। उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की और वहीं के प्रेजीडेंसी कॉलेज में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद वे मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक रहे। ऑक्सफोर्ड के मैनेस्टर कालेज में वे तुलनात्मक धर्म के प्राध्यापक रहे। सन् १९२९-३० ई० में उन्होंने हिबर्ट में भाषण दिए। सन् १९३९ ई० से १९४८ ई० तक वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। वे ऑक्सफोर्ड में पूर्वीय धर्मों और नीतिशास्त्र के स्पाल्डिंग प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९२१ ई० से १९३९ ई० तक ये कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के जॉर्ज पंचम प्रोफेसर रहे। सन् १९३१ ई० से सन् १९३९ ई० तक ये बौद्धिक सहयोग पर अंतर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य रहे। सन् १९४६, १९४७, १९४८, १९४९ और १९५० ई० में ये राष्ट्र संगठन की युनेस्को समिति में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता रहे। सन् १९५२ ई० में ये इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के सभापति चुने गए। सन् १९४८ ई० में वे इसकी प्रबंध समिति के प्रधान रहे। सन् १९४८ ई० में ही ये भारत सरकार के विश्व-

विद्यालय आयोग के प्रधान रहे। सन् १९४९ से १९५२ ई० तक ये सोवियत रूस में भारत के राजदूत रहे। सन् १९५३ में ये दिल्ली विश्वविद्यालय के चांसलर थे। सन् १९५२ ई० में ये अंतर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० के उपप्रधान और भारत में इस संस्था के प्रधान रहे। सन् १९५२ ई० में ही ये भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति चुने गए। सन् १९५७ ई० में ये फिर से उपराष्ट्रपति चुने गए। इन्होंने १९५६ ई० में जून और जुलाई मास में बेल्जियम, पोलैंड, यूगोस्लोवाकिया, सोवियत संघ, हंगरी और बल्गरिया इत्यादि यूरोपीय देशों और पूर्वीय एवं मध्य अफ्रीका के देशों की यात्रा की। जून १८, १९५६ ई० को इन्हें मास्को विश्वविद्यालय का संमानित प्रोफेसर पद दिया गया। सितंबर, अक्टूबर, १९५६ ई० में इन्होंने सिंगापुर, इंडोनेशिया, जापान और चीन की मैत्री यात्रा की। सितंबर, १९५७ ई० में ये तीन सप्ताह के लिए इंडोचीन, चीन, मंगोलिया और हांगकांग के दौरे पर गए। जुलाई, १९५९ ई० में उन्होंने होनोलुलू में पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों के समेलन में भाग लिया तथा अमरीका की यात्रा की। इसी समय उन्होंने जर्मनी में पी० ई० एन० कांग्रेस के विचार-विमर्श में भाग लिया। जनवरी-फरवरी, १९६० ई० में उन्होंने इंगलैंड और स्कैंडीनेविया की मैत्रीपूर्ण यात्रा की। नवंबर १९६० ई० में ये पेरिस के यूनेस्को संमेलन में संमिलित हुए। जून-जुलाई, १९६० ई० में राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद की रुग्णावस्था के कारण इन्होंने देश के राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। इसके बाद अगस्त-सितंबर, १९६१ ई० में भी इन्होंने इस पद पर कार्य किया। ११ जुलाई, १९६२ ई० में ये ब्रिटिश एकेडेमी के समानित फेलो चुने गए। देश-विदेश में इनको अनेक डिगरियों और उपाधियों से विभूषित किया गया है। भारतीय विश्वविद्यालयों से इन्हें एम० ए०, डी० लिट्० की उपाधियाँ दी गईं। इसके अतिरिक्त इन्होंने पाश्चात्य विश्वविद्यालयों से एफ० आर० एस० एल०, एल० एल० डी०, डी० सी० एल०, एफ० बी० ए० आदि डिग्रियाँ प्राप्त कीं। सन् १९३१ ई० में अंग्रेज सरकार ने इन्हें 'नाईट' की उपाधि दी थी। सन् १९५४ ई० में भारत सरकार ने इन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया।

डॉ० राधाकृष्णन् ने आधुनिक काल में दर्शन के क्षेत्र में सबसे बड़ा कार्य भारतीय दर्शन को उसका उचित संमानित स्थान दिलाने का प्रयास किया है। उन्होंने पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भारतीय दर्शन पर लगाए गए आक्षेपों का सफल और तर्कपूर्ण प्रत्युत्तर दिया। उन्होंने देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन और संस्कृति का ज्ञान फैलाया। वे भारत के उन बहुत ही थोड़े से समकालीन दार्शनिकों में से हैं, जिनको केवल देश में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी एक मौलिक दार्शनिक के रूप में मान्यता प्राप्त है। उन्होंने भारतीय दर्शन और धर्म के विभिन्न

पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। इन ग्रंथों से जहाँ उनके भारतीय दर्शन का ज्ञान स्पष्ट होता है, वहाँ स्थान-स्थान पर पूर्व और पश्चिम के दर्शनों से तुलनात्मक विवरण के द्वारा यह दिखलाने का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है कि मानव प्राणियों ने सभी देशों, कालों में दार्शनिक समस्याओं पर लगभग एक ही प्रकार से विचार किया है।

डॉ० राधाकृष्णन् के ग्रंथों में संसार की विभिन्न संस्कृतियों, साहित्यों और सभ्यताओं के विभिन्न पहलुओं का इतना अधिक ज्ञान बिखरा मिलता है कि पाठक उनके ज्ञान के व्यापक क्षेत्र पर आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

शिक्षा-दर्शन

डॉ० राधाकृष्णन् के जीवन पर स्वामी विवेकानंद, रवींद्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गांधी का गहरा असर पड़ा है। फलस्वरूप उनके शिक्षा-दर्शन में भी इन महापुरुषों की विचारधाराओं की झलक मिलती है। उनके शिक्षा-दर्शन में भारतीय संस्कृति के प्रति उदार भाव, धार्मिक, नैतिक एवं लोककल्याणमय विचारों का सामंजस्य तथा विश्वबंधुत्व की भावना है। हिंदू धर्म एवं उसकी उदारवादी मान्यताओं के प्रति उनका स्नेह अविभाज्य एवं अकाट्य है।

समाज और मानवता के श्रेष्ठ गुण

डॉ० राधाकृष्णन् समाज को एक ऐसे श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित रूप में विकसित देखना चाहते हैं, जिसके उच्च आदर्श मानवता के श्रेष्ठ गुणों से आबद्ध हों, जिस उच्च समाज के व्यक्ति वर्ग, वर्ण आदि की संकीर्णता में ही अपने अमूल्य समय और अनमोल जीवन का नाश नहीं करते हों। अपनी पुस्तक 'सर्च फोर ट्रूथ' के पृष्ठ ३३ पर इस भावना को उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।

वे मानव मात्र को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं। उनके मतानुसार संसार के सभी नर-नारी परमात्मा के ही अंशस्वरूप हैं। आज जो हमें यह अंतर दिखायी देता है, वह मानव-कृत ही है। भागवत में भी कहा गया है—"अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थितः।" ईश्वर प्राणिमात्र में उसकी आत्मा के रूप में अवस्थित है, वर्त्तमान है। शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्यों में इस महान् महिमापूर्ण भावना को प्रादुर्भूत किया जा सकता है। शिक्षा मानव-विचारों की जननी है। जैसी हमारी शिक्षा होगी, तदनुकूल हमारे विचार भी बनेंगे।

शिक्षा और वसुधैव कुटुम्बकम्

महात्मा गांधी के समान ही डॉ० राधाकृष्णन् लोकराज्य निर्माणहेतु कर्त्तव्य एवं नागरिकता की भावना से ओतप्रोत कुशल जीवन-यापन करने को क्षमतासंपन्न, चरित्रवान, शिष्ट और स्वावलंबी नागरिक तैयार करना चाहते हैं, जिनमें आदर्श जीवन-यापन करने की शक्ति हो तथा जो मानवता के विकास हेतु अपनी अमूल्य निधि भी त्यागने को तैयार रहते हों। डॉ० राधाकृष्णन् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि संसार के सभी व्यक्ति एक ही परिवार के सदस्य हैं। अतः, स्वार्थपरता की भावना त्याग कर सभी को सबके हित-चिंतन की जरूरत है। सभी को सबकी सभ्यता, संस्कृति और राष्ट्रीयता को संमान की दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। वे शिक्षा के माध्यम से विश्वबंधुत्व की भावना को बलवती बनाने पर अत्यधिक बल देते हैं। उनका विचार है कि आज का मानव अत्यधिक भौतिकवादी हो गया है। स्वार्थपरता की भावना ने उसके हृदय और मस्तिष्क को आच्छन्न कर दिया है। आवश्यकता है कि उनमें उदात्त विचारों का प्रादुर्भाव हो और वह जनकल्याण एवं मानव हितार्थ सोचने-विचारने की शक्ति उत्पन्न करे। एकमात्र शिक्षा के आधार पर ही इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। शिक्षा की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत हो, जिससे मानव अपनी भौतिकवादी प्रवृत्ति से दूर हट कर आध्यात्मिक मनोवृत्ति की ओर अग्रसर हों तथा मानव मात्र को अपना हितैषी और बंधु समझें। शिक्षण-संस्थाओं के पाठ्यक्रम तथा वहाँ की शिक्षा-प्रणाली इस लक्ष्य की पूर्ति करेगी।

शिक्षा : नैतिकता के विकास के लिए

डॉ० राधाकृष्णन् नैतिकता को मनुष्य के सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास का आधार मानते हैं। नैतिकता कुछ सद्गुणों का समन्वय मात्र नहीं हुआ करती, बल्कि चरित्र के अंतर्गत यह एक ऐसा संगठन है कि वे सभी मिल कर एक इकाई का रूप धारण करते हैं। नैतिकता एक बड़ा व्यापक गुण है तथा इसका प्रभाव मनुष्य के समस्त कार्यकलापों पर अत्यंत ही सूक्ष्म और विलक्षण होता है। इससे व्यक्ति का समस्त व्यक्तित्व आंदोलित हुआ करता है। अतः हमारे सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए नैतिकता के संगठन और संवर्द्धन की शिक्षा होनी चाहिए।

शिक्षा : आध्यात्मिकता के विकास के लिए

डॉ० राधाकृष्णन् वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हैं। वे बतलाते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना अथवा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नहीं होता, अपितु शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मस्तिष्क की आंतरिक शक्तियों को विकसित, प्रशिक्षित एवं अनुशासित करने के साथ-साथ बालकों को स्वतंत्रता प्रदान कर रूढ़िवादिता के अंत तथा प्रकृति से निकट साहचर्य प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करना होता है। परंतु, ऐसा नहीं होकर आज की शिक्षा अमानवीय और कृत्रिम हो गई है। वास्तविक अर्थ में शिक्षा अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में असफल है; क्योंकि शताब्दियों से इसकी रूपरेखा विकृत हो रही है। इसका लक्ष्य और उद्देश्य ही दूसरा है। यह मानव को उसके वास्तविक गुण एवं उच्च मर्यादा से परिचित नहीं करा पाती; क्योंकि इसका ढांचा ही शिक्षा के वास्तविक स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। आज की शिक्षा में मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की अवहेलना की जाती है। डॉ० राधाकृष्णन् का विचार है कि हमारे समाज का नवनिर्माण अध्यात्मवाद द्वारा ही संभव है, परंतु इसके ठीक उल्टा हमारे यहाँ भौतिकवाद को प्रश्रय मिलता है। इस संसार के प्राणिमात्र का नियंत्रणकर्त्ता भी कोई अदृश्य महान्तम अलौकिक शक्ति है, मनुष्य ऐसा नहीं सोचता। भौतिकवादी लिप्सा तथा सामाजिक तृष्णा ने उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को सर्वथा कुंठित कर डाला है। फलस्वरूप मनुष्यों में अपने भाई-बंधुओं के प्रति हित की भावना की इच्छा, समाज-कल्याण और देश-कल्याण अथवा अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का स्वतः अभाव हो जाता है। अतः, शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिए "हमें अपनी शिक्षण-संस्थाओं में आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचलन की आवश्यकता है।" जिन लोगों में त्यागशीलता, निःस्वार्थ सेवा-भावना तथा परमात्मा में आस्था है, उन्हें समाज को प्रगति-पथ पर अग्रसारित करने के निमित्त शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्नशील होने की आवश्यकता है।

शिक्षा में जनतांत्रिक पद्धति

विद्यार्थियों के बहुमुखी एवं वैयक्तिक विकास के लिए डॉ० राधाकृष्णन् शिक्षा में जनतंत्रात्मक पद्धति के प्रयोग को मान्यता देते हैं। जनतंत्र मानव-जीवन का प्राण है, उसके सर्वांगीण सफल विकास के हेतु जनतंत्र ही महति शक्ति है, प्रमुख साधन है। इसके आधार को अपनाकर तथा विभिन्न आदर्शों को स्वीकार कर ही हमलोग

मानवता के उन समस्त गुणों से साक्षात्कार कर सकते हैं, जिसमें जनजीवन का कल्याण तो निहित है ही, विश्वशांति की प्रमुख समस्या का समाधान भी सन्निहित है। अतः, बालकों के वैयक्तिक एवं बहुमुखी विकास के लिए सहानुभूति, उत्तरदायित्वपूर्ण सरल जीवन एव कर्त्तव्यपरायणता आदि चारित्रिक गुण के विकास के लिए आवश्यक है कि शिक्षण-संस्थाओं का संगठन जनतंत्र की आधारशिला पर अवस्थित हो।

सरल जीवन और उच्च विचार

डॉ० राधाकृष्णन् 'सरल जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को मान्यता देते हैं। भारत की प्राचीन परंपरा भी 'सरल जीवन और उच्च विचार' की श्रेष्ठ भावना को ही प्रश्रय प्रदान करती है। डॉ० राधाकृष्णन् के विचारानुसार हमलोगों का जीवन आज विशेष कृत्रिम और भौतिकवादी है। सरलता और सादगी का जीवन, प्रकृति से निकट साहचर्य का जीवन हमें पसंद नहीं आता, परंतु मानव का कल्याण इस भावना को दूर करने में ही है। समस्त मानवों का खयाल करते हुए उन्हें सबके साथ समानता के सिद्धांत को अपनाना होगा। भारतीय अध्यात्मवाद भी इसी की शिक्षा देता है। उसे अपनी अवांछनीय, अप्राकृतिक, असामाजिक इच्छाओं और तृष्णाओं को दबा कर, उनका दमन कर सरलता की ओर उन्मुख होना पड़ेगा।

सच्ची शिक्षा-योजना के आधार पर ही इस लक्ष्य की पूर्ति होगी। प्राचीन भारत के गुरुकुल इसी उद्देश्य को प्रतिपादित और उपस्थापित करते थे। अतः, वहाँ का समस्त जीवन और कार्यकलाप इस प्रकार निर्मित था कि युवा ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा-दीक्षा की समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर इस उच्च मर्यादा का सर्वदा-सर्वथा पालन करते रहें। आज भी स्वामी श्रद्धानंद जी और रवींद्रनाथ ठाकुर ने किशोर तथा युवा विद्यार्थियों का मस्तिष्क और हृदय, सरल और उच्च विचार से अभिभूत हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही क्रमशः अपने कांगड़ी गुरुकुल हरद्वार तथा विश्वभारती, शांति-निकेतन के समस्त जीवन का गठन तदनुकूल रूप में ही किया है। अतः, आवश्यक है कि गणतंत्र भारत की समस्त शिक्षण-संस्थाओं में 'सरल जीवन और उच्च विचार' की पवित्र, ओजस्विनी तथा जनहितकारी धारा प्रवाहित हो।

धार्मिक शिक्षा द्वारा पाशविक प्रवृत्तियों का परिशोधन

धार्मिक शिक्षा के संबंध में डॉ० राधाकृष्णन् के विचार बड़े उदात्त एवं स्पष्ट हैं। वे शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में हैं। धार्मिक

शिक्षा के आधार पर मनुष्य की भौतिक तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ परिशोधित हो सकेंगी और वह मानवता के उच्च आदर्शों से अपना हार्दिक संबंध स्थापित कर सकेगा—ऐसा उनका विचार है। धर्म कोई मत-मतांतर नहीं, अपितु 'सत्य की शोध' में एक तीव्र आलोक है। धार्मिक शिक्षा अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वश्रेष्ठ है तथा विश्व-शांति की जननी है। स्वामी विवेकानंद ने भी धर्म को शिक्षा का मेरुदंड बतलाया है। डॉ० राधाकृष्णन् के विचारानुसार शिक्षा और धर्म का संबंध उसी प्रकार है, जिस प्रकार शरीर और आत्मा का। यदि धर्म को शिक्षा से अलग कर दें, तो हमारी आध्यात्मिक मृत्यु हो जाएगी। मानव-जीवन का बहुत बड़ा लक्ष्य है—हृदय की पवित्रता, चित्त की शांति—और वह तो हमें धर्म द्वारा ही प्राप्त होगी।

वस्तुतः धर्म का आशय सामान्य रूप से समझे जाने वाले धर्म के संकुचित अर्थ से सर्वथा भिन्न है। अंग्रेजी के 'रेलिजन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'रेलिगर' से हुई है, जिसका अर्थ होता है बाँधना अर्थात् धर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच सूत्रीकरण का माध्यम है। वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा बतायी गई है:—"यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।" अर्थात् जिससे इस लोक में पूर्ण अभ्युदय और परलोक में कल्याण मिले, वही धर्म है। भगवान् व्यास ने दो श्लोकों में बड़े अच्छे ढंग से धर्म की व्याख्या की है। वे कहते हैं—

"प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यःस्यात्प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चय॥"

अर्थात् प्राणियों के कल्याण के लिए ही धर्म का बखान किया गया है। जिस कर्म से प्राणियों का कल्याण होता हो, उसी को 'धर्म' कहते हैं। अहिंसा के लिए धर्म का बखान हुआ है। जिन कार्यों से हिंसा नहीं होती हो, दूसरों को मानसिक या शारीरिक कष्ट नहीं होता हो, वही धर्म है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है।—

"परहित सरिस धरम नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥"

ऐसे सभी काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरों को सुख मिलता हो, शांति मिलती हो, लोककल्याण होता हो, किसी को किसी प्रकार का कष्ट या मानसिक क्लेश नहीं पहुँचता हो।

कुछ संकीर्ण विचार रखने वाले पुरुष धर्म का तात्पर्य एक विशेष विश्वास के लिए श्रद्धा मानते हैं। उनका धर्म पुस्तकों में अधिक सीमित रहता है, जीवन में कम। ऐसे व्यक्ति को मान और मनुष्य में अंतर दृष्टिगत होता है। धर्म के नाम पर बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं। इतिहासप्रसिद्ध यूरोप का 'क्रूसेड वार' सर्वविदित है। विवेकानंद ने लिखा है—"हम शास्त्रों द्वारा धार्मिक नहीं बन सकते, भले ही हम संसार की समस्त पुस्तकों को पढ़ डालें, तब भी संभव है, हम ईश्वर और धर्म का एक अक्षर भी नहीं समझें। भले ही हम जीवन-पर्यंत तर्क और विचार करते रहें, परंतु स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किए बिना सत्य के कण मात्र को भी नहीं समझ सकते। मंदिर तथा गिरजाघर, पुस्तकें तथा विधियाँ धर्म के केवल प्रारंभिक अभ्यास कराने की सामग्रियाँ हैं—उनसे आध्यात्मिक क्षेत्र का जिज्ञासु अगली सीढ़ियों पर पैर रखने के लिए बल प्राप्त करता है। सिद्धांतों, मतवादों अथवा बौद्धिक विवादों में धर्म नहीं रखा है। हम आत्मा हैं, यह जान कर तद्रूप बन जाना ही धर्म है, अपरोक्षानुभूति ही धर्म है।

शिक्षा का अर्थ है--मनुष्य के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास करने की शक्ति। सच्चे अर्थ में मनुष्य वही है जिसका बौद्धिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक एवं शारीरिक आदि सभी प्रकार का विकास हुआ हो, एक पक्षीय नहीं। महान् दार्शनिक प्लेटो के मत में "शिक्षा द्वारा हमें शरीर और आत्मा की पूर्णता के लिए सब कुछ प्राप्त हो सकेगा--अगर हममें उसे ग्रहण करने की क्षमता हो।" प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री कॉमेनियस का विचार है---"शिक्षा संपूर्ण मानव का विकास है।' इन विचारों से संसार के सभी शिक्षाशास्त्री सहमत हैं। महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली के लक्ष्य की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में इसके शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक गुणों को उपस्थित किया।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि हमारी शिक्षा उस समय तक अधूरी है, जब तक उसके द्वारा हमारी आध्यात्मिक, चारित्रिक और नैतिक उन्नति नहीं होती। अतः, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि हम अपने विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में उन विषयों का समावेश करें, जिससे इसकी क्षमता हमें प्राप्त हो। स्पष्टतः तब हमारा ध्यान 'धार्मिक शिक्षा' की ओर जाता है; क्योंकि चरित्र-निर्माण में धार्मिक और नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। आजकल शिक्षा का जो रूप है, उसमें मनुष्य की मानसिक शक्तियों का ही विकास होता है---आत्मिक उन्नति नहीं होती। यह हमारी भौतिक पिपासा को शांत करती है, सर्वांगीण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। इसका संबंध भौतिकवादी दुनिया से अधिक है, मन के

अंतःप्रदेश से कम। जवाहरलाल नेहरू तथा राधाकृष्णन् सर्वदा इस बात पर जोर देते रहे हैं कि हमें अपनी नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ानी है; क्योंकि भौतिक तृष्णा पर विजय पाने के लिए यही एक अमोघ शक्ति है।

प्राचीन भारत में धार्मिक शिक्षा को प्रमुख स्थान प्राप्त था। लौकिक तथा पारलौकिक सुखों के संबंध में हमारे पूर्वजों का यह विचार था कि मनुष्य की संपूर्ण लौकिक चेष्टाएँ धन, संतान और यश की प्राप्ति के लिए ही होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों को उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। एक चौथी प्रवृत्ति भी है, जिसे मोक्षैषणा कहते हैं। इन चारों ऐषणाओं की सिद्धि के लिए प्राचीन भारतीय लोगों ने यह निर्धारित किया कि मनुष्य को चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिए---अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि के निमित्त सभी विद्याएँ चार भागों में बाँटी गई थीं जिन्हें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय धर्मशास्त्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था और व्यवस्थित रूप से इसकी पढ़ाई भी होती थी।

ऋषियों के आश्रमों तथा गुरुकुलों में प्रत्येक बालक को धार्मिक, नैतिक, शारीरिक, व्यावसायिक और व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके लिए पाठ्यक्रम के अनुसार विभिन्न कार्यक्रम निर्धारित थे। धार्मिक और नैतिक शिक्षा कुछ तो पुस्तकों और उपदेशों के आधार पर तथा कुछ आश्रम में पारस्परिक सेवा, स्नेह और सहयोग के वातावरण से दी जाती थी, जिससे छात्र यह ज्ञान ग्रहण करते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेल कर भी दूसरों को सुख पहुँचाना चाहिए तथा सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिए।

अंग्रेजी राज्यकाल में धार्मिक शिक्षा को भारतीय शिक्षा-पद्धति में स्थान नहीं मिला। विदेशी शासक होने के कारण पारस्परिक विद्वेष की नीति के निवारणार्थ इन लोगों ने धार्मिक तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। सन् १८५४ ई० के संदेशपत्र ने स्कूलों में धार्मिक शिक्षा के प्रश्न पर जो आदेश दिए, उनसे सभी शिक्षा-शास्त्री परिचित होंगे, जिनके अनुसार सरकारी स्कूलों में तो धार्मिक शिक्षा की अनुमति नहीं मिली, परंतु धर्म-प्रचारकों के विद्यालयों में अप्रत्यक्ष रूप से इसकी छूट अवश्य दे दी गई। फिर भी भारतीयों की ओर से धार्मिक शिक्षा के पक्ष में आंदोलन होते रहे। धार्मिक तथा सामाजिक नवजागरण के फलस्वरूप भारत में कई धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएं, जैसे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि क्रियाशील बनी रहीं। ये संस्थाएँ इस बात के लिए प्रयत्नशील थीं कि उन्हें अपने स्कूलों में धार्मिक विचारों

के शिक्षा की छूट मिले। परंतु, इन यत्नों के बावजूद सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-प्रयोग की भी नीति धार्मिक शिक्षा के संबंध में पूर्ववत् बनी रही। लॉर्ड कर्जन के समय में भी विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने के संबंध में विचार हुआ, पर उसने भी यही आदेश दिया कि नैतिक और धार्मिक शिक्षा विषय के रूप में स्कूलों में नहीं दी जा सकती तथा सार्वजनिक स्कूल सर्वथा असांप्रदायिक रहेंगे। हाँ, इतनी छूट अवश्य मिली कि धार्मिक बातों की जानकारी तथा नैतिक आदतों का निर्माण स्कूल के संघटन, उसके जीवन तथा कार्यों से हो। शिक्षण-संस्थाओं के सुयोग्य शिक्षक, स्कूल-अनुशासन और छात्रों के चरित्र को समुन्नत करने वाली जीवनियों से संबद्ध पाठ्य-पुस्तकें, अध्यापकों तथा छात्रों का साहचर्य आदि उपकरणों से छात्रों का नैतिक और धार्मिक उत्थान अनायास ही व्यावहारिक रूप में होगा। इसके बाद भी भारतीय सदा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। सैडलर समीक्षक मंडल ने मार्च, सन् १९१९ ई० में भारत की माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा पर अपनी समीक्षा पेश करते हुए धार्मिक और नैतिक शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित शब्दों में सिफ़ारिश की—"विद्यालयों में ऐसे आध्यात्मिक जीवन का अभाव है, जो बालकों की अंतःप्रकृति को स्पर्श कर सके। ऐसी सहयोग भावना का अभाव है, जो छात्रों की स्नेहपूर्ण सत्यनिष्ठा को प्रभावित कर सके तथा ऐसी नैतिक और बौद्धिक शिक्षा का अभाव है, जिससे वे अपने भावों को प्रज्ज्वलित कर सकें। स्पष्ट है कि मंडल ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा के महत्त्व को किस गहराई के साथ अनुभव किया था। परंतु, अंग्रेजी शासनकाल में धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिए कोई विशेष प्रबंध नहीं हो सका। सार्जेंट योजना ने जिसका उल्लेख 'अत्यंत महत्त्वपूर्ण योजना' के नाम से किया जाता है, १९ जनवरी, सन् १९४४ ई० को अपना मंतव्य प्रकाशित करते हुए धार्मिक शिक्षा को ऐच्छिक करार दिया।

विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग

स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् भारत ने डॉ० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति सन् १९४७ ई० में की। शिक्षा के संबंध में आयोग ने कहा "शिक्षा केवल मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं, अपितु आत्मा का प्रशिक्षण भी है। इसका उद्देश्य ज्ञान तथा विवेक दोनों प्रदान करना है। अतः, हम दोनों की व्यवस्था करें।" बालकों और युवा पुरुषों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आयोग ने धार्मिक शिक्षा को आवश्यक माना। एक आदर्श तथा सफल जीवन व्यतीत करने के लिए हमें केवल बौद्धिक जागरूकता की ही आवश्यकता नहीं, बल्कि

इसकी भी अपेक्षा है कि हम संवेगात्मक पक्ष में शांत रहना सीखें; क्योंकि इसके अभाव में हम उन संघर्षों को सहन नहीं कर सकते, जिनका सामना हमें जीवन में आवश्यक रूप से करना पड़ता है। विद्यार्थियों के सवेगात्मक तथा नैतिक विकास को संयोग पर नहीं छोड़ देना होगा। धार्मिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति के प्रसंग में आयोग ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद १६,२१,२८ को उद्धृत किया, जिनके अनुसार सरकारी शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के कारण संविधान को यह व्यवस्था स्वाभाविक है, किंतु आयोग के विचार में संविधान की धार्मिक मान्यताएँ, धार्मिक शिक्षा का निपेधक नहीं है। "धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक निरक्षरता नहीं, इसका अर्थ धार्मिक आध्यात्मिकता है, न कि संकीर्ण धार्मिकता"—ऐसा विचार हमें कमीशन के पृष्ठ ३०० पर मिलता है। (To be secular is not to be religiously illiterate. It is to be deeply spiritual and not narrowly religious) इन बातों की पृष्ठभूमि में आयोग ने धार्मिक शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें पेश कीं—(१) सभी शिक्षा-संस्थाओं के दैनिक कार्य कुछ मिनटों के लिए मौन आंतरिक चिंतन के साथ शुरू हों। महात्मा गांधी ने भी इस विचार की पुष्टि करते हुए लिखा था—"जब तुम्हारा हृदय टूट जाए तो प्रार्थना ही ऐसी चीज है, जो तुम्हें ढाढ़स दे सकती है। मैं अपने जीवन में कभी निराश नहीं हुआ हूँ और न मैंने कभी हिम्मत ही हारी है। प्रार्थना से मुझे जितना बल मिला है, उतना किसी कार्य से नहीं।"

(२) डिग्री कक्षा के प्रथम वर्ष में संसार के महान् धार्मिक नेताओं जैसे भगवान बुद्ध, कनफ्यूसियस, जरथुस्त्र, सुकरात, ईसा, पैगंबर मुहम्मद, गुरु नानक और महात्मा गांधी आदि लोगों की जीवनियाँ पढ़ायी जाएँ।

(३) दूसरे वर्ष में संसार के धर्मग्रंथों से सर्वोपयुक्त सामग्रियाँ चुन कर पढ़ायी जाए।

(४) तीसरे वर्ष में धर्म के दर्शन की प्रमुख समस्याओं पर विचार किया जाए। सेकेंडरी एडुकेशन कमीशन रिपोर्ट (सन् १९५२ ई०) ने भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण बतलाया है। वस्तुतः शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति तब तक नहीं होती, जब तक इसके द्वारा छात्रों के मन में नैतिक सिद्धांत पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं किए जाते।

मानव-जीवन में धर्म की गहरी आवश्यकता पर दृष्टिपात करते हुए यह जरूरी है कि इसका संबंध शिक्षा और शिक्षण-संस्थाओं से स्थापित किया जाए।

निःसंदेह धर्मनिरपेक्ष देश में किसी व्यक्ति या समाज की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाना हमारा उद्देश्य नहीं, बल्कि अपने उच्चादर्शों से युक्त रहते हुए ही यह कार्य होना चाहिए। किसी धार्मिक क्रिया या अनुष्ठान के संबंध में किसी पर इमें दवाव नहीं देना है, न यह हमारा धर्म ही है। किंतु, व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त करने के लिए हमें सीमा तक धार्मिक ग्रंथों और आचार-व्यवहारों का आश्रय लेना ही होगा। यदि विद्यार्थी समाज को शिक्षा देते समय सत्य, ईमानदारी पवित्रता आदि गुणों का ज्ञान विना धार्मिक पुस्तकों अथवा धार्मिक क्रियाओं (इसमें विभिन्न पाठ्यक्रमेतर विषय संमिलित होंगे) के दिया गया, तो ये भाव छात्रों के लिए अस्पष्ट रहेंगे। सत्य भाषण, जीवन में आदर्श पालन, धर्म की मर्यादा, सच्चरित्रता, आज्ञापालन, त्याग और प्रेम आदि की शिक्षा देते समय सत्य, ईमानदारी और पवित्रता आदि गुणों का ज्ञान विना धार्मिक पुस्तकों अथवा धार्मिक क्रियाओं (इसमें विभिन्न पाठ्यक्रमेतर विषय संमिलित होंगे) के दिया गया, तो ये भाव छात्रों के लिए अस्पष्ट रहेंगे। सत्य भाषण, जीवन में आदर्श पालन, धर्म की मर्यादा, चरित्र, आज्ञापालन, त्याग; प्रेम आदि की शिक्षा देते समय हम मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र, अखंड ब्रह्मचारी इंद्रियजित महावीर श्री हनुमान, गीता का ज्ञान देने वाले श्रीकृष्ण, मृत्यु पर अधिकार प्राप्त करने वाले भीष्म आदि की जीवनियों का उदाहरण उपस्थित करेंगे। इससे हमारे संकीर्ण धार्मिक मतभेदों का अंत होगा तथा हमलोग धर्म की वास्तविक मर्यादा ग्रहण कर सकेंगे। वस्तुतः सभी धर्मों में विश्वास के आधार और धार्मिक कार्यकलाप में ही देखा जाता है। यद्यपि सभी के आधारभूत सिद्धांत और अंतर्निहित शक्तियाँ समान ही होती हैं, परंतु वसुधैव कुटुम्बकम् को भावना को जाग्रत कर मनुष्य मात्र को एक दूसरे से आबद्ध करने का यह प्रथम सूत्र, अंतर्राष्ट्रीयता का प्रथम सोपान, विश्वशांति का यह मंगलमय प्रथम मंत्र हमें शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होगा।



अध्याय ३८

संत विनोबा भावे

संत विनोबा भावे का जन्म महाराष्ट्र प्रांत के गागोदा नामक गाँव में ११ सितंबर, सन् १८९५ ई० को हुआ था। मानव-कल्याणार्थ मात्र बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन की प्रतिज्ञा कर जहाँ एक ओर हमें स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का स्मरण कराया है, वहाँ दूसरी ओर 'देशभक्ति ही ईश्वरभक्ति है'—का पवित्र नारा देकर यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात तथा सुधार-युग के सर्वप्रमुख विचारक एवं शिक्षा में यथार्थवाद के पोषक जर्मन विद्वान मार्टिन लूथर की याद दिलाया है। इनका समस्त जीवन कर्मयोग में बीता और आज छिहत्तर वर्ष की अवस्था में भी ये अपने देशवासियों को सभी तरह सुखी बनाने में सचेष्ट हैं। भूदान, ग्रामदान, संपत्तिदान, जीवनदान एवं श्रमदान आदि यज्ञों में वे सक्रिय हैं। भावेजी देश के कोने-कोने में पदयात्रा करते हैं और अपने जीवन-दर्शन को सफल बनाने की चेष्टा करते हैं। आज भारतीय समाज में व्याप्त भीषण आर्थिक विषमता की स्थिति को सुधारने एवं वर्गहीन, शोषणहीन समाज की कल्पना को साकार करने के लिए उन्होंने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया है। महात्मा गांधी के पश्चात् भारतीय समाज के आप दूसरे युगपुरुष हैं।

विनोबाजी और सर्वोदय

विनोबाजी विश्व-बंधुत्व में विश्वास रखते हैं और प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं। वे सर्वोदय अर्थात् सबके उदय, सबके विकास एवं सबके हित के सिद्धांत के पोषक हैं। अहिंसा एवं सत्य के आधार पर स्थापित वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषणविहीन-जैसे समाज की स्थापना, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का पर्याप्त अवसर मिले—सर्वोदय का लक्ष्य है। ऐसा समाज प्रेम, सद्भावना तथा

अहिंसा के आधार पर ही स्थापित हो सकेगा। विनोबाजी का भी जीवनादर्श सर्वोदय समाज की स्थापना ही है। वस्तुतः उनके भी विचार वही हैं, जो महात्मा गांधी के थे। ऐसी अवस्था में विनोबाजी के विचारों की पृष्ठभूमि में गांधीजी की सत्य, अहिंसा, प्रेम और मानव-हृदय के परिवर्तन की भावना अंतर्निहित है।

सर्वोदय का सिद्धांत अति प्राचीन है। गौतम बुद्ध इसके पोषक थे। दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समंतभद्र ने भी 'सर्वोदय तीर्थ' की भावना व्यक्त की थी। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःख भाग्भवेत्' भारतीय ऋषियों का यह मंगलमय जीवनादर्श शाश्वत् सत्य है। प्राचीन भारतीयों का आदर्श था —'समस्त जगत् का कल्याण हो, मानव मात्र सुखी बनें। इस चिरंतन सत्य को विश्व-पटल पर पुनः स्मरण दिलाने वाले महात्मा गांधी हैं। वर्तमान 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग उन्होंने ही किया है। रस्किन की पुस्तक "अनटू दिस लास्ट' (Unto This Last) का उन्होंने गुजराती में अनुवाद किया है और उसका नाम 'सर्वोदय' रखा। सर्वोदय मानव मात्र के हितार्थ विचारने वाला एक पवित्र सिद्धांत है। यहाँ निश्छल भाव से कार्य करने की बात है। एक मनुष्य का हित दूसरे मनुष्य के हित के प्रतिकूल नहीं हो सकेगा, सबकी भलाई एक दूसरे की भलाई के अनुकूल ही हो सकती है, ऐसा सर्वोदय-धारा प्रतिपादित करती है। हम सभी एक ईश्वर की संतान हैं। उन्होंने संपूर्ण संपत्ति सहित इस विश्व का निर्माण किया है। अतः, इस धन के उपयोग और उपभोग का सभी को समान अधिकार है। 'सर्वोदय दर्शन यह भी प्रतिपादित करता है कि मात्र धन और शारीरिक सुख से ही कोई सुखी नहीं हो सकेगा; क्योंकि मानव-शरीर में आत्मा, मन, बुद्धि सभी का स्थान है। अतः, हमें शाश्वत् सुख प्राप्त कराने वाले अमृत-तत्त्व की उपलब्धि की सफल चेष्टा करने की आवश्यकता है। आत्मिक सुखकी प्राप्ति ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इन विचारों की पुष्टि में विनोबाजी अपनी पुस्तक 'थॉट् ऑन एडुकेशन' के पृष्ठ १८ पर लिखते भी हैं—"Life is earthly piligrimage of all university".

संत विनोबा महात्मा गांधी के अनन्य भक्त हैं। गांधी के संदेश एवं जीवनादर्श से विश्व को परिचित करना ही उनका लक्ष्य है। भारत के गाँव-गाँव में पैदल घूम कर वे सर्वोदय का प्रचार करते हैं। इस सर्वोदयी विचारधारा ने आज समस्त संसार की आर्थिक मान्यताओं में एक विचारधारा का सूत्रपात किया। भूदान, ग्रामदान, संपत्तिदान, जीवनदान, शांतिसेना और सर्वोदय पात्र आदि से सहयोगी समाज और ग्राम-स्वराज्य की स्थापना में वे दृढ़तापूर्वक संलग्नशील हैं।

विनोवाजी और नई तालीम

सर्वोदय समाज को स्थापना तभी हो सकेगी, जव हम सच्चे अर्थ में शिक्षित होंगे। शिक्षा का आधार शिक्षा ही सच्चे मानव एवं आदर्श समाज की स्थापना करती है। प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था, जो किसी कार्य को सहृदयता एवं विवेक से करें। विनोवा जी ने भारतीय समाज की ओर देखा। यहाँ भी शिक्षा में उन मूल्यों का सर्वथा अभाव है, जिनके आधार पर कोई समाज एवं राष्ट्र स्वावलंबो होकर प्रगतिशील वनता है। यहाँ की शिक्षा का लक्ष्य और अर्थ ही कुछ भिन्न है।

विनोवाजी ने देखा कि भारत में आज भी वही अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली है, जिसे लार्ड मेकाले ने अपने विवरणपत्र में दिया है। इस स्थल पर लार्ड मेकाले के विवरणपत्र के संवंध में जान लेना आवश्यक है।

'लार्ड मेकाले का विवरणपत्र'

लार्ड मेकॉले गवर्नर जनरल की कौसिल का कानून-सदस्य तथा 'लोक-शिक्षा-समिति' का प्रधान था।

सरकार ने मेकाले से कानून-सदस्य के रूप में सन् १८१३ ई० की ४३ वीं धारा की व्याख्या माँगी। तभी २ फरवरी, सन् १८३५ ई० को उसने अपना प्रसिद्ध विवरणपत्र लिखा, जिसका ऐतिहासिक महत्व है।

मेकाले ने सर्वप्रथम 'साहित्य' शब्द को लिया और कहा कि इसका अर्थ 'अंग्रेजी साहित्य लिया जा सकता है।" 'भारतीय विद्वान्' से तात्पर्य "वह विद्वान् जो लॉक के दर्शन और मिल्टन की कविता से परिचित हो।' उसने प्राच्यवादियों के प्राव्य-शैक्षणिक संस्थाओं को प्रचलित रखने के मत को लिया और लिखा, "प्राच्य शिक्षा-प्रणाली के प्रशंसकों का तर्क यदि हम मान लें कि वह ठोक है, तो वह परिवर्तनों के विरुद्ध निर्णायक होगा।[1]

तत्पश्चात् मेकाले ने शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को लिया। उसने देशी भाषाओं के विषय में कहा, सभी दल एक वात पर सहमत दिखायी देते हैं कि भारत के लोगों में प्रचलित देशी भाषाओं (आधुनिक भारतीय भाषाओं) में साहित्यिक

1. The admirers of the oriental system of education have used another argument which if we admit it to be valid, is decisive against all change."

एवं वैज्ञानिक शब्दकोश का अभाव है और वे इतनी असमर्थ और गँवारू हैं कि जब तक उन्हें बाह्य स्रोत से संपन्न नहीं किया जाता, उनमें सुगमता से किसी भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद नहीं हो सकता।"

इस प्रकार मेकाले ने देशी भाषाओं को वाद-विवाद से अलग कर दिया। फिर, उसने संस्कृत और फारसी आदि भाषाओं की तुलना अंग्रेजी से करते हुए लिखा, "एक अच्छे योरुपीय पुस्तकालय की केवल एक आलमारी भारत तथा अरब के संपूर्ण साहित्य के बराबर होगी।"[१]

मेकाले ने ऐसा लिखकर अपने अज्ञान का ही परिचय दिया, जो अक्षम्य है। वह संस्कृत और अरबी दोनों भाषाओं को नहीं जानता था, उसने इन दोनों भाषाओं के अपार साहित्य का अध्ययन नहीं किया था और अपना निर्णय दे दिया। इससे अधिक दंभ और क्या हो सकता है? उसने संस्कृत साहित्य का उपहास उड़ाया कि "*उसमें चिकित्सा-सिद्धांत' ऐसा है कि जिस पर हमारे पशु चिकित्सकों तक को लज्जा* आ जाएगी, ज्योतिष ऐसा है कि जिस पर "स्कूलों की अंग्रेज बालिकाएँ हँस देंगी।" इतिहास ऐसा है जिसमें '३० फूट लंबे राजाओं' का वर्णन है, जो ३० हजार वर्ष राज्य करते रहते थे।" भूगोल ऐसा है कि जिसमें "शीरे और मक्खन के समुद्रों का वर्णन' है।"

मेकाले ने सुझाव दिया कि संस्कृत, अरबी और फारसी में लिखे गए कानूनों का अंग्रेजी में कोड बनवा लिया जाए। वह नहीं चाहता था कि केवल कानून की जानकारी के लिए संस्कृत कॉलेजों और अरबी-फारसी के मदरसों पर इतना धन लुटाया जाए। अतः, उसने उन्हें बिल्कुल बंद कर देने का सुझाव दिया। उसने अंग्रेजी भाषा की प्रशंसा में पृथ्वी-आकाश एक कर दिया। उसने कहा—"हमारी भाषा पाश्चात्य भाषाओं में भी सर्वोपरि (Pre-eminent) है। जो इस भाषा का ज्ञान प्राप्त करता है, वह सुगमता से विशाल ज्ञान-भंडार को पहुँच सकता है, जिसको संसार की संपूर्ण विद्वान जातियों ने रचा है और इसकी शीघ्र ही पूर्व के समुद्रों में वाणिज्य की भाषा बन जाने की संभावना है।"[२]

1. A single shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia.

2. Whoever knows that language has ready access to all the vast intellect wealth which all the wisest natians of the earth have created. It is likly to become the language of commerce throughout the seas of the East."

—Macaule Minuts

इस प्रकार मेकाले ने अपनी शैली अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य-साहित्य और विज्ञानों को पढ़ाने पर बल दिया। उसने यह भी लिखा कि "सारी जनता को पढ़ाना तो असंभव है, पर यह संभव है कि अंग्रेजी की शिक्षा से जनता का एक भाग ऐसा बनाया जाए जो रक्त और वर्ण में भारतीय हो, परंतु स्वाद, विचार, आचरण तथा बुद्धि से अंग्रेज हो।"[1]

मेकाले ने अपना विवरणपत्र लॉर्ड बेंटिक को भेजा, जिसने उसे प्राच्यवादियों के नेता प्रिंसप के पास भेजा। प्रिंसप ने उसके उत्तर में १५ फरवरी, सन् १८३५ को विवरणपत्र लिखा, जिसमें उसने अपने पक्ष में कई महत्त्वपूर्ण तर्क दिए। लेकिन, उन पर कोई ध्यान न देते हुए लार्ड बेंटिक ने मेकाले के विवरणपत्र को स्वीकृति प्रदान की।

लार्ड बेंटिक की स्वीकृति

बेंटिक ने ७ मार्च, सन् १८३५ ई० को निम्नलिखित आदेश निकाला —

१. ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य योरपीय साहित्य तथा विज्ञान का भारत में प्रचार करना होगा। अतः, सारी धनराशि अंग्रेजी पर ही व्यय की जाए।

२. पर, हमारी यह इच्छा नहीं कि प्राच्य-स्कूलों या कॉलेजों को भंग कर दिया जाए; क्योंकि भारतीय लोग इन संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं से लाभ उठाना चाहेंगे। उनके आचार्यों तथा विद्यार्थियों को पूर्ववत् वेतन तथा छात्र-वृत्तियाँ दी जाएँगी। जो छात्र इस आदेश के पश्चात् इन संस्थाओं में दाखिल होंगे, उनको कोई छात्रवृत्ति न दी जाए। जब कोई आचार्य स्थान छोड़ कर चला जाए, तो समिति सरकार को छात्रों की संख्या और श्रेणी आदि से सूचित करेगी, ताकि सरकार उसके उत्तराधिकारी के विषय में निर्णय कर सके।

३. हमें विदित हुआ है कि समिति ने प्राच्य भाषाओं पर पुस्तकें प्रकाशित करने में पर्याप्त धनराशि लगा दी है। इस धनराशि का कोई भाग भविष्य में इस कार्य पर व्यय न किया जाए।

४. इन सुधारों से बचने वाली संपूर्ण धनराशि को भारतीय लोगों में अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान का प्रचार करने में व्यय किया जाए।

---

1. A class of presons Indian in blood and colour but English in tastes in opinion, in morals and intellect."—Queoted by, S. N. Mukerji.

—History of Education

लार्ड बेंटिक की इस घोषणा से अंग्रेजों की शिक्षा-नीति स्पष्ट हो गई। इसमें शिक्षा का माध्यम और विषय का स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाए। वास्तव में बेंटिक तो पहले से ही अंग्रेजी का पक्षपाती था। उसने सती-प्रथा को बंद करते समय देखा था कि अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य पढ़ने वाले भारतीय लोगों ने उसकी सहायता की थी। मेकाले तो एक साधन मात्र मिला, जिससे वह अपने उद्देश्य की शीघ्र ही पूर्ति कर सके।

मेकाले का स्थान

मेकाले के विवरणपत्र से हमने देखा कि उसने शिक्षा-क्षेत्र में वादग्रस्त विषयों का किस प्रकार निर्णय किया। अतः, शिक्षा के इतिहास में हम उसको क्या स्थान दे सकते हैं, यही देखना यहाँ अभीष्ट है।

मेकाले के विषय में कई दलों ने कई धारणाएँ बनायी हैं। प्रमुख धारणाएँ निम्न हैं---

(क) मेकाले भारतीय शिक्षा का अग्रदूत था।

(ख) मेकाले के कारण ही देश में राजनैतिक अशांति हुई; क्योंकि उसने अंग्रेजी शिक्षा का पक्ष लिया।

(ग) मेकाले ने भारतीय भाषाओं को 'असमर्थ और गँवारू' कह कर भारतीय लोगों का अपमान किया, इसलिए वह दंभी था।

मेकाले को शिक्षा का अग्रदूत मानने वाले कहते हैं कि उसने अंग्रेजी शिक्षा को अनिवार्य बना कर शिक्षा के क्षेत्र में अग्रदूत का कार्य किया। वास्तव में बात इससे कुछ भिन्न है। निस्संदेह उसने अपने विचारों के अनुसार ही निर्णय लिए, पर अंग्रेजी शिक्षा की माँग करने वाले भारतीय भी पर्याप्त संख्या में थे। मिशनरी स्कूलों में जा कर जो लोग अंग्रेजी पढ़ सकते हैं, क्या वे अंग्रेजी भाषा और विज्ञान का विरोध करते? कदापि नहीं। इसलिए हम कह सकते हैं कि मेकाले ने शिक्षा के आधुनिक ढाँचे की नींव अवश्य रखी, पर वह अग्रदूत नहीं था।

दूसरा दल मेकाले को देश में राजनैतिक अशांति का कारण मानता है। यदि अंग्रेजी शिक्षा के कारण देश में राजनैतिक अशांति हुई, तो वह मेकाले के विवरण-पत्र के बिना भी हो सकती थी। इसका कारण यह है कि लोग पर्याप्त संख्या में स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ रहे थे। दूसरा कारण यह है कि राजनैतिक अशांति का वास्तविक कारण तो वे शासक थे, जिन्हें अंग्रेजों के भारत में आ जाने से हानि उठानी पड़ी।

तीसरा दल उसे अनुदार और दंभी कहता है; क्योंकि उसने आधुनिक भारतीय भाषाओं को असमर्थ और गँवारू कहा और साथ ही संस्कृत साहित्य का उपहास उड़ाया। इसमें मेकाले का अपराध स्पष्ट है। उसने कहा कि दोनों दल (प्राच्य और पाश्चात्यवादी) इस बात पर सहमत हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ उच्च शिक्षा के लिए असमर्थ हैं। वास्तव में उसको यह एक बहाना मिला, अन्यथा क्या वह नहीं जानता था कि उसी समय बंबई राज्य में देशी भाषाओं के माध्यम से ही उच्च शिक्षा दी जा रही थी ? क्या बाइबिल का अनुवाद देशी भाषाओं मे नहीं हुआ था ? अवश्य हुआ था और इससे वह अनभिज्ञ न था। इसलिए वह इस दोष से मुक्त नहीं हो सकता। उसका इससे भी बड़ा अपराध यह है कि उसने संस्कृत साहित्य, भारतीय-चिकित्साशास्त्र तथा ज्योतिषज्ञान का उपहास किया। उसने कहीं से यह सुन लिया कि संस्कृत साहित्य में ऐसी कथाएँ हैं, जिनमें ३० फुट लंबे राजा का वर्णन है। उसने वास्तव में संस्कृत साहित्य का अध्ययन नहीं किया, अन्यथा संस्कृत साहित्य के अगाध भांडार को वह कभी ऐसी कथाओं से भरा हुआ न समझता। उसने यदि केवल महाकवि कालिदास के ग्रंथों का ही अध्ययन किया होता, तो वह बुरी ऐसी धारणा कभी न बनाता। इन्हीं अंग्रेजों में से अनेक साहित्यकारों ने महाकवि कालिदास की तुलना महाकवि शेक्सपियर से करके सिद्ध कर दिया कि मेकाले ने जो कुछ लिखा था, वह अज्ञानतावश और उसके पूर्व निश्चित विचारों एवं संस्कारों का परिणाम था, जो कि यह इंगलैंड से लेकर भारत आया था।

भारतीय चिकित्साशास्त्र की अवहेलना भी उसकी अज्ञानता का ही परिचायक है। जब वह भारत पहुँचा, तो क्या उसने भारतीय चिकित्सा-प्रणाली को साधारण जनता में भी लोकप्रिय नहीं देखा ? अंत में हम यही कहेंगे कि उसने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए पर्याप्त कार्य किया, जिससे भारतीय लोगों में संघर्ष करने की नवचेतना उदित हुई। वैज्ञानिक और आर्थिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। इसलिए भारतीय शिक्षा के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अधिकांश भारतीय अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के ही हिमायती हैं। एक ओर तो महात्मा गांधी ने कहा कि एकमात्र हिंदी ही हमारी मातृभाषा बनने के योग्य है, इसकी तुलना उन्होंने माता के दूध से करते हुए बतलाया है कि यह उसी के समान शक्तिवर्द्धक है और हमारा मानसिक विकास करने में पूर्ण समर्थ है। परंतु, दूसरी ओर हम देखते हैं कि अंग्रेजी भाषा ही नहीं, अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति अभी भी भारतीयों पर पूर्णतः हावी है। वे श्रम की मर्यादा को बिलकुल भूल गए हैं। शारीरिक काम करने में उन्हें लज्जा आती है। इस कार्य को वे अपनी मर्यादा के

विरुद्ध मानते हैं। ज्ञान और कर्म में कोई समन्वय नहीं है। विनोबाजी वर्त्तमान शिक्षा पर व्यंग्य करते हुए अपनी पुस्तक 'शिक्षण-विचार' के पृष्ठ ११ पर लिखते हैं -"इस उदार शिक्षा की यह महिमा है कि जिस छात्र को मेट्रिक तक पढ़ने को मिल मिल जाता है वह श्रम की ही क्या, अपनी आत्मा की ही प्रतिष्ठा खो बैठता है।" विनोबाजी इस वर्त्तमान शिक्षा में अनेकों दोष पाते हैं— इस शिक्षा द्वारा त्याग, सेवा तथा नैतिक वातावरण आदि की सृष्टि नहीं होती, गुरु-शिष्य पारस्परिक मर्यादा और कर्त्तव्य को भूल गए हैं, स्वधर्म का ज्ञान लोप हो गया है, स्वतंत्र विचारों का कोई मूल्य नहीं रह गया है, बेकारी की समस्या में निरंतर वृद्धि हो रही है आदि।

इन त्रुटियों के निराकरण एवं सर्वोदय के लक्ष्य के प्राप्ति हेतु विनोवाजी ने शिक्षा में 'नई तालीम' की रूपरेखा प्रस्तुत की। नई तालीम सर्वोदय की शिक्षा है। उनके विचारानुसार नई तालीम द्वारा एक नया समाज बनेगा, जिसमें प्रत्येक नया समाज पुराना पड़ता जाएगा। नई तालीम का अर्थ है- "नित्य नए समाज की रचना करने वाली शिक्षा।" नई तालीम जीवन के संपूर्ण दृष्टिकोण को बदल देगी। इसका प्रमुख उद्देश्य वर्गहीन तथा अहिंसक सामाजिक वातावरण का निर्माण करना है।

नई तालीम एवं पुरानी तालीम

विनोवाजी ने नई तालीम और पुरानी तालीम की दो व्याख्याएँ की हैं— "Nai Talim means the setting up of new values. The old education taught us that thieving is sinful, the new education teaches that not only thieving, but the emassing of material wealth is sinful also. The old education makes a distinction between physical and mental labour, the new education not only regards both as of equal value, it relates the one as the other and integrates them into one whole. The old education honours efficiency for its own sake, the new education makes efficiency the servant of eqality. The old education pays homage to Lakshmi, Shakti, Saraswati, the new education pays homage to humanity and values these three-wealth, power and knowledge—only as instrument of service."-

अर्थात् नई तालीम का अर्थ नए मूल्य गढ़ना होता है। पुरानी शिक्षा हमलोगों को सिखाती है कि चोरी करना पाप है और नई तालीम बताती है कि केवल चोरी करना ही नहीं, बल्कि भौतिक धन संग्रह करना भी पाप है। पुरानी शिक्षा शारीरिक और बौद्धिक श्रम में भेद रखती है और नई तालीम दोनों का सामान्य मूल्य से ही नहीं सत्कार करती, बल्कि एक-दूसरे से संबंध स्थापित करती है। पुरानी शिक्षा योग्यता का नाम अपने हित के लिए करती है और नई तालीम दक्षता की इज्जत समता के सेवक के रूप में करती है। पुरानी शिक्षा लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती की पूजा करती है। नई तालीम मानवता की पूजा करती है और संपत्ति, शक्ति तथा ज्ञान को केवल सेवा के साधनरूप ही मानती है।

विनोबाजी नई तालीम को बालक के हृदय, मस्तिष्क एवं पेट की शिक्षा मानते हैं। हृदय के लिए नई तालीम सहानुभूति, विश्वप्रेम एवं अन्य चारित्रिक गुणों की विधात्री है। मस्तिष्क के लिए वह कुशाग्र बुद्धि की निर्मात्री है। यहाँ पेट की भूख की शांति के लिए स्वस्थ विधान है, उपयुक्त आश्रय है। नई तालीम में विनय एवं मानवता की अनोखी पुट है, हस्तकला एवं भाषण-कला का उचित समन्वय है तथा ज्ञान एवं कर्म की अखंड ज्योति का प्रकाश है। इस प्रकार अपने-आप में वह एक पूर्ण, एक अखंड शक्ति है।

नई तालीम का उद्देश्य

सर्वोदय समाज के सिद्धांतों के आधार पर ही विनोबा जी ने अपनी नई तालीम के उद्देश्य निर्धारित किए हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा के उद्देश्य निम्नांकित हैं—

१. स्वतंत्र एवं विचारशील व्यक्ति का निर्माण करना।
२. ज्ञानार्जन की अभिरुचि उत्पन्न करना।
३. स्वावलंबी एवं आत्म निर्भर मानव बनाना।
४. ज्ञान एवं कर्म का समन्वय करना।
५. समाजसेवी तथा कर्त्तव्यशील व्यक्ति उत्पन्न करना।
६. विश्व-मानव की धारणा।

उपर्युक्त उद्देश्यों पर हमलोग एक-एक कर विचार करेंगे।

१ स्वतंत्र एवं विचारशील व्यक्ति का निर्माण करना

स्वतंत्र एवं विचारशील व्यक्ति ही आज भारत का कल्याण करेंगे। स्वतंत्र का अर्थ होता है—मन, वचन एवं कर्म पर नियंत्रणयुक्त जीवन। वस्तुतः स्वतंत्र व्यक्ति

वही है, जो विवेक से कार्य करता है तथा दूसरों का हित चाहता है और अपने समाज एवं राष्ट्र का कल्याण करता है। स्वतंत्रता का अर्थ जीवन के किसी भी क्षेत्र में उच्छृंखलता नहीं होता, अपितु विवेकशील पुरुष ही स्वतंत्र होता है।

लॉक मानव-जीवन में विवेक को श्रेष्ठ स्थान देते हैं। विवेक ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य, मनुष्य की संज्ञा पाता है। मनुष्योचित गुणों का विकास विवेक से ही संभव है। वास्तविकता को परख विवेक के आधार पर ही की जाती है। संयमित सफल जीवन के लिए एक नागरिक को विवेक से काम लेना चाहिए। विवेक के अभाव में हमलोग अपना जीवन कष्टमय बना लेते हैं। अतः, शिक्षा के विधान में विवेक को महत्वपूर्ण स्थान उपलब्ध है। लॉक विवेक द्वारा व्यक्ति में सद्-गुणों के आविर्भाव पर विश्वास करते हैं। विवेक द्वारा व्यक्ति अपनी इंद्रियों को वशीभूत करता है। उसमें तार्किक बुद्धि उत्पन्न होती है। विवेक मानव के संवेगात्मक जीवन में एकीकरण लाने तथा अंतर्द्वंद्व को समाप्त करने में सफल होता है।

शिक्षा ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा स्वतंत्र एव विचारशील व्यक्ति उत्पन्न होंगे। शिक्षा ही वह कुंजी है, जिसके द्वारा हमारी विचारधारा निर्मित होती है, उसका पुष्टिकरण एवं संवर्द्धन होता है। नई तालीम की नवीनता इसी बात में है कि वह एक नूतन समाज का जो वर्गरहित हो तथा जो प्रेम, न्याय सत्य और सह-योग के उच्च आदर्शों पर स्थित हो और जिसके सदस्य सामूहिक कल्याण की ओर अग्रसर हों—निर्माण चाहती है। हमलोग तब तक स्वतंत्र राष्ट्र के स्वतंत्र एवं विचार-शील व्यक्ति नहीं होंगे, जब तक देश के अंदर विभिन्न जातियों और उपजातियों के नाम पर हमारे अंदर मत-विभिन्नताएँ और संकीर्णताएँ हैं।

२ ज्ञानार्जन की अभिरुचि उत्पन्न करना

ज्ञानार्जन की पिपासा ही हमें जीवन का सच्चा आनंद देगी। आजाद देश के स्वस्थ जीवन की यह कसौटी है कि वहाँ के नागरिक ज्ञानोपलब्धि की ओर कितने उत्सुक एवं जिज्ञासु हैं। आज ज्ञान-विज्ञान में सर्वत्र नई खोजें हो रही हैं। अमेरिका और रूस के मनुष्य चाँद एवं मंगल ग्रह पर चक्कर लगाते हैं। यह इसलिए कि वे उत्सुक और कर्मठ विद्यार्थी हुए हैं एवं नए ज्ञानार्जन में अपना जीवन न्योछावर कर दिए हैं। भारत में भी हमें इस मंगलमय मंत्र का प्रसार करना है। अपनी शिक्षा-योजना द्वारा ही हम इस लक्ष्य की प्राप्ति करेंगे। विनोबाजी अपनी नई तालीम द्वारा इस मार्ग को प्रशस्त करना चाहते हैं। वे भारतवासियों में ज्ञानार्जन, अनुसंधान एवं खोज की अभिरुचि उत्पन्न करना चाहते हैं।

ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति तथा प्रसार के निमित्त अनुसंधान, अन्वेषण और खोज की आवश्यकता है। अनुसंधान, जिज्ञासा का फल है। जिज्ञासा-वृत्ति ही मानव-सभ्यता और संस्कृति की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए उत्तरदायी है। जिस जाति में जिज्ञासा-वृत्ति प्रवल हुई, उस जाति ने दर्शन और ज्ञान के क्षेत्र के खोज एवं आविष्कार करके अपने-आपको गौरव के पद पर प्रतिष्ठित किया। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक महत्ता का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कारण यह था कि हमारे पूर्वजों, ऋषि-मुनियों, विचारकों, दार्शनिकों,कवियों,ज्योतिषियों, धर्मसंस्थापकों, समाज-सुधारकों, नेताओं तथा विद्वानों के मस्तिष्क में नवीन वातों की खोज के प्रति संलग्नता तीव्रता के साथ वर्त्तमान थी। दर्शन के क्षेत्रमें ब्रह्म की जिज्ञासा हुई, तो कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, वादरायण, जैमिनि, शंकराचार्य, रामानुज और कुमारिल भट्ट-जैसे दार्शनिक उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चरक-जैसे आयुर्वेदाचार्य, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर और भास्कराचार्य-जैसे ज्योतिषी तथा गणितज्ञ, पाणिनि, अमर सिंह-जैसे भाषा-वैज्ञानिक तथा चाणक्य-जैसे राजनीतिज्ञ को सफलता भी जिज्ञासा-वृत्ति; प्रखर वुद्धि और सतत् परिश्रम के कारण ही प्राप्त हुई। आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों की वैज्ञानिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति का मूल स्रोत जिज्ञासा की प्रवल प्रवृत्ति ही तो है।

पूर्वजों की इस जिज्ञासा-वृत्ति का हम वर्त्तमान भारतीयों में आज सर्वथा अभाव है। जब तक हमारी शिक्षित जनता इस दिशा में कार्यरत नहीं होगी, हमारे राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध ही रहेगी। भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इतिहास और प्राचीन संस्कृति में, शास्त्र और आयुर्वेद में, धर्म दर्शन, राजनीति और समाज-विज्ञान में, शिल्प, यंत्र-कला और भौतिक विज्ञान में शोध-कार्य की पूर्ण आवश्यकता है। आज हम भारतीयों को देश की उन्नति और प्रगति के लिए ऐसे उद्देश्यों से अभिप्रेरित हो कर इन महान् सत्कार्यों के संपादन के प्रति कटिवद्ध होना है।

३. स्वावलंवी एवं आत्मनिर्भर मानव वनाना

स्वावलंवी और आत्मनिर्भर व्यक्ति ही स्वतंत्र एवं स्वस्थ विचार रख कर ज्ञानोपलब्धि की ओर उन्मुख रह सकते हैं। जो परमुखापेक्षी है, उसमें विचार भी संकीर्ण हो जाते हैं और वे अपने समाज तथा राष्ट्र का क्या, अपना भी कल्याण नहीं कर सकेंगे। विनोवा जी स्वावलंवी एवं आत्मनिर्भर किशोर चाहते हैं। सर्वोदय के लक्ष्य को ऐसे ही व्यक्ति धारण कर सकेंगे।

नई तालीम समाज का आमूल परिवर्तन चाहती है। समाजवादी समाज की स्थापना विनोवाजी का लक्ष्य है। व्यक्ति को रोजी मिले, रोटी मिले और इसका

जीवन सुखी हो। आजकल शारीरिक और मानसिक परिश्रमों की कीमत अलग-अलग मानी जाती है। नई तालीम के अनुसार शारीरिक या मानसिक सेवा एक नैतिक वस्तु है और वेतन आर्थिक वस्तु। नैतिक वस्तु की कीमत आर्थिक वस्तु से नहीं आँकी जा सकती। आर्थिक कीमत का संबंध मनुष्य की भूख से है। अतः, मनुष्य को उसकी भूख के अनुसार वेतन मिले। इसे देना समाज का कर्त्तव्य है—चाहे वह किसान हो या बुद्धिजीवी वर्ग, ऐसा विनोबाजी मानते हैं। नई तालीम इस सामजिक मनोवृत्ति और आर्थिक पहलू का निदान खोज सकेगी। यहाँ हम महात्मा गांधी और संत विनोबा के विचारों में पर्याप्त समानता पाते हैं। गांधीजी ने भी बुनियादी तालीम में स्वावलंबन की चर्चा की है और परावलंबन की भावना को हटाने के लिए कृषि-उद्योग को इसका आधार माना है, जिससे नवयुवक अपनी आर्थिक समस्याओं का एक हद तक निदान कर सकने में समर्थवान बनें। विनोबा जी ने भी नई तालीम में जीवनोपयोगी दस्तकारी (उद्योग) को प्रमुख स्थान दिया है।

नई तालीम की पाठन-विधि 'समवाय-पद्धति' पर आधारित है। इस पद्धति में एक उद्देश्य कर्म और विभिन्न अंगयुक्त मूल उद्योग शिक्षण का माध्यम चुना जाता है। यह शिक्षण का साधन नहीं, अपितु उसका अविभाज्य अंग होता है। उद्योग द्वारा शिक्षा के तीन उद्देश्यों की पूर्ति होती है—

(क) विद्यार्थियों में अंतर्निहित शक्तियों का विकास करना।

(ख) विद्यार्थियों को जीवनोपयोगी विभिन्न ज्ञान प्रदान करना और

(ग) विद्यार्थियों को उनके भावी जीवन के लिए जीविका का एक समर्थ साधन देना।

४. ज्ञान एवं कर्म में समन्वय

विनोबाजी 'ज्ञान एवं कर्म में समन्वय' चाहते हैं। उनके विचारानुसार ज्ञान एवं कर्म दो वस्तु नहीं, अपितु एक ही हैं। ज्ञान एवं कर्म में श्रेष्ठ कौन है, यह कहना गलत है। ज्ञान एवं कर्म एक ही हैं और इनके आधार पर जो शिक्षा दी जाएगी, वह 'नई तालीम' कहलाएगी। उपयोगी विषयों को कोरे पुस्तकीय ज्ञान को ही पढ़ कर नहीं, अपितु उन्हें किसी उद्योग से शुरू किया जाए। उद्योग ऐसा हो, जो जीवन से संबद्ध हो। बुनियादी शिक्षा-पद्धति का प्रमुख आधार उद्योग अथवा क्रियाशीलता ही है। अमेरिका में प्रचलित 'प्रोजेक्ट पद्धति' तथा रूस में प्रचलित 'कांप्लेक्स पद्धति' की तरह बुनियादी शिक्षा पद्धति में भी प्रायोगिक कार्य करने के लिए पर्याप्त अवसर है। विनोबाजी अपनी पुस्तक 'शिक्षण-प्रयोग' में लिखते हैं—"नई तालीम का विश्वास है कि ज्ञान एवं कर्म, दोनों एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं।

इसलिए मालूम ही नहीं होता कि यह ज्ञान-कार्य चल रहा है अथवा कर्मयोग चल रहा है। एक दृष्टि से देखो, तो ज्ञान-कार्य चल रहा है, ऐसा दीखता है। दूसरी दृष्टि से देखो तो कर्मयोग चल रहा है, ऐसा दीखता है। इस तरह का आभास जिन प्रयोगों में आएगा, उसका नाम होगा—'शिक्षण-प्रयोग। विनोबाजी मात्र पुस्तकस्थ विद्या के विरोधी हैं। कोई भी ज्ञानी पुरुष आज ऐसा ही चाहेगा। ज्ञान हमारे जीवन का अंग हो। महात्मा गांधी भी ज्ञान एवं कर्म का समन्वय चाहते थे। बुनियादी शिक्षा-पद्धति के समस्त सिद्धांत इस प्रकार गठित हैं कि ज्ञानोपलब्धि के निमित्त किसी योजना को आधार मान कर बालक स्वयं कार्य करते हैं। स्वयं कार्य करने से उन्हें हितैषी अनुभव एव स्थायी ज्ञान प्राप्त होता है। श्रम के प्रति उनकी आस्था सजग होती है। विनोबाजी भी इसी विचार के पोषक हैं। उनकी 'समवाय-पद्धति' उद्योग द्वारा शिक्षा देना चाहती है। वह विभिन्न प्रकार की शिक्षा का केंद्र उद्योग को ही स्वीकार करती है। उद्योग में केंद्रित ज्ञान जीवनोपयोगी होता है। प्राप्त ज्ञान का आधार ठोस एवं सुदृढ़ होता है। वह जीवन में स्थायी एवं साधक होता है।

५. समाजसेवी एवं कर्त्तव्यशील व्यक्ति उत्पन्न करना

परंपरागत शिक्षा-पद्धति की यह बहुत बड़ी त्रुटि थी कि भारतीय अपनी सभ्यता और संस्कृति भूलते जा रहे थे। अपने देश एवं समाज की मर्यादा के प्रति उनकी अश्रद्धा हो रही थी। विचित्र मनोवैज्ञानिक स्थिति पैदा हो गई थी। अंग्रेज वस्तुतः यही चाहते भी थे। नई तालीम द्वारा विनोबाजी इस मनोवृत्ति का समूल नाश करना चाहते हैं। जिस अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली ने भारतीयों को अपने कर्त्तव्य से च्युत कर समाज और देश के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करा दी, उसी की प्रतिक्रिया में विनोबाजी नई तालीम द्वारा नई रोशनी देना चाहते हैं और भारतवासियों का उचित मार्गदर्शन कराते हैं। कर्त्तव्यशीलता और समाजसेविता किसी स्वतंत्र देश के नागरिक के प्रमुख गुण हैं। इन्हीं से उनका और उनके समाज का कल्याण होगा।

कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति ही अपने उत्तरदायित्व को सँभाल सकता है। कर्त्तव्य-परायण होना अपने-आप में एक बहुत बड़ा सामाजिक गुण है। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति स्वतः समाजसेवी और कर्मयोगी है। विनोबाजी स्वयं गीता के कर्मयोग में विश्वास करते हैं और चाहते हैं कि उनके देशवासी कर्मयोगी बनें। उनका कहना है कि विद्यार्थियों को उनकी प्रारंभिक अवस्था से ही कर्मयोग के दर्शन से परिचित कराया जाए। अतः, अध्ययन में कर्मयोग को अवश्य स्थान मिले। नई तालीम में सत्, चित्, आनंद का समावेश किया गया है। सत्, चित् और आनंद अर्थात् कर्म; ज्ञान एवं

आनंद में निष्ठा एवं विश्वास ही कर्मयोग का मूल मंत्र है। सच्चे कर्म का ज्ञान हमारे आनंद का स्रोत है। गरीब, दुःखी पड़ोसी भाई की सहायता ही सच्चा कर्म है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"परहित सरिस धरम नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।"

६. विश्व-मानव की धारणा

विनोबाजी का जीवन-दर्शन है— 'सर्वोदय'। वे सबका उदय एवं कल्याण चाहते हैं। मानव-मात्र ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र का वे मंगल चाहते हैं। अतः, उनकी धारणा है कि शिक्षा का लक्ष्य बालक का इस प्रकार से विकास करना है कि वह विश्व-मानव, अर्थात् सार्वभौम सत्य से तादात्म्य करके आत्मसाक्षात्कार करे। संसार को अपना समझे, धार्मिक एवं वैयक्तिक संकीर्णता से ऊपर उठ कर विश्व-बंधुत्व की व्यापकता से अपना संबंध स्थापित करे। 'समानता के सिद्धांत' की धारणा से जब बालक की मनोवृत्ति पुष्पित एवं पल्लवित होगी, तभी उसकी एवं उसके समाज की उन्नति होगी। 'अशिक्षित व्यक्ति' की परिभाषा करते हुए विनोबाजी लिखते हैं "अशिक्षित वह है, जो लिखना-पढ़ना जानता है और देशसेवक कारीगरों को 'अरे' 'तू' कह कर संबोधित करता है। उनका आदर करना नहीं जानता।" स्पष्ट है कि विनोबाजी छोटे-बड़े के उस भेद को मिटाना चाहते हैं, जो आज भारतीय समाज में व्याप्त हो गया है। सफेदपोश बाबू समाज तथा कथित मजदूर वर्ग को वे समान बनाना चाहते हैं। उनके द्वारा निर्धारित अशिक्षित व्यक्ति की परिभाषा से स्पष्ट है कि वे समानता में विश्वास करते हैं। समानता की व्यापक एवं बृहत्त धारणा ही उत्तरोत्तर विश्वबंधुत्व का सूत्रपात करती है।

विश्वमानव की धारणा के प्रादुर्भूतिकरण के लिए विनोबाजी बालकों को आध्यात्मिक शिक्षा देने के पक्ष में हैं। आध्यात्मिक शिक्षा से ही उनकी संकीर्ण विचारधाराओं का परिशोधन होगा। वे चाहते हैं कि विद्यार्थियों को ब्रह्मज्ञान हो। अतः, उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना में ईश्वर के आराधना एवं चिंतन का विधान किया है। हृदय से प्रार्थना करने से मानव अपने चरम लक्ष्य की उपलब्धि कर सकेगा। विनोबाजी के कथनानुसार 'देशभक्ति ईश्वरभक्ति है' तथापि ईश्वरभजन उसके साथ होना चाहिए। हमारी शिक्षा उस समय तक अधूरी है, जब तक उसके द्वारा हमारी आध्यात्मिक, चारित्रिक और नैतिक उन्नति नहीं होगी।

नई तालीम और समवाय

विनोबाजी शिक्षा में 'समवाय' चाहते हैं। नई तालीम का उद्देश्य समवाय-पद्धति का मान्यता स्वीकार करने से ही पूरा हो जाएगा। समवाय के आधार पर ज्ञान और कर्म के सूत्रों को इस प्रकार पिरोया जाए कि वे एक दूसरे के पूरक बन जाएँ। विनोबाजी समवाय और कर्म के संबंध का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"घड़ा और मिट्टी एक ही है या दो? यदि आप दो कहेंगे, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए और अपना घड़ा यह लीजिए। यदि आप कहते हैं कि घड़ा और मिट्टी एक है, तो यह मिट्टी का ढेर पड़ा है, भरिए पानी।" स्पष्ट है कि घड़ा और मिट्टी का परस्पर संबंध है। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म का भी संबंध वही है, जो घड़ा और मिट्टी का है। विनोबाजी समवाय पर बहुत बल देते हैं। वे चाहते हैं कि शिक्षण एक मूलोद्योग से हो। उद्योग से शिक्षण एवं शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाए, यही समवाय है। इस तरह समवाय-पद्धति वर्त्तमान प्रचलित समस्त शिक्षा-विधियों से भिन्न और अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष रूप में अंतिम परिणति है। इस संबंध में विनोबाजी का कथन है—

"इस पद्धति में जो मूलोद्योग चुना जाए, वह व्यापक और विविध अंगयुक्त होना चाहिए। हिंदुस्तान की आज की हालत देखते हुए ८ प्रतिशत पाठशालाओं में जो मूलोद्योग शुरू किया जाता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है, साथ-साथ की उम्र के बच्चों को दृष्टि में रख कर ही यह कह रहा हूँ।"[1]

अंग्रेजी में समवाय के लिए 'को-रिलेशन" (Co-relation) शब्द प्रयुक्त किया जाता है। समवाय को अधिकांश लोग उद्योग के सहारे किसी विषय को पढ़ाया जाए, वही समझते हैं। 'समवाय' शब्द को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'शिक्षा'-संबंधी बेसिक की मान्यताएँ जानना परमावश्यक है। शिक्षा पर समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने अपने मत दिए हैं और व्यक्ति के हित में हैं, इतना यथार्थ है। शिक्षा को साध्य नहीं माना जा सकता। साध्य जीवन है और वह भी मानव-जीवन और साधन हैं उस जीवन को ऊपर उठाने वाले। शिक्षा उन्हीं साधनों में एक प्रमुख है। जीवन मे परे हम किसी बात पर नहीं सोच सकते और जीवन पर सोचते समय कतिपय नियम बनाते हैं और उन विषयों पर चल कर जब जीवन की शिक्षा मिल जाती यानी उनकी हकीकत मालूम पड़ जाती है कि उसके द्वारा जीवन अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है, तो वह शिक्षा में परिणति पा जाते हैं। शिक्षा समाज में बहु-चर्चित विषय है। शायद शिक्षा से विकृत होकर ही 'सीख' बना है। जीवन में

१. विनोबा, 'मूल उद्योग : कातना'

शिक्षा-साधन का अद्वितीय महत्त्व है। अधिकांश लोग पढ़े-लिखे यानी अक्षरों का ज्ञान रखने वाले को शिक्षित मान लेते हैं। शिक्षा का दूसरा अर्थ है—विद्या। और, विद्या भी वह जो पढ़ना-लिखना सिखा दे। उनका जीवनविशेष से इससे अधिक अन्य कोई संवध नहीं मानते हैं। परंतु, यह वास्तविक शिक्षा का अभिप्राय नहीं है।

शिक्षा समय के प्रभाव से अपने विभिन्न मत-मतांतर प्रस्तुत करती रही है। शिक्षा-क्षेत्र में सदैव अनुसंधान होते रहे हैं। वेस्ट महोदय ने अनुसंधान के विषय में लिखा है "... अनुसंधान विश्लेषण की एक नियमित, विधिवद्ध तथा गहन वैज्ञानिक विधि है। अनुसंधान में प्रायः नियमित ढाँचा कार्यांवित किया जाता है और अंत में उसमें प्रयुक्त नियमों या सिद्धांतों का निष्कर्ष या परिणाम के सहित विवरण प्रस्तुत करना होता है।"[1] अनुसंधान में नवीन ज्ञान तथा मौलिक सिद्धांतों को एकत्र किया जाता है। शिक्षा में अनुसंधान की चर्चा बीसवीं सदी में हुई है। इसे पूर्व की शिक्षा में समय-समय पर तदनुकूल परिस्थितियों के अनुसार आमूल या कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहा है। नीचे हम कतिपय शिक्षाविदों की उनकी शिक्षा-विषयक परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं--

रॉस ने लिखा है कि "शिक्षा प्राकृतिक परिवर्द्धन (Natural Development) का रूपभेदन(Modification) है। शिक्षा के कारण जैसा परिवर्द्धन होता है, शिक्षा के अभाव में वह वैसा नहीं होता है।"[2] सर पर्सिन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशन, इट्स डेटा एँड फर्स्ट प्रिंसीपल्स' में कहा है कि व्यष्टिप्रधान दर्शन शिक्षा पर कैसे लागू होता और इसका योग्यतापूर्वक पक्षपोषण किया गया है। शिक्षा से प्रत्येक को "ऐसी अवस्थाएँ प्राप्त होती चाहिए, जिनमें व्यक्तित्व अधिक-से-अधिक पूर्ण रीति से विकसित हो।" १९वीं शताब्दी के अज्ञेकवादी (Agnostic) डॉ० हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि "शिक्षा का लक्ष्य पूर्ण जीवन (Complete-Living) है।" दूसरी ओर सोसाइटी ऑफ जेसस(Society of Jesess) के संस्थापक, लोलोत्मा ने 'ईश्वर की यशोवृद्धि' का लक्ष्य शिक्षा माना है। सोफिस्ट (Sophist) वे दार्शनिक कहलाते हैं जो शिक्षा में 'लाभप्रदत्ता' (Expendrincy) को महत्त्व देते हैं। मैंने अपने 'शिक्षा एव व्यक्तित्व' निवंध में लिखा है, "वे लटा व्यक्तित्व" से अभिप्राय दूसरे को समझाने का दृष्टिकोण मानते हैं। वस्तुतः व्यक्तित्व में केवल व्यक्ति का ही व्यवहार नहीं आता, वरन् व्यक्तियों की इस व्यवहार-संवंधी प्रतिक्रिया का भी संवंध आ जाता है। शिक्षा व्यक्तित्व के प्रकाशन

1. Best, I. W, Research in Education, Page 16 Prentice-Hall, 1959.
2. Ross, Groundworks of Education, Page. 7.

का सबसे पहला एवं शक्तिशाली साधन है। शिक्षा का अर्थ है 'बाहर ले चलने या निकलने की कला'[1] 'ई' (E) का अर्थ है 'में से' और डूको (Duco) का अर्थ है "मैं ले चलता हूँ" (I read)। लैटिन शब्दकोष के अनुसार भी इसका यही अभिप्राय है। उसमें 'Educare' शब्द आता है, जिसका अर्थ है "बाहर ले चलना या निकालना (To lead out) और उसी में 'Educare' शब्द भी मिलता है, जिसका अर्थ शिक्षित करना है, इसी पिछले शब्द से हमारा 'एजुकेशन' शब्द निकलता है।"[2] मनुष्य की सबसे प्रबल एवं उत्कट इच्छा होती है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', (प्रकाश की ओर जाने की।) कार्डिनल न्यूमेन की निम्नलिखित कविता देखिए, जिसमें वह सुदूरस्थ हृदय-अवलोकन की इच्छा नहीं प्रकट करता है। वह केवल एक कदम आगे बढ़ाने का मार्ग देखने का इच्छुक है (One step enough for me) वह कहता है—

"Lead kindly light,
Amid the encircling gloom
Lead thought me on,
The night is dark.

And I am far from home
Lead though me on.
I did not like to see
the distant scene
One step enough for me."

महात्मा गांधी ने अपने एक लेख में शिक्षा पर बड़े सुंदर ढंग से प्रकाश डालते हुए लिखा है "शिक्षा कोई साध्य वस्तु नहीं, बल्कि साधन है और जिस शिक्षा से हम चरित्रवान बन सकें, वही शिक्षा सच्ची मानी जा सकती है। यह कोई नहीं कह सकता कि स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है, उससे ऐसा नतीजा निकला है।" उन्होंने लेख के अंत में लिखा है, "हिंदुस्तान में कम-से-कम ८५ फी सदी आबादी का धंधा खेती है। १० फी सदी का धंधा कारीगरी है, जिसमें ज्यादातर बुनाई का काम करने वाले लोग हैं। बाकी फी सदी पढ़े-लिखे राजनीतिज्ञ, वकील, डॉक्टर वगैरह लोग हैं। यह आखिरी वर्ग अगर सचमुच लोगों की सेवा करना चाहे, तो

1. Education means Leading out.

२. शिक्षा व व्यक्तित्व, राजेंद्रमोहन भटनागर, नई शिक्षा, जनवरी १९६१, पृष्ठ १४।

उसे ६५ फी सदी आदमियों के धंधों की कुछ-न-कुछ जानकारी हासिल करनी हो चाहिए। ९५ फी सदी लोगों का यह फर्ज माना जाना चाहिए कि उनके माँ-बाप जो धंधा करते हैं, उसका ज्ञान वे प्राप्त करें। अगर यह खयाल सही है, तो हमारे स्कूलों में इन दो धंधों की जानकारी बचपन में ही करायी जाने की सहूलियत होनी चाहिए। खेती और बुनाई वगैरह का सुंदर ज्ञान देने लायक हालत पैदा करने के लिए हमारे तमाम स्कूल गाँवों और शहरों के घनी बस्ती वाले हिस्सों में न हो कर ऐसी जगह होने चाहिए, जहाँ बड़े-बड़े खेत तैयार किए जा सकें और शिक्षा लगभग खुली हवा में दी जा सके। ऐसे स्कूलों में लड़कों का खेल-कूद खेतों में हल चलाने का होगा। यह खयाल झूठा है कि अगर बच्चों और नौजवानों के लिए फुटबाल, क्रिकेट वगैरह न हो, तो उनकी जिंदगी शुष्क बन जाएगी। हमारे किसानों के लड़कों को क्रिकेट वगैरह नसीब नहीं होते, फिर भी उनमें आनंद या निर्दोष मस्ती की कमी नहीं पायी जाती।[1]

शिक्षा सोद्देश्य है। गांधीजी ने भारतीयों की समसामयिक परिस्थितियों को देखते हुए तथा वर्त्तमान अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली द्वारा गलत शिक्षा का प्रचार होते हुए उपरोक्त बात कही है। आज की परिस्थितियों में अब तब्दीली हो रही है। आज शिक्षा के साधारणतः दो प्रमुख उद्देश्य हैं। समाज के संचित ज्ञान-राशि तथा जीवन के मूल्यों के कोष को समाज की पीढ़ी को सुगम एवं सही ढंग से सौंपता है। सुगम एवं सही ढंग से समाज के ज्ञान और जीवन-मूल्यों के कोष को सौंपने के लिए पद्धति-विशेष की आवश्यकता पड़ती है, इसके लिए आज कई पद्धतियाँ चल रहीं हैं। इन पद्धतियों को चलाने वाले हमारे शिक्षाविद् हैं। शिक्षा को यदि सामाजिक संविदा (Social Contract) की दृष्टि से देखें, तो इसके तीन अंग हैं—१. संरक्षक, २. शिक्षक और ३. विद्यार्थी।

विद्यार्थी इसमें शिक्षा का केंद्र है। रूसो के अनुसार शिक्षा तीन विभागों द्वारा प्राप्त होती है---१. प्राकृतिक शिक्षण, २, व्यक्ति-शिक्षण और ३. व्यवहार-शिक्षण।

शिक्षा की अनेक पद्धतियाँ चलती रही हैं। हमारे देश में बेसिक या बुनियादी शिक्षा का श्रीगणेश गांधीजी द्वारा किया गया। इससे पूर्व कवींद्र रवींद्र ने 'शिक्षा-निकेतन' खोल कर शिक्षा में एक नवीन क्रांति कर दी थी। महात्मा गांधी कवींद्र रवींद्र से मिले और शिक्षा पर उनकी बातें भी हुईं। गांधीजी ने अपनी शिक्षा-संबंधी विचारधारा को उस समय के विख्यात शिक्षाविदों के सामने रखा और बतलाया कि जनजीवन में इसी से ज्ञान-प्रकाश का स्थायी दीपक जल सकता है।

---

१. गांधीजी, आधुनिक शिक्षा, 'समालोचक', अक्तूबर, १९१६।

कतिपय सुझावों एवं संशोधनों के बाद उन लोगों ने विचारधारा को स्वीकार कर लिया और उसको क्रियांवित किया गया। आज बेसिक शिक्षा पर अनुसंधान हो रहे हैं, उस पर प्रयोग किए जा रहे हैं। 'समवाय' पर आज विविध प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं और 'समवाय' के नूतन तरीके भी निकल रहे हैं। आज की शिक्षा को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए खेल की बड़ी आवश्यकता समझी जा रही है जबकि गांधीजी उद्योग या खेल में कार्य करना सर्वोत्तम खेल समझते थे। के० राजा गोपालन ने लिखा है---

"There can be not division of labour in a true educational scheme. Knowledge is a thing to be created and not manufactured. It appears to me on reflection that in a liberal and whole some to train the muscles of boys and teach them various skills. If we are to agree that they are essentially educational activities then it is the concern of every teacher who handles the chidren to inculcate in them the values of health through sports and games. The gulf that separates the play-ground from the class-room could be filled only by the common endevour of all those who are engaged in teaching the child."[1]

आज गाँव की माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक शालाओं में इस ओर पी० टी० आई०, एन० डी० एस० (नेशनल डिसीप्लीन स्कीम) और गेम्स टीचर अधिक ध्यान दे रहे हैं। अगर विद्यार्थियों का ध्यान उनके घरेलू उद्योगों की ओर आकर्षित किया जाए, तो उत्तम है। 'समवाय' के संबंध में फिर कुछ कहने को शेष न रहे। श्री गुरुनामसिंह ने 'बुनियादी शिक्षा में समन्वय सिद्धांत' में लिखा है---"आज किसी भी प्रगतिशील शिक्षा-प्रणाली के समान बुनियादी शिक्षा-पद्धति भी बाल केंद्रित हैं; क्योंकि इसमें कार्य द्वारा शिक्षा पर जोर दिया जाता है। समन्वययुक्त शिक्षण इस पद्धति की विशेषता है। कुछ लोग सोचते हैं कि समन्वय एक अद्भुत और नवीन वस्तु है। समन्वय तो एक तरीका है; क्योंकि इसका उद्देश्य शिक्षण की वास्तविकता को स्वाभाविक, व्यावहारिक और विशेष प्रभावशाली बनाना है। अगर प्रत्येक नई

1. K Raja Gopalan. Physical Director, Sasbasbayee Institute of Technology, Trichy (Madras) Education for the Whole Child, Shiksba, July 1961, Page 79-

बात (New point) यथार्थ परिस्थिति में प्रकट की जाए, तो सीखना बहुत आसान हो जाता है। चाहे कोई भी शिक्षा-पद्धति हो, एक अच्छा अध्यापक समन्वय के सिद्धांत की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि समन्वय एक साध्य का साधन है, स्वयं साध्य नहीं। इसलिए शिक्षण में अध्यापक की ओर से बहुत अधिक विचार और निश्चित योजना की अपेक्षा रखती है। कुशल और उत्साही अध्यापक के हाथ में ही यह पद्धति सफलता प्राप्त कर सकती है। अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि उपयुक्त परिस्थितियों, अनुभवों एवं क्रियाओं का संगठन करे जिससे छात्र स्वयं सीख सकें, यह इस प्रणाली का विशेष अंग है।" आपने क्रियाओं की एक तालिका भी प्रस्तुत की है, जो द्रष्टव्य है--

क्रिया	ग्राह्य शिक्षा (Learning Involved)
१. पाठशाला-क्षेत्र की सफाई	क्रियाओं का संगठन, कार्य का छात्रों व समूहों में विभक्तिकरण, कार्य को क्रियान्वित करना, कार्य का मूल्य निश्चित करना (मापना), कार्य का लेखा-जोखा करना। (स्वस्थ और स्वच्छ जीवन की शिक्षा)
२. छात्रों के लिए ताजी सब्जियों की व्यवस्था	विद्यालय की सलाहकर परिषद् द्वारा योजना पर विचार-विमर्श, उगायी जाने वाली सब्जियों का चुनाव कौन-सी कक्षा को क्या उगाना है, आम सभा में विचार-विमर्श, कक्षाओं द्वारा निर्णय लागू करना। (प्रजातांत्रिक तरीके से रहने की शिक्षा)
३. सामूहिक भोजन	भोजन-तालिका का निर्णय, कितनी विभिन्न वस्तुएँ चाहिए, यह हिसाब, अन्य सामान्य, भोजन बनाना, परोसना, मूल्यांकन आदि। अच्छा भोजन, भोजन करने के तरीके, भोजन बनाने का स्वास्थ्यप्रद तरीका, परोसना, सहयोग आदि।
४. विद्यालय को सुंदर बनाना	१. विभिन्न प्रकार के फूलों का चुनाव सुंदर हो। २. फावड़े से खोदना

और खाद देना। ३. कक्षा के लिए चित्र बनाना। ४. अच्छी तस्वीरों का चुनाव। ५. रेखाचित्र आदि का बनाना।

(सौंदर्य की भावना और आत्माभिव्यक्ति, सर्वसुंदर लेख और भावना-विकास)

प्रस्तुत की गई तालिका बहुत छोटी है और इसमें बेसिक शिक्षा-पद्धति का ढाँचा तैयार नहीं हो पाता है। समन्वय अधूरा रह जाता है। बंगलोर की विज्ञान-शाला में गांधीजी ने विद्यार्थियों द्वारा दी गई थैली को स्वीकार करते हुए कहा था "तुमसे मैं मामूली अनपढ़ और नासमझ आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा आशा रखता हूँ। तुमने जो कुछ दिया है, वही देकर संतोष न कर लेना और यह कह कर निश्चित न हो जाना कि अब हमें कुछ भी करना बाकी नहीं रहा। चलो, टेनिस-बिलियर्ड खेलें। किंतु, बिलियर्ड या टेनिस खेलने से तुम्हारे खाते में नामे की रकम का जोड़ रोज बढ़ता जा रहा है, उसका ध्यान रखना।" महात्मा गांधी ने विद्यार्थियों को अपने को पहचानने और पहचान कर करने की ओर संकेत किया है। शिक्षा हमारी आवश्यकता की कहाँ तक पूर्ति कर सकती है? हमारे क्या कर्त्तव्य हैं? 'समवाय' द्वारा शिक्षा दी गई होती, तो क्या वे अब टेनिस या बिलियर्ड खेलते? बेसिक शिक्षा में 'समवाय' वह आधारशिला है, जो देश को नवजीवन शक्ति का आभास करा सकती है। हमारी छिपी हुई शक्ति का अहसास करा सकती है। परंतु, लोगों ने गांधीजी की इस विचारधारा को गलत रूप से क्रियान्वित किया है। वे उद्योग को शिक्षा के लिए जरूरी ही नहीं, बल्कि शिक्षा ही उद्योग है, ऐसा समझ बैठे हैं। आज का बेसिक अध्यापक बुनियादी तालीम का अभिप्राय उद्योग से समझता है। बेसिक शिक्षा-पद्धति से पढ़ाने वाले अध्यापक उद्योग को जबरदस्ती लाद देते हैं। वे समझते हैं कि उद्योग शिक्षा में आया कि बेसिक शिक्षा हो गई। परंतु, ऐसा नहीं है। इस पर विनोबा जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं, जो इस बात को स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा में उद्योग को कितना मिलाया जाए। शिक्षा और उद्योग द्वारा जीवन के लिए जो अमृत बनता है, वह उनकी मात्रा में जरूरत से अधिक कमी या अधिकता होने पर विपाक्त हो सकता है। विनोबाजी ने कहा है---

१. प्रचलित शिक्षण-पद्धतियों में मानव के विविध अंगों में से केवल एक अंग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करने वाला है। चूंकि इस पद्धति में केवल बुद्धि-विलास की ओर या उसके प्रोत्सा-

हकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया, इसलिए मैं उसे केवल पद्धति कहता हूँ।

२. दूसरी पद्धति है—परिवेश-पद्धति। जिस तरह किसी ग्रंथ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्ट-रूप में इसमें उद्योग का स्थान दिया जाता है। इस पद्धति में उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्त्व पूँछ-सरीखा ही माना जाता है। इसके अलावा उद्योग एक मनोरंजन, खेल या अलंकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने के लिए उसका उपयोग किया जाता है।

३. तीसरी पद्धति समुच्चय-पद्धति है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण दोनों को समान महत्त्व देने का प्रयास किया जाता है। यहाँ ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। मिट्टी-पानी का अर्थ घड़ा नहीं है। दोनों को मिला कर कुम्हार जब उसमें अपनी कला उड़ेलता है, तब घड़ा तैयार होता है। समुच्चय-पद्धति में शिक्षण पाने वाले को संतोष नहीं होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरा शिक्षण का समय व्यर्थ ही, उद्योग में बीता जा रहा है। कभी लाचार हो कर उद्योग करता है, कभी स्वार्थवश और कभी शिक्षण कह कर। .... इस कारण दोनों के विषय एक-दूसरे के पूरक नहीं हो पाते।

४. उपर्युक्त तीनों पद्धतियों से भिन्न 'संयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षण-शास्त्री जानते हैं। 'कर्म द्वारा ज्ञान' इसमें समवाय-पद्धति का यह सूत्र मान लिया है, लेकिन इस पद्धति में कर्म को गौण स्थान दिया है। कुछ ज्ञान देना है, तो उसके अनुकूल एक संयोजन लेकर पढ़ाया जाता है। लेकिन, यह कृत्रिम-सा होता है।

५. समवाय-पद्धति में कोई एक जीवनव्यापी और विविध अंगयुक्त मूल उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग-शिक्षण सिर्फ एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अंग होता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनों उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। (१) बच्चे की सब तरह की शक्तियों का विकास करना, (२) बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना और (३) बच्चे को आजीविका का एक समर्थ साधन प्राप्त करा देना। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा, लेकिन महत्त्व का सबूत यह है कि बच्चों के काम में पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अंश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।"

इस प्रकार विनोबाजी ने अन्य प्रचलित पद्धतियों का निरूपण करते हुए 'समवाय' पर प्रकाश डाला है। आजकल 'समवाय' का यह रूप कम मिलता है,

जो वास्तव में शिक्षा का मूलरूप है। 'समवाय' के लिए पहले पृष्ठभूमि तैयार करनी होगी। समवाय से केवल उद्योग का अभिप्राय निकाल लेना उचित नहीं है। 'समवाय' की पूर्वपीठिका या पूर्वभूमि है--बालक का सर्वांगीण विकास करना। शिक्षा बालक का सर्वांगीण विकास करने में उसके अलग-अलग अनुभवों को अलग समय नहीं देगी और न अलग-अलग अंग परिपूर्ण करने में ही लगेगी, बल्कि उसका सर्वांगीण विकास शनैः-शनैः एक साथ होता रहेगा। यह नहीं है कि हाथ का विकास एक बार करें, फिर पैर का दूसरी बार और बुद्धि का तीसरी बार। बालक जब पैदा होता है, तो वह पूर्ण आकृति लिए होता है। शरीर में कहीं चोट लगती है, तो उसका अनुभव हमारा मन और हमारी बुद्धि करती है न कि चोट लगने वाला अंग-विशेष। श्री रामगोपाल गुप्त एवं श्री बृजबिहारीलाल माथुर ने 'समवाय' की परिभाषा इन शब्दों में प्रस्तुत की है—

"मुख्यत: किसी उत्पादक उद्योग की तथा आवश्यकतानुसार प्राकृतिक या सामाजिक वातावरण की प्रक्रियाओं को आधार मान कर उनकी प्रक्रियाओं के सफल एवं उत्तम संचालन के लिए ज्ञान को प्रक्रिया के दौरान में, यथासमय एवं यथाअवसर देना आदर्श समवाय शिक्षण-पद्धति है।[१] इसमें समवाय का आधार दो चीजों पर बतलाया गया है—

१. उत्पादक उद्योग।

२. प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण की प्रक्रियाओं को आधार मानना।

श्री गोपालदास ने शिक्षा का अभिप्राय बतलाते हुए उसकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं :—

"Education is a device for achieving harmonious development of body, mind and soul. It has been evolved and perfected by man in the course of his long history to train the animal in him and subsequently to raise him to human and godly plane. It has always played a dynamic and progressive role. It has developed science which administers not only to his primary physical needs of food, clothing and shelter but has also added to his comforts and luxuries. It has developed fine arts and hu-

१. समग्र बुनियादी शिक्षा, पृष्ठ १०६।

manities to take care of his mental, moral, ethical, aesthetic and spiritual needs.[1]

इन सबके लिए 'समवाय' की आवश्यकता है; क्योंकि समवाय द्वारा हमारा वह उद्देश्य पूरा हो जाता है, जो हमारी शिक्षा का है। प्रश्न यह उठता है कि शिक्षा के लिए समवाय ही क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है। परंतु, फिर भी थोड़ा-सा कह देना ठीक है। समवाय शिक्षा को पूर्ण बनाता और बालक का सर्वांगीण विकास करता है। वास्तव में यह शिक्षा की आत्मा है।

जब समवाय का होना परमावश्यक है, तब यह प्रश्न उठता है कि समवाय में कौन-कौन से उद्योग लिए जाएँ ? इसके लिए शाला के आसपास का वातावरण एवं वहाँ के लोगों का घरेलू उद्योग-धंधों आदि का ध्यान रख कर समवाय का आधार बताया जा सकता है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की ८० प्रतिशत जनता खेतिहर है। अतः. सहज सुलभ और हर मौसम में अविराम होने वाले उद्योग को चुना जा सकता है। इसका ध्यान रहे कि उद्योग विषय से संबंधित हो। समवाय के चुनाव की शर्तें नीचे संकेत रूप में दी जाती हैं—

१. कोई सा कुटीर उद्योग-धंधा, पर वह शाला की स्थितिविशेष को ध्यान रख कर चुना जाए।

२. ऐसा कुटीर-उद्योग-धंधा हो, जो हर मौसम में चलाया जा सकता हो तथा उससे संबंधित कच्चा माल वहाँ सरलता से मिल सके।

३. विषय से संबंधित हो। अर्थात् कर्मेंद्रियों के साथ-साथ ज्ञानेंद्रियों का शिक्षण हो। वह अहिंसाधिष्ठित हो।

४. उसका विक्रय भी हो सके।

५. उसको सब विद्यार्थी अलग-अलग कर सकें। प्रारंभिक कक्षाओं में एक विद्यार्थी द्वारा एक उद्योग हो सके, तो उत्तम है।

६. उद्योग बाल-रुचि के अनुकूल हो।

७. अनुशासन में सहायक हो।

८. उद्योग के शुरू करने में लागत भी कम लगनी चाहिए।

९. पिछड़े बालकों की तुष्टि हो सके।

---

1. Education in Nation Integration "Teacher Education VoI. V. October, 61., Page 24.

१०. बालक की स्वाभाविक चपलता एवं चंचलता का, जिसके द्वारा सदुपयोग किया जा सके, ऐसे उद्योग हों।

११. नैतिक गुणों का विकास हो सके।

१२. मनोवैज्ञानिक गुणों के विकास का आधार हो।

१३. सीखने के सिद्धांत में तत्परता हो।

हमको किसी उद्योग को चुनते समय उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना है। इन पंक्तितों के लेखक ने देखा है कि बेसिक प्रणाली द्वारा शिक्षा देते हुए अधिकतर छात्राध्यापक अनर्गल उद्योग को चुन लेते हैं और बड़ा हास्यास्पद समवाय करते हैं। अगर उपयुक्त बातों को ध्यान में रखा गया, तो इस प्रकार की स्थिति नहीं आएगी। प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के उद्योग कौन-कौन से हैं ? वैसे उद्योग का चुनाव उपरोक्त बातों पर अवलंबित है, परंतु कतिपय उद्योग उपरोक्त कसौटी पर खरे उतर चुके हैं। नीचे उनमें से कुछ को सविस्तर बताया जाता है····

१. कताई-बुनाई····महात्मा गांधी धंधे या उद्योग पर नहीं, वे हाथ-उद्योग द्वारा शिक्षण देते की सदैव बात करते थे। वे चाहते थे कि साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित और विज्ञान सभी विषयों की शिक्षा उद्योग द्वारा दी जानी चाहिए। ऐसे उद्योग नहीं जो धंधे तक सीमित रहें; क्योंकि उनसे शैक्षणिक मतलब हल नहीं होता। वे स्वयं सूत कातते थे। उनकी शिक्षा-पद्धति में भी उसको विशिष्ट स्थान मिला। यह इसलिए नहीं कि वे सूत कातते थे, बल्कि यह उद्योग सब विषयों की शिक्षा के लिए सर्वोतम है। इसके द्वारा विभिन्न विषयों का ज्ञान दिया जा सकता है। कपास की मुख्तलिफ किस्मों का तथा भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों की भूमि का। वस्त्र-उद्योग का भारत में उदय तथा अस्त दोनों का ही इतिहास बालकों को बतलाया जा सकता है। इसके नष्ट होने में जब राजनैतिक कारणों पर प्रकाश डालेंगे, तो स्वभावत· अंग्रेजी राज्य का इतिहास भी उसमें आ जाएगा। इसके द्वारा गणित की शिक्ष सरल है। वस्त्र-निर्माण के उद्योग को सब जगह और प्रत्येक मौसम में सिखाया ज सकता है। लागत कम है रौर मूल्य अधिक। कच्चा माल सरलता से सब जग मिल जाता है। रूई से कताई के बाद, बुनाई और फिर कपड़े को विभिन्न रंगों ⁝ रँगना इत्यादि इसके द्वारा संभव है। इसके द्वारा आमदनी भी विशेष है। श्रीमतं आशा देवी ने गांधीजी के पास ··· उस समय बिहार के चंपारण जिले में बेतिय थाने में बुनियादी तालीम की २७ पाठशालाएँ चल रही थीं और १९४२ ई० में उ पाठशालाओं ने तीन वर्ष पूरे किए····१९४१-४२ के साल का जो सालाना वार्षिः

लेखा-जोखा तैयार हुआ, वह भेजा था। यहाँ भी उसको प्रस्तुत करना समीचीन है; —ोंकि वह कताई से संबंधित है—

"इन २७ पाठशालाओं की औसत हाजिरी पहले दर्जे में ७०, दूसरे में ७६ और तीसरे दर्जे में ७६ फी सदी रही थी और हरएक छात्र की औसत कमाई—

दर्जा एक में रु० ०-११-००
दर्जा दो में रु० २-४-२ और
दर्जा तीन में रु० ६-१-१ रही।

सभी पाठशालाओं के कुल ३६० बालकों ने (औसत हाजिरी के अनुसार) ३६० बालकों, दर्जा एक में १०,२६४ घंटे काम करके रु० २६७-८-६, ३५६ बालकों ने (औसत हाजिरी के अनुसार) दर्जा दो में कुल १४,०८२, घंटे काम करके रु० ८०४-१३-८ और ३१६ बालकों ने (औसत हाजिरी के अनुसार) दर्जा तीन में १४, ३६२ घंटे काम करके रु० १६३५-१४-११ कमाए, यानी कुल १०६५ बालकों ने सारे साल में रु० ३०८-५-१ कमाए। इन पाठशालाओं में विद्यार्थियों की अधिक-से-अधिक औसत व्यक्तिगत कमायी का—

दर्जा तीन में रु० १५-१२-०,
दर्जा दो में रु० ६-२-० और
दर्जा एक में रु० २-१०-१ रही।

चरखे पर अधिक-से-अधिक औसत दर्जा तीन में फी घंटे ४८० तार और तकली पर फी घंटा २८१ तार रही, दर्जा दो में चरखे पर फी घंटा ३५० तार और तकली पर फी घंटा २४२ तार रही, दर्जा एक में तकली पर फी घंटा १६४ तार रही।"[1]

इन आंकड़ों से यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि केवल उद्योग द्वारा उत्पत्ति कितनी हुई है, बल्कि यहां यह देखना है कि नवयुवक या बालक के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में उद्योग का शैक्षणिक मूल्य क्या हो सकता है? आज इस प्रकार के प्रयोग कहाँ हो रहे हैं? उत्पादन का आज शैक्षणिक मूल्य क्या है? उत्तर है—कुछ नहीं। इससे यह भी स्पष्ट है कि इस उद्योग द्वारा उद्योग का शैक्षणिक मूल्य भी लाभदायक है। इन दृष्टियों से कताई-बुनाई का उद्योग बुनियादी शिक्षा के लिए उत्तम है। इसके साथ रँगाई की भी संभावना है।

१. स्मरणीय है कि नए पैसे का प्रचलन पिछले कुछ वर्षों से हुआ है। उस समय रुपए, आने और पाई का प्रचलन था। अतः, श्रीमती आशा देवी द्वारा भेजा गया हिसाब तदनुसार ही है।

२. खेती—यह उद्योग सरलता से पाठशाला के छात्रों द्वारा चलाया जा सकता है बशर्ते कि शाला के पास भूमि हो ।

३. सब्जीवाड़ी—यह कार्य बड़ी सरलता से हो सकता है। इसके लिए उपयुक्त सब्जियों को छाँट लेना होगा। इसके द्वारा भाषा, भूगोल, गणित और विज्ञान आदि सरलता से पढ़ाए जा सकते हैं।

४. खिलौने बनाना—मिट्टी के खिलौने बनाना तथा प्लास्टर ऑफ पेरिस के द्वारा चित्र तैयार करना आदि काम विद्यार्थी सुगमता से कर सकते हैं। खिलौने बनाने के लिए साँचों की आवश्यकता होती हैं, वे खरीदे जा सकते हैं। इनको मेले और प्रदर्शनी के अवसर पर बेचा जा सकता है। इसके द्वारा गणित, भाषा,मेले का वर्णन या कविताएँ इत्यादि—सामाजिक ज्ञान आदि विषय पढ़ाए जा सकते हैं।

५. कागज का उद्योग—यह भी बुनियादी शिक्षा को उच्च कक्षाओं द्वारा चलाया जा सकता है। इसके द्वारा भाषा और भूगोल आदि विषय पढ़ाए जा सकते हैं।

६. चमड़े का उद्योग—भारतवर्ष में चमड़े का उद्योग बहुत प्रसिद्ध है और यह उद्योग हर मौसम में चलता रहता है। इसकी बिक्री भी शीघ्र हो सकती है। इसके द्वारा भाषा, भूगोल, सामाजिक ज्ञान इत्यादि विषय सुगमता से पढ़ाए जा सकते हैं।

७. लकड़ी का उद्योग—यह उद्योग भी सरल है और हर एक स्थान पर हो सकता है। लकड़ियों की चीजें विद्यार्थी बना सकते हैं, जो उनके एवं समाज के लिए बहुत उपयोगी हो सकती हैं। इसी के अंतर्गत निम्नलिखित चीजें भी तैयार की जा सकती हैं—

(१) बाँस के तर से कुर्सी बुनना ।
(२) टोकरी बनाना।
(३) चिक बनाना।
(४) चटाई बनाना इत्यादि

इसके द्वारा भाषा, कला, भूगोल और गणित आदि विषयों की शिक्षा बड़ी ...ता से दी जा सकती है।

८. सिलाई-कढ़ाई का काम—यह भी उद्योग है। मशीनों का प्रयोग किया जाए या नहीं, परंतु हाथ से भी सुंदर सिलाई हो सकती है, जैसे कुरते की सिलाई तो हाथ की ही होती है। इसके साथ ही कपड़ों के खिलौने भी बन सकते हैं, जैसे

गुड़िया-गुड्डे इत्यादि। कढ़ाई लड़कियों के लिए बड़ी उपयोगी है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि कढ़ाई लड़कियाँ ही करें, लड़के नहीं। परंतु, सिलाई तो दोनों ही कर सकते हैं। इसके द्वारा भाषा और गणित आदि विषय पढ़ाए जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त समवाय के अन्य आधार भी हैं, जिनके द्वारा बुनियादी शिक्षा दी जा सकती है। बालक समाज में पनपता है, उसके दिल और दिमाग पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। समाज में नित नए कार्य होते हैं, कुटुंब एवं समाज से बहुत-सी शिक्षाएँ प्राप्त करता है। बेसिक शिक्षा में रूसो की तरह 'एमिल' (रूसो का काल्पनिक बालक) की शिक्षा समाज से दूर रह कर नहीं होती है; क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसने समाज में जन्म लिया है और शिक्षाप्राप्ति के उपरांत वह समाज में ही कार्य करता है। उसका सारा संबंध समाज से है। हम किसी व्यक्ति का अध्ययन उसे समाज से अलग करके नहीं कर सकते हैं। बालक घर एवं समाज से कम नहीं सीखता है। अतः, समाज द्वारा बालक निम्नलिखित मुख्य बातें सीखता है—

१. सामाजिक तथ्यों का व्यावहारिक ज्ञान — बालक समाज में लोगों द्वारा किए गए कार्यों को देखता है। उसके सामने घटनाएँ घट जाती हैं। वह उनका परिणाम भी देखता है। वह समाज में विविध स्वभाव के लोगों के साथ संपर्क बनाता है। उस संपर्क से वह किसी निष्कर्षविशेष पर पहुँचता है। उसको समाज द्वारा व्यावहारिक ज्ञान मिलता है।

२. सामाजिक पर्वोत्सव से प्राप्त ज्ञान—समाज में विविध प्रकार के पर्वोत्सव विशेष अवसरों पर मनाए जाते हैं। आजकल शालाओं में भी कतिपय उत्सव एवं पर्व मनाए जाने लगे हैं। पहले ऐसे अवसरों पर शालाएँ बंद रहा करती थीं। मंदिरों में जा कर कीर्तन, भजन गाना, रासलीलाओं को देखने इत्यादि का प्रभाव बालक पर गहरा पड़ता है। वह उनमें मग्न हो जाता है। उसे बड़ा आनंद आता है। वह सहज में ही वैसा नृत्य करने, गीत और भजन गाने आदि का अभ्यास करने लगता है।

३. समाज के रीति-रिवाज से प्राप्त ज्ञान—हमारे समाज में उत्सव इस प्रकार के हैं कि उनके पीछे ऐसी कहानियाँ हैं, जो बालक में सच्चरित्र रहने, सत्य बोलने और निर्भय होकर कार्य करने आदि उत्तम गुणों को उभारती हैं, उनके छिपे हुए भावों को विकसित करती हैं।

४. शाला के वातावरण में शिक्षा की प्रगति—शाला का वातावरण अगर सुंदर है, तो वह बालक के मन को मोह लेगा और उसका मन घर की अपेक्षा स्कूल में अधिक लगेगा। अध्यापक बालकों से शाला को सुंदर रखने के लिए कार्य करा सकता है। जैसे—भवन को साफ करना, आसपास के वातावरण को मनोरम बनाने के लिए सफाई रखना तथा सुगंधित रंग-बिरंगे फूलों के पौधों को लगाना आदि।

५. शाला को छात्र अपना घर समझने लगें—घर को छात्र अपना समझता है। क्यों ? इसलिए न कि वह घर में जो चाहता है, कर सकता है। उसे खूब सजाता है। उसी तरह से शाला को भी छात्र अपना घर समझें और अपने घर की तरह उसे सजाएँ-सँवारें तथा उसकी देखभाल करें। शाला के सभी छात्र अपने को आपस में भाई-भाई समझें। अध्यापक सब पर एक-सा प्रेम प्रदर्शित करें तथा माता-पिता की तरह बालकों की देखभाल करें। इस प्रकार भ्रातृभाव से रहने, ममता करने और समूह में प्रेममय जीवन बिताने के गुणों को बालक सहज ही सीख लेते हैं।

६. शाला में मनाए गए पर्व एवं क्रीड़ोत्सव—इनके द्वारा बालकों में नवीन जागृति पैदा होती है, मिल कर कार्य करने की भावना का विकास होता है। सामूहिक गीत, भजन इत्यादि से आपस मे मैत्रीभाव बढ़ता है।

सामाजिक वातावरण के अतिरिक्त प्राकृतिक वातावरण भी बालक के ज्ञान-विकास में सहायक होता है। रूसो ने बालक की शिक्षा को प्रकृति पर ही आधारित किया है। 'एमिल' नामक उपन्यास में वे बालक की शिक्षा प्रकृति के मूल-प्रागंण में शुरू करते हैं। मनुष्य अनादिकाल से प्रकृति से सहायता पाता रहा है। प्रकृति और मनुष्य का आपसी संबंध बड़ा ही घनिष्ठ है। मनुष्य ने प्रकृति से बहुत कुछ सीखा है। प्रकृति मानव-जीवन से संबद्ध होकर चली है। आज विज्ञान ने प्रकृति को भी मनुष्य की तरह जीवधारी ठहरा दिया है। मानव के प्रकृति पर किए गए निरीक्षण, अध्ययन एवं प्रयोग आदि ने प्रकृति को बड़े सूक्ष्म रूप में देखा है तथा अपनी सुविधा के लिए उसके कई विभाजन भी कर दिए हैं। जाकिर हुसैन कमिटी ने बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित प्राकृतिक विभागोंको सामान्य विज्ञान के अंतर्गत चुना है—

१. प्रकृति-निरीक्षण
२. प्राणिशास्त्र,
३. वनस्पतिशास्त्र,
४. शरीर-विज्ञान,
५. स्वास्थ्य-विज्ञान,

६. भौतिक-विज्ञान,
७. रसायनशास्त्र,
८. नक्षत्रशास्त्र और
९. वैज्ञानिकों के जीवन-चरित् एवं वैज्ञानिक आविष्कारों की कहानियाँ।

इन सबके द्वारा 'समवाय की क्रिया' का विस्तार हो जाता है और ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग भी सुगम हो जाता है। आजकल कृषिशास्त्र भी विज्ञान के अंतर्गत ही आता है। 'समवाय' का यह विस्तार बुनियादी शिक्षा के लिए वांछनीय है; क्योंकि आज का युग विज्ञान का है और उसमें अगर हम पीछे रह जाते हैं, तो युग से पिछड़ जाएँगे और युग के साथ हमारा निर्वाह होना मुश्किल हो जाएगा।

सबसे मुश्किल बात तो यह है कि 'समवाय' किया कैसे जाए ? सच तो यह है कि समवाय इतने हास्यास्पद रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं कि वह बुनियादी शिक्षा के मकसद को ही खत्म-सा कर देते हैं और शिक्षा की यह विधि असफल हो जाती है। समवाय की क्रिया एक कला है और क्रिया द्वारा निम्नलिखित विषयों की बुनियादी शिक्षा दी जा सकती है—

१. मातृभाषा,
२. अंकगणित,
३. प्राकृतिक विज्ञान,
४. समाजशास्त्र,
५. भूगोल एवं इतिहास,
६. व्यायाम,
७. उद्योग का कार्य,
८. कला व संगीत और
९. हिंदुस्तानी।

इन विषयों की शिक्षा के लिए उद्योग द्वारा ही समवाय करना आवश्यक नहीं है और विषयों का हो भी नहीं सकता है। इसलिए सामाजिक आधार या प्राकृतिक आधार समवाय के लिए आवश्यक हो जाता है। विनोबाजी ने प्राकृतिक आधार मान कर शिक्षा देने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अतः, उन्हें यहाँ देना उपयोगी होगा—

"मान लीजिए, बारिश का दिन है। तो, कक्षा में बच्चों से पहले यही पूछिए कि क्या आप लोग आज शौच, मुखमार्जन आदि से निबट आए हैं ? यह प्रश्न आज ही क्यों ? इसलिए कि वर्षा के कारण बच्चे बाहर शौच जाते सकुचाते हैं।

बच्चों को खिड़की और दरवाजे के बारे में जानकारी करानी है, तो मैं उनसे पूछूँगा, "खिड़कियों का क्या उपयोग है ?"

बच्चे कहेंगे, "उनसे उजाला और हवा भीतर आएगी।"

फिर मैं पूछूँ, "छप्पर में खिड़कियाँ बना देने से हवा एवं रोशनी मिलेगी ही, तो क्या उन्हीं से काम चल सकेगा ?"

वे कहेंगे, "नहीं, बाहरी सृष्टि भी दिखायी पड़नी चाहिए।"

फिर मैं पूछूँगा, "मान लो, वैसी खिड़कियाँ भी बना दीं। पर उनसे बाहर भीतर आना-जाना नहीं हो सकेगा, तो क्या उनसे काम चलेगा ?"

वे कहेंगे, "नहीं, बाहर-भीतर जाने-आने की व्यवस्था भी चाहिए। इसके लिए दरवाजा चाहिए।"

इस तरह खिड़कियों और दरवाजों का उपयोग जब उनके ध्यान में आ जाएगा, तो मैं उनसे पूछूँगा, "बतालाओ तो, अपने शरीर में ऐसे खिड़की-दरवाजे कौन-कौन से हैं ?"

आँख, कान, मुँह, नाक आदि को संस्कृत में 'द्वार' कहा गया है। गीता में कहा, है "सर्व स्वाराणि संयम्यं—सभी दरवाजों का नियमन कर, सभी खिड़की-दरवाजों पर पहरा रखना चाहिए। "नव द्वारे पुरे देही" – नौ दरवाजे के नगर में वह आत्मा निवास करती है। मानव को आँखों पर से खिड़की रखने की कल्पना सूझी होगी। पर, मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं। गाय की आँखें बड़ी होती हैं। इसीलिए मनुष्य गाय की आँखों की तरह खिड़कियाँ बनाने लगा। संस्कृत में खिड़कियों का नाम 'गवाक्ष' है। गवाक्ष का अर्थ है—गाय की आँखें। उसी तरह की खिड़की अंकित कर दिखाओ, ऐसा मैं लड़कों से कहूँगा। ऐसी आँखें बनायीं, तो वह चित्रकला हो गई। उसके बाद मैं बतलाऊँगा कि लोगों ने उसमें किस-किस तरह के हेर-फेर किए। यह हो गया इतिहास। अन्य तरह की खिड़कियाँ क्या आज कहीं मिलेंगी ? यह बतलाने के लिए मैं उन्हें 'लापलैंड' की ओर ले जाऊँगा और उसी प्रसंग में वहाँ के निवासियों के जीवन की तथा अन्य जानकरी कराऊँगा। सारांश, इस तरह प्रासंगिक रूप से दूर के लोगों के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।"

विनोबाजी ने यहाँ कक्षाविशेष का नाम नहीं दिया है, परंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कक्षा का ध्यान रखते हुए हमें शिक्षा देनी है। समवाय यहाँ वर्षा से दूसरी तरह का भी किया जा सकता है। बच्चों को पानी बरसने का कारण बतलाया जा सकता है। पानी को कपड़े धोने के लिए या किसी अन्य कार्य के लिए गर्म

किया जा सकता है तथा उसी के साथ जब उसमें भाप निकलने लगे, तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह भाप कहाँ जा रही है ? पानी कम क्यों हो रहा है ? हाथ भाप पर रख कर देखो, तो क्या होता है ? और हाथ या हथेली में यह पानी कहाँ से आया ? बच्चे कहेंगे, "भाप से।" भाप कैसे बनी ? "पानी गर्म करने से।" भाप ठंडी होने पर किस रूप में बदल गई ? लड़के कहेंगे, "पानी के रूप में।" तब यह बतलाया जा सकता है कि बादल कैसे बने और क्यों बरसे ? यह विषय की बात है। इस प्रकार हम पानी बरसने से दूसरा और पाठ तैयार कर सकते हैं। उससे भूगोल और भाषा आदि पाठ पढ़ाए जा सकते हैं।

'समवाय' में मशीनों या यंत्रों का प्रयोग किया जाए ? यह प्रश्न उठ जाता है। इसके उत्तर में यही है कि उद्योग हाथ की दस्तकारी का हो। आज बेसिक शिक्षा में कहीं-कहीं छोटे-छोटे यंत्रों का भी प्रयोग किया जा रहा है। आज देश उद्योगीकरण की ओर जा रहा है, इस बात का भी ध्यान रखना है। महात्मा गांधी ने उन्हीं उद्योगों को बुनियादी शिक्षा में दिया था, जो हाथ के हैं तथा जो उद्योग के अंतर्गत शामिल हैं।

'समवाय' करते समय दो या तीन विषयों को पढ़ाया जा सके, तो उत्तम है। समवाय के लिए विद्यार्थी कम-से-कम दो उद्योग अवश्य सीख जाएँ। ये उद्योग शिक्षा के माध्यम से सिखाए जा सकते हैं।

समवाय के लिए क्या पहले से 'लेसन प्लान' किया जावे या नहीं ? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। आजकल बेसिक शिक्षा का प्रशिक्षण देने वाले स्कूल एवं कॉलेज छात्राध्यापकों को पहले 'लेसन प्लान' तैयार करने को कहते हैं। अध्यापक उनको देखते हैं, तब छात्राध्यापक पढ़ाने जाते हैं। परंतु, कुछ विद्वानों की यह राय है कि इस प्रकार से पढ़ाने में कृत्रिमता आ जाती है। यह आमतौर से देखने में भी आया है। परंतु, इस बात को भी ध्यान में रखना है कि अगर छात्राध्यापक पूर्व प्लान न करें, तो वह ठीक प्रकार नहीं पढ़ा जा सकता है; क्योंकि उनको इस प्रकार से पढ़ने का अभ्यास तो है ही नहीं, इसलिए 'प्लान' करना जरूरी हो जाता है। परंतु, शीघ्र ही इस 'प्लान' को स्वभाव और अभ्यास में लाना है, ताकि परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल पढ़ाया जा सके। धीरेंद्र मजूमदार ने भी इसके बारे में लिखा है, "पहले तैयार करने में वास्तविकता नहीं आएगी, लेकिन अभ्यास के लिए उसको अभी करना होगा। जो कल करना होगा, उसमें से संभव प्रसंग अंदाज करके पाठ बनाना होगा। नए शिक्षकों को ऐसा करना चाहिए; क्योंकि पहले से तैयार रहने से

काम के साथ-साथ बहुत विषय बता सकेंगे।"[1] इसलिए प्लान कर लेना ठीक है, पर उसको अभ्यास लाने के समय तक।

नई तालीम में समवाय का लक्ष्य तभी पूरा होगा। विनोबाजी समवाय को नई तालीम की आत्मा मानते हैं। अतः, शिक्षकों को सचेष्टता से काम लेना होगा।

अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा

विनोबाजी का कहना है कि भारत में अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाए। जब तक भारतीय शिक्षित नहीं होंगे, उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं होगा और वांछित ज्ञान के अभाव में जनतंत्र की आधारशिला टिक नहीं सकेगी। अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा को केवल सिद्धांत रूप में ही नहीं, अपितु कार्य-रूप में हमें करना होगा। महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति का प्रमुख आधार 'अनिवार्य शिक्षा-योजना' माना है।

नई तालीम का पाठ्यक्रम

विनोबाजी नई तालीम के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं करना चाहते। उनका विचार है कि जहाँ ढाँचा बना कि तालीम का रूप विकृत हुआ। अतः, वे नियमबद्ध रूप में नई तालीम के विषयों को नहीं समेटने के पक्षपाती हैं। शिक्षा को समवाय का रूप देकर वे ज्ञानार्जन कराना चाहते हैं। समवाय की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है। समवाय में विषय स्वतः स्पष्ट होते जाते हैं, तथापि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस विषय पर वे पूर्णतः मौन हैं।

विनोबाजी का विचार है—'कला' मूलोद्योगी पाठ्यक्रम का एक विषय है। इसके दो पक्ष हैं—प्रथम सौंदर्य-पक्ष तथा दूसरा उद्योग-पक्ष। अध्ययन में इन दोनों का समावेश अपेक्षित है। संगीत और चित्रकला के उद्देश्य बतलाते हुए विनोबाजी ने कहा है—"इस दुनिया में भगवान के नाम और रूप, ये दो गुण प्रकट हुए हैं, बाकी ईश्वर तो अव्यक्त ही है। संगीत द्वारा उसका नाम गाया जाए और चित्रकला द्वारा इसका रूप चित्रित किया जाए। चित्र खींचने के संबंध में विनोबाजी लिखते हैं—'ऐसे चित्र खींचो कि एक मनुष्य भूख से व्याकुल है, दूसरा भूख से मरने की तैयारी में है और तीसरा भूख से मर चुका है।" स्पष्ट है कि विनोबाजी का हृदय भारतीयों की गरीबी एवं तबाही से भरा हुआ है। यहाँ के अभावग्रस्त किसान, जिनका जीवन अथाभाव में जर्जर हो चुका है–विनोबाजी के जीवन-लक्ष्य हैं। वे यहाँ की जनता को सुखी-संपन्न बनाना चाहते हैं। भूख एवं करुणा की मूर्ति, भारतीय मजदूर वर्ग के चित्रण की ही बात, विनोबाजी उपर्युक्त पंक्तियों में

१. बुनियादी शिक्षा-पद्धति, धीरेंद्र मजूमदार, पृष्ठ ६१।

करते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि पहले बालकों को जीवन सिखाओ तब इतिहास, व्याकरण और गणित। उनके पाठ्यक्रम में सर्वोदय की छाप पूर्णतः परिलक्षित है।

विनोबाजी द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम की एक संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

१. सर्वोदय की शिक्षा-व्यवस्था करना। इसमें निम्नांकित कार्यक्रम रखे गए हैं--

(क) नियमित रूप से सूत कातना।
(ख) ग्रामोद्योगी वस्तुओं का प्रसार करना।
(ग) गाय का दूध उपयोग में लाना।
(घ) महीने में एक बार भंगी का काम करना।
(ङ) बुनियादी तालीम के अन्य सिद्धांतों का अनुगमन।
(च) साक्षरता का प्रसार करना।
(छ) सामाजिक सुधार करना।

२. स्थानीय इतिहास एवं भूगोल का ज्ञान देना। नई तालीम में पढ़ायी जाने वाली पुस्तकों के संबंध में विनोबाजी का कहना है कि वे स्थानीय आधार पर लिखी जानी चाहिए। भारत के प्रत्येक देहात की स्थिति भिन्न-भिन्न है। भारत एक बड़ा विशाल देश है। इसमें विभिन्न प्रांत हैं। सबकी ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ भिन्न हैं। मारवाड़ और गुजरात में अंतर है। काशी और रामेश्वरम् की स्थिति भिन्न है। शिक्षा का क्रम इन परिस्थितियों पर विचार करते हुए बनाया जाए। किसी गाँव में नदी है तो कहीं पहाड़, कहीं जंगल है, तो कहीं मैदान। अतः, विषयों का निर्धारण इन वातावरणों के आधार पर हो। विनोबाजी का यह मनोवैज्ञानिक विचार पूर्णतः वंदनीय है।

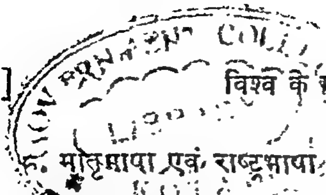
३. पाठ्यक्रम में प्रार्थना को स्थान दिया जाए। चिंतन की शिक्षा दी जाए। इनसे आध्यात्मिक विकास होगा।

४. कर्मयोग की शिक्षा दी जाए।

५. स्वास्थ्य-ज्ञान की समुचित व्यवस्था करना।

६. दैनिक जीवन, भोजन, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता आदि के संबंध में विज्ञान का उपयोग करना।

७. विद्यालयों में दीन एवं प्रौढ़ों को शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए। यह कार्यक्रम सामान्य शिक्षण के अतिरिक्त एक घंटे का होना चाहिए।



८. मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा की शिक्षा की समुचित व्यवस्था।

९. श्रमदान। विनोबाजी श्रमदान में विश्वास रखते हैं। उनका विचार है कि विद्यालय में भी उत्पादक श्रम होना चाहिए। विद्यालय के विद्यार्थी पढ़ने-लिखने के साथ-साथ श्रम करना भी सीखें। वे अपनी नई तालीम के आधार पर भारत की विषमता, शोषण एवं वर्गभेद का अंत करना चाहते हैं। आज भारतीय समाज में ऊँच-नीच, मालिक-मजदूर, अमीर-गरीब आदि की भिन्नता व्याप्त है। यह भिन्नता अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई है। शिक्षा वही है, जो समाज को उन्नत करे। विनोबाजी वर्गहीन समाज की स्थापना के पक्ष में हैं। वे पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं। वे नई तालीम के माध्यम से अपनी विचारधारा को पूर्णतः साकार करना चाहते हैं। वे नई तालीम और बुनियादी शिक्षा-पद्धति को ही सच्ची शिक्षा मानते हैं। भारतीय समाज का कल्याण इसी में निहित है।

परीक्षा

विनोबाजी परीक्षा-प्रणाली में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार परीक्षा बालकों के ज्ञान की सच्ची कसौटी नहीं कही जा सकती। परीक्षा के संबंध में एक बार उन्होंने कहा था—"चरखा टूटने पर सुधारना, बिच्छू काटने पर उपचार करना ही मेरी पाठशाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का परचा निकालने की झंझट में नहीं पड़ूँगा। विद्यार्थियों की बोलचाल से ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भाँप जाऊँगा।"

वस्तुतः होना भी यही चाहिए। मात्र लिखित परीक्षा में किसी प्रकार उत्तीर्ण हो जाने और डिग्री प्राप्त कर लेने से ही कोई शिक्षित कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आज हमें आवश्यकता है—व्यावहारिक ज्ञान की। जिस ज्ञान को हमने ग्रहण किया है, वह हमारे जीवन की किस सीमा तक अंग बना है। अगर वह जीवन में नहीं उतर सका है, तो वह निरर्थक है, उस प्राप्त ज्ञान से न हमारा हित होगा और न हमारे समाज एवं राष्ट्र का। भारतीय समाज के विद्यार्थियों को प्राप्त ज्ञान अगर उनके जीवन का अंग बना होता, तो आज न तो देश में यह भयंकर बेकारी की समस्या रहती और न अनुशासनहीनता के व्यापक कारणों पर हमें इतना सोचना पड़ता।

नई तालीम में मातृभाषा का स्थान

विनोबाजी शिक्षा का आधार मातृभाषा को स्वीकार करते हैं। वे अंगरेजी का बहिष्कार चाहते हैं। मातृभाषा द्वारा प्रदत्त ज्ञान स्थायी एवं ठोस होता है। इस स्थल पर मातृभाषा के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि बालकों के

विकास में किस सीमा तक इसकी महत्ता है, तभी इसके संरक्षण एवं प्रसार में हम कटिबद्ध होंगे। देश के अन्य भागों में भी अपनी मातृभाषा के लिए व्यक्ति सजग होंगे।

मातृभाषा की महत्ता

शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा से तात्पर्य किसी क्षेत्रविशेष की उस भाषा से होता है, जिसके माध्यम से उस क्षेत्रविशेष के शिक्षित व्यक्ति मौखिक एवं लिखित रूप में विचार-विनिमय करते हैं। मातृभाषा का शाब्दिक अर्थ—'माँ से ग्रहण की हुई भाषा' से ले सकते हैं। माँ के विशाल रूप में हमें जननी-जन्मभूमि का स्मरण हो आता है। इस दृष्टिकोण से जन्मभूमि में व्यवहृत होने वाली भाषा को 'मातृ-भाषा' के नाम से पुकारा जाता है। वस्तुतः जिस भाषा को बच्चा अपनी माता का अनुकरण करके सीखता है, वह भाषा उस बच्चे की मातृभाषा कहलाती है। इस परिभाषा के अनुसार भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय भाषाएँ या प्रादेशिक भाषाएँ उस क्षेत्र-विशेष के बच्चों की मातृभाषा हैं।

स्पष्ट है कि बच्चा जन्म ले कर अपनी माता से जो भाषा ग्रहण करता है, उसे मातृभाषा कहते हैं। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है, वैसे-वैसे वह अपने परिवार तथा निकटवर्त्ती समाज में इस भाषा का प्रयोग करता है। माता और मातृभूमि के समान मातृभाषा प्रत्येक व्यक्ति के लिए वंदनीय है। बालक इस भाषा के द्वारा अपने मनोभावों को दूसरों पर व्यक्त करने और समझने में जिस प्रकार समर्थ होता है, उस प्रकार किसी अन्य भाषा के द्वारा अपने भावों का आदान-प्रदान नहीं कर सकता। यही कारण है कि मातृभाषा के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का उचित विकास होता है। मातृभाषा के यथार्थ ज्ञान के बिना, मनुष्य अन्य को ठीक-ठीक नहीं समझ सकता। मातृभाषा की शिक्षा के अभाव में बच्चों का शब्दकोष एवं सूक्ति-भंडार सीमित रह जाता है, जिसके कारण वे दूसरों के विचारों को समझने में असमर्थ रहते हैं। मातृभाषा की बुनियाद पर ही अन्य भाषा की इमारत खड़ी होती है।

मातृभाषा का संबंध बालक के जीवन से अत्यंत गहरा होता है। उनके विचार करने एवं विचारों को अभिव्यक्त करने का आधार मातृभाषा ही होती है। मातृभाषा बालक को अपने परिवार, समाज और वातावरण से विरासत के रूप में मिलती है तथा प्राकृतिक ढंग और अनुकरण मात्र से वह उसे सीख जाता है। शनैः-शनैः उससे उसका संबंध इतना दृढ़ हो जाता है कि अनेक भाषाओं का पंडित होने पर भी वह अपनी मातृभाषा के संस्कार से मुक्त नहीं हो पाता। वह स्वयं इस

बात का अनुभव करता है कि मातृभाषा में ही विचाराभिव्यक्ति करने पर उसमें स्वाभाविकता रहती है। मानव-मनोविज्ञान के प्राथमिकता के सिद्धांत के अनुसार, बच्चों पर मातृभाषा का प्रभाव अमिट होता है। यह संबंध छूटे भी कैसे ? मातृ-भाषा तो बिना सिखाए ही आ जाती है और बालक को सभ्य बनाने में अपना कार्य करने लगती है। "विचार और भाषा एक दूसरे से इतने संबद्ध हैं कि दोनों का विकास और ह्रास एक साथ होता है। हम एक के बिना दूसरे का विकास नहीं कर सकते और मातृभाषा, जिसमें बालक देखता है, सोचता है, अपने-आप सर्वोपरि हो जाती है।"[1]

अपने दैनिक जीवन में छात्रों को व्यावहारिक रूप से मातृभाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है। अपने घर और समाज में मातृभाषा का ज्ञान उनके लिए अपरिहार्य है। विद्यालय तो समाज का प्रतिबिंब है और उसका प्रतिष्ठापन समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है, फिर क्यों नहीं विद्यालयों में मातृभाषा का शिक्षण हो।

छात्रों का स्वाभाविक विकास तभी संभव है, जब कि उन्हें मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए। "बालकों को उन्हीं बातों में रुचि होती है, जो उनके पूर्व अनुभवों से संबंधित हों"—ऐसा आज का मनोविज्ञान स्वीकार करता है। अगर मातृभाषा के माध्यम से ज्ञान दिया गया, तो बालक सुगमतापूर्वक उसे ग्रहण कर लेंगे। किंतु किसी अन्य भाषा के द्वारा दिए गए ज्ञान में उन्हें कठिनाई होगी; क्योंकि पहले वे भाषा समझेंगे और बाद में ज्ञान। इस दृष्टिकोण से भी बालकों के लिए मातृभाषा का शिक्षण आवश्यक है।

भारत के प्रत्येक प्रदेश में कोई-न-कोई 'भाषा और बोली' बोली जाती है, जो उस प्रदेश के निवासियों की मातृभाषा है। मातृभाषा ज्ञानोपार्जन तथा भावाभिव्यक्तिकरण का सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट साधन है। 'बोलना, समझना, लिखना और पढ़ना'—भाषा-शिक्षण के इन चार अंगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए मातृभाषा का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। बच्चे अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था में अनुसरण के आधार पर मातृभाषा की शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे विचारों को ग्रहण कर सुरक्षित रखते हैं। उनके मन:पटल पर मातृभाषा का प्रभाव अमिट होता है।

विचार और भाषा अन्योन्याश्रित हैं, अतः, भावाभिव्यंजना तथा विचार-विनिमय के लिए मातृभाषा सरलतम, सुगमतर एवं स्पष्ट माध्यम है। मातृभाषा

1. Thought and Language, Ballard, Page, 11.

द्वारा मानव-मस्तिष्क का उचित विकास होता है। मानसिक शक्तियाँ जैसे स्मृति, तर्क; विवेक, अनुशीलन, तुलना, संबंध जोड़ना, वृद्धि और विवरण शक्ति का विकास मातृभाषा के ज्ञान के बिना असंभव है। मातृभाषा के संबंध में गांधीजी ने लिखा है—'व्यक्ति के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा उतनी ही आवश्यक है, जितना शिशु के शरीर के विकास के लिए माता का दूध। महात्मा गांधी ने मातृभाषा को माता के स्तन समतुल्य माना है तथा इसको प्राणदायिनी अजस्र अमृतधारा के समान बतलाया है। इस संबंध में महात्मा गांधी ने पुनः लिखा है—"बालक पहला पाठ अपनी माता से ही पढ़ता है, इसलिए उसके मानसिक विकास के लिए, उसके ऊपर मातृभाषा के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा लादना मैं भूमि के लिए पाप समझता हूँ।" अपनी बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए ७-१४ वर्ष के बालकों के लिए, 'अनिवार्य शिक्षा का आधार'—उनकी मातृभपा को ही उन्होंने स्वीकार किया है। इंगलैंड *का प्रसिद्ध लेखक और विचारक वेल्सफोर्ड ने मातृभपा के संबंध में जो लिखा है;* उसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है—"केवल एक ही भाषा में हमारे भावों की स्पष्ट व्यंजना हो सकती है, केवल एक हीभाषा के शब्दों के सूक्ष्म संकेतों को हम सहज और निश्चित रूप में ग्रहण कर सकते हैं। यह भाषा वह होती है, जिसे हम अपनी माता के दूध के साथ सीखते हैं, जिसमें हम अपनी प्रारंभिक प्रार्थनाओं, हर्ष तथा शोक के उद्‌गारों को व्यक्त करते हैं। किसी दूसरी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना विद्यार्थी के श्रम को अनावश्यक रूप से बढ़ाना ही नहीं, अपितु उसके मस्तिष्क की स्वतंत्र गति को पंगु बना देना है।" मार्टिन लूथर, रॉबेल, मुलकास्टर, मांटेन, बेकन और लॉक-जैसे पश्चिमी जगत् के यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों ने मातृभाषा (प्रादेशिक भाषा) द्वारा शिक्षण को प्रश्रय दिया है। कॉमेनियस, लॉक, पेस्तालात्सी और हरबार्ट-जैसे शिक्षामनीषियों ने भी मातृभपा को बालक की शिक्षा का आधार बतलाया है।

मातृभाषा बालक और किशोर विद्यार्थियों के दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा है। वह अन्य सभी विषयों के ज्ञान का आधार होती है। मातृभाषा सरलतम भाषा होती है। अतः, इसके द्वारा पढ़ने में उनकी अभिरुचि स्वभावतः जाग्रत होती है। मातृभाषा में सृजित साहित्य की ओर बालक और किशोर विशेष अभिमुख होते हैं; क्योंकि इसमें उन्हें एक नैसर्गिक आनंदोपलब्धि होती है। विषय की ओर स्वाभाविक अभिमुखीकरण ज्ञान के स्रोत के प्रस्फुटिकरण का प्रमुख आधार है। इस संबंध में भाषाशास्त्री राइवर्न ने भी अपना विचार प्रकट करते हुए बतलाया है कि "मातृभाषा एक उपकरण, आनंद, प्रसन्नता और ज्ञान का स्रोत है। रुचियों एवं अनुभूतियों के निर्देशक और विधाता द्वारा मनुष्य को दी हुई उस सर्वोत्तम शक्ति के

प्रयोग का साधन है, जिसके द्वारा हम उसके सन्निकट होते हैं

नई तालीम में हिंदी का स्थान

हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है और बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राज-स्थान तथा हरियाणा आदि प्रांतों की मातृभाषा है। राष्ट्रभाषा और मातृभाषा दोनों दृष्टियों से हिंदी की व्यापक महत्ता है। हिंदी को ही हमें शिक्षा का माध्यम बनाना है; क्योंकि यह हमारी मातृभाषा तो है ही, राष्ट्रभाषा भी है। नई तालीम में हिंदी की व्यापक महत्ता को स्वीकार करते हुए विनोबाजी लिखते हैं – "मैं चाहता हूँ कि हमारा कारोबार हिंदी में चले। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि मैं हमेशा हिंदी में ही बोलूँ। मैं दुनिया की सब भाषाओं की इज्जत करता हूँ। परंतु, मेरे देश में हिंदी की इज्जत नहीं हो, यह मैं नहीं सह सकता।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनके हृदय में हिंदी के लिए अपार श्रद्धा है और वे इसका व्यापक प्रचार एवं प्रचार चाहते हैं। मातृभाषा के रूप में देश की अन्य भाषाओं के अध्यापन को वे बढ़ावा देते हैं, परंतु हिंदी की महत्ता को भी पूर्णतः स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में हिंदी की व्यापक महत्ता के संबंध में अन्य महापुरुषों के भी विचार से हम अवगत हो जाएँ, तो उत्तम होगा; क्योंकि हमारे लिए यह मातृभाषा तो है ही, राष्ट्रभाषा भी है।

हिंदी भारतीय संविधान अधिनियम ३४३-३४० के अनुसार भारत की राष्ट्र-भाषा घोषित की गई। तिथि १४ सितंबर, १९४९ ई० का दिन हिंदी भाषा के इति-हास में विशेष गौरव और अभिनंदन का दिन है; क्योंकि आज के ही दिन हिंदी को भारत के संविधान में भारतीय संघ की राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दी गई थी। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी एकमात्र यही भाषा राष्ट्रभाषा के गौरवांवित पद पर आरूढ़ होने की अधिकारिणी थी। भारत के सबसे अधिक भूभाग में बोली जाने वाली भाषा हिंदी ही है। सन् १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत में ४७ प्रतिशत व्यक्ति हिंदीभाषी थे। सन् १९६३ ई० में यह संख्या ५१ प्रतिशत हो गई। भारत की प्रधान प्रादेशिक भाषाओं की संख्या चौदह है। इनमें सर्वसाधारण के व्यवहार और साहित्य-सर्जना दोनों दृष्टि से हिंदी प्रधान है। हिंदी की व्यापकता के संबंध में श्री सुभाषचंद्र बोस के ये शब्द सर्वथा उल्लेखनीय हैं—"देश के सबसे बड़े भूभाग में बोली जाने वाली हिंदी ही राष्ट्रभाषा-पद की अधिकारिणी है।" इस प्रसंग में महात्मा गांधी के विचार

1. "It is atonce a tool, a source of joy and happiness and knowledge, a director of taste and feeling and means of using the highest power that God has givene to us where we come close of him." W. M. Ryburn, The Teaching of the Mother Tongue; Page. 27.

इन शब्दों में द्रष्टव्य हैं—"प्रांतीय भाषाओं के स्थान पर नहीं, अपितु उनके सिवा अंतर्प्रांतीय विनिमय के लिए राष्ट्रभाषा समस्त भारत के लिए आवश्यक है। वह भाषा हिंदी ही होनी चाहिए।"[1] पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रभाषा हिंदी के संबंध में तिथि १६-१२-५७ ई० को गोहाटी में अपना विचार देते हुए कहा था—"हिंदी का ज्ञान राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन देता है और हिंदी अन्य भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता रखती है।" राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रसंग में लिखा है—"हिंदी उन सभी गुणों से अलंकृत है, जिसके बल पर वह विश्व की साहित्यिक भाषाओं की अगली श्रेणी में समासीन हो सकती है।" कविवर दिनकर ने राष्ट्रभाषा के भावात्मक रहस्य को इन शब्दों में समझाया है—"हिंदी भारतवर्ष के हृदय की वाणी है। भौगोलिक सत्य भी यही है कि हिंदी-भाषियों का क्षेत्र देश के हृदय का स्थान है। यह स्वाभाविक ही है कि हिंदी में आज उस साहित्य की रचना हो रही है, जिसमें देश के कलेजे की धड़कन स्पष्ट गिनी जा सकती है।"

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की उपयोगिता बहुत पहले से समझी जाने लगी थी। सन् १८७५ ई० में बंगाल के श्री केशवचंद्र सेन ने बंगला पत्र में एक लेख लिखते हुए हिंदी के संबंध में बतलाया था कि हिंदी अखिल भारत की जातीय और राष्ट्रीय भाषा बनने योग्य है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय संस्कृति की रक्षा और राष्ट्रीय एकता के पुर्नानिर्माण के लिए राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की महत्ता स्वीकार की। उन्होंने हिंदी की उन्नति में अपना सक्रिय सहयोग दिया और आर्य समाज के समस्त कार्यों के संपादन के लिए इस भाषा को माध्यम बनाया। उन्होंने कहा था—"हिंदी अपने शुद्ध रूप में हो अथवा टूटे-फूटे रूप में, भारत के सबसे अधिक लोगों की समझ में आती है, इसलिए आधुनिक भारत की सबसे श्रेष्ठ भाषाओं में उसका प्रथम स्थान है।" श्री के० जी० सैयदेन ने हिंदी की व्यापकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए अपने सारगर्भित निबंध "भारत में शिक्षा की समस्या' में बतलाया है कि हिंदी को राजभाषा स्वीकार करने का कारण यह नहीं है कि वह अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक प्राचीन और समृद्ध है, बल्कि इसलिए कि अधिकांश भारतवासी इसे बोलते और समझते हैं।"[2]

१. महात्मा गांधी, हिंदुस्तान, १८-८-४५।

2 Hindi has been accepted as the official language of India not because it is older or richer than other Indian languages but because it is spoken and understood by a majority of Indian people.
K. G. Saidyain, Problems of Education in India, Page 71.

हिंदी की भारतीय भाषाओं में ही नहीं, वरन् विश्व की भाषाओं में भी प्रधानता है और इसे एक ऊँचा पद प्राप्त है। जनसंख्या की दृष्टि से सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में हिंदी का स्थान तृतीय है। सर्वप्रथम चीनी भाषा का नाम आता है, जिसके बोलने वाले पैंतालीस करोड़ से भी अधिक हैं। द्वितीय स्थान अंग्रेजी भाषा का है, जिसका प्रयोग प्रायः पचीस करोड़ व्यक्ति करते हैं। हिंदी का स्थान तृतीय है, जिसे प्रायः पंद्रह करोड़ से भी अधिक व्यक्ति मातृ-भाषा के रूप में व्यवहार करते हैं तथा जिससे अन्य दस करोड़ भारतवासी परिचित हैं। स्वाधीनता के उपरांत भारत संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों तथा विश्व-राजनीति के क्षेत्र में पर्याप्त गौरवमय प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। अतः, भारत की राष्ट्रभाषा हमारी हिंदी का प्रयोग अब अमेरिका, यूरोप के राज्यों, रूस, चीन आदि देशों में भी बढ़ रहा है। हिंदी के ग्रंथों का विदेशी राज्य अपनी भाषा में अनुवाद करा रहे हैं। उपन्याससम्राट् स्वर्गीय प्रेमचंदजी के उपन्यास 'गोदान' और 'सेवासदन' का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है। कविवर प्रसादजी के अमर काव्य 'कामायनी' का अनुवाद फ्रेंच भाषा में हुआ है। विदेशी विद्वान अब भारत में आकर राष्ट्रभाषा हिंदी सीखने और समझने का सफल प्रयास करते हैं। हिंदी में शोधपूर्ण एवं गवेषणापूर्ण मौलिक ग्रंथों का निर्माण हो रहा है। भारतीय विद्वानों ने भी अपनी संलग्नता के कारण इस ओर आशातीत सफलता प्राप्त की है। हिंदी में महान् विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना हुई है, जिन्हें हमलोग प्रसिद्ध विदेशी मौलिक ग्रंथों के समतुल्य उपस्थित करते हैं। हिंदी के क्षेत्र में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का प्रारंभ हुआ है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना ने साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीतिशास्त्र, धर्म और विज्ञान के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन किए हैं। उत्तर प्रदेश में हिंदुस्तानी अकादमी और हिंदी समिति ने साहित्य को नाना विषयों के ग्रंथों से समृद्ध बनाने का यत्न किया है। मध्य प्रदेश की शासन-साहित्य-परिषद् ने भी उल्लेख योग्य कार्य शुरू किया है तथा राजस्थान में भी इस प्रकार की एक परिषद् की स्थापना का उद्योग हुआ है। केंद्र में साहित्य अकादमी ने विभिन्न देशी भाषाओं के साहित्य के आदान-प्रदान का महत्त्वपूर्ण कार्य आरंभ किया है। केंद्रीय सरकार ने नेशनल बुक ट्रस्ट की भी स्थापना की है, जिससे उत्तम ग्रंथों के प्रसार और प्रचार का एक संघटित प्रयास करने का प्रयत्न किया गया है। शिक्षा मंत्रालय के उद्योग और सहायता से कई संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारंभ किया है।

इसके अंतर्गत ग्रंथ अकादमी के नाम से हिंदीभाषी राज्यों में मौलिक ग्रंथ-प्रकाशन एवं शास्त्रीय ग्रंथों के प्रकाशन की योजना बनी है और यहाँ से श्रेष्ठ

मौखिक एवं अनूदित ग्रंथों का प्रकाशन किया जा रहा है, इनके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा आयोजित "हिंदी शब्दसागर' का नया संशोधित संस्करण तथा विश्वकोप का निर्माण और जामिया मिलिया द्वारा आयोजित प्रौढ़ शिक्षार्थियों के लिए प्रकाशित होने वाला—ज्ञानसरोवर। केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने सारे देश में प्रचलित होने योग्य शास्त्रीय शब्दावली के निर्माण में भी उल्लेख योग्य कार्य कराया है। यदि समस्त देशी भाषाएँ शास्त्रीय और वैज्ञानिक ग्रंथों के लिए इन शब्दों का प्रयोग करने लगें, तो भाषागत व्यवधान बहुत कम हो जाएगा। कई हिंदी-प्रदेशीय सरकारों और केंद्रीय सरकार के सहयोग से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने सत्रह जिल्दों में एक बृहत् कोप की योजना प्रस्तुत की है, जिसका पहला भाग प्रकाशित हो चुका है। संपूर्ण के प्रकाशित होने पर यह इतिहास साहित्यिक विश्वकोष का कार्य करेगा। दो साहित्य-कोपों के निर्माण का भी प्रयत्न हो रहा है। एक तो उत्तर प्रदेश सरकार करा रही है और दूसरा काशी का ज्ञानमंडल। ये दोनों ही कोष अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी आशा है। यही नहीं, हिंदी की समृद्धि के सत्प्रयत्न में अभी हमलोग हिंदी के प्राचीन ग्रंथों के अन्वेषण, संकलन और संपादन का कार्य भी कुछ प्रगति की ओर बढ़ा रहे हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का खोज-विभाग राज्य तथा केंद्रीय सरकारों की सहायता से प्राचीन ग्रंथों के अन्वेपण-कार्य निष्ठापूर्वक करता जा रहा है। पिछले दस वर्षों में खोज-विवरणों के कई खंड प्रकाशित हुए हैं और आशा की जा रही है कि अन्य खंड भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश में भी इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण कार्य आरंभ हो गया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, जयपुर का पुरातत्व-मंदिर और प्रयाग की हिंदुस्तानी अकादमी ने प्राचीन ग्रंथों के संपादन एवं प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है तथा अन्य संस्थाएँ भी इस ओर दत्तचित्त हैं। संस्कृत-ग्रंथों के—विशेपकर साहित्यिक ग्रंथों के—अनुवाद का कार्य भी संतोषजनक रूप में प्रगति कर रहा है। भारत के विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का अनुवाद-कार्य भी रूचि के साथ किया जा रहा है। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली के प्रयत्नों के अतिरिक्त हिंदी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस दिशा में उल्लेख योग्य कार्य किया है। इससे हिंदी साहित्य का भंडार तो विस्तृत होगा ही, साथ-साथ देश की एकता की भावना के विकास में भी बड़ी मदद मिलेगी। साहित्य अकादमी ने प्रति वर्ष देवनागरी में सभी भाषाओं की चुनी कविताओं का अनुआलेखन हिंदी-भाषांतर के साथ प्रकाशित करना आरंभ किया है। इस प्रकार गणतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी की महत्ता दिनोंदिन देश और विदेश में अत्यधिक बढ़ रही है। जर्मनी, अमेरिका और रूस-जैसे प्रमुख देशों के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसके सीखने,

समझने और जानने वालों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। धार्मिक, साहित्यिक, व्यापारिक, राजनीतिक सभी दृष्टियों से विचार करने पर हिंदी अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी है।

समस्त भारत के हिंदीभाषियों, हिंदी-लेखकों, हिंदीप्रेमियों के साथ विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के हिंदी-अध्यापकों का आज प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे अपनी राष्ट्र-भाषा को व्यापक और पूर्ण समर्थवान बनाने में तन, मन और धन से योगदान करें; क्योंकि तभी हमलोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

नई तालीम में अनुशासन

विनोबाजी का विचार है--"स्नेह एवं श्रद्धा पर आधारित अनुशासन स्थायी होता है। वर्त्तमान में इसके महत्त्व का अनुभव किया जा रहा है।" उनका विचार है---"उद्योगप्रधान अर्थात् कर्मप्रधान शिक्षा में अनुशासन स्वतः प्रादुर्भूत होता है। यह कृत्रिम अनुशासन नहीं होता।" नई तालीम में विद्यार्थी, प्रतिकार करेगा, अवश्य सत्य के लिए प्रतिकार करना दृढ़ चरित्र का परिचायक है; विकसित व्यक्तित्व का लक्षण है। असत्य हमें कदापि स्वीकार नहीं होना चाहिए। परंतु, नई तालीम प्राप्त एक किशोर विद्यार्थी के प्रतिकार का रूप विद्रोहात्मक नहीं, अपितु विनययुक्त ही होगा। आदर्श शिक्षण का परिणाम विनय में होता है। परंपरागत शिक्षा-प्रणाली में प्रशिक्षित विद्यार्थी किशोरों की मनोवृत्ति भिन्न होती है। उस शिक्षा में पले हुए प्रौढ़ों का भी दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही रहेगा। उनके प्रतिकार का रूप विध्वंसात्मक बन जाता है।

आर्षग्रंथ मनुस्मृति में श्रेष्ठ समाज के निम्नलिखित लक्ष्य बतलाए गए हैं--

१ ईश्वर में विश्वास हो।

२. अच्छी शिक्षा की व्यवस्था हो।

३. अपराध करना आवश्यक न हो।

४. अपराधी के लिए सुधार की व्यवस्था हो।

५. अपराधी के लिए कठोर, आतंक उत्पन्न करने वाला दंड दिया जाता हो।

आज हमारा समाज इस प्रकार का नहीं हैं। हमें नए समाज की स्थापना करनी है और उसके लिए आगे आने वाली पीढ़ी का सहयोग वांछनीय है। शाला द्वारा ऐसा समाज तैयार हो सकता है; क्योंकि नई पीढ़ी शाला द्वारा ही इस योग्य की जा सकती है। आज के समाज का चित्रण पहले किया जा चुका है। इन सबने शाला में अनुशासनहीनता लाने में सहयोग प्रदान किया है। शाला में अगर अनु-

शासनहीनता का दूषित वातावरण समाप्त कर दिया गया, तो उपरोक्त स्थिति में हमारे सामने नया समाज होगा।

बेसिक शिक्षा में 'अनुशासन' का नाम 'विनय' है। विनय नम्रता का द्योतक है, कठोरता का नहीं। अनुशासन भय या आतंक द्वारा स्थापित नहीं हो सकता है। अनुशासन में रहना आत्मा का गुण है, शरीर का नहीं। विनोबाजी ने 'छात्र और अनुशासनहीनता' के संबंध में नई तालीम-संमेलन, सर्वोदयपुरम् (कांचीपुरम्, १९५६) में अपने उद्‌घाटन-भाषण में कहा था ....'ज्ञान के विषय में आज्ञा और हुक्म नहीं चल सकता और किसी काम के लिए हुक्म हो सकता है और हुक्म का पालन भी हो सकता है। लेकिन कोई एक गोल वस्तु है, तो हम आपको वह आज्ञा नहीं कर सकते कि आप उसको त्रिकोणात्मक समझें।........ज्ञान के विषय में आज्ञा कुंठित होती है, यह समझना चाहिए। नई तालीम अनुशासन नहीं चलाती। वह विद्यार्थी को परिपूर्ण मुक्तता देती है........वे [1] उपदेश देते थे---

"यानी अस्माकं सुचरितानि तानि त्व यो पास्यानि, न इतराही ।"

—जो हमारे अच्छे काम हों, उन पर आप पूरा अमल करो, जो हमारे अच्छे काम नहीं होंगे, उनका अनुकरण मत करिएगा। ऐसी हालत में विद्यार्थी में एक स्वयं अनुशासन की भावना आएगी। ऐसी अपेक्षा हम जरूर कर सकते हैं। परंतु किसी कृत्रिम अनुशासन में नई तालीम के विद्यार्थी रहेंगे, यह हम नहीं मानेंगे।

हमको विद्यार्थियों को सद्‌गुणसंपन्न बनाना है। शिक्षा और अनुशासन द्वारा हम उनको वैसा नहीं बना सकते हैं, जैसा चाहते हैं। 'विनय' शिक्षा का गुण है। विनय को विद्या नाम से भी पुकारा जाता है। संस्कृत में 'विनय' का अभिप्राय शिक्षण से लिया जाता है। ज्ञान को ग्रहण करना विनय का प्रमुख गुण है।

अनुशासनहीनता विद्यार्थियों में तब आती है, जब विषय में उनकी रुचि न हो और वह रुग्ण हो, अन्यथा नई तालीम की पद्धति इस प्रकार की है कि उसमें अनुशासन स्वतः आ जाएगा। विनय वह गुण है, जो विद्यार्थी के चरित्र में आने पर अनुशासनहीनता की बात ही नहीं उठने देती।

विनय विद्यार्थी को उन सब गुणों से संपन्न करती है, जो कि उसको जीवन में सफल एवं उन्नत बनाते हैं। शिक्षा में अनुशासन कोई अलग वस्तु या विषय नहीं है। संपूर्ण शिक्षा ही तब होती है, जब कि विद्यार्थी मानवता के गुणों से भरपूर हो जाता है। नई तालीम में बालकों का सर्वांगीण विकास होना है। उसका कार्यक्रम अनुशासनहीनता से कदापि नहीं चल सकता।

---

१. उत्तम गुरु।

नई तालीम में अध्यापक निर्देशक की भाँति कार्य करता है। इस शिक्षा में विद्यार्थी पर उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। वह उत्तरदायित्व को तभी सँभाल सकता है, जब कि उसमें उत्तरदायित्व संभालने की शक्ति हो और वह शक्ति है—विद्यार्थी का कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वावलंबी और अध्ययनशील होना।

शिक्षक का भी यह कर्त्तव्य है कि वह भी उनके लिए आदर्श हो। उनमें उन गुणों का विकास हो, जिनका विद्यार्थियों को अनुकरण करना है। इस्लाम धर्म के एक प्रवर्त्तक के पास एक औरत अपने लड़के की शिकायत लेकर आई कि "मेरा लड़का मिठाइयाँ बहुत खाता है। आप इसे मना करें कि यह अपनी इस बुरी आदत को छोड़ दें।" पैगंबर ने कहा, "इसे मेरे पास पंद्रह रोज बाद लाना।" ठीक पंद्रह रोज बाद जब खातून अपने बच्चे को लेकर पैगंबर के पास आई, तो पैगंबर ने उस लड़के को प्यार करते हुए कहा, "बेटे, ज्यादा मिठाइयाँ नहीं खाते। इससे सेहत को नुकसान पहुँचता है।" बस, इतनी सी बात सुन कर बच्चे की माँ अचंभे में पड़ी। वह बोली, "हजरत, बस इतनी सी बात तो आप पंद्रह रोज पहले भी कह सकते थे। पंद्रह रोज का वक्त क्यों लिया था?" सुनकर पैगंबर बोले, "बात तो तुम ठीक कहती हो। मगर, पंद्रह रोज पहले मैं इसे ऐसा नहीं कह सकता था; क्योंकि उन दिनों मैं भी बहुत मिठाइयाँ खाया करता था। जब मैं खुद उसी बुरी आदत में मुब्तिला था, तो भला इसे कैसे नसीहत दे सकता था?"

इससे अध्यापक वर्ग को यह शिक्षा मिलती है कि वह वही कहें जो करते हैं, तभी विद्यार्थियों पर उनका प्रभाव पड़ सकता है और विद्यार्थी अनुशासन में रह सकते हैं। इसलिए अध्यापक को पहले स्वयं आदर्श प्रस्तुत करना होगा, तब बेसिक शिक्षा में अनुशासन स्थापित हो सकता है और विद्यार्थी एवं अध्यापक का पारस्परिक सहयोग, प्रेम, दया त्याग आदि अनुशासन की दृढ़ भित्ति बन सकता है।

नई तालीम में शिक्षक एवं विद्यार्थी

शिक्षक

शिक्षक का अभिप्राय है–शिक्षा देने वाला। शिक्षकों को पहले 'आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। आचार्य स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र के लोगों से वैसा आचरण कराने वाला है। आचार्य एवं शिक्षक के अतिरिक्त इसके लिए वैदिक युग से 'गुरु' शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। वेदों के अनुसार 'गुर' का अर्थ है अंधकार या तम (Darkness) और 'रु' (Ru) का अभिप्राय है उसे हटाने वाला (Destroyer)। डॉ० आर० के० मुकर्जी ने गुरु के

संमान के वारे में लिखा है "If the preceptor sits, let the disciple speak standing, if he walks adcanceing him, if he is coming towards him, meeling him, if he runs, runing after him."

—Vishnusmriti

उन्होंने यह अनुवाद विष्णुस्मृति से किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है 'Guru is not a school master, but the friend and the guide of mankind."

भारतीय समाज में गुरु या शिक्षक का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। गुरु के आगमन पर राजा अपनी गद्दी से उठ कर उनको उस पर बैठाते थे। समाज उसको अपनी आँखों पर लेता था। आज वही शिक्षक 'माट साहब' या 'माट साव' के रूप मे समाज में दिखलायी पड़ता है। छोटे मास्टर साहब की तो समाज में कोई गिनती ही नहीं है। छात्र और उनके अभिभावक न तो उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हैं और न उनका आदर ही करते हैं; क्योंकि फीस देते हैं और पढ़ते हैं या सरकारी स्कूल हैं जहाँ फीस नहीं देनी पड़ती, वहाँ उनको सरकार से प्रति माह वेतन मिलता ही है, इसलिए मास्टर साहब की कोई धौंस थोड़ी ही है। सरकार पैसे देती है और वे पढ़ाते हैं। मास्टर साहब को न पेट भरने को खाना है, न पहनने को ठीक प्रकार के कपड़े हैं। समाज के दीन-हीन मास्टर का आज कोई संमान नहीं रह गया। उससे तो 'कान्सटेविल्स' या सिपाही की अधिक शान है, वह रहता भी बड़े रोव-दाव से है। समाज के लोग उससे डरते हैं।

आज वह युग याद आता है जब अरस्तू और द्रोणाचार्य आदि जैसे गुरुओं का समाज में प्रथम स्थान था। संसार के महान् व्यक्ति गुरुओं की अमूल्य देन हैं। विनोवाजी ने आज के शिक्षक का चित्र कुछ इस प्रकार खींचा है—

आज के शिक्षक का अर्थ है—

१. किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य,

२. कोई काम की नई चीज सीखने में स्वभावतः असमर्थ और क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ,

३. केवल शिक्षण का घमंड रखने वाला,

४. पुस्तकों में गड़ा हुआ और

५. आलसी जीव।

केवल शिक्षण का मतलब है, जीवन से तोड़ कर विलग या मुर्दा शिक्षण और शिक्षक का अर्थ है—'मृतजीवी।'

मृतजीवी को ही 'बुद्धिजीवी' की चर्चा करते लिखा है कि यह है वाणी का व्यभिचार। बुद्धिजीवी कौन है?...जो इंद्रियों का गुलाम है, जो देहासक्ति से बोझिल

है, वह बुद्धिजीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़ कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गई है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है और उसे जीने वाला है—'मृतजीवी'। केवल शिक्षण पर जीने का अर्थ है-मृतजीव। विशेष अर्थ में मृतजीवी है "इन केवल शिक्षण पर जीने वालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' या 'वेतनभोगी' शिक्षक का नाम देकर, श्राद्ध के काम में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत-पूर्वजों की स्मृति को जिंदा करना रहता है। जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, इनका इस काम में क्या उपयोग"[1] अध्यापक जिसे ताराचंद ने "The teacher is the key stone of the educational arch." माना है, यह अगर भावेजी की उपरोक्त स्थिति में हैं, तो कोई क्या कर सकता है और देश का कैसे निर्माण हो सकता है ? पाठशाला के लिए अध्यापक इस प्रकार के चाहिए, जो देश का निर्माण कर सकें।

विनोबाजी नई तालीम की सफलता का उत्तरदायित्व शिक्षकों के हाथ ही सौंपते हैं। वस्तु अपने-आप में कितनी ही अच्छी क्यों नहीं हो, संचालनकर्ता ही उसे उचित लक्ष्य पर पहुँचाता है। विनोबाजी शिक्षकों की महत्ता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं और उनकी शोचनीय अवस्था में सुधार लाने हेतु शिक्षक की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की व्यवस्था करते हैं। उन्होंने एक आदर्श शिक्षक की कल्पना योगीराज श्रीकृष्ण से की है, जिसकी तत्वज्ञान, सामाजिक कुशलता एवं कर्मयोग में निष्ठा हो। शिक्षकों के लिए वे निम्नांकित गुणों को आवश्यक मानते हैं—

१. ईश्वरभक्त।
२. चरित्रवान, सत्यनिष्ठ एवं अहिंसावादी।
३. श्रम में निष्ठावान।
४. व्यावहारिकरूपेण कुशल।
५. सौंदर्यानुभूतिप्रधान।
६. स्वावलंबी।
७. उद्योग में प्रवीण।
८. कृषक।
९. कुशल कलाकार।
१०. संगीतज्ञ।
११. देशभक्त।

---

१. शिक्षण-विचार, आचार्य विनोबा भावे, पृष्ठ २३-२४।

१२. मृदुभाषी एवं विनोदी।
१३. खादी में विश्वास रखने वाला।
१४. सहिष्णु, सहयोगी एवं तत्पर।
१५. दृढ़प्रतिज्ञ, संदेहरहित दूरदर्शी और
१६. मितव्ययी।

विद्यार्थी

विनोवाजी को वैदिक प्रणाली पर आधारित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की मान्यताएँ स्वीकार हैं। प्राचीन भारतीय गुरुकुल के आदर्श को वे आज विद्यार्थी-वर्ग के जीवन में चरितार्थ देखना चाहते हैं। वे विद्यालयों का रूप भी गुरुकुलों-जैसा देना ही श्रेयस्कर मानते हैं, जहाँ विद्यार्थी एवं शिक्षक एक साथ रह कर जीवन-यापन करते थे और सुमधुर वातावरण में निःछल भाव से विद्योपार्जन कर समाज के आदर्श नागरिक बनते थे। वैदिककालीन गुरुकुल जीवन की एक संक्षिप्त रूपरेखा मैं यहाँ लिख देना चाहता हूँ, जिससे विषय अधिक स्पष्ट हो जाए।

गुरुकुल-जीवन

गुरुकुल नदियों, जंगलों एवं पहाड़ों के समीप शांत तथा एकांत और प्राकृतिक वातावरण में स्थित होते थे। यहाँ का जीवन अत्यंत सरल था। यहाँ के समस्त कार्य-कलापों में सहयोग और अनुशासन की प्रबल धारा प्रवाहित होती रहती थी।

आचार्य अपने शिष्यों को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होने देने के लिए सदैव उद्यत बने रहते थे। गुरुकुल आश्रमों में गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र का संबंध होने के कारण शिष्यों की आपत्ति या सुख के समय गुरु, पिता-माता के समान ही दुःखी या सुखी हुआ करते थे। शिष्यों के संपूर्ण कार्यों दा उत्तरदायित्व गुरुओं पर था। वे अपने शिष्यों के आध्यात्मिक, चारित्रिक, नैतिक, मानसिक, शारीरिक और व्यावसायिक आदि सभी प्रकार की उन्नति की चेष्टा में लगे रहते थे।

शिष्य भी सदैव अपने आचार्यों को प्रसन्न रखने की चेष्टा में प्रयत्नशील रहते थे। वे पिता से अधिक अपने गुरु की आज्ञा मानते थे। गुरु उनके लिए देव-तुल्य थे। तैत्तिरीयोपनिषद् (१-११) में शिक्षकों को देव-तुल्य बतलाया गया है—

"आचार्यो देवो भव।"

गुरु की अवधानता में जीवन व्यतीत करना तथा उनकी आज्ञाओं को सहर्ष स्वीकार करना ही विद्यार्थियों का आदर्श था।

अपने गुरुकुल-जीवन में विद्यार्थी जमीन पर या काठ के तख्ते पर सोते थे। साधारण भोजन करते थे और अपने गुरु की अवधानता में रह कर विद्योपार्जन करते

थे। विद्याध्ययन ही ब्रह्मचारी बालक का प्रमुख कर्त्तव्य था। मिथ्याभिमान एवं सांसारिक सुखों से दूर आचार्य के समीप बैठ कर वह जिज्ञासु भाव से विद्योपार्जन में संलग्नशील बना रहता था। वैदिक काल में सामूहिक शिक्षा का अधिक प्रचलन नहीं था। प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाता था। इससे बालकों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता था और वे मनुष्य के समस्त गुणों से विभूषित होते थे।

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य

ब्रह्मचारी विद्यार्थियों को संयम-नियम के साथ विद्याध्ययन में दत्तचित्त हो अपने आचार्य की पूरी सेवा करनी पड़ती थी। गुरु-गृह का कार्यभार विद्यार्थियों को ही उठाना पड़ता था। उन्हें तन, मन और कार्य से गुरु की सेवा में लगे रहना होता था। अपने गुरु-गृह की पवित्र अग्नि को सर्वदा प्रज्ज्वलित रखने के लिए जंगलों से उन्हें लकड़ी काट कर लानी पड़ती थी। गुरु-गृह की पवित्र प्रज्ज्वलित अग्नि इस सत्य की प्रतीक थी कि गुरुकुलों में ज्ञान की उपलब्धि के निमित्त गुरु-शिष्य सर्वदा संलग्नशील बने रहते हैं। चौबीस घंटे जलती रहने वाली अग्नि की यह पवित्र ज्योति छात्रों के मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करती रहती थी। गुरुकुल में प्रवेश करते समय विद्यार्थी आचार्य को एक लकड़ी देता था। लकड़ी देने का लाक्षणिक अर्थ यह था कि वह आचार्य-गृह-यज्ञ की अग्नि सर्वदा प्रज्ज्वलित रखने की प्रतिज्ञा करता है।

मन, वचन और कर्म तीनों से विद्यार्थी को गुरुभक्त होना आवश्यक था। राजकुमार से ले कर साधारण परिवार तक के बालक इस सात्विक शैक्षिक नियम के अंतर्गत बद्ध होते थे। वैदिककालीन शिक्षा में गुरु-सेवा की विशेष महत्ता है। गुरु-गृह का समस्त कार्यभार विद्यार्थी उठाते थे। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले छात्र को कठोर दंड का भागी होना पड़ता था तथा कभी-कभी इस दंड के फलस्वरूप वह आश्रम से निष्कासित भी कर दिया जाता था। गुरु-आज्ञा का उल्लंघन घोर पाप था। ऐसा कहा जाता था कि शिष्य को पुत्र, दास और प्रार्थी की भांति गुरु की सेवा करनी चाहिए। उसे गुरु को दातून तथा स्नान के लिए जल देना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर उसे जूठे बर्तन और उतारे गए कपड़े धोने का काम भी करना आवश्यक है। परंतु, शिक्षक शिष्य से ऐसा कोई अनुचित काम नहीं ले सकता था, जिससे उसके अध्ययन में बाधा होने की संभावना हो। यदि गुरु का कार्य करते हुए शिष्य की मृत्यु हो जाए, तो विधानानुसार गुरु को कठोर प्रायश्चित का भागी बनना पड़ता था।

विद्यार्थी को अपने और अपने गुरु-परिवार के भोजन के लिए भिक्षाटन भी करना पड़ता था। वे ग्रामों एवं नगरों में भिक्षाटन के लिए निःसंकोच भाव से जाते थे। प्राचीन भारतीय सामाजिक नियम के अनुसार इन ब्रह्मचारी विद्यार्थियों को सभी जगह, सभी परिवार में भोजन मिल जाता था। यह भोजन कच्चा या सिद्ध—(पका हुआ) दोनों प्रकार का होता था। भिक्षाटन से विद्यार्थी के अंदर विनम्रता, विनय-भावना एवं सामाजिकता के गुणों का विकास होता था।

विद्यार्थी अपने गुरु के खेतों में कृषि करते थे तथा उनकी गायों को जंगलों में ले जा कर चराते थे। ये गायें हजारों की संख्या में होती थीं। इन नियमों के फल-स्वरूप शिक्षा का रूप विशेष लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक हो जाता था। इन गायों को चरा कर वे पशुपालन और 'डेरी-फार्म' की कला तथा व्यवसाय का अध्ययन कर लेते थे। गुरु के खेतों को जोत कर वे कृषि-शिक्षा का ज्ञान उपलब्ध करते थे। स्पष्ट है कि गुरुकुल आश्रम-जीवन की एक प्रयोगशाला था, जहाँ छात्र अपने भावी जीवन में आने वाली गूढ़तम समस्याओं से अवगत तो हो ही जाते थे, उन समस्याओं के समाधान और निराकरण के मार्ग से भी पूर्ण परिचित बन जाते थे।

स्पष्ट है कि वैदिककालीन शिक्षा का रूप केवल आध्यात्मिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी था। अध्यात्म के साथ विद्यार्थी अन्य जीवनोपयोगी शिक्षाओं का ज्ञान ग्रहण करते थे। गुरु-सेवा करते समय भी छात्र अनेक जीवनोपयोगी बातें सीखते थे।

आचार्यों के कर्त्तव्य

गुरुकुल के आचार्यों का अपने विद्यार्थियों के प्रति कर्त्तव्य का रूप पर्याप्त स्नेहपूर्ण, मधुर, मर्यादायुक्त संयमशील, व्यावहारिक तथा लोकोपयोगी था। वस्तुतः जो एक आदर्श पिता का व्यवहार होता है, वही वे अपने शिष्यों के साथ करते थे। देव-तुल्य आचार्य अपने शिष्यों को निश्छल भाव से विद्यादान देते थे। उनका कर्त्तव्य था कि वे बुद्धिमत्ता तथा कौशल के साथ शिष्यों के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करें। वे सर्वप्रकारेण अपने विद्यार्थियों को सत्य-पथ पर लाने, सन्मार्गशील बनाने तथा आध्यात्मिक उन्नति की चेष्टा में तत्पर रहते थे। शिष्यों को स्वतः अपने से भी बड़ा विद्वान बनाने की बात ये शिक्षक सोचते थे। अपने विद्यार्थियों की बीमारी अथवा अस्वस्थता में आचार्य उनकी सेवा करते थे तथा दवा एवं पथ्य आदि की व्यवस्था करते थे। भोजन, वस्त्र और निवास आदि की व्यवस्था करना भी गुरुकुल के आचार्यों का ही उत्तरदायित्व था।

गुरुकुल में छात्रों के संयमित जीवन-विकास के लिए नियमित नित्य-क्रिया की आदत के निर्माण पर बल दिया गया था। नित्य-क्रिया के अंतर्गत उषाकाल में पूजन, मनन, सरल-सत्य, आचरण, विद्याध्ययन, भिक्षाटन, व्यायाम, संध्या, हवन और सत्संग आदि कार्य संमिलित थे। साथ ही, साधारण आचार-विचार अर्थात् शिष्टाचार पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। गुरुकुल में पहुँचने के पश्चात् शिष्य को पहले शिष्टाचार की ही शिक्षा दी जाती थी —

"उपनीय गुरुः शिष्ये शिष्टाचारश्च शिक्षयेत" अर्थात् गुरु का धर्म था कि शिष्य का उपनयन करके शिष्टाचार की शिक्षा प्रदान करे। इस शिष्टाचार के अंतर्गत उठना, बैठना, चलना, बातचीत करना, अभिवादन करना, साधारण एवं दैनिक जीवन में सहपाठियों एवं गुरुजनों के साथ व्यवहार करना, परिवार एवं समाज के श्रेष्ठजनों का आदर आदि बातें हुआ करती थीं। वस्तुतः शिष्टाचार ही शिक्षा का प्रथम दर्शन है और मनुष्यता का पहला रूप है। गुरुकुल के आचार्यगण सब तरह अपने विद्यार्थियों को इनकी शिक्षा देते थे।

शिक्षा में धार्मिक तत्त्वों की प्रधानता थी; क्योंकि प्राचीन आर्य आस्तिक विचारधारा के पोषक थे। वैदिक शिक्षा का रूप आध्यात्मिक तथा लौकिक, परा और अपरा दोनों अवश्य था, किंतु आध्यात्मिक विद्या की ही श्रेष्ठता स्वीकार की गई थी। ब्रह्म की उपलब्धि ही शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य था। वैदिक शिक्षा-प्रणाली के पाठ्यक्रम में धार्मिक एव नैतिक शिक्षा के अतिरिक्त व्यावहारिक, शारीरिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का भी विधान था।

वैदिककालीन शिक्षा में विद्यार्थी साहित्य, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के मंत्र कंठाग्र करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् से यह ज्ञात होता है कि इतिहास, उपनिषद्, व्याख्यान आदि की शिक्षा देने की भी व्यवस्था थी।

शिक्षा-प्रणाली

वैदिककालीन शिक्षा की प्रणाली मुख्यतः मौखिक थी। शिक्षा वाणी द्वारा प्रदान की जाती थी; क्योंकि उन दिनों मुद्रण-यंत्रों का आविष्कार नहीं हुआ था। आचार्य मुख द्वारा ही विद्यादान दिया करते थे। पुस्तकों का लेखन-कार्य अत्यधिक श्रमसाध्य था। इस युग में प्रमुख शिक्षा-प्रणालियाँ निम्नलिखित थीं--

(१) भाषण-विधि, (२) प्रश्नोत्तर-विधि, (३) अन्योक्ति-विधि, (४) सूक्ति-विधि और (५) कथा-कहावत-विधि।

वैदिककालीन शिक्षा-प्रणाली में गुरु एवं शिष्य दोनों सक्रिय रहते थे। केवल यही विधान नहीं था कि गुरुजी जो कुछ विद्यार्थी को बतावें, विद्यार्थीगण

उन्हें अक्षरश: स्वीकार कर लें। वाद-विवाद में शिष्य को स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचारों को प्रगट करने का अधिकार था। विद्यार्थी शंका उपस्थित कर सकते थे तथा आचार्य उसका समाधान एवं निराकरण करने के लिए यथोचित उत्तर देते थे। वैदिककाल में, विशेषत: उत्तर वैदिक शिक्षा-प्रणाली में, वाद-विवाद को प्रमुख स्थान दिया गया था। इन बैठकों को संमेलन कहा जाता था।

विद्यार्थी, प्राप्त ज्ञान को चिंतन और मनन के सहारे दृढ़ करते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में कथा आई है कि वरुण ने जब अपने पुत्र, भृगु को अध्यात्म-संबंधी विशेष ज्ञान दे दिया, तो उन्होंने कहा कि तुम स्वयं इस पर विचार और मनन करो तथा प्राप्त विद्या को आत्मसात् करो। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन और मनन छात्र 'स्वाध्याय' द्वारा करते थे। उस काल में विद्वानों का विश्वास था कि स्वाध्याय द्वारा मनुष्य पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करता है।

गुरु-मुख से पाठ को सुन कर विद्यार्थी उसकी पुनरावृत्ति करते। साथ ही, कंठाग्र करने की भी कोशिश करते थे। इस प्रणाली में स्मरणशक्ति तथा कंठस्थ करने की शक्ति का विशेष महत्व था।

आचार्य अपने छात्रों की व्यक्तिगत भूलों को सुधारने का प्रयत्न करते थे। गुरु अपने पाठ को प्रारंभ करने के पूर्व पिछले पाठ की मौखिक परीक्षा लिया करता था और तब नए पाठ का प्रारंभ करता था। इस प्रकार परीक्षा का रूप सरल, परंतु ठोस था। स्वयं छात्र भी बैठ कर आपस में एक दूसरे की परीक्षा लेते थे तथा अपने में जिस कमी का अनुभव करते थे, उसे पूरा कर लेते थे। वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ में भी परीक्षा हो जाती थी।

विशेषता

आचार्य एवं उनके शिष्य में वही सुमधुर संबंध होता था, जो एक आदर्श परिवार के पिता-पुत्र में होता है। विद्यार्थी अपने घर के समान गुरुकुल आश्रम में रहते थे, गुरुकुल का यह मर्यादापूर्ण, परम उपयोगी श्रेष्ठ संबंध अत्यधिक स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक था। आज जिन नियमों और शैक्षणिक आधारों की योजनाएँ मानव-मनोविज्ञानवेत्ता अथवा शिक्षा-दार्शनिक शैक्षणिक तत्त्वों के लिए सर्वथा उपयुक्त समझते हैं, उनका पूर्णरूपेण प्रचलन गुरुकुल आश्रमों में हमारे पूर्वजों ने किया था।

गुरु-शिष्यों का सुमधुर आत्मीय संबंध स्वत: शिष्यों के भावी जीवन के लिए तो सुखकारी एवं हितकारी था ही, समाज और देश के लिए भी सर्वथा उपयोगी

था। गुरुकुल में शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति, समाज और देशहित के लिए सर्वदा यत्नशील रहते थे। वे ऐसा कोई अमानुषिक कार्य नहीं करते थे, जिससे उनके या उनके समाजहित में कोई बाधा उपस्थित हो जाए। एक पिता के रूप में गुरुकुल के ये आचार्य सदैव यही यत्न करते थे कि उनकी शिष्यरूपी संतान उन्नति के शिखर पर पहुँच जाएँ। आचार्य एवं ब्रह्मचारी में इतने पवित्र और घनिष्ठ संबंध इसका द्योतक है कि शिक्षा वैदिक एवं उत्तर वैदिक, दोनों कालों में महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन की गई थी। शिक्षा भारतीय समाज मे लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का साधन मानी गई थी। अपने व्यापक और विशाल उद्देश्य के फलस्वरूप ही प्राचीन भारतीय नागरिक शिक्षा को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गुणयुक्त मानते थे। उनके समस्त गुणो के प्रकाशन का साधन शिक्षा में ही निहित था। वास्तविक शिक्षा के गठन एवं प्रचलन के आधार पर प्राचीन भारतीय आर्य उच्चता और श्रेष्ठता के पद पर आसीन थे।

वैदिककालीन गुरुकुल-जीवन से स्पष्ट है कि वहाँ का जीवन कितना आदर्श था एवं वहाँ के शिक्षक और विद्यार्थी अध्ययन-कार्य में किस सीमा तक निष्ठावान थे। विनोबाजी इस जीवन को आज नई तालीम में स्थान दिए हुए हैं। अनुशासन की समस्या, अध्यापन एवं अध्ययन मे अरुचि की समस्या आदि का स्वतः निदान हो जाए, अगर हम प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श को अंगीकार कर लें। विनोबाजी विद्यार्थियों के कर्त्तव्य की भी चर्चा करते हैं। उन्होंने विद्यार्थियों के समस्त कर्त्तव्यों को चार भागों में विभाजित किया है—

१. चिंतन-स्वातंत्र्य,
२. अपने-आप पर काबू,
३. निरतर सेवापरायणता और
४. विश्व-नागरिकता की भावना।

अपनी पुस्तक 'थाटस् ऑन एडुकेशन' के पृष्ठ १८७ पर वे छात्रों के व्यवहार के संबंध में लिखते हैं—

"I shall think about policies.
I shall be open to ideas but
I will not make final decisions,
I shall keep the right to change
by mind by joining a union.
I should lose that right,

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं—

१. श्रद्धावान,
२. स्वतंत्र चिंतन की क्षमता,
३. अनुशासित जीवन व्यतीत करने की आदत,
४. किसी भी प्रकार के विरोधी संघों का निर्माण नहीं करना,
५. सत्य-संकल्पवान बनना,
६. अपने मन पर नियंत्रण रखना,
७. निरंतर सेवा-भावना की इच्छा,
८. धर्मनिष्ठ एवं ईश्वरभक्त तथा
९. विश्व-बंधुत्व की भावना ।

नई तालीम में विद्यालय का रूप

पिछले पृष्ठों में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि विनोबाजी वैदिक-कालीन गुरुकुल शिक्षा में विश्वास रखते हैं। गुरुकुल-पद्धति में छात्रों और आचार्यों का जीवन अत्यंत मधुर था, जिसका एक प्रमुख कारण उनका एक साथ 'आवासीय रूप' में रहना भी था। विनोबाजी भी यही चाहते हैं। उनका कहना है—"एक ओर विद्यालयीन परिवार बनना चाहिए, दूसरी ओर कौटुंबिक पाठशाला स्थापित होनी चाहिए।" विचार और जीवन एक दूसरे से संबद्ध बने। वस्तुतः विचार ही हमारा जीवन है और हमारा जीवन विचार पर आश्रित-आधारित है। मनुष्य परिवार में जीवन-यापन करता है और विद्यालय में विचार ग्रहण करता है। अतः, आवश्यक है कि परिवार में पाठशाला और पाठशाला में परिवार प्रविष्ट करे।

महात्मा गांधी की दृष्टि में विद्यालय एक लघु समाज है, जहाँ विभिन्न प्रकार के समाजोपयोगी बुनियादी उद्योगों की शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालय समाज-शिक्षण की प्रयोगशाला है, जहाँ प्रत्येक मानव को नागरिकता, सच्चरित्रता एवं मानवता का संदेश देना प्रमुख कार्य है। यह लोकतंत्रीय शासन की पाठशाला है। इस पाठशाला में बालक को समाजोनुकूल व्यवहार करने की कला का ज्ञान दिया जाता है। गांधीजी द्वारा प्रस्तावित विद्यालय एक ग्राम-केंद्र है। वे सुधारालय भी हैं। समाज-सुधार के प्रतिनिधि-स्थल के रूप में वे भाव, ज्ञान एवं कर्म की कल्याणमय त्रिवेणी के संचारक हैं। शिक्षा के क्षेत्र में गांधीवादी विचारधारा एवं नई तालीम के प्रचारार्थ अपने शिक्षण-विचारों से भारतीय जनता को सजग करने वाले विनोबा जी पाठशाला के इसी रूप को साकार करना चाहते हैं। वे उच्च शिक्षा हेतु ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना करना चाहते हैं। इन ग्रामीण विश्वविद्यालयों

में स्वावलंबन प्रधान उद्योगों के विकास के हेतु शोध-कार्य (Research-work) होगा।

'कौटुंबिक शिक्षालय' के दैनिक जीवन के संबंध में विनोबाजी निम्नांकित नियम निर्धारित करते हैं—

१. ईश्वर में निष्ठा एवं दोनों समय प्रार्थना,
२. सामूहिक भोजन एवं सामूहिक उपवास,
३. स्वयं आहार पकाना,
४. गंदगी स्वयं साफ करना,
५. आहार की सात्विकता,
६. छुआछूत का भेद नहीं रखना,
७. नियत समय पर दैनिक कार्यों से निवृत्ति,
८. खुली हवा में अलग-अलग सोना,
९. पुस्तकस्थ विद्या की अपेक्षा उद्योगप्रधान शिक्षा पर विशेष ध्यान देना,
१०. उद्योग के अतिरिक्त नियमपूर्वक सूत कातना,
११. खादी के वस्त्र पहनना एवं स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना और
१२. रात्रि में देर तक नहीं जगना।

विनोबाजी एक संत और महात्मा हैं। उनका व्यक्तिगत जीवन अत्यंत निर्मल एवं पवित्र है। वे बाल ब्रह्मचारी एवं एक महान् तपस्वी हैं। वे सभी क्षेत्रों में भारत के लोगों का कल्याण चाहते हैं। यहूदी जनजाति के आराध्य महात्मा मोसेस एवं प्राचीन एथेंस के महात्मा सोलन के समान भारतीय जनता के लिए विनोबाजी वंदनीय हैं। सर्वोदय समाज की स्थापना के लिए 'नई तालीम' उनकी अमूल्य देन है। इसको अपनाने के लिए हमें कटिबद्ध होना है। निःसंदेह इससे हम अपने कल्याण एवं अपनी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करेंगे।



अध्याय २६

डॉ० जाकिर हुसैन

जीवन-परिचय

बुनियादी शिक्षा-पद्धति को मूर्त रूप देने वाले महान् मानवतावादी डॉ० जाकिर हुसैन गणतंत्र भारत के तीसरे राष्ट्रपति तो थे ही, जगत्विख्यात एक महान् शिक्षाशास्त्री भी थे। इनका जन्म ८ फरवरी, १८९७ ई० को हैदराबाद में हुआ था। इनके पिता हैदराबाद में ही वकालत करते थे तथा 'आइनए-डेक्कान' नामक कानून-संबंधी पत्रिका के संपादक भी थे। इन्होंने जाकिर हुसैन की शिक्षा का प्रबंध एक अंग्रेज शिक्षक के निर्देशन में घर पर ही किया था। दुर्भाग्यवश वकील साहब का देहांत उसी समय हो गया, जब जाकिर साहब मात्र नौ वर्ष के थे।

छात्र-जीवन

पिता की मृत्यु के पश्चात् इनका परिवार उत्तर प्रदेश में फरूखाबाद जिले के कायमगंज नामक स्थान में आ गया। आप अपने तीन भाइयों के साथ एक हाई स्कूल में दाखिल हुए और बी० ए० की डिग्री आपने डॉक्टर हुसेन मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज (वर्त्तमान अलीगढ़ विश्वविद्यालय) से ली। एम० ए० में आपने अपना नाम दर्ज कराया था, परंतु १९२० ई० में महात्मा गांधी के आह्वान पर 'असहयोग आंदोलन' में शामिल हो गए और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में अपनी जबरदस्त भूमिका निभायी। इस समय इनकी अवस्था मात्र तेईस वर्ष की थी। कुछ वर्ष पश्चात् आपने जर्मनी में बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इनका विवाह १८ वर्ष की किशोरावस्था में ही शाहजहाँ बेगम के साथ हुआ था। इस समय आप विद्यार्थी थे।

जामिया मिलिया इस्लामिया की स्थापना

१२ अक्टूबर, १६२० ई० को महात्मा गांधी, अली-बंधुओं के साथ डॉक्टर हुसैन मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज (वर्त्तमान अलीगढ़ विश्वविद्यालय) में पधारे। कॉलेज के विद्यार्थियों और अध्यापकों के समक्ष भाषण करते हुए गांधीजी ने कहा कि ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में चल रही शिक्षा-संस्थाओं का भारतीयों द्वारा बहिष्कार होना चाहिए। इनके स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए। जाकिर साहब इन दिनों यहीं एम० ए० के छात्र थे। इन पर महात्माजी के भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा और उनके आह्वान पर आप साहब बृटिश शासकों के विरुद्ध असहयोग आंदोलन में संमिलित हो गए। पिछली पंक्तियों में मैंने इस बात की चर्चा की है कि डॉ० जाकिर हुसैन की अवस्था इस समय मात्र तेईस वर्ष की ही थी। इस युवावस्था में अपने भविष्य की चिंता किए बिना, देश-सेवा हितार्थ अपने को उत्सर्ग करना मातृभूमि के प्रति इनके प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है। यही नहीं, कॉलेज छोड़ने ही आपने अलीगढ़ में एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्था (जामिया मिलिया इसलामिया) की स्थापना कर इसका भी जबरदस्त परिचय दिया कि आप एक प्रबुद्ध सफल शिक्षक हैं और आप में पूरी संगठन-शक्ति है। डॉ० जाकिर हुसैन उन थोड़े से देशभक्त भारतीयों में थे, जिन्होंने अपना जीवन शिक्षा-क्षेत्र में ला कर राष्ट्र की सेवा की। सन् १६६७ ई० में जब वे भारत के राष्ट्रपति चुने गए, तो १६२० ई० के गुजरे जमाने का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा था "वास्तव में राष्ट्र ने एक साधारण अध्यापक को इतना बड़ा संमान दिया है, जिसने आज से सैंतालिस वर्ष पहले अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ भाग को राष्ट्रीय शिक्षा के लिए अर्पित करने का निश्चय किया था।"

सन् १६२४ ई० में जब डॉ० जाकिर हुसैन विद्याध्ययन करने जर्मनी गए थे, उस समय वहीं उन्हें इसकी जानकारी करायी गई कि जामिया मिलिया को चलाने वाले लोग धन की कमी के कारण इस संस्था को बंद कर देना चाहते हैं। इस समाचार से उन्हें बहुत दुःख हुआ और टेलीग्राम द्वारा शीघ्र ही उन्होंने सूचित किया, "मैंने और यूरोप में मेरे कुछ साथियों ने जामिया मिलिया को अपना जीवन अर्पित करने का फैसला किया है। जब तक हम भारत नहीं आ जाते, तब तक इस संस्था को बंद नहीं किया जाना चाहिए।" फलस्वरूप इस संस्था को बंद कर देने की बात रोकी गई। सन् १६२५ ई० में महात्मा गांधी की सलाह से जामिया मिलिया का अलीगढ़ से दिल्ली स्थानांतरण किया गया। सन् १६२६ ई० में डॉ० जाकिर हुसैन स्वदेश लौटे और उन्हें जामिया मिलिया के उपकुलपति का पद दिया गया। केवल

उनतीस वर्ष की आयु में उपकुलपति का पद प्राप्त करना—इस तथ्य का उल्लेख करता है कि डॉ० साहब जनता के प्रिय पात्र तो बन ही चुके थे, उनके चरित्र और व्यक्तित्व के प्रति सबका विश्वास भी जम चुका था। इनके सफल प्रयास के फलस्वरूप इस संस्था ने बड़ी उन्नति की। उनके जमाने में ही यह संस्था शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में देश-विदेश सभी जगह विख्यात हो चुकी थी। यमुना नदी के किनारे अवस्थित जामिया मिलिया विश्वविद्यालय अपनी विशेषताओं के कारण भारत में ही नहीं, बल्कि जगत् में विख्यात है।

डॉ० जाकिर हुसैन और उनके मित्रों ने जिनमें बहुत से बर्लिन, ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज के स्नातक थे, बृटिश शासनकाल के दौरान में, कभी भी सौ रुपए से अधिक वेतन नहीं लिया। सुश्री गर्डा फिलिप्स बोर्न नामक एक जर्मन महिला ने अपना समस्त जीवन जामिया के बच्चों के लिए अर्पित किया था। जामिया मिलिया विश्वविद्यालय की इमारतों, बागीचों और बागवानियों के सौंदर्य में डॉ० जाकिर हुसैन साहब की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। किसी-न-किसी रूप में आप इससे जीवनपर्यंत संबद्ध रहे।

शिक्षक से राष्ट्रपति

डॉ० जाकिर हुसैन ने अपना जीवन जामिया मिलिया में एक शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया; परंतु शनैः-शनैः काल-क्रम में अपनी बुद्धि, योग्यता, लगन, दक्षता और चरित्रबल के आधार पर वे भारत के तीसरे राष्ट्रपति बने। सन् १९४८ ई० तक वे जामिया मिलिया में उपकुलपति बने रहे। १९४८ ई० में तत्कालीन शिक्षा-मंत्री मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के आग्रह पर उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय का उपकुलपति बनना स्वीकार किया। आठ वर्ष (सन् १९५६ ई०) तक आपने अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में कार्य किया। आपने विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग में भी कार्य किया था, जिसकी स्थापना डॉ० एस० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में सन् १९४८ ई० में की गई थी। इसके अलावा वे प्रेस-आयोग से भी संबद्ध रहे। सन् १९५२ ई० से १९५७ ई०, बिहार के राज्यपाल नियुक्त होने के समय वे राज्यसभा के सदस्य थे। राजनीतिक पद सँभालने के बाद भी उन्होंने भारत और विदेशों में शिक्षा तथा संस्कृति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उन्होंने अनेकों बार यूनेस्को में भारत का प्रतिनिधित्व किया और १९५६ ई० से ५८ ई० तक आप उसके कार्यकारी मंडल में भी रहे। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें १९५४ ई० में 'पद्मविभूषण' और १९६३ ई० में 'भारतरत्न' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। ६ जुलाई, १९५७ ई० में यहाँ के राज्यपाल]

के रूप में डॉ० जाकिर हुसैन बिहार आए और सन् १९६२ ई० तक राज्यपाल के रूप में ही रहे। पूर्ण निष्ठा एवं सचाईपूर्वक आपने बिहारवासियों की सेवा की और विद्वान पुरुषों को सर्वदा आदर-सत्कार दिया।

सन् १९६२ ई० में उन्हें भारत के उप-राष्ट्रपति का पद प्राप्त हुआ। उप-राष्ट्रपति राज्य सभा के पदेन अध्यक्ष होते हैं और इस हैसियत से भी इन्होंने दल के सभी वर्गों का आदर प्राप्त किया था। नई दिल्ली आने वाले अनेक विदेशी राज-नेताओं के साथ उनका घनिष्ठ संबध था। उन्होंने एशिया, अफ्रीका और अनेक पश्चिमीय देशों का भी दौरा किया और इन देशों के नेताओं से मधुर संबंध स्थापित किया। चौथे आम चुनाव के बाद मई, १९६७ ई० में जब राष्ट्रपति का निर्वाचन होने जा रहा था, तो देश की स्थिति अभूतपूर्व थी। २० वर्षों तक लगभग सभी राज्यों पर एकछत्र शासन करने के बाद कॉंग्रेस को अनेक राज्यों में संसदीय चुनाव की पराजय का सामना करना पड़ा था। वैसे संसद में कांग्रेस दल का पूर्ण बहुमत तो था, किंतु १७ में से ८ राज्यों में दूसरे दल सरकार बनाने की स्थिति में थे। अतः, स्वतंत्रता के बाद पहली बार राष्ट्रपति पद के लिए कड़ा मुकाबला होने की संभावना थी। लगभग सभी दलों ने कॉंग्रेस के उम्मीदवार डॉ० जाकिर हुसैन के विरुद्ध एक संयुक्त उमीदवार खड़ा किया। पर, अंततः आप ही चुने गए।

इस प्रकार भारत ने स्वतंत्रता के बीसवें वर्ष में अल्पसंख्यक वर्ग के एक सदस्य को अपना राष्ट्रपति निर्वाचित किया, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का पहला कैथोलिक राष्ट्रपति, उसका ३४वाँ राष्ट्रपति था। जब जर्मनी के एक टेलीविजन-संवाददाता ने डॉ० हुसैन से एक भेंट में इस बात पर अपना आश्चर्य व्यक्त किया कि भारत में ऐसी बात संभव हो सकी है, जबकि यूरोप के लोग हिंदू-मुसलमानों को एक दूसरे का कट्टर दुश्मन समझते हैं, तो डॉ० हुसैन ने उस संवाददता से कहा कि यह विचार बिलकुल भ्रामक है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है, जहाँ पर कोई भी व्यक्ति धर्म आदि संबंधी बिना किसी भेदभाव के देश के सर्वोच्च पद पर पहुँच सकता है। सच तो यह है कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि भारत में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त हैं। इस भेंट के दौरान डॉ० हुसैन ने इस भय को मिथ्या बतलाया है कि भारत की एकता छिन्न-भिन्न हो जाएगी। निराशा का कोई कारण नहीं है। हमारे लोकतंत्र की जड़ें मजबूत हैं और हमारी जनता परिपक्व है।

प्रभाव

डॉ० हुसैन इस दुनिया से चले गए, परंतु यहाँ के लोगों के लिए वसीयत के रूप में छोड़ गए अपनी कार्य-क्षमता, सौजन्यता, विनम्रता एव विख्यात शिक्षा-

नीति। सच्चे जनतंत्रवादी एवं राजनेता के अतिरिक्त वे एक आदर्श गांधीवादी थे। हमें भूलना नहीं चाहिए कि बुनियादी शिक्षा को मूर्त रूप देने वाले डॉ० जाकिर हुसैन साहब ही थे। आपने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि राजनीति के तंग रास्ते से राष्ट्रीय पुनर्जागरण नहीं लाया जा सकता। यह शिक्षा, संस्कृति और राष्ट्रीय चरित्र के नए ढाँचे के माध्यम से ही लाया जा सकता है। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति को पुराना और सारहीन समझा। जामिया मिलिया के माध्यम से उनका उद्देश्य था—शिक्षा को एक नए ढंग से विकसित करना, जिसकी जड़ें राष्ट्रीय संस्कृति में जम सकें। जामिया मिलिया को उन्होंने एक ऐसी शैक्षिक संस्था का रूप दिया, जहाँ शिक्षा एवं रहन-सहन के क्षेत्र में सामूहिक विकास-प्रणाली को आरंभ करने की चेष्टा के साथ-साथ छात्रों को नागरिकता की शिक्षा देने तथा कला के प्रति अभिरुचि जाग्रत करने का भी पूरा-पूरा प्रयास किया गया। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने इनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उन्हें ख्यातिप्राप्त शिक्षाशास्त्री बतलाया था। उन्होंने कहा था—"डॉ० जाकिर हुसैन के अचानक निधन से मुझे गहरी संवेदना एवं दुःख हुआ है। वे महान्, भद्र, ख्यातिप्राप्त शिक्षा-शास्त्री तथा स्वनिर्मित व्यक्ति थे।" ३ मई, १९६९ को स्थानापन्न राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने कहा था कि राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन सही अर्थ में अजातशत्रु थे। वे सभी को प्यार करते थे और किसी से घृणा नहीं करते थे। बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री नित्यानंद कानूनगो ने आपको सांप्रदायिक सद्भावना का प्रतीक, एक कुशल राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद् तथा सच्चा जनसेवक बतलाया था। वस्तुतः वे सच्चे मानवतावादी, विद्वान, महान् शिक्षाविद् और श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ थे।

रचनाएँ

डॉ० जाकिर हुसैन अपने अवकाश का उपयोग लेखन-कार्य में करते थे। बच्चों के लिए लिखना वे सबसे अधिक पसंद करते थे। उन्होंने छद्म नाम से बच्चों के लिए अनेक कहानियाँ लिखीं। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'तालिमी खुतबाद' (शिक्षा), 'एडुकेशन रिकॉन्सट्रक्शन इन इंडिया' (भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण), प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' का उर्दू अनुवाद उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा उन्होंने एडविन क्वेंस की पुस्तक 'एलीमेंट्स ऑफ इकोनॉमिक्स' तथा आर्थिक विषयों की अन्य पुस्तकों का भी अनुवाद किया।

शैक्षणिक विचार

पिछले पृष्ठों में मैंने डॉ० जाकिर हुसैन की एक संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत की है, परंतु उससे उनके शैक्षणिक विचारों का भी एक स्पष्ट आभास मिल जाता है।

मैंने इस वस्तुस्थिति का उल्लेख किया है कि वे शिक्षा और संस्कृति को किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की उन्नति का आधार शिक्षा स्वीकार करते थे। उनका मत था कि राजनीति के माध्यम से सच्चे राष्ट्रीय नवजागरण का युग नहीं लाया जा सकता। राष्ट्रीय चेतना के आदर्श की उपलब्धि के लिए शिक्षा और संस्कृति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की आवश्यकता है। इस लक्ष्य को चरितार्थ करने के हितार्थ ही उन्होंने एक शिक्षण-संस्था से अपना जीवन संबद्ध किया। उनके शिक्षा-संबंधी कुछ विचार निम्नांकित हैं—

१. शिक्षा मस्तिष्क के पूरे-पूरे विकास का नाम है

डॉ० जाकिर हुसैन ने शिक्षा को मानसिक विकास का आधार माना है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए उन्होंने बतलाया है "आदमी मस्तिष्क की जो शक्तियाँ ले कर पैदा हुआ है, उसमें जितनी उन्नति हो सकती है, वह उसे हासिल हो जावे। शिक्षा आदमी के मस्तिष्क के पूरे-पूरे विकास का नाम है। जैसे आदमी का शरीर एक छोटे से बीज से शुरू हो कर, उपयुक्त भोजन पा कर काम, विश्राम और आराम से फिजियोलॉजी और केमिस्ट्री के अनुसार पूर्णता को पहुँचता है, उसी प्रकार उसके मस्तिष्क का विकास मानसिक आहार द्वारा बुद्धि के नियमों द्वारा होता है।"

२. शिक्षा में 'टोटैलिटी' का सिद्धांत

डॉ० जाकिर हुसैन ने शिक्षा में टोटैलिटी के सिद्धांत की प्रवर्त्तना की है। 'टोटैलिटी' से उनका तात्पर्य बच्चों के मन, मस्तिष्क और शरीर, अर्थात् उनके सर्वांगीण विकास से था। उनके विचारानुसार सच्ची शिक्षा वही है, जिससे बच्चे के सारे शरीर का विकास हो, जिसमें उसकी बुद्धि, उसका मन, उसके हाथ सब साथ-साथ आगे बढ़ें। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि वह जीती-जागती, बढ़ती-बदलती चीज, जिसे बच्चा कहते हैं, मूल्यों, उद्देश्यों, पसंदों और दिलचस्पियों का एक मजमूआ होता है। जब कोई अनुभव, कोई चीज इस सारे मजमूए को पकड़ती है, तो इससे उसका सारा जीवन शिक्षा पाता है। इसीलिए तो इस जीती-जागती चीज को जाने और समझे बगैर कोई सच्ची शिक्षा का प्रबंध नहीं कर सकता। पाठशाला और बालकवाड़ी शिक्षक के लिए खाली सिखाने की जगह नहीं, सीखने और समझने की जगह भी है। जिस चीज को अंदर से बच्चा माँगता नहीं, वह उसे पचती नहीं। इसी माँग को जानना और समझना चाहिए और इसके सहारे बच्चे के सारे जीवन का इंतजाम करना चाहिए। किसी एक हिस्से को ले कर माँगने से सारा जीवन नहीं चमकता, किसी एक शक्ति को उभारने और दूसरों से मुँह फेर कर शिक्षा नहीं होती।

३. बच्चा भी एक व्यक्तित्व है

प्रस्तुत प्रसंग में डॉ० साहब ने लिखा है : "बच्चा भी एक व्यक्तित्व है, वह कोई बेजान चीज नहीं, खिलौना नहीं, गुड़िया नहीं।" अतः, बच्चों के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए ही हम उनकी शिक्षा की व्यवस्था करें तथा उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें।" विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेन्ड आर्थर विलियम रसेल ने भी इस सिद्धांत का पोषण किया है। उन्होंने बतलाया है कि बच्चों के व्यक्तित्व का विकास उनकी एक वर्ष की अवस्था तक हो जाता है। अतः, तदनुकूल ही हमलोग उनकी शिक्षा की व्यवस्था करें। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस सिद्धांत का पोषण करता है।

डॉ० जाकिर हुसैन इस प्रसंग में बतलाते हैं कि जब बड़े अपने घमंड में बच्चों को बेबस समझते होते हैं, उस वक्त भी वह अपने लिए कोई उद्देश्य बना चुका रहता है। आपको मालूम हो जावे तो चाहे आप इस पर हँसें या खफा हों, पर इसका तो वह उद्देश्य ही होता है और उसके पूरा करने में वह उसी तरह लगा होता है जैसे आप अपने बड़े-बड़े मकसदों में। सारी दुनिया को उसी की रोशनी में और उसी की ऐनक से देखता है। उसने अपने आसपास के हाल को समझने में चूक की है और उस चूक में यह उद्देश्य बनाया है जो यह चूक, उसकी सारी नन्हीं-सी दुनिया पर छा जाती है और उसे अपने रंग में रँग देती है।

अपने छोटे होने, कमजोर होने, बड़े भाई से दबे होने, चाहते भाई की सौतेली बहन होने और माँ-बाप की तरफ से हेठा समझे जाने का ख्याल उसके दिल में बैठ जाता है, तो बस उसका सारा जीवन उसी को हटाने, मिटाने की फिक्र में और यत्न करने में लग जाता है। ठीक प्रयत्न से या गलत प्रयत्न से, लेकिन रहती है बस यही उधेड़बुन। हेठेपन का ध्यान और उसको हटाने की कोशिश उसके जीवन का तानाबाना बन जाते हैं। यह हेठेपन का ध्यान अक्सर माँ-बाप ही पैदा करते हैं और अगर किसी और तरह पैदा हुआ है, तो उसे बढ़ाते हैं। बच्चा उससे बचता है, तो नादानी से उसकी राह में आते हैं। और गरीब बच्चे के काम को और कठिन बना देते हैं और यह सब इसलिए कि बच्चे को जानते नहीं। उसको अपना माल जान कर अपना जोर चलाना चाहते हैं। यह गलती माँ-बाप से भी होती है और शिक्षक से भी। इससे बचना शिक्षक का पहला काम है और शिक्षक का पहला नियम यही है कि बनाना यही है, जो प्रकृति ने बच्चे को बनाया है। उसका पता लगाना, उस पर कान धरना, उसको सहारा देना, यही शिक्षक का सारा काम है।"

४. सभी बच्चों को एक ही लकड़ी से नहीं हाँका जा सकता

बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए डॉ० जाकिर हुसैन ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि बच्चों का अलग-अलग जीवन होता है। अलग-अलग उनकी अपनी रूचि और प्रवृत्ति होती है। यही नहीं, उनकी रूचियों, गुणों एवं प्रवृत्तियों में भी विभिन्नता होती है। अतः, यह आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा की व्यवस्था ऐसी करें जिससे बालकों की विभिन्न प्रवृत्तियों और झुकावों का प्रस्फुटिकरण, परिमार्जन और परिपोषण हो सके। इसी संदर्भ में आपने स्पष्ट किया है कि शिक्षा पाने वाले को जानना और समझना शिक्षण के लिए आवश्यक है। छोटे बच्चों की शिक्षा में यह और भी आवश्यक है। जिस प्रकार हर मन का विकास हर चीज से नहीं होता, जैसे हर शरीर को हर प्रकार का भोजन नहीं लगता, उसी प्रकार हर मन को हर मानसिक आहार नहीं पचता। चीजों में अपनी शक्तियाँ सुलझाने-भुलाने, छुपाने वाले मन और उससे विकास पाने वाले मन की बनावट में कुछ मेल, कुछ जोड़ जरूर होना चाहिए।

५. बच्चे का स्वभाव परिवर्तनशील है

डॉ० जाकिर हुसैन ने इस तथ्य का पोषण किया है कि बच्चों में जन्मजात स्वाभाविकता और विभिन्नता तो होती है, परंतु समय और परिस्थितियों के फल-स्वरूप उसमें परिवर्तन भी होता रहता है। प्रत्येक बच्चा प्रत्येक समय एक ही शील, स्वभाव और विचार का नहीं रहता, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। उसके शरीर में भी परिवर्तन होता है। इन मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों के साथ-साथ उसकी इच्छाएं और आकांक्षाएं भी बदलती रहती हैं। अतः, शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे को जानें, समझें तथा तदनुकूल ही उनकी व्यवस्था करें। शिक्षकों की यह बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। प्रस्तुत प्रसंग में आप बतलाते हैं कि बच्चा कोई बेजान चीज नहीं कि एक हाल में एक दफा समझ लिया, तो हमेशा के लिए समझ लिया। वह तो बदलने वाला जीव है। शिक्षक का काम है कि देखे, किस वक्त बच्चा किस हाल में है और उसकी मांग क्या है। इसमें भी माँ-बाप से और शिक्षकों से बड़ी भूलें होती हैं। यों तो ज्यादा उम्र के लोगों की शिक्षा में भी इसका खयाल रखना चाहिए, लेकिन, छोटी उम्र में तो इस अदला-बदली का हाल कुछ निराला ही होता है। शरीर के विकास को देखिए कि जिंदगी के पहले ६ महीने में बच्चे के वजन को दो गुना, पहले साल में पैदाइश के वक्त से तिगुना हो जाता है। फिर सारी उम्र में कभी इतनी तेजी से नहीं बढ़ता। पहिले १८ महीने में भेजे का वजन जितना बढ़ता है, फिर सारी उम्र में उतना नहीं बढ़ता। दो साल की उम्र में बच्चे के भेजे

का वजन जवान आदमी के भेजे का ६० प्रतिशत हो जाता है और सात वर्ष की उम्र में तो भेजा पूरे आदमी का-सा हो जाता है। 'नरवस सिस्टम' और सेंस आरगंस का भी यही हाल है। शरीर ऐसी तेजी से वढ़ता है, इसलिए इस जमाने में जीवन को वड़े खतरे का सामना होता है। जान जोखिम में रहती है। हमारे देश में जो एक हजार बच्चे पहली साँस लेते हैं, उनमें से १७५ तो बचपन की मंजिल से आगे बढ़ ही नहीं पाते। यही नहीं, और मुल्कों में भी, जहाँ जानें इतनी सस्ती नहीं हैं, वहाँ भी इन नन्हीं-नन्हीं तेजी से बढ़ने वाली जानों को खतरों का सामना करना पड़ता है। अमेरिका में भी सब मरने वालों में एक तिहाई ६ साल से कम उम्र वाले बच्चे होते हैं। इंगलिस्तान में भी देखा गया है कि १०० में से ८०-६० तदुपरांत पैदा होते हैं, ५ वर्ष की उम्र में स्कूलों में डाक्टरी जाँच होती है तो एक तिहाई से ज्यादा को कोई-न-कोई रोग लग चुका होता है, कहीं खाने-पीने की कमी से, कहीं उनकी ज्यादती से, कहीं उसके ठीक न होने से जरूरी चीजों के उसमें से रह जाने से, कहीं लगने वाली बीमारियों के कारण, कहीं घर के मैले और गंदे वातावरण की वजह से, कहीं घर वालों की मनोविज्ञानी उलझनों की खींचतान से। और जहाँ इन बातों को बदला गया, तो सब कुछ बदल जाता है। अच्छे नरसरी स्कूलों में जाकर तंदुरुस्ती ठीक हो जाती है। बीमारियाँ भाग जाती हैं। दाँतों की दशा बदल जाती है। बच्चे पहले से ज्यादा तेजी से बढ़ने लगते हैं— लंबाई में भी, वजन में भी।

अच्छा, यही नहीं कि इस जमाने में शरीर ही जल्दी-जल्दी बढ़ता है, सीखने की गति भी शारीरिक विकास से कुछ कम नहीं होती। इस जमाने में बच्चा इंद्रियों का प्रयोग सीखता है। उनके सहारे अपने वातावरण की पहिचान सीखता है। पुट्ठों के प्रयोग पर काबू पाता है। कर्मेद्रियों और ज्ञानेंद्रियों के अनुभव की चुलें मिलाता है। चलना सीखता है, बोलना सीखता है। ढाई-तीन वर्ष की उम्र में अपनी मातृभाषा को काम चलाने के लायक सीख लेता है। बच्चे के जीवन का यह शुरू का जमाना, बड़ी जल्दी-जल्दी बढ़ने और बदलने का जमाना होता है। माँ-बाप और शिक्षक का काम यह है कि इस अदल-बदल पर पूरी नजर रखें।

६. शिक्षा में स्वतंत्रता

डॉ० जाकिर हुसैन शिक्षा में स्वतंत्रता के बहुत बड़े पोषक थे। उन्होंने बच्चों पर अनुचित दबाव डालने और उन्हें एक निश्चित-निर्धारित परंपरा पर जबरदस्ती ले चलने के प्रयास का घोर विरोध किया है। इससे बच्चों की प्रतिभा कुंठित हो जाती है और माता-पिता की इच्छाएँ भी कभी पूरी नहीं हो पातीं। उनका विचार है कि इन बच्चों के विकास में सबसे पहले तो मदरसे के सामान्य

प्रवध और अनुशासन की सख्ती से उलझनें पैदा होतीं हैं। ये बच्चे जब मदरसे आते हैं, तब तंदुरुस्त बच्चों की तरह खेलने-कूदने, हँसने-बोलने की आदतें अपने साथ लाते हैं। लेकिन, विद्यालय का अनुशासन उन्हें घंटों चुपचाप बिना हिले-डुले बैठने पर मजबूर करता है। प्रस्तुत तथ्य के प्रसग में उन्होंने स्पष्ट लिखा है: "सच्ची शिक्षा आजादी ही में हो सकती है।"

७. अत्यधिक स्वतंत्रता अवांछनीय

डॉ० जाकिर हुसैन शिक्षा में स्वतन्त्रता के बहुत बड़े हिमायती थे, परंतु एक सीमा तक ही। सीमा से अधिक स्वतंत्रता का उन्होंने विरोध किया है; क्योंकि बच्चों पर नियंत्रण की भी उतनी ही जरूरत है, जितनी स्वतंत्रता की। अपने व्याख्यान में उन्होंने एक बार कहा था: "शिक्षा स्वाधीनता की सड़क पर शासन की पगडंडियों से ही पहुँचती है। बच्चों को बे देखभाल नहीं छोड़ा जा सकता। उन्हें सहायता की जरूरत होती है, सहानुभूति और प्रेम की जरूरत होती है। समझने-समझाने की जरूरत होती है। सहारे की जरूरत होती है। कुछ को पगडंडियों पर हाथ पकड़ कर आगे बढ़ाना होता है; कुछ को गड्ढो में गिरने से रोकना होता है।"

अत्यधिक स्वतंत्रता बच्चों के व्यक्तित्व-कुसंयोजन का कारण बनती है। अतः, अवांछनीय तथा त्याज्य है। स्नेह और स्वतंत्रता का अर्थ नर्मी और शिथिलता नहीं होता। मानवीय स्वतंत्रता के लिए यह एक आवश्यक बात है कि मानव शरीर और आत्मा की इच्छाओं का पालन करने का एक लचीला सुदृढ़ और सुनियंत्रित साधन बने।

बच्चों के विकास और तदनुकूल उनकी शिक्षा-व्यवस्था के संबंध में डॉ० जाकिर हुसैन के व्याख्यान जो ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित हुए थे, सर्वथा उल्लेखनीय हैं। प्रसंगानुसार उन व्याख्यानों को विद्यार्थियों के निमित्त, जिससे विषय की तह मे वे विशेपरूपेण प्रवेश कर सकें, मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

बच्चों का विकास

(१)

हमारी इस रंग-बिरंगी दुनिया में ऐसी चीजों की क्या कमी है, जिन्हें देख कर आदमी अचंभे से उँगली दाँतों में दबा ले। मगर, आदमी के बच्चे से अधिक अचंभे मे डालने वाली शायद और कोई चीज नहीं। किसी और जानदार का बच्चा शायद इतना बेबस नही होता, न इतने समय तक अपने माँ-बाप और बड़ो का मुँह ताकता है। कोई और बच्चा अपनी सारी शक्तियों के विकास के लिए इतनी देर

नहीं लगाता। पहले तो इसकी बेबसी और मंद प्रगति पर हँसी आती है। पर, जरा सोचिए, तो ख्याल होता है कि ये दुनिया के हाकिम और बादशाह—इंसान का बच्चा है। शायद प्रकृति चाहती है कि बड़ा होते-होते यह बादशाह बनने के लायक हो जाए। इसीलिए इसकी शिक्षा का पाठ्यक्रम इतन लंबा रखा गया है। इसके शरीर के विकास तक में, ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति ने विशेष देखरेख की है कि काम खूब पक्का हो, जल्दबाजी में खराब न हो जाए। वह कुछ बढ़ती है, फिर रुकती है मानो कदम-कदम पर मजबूती का पूरा-पूरा इंतजाम करती चलती है। पहले साल बच्चा बड़ी तेजी से बढ़ता है। मगर, दो साल से पाँच साल की उम्र तक प्रकृति इस प्रगति को मंद कर देती है। पहले साल के खिचाव के बाद यह भराव की अवस्था होती है। पाँच से सात वर्ष तक बच्चा फिर तेजी से बढ़ता है। यह खिचाव की दूसरी अवस्था है, जिसके बाद सात से ग्यारह वर्ष तक फिर भराव के लिए रखे गए हैं। उसके बाद एक बार फिर खिचाव होता है और उसी के बिलकुल बाद ही एक भराव का दौर और आता है जो उसे एक निखारा हुआ, उमंगवाला नौजवान बना देता है। इसका मतलब यह है कि प्रकृति अपना काम खूब ठोक-बजा कर करती है, इसीलिए कि यही तो उसको निधियों का स्वामी है और यही उसकी दुनिया का सरदार।

हाँ, बेचारी प्रकृति बहुत कुछ कर देती है मगर सब कुछ तो नहीं कर सकती इस नन्हीं-सी जान को दुनिया मे देवदूत की सत्ता पर पहुँचाने में इसके माँ-बाप, स्नेही-संबंधी और सारे इधर-उधर फैले हुए मानव-जगत् को भी बहुत कुछ करना होता है, और अक्सर इसी हिस्से में कसर हो जाती है और आदमी के सुपुर्द अपने बच्चों की शिक्षा और देखभाल का जो काम है, उसमें वह ऐसी-ऐसी असावधानियाँ कर बैठता है कि प्रायः प्रकृति का उद्देश्य पूरा ही नहीं हो पाता और उद्देश्य पूरा होना तो दूर रहा, हमारे देश में लाखों बच्चो को जन्म के साल भर के भीतर-भीतर ही इस दुनिया से विदा कर दिया जता है और लाखों को पाँच साल तक पहुँचने से पहले-पहले। जो बच रहते हैं, वे बाप की नादानी, नानी-अम्मा के लाड़-प्यार, की प्रयोगशाला बनते हैं। उनके मस्तिष्क में तरह-तरह की गुत्थियाँ डाल दी जाती हैं, जो जीवन भर सुलझाएं नहीं सुलझतीं। इनसे भी कोई बच निकले, तो मदरसों में एक-से-एक घाघ (बुकरात) उस्ताद पड़े हुए है, जो उन्हें आदमी बनाने की कोशिश में जानवरों से भी बुरी दशा पर पहुँचा देते हैं और जब ये दुनिया में परमात्मा के वै-व का उपभोग करने निकलते हैं, तब न इनका तन दुरुस्त होता हैं, न मन, न उत्साह, न उमंग, न साहस। न आत्मविश्वास, वे डरे-डर, सहमे-सहमे, हर चीज से भय, हर चीज पर संदेह, न किसी से लगाव, न किसी पर भरोसा, न

काम का शौक, न दिल-बहलाव का सलीका। कुछ करते भी हैं, तो गुलामों की तरह—सजा के डर से या ईमान के लालच से। अपने चारों ओर की यथार्थ परिस्थितियों से पराजित, न उनका सामना करने की क्षमता, ख्याली पुलाव पकाते हैं और हवाई मँसूबे गाँठते हैं—जिन्हें कदम-कदम पर जीवन के कटु सत्य छिन्न-भिन्न कर देते हैं। ये जीवन को सारहीन समझने लगते हैं और जीवन भी इनसे ऊब जाता है। दुनिया इनके लिए कारवास है और ये दुनिया के लिए अभिशाप होते हैं।

इस दुर्दशा को, और बड़ों के बाधक बनने से छोटों के जीवन को दुखमय और निस्सार होते देख कर, कुछ भले आदमी तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'बच्चों की शिक्षा के लिए कुछ करना ही न चाहिए। उन्हें अपने हाल पर छोड़ दो; तो कुछ-न-कुछ हो ही रहेंगे।" इस ख्याल में कुछ तो माँ-बाप और उस्ताओं की असावधानियों और भूलों पर वास्तव में रोष आता है। मगर साथ ही आजादी के फिलसफे की, नजरों को चकाचौंध करने वाली चमक का भी थोड़ा-बहुत मेल है, जिनकी तेज रोशनी कभी-कभी अँधेरे में रहने वाले गरीबों की रही-सही नजर को भी खत्म कर डालती है, और ये बेचारे अनजान शब्दों के गोरख-धंधे में फँस कर न इधर के रहते हैं, न उधर के। बच्चों पर तरह-तरह के बंधनों का दुष्परिणाम देख कर, बहुत से अच्छे समझदार लोगों से, उनको कम करने की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो वास्तव में उचित ही है। मगर इससे हमारे यहाँ के ख्यालों के उचक्के न जाने क्या समझ लेते हैं और लगते हैं प्रचार करने के बस बच्चों को उनके हाल पर छोड़ दो। तो, *निवेदन यह है कि हाँ, छोड़ सकिए तो जरूर छोड़ दीजिए।* मगर, आपका मुन्ना एक स्वस्थ बच्चे की सारी शक्तियाँ लेकर दुनिया में आया हो, तो यही कोई बीस-बाईस हजार साल की उम्र पाते-पाते वह सभ्यता और शील के उस स्तर पर पहुँच जाएगा, जिस पर कि आप मौजूद हैं, और अपनी वर्त्तमान स्थिति पर पहुँचने में, कहते हैं कि मानवता को लगभग उतना ही समय लगा है।

इसी बात पर मुझे एक कहानी याद आई। कहिए, तो सुना दूँ। मगर हाँ, आप इस वक्त तो मुझसे कुछ नहीं कह सकते, बस सुन सकते हैं खैर बिना कहे ही सुनिए। आप जानते हैं कि अमरीका के लोग दुनिया के सारे नए अमीरों की तरह हर चीज की कीमत बहुत पूछा करते हैं। एक अमरीकन करोड़पति एक बार ऑक्सफोर्ड पहुँचे। कहते हैं कि ऑक्सफोर्ड के हरे-हरे लॉन बहुत ही अच्छे हैं। अमरीकन करोड़पति साहब उन पर रीझ गए। फौरन जैसे किसी ने बटन दबा दिया तो-यह सवाल मुँह से निकला, "ऐसे लॉन कितने में तैयार हो जाएँगे?"

साथ में जो प्रोफेसर साहब थे, उन्होंने कहा, "मैं तो मानव-विज्ञान (Anthropology) के विभाग का अध्यक्ष हूँ, इन बातों को बिलकुल नहीं जानता, आप कहें तो माली को बुला दूँ। आप उससे मालूम कर लें।"

"बुलाइए।"

माली आया। करोड़पति साहब ने कहा, "हम बिलकुल ऐसा ही लॉन अपने यहाँ चाहते हैं, कितने में तैयार हो जाएगा ?"

माली ने कहा, "साहब। इसमें कितने का क्या सवाल है, कौड़ियों में तैयार होता है, कौड़ियों में। जमीन तो आपके पास होगी ही। जरा अच्छी तरह इकसार करा लीजिएगा, उस पर घास जमा दीजिएगा। जब घास जरा बढ़ जाए, तो उसे काट कर ऊपर से रोलर फिरा दीजिएगा। और बस यही काम, कोई पाँच सौ बरस तक करते रहिएगा। बस, ऐसा लॉन तैयार हो जाएगा।"

हाँ, तो इसी तरह अगर बच्चों को बिलकुल स्वतंत्र छोड़ कर कोई साहब उनको सही शिक्षा देना चाहें, तो उन बच्चों को कोई बीस हजार वर्ष तक जीवित रखने का उपाय भी कर लें। परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं और परमात्मा ने चाहा, तो उस अवस्था को पहुँचते-पहुँचते प्रत्याशित परिणाम निकल जाएगा। इस समय तक तो हमारा विचार यही है कि बच्चों को मदद की जरूरत है–निर्देश की जरूरत है—सहानुभूति और स्नेह की जरूरत है–समझने-समझाने की जरूरत है। इसमें संदेह नहीं कि काम कठिन है, पर केवल सरल काम ही तो करने के नहीं होते। पिछले दिनों बच्चों के शारीरिक विकास, उनकी मानसिक उन्नति और मनोवैज्ञानिक दशा के संबंध में बहुत कुछ छानबीन हुई है। अगर माँ-बाप और अध्यापक अपने काम के महत्त्व को समझें और सोचें कि मनुष्य की थोड़ी सी सावधानी से दुनिया में कितनी मुसीबत घट सकती है और कितनी खुशी बढ़ सकती है, तो वे जरूर उस छानबीन से लाभ उठा कर अपना काम समझ-बूझ कर पूरा कर दें।

इस वक्त उस छानबीन की विशेष चर्चा करने का मौका नहीं है। दिल्ली ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन से आप इस विषय पर कुछ-न-कुछ सुनते ही रहते हैं। भिन्न-भिन्न अवस्था के बच्चों के स्वास्थ्य के लिए क्या उपाय करने चाहिए, उनके लिए भोजन कौन सा उपयुक्त है, उनमें सोने-जागने, खाने-पीने, पेशाब-पाखाने के वक्त की पाबंदी की आदतें किस तरह डालनी चाहिए—ये बातें शायद आप इससे पहले सुन चुके हैं। मैं तो इस समय केवल उन्हीं गुत्थियों की चर्चा करता हूँ, जो अक्सर माँ-बाप और अभिभावक लोग अनजाने ही अपने बच्चों के मस्तिष्क में डाल देते हैं और

उनमें भी बस कुछ मोटी-मोटी बातों को। इस संबंध में सबसे ज्यादा याद रखने की बात यह है कि नन्हा-सा बच्चा भी अपना एक व्यक्तित्व रखता है, वह कोई बेजान चीज नहीं—खिलौना नहीं। जब लोग इसे गुड़िया से ज्यादा नहीं समझते हैं, तो यह उसी वक्त से चुपचाप अपने लिए कोई उद्देश्य—कोई मंजिल निश्चित कर लेता है और उस तक पहुँचने की बराबर कोशिश करता रहता है। सारी दुनिया को उस उद्देश्य की दृष्टि से देखता है और अगर अपने निकट की परिस्थितियों को गलत समझ कर यह उद्देश्य निश्चित कर लिया है, तो सारी दुनिया को गलत समझना पड़ता है। अपने छोटे होने, कमजोर होने, बड़े भाई से छोटे होने या चचेरे भाई की बदसूरत बहन होने—माँ-बाप के तुच्छ समझने यानी अपनी तरह-तरह की कमियों का इसे अनुभव होता है। यह अनुभव इसकी कल्पनाशक्ति को जागृत कर देता है और यह अपनी दशा को सुधारने और अपनी स्थिति के उन्नयन में लग जाता है। कमी या हीनता का अनुभव और हीन भावना के निवारण का प्रयत्न—ये दो चीजें इसके जीवन का केंद्र-बिंदु होती हैं। इनमें गलती होती है, तो सारा जीवन ही गलत राह पर पड़ जाता है। माँ-बाप की ओर से शिक्षा के संबंध से मूलतः गलतियाँ होती हैं, कि वे या तो बच्चे में कमी और घटियापन की अनुभूति बड़ी तीव्रता के साथ पैदा कर देते हैं या उसके निवारण के प्रयत्नों में स्वयं बाधक बन जाते हैं। इन्हें विशेष रूप से उकसा कर गलत रास्ते पर जाने देते हैं। कमियों का ठीक अनुभव हो और उनको पूरा करने के लिए ठीक उपाय भी हो, तो बच्चे का उचित रूप से विकास होता है। मगर, उनमें से किसी में अति हुई और संतुलन बिगड़ा। उदाहरण के लिए माँ-बाप की बातचीत से, उनके व्यवहार से, उनकी सख्ती से, उनके बुरा-भला कहने से, अगर बच्चे में अपने घटिया और हीन होने का अनुभव अधिक तीव्र हो जाए, तो यह उससे बचने के नित्य नए उपाय किया करता है, आगे बढ़ना चाहता है, और अच्छा बनना चाहता है, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। यह सब अपनी जगह पर ठीक है। लेकिन अगर यह चीज उचित सीमा से आगे बढ़ जाए, तो इसी से बच्चे में कीना-कपट और द्वेष-भाव पैदा हो जाता है। ऐसे बच्चे, अपने प्रतिद्वंद्वियों का —भाई या—बहिन का दूसरे बच्चों का, अहित चाहने लगते हैं, अपनी कदर बढ़ाने के लिए दूसरों की चुगलियाँ खाते हैं, उन पर झूठे आरोप लगाते हैं, उनके भेद खोल देते हैं और कभी-कभी तो ये बड़ा घातक और विद्रोही रूप धारण कर लेते हैं और ये नन्हें-नन्हें दूसरे बच्चों को शारीरिक हानि पहुँचाने से भी नहीं चूकते। कभी कभी यह होता है कि माँ-बाप और स्नेही-संबंधी भी बच्चे की आगे बढ़ने की आकांक्षा को अनुचित रूप से उभार कर, तीव्रता को दूसरे से बढ़-चढ़ कर रहने की इच्छा को, एक मर्ज

बना देते हैं। अपने बच्चे को दर्जे के इम्तिहान में अव्वल नंबर पर देखने की व्यर्थ की उत्सुकता, न जाने कितने भलेमानसों से यह सब कराती है। इस बनावटी प्रोत्साहन से बच्चे की मानसिक स्थिति में एक तनाव पैदा हो जाता है, जिसको वह अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। उस अधूरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जिस पर बड़ों ने उसका ध्यान जमा दिया है और जिसमें सफल होने पर इसे उनसे प्रशंसावाद मिल सकता है—यह बच्चा अपनी सारी शक्ति बस उसी पर लगा देता है। इम्तिहान में अव्वल आना है, बस किताबें हैं और वह है। न खेल की सुध, न व्यायाम का ध्यान। सारी दुनिया तज दी जाती है। कुछ दिनों तक यह दूसरों की उम्मीदों को पूरा करने में लगा रहता है, मगर उनकी बोझिल और एकांगी या सीमित आशाओं का भार इसके कमजोर कंधों के लिए असह्य हो जाता है। लेकिन, इसे दूसरों से प्रशंसा पाने का चस्का पड़ जाता है। इसलिए छोटी-छोटी महत्त्वहीन बातों में सफलता पा कर उनका विज्ञापन किया करता है और जब इसकी संभावना भी नहीं रहती, तो प्रायः बिलकुल नई और भिन्न राह अपना लेता है कि बिना लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किए इसे चैन नहीं पड़ता। सोचता है, बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा ? घर से गायब रहने लगता है, मदरसे से भागता है, मार-काट होती है—उसे भी मशहूर होने का एक साधन समझता है। इस जैसी मुसीबत में पड़े हुए और लड़के भी होते हैं। यह उनके गिरोह में जाकर मिलता है। उनकी सरदारी के लिए अपराधियों के से बुरे-बुरे काम करने पर उतर आता है और यह सब क्यों ? इसलिए कि बाप का बड़ा आग्रह था कि बच्चा पहले नंबर पास हो। मजा यह है कि अक्सर अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों यानी पढ़े-लिखे बापों के बच्चे इस मुसीबत में ज्यादा पड़ते हैं। यह शायद इसलिए कि इन धुरंधर विद्वानों को अव्वल नंबर पास होने वाले बेटे का बाप होना बहुत पसंद होता है।

इसके बिलकुल विपरीत एक भूल माँ-बाप और बड़ों से यह होती है, कि ये बच्चे को हीन और तुच्छ समझते हैं। अपना बड़प्पन जताने के लिए इन्हें बेचारा बच्चा ही मिलता है। बुद्धू है, गधा है गधा, निकम्मा है, किसी मतलब का नहीं—यानी बात-बात पर बरस पड़ते हैं, उसे शर्मिंदा करते हैं। सबके सामने उसके दोष गिनवाते हैं – उसका अपमान करते हैं। ये ही बच्चे जिन पर बड़ों की बड़ी देखरेख रहती है, बड़े होकर किसी चीज को अच्छा नहीं समझते, हरेक को उटकाते हैं। न किसी की तारीफ करते हैं, न तारीफ सुन ही सकते हैं। बचपन में इन्हें अपमानित किया गया था, अब ये उसका बदला लेते हैं और सबको बुरा समझते हैं। दुनिया से तो जैसे इनको अनबन होती है। बच्चे को बचपन में अपमानित और निराश करके बुजुर्ग उसकी सारी जिंदगी को दुखी और बेकार बना सकते हैं।

बचपन में कुछ मौके ऐसे आते हैं, जब कि बच्चे को अपनी कमियों का दूसरों से हीन होने का तीव्र अनुभव हो जाता है। यही समय बच्चे को सहारा देने का होता है। इस समय की थोड़ी सी भूल या असावधानी से उनके मानसिक जीवन को एक अपूरणीय क्षति पहुँच सकती है। इन मौकों की चर्चा आगे फिर किसी मौके पर कर दूँगा।

मेरी ये बातें सुन कर शायद कोई साहब कहने लगें कि यह अजीब मामला है—बच्चे की हिम्मत बढ़ाइए तो आप नाराज, उसे बुरा कहिए तो आप नाखुश। आप भी खूब आदमी हैं। हाँ, क्या कीजिए ? मामला कुछ यों ही है। न जरूरत से ज्यादा तारीफ बच्चे के लिए अच्छी है, न बेजा सख्ती, न इतना गिराइए कि फिर कदम ही न उठा सके, न इतना चढ़ाइए कि जमीन पर पाँव ही न रखे। छोटी सी बात है, अगर वह समझ में आ जाए। यानी बच्चे को ईश्वर का अंश समझिए। न वह आपकी संपत्ति है, न वह आपका खिलौना। वह तो आपके पास ईश्वर और मनुष्यता की एक धरोहर है। उसको जो सहज वृत्तियाँ प्रकृति ने प्रदान की हैं, उन्हें न बहुत उकसा कर बिगाड़िए, न बहुत दबा कर। और हाँ, इस बात का दूसरा पहलू भी याद रहे कि अगर बच्चा आपका खिलौना नहीं है, तो आप भी ईश्वर के अंश हैं बस कुछ अधिक अनुभवी। न आप उस पर जुल्म करें, न वह आप पर। न आप उससे खेलें, न वह आप से। दोनों को एक दूसरे पर भरोसा हो, प्रेम हो और अगर ईश्वर दे, तो आप में कुछ थोड़ी-सी और समझ। बस।

(यह भाषण १० मार्च, सन् १९३६ ई० को ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।)

बच्चों का विकास

(२)

कोई तीन हफ्ते हुए, मैंने आपसे बच्चों के विकास के बारे में कुछ बातें की थीं। बातें भी कुछ यों ही थीं और वक्त भी बहुत गुजर गया। इससे यकीन है, कि आप सब कुछ भूल गए होंगे। और मैं आज भी वही पुरानी कथा फिर-फिर दुहराऊँ, तो शायद ही कोई पकड़ पाए। मगर पास आगा साहब खड़े हैं, क्यों इसकी इजाजत देने लगे ? इसलिए कुछ और ही कहना पड़ेगा। मैंने उस बार बतलाया था कि बच्चे के, मानसिक जीवन में दो चीजों पर विशेष ध्यान देनें की जरूरत है। एक, उसके इस अनुभव पर कि वह औरों के कम है, और दूसरे, इस

कमी को दूर करने के लिए उसकी कोशिशों पर। इन्हीं दो चीजों से उसके मानसिक जीवन का साँचा बनता है, इन्हीं में उसे सहारे और निर्देश की जरूरत होती है और इसमें माँ-बाप से प्रायः गलतियाँ हो जाती हैं। आज मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि ये गलतियाँ आमतौर पर खास-खास मौकों पर ही होती हैं। अगर माँ-बाप इनसे सावधान हो जाएँ, तो शायद इन गलतियों से बचने में आसानी हो।

सबसे पहले तो उन गलतियों से बचने की जरूरत है, जो माँ-बाप इसलिए करते हैं कि उन्हें या तो अपने बच्चे के उन शारीरिक विकारों का ध्यान नहीं होता, जो वह साथ लेकर पैदा हुआ है, या मालूम होते हुए भी उधर ध्यान नहीं देते और उन कमियों के कारण बच्चे को जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं, उन पर कोई ध्यान नहीं देते। कितने बच्चे हैं, जो आँख के प्राकृतिक विकारों के कारण कभी सुगमता से लिख-पढ़ नहीं सकते—किसी को दोहरा दिखायी देता है, किसी के सिर में पढ़ने से दर्द होने लगता है। ये बच्चे जब पढ़ने-लिखने में औरों से पीछे रहते हैं, तो बजाय इसके कि इनकी असली मुश्किल को हल किया जाए, इन्हें बुरा-भला कहा जाता है, सजा दी जाती है। बच्चा अपनी लाचारी को समझता नहीं—सजा को जुल्म जानता है और अपने बस भर उससे बचने के नए-नए उपाय निकालता है या अपनी असमर्थता का विश्वास करके परिश्रम और लगन से हाथ खींच लेता है।

आपको यह सुन कर ताज्जुब होगा कि बच्चों में बहुत बड़ी संख्या प्राकृतिक रूप से ही बेंहथों की (बाएँ हाथ से काम करने वालों की) होती है। आप परखना चाहें, तो बच्चों के किसी समूह से कहिए कि अपने पंजे में पंजा डालो। जिन बच्चों का बायाँ अँगूठा सीधे के ऊपर हो, वे प्राकृतिक रूप से बेंहथे हैं। यह तरीका सौ-फी सदी सच्चा नहीं। लेकिन लगभग ठीक नतीजे बता सकता है। इन अनगिनत बेंहथे बच्चों को रहना-सहना है, बेंहथों की दुनिया में। गुजर करने को तो करते हैं, लेकिन इनकी कठिनाई पर विचार करना चाहिए और इनसे कुछ तो हमदर्दी जरूरी है। अगर आप हिंदुस्तान से, जहाँ सड़क पर बाएँ हाथ को बचते हैं, जर्मनी जाएँ, जहाँ दाहिने हाथ को बचना होता है, तो आपको इन गरीब बच्चों की कठिनाई का कुछ अंदाज हो सकेगा। महाशय! कदम-कदम पर किसी-न-किसी से माफी माँगनी पड़ेगी या डाँट सुननी होगी। अगर आप खुद अपनी मोटरकार चला रहे हों, तो खुदा जाने क्या गुजरे! मगर इससे बहुत ज्यादा मुसीबत इन बेंहथे बच्चों को आपकी बेंहथी दुनिया में उठानी पड़ती है। सीधे हाथ से लिखना सिखाया जाता है। जब अच्छा नहीं लिखते, तो बुरा-भला सुनना पड़ता है। क्या ताज्जुब है,

कि बहुतेरे भलेमानसों का लेख ऐसा खराब होता है कि लिखना भी, कुछ लोगों के बोलने की तरह भेदों को छिपाने का साधन बन जाता है, यह बात नहीं कि ये बच्चे कुछ कोशिश करके भी लिखने में निपुण नहीं हो सकते। कुछ प्रसिद्ध चित्रकार भी—जो सीधे हाथ से काम करते थे—वास्तव में वेहथे ही थे। मगर, जरूरत इसकी है कि बच्चों की कठिनाई को समझ कर उन्हें प्रोत्साहित किया जाए, न कि डांट-फटकार से इन्हें हठी बनाया जाए या निरुत्साह किया जाए। यही हाल आंख, कान के बहुत से विकारों का है।

जन्मजात विकारों के बाद बच्चे के भावी मानसिक विकास के लिए खतरे का एक समय वह होता है, जब इसका दूध छुटाते हैं। प्रायः जिस तरह धोखा देकर, डरा-धमका कर दूध छुटाते हैं, माँ इस समय जिस तरह बच्चे से छिपी-छिपी अलग-अलग होती है, जो अवसर सारे जीवन साथ नहीं छोड़ता। माँ की गोद और माँ का दूध, यही तो बच्चे के सारे आनंद और उल्लास की पूँजी थी, अब चालों से उसे इससे वंचित किया जाता है। तो, जिस पर बच्चों को सबसे ज्यादा भरोसा था, उस पर वह अब संदेह करने लगता है। दूध छुटाने के साथ यह जरूरी नहीं कि माँ बच्चे से अलग-अलग रहे, दूर-दूर भी रहे और उसे अपने स्नेह से और अपनी गोद के आत्मबल देने वाले भरोसे से भी दूर रखे। इस समय तो बच्चे से और अधिक स्नेह करने की जरूरत है, जिससे कि अपने जीवन के इस पहले परिवर्तन की अनुभूतियों के बीच आसानी के साथ गुजर सके।

एक और खतरे का वक्त वह होता है, जब बच्चा बोलना शुरू करता है। बोलना तो एक सामूहिक चेष्टा है और बोलने की क्षमता सामूहिक अनुभव से ही विकास पाती है। जो बच्चे दूसरों से बेझिझक मिलते हैं, वे जल्दी बोलना सीखते हैं, जो ठिठके-ठिठके अकेले रहते हैं, वे देर में। पर, बच्चों का यह ठिठकना और झिझकना अकारण नहीं होता। इसका कारण भी अपने पर भरोसे की कमी होती है। इसलिए यह जरूरी है कि इस समय बच्चों को मिलने-जुलने का मौका दिया जाए। इनकी हिम्मत बढ़ायी जाए और इनमें स्वावलंबी होने की आदत भी डाली जाए, खेल-कूद और सहल-सहल काम करने के मौके निकाले जाएँ, जिससे उनमें सफल हो कर इनका ढाढस बँधे और अपने पर भरोसा बढ़े और ये अपने घटिया होने के विचार पर और दूसरों से हीन बने रहने की दुर्बलता पर विजय पा सकें। कुछ माँ-बाप, विशेषकर मालदार, अपने बच्चों के ऊपर इतने नौकर-चाकर नियत कर देते हैं और लाड़-प्यार में इतनी अधिक देखभाल कराते हैं कि गरीब को अपनी जरूरतों को बतलाने का मौका ही नहीं मिल पाता। उसके बतलाने से पहले ही

ोई-न-कोई उसे पूरा करने को तैयार मिलता है। इसलिए वे अक्सर बहुत देर में ोलना सीखते हैं और वह भी कुछ यों ही। बदायूँ के वह मशहूर लल्ला, जो ाफी बड़ी उम्र तक अपनी अम्मा की उँगली थामें बाहर निकलते थे, इन्हीं मालदार ग्भागों में से थे। यही बात थी कि बड़े होने पर भी तुतलाते थे। किसी ने पूछा 'मियाँ साहबजादे, क्या पढ़ते हो?' तो शरमाए, चेहरा लाल हो गया, अम्मा के ाहँगे से मुँह आधा छिपा लिया और बोले, जी हाँ बोले, "अम्मा टू ही टह दे, बलूले ल्ले (बैलूले कुल्वे) पत्था हूँ।"

हकलाने की आदत भी अक्सर बिना किसी शारीरिक विकार के बचपन में, सी वजह से पैदा हो जाती है। दूसरों से मिलने-जुलने में किसी कमी के अनुभव रने से, दूसरों के अटकाने से और माँ-बाप के बुरा कहने से भी झिझक पैदा हो ाती है। यही कारण है कि बोलचाल के द्वारा दूसरों से मेल-जोल करने में कोई ुविधा मिल जाए, उदाहरण के लिए किसी लिखी हुई या याद की हुई कविता को ढ़ना हो और इस तरह की खुद सोचना न पड़े और सुनने वाले की ओर से ध्यान टा लेना संभव हो, तो हकलाने में बहुत कमी हो जाती है। अक्सर हकलाने वाले सें में बिलकुल नहीं हकलाते—खूब जल्दी और साफ-साफ सुनाते हैं। एकांत प्रेम ौर मुहब्बत की बातों में भी, कहते हैं कि हकलाहट जाती रहती है।""""लेकिन सरों से मिलने-जुलने की कठिनाई के अलावा और वजह हकलाहट की आदत पड़ ाने की यह होती है कि बच्चा हमेशा दूसरों का ध्यान अपनी तरफ खींचना चाहता । जो बच्चे शुरू से साफ बोलते हैं, उनकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता। पर, जिन च्चों की बोली में कोई त्रुटि या दोष होता है, उसकी तरफ सब ध्यान देने लगते । उसे छेड़ते हैं, उस पर हँसते हैं, उसकी नकल करते हैं, तो लाचार बच्चा भी पनी बोली की तरफ ज्यादा ध्यान देने लगता है और इस तरह बोलना और भी शिकल हो जाता है।

बहुत से काम जिन्हें आदमी स्वाभाविक रूप से निःसंकोच होकर करता है, गर उनकी तरफ ध्यान चला जाए, तो करना मुश्किल हो जाता है। इस बात पर झे अपने एक मित्र की कहानी याद आई। यह नार्वे के रहने वाले बहुत वृद्ध ादमी थे, कोई सत्तर-पचहत्तर की उम्र थी। कई साल हुए परलोक सिधार गए। हेंगे कि किस बात पर याद किया है? उनकी दाढ़ी बड़ी शानदार थी, ऐसी-वैसी हीं—बिलकुल टूडी तक और बहुत ही घनी—सफेद जैसे 'बुराक'। एक दिन रेल बैठे जा रहे थे। सामने एक महिला बैठी थीं और उनकी आठ साल की लड़की। ह बच्ची पहले तो कई मिनट तक हरनील जोन की तरफ देखती रही। फिर माँ

के कान में कुछ कहा। माँ मुस्करा कर चुप हो रही। उसने फिर भी माँ से पूछा, "पूछूँ ?" माँ चुप रही। फिर कहा "पूछूँ ?" तो माँ ने कहा "पूछ।" बच्ची हरनील जोन साहब के पास नम्रता से आकर खड़ी हुई और उसने कहा, "दादा अब्बा, एक बात पूछूँ ?" हरनील जोन ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा, "बेटी पूछो।" बच्ची बोली, "दादा अब्बा, तुम रात को सोते वक्त यह दाढ़ी लिहाफ के अंदर रखते हो या बाहर ?"

गरीब दादा अब्बा ने बहुत सोचा, मगर समझ में न आया कि क्या जवाब दें। आदमी सच्चे थे, कह दिया "बेटी, याद नहीं आता।" खुद कह रहे थे, कि उस दिन भर यही ध्यान रहा। रात हुई, सोने लेटा, तो पहले दाढ़ी लिहाफ के अंदर रखी, जी घबराया, बाहर रखी। फिर बेकली-सी रही। इसी अंदर-बाहर में तीन पहर रात बीत गई। आखिर उठ कर एक सोफे पर बैठा, पैरों पर कंबल डाल लिया, तो आँख लगी।

हाँ, तो हकले बच्चे भी जब अपनी बोली की तरफ ध्यान देने लगते हैं, तो उनके लिए बोलना और भी मुश्किल हो जाता है और कमजोर या किसी हीनता का अनुभव करने वाले बच्चों को, अपनी इसी नई कमजोरी से, बड़ों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का एक और साधन हाथ आ जाता है। इसी तरह अपनी कमी का अनुभव करने वाले बच्चे, जब कोई ठीक साधन अपनी कमियों को पूरा करने का नहीं अपना पाते, तो कुछ कमजोरों की नीति से ही काम लेते हैं और दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अनुचित उपाय सोचते हैं। जैसे यह कि काम में सुस्ती करने लगते हैं, बीमार बन कर पड़ जाते हैं, खाना नहीं खाते और कुछ नहीं बन पड़ता, तो बिस्तर पर पेशाब कर देते हैं, विशेषकर जिस खाने को माँ खिलाना चाहती है, उससे इनकार होता है। माँ की तरफ से खुशामद होती है, फिर धमकियाँ, फिर ठुकाई। इनका उद्देश्य सबसे पूरा होता है अगर औरों का ध्यान आकर्षित कर लिया। धीरे-धीरे खाने में अरुचि उत्पन्न हो जाती है और ये बच्चे कभी-कभी सच-मुच बीमार भी पड़ जाते हैं। बिस्तर पर पेशाब करने का कारण भी प्रायः कोई शारीरिक विकार नहीं होता। बच्चे का मसाना और आँतें ठीक होती हैं। यह तो माँ-बाप या अध्यापक का ध्यान आकर्षित करने की एक चाल होती है। इस पर दंड देने से हठ या ध्यान आकर्षित करने की सफलता उसे वह सब करने को उकसाती है, जो व्यवहार में आने पर धीरे-धीरे उसकी एक आदत बन जाती है। अगर इन परिस्थितियों में तिब्बी इलाज की जगह मानसिक चिकित्सा की जाए, यानी बच्चे की ध्यान आकर्षित करने की प्रवृत्ति को किसी और तरह नष्ट कर दिया जाए,

उसका विश्वास प्राप्त किया जाए, उसे प्रोत्साहित किया जाए, तो निःसंदेह बड़ी सफलता मिले। इसके विपरीत बच्चे को दूसरों के सामने शर्म दिलाना बड़ी गलती है। इससे बच्चे में अपने ऊपर भरोसा और कम हो जाता है और मर्ज घटने की जगह बढ़ता ही है।

फिर, बच्चे के विकास में एक बड़ी अड़चन तब और आती है, जब उसके दूसरे भाई-बहन पैदा होते हैं। जिस परिवार में बहुत से बच्चे हों, वहाँ सबसे बड़ा बच्चा बहुत दिनों तक अकेला बच्चा होता है। यह गौरव दूसरे बच्चों को नहीं मिल पाता। जब पीठ का बहिन-भाई पैदा होता है, तो इस बड़े भाई को ऐसा लगता है कि उस नवागंतुक (नौवारद) ने मुझे गद्दी से उतार दिया और इसमें माँ-बाप ने उस अजनबी की मदद और मेरा निरादर किया। वह अगर इस पर माँ-बाप से और नवागंतुक से नाराज होता है, तो क्या बेजा करता है? अगर खोए हुए महत्त्व को फिर पाने के लिए कोशिश करता है, तो क्या ताज्जुब? और यही होता है। मैं एक परिवार को जानता हूँ। उसमें दो बच्चे हैं, एक भाई, एक बहिन छः बरस छोटी है। भाई की उम्र ग्यारह बरस की है। बाप इंश्योरेंश कंपनी के एजेंट हैं। हमेशा दौरे में रहते हैं। विवाह के बाद चार साल तक निसंतान रहे। देवी-देवताओं की बड़ी मान-मनौती, तावीज, गंडों और इलाज के बाद बच्चा पैदा हुआ, इसलिए वह और भी माँ की आँख का तारा था। उसने जो चाहा, वही हुआ। बच्चे की माँ एक लिखी-पढ़ी सभ्य स्त्री है। बच्चे का सामान्य विकास अच्छा हुआ था। तीसरे दर्जे तक मदरसे में भी वह बड़े शौक से पढ़ने जाता था। सब इंतिहानों में बराबर पास होता था। लेकिन, इधर दो बरस से उसका हाल ही कुछ और है। माँ को तरह-तरह से तंग करता है, बाल खींचता है। मेहमानों के सामने तो खासतौर पर बदतमीजी करता है, कपड़े फाड़ता है, मैला रहता है, अध्यापक बराबर शिकायत लिख-लिख कर घर भेजते हैं। आप समझें कि मामला क्या है? बात यह है कि बहिन ने इसकी जिंदगी का साँचा बदल डाला। उसका आना ही इसे बुरा लगता था। जब वह तीन साल की हुई और अपने मीठे-मीठे बोलों से माँ-बाप का मन लुभाने लगी, यह मदरसे में रहता और वह माँ की गोद में। बाप भी दौरे से आते, तो उसी से बातें ज्यादा करते। यह इसे भला कब सहन था। अब यह उसे बहिन कैसे समझता? उसे दुश्मन समझता है—अपना प्रतिद्वंद्वी मानता है। इसकी गद्दी छिन गई। आप कहते हैं कि यह कोई उपाय न करे। उसी गद्दी को फिर से पाने के लिए यह नादानी की चेष्टाएँ करता रहता है। वे कोशिशें वास्तव में बच्चों-जैसी हैं। आपका जी चाहे इन पर हँसिए, मगर इसके दिल से पूछिए कि

उपाय आता है। ऐसी बदतमीज़ी से ही यह माँ का, बेवफाओं का ध्यान अपनी ओर खींचता है। अध्यापकों की खराब रिपोर्टों से खुश होता है, इसलिए कि एक बार किसी अध्यापक ने यह कह दिया कि तुम पढ़ते-लिखते नही हो, हम तुम्हारा नाम काट देंगे। तुम घर ही पर पढ़ा करो।" इससे उम्मीद हो गई कि मदरसे से मुक्ति पाकर घर पर रह सकूँगा, तो दिन भर वह दुश्मन बहिन माँ पर अधिकार न रख सकेगी। यानी इस बच्चे ने सारा जीवन इसी एक विचार पर केंद्रित कर दिया है। लेकिन क्या यह सब होना आवश्यक और अनिवार्य है, नहीं। अगर माँ बड़े बच्चे को, छोटे बच्चे को, छोटे के जन्म से पहले ही, इस घटना के लिए तैयार कर ले, तो इसमें बहुत कुछ कमी हो सकती है। फिर अगर दुश्मनी की इस संभावना का भी ध्यान रहे, तो वह अपने इस प्रकार वंचित होने को इतनी गहराई से अनुभव न करे। सभ्य और समझदार माताओं में यह विवेक होना चाहिए कि वे इस बड़े बच्चे के लिए उस नवजात शिशु के जन्म की घटना को एक प्रतिद्वंद्वी की नहीं, वरन् सचमुच एक भाई, दोस्त या साथी के आगमन की शुभ घटना का रूप दे दें।

अधिक बच्चों वाले परिवार में प्रायः इस बात से भी बच्चों की मानसिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है कि उनका स्थान उन बच्चों में क्या है? प्रायः सबसे छोटा बच्चा या तो सबसे तेज होता है या बिलकुल निकम्मा। कारण स्पष्ट ही है। यह सबसे कम उम्र का होता है, इसलिए सबसे आगे बढ़ना चाहता है। अगर क्षमता है और परिस्थिति अनुकूल है, तो यह तेज़ी से बढ़ता है और सबसे आगे निकल जाता है। अगर शक्तियाँ उत्साह का साथ नहीं देतीं, तो यह बिलकुल शिथिल होकर निराशा से कंधा डाल देता है। सबसे छोटे बच्चे के लिए खतरा भी है कि कुछ न हो, और यह संभावना भी कि सब कुछ हो जाए। इसकी अपेक्षा सबसे बड़ा बच्चा प्रायः शक्ति का पुजारी, बल-प्रयोग का समर्थक, सरकार और कानून का साथी होता है; क्योंकि इसने अपने पूर्ण महत्त्व की महिमा देखी है और जब दूसरे बच्चों के जन्म लेने से यह अधिकार या महत्त्व कुछ छीना गया, यह अब से उसे और भी कीमती समझने लगा है।

माँ-बाप अगर उन अवसरों पर जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, थोड़ी सावधानी से काम लें, तो बच्चे की जिंदगी में पेच न पड़ने पाएँ। आवश्यकता है स्नेह के साथ थोड़ी-सी समझ और थोड़ी सी जानकारी की, और हाँ धीरज की भी। स्नेह तो, कहते हैं, माँ-बाप का बच्चों से होता ही है, मगर ये पिछले तीन बातें प्रायः कुछ कम ही मिलती हैं।

(यह भाषण ८ अप्रील, सन् १९३६ ई० को ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।)

बच्चों का विकास

(३)

आपको याद हो या न हो, इससे पहले मैं बच्चों के विकास के बारे में आपसे दो बार बातें कर चुका हूँ। रेडियो का इतजाम कुछ ऐसा है कि बस आदमी अपनी सुनाता है — दूसरे की नहीं सुनता। मगर, अभी भगवान की दया से डाक का महकमा सलामत है, इसलिए यहाँ से पंद्रह मिनट बातें करके चले जाइए, तो यह नहीं कि बात आई-गई हुई। तीसरे ही दिन से खत आने शुरू हो जाते हैं और अजीब-अजीब, भाँति-भाँति के। बहुत से झूठ-मूठ की तारीख लिख भेजते हैं। कुछ लोग—किसी छोटी सी बात पर—जैसे यह कि दो शब्द आपने ऐसे बोल दिए जो उनकी समझ में जिनके लिए कोई पैमाना नहीं, नहीं आए—नाराज भी होते हैं। बहुत से लिखते हैं कि अब की बार यह बात जरूर कहिएगा, वह बात जरूर बताइएगा और हाँ; यहाँ तक कि जी चाहे तो हमारा नाम भी ले दीजिएगा। तो जनाब सुनिए। आपसे निवेदन है कि जिन्होंने ये खत लिखे थे, उन सबका जवाब देना तो मेरे बस की नहीं। तारीफ करने वालों को भी धन्यवाद, नाराज होने वाले साहब को भी धन्यवाद! मुझे यकीन है, या समझिए कि मैं देख रहा हूँ कि उनमें से एक साहब तो इस वक्त भी अपने रिसीवर के पास बैठे उसकी एक घुंडी को घुमा-घुमा कर मेरी आवाज को, जो कि पहले ही से बहुत अच्छी नहीं और खराब कर रहे हैं, और चाहते हैं कि जो शब्द इनकी समझ में न आए, वह कम-से-कम बहुत जोर से तो जरूर बोला जाए। भगवान् भला करे अलीगढ़ के मशहूर उस्ताद मौलवी अब्बास हुसैन साहब का, जो कहा करते थे कि "भाई किरत का फन (सस्वर-पाठ की कला) खत्म हो गया, खत्म। मेरे उस्ताद मरहूम इसके आखिरी जानने वालों में थे। कहा करते, "अगर 'काफ' का सही तलफ्फुज मटके के अंदर कर दूँ, तो मटका फट जाए।" तो जनाब बटन घुमाने वाले साहब आपसे निवेदन है कि मैं तो अपने देश के लोगों की सीधी-सादी भाषा बोलता हूँ। उसमें 'ऐन', 'काफ' कहीं-कहीं आ जाता है, तो उसे बुरा नहीं समझता— न आपको ही ऐसा समझना चाहिए, मेरा तो पढ़ने का ढंग भी हिंदुस्तानी है। मगर, फिर भी किसी 'काफ' का पढ़ना कुछ भी सही हो गया— तो आपके सेट का बल्ब तो फट ही जाएगा। बस, बात सुनिए और एक-एक शब्द के पीछे न पड़िए। परमात्मा ने चाहा, तो सब कुछ आपकी समझ में आ जाएगा। हाँ, जिन साहबों ने सुझावों का बहुत कुछ उपयोग किया है, चाहे इसमें वह हैदराबाद वाले साहब खुश हों या झाँसीवाले

दोस्त, बंबई वाले भाई, या ढाका वाले बुजुर्ग कि हमारे सुझाव का उपयोग हो रहा है। सच यह है कि उपयोग सबके सुझावों का हुआ है और खुद भी मेरा यही कहने का विचार था, यानी क्या ? लीजिए सुनिए :

मैंने अपनी पिछली बातचीत में यह बताया था कि बच्चे के प्रारंभिक जीवन में कुछ खास वक्त ऐसे होते हैं, जब उससे अपनी निकट परिस्थितियों और लोगों के समझने में चूक हो जाती है और क्योंकि वह बेचारा तो उसे चूक जानता ही नहीं—इसलिए उसी पर अपने जीवन की सारी इमारत उठाए चला जाता है। बुनियाद की ईंट की टेढ़-ऊपर तक जाती है और यह हमेशा उसको भुगतता है। जैसे मैंने बतलाया था कि जब बच्चे का दूध छूटता है—जब बच्चा कुछ बातें करना शुरू करता है—जब किसी सख्त बीमारी से उठता है— जब कभी उसका कोई भाई-बहिन पैदा होता है वगैरा, वगैरा, इन्हीं कठिन वक्तों में से पहले-पहल मदरसे भेजे जाने का वक्त भी है। जब बच्चा मदरसे जाता है, तो यों समझिए कि एक नई दुनिया में पैर रखता है। जीवन की सड़क के वे मोड़ जहाँ बड़ी होशियारी और सूझ-बूझ की जरूरत है, और जहाँ टकरा कर नुकसान उठा जाने का डर है—उनमें से एक सख्त मोड़ मदरसा भी है। जिस तरह दूसरे मोड़ों के लिए बच्चों को तैयार करके और उनकी कठिनाई को समझ कर खतरे को बहुत कुछ घटाया जा सकता है, उसी मोड़ यानी मदरसे के लिए भी बच्चे को तैयार किया जा सकता है। अगर पहले से ही बच्चे को दूसरों से मिलने-जुलने की आदत हो, अगर वह पहले से ही अपने ऊपर भरोसा करके और अपना थोड़ा-बहुत काम करना सीख चुका हो, अगर अध्यापकों के पास जाने से पहले ही मां-बाप के स्नेह और उनकी देखरेख में अपने भाई-बहन को अपना साथी बनाना जान गया हो, और यह उसे असह्य न हो— तो शायद मदरसे की दुनिया उसे उतनी निराली और अनजान न मालूम हो जितनी कि अक्सर होती है। लेकिन, होता यह है कि अक्सर इस तरह की तैयारी नहीं करायी जाती, बल्कि मुद्दतों पहले से बच्चे को मदरसे भेज दिए जाने की धमकी दी जाती है, मदरसे से 'हौए' का काम लिया जाता है—"खबरदार, ऐसा करोगे तो मदरसे भेज दिए जाओगे।"—अब्बा जी कहते हैं। अम्मा कहती है, "देखो यह काम कर लो, नहीं तो मदरसे भेज दूंगी।" बच्चे की कल्पना में इस डरावनी जगह का जो रूप बन जाता होगा, वह फिर कभी ऐसा नहीं बन सकता कि बच्चे के वहाँ पहुँचने पर उस जगह से आसानी से मेल खा जाए।

लेकिन, अगर बहुतेरों के लिए इस नादानी से मदरसे जाने और उससे फायदा उठाने का काम कठिन हो जाता है, तो ऐसे बच्चे भी जरूर होते है— और बहुत बड़ी

संख्या में होते हैं जिनका घर पर ठीक विकास होता है, और वे जब मदरसे जाते हैं, तो उस कठिनाई के लिए पहले ही से तैयार होते हैं। मगर क्या कहिए कि मदरसे पहुँच कर उनका रंग भी कुछ बदल जाता है और उनके विकास में भी ऐसी गुत्थियाँ पड़ जाती हैं, जो जीवन भर सुलझाए नहीं सुलझतीं। हमें इन दोनों प्रकार के बच्चों पर नजर डालनी चाहिए। आइए, पहले उन्हें लें, जो घर से अच्छे-भले आते हैं। मदरसा उनके लिए होआ भी नहीं होता और घर के विकास से वे कोई ऐसा दोष भी साथ नहीं लाते, जिसे न अपने जानने की वजह से मदरसे वालों से बच्चे के समझने और उसकी मदद करने में कोई कमी हो।

इन बच्चों के विकास में सबसे पहले तो मदरसे के सामान्य प्रबंध और अनुशासन और अनुशासन की सख्ती से उलझनें पैदा होती हैं। ये बच्चे जब मदरसे आते हैं, तो सब तंदुरुस्त बच्चों की तरह खेलने-कूदने, हँसने-बोलने की आदतें — अपने साथ लाते हैं। लेकिन, यहाँ का अनुशासन इन्हें घंटों चुपचाप वेहिले-डुले बैठने पर मजबूर करता है। यह जबरदस्ती से की हुई नेकी इन बच्चों को भला कैसे भी हो सकती है? मगर जबरदस्त मारें और रोने न दें। मदरसा इनके लिए एक मंदिर हो जाता है, जिसमें अनुशासन के इस विवेकशून्य और निर्दय देवता की पूजा इसके क्रूर पुजारी अध्यापक बच्चे से जबरदस्ती कराते हैं। यह इस वेईमानी जुल्म का मतलब नहीं समझता, न कोई इसे समझाता ही है। उस निर्दय देवता की उपासना में या तो इसके मन की सहज उमंग और जोश खत्म हो जाता है, जो बुझ जाता है, और यह भी और कमजोरों जलीलों, दबने वालों की तरह होते-होते उसका आदी हो जाता है या फिर उससे बचने के जो तरीके सोचता है, और जुल्म को जुल्म जानने के बाद उससे मुक्त होने की जो राहें निकालता है, उनसे हमेशा के लिए इसकी विकास की संगति और प्रगति में बाधा पड़ जाती है। अच्छे अध्यापक बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं को मारे बिना और उन पर बेजा सख्ती किए बिना ही, उनमें यह आदत डाल देते हैं कि हर बच्चा दूसरे के अधिकार का ध्यान रखे, अपनी स्वार्थ-भावना को समूह और मदरसे के लिए दबाना सीखे और दूसरों के विचारों और हितों का संमान भी करे। मगर अच्छे अध्यापक कम होते हैं और प्रायः अनुशासन में अनुचित कठोरता ही ठीक जँचती है। उन अध्यापकों में बहुतेरे गरीब ऐसे होते हैं, जिनका प्रारंभिक जीवन माँ-बाप की मार खाते और अध्यापकों की डाँट-डपट सहते कटा। अब हुकूमत का मौका मिला, तो दिल खोल कर हुकूमत करना चाहते हैं और यह मर्ज कुछ ऐसा है कि ज्यों-त्यों हुकूमत का मौका बढ़ता है, यह मर्ज बढता जाता है। बहुतेरे ऐसे होते हैं कि सुस्ती और

आलस्य का वजह से उत्साह और कर्मशीलता की कमी से, बस यही अच्छा समझते हैं कि काम एक ढर्रे पर ले। कौन हर वक्त नई-नई बातें सोचे और नई-नई समस्याएँ हल करे। ये डरते हैं कि अगर लड़कों में नई सूझ और आजादी को बढ़ाया, तो पल-पल पर नई तदबीरें करनी और नई राहें निकालनी होंगी और उनका दिमाग कहाँ ? इस मुसीबत में कोई क्यों पड़े ? लड़के वक्त पर आएँ, वक्त पर जाएँ, चुपचाप बैठे, सुनें और ये जैसे-तैसे सब किताबें खत्म करा दें और रजिस्टरों के काम को पूरे कर दें और तरक्की के लिए हेडमास्टर साहब की सिफारिश हासिल करें। बस, अल्ला-अल्ला खैर सल्ला। सच है, मशीन बनाना आसान है--आदमी बना रहना मुश्किल है। इसी 'तायिफे' में, इसी तरह के वे उस्ताद भी होते हैं, जिन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता। वे हर वक्त डरते हैं कि बच्चों के काम में जरा ढील की और ये काबू से निकले। उन्हें अनुभव तो होता है कि अपनी ऐसी कमियों का, पर बच्चों में एक विरोधी शक्ति का भूत देख-देख कर डरते रहते हैं। बच्चों पर इनका जुल्म सचमुच इसी डर का नतीजा होता है। ये अध्यापक उचित शिक्षा-विकास के विरोधी हैं और जिन मदरसों में ये लोग कर्त्ताधर्त्ता हैं, उनमें जिस दिन उचित शिक्षा-विकास का प्रबंध हो जाएगा, उस दिन चिरायते के बीज बोकर ईख की फसल भी काटी जाने लगेगी। ईश्वर को धन्यवाद है कि शिक्षा का काम करने वाले अब अनुशासन की असलियत को समझने लगे हैं और शायद वह दिन अब दूर नहीं, जब कि मदरसे का अनुशासन भी हर सच्चे अनुशासन की तरह खुद बच्चों के इरादे पर निर्भर होगा और उनकी प्राकृतिक क्षमताओं के विकास का साधन बनेगा, न कि उनके विनाश का कारण।

प्रत्यक्ष अनुशासन के भूत के अलावा मदरसों का प्रचलित पाठ्यक्रम भी बच्चों के विकास में बाधक होता है। मनुष्य-जीवन के इतिहास पर नजर डालिए, इसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यह जिन चीजों को पहले किसी काम का साधन बनाता है—होते-होते उसी साधन को खुद अपना लक्ष्य बना लेता है। साधन पास होता है और लक्ष्य दूर। बस साधन ही नजर में रह जाता है, लक्ष्य ओझल हो जाता है। अभावों की इसी कहानी में मदरसे का प्रबंध भी एक अध्याय है। इसने मदरसे अपनी आने वाली नस्लों के मानसिक विकास के लिए बनाए। इस प्रकार के विकास के लिए समाज ने अपनी बनाई हुई मानसिक (जहनी) वस्तुओं को साधन बनाया और ठीक बनाया। पर, होते-होते ये साधन खुद लक्ष्य बन गए। भाषा, साहित्य, इतिहास, गणित और धर्म—ये सब इसलिए मदरसों में पहुँचे कि बच्चे के विकास का साधन बनें। पर, अब वहाँ ये शासक हैं और बच्चा शासित। बच्चा

वहाँ इसलिए जाता है कि उनका बोझ उठाए इसलिए नहीं कि ये बच्चे का बोझ हल्का करे। अब कोई नहीं देखता कि इन साधनों से मानसिक विकास होता भी है कि नहीं। ये साधन तो पाठ्यक्रम की 'लाल किताब' में लिखे हैं। इन्हें कौन छेड़ सकता है? इनका प्रयोग करने से अध्यापकों को तनख्वाह मिलती है—मदरसे को सहायता मिलती है। यह कौन देखे कि इन विषयों के ऊँचे-ऊँचे ढेर के नीचे कितने होनहार मस्तिष्क घुट-घुट कर खत्म हो जाते हैं। जीवन भर शिक्षा-दीक्षा का काम करते हैं, पर, यह सोचने का मौका किसे मिलता है कि भला मस्तिष्क का विकास होता कैसे है। माना कि यह एक विरोधी बात है कि शरीर की तरह जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न गिजाओं से पलता और बढ़ता है, आदमी का मस्तिष्क भी उन चीजों से पलता-बढ़ता है और अपनी प्राकृतिक शक्तियों को बढ़ाता है, जो इससे पहले समाज में दूसरे आदमियों ने अपने मानसिक श्रम से उत्पन्न की थी। उन चीजों में भाषा और साहित्य भी है, रस्म व रिवाज भी हैं। ललित कलाएँ भी हैं, इमारतें भी, यंत्र भी हैं, कला और उद्योग भी —यानी सब कुछ जिसको पूर्वजों के मानसिक प्रताप ने कोई ऐसा रूप दे दिया है, जो उस मस्तिष्क तक पहुँचाया जा सकता है। वह सब उसके मानसिक विकास के लिए मौजूद है। इसलिए कि बनाने वाले के मस्तिष्क ने उसमें अपनी जो-जो शक्तियाँ निहित की हैं, सुला दीं हैं, वे सब उस बच्चे के मस्तिष्क में आ कर खिलती-जागती हैं, तो इससे उसका विकास होता है। याद रखने की बात यह है कि विकास या तरबियत के दस्तरख्वान पर जो अनगिनत गिजाएँ चुनी हुई हैं, हरेक मस्तिष्क उन सब को खा कर नहीं पनप सकता। कुछ उसे अनुकूल पड़ती हैं, कुछ नहीं। पर, ऐसा क्यों? वह यों कि उन चीजों में जो-जो शक्तियाँ छिपी हैं, जो ताकतें सोयी हुई हैं, वे जिस मस्तिष्क का प्रतिबिंब हैं, उसमें और उस बच्चे के मस्तिष्क के प्राकृतिक रूप में कुछ-न-कुछ समानता जरूर होनी चाहिए। इस उपयुक्त और अनुकूल स्वाभाविकता की ओस में बच्चे के मन की कली खिल उठती है और फिर उसके सारे जीवन को अपनी सुवास से सुवासित कर देती है। ऐसा ही सामंजस्य रखने वाले दीपक से उस बच्चे के हृदय का दीपक भी जल उठता है—जो फिर संसार के अँधेरे में डूबी हुई हरेक चीज को, हरेक जगह को प्रकाशित कर देता है। प्रत्येक हृदय इस प्रकाश को पाने का अधिकारी है, पर हरेक को यह अधिकार एक ही तरह से नहीं मिलता। किसी को यह प्रकाश कहीं से मिलता है, और किसी को कहीं से। किसी के मस्तिष्क का विकास साहित्य से होता है, तो किसी का मस्तिष्क गणित (रयाजी) से, तो किसी का खिलौना और यंत्रों से विकास पाता है। साहित्यिक प्रवृत्ति के मस्तिष्क को यंत्रों से और यंत्रों वाले को काव्य के द्वारा विकसित करने की कोशिश

करना विकास के महत्त्व की ही उपेक्षा करनी है। मदरसे का काम यह है कि बच्चों की मानसिक बनावट का अंदाज करके उस चीज या उन चीजों से इनके विकास की व्यवस्था करे, जो इसके लिए उपयुक्त हों, वर्ना हम रोज देखते हैं कि गलत कोशिशें केवल बेकार और बेसूद ही नहीं होतीं, बल्कि उन चीजों में असफलता मिलने से—जिनसे बच्चों का कोई संबंध नहीं, पर जिनका जुआ उसकी गर्दन पर बेकार रखा हुआ है—बच्चा हतोत्साह और निराश हो जाता है और मास्टर साहब के नंबरों और रिमार्कों और माँ-बाप की जी तोड़ने वाली चेतावनियों से अपनी कमियों का यकीन करके, उसकी कितनी ही असाधारण क्षमताओं का खून रोज हमारी आँखों के सामने होता है। अगर उस्ताद कामयाब कोशिश के जादू और सफल काम के तिलिस्म को समझता हो, तो जो कि मंद बुद्धि के बालकों तक को देखते-देखते कहीं-से-कहीं पहुँचा देता है, तो केवल पाठ्यक्रम की रस्मी पाबंदी से इस प्रकार उनकी क्षमताओं का ह्रास न करे। अध्यापक यह समझ लेंगे कि वे किसी ऐसे कारखाने के काम करने वाले ही नहीं, जिसमें से सब माल एक ही ठप्पे और एक ही मार्के का निकलना जरूरी है, बल्कि जो अनेक प्रकार की क्षमताएँ इनके हाथों सौंप दी जाती हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक उन्नत बनाने में योग देना इनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

इन बुनियादी गलतियों के अलावा मदरसों में अध्यापकों से कुछ और गलतियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे बच्चे के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन में एक बहुत ही साधारण भूल—पक्षपात और अन्याय की है। बच्चे जब अध्यापक ा अनुचित पक्षपात देखते हैं, तो उन पर बड़ों से कहीं अधिक इसका प्रभाव पड़ता है। वे अभी प्रारंभिक जीवन के निकट होते हैं और दुनिया के अन्याय का अनुभव न होने की वजह से उन्हें अपनी सादगी में यह चीज बहुत खलती है और चूँकि अध्यापक उनके लिए बड़ों की दुनिया का प्रतिनिधि होता है, इसलिए उस पर से भरोसा उठ जाता है और यों समझिए कि सब बड़ों की न्यायप्रियता की पोल उनकी नजर में खुल जाती है। बच्चे पर अध्यापकों के पक्षपात, अन्याय और धार्मिक कट्टरता का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि यह प्रायः जीवन भर दूर नहीं होता और मदरसे के बहुत से दूसरे अच्छे प्रभाव भी इस कटु अनुभव के कारण मिट जाते हैं।

फिर दंडविधान में भी अध्यापक से ऐसी गलतियाँ होती हैं कि उचित विकास का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दंड का अगर कोई शिक्षा और विकास-संबंधी महत्त्व है, तो बस यही कि यह एक प्रायश्चित करने का उपाय है, जिससे मन की खटक दूर हो जाती है। इसलिए दंड को कभी डराने-धमकाने का साधन न

बनाना चाहिए, बल्कि इसे अपराध के अनुभव से मुक्त करने का साधन होना चाहिए, वर्ना यह विकास की राह में बाधक होता है। उचित और हितकर दंड तभी संभव है, जब कि बच्चे को अपने अपराध का ज्ञान हो जाए, इस पर खेद और लज्जा का अनुभव हो और उसके मन में आप ही प्रायश्चित और पश्चाताप की भावना जग उठे, वरन् दंड फिर एक आतंक ही है, सुधार का साधन नहीं। और शारीरिक दंड, चूंकि प्रायः प्रायश्चित का रूप धारण नहीं कर सकता, इसलिए विकास के लिए सदा प्रतिकूल पड़ता है। शारीरिक डंड प्रायः बच्चों में अनादर की भावना पैदा करता है। किसी को अपमानित करके उनके शिष्टाचार की क्षमता और आत्मिक शक्तियों को उभारा नहीं जा सकता। फिर यह दंड शरीर को कष्ट देता है और शारीरिक कष्ट बिलकुल एक मशीन की तरह हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच ता है और आत्मा की सभी शक्तियों को विद्रोही बना देता है। विद्रोह का यह व दंड मिलने के बाद भी, विरोध के रूप में विद्यमान रहता है और इस तरह देने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इस तरह की और बहुत-सी गलतियाँ रसे में होती हैं, जिनसे बच्चे के मस्तिष्क का रूप गलत सांचे में ढल जाता है र वह फिर सारे जीवन को उसी के रंग में रंगना चाहता है।

ये सब आपत्तियाँ तो सभी बच्चों पर एक समान आती हैं, पर उनका क्या हाल पूछिए, जिनके लिए घरेलू विकास की कमियाँ मदरसे को बिलकुल नरक बना देती हैं। उन बच्चों में मदरसे से ज्यादा तकलीफ तीन तरह के बच्चों को होती है। एक तो घर के लाड़लों को, जिन्हें कभी इसका मौका नहीं मिला कि अपना कोई काम आप कर लेते, दूसरे बच्चों के साथ बराबरी का बर्ताव करते, मारते तो पिटते भी, कहते तो सुनते भी। हमेशा उनका कहा माना गया, उन्हें खाना किसी और ने खिलाया, कपड़े किसी और ने पहिनाए, मुँह-हाथ तक खुद धोने की नौबत न आई, कभी अकेले न सोए, बस वही मिर्जा फोया। दूसरे, मदरसे में उन बच्चों को बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं, जो घर पर लाड़-प्यार को तरसते हैं, सौतेली माँ के हाथों तकलीफें उठाते हैं, जिनसे नई माँ ने अब्बाजान की मुहब्बत भी छीन ली और इंसानियत पर से हमेशा के लिए उनके अब्बा का भरोसा उठा लिया। तीसरे, वे बच्चे हैं, जिनमें कोई शारीरिक विकार होता है। जिन बच्चों में शारीरिक विकार होते हैं—उनके विकास की कठिनाइयों के विषय में पिछली बार कुछ कह चुका हूँ। ये कठिनाइयाँ मदरसे जाते वक्त और बढ़ जाती हैं। प्रायः मदरसों में छात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि ऐसे विकारों की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। फिर अगर यह विकार चेहरे को या शरीर को कुरूप बनाता है, तो इस पर दूसरे

बच्चे नादानी में हँसते हैं, बेचारा मरीज कुढ़ता है और उन विरोधियों की दुनिया में बड़ा दुखी रहता है। यह जितना घबराता —दूसरे इसे उतना ही छेड़ते हैं, और आपस में सही मेल-जोल पैदा होने की राह बंद होती जाती है। अगर विकार आँख-कान का, या कोई छिपा हुआ विकार है, तो बहुत दिनों तक कोई पूछता नहीं। मगर, इससे बच्चे की पढ़ाई पर असर पड़ता है। वह फिसड्डी समझा जाता है, डाँट सुनता है, अपमान सहता है और यों इसके मस्तिष्क में उन तमाम बुराइयों के पैदा होने का सामान होता जाता है, जो अभावों की तीव्र अनुभूति के साथ पैदा होती है और जीवन को गलत राह पर डाल देती हैं।

लाड़-प्यार को तरसे हुए बच्चे दुनिया के प्रति यों ही अविश्वास करने लगते हैं। इसलिए इस नई दुनिया में भी वे हर चीज को संदेह से देखते हैं और यहाँ पर होती भी कुछ ऐसी स्वार्थपरता और उदासीनता है कि लाड़-प्यार की वह भूख जो ये साथ लाए हैं, यहाँ भी और तेज ही होती है और उसके शांत करने का साधन नहीं होता—और यों इनकी मानसिक गुत्थियों में और उलझन पैदा होने का ही डर बढ़ता है। लेकिन, सबसे ज्यादा तकलीफ मदरसे में 'लाड़ले मियाँ' और 'मिर्जा फोया' को होती है। ये आदी तो हैं कि सारा घर इनकी खिदमत में खड़ा रहे, पहुँचे मुसीबत के मारे मदरसे में। किसी ने धप जमाई, किसी ने धक्का दिया, किसी ने मुँह चिढ़ाया, लगे रोने तो सब हँसते। मास्टर साहब आए, तो यह समझे कि अब्बाजान की तरह बस हमें उठा लेंगे। बेचारे मास्टर साहब के जिम्मे शैतानों की एक पूरी फौज होती है। उन्हें उससे पार पाना मुश्किल है। उन्होंने बात भी न पूछी। बस, साहबजादे का संबंध पहले दिन से ही मदरसे से खराब हो गया और जैसा कि पहले बता चुका हूँ, इस गलत ख्याल पर आने वाली जिंदगी की सारी इमारत खड़ी होने लगी। लेकिन, क्या सब मुसीबतों का कोई इलाज नहीं ? देखने में तो यह मालूम होता है कि नहीं। दुनिया का केंद्र, ऐसा जान पड़ता है कि अविवेक पर स्थित है। मदरसे के रूप (माहियत) को बदलवाने की कोशिशें हो रही है, मगर कौन सुनता है ? शिक्षा—पाठ्यक्रम के अन्याय पर समझने वाले रोते हैं। मगर, जिनके हाथ में व्यवस्था होती है, वे इसे बस पागलों का प्रलाप समझते हैं। बच्चे बरबाद होते हैं किसी को कानोंकान खबर नहीं होती, जानवरों की तरह बच्चों को अध्यापक मारते हैं— किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगता। और बहुतेरे बच्चों पर मदरसे में जो आत्मिक और शारीरिक आपत्तियाँ आती हैं, उनका हाल बस उन्हीं का दिल जानता है। मैं हाल में एक किताब पढ़ रहा था, स्विटजरलैंड के एक विद्वान (Willi Schonaus) की लिखी हुई 'दि डार्क प्लेसेज ऑफ एडुकेशन'। इसमें

कोई ७८ प्रसिद्ध व्यक्तियों के निजी अनुभवों का संग्रह किया गया है कि उन पर मदरसे में क्या बीती ? पढ़ कर ख्याल होता है कि मदरसा किसी बड़े जालिम की ईजाद है। इसके दुःखों की याद उम्र भर दिल से नहीं मिटती। मगर, इस निराशा में आशा की बस एक किरण झाँकती है, वह यह कि अगर मदरसे में एक अच्छा अध्यापक पहुँच जाए, तो इस अँधेरी दुनिया को जगमगा देता है। खोखले आदेश, निस्सार निर्देश और मुआइने, रजिस्टर और डायरियाँ सब पड़ी रह जाती हैं और वह अपने व्यक्तित्व के चमत्कार से मुर्दों को जीवित और जीवितों को और अधिक स्फूर्तिमय बना देता है। बच्चों की उजाड़ दुनिया बस जाती है और मन की मुरझाई कली खिलने लगती है। मगर आप कहेंगे कि अच्छे अध्यापक होते कहाँ हैं ? 'याफ्तमी नश्वर जुस्ता एम' (जो चीज नहीं मिलती, मैं उसकी तलाश में हूँ) जी हाँ सच है, यह कम ही मिलते हैं, मगर मिलते जरूर हैं। मुझे भी कुछ अच्छे अध्यापकों के साथ काम करने का गौरव और सौभाग्य प्राप्त है। इसलिए मैं तो निराश नहीं। फिर कभी निवेदन करूँगा कि अच्छे अध्यापक होते कैसे लोग हैं ? बस, अब विदा !

(यह भाषण २६ अप्रैल, सन् १९३६ ई० को ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित किया गया।)

नन्हा मदरसे चला।

लीजिए, अब आपका नन्हा मदरसे चला। आदमी का बच्चा शुरू-शुरू में ऐसा बेबस होता है और बड़ा होकर मानवता के जिस स्तर पर उसे पहुँचाना होता है—वह इतना ऊँचा है कि उसकी शिक्षा में बहुत दिन लगते हैं और उसके विकास के लिए बड़े यत्न करने पड़ते हैं। इस शिक्षा और विकास के काम में आप यानी नन्हें के माँ-बाप अभिभावक अकेले जो कुछ कर सकते थे—कर चुके। अब शायद आप समझते हैं कि काम केवल आपसे न सँभलेगा। इसमें औरों की मदद की जरूरत है। इसलिए नन्हा मदरसे भेजा जाता है। लेकिन, शिक्षा और विकास का काम ऐसा मिला-जुला काम है कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ सभी ओर से सिमट कर बच्चे के व्यक्तित्व में इस तरह घुल-मिल जाती हैं कि उन्हें अलग-अलग करना कठिन है। मदरसा जब इस काम को अपने सिर लेता है, तब तक घर बहुत कुछ बना-बिगाड़ चुकता है। फिर मदरसे के सुपुर्द होने के बाद भी घर का प्रभाव मिट नहीं जाता। या तो घर और मदरसा साथ-साथ चलते हैं और एक दूसरे के काम को समझ कर हाथ बढ़ाते हैं, या वह एक तरफ खींचता है—वह दूसरी तरफ। उसकी ढोलकी अलग और इसका राग अलग।

अब जो नन्हा मदरसे चला, तो देखना यह है कि आप यानी माँ-बाप और अभिभावक इसे पहले से क्या बना चुके हैं? मगर, आप तो न जाने क्या-क्या हो सकते हैं? हो सकता है कि आप उन अभागों में हों, जिनके पास दूसरों का कमाया हुआ धन इतना होता है कि समझ में नहीं आता, उसका करें क्या? धन की विपुलता का बोझ प्रायः अक्ल की कमी से हल्का होता है। क्या अजब है कि आपका भार भी कुछ इसी तरह हल्का हुआ हो? अगर ऐसा हो, तो अनुमान यही है कि आपने नन्हें के विकास का कर्त्तव्य धन व्यय करके पूरा करना चाहा होगा। नन्हें के लिए अनगिनत बेकार नौकर होंगे और बेजरूरत सामान। तरह-तरह के कपड़ों से बक्स भरे होंगे, लेकिन शायद ही कोई पोशाक इस बच्चे के लिए उपयुक्त होगी। जूतों की लंबी कतारें होंगी और नन्हा अक्सर नंगे पैर रहता होगा। खिलौनों का एक अजायबघर होगा, जिनसे बच्चा कभी का उकता चुका होगा। यह नौकरों पर आपकी नकल करके जा और बेजा हुकूमत जताता होगा! घर में लाड़-प्यार करने वाली दादी और नानी होंगी, तो उन्हें खुश करने के लिए जब तक आपको भी कुछ उल्टा-सीधा सुना देता होगा। अपने हाथ-पाँव से काम करने की नौबत मुश्किल ही से कभी आती होगी; क्योंकि यह बड़प्पन की शान के खिलाफ है। बस, खाना खुद हज्म करना होता होगा, तो शायद यही काम ठीक पूरा न हो सकता होगा। बच्चा चिड़चिड़ा होगा, जिद्दी होगा, अशिष्ट होगा, अभिमानी होगा और अब यह मदरसे जाएगा। आपके किसी दोस्त ने बताया होगा कि अमुक मदरसे में भेजो, वहाँ फीस ज्यादा है, इसलिए मदरसा जरूर अच्छा होगा। आपको अगर फुर्सत मिली होगी, तो एक खत अंग्रेजी में हेडमास्टर के नाम लिख दिया होगा और कुँवर साहब दो-तीन नौकरों और एक-दो धायों के साथ आपकी बड़ी मोटर में बैठ कर मदरसे में पधारे होंगे। अगर नानी अम्मा ने एक हफ्ते अंदर-अंदर बच्चे को मदरसे से न उठा दिया, तो सच मानिए कि मदरसा आपके किए को अनकिया किए बिना अपना कर्त्तव्य मुश्किल ही से पूरा कर सकेगा, और फिर न मालूम कि घर कहाँ-कहाँ मदरसे की राह में रुकावट बनें।

हो सकता है कि आप उन स्वावलंबी मनुष्यों में से हों, जो अपने परिश्रम और योग्यता से आगे बढ़ कर अपने पेशे या कारोबार से विशेष महत्त्व प्राप्त करते हैं या किसी ऊँचे सरकारी पद पर पहुँच जाते हैं, आपको अवश्य यह चिंता होगी कि अपने बच्चे को अपने से और अच्छी शिक्षा दें। लेकिन, आपको खुद इतनी कम फुर्सत होगी कि उसकी देखभाल कोई दूसरा ही करता होगा। लेकिन, जिस तरह आप अधिक व्यस्त रहते हुए भी जीवन के सभी प्रधान क्षेत्रों, धर्म, अर्थनीति, राज-

नीति के संबंध में बस अंतिम निर्णय करना और उनका प्रचार अपने अल्पज्ञ और थोड़ी पूँजी वाले साथियों में करना आवश्यक मानते हैं और समझते हैं कि इससे अपने व्यस्त जीवन की एकांगी प्रवृत्ति में कुछ सीध पैदा करेंगे, इस तरह आप अपने बच्चों की ओर ध्यान न दे सकने की कमी को, इसके संबंध में और इसकी शिक्षा के साधनों के संबंध में खेद है कि बिलकुल अंतिम निर्णय पर पहुँच कर, पूरा करना चाहते हैं। आप क्योंकि एक सफल मनुष्य हैं, इसलिए अपनी दृष्टि में आप ही मनुष्यता के मानदंड (मयार) हैं। अगर आपकी दृष्टि में कहीं बच्चे का यह रूप अधिक ठीक जँचे कि वह आप ही की तरह सहज क्षमताओं का स्वामी है, तो शायद आपकी राय यह होगी कि आपका बच्चा 'जीनियस—प्रतिभासंपन्न है' इसकी समझ के क्या कहने, इसकी धारणाशक्ति का क्या पूछना ? इसे दो कविताएँ जवानी याद करा दी गई हैं, जो आप अक्सर इस गरीब से अपने मित्रों के सामने पढ़वाते हैं। यह उन्हें एक खास ढंग से सिर हिला-हिला कर और हाथ बढ़ा-बढ़ा कर सुनाता है। आपने स्वयं अत्यंत कृपा करके किसी इतवार के दिन इसे कुछ अंग्रेजी के वाक्य रटा दिए हैं। यह रटा हुआ भी इसे लोगों के सामने दुहराना पड़ता है। और, इन प्रदर्शनों के बाद आप अपने दोस्तों को यकीन दिलाते हैं कि यह लड़का तो जीनियस है, जीनियस ! मगर आपको कौन बताए कि यह इस ऊँचे मानदंड के अनुसार तो सारे तोते और सारे बंदर भी जीनियस हैं ! और अगर कहीं काम की अधिकता के कारण आपके रगपुट्ठे कुछ कमजोर हो गए हैं, जिगर का काम भी कुछ खराब है, और बदकिस्मती से बच्चे से कोई मन के विरुद्ध बात भी कई है; क्योंकि ऐसी दशा में मन के विरुद्ध बात करने के लिए किसी बड़े हुनर की जरूरत नहीं, तो आप अपनी सहज बुद्धि से इस ठीक नतीजे पर भी पहुँच सकते हैं कि वह गधा है। अपनी दूसरी रायों की तरह आप अपनी इस राय को भी वक्त बे-वक्त एलान करते होंगे और आदमी के इस बच्चे को गधा बनाने में अपने बस भर तो कसर उठा न रखते होंगे। और अब आपका यह जीनियस या आपका यह गधा अपने साथ बड़प्पन का मिथ्यानुमान या उससे भी अधिक हीनता का मिथ्या भाव लेकर मदरसे जाता है। देखिए, मदरसा आपकी पैदा की हुई उलझनों को किस तरह सुलझाता है और आपका हस्तक्षेप करना वहाँ भी कहीं और गुत्थियाँ तो नहीं डालता ? शायद आपका हरदम अपने काम में लगा रहना ही मदरसे को अपना काम करने दे और आपका जीनियस या गधा आदमी बन जाए।

लेकिन, संभव है कि न आप अतुल धन-दौलत के उत्तराधिकारी हों, न दिन-रात कमाई के सफल संघर्ष में लीन, बल्कि साधारण कोटि के ठीक भलेमानस हों।

अपनी दुकान रखते हों, किसी दफ्तर में सौ सवा सौ के नौकर हों, किसी मदरसे में अध्यापक हों, रोज कुछ समय अपने बच्चों में बिता सकते हों, घर का काम आपकी पत्नी आप सँभालती हों, नौकर-चाकर न हों, सभ्य और योग्य पत्नी घर को साफ-सुथरा रखती हो और बच्चों की भी देखभाल करती हो, तो आपका बच्चा फिर भी खतरों से सुरक्षित है, जिनकी चर्चा अभी कर चुका हूँ। मगर बच्चा फिर भी बच्चा है। कभी आपके साफ-सुथरे घर में कहीं कुछ गिरा देगा, घुली चांदनी मैली हो जाएगी, माँ जो रोटी-पानी में लगी है, उसे देख कर नाराज होगी और कहेगी, "अच्छा आने दे बाबूजी को अपने। कल ही तुझे मदरसे न भिजवाया तो....।" कभी उससे कोई चीज टूट जाएगी—वही मदरसे की धमकी। कभी खेल-कूद में बच्चा चिल्लाया— शोर मचाएगा, अभी कपड़े बदले गए थे—अभी धूल में सना माँ के सामने आएगा, तो वही मदरसे भेजने की धमकी दी जाएगी। धमकी का प्रभाव बढ़ाने के लिए, मदरसे की बड़ी भयानक तस्वीर भी सामने लायी जाएगी। और यों आज के दिन के लिए बथा ही खूब तैयारी की गई होगी, इसलिए कि आज आपका नन्हा मदरसे चला।

या हो सकता है कि आप हिंदुस्तान के उन करोड़ों किसानों और मजदूरों में से हैं, जिनके बच्चो के लिए बस घर का कठिन जीवन ही मदरसे का काम देता है। जिनके लिए मदरसे खोलने को कभी काफी पैसे नहीं मिल पाते और जिनके बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए इतने मदरसों की जरूरत है कि हर एक शिक्षा-विशेषज्ञ उंगलियों पर हिसाब लगा कर बता देता है कि इतने मदरसे खोलने के लिए जितने धन की जरूरत है, उतना तो मिल ही नहीं सकता। ये यह बात बता कर समझते हैं कि बड़ी दूर की कौड़ी लाए। फिर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अगर कुछ मदरसे इनके लिए बन जाते हैं, तो ये अपने बच्चों को इन मदरसों में भेजने को तैयार नहीं होते। मैंने यह गलत कहा कि आप शायद उन करोड़ों किसानों या मजदूरों में से हों। उन बेचारों को इतना समय कहाँ कि बेफिक्रों की तरह रेडियो पर भाषण सुनें। कहीं-कहीं शिक्षा के अनिवार्य हो जाने के कारण, कहीं इसके निःशुल्क हो जाने के लालच से, कहीं आसपास के लोगों की देखदेखी ऐसे किसान या मजदूर का नन्हा भी पढ़ने के लिए बैठा दिया जाता है। वह नन्हा, जो घर के कामों में माँ-बाप का हाथ बँटाता है, जो बकरियाँ चरा लेता है, खेत पर बाप के लिए रोटी ले जाता है, मां जब उपले थोपती या रोटी बनाती है, तो यह छोटी बहन को बहला लेता है। हाथ-पांव का बड़ा मजबूत है, बस आँखें दुखती हैं, या नाक बहती है। लेकिन आँखे मिला कर बातें करता है, बेसहारे जिंदा रह सकता

है, आदमी का बच्चा है। कोई मुरमुरों का थैला नहीं। और हाँ न यह जीनियस है, न गधा। मगर इसका बाप भी चाहता है कि बच्चा पढ़ कर पटवारी बन जाए। यह न हो सके, तो लाल पगड़ी वाला चपरासी ही सही। अनिवार्य शिक्षा का कानून इसके जिले के कुछ गाँवों में लागू हो गया है, इसलिए यह भी आज मदरसे जाता है।

अब आप ही देखिए कि कैसे भाँति-भाँति के बच्चे मदरसे जाते है। घर ने कैसे-कैसे नमूने बनाए हैं, क्या-क्या आशाएँ लगी हैं, और उन्हें पूरा करने का क्या उपाय है? माँ-बाप की मानसिक उलझन को देखिए, उनके नतीजे यानी बच्चों की मानसिक गुत्थियों पर ध्यान दीजिए, तो मालूम होता है कि मदरसे का काम भी कितना कठिन है। लेकिन, क्या मदरसे वाले इसे सचमुच कठिन समझते हैं? क्या उनका ध्यान अपने काम की इस कठिनता की ओर जाता है? उनकी ये कठिनाइयाँ तो सुनने में आई हैं कि वेतन कम है, काम बहुत है, अफसरों को सलाम झुकाने में या उसकी तदबीर में फुर्सत का और कभी-कभी काम का भी बहुत वक्त निकल जाता है, छुट्टियाँ कम हैं; अफसर लोग पक्षपात से काम लेते हैं, और कहीं-कहीं तो महीनों तनख्वाह भी नहीं मिलती। ये सब और इन-जैसी बहुत-सी शिकायतें सुनने में आती हैं, और प्रायः ठीक भी होती है। लेकिन, शिक्षा और विकास के काम की वास्तविक कठिनाई तो और ही है। यह कठिनाई वही है, जिसके कारण घर में विकास-संबंधी अनेक भूलें हो जाती हैं। यानी बड़ों का यह अभिमान कि वे ही सब कुछ हैं, बच्चा कुछ नहीं। ये सब कुछ जानते हैं, मंजिल जानते हैं, राह पहचानते हैं, सफर की गतिविधि निश्चय कर सकते हैं, काम उनकी इच्छा के अनुकूल हो, जिसकी अनेकरूपता के क्या कहने—तो सब ठीक। इसके खिलाफ हो, तो सब गलत। उन्हें घमंड है कि बच्चा उनकी संपत्ति है, वे चाहे मनोरंजन के लिए उसे अपना खिलौना बनाएँ, चाहे अपने मनमाने उद्देश्यों के लिए अपना दास। उन्हें अपनी बाजीगरी पर पूरा भरोसा है कि आम को इमली और इमली को आम बना सकते हैं। पहले बच्चा घर में लक्ष्य बनता है, इस बात का कि वह सबकी संपत्ति है, और फिर माँ-बाप की सर्वज्ञता के दंभ का। फिर कहीं मदरसे पहुँचता है। क्या मदरसा उसे इस मुसीबत से छुड़ा सकता है? क्या अध्यापक महोदय भी उस बीमारी के शिकार नहीं होते, जिसके कि स्वयं अभिभावक थे? क्या वे भी सब कुछ नहीं जानते और सब कुछ नहीं कर सकते? क्या वे भी यह नहीं समझते कि बच्चा उनके कुशल करों में, बस, मिट्टी का एक लोंदा है? ये जो आकार चाहें उसे दें और उसका मस्तिष्क जो एक कोरा कागज है, ये उस पर जो चाहें, लिख दें। यारों ने तो शिक्षा के विद्या-विषयक विचारों की पूरी

इमारत ही इसी गलत बुनियाद पर खड़ी कर ली है और शिक्षा की व्यवस्था बस इस अहितकर प्रयत्न से की जाती है कि प्रकृति जो चाहती है वह न होने पाए, या जो हम चाहते हैं—प्रकृति को भी वही चाहना चाहिए। प्रकृति तो हर बच्चे में व्यक्तित्व-निर्माण के अनगिन साधनों में से किसी एक विशेष साधन की सफलता चाहती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि हर बच्चा जो पैदा होता है, वह इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर अभी मानव से निराश नहीं हुआ है, वह और यहाँ पर यह धारणा बन चुकी है कि जो साँचा हमने तैयार किया है, बस वही सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्तित्व के मोम को पिघला कर बस उसी में ढालना चाहिए और जो ठप्पा हमने बनाया है, वही सबसे अच्छा है, उसी की छाप इस पर लगानी चाहिए। इस समय जब कि मैं बच्चों के अभिभावकों और उनके अध्यापकों को लक्ष्य करता हूँ, यह दिवेदन किए बिना नहीं रह सकता कि आप किसी तरह अपने को मौलिक भ्रांतियों से मुक्त कर लें, बच्चे को मनुष्य का अग्रदूत (पेशरू) समझें, उसे बे-सहारे खुद भी बढ़ने दें, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रवृतियों का संमान करें और समझें कि यह छोटा-सा जीव अपने विकास की क्रियात्मक पूर्ति की ओर खुद कदम उठाता है। इसे सहारा दीजिए, रास्ते से काँटे हटा दीजिए, मगर इसके चलने की दिशा तो न बदलिए। न इसकी ओर इतना अधिक ध्यान दीजिए कि यह फिर खुद अपनी ओर ध्यान ही न दे सके, न इतनी उदासीनता ही रखिए कि इसकी वे आवश्यकताएं भी पूरी न हों, जिनमें यह सचमुच आपके अर्ध न है। न लाड़-प्यार ज्यादती से इसे 'मिर्जाफोया' बानाइए, न ऐसा ही कि आपकी कठोरता के कारण यह जिंदगी या कम-से-कम आदमियों से घृणा करने लगे। मानसिक जीवन की अनेकरूपता को ध्यान में रखिए और यह विश्वास न कर बैठिए कि ऊँचे पदाधिकारियों या बड़े-बड़े वकीलों के सब बच्चों को ईश्वर खास तौर से गढ़ कर 'सिविल सर्विस' के इम्तिहान में बैठने के लिए ही दुनिया में भेजता है। सारांश यह है कि उन संभावनाओं के कारण, जो आपके बच्चे के मानसिक जीवन में अभी छिपी हुई हैं, उन मान्यताओं के लिए जिनका वह भार उठा सकता है-आप उसका आदर और संमान करें। जी हाँ, आप घबराएँ नहीं। मैंने यही कहा कि आप बच्चे का आदर और संमान करें। बेबस बच्चे से लेकर एक स्वतंत्र नैतिक व्यक्तित्व तक पहुँचने का प्रयत्न सचमुच बड़ा ही सराहनीय प्रयत्न है आपने स्वयं चाहे उस राह पर कदम उठाना छोड़ दिया हो, और थक कर कहीं बीच ही में बैठ रहे हों कि बहुत से आदमियों को उस मंजिल तक पहुँचने का सौभाग्य नहीं मिल पाता, लेकिन आपका बच्चा अभी उस राह पर पहले-पहले कदम उठा रहा है, उसका रास्ता तो न रोकिए और इस भ्रम में कभी न पड़िए कि वह आपकी संपत्ति है, आप जो चाहें, उसे बनाएँ। वह आपकी संपत्ति

नहीं। वह तो आपके पास प्रकृति की एक धरोहर है। प्रकृति के अधिकार को अपने अधिकार से अधिक समझिए।

अध्यापकों से भी, जिनके मदरसे में ये बच्चे इसलिए भेजे जाते हैं कि समाज की दृष्टि में घर (होम) शिक्षा-विकास के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता, मेरी यह प्रार्थना है कि आप भी अपने इस शुभ कार्य का भौतिक सिद्धांत उसी आदर और संमान की भावना को बनाएँ। यह सिद्धांत यदि आपके मस्तिष्क में बैठ गया, तो शिक्षा के काम में आपका सारा रवैया ही बदल जाएगा। आप अपने साथियों को भेड़ों का समूह न समझेंगे, बल्कि उसमें हर बच्चे की विशेष क्षमताओं और मुख्य आवश्यकताओं का ध्यान रखेंगे। मैंने आज ही बातचीत में पारिवारिक परिस्थिति के कारण बच्चों में जो भेद उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी ओर संकेत किया है कि आप अगर उन पर नजर रखेंगे, तो जहाँ सहारे की जरूरत है, वहाँ धक्का लग जाएगा, जहाँ हिम्मत बढ़ाने से काम बन सकता है, वहाँ आप मन-मुटाव का कारण बन जाएँगे, जहाँ आपकी एक मुस्कुराहट से बच्चे के दिल की कली खिल सकती थी, वहाँ आपकी उपेक्षा से उसके मुरझाने का डर पैदा न हो जाएगा। अगर बच्चे का आदर और संमान करना आपकी दृष्टि में एक उचित सिद्धांत होगा, तो आप अपने छात्रों की मानसिक उलझनों को समझने की कोशिश करेंगे और हरेक के लिए उचित उपाय सोचेंगे। इन सामुदायिक भेदों के अतिरिक्त बच्चों की मानसिक आवश्यकताओं में जो विभिन्नताएँ होती हैं, उन पर भी आपकी दृष्टि रहेगी तो आप कोशिश करेंगे कि जो प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक बच्चों में हो, उसी को समुदाय में भी शिक्षा का साधन बनाएँ। उदाहरण के लिए सात से बारह-चौदह वर्ष तक के बच्चों में अगर आप देखें कि वे हाथ के काम की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो आप शायद इस बात पर जोर न दें कि उनकी शिक्षा बस किताबों ही के द्वारा हुआ करे, कि बुजुर्गों की दृष्टि में किताबों का पढ़ना-पढ़ाना ही शिक्षा कहलाता है। छोटों के प्रति आदर-भाव तो स्नेह, आशीर्वाद और मृदुता का रूप धारण कर लेता है। यह सिद्धांत जो मैंने अभी बतलाया है, आप में बच्चे के लिए स्नेह और सहानुभूति उत्पन्न और धैर्य की वह शक्ति प्रदान करेगा, जो स्नेह के अतिरिक्त अध्यापक की सबसे बड़ी पूँजी है। आप बच्चों के अच्छे अध्यापक यानी प्रकृति की धरोहर के सच्चे अमीन बन जाएँगे और आपके परामर्श और आपके आदर्श से बच्चों के पिता और अभिभावक भी अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति समझ सकेंगे और अध्यापक और अभिभावक के सहयोग से शिक्षा और विकास का काम सचमुच सुचारु रूप से संपन्न किया जा सकेगा।

(यह भाषण ३१ मई, सन् १९४२ ई० को ऑल इंडिया रेडियो; दिल्ली से प्रसारित किया गया।)

८. संस्कृति की लौकिक और अलौकिक वस्तुएँ शिक्षा की आधारशिला हैं

डॉ० जाकिर हुसैन संस्कृति की लौकिक और अलौकिक चीजों को शिक्षा की आधारशिला स्वीकार करते हैं। हम संस्कृति के माध्यम से सच्चे राष्ट्रीय नवजागरण का युग लाने में समर्थ होंगे। मानव-मस्तिष्क के लिए ये वस्तुएँ प्रेरणा और शिक्षा की स्रोत हैं। डॉ० हुसैन का विचार है कि व्यक्ति का नैतिक और बौद्धिक प्रशिक्षण केवल राष्ट्रीय तथा मानवीय सभ्यता के तत्त्वों से हो सकता है और इनमें से भी एक सीमा तक व्यक्ति के लिए अपने स्वभाव और रुचि के अनुसार उचित तत्त्वों का चयन करना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसंग के संबंध में डॉ० जाकिर हुसैन लिखते हैं—"मस्तिष्क भी अपने विकास के लिए शरीर की भाँति भोजन चाहता है। यह भोजन इसे कहाँ से मिलता है? संस्था की संस्कृति से, उसके हस्तकला, भौतिक और आत्मिक क्षेत्रों से, उसके साहित्य से, उसके उद्योग और उसकी नैतिक व्यवस्था से, उसके रीति-रिवाजों से, उसके सामाजिक जीवन के उदाहरणों से, उसके गाँव, कस्बों और शहरों की व्यवस्था से, उसके संगीत से, उसकी दुकानों से, उसके कारखानों से, उसकी शासन की व्यवस्था से, उसके महान् व्यक्तियों के जीवन-आदर्शों से, भिन्न-भिन्न रचनाओं से, समाज के धार्मिक संस्कारों से, समाज के धंधों से, समाज की घरेलू जिंदगी के नमूनों से, समाज के गाँवों और शहरों के जीवन से, समाज की हुकूमत से, पाठशालाओं से।" इस प्रसंग में वे पुनः लिखते हैं: "शरीर के भोजन के समान मानसिक भोजन भी सबको एक तरह का रास नहीं आता। किसी को कुछ भाता है, किसी को कुछ और रहस्य इसका यह है कि हर मस्तिष्क को वही वस्तु भाती है जिसके मस्तिष्क की बनावट उसकी अपनी बनावट के अनुरूप हो। यही शिक्षा का आधारभूत गुण है। इसको भूलना या इसके विरुद्ध चलना बिलकुल ऐसा है, जैसे अंधे को रंग से और बहरे को ध्वनि से प्रशिक्षित करने का प्रयत्न। उदाहरणार्थ, इस आयु में बालक चाहते हैं कि कुछ बनावें-बिगाड़े, तोड़े-जोड़े, उनके हाथ काम के लिए बेचैन रहते हैं। उनके बौद्धिक विकास के लिए इस आयु में प्रकृति का प्रयास यही प्रतीत होता है कि वे हाथों की सहायता से सोचें, चीजों को प्रयोग में लाकर पहचानें और काम करके सीखें। यह बड़ी भारी भूल है कि हम इस आयु के बालकों के लिए बौद्धिक विकास की संभावना को अर्थात् रचनात्मक कार्य को उनके शिक्षण में स्थान नहीं देते।" डॉ० जाकिर हुसैन से एक अवसर पर प्रश्न किया गया कि क्या शिक्षा के नीचे वर्गों में कला, संगीत, गान, नृत्य तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यों का भी स्थान होना चाहिए? अगर हाँ, तो उसका समावेश कैसे किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आपने कहा था—

"कला, संगीत और नाच तथा गान का विद्यालय में अवश्य स्थान होना चाहिए। शैक्षिक क्रिया की प्रकृति के विषय में मेरे सारे सिद्धांत इस विचार को वदल देते हैं; क्योंकि ये संस्कृति के कुछ प्रमुख उपकरण हैं, जो व्यक्ति के मस्तिष्क को परिष्कृत करते हैं। संस्कृति के इन तत्त्वों को वच्चों पर प्रकट करने की आवश्यकता है। मैं केवल यही कहूँगा कि इन तत्त्वों को आरंभ में मुख्यतः भारतीय जीवन से ही लेना चाहिए। जो मेरा विचार है कि मानव-मस्तिष्क के अनुकूल सांस्कृतिक उपकरणों द्वारा ही मस्तिष्क की वास्तविक-शिक्षा हो सकती है, इससे स्पष्ट है कि देश के सांस्कृतिक उपकरण ही व्यक्ति के विकास के लिए सवसे उत्तम साधन हो सकते हैं। ऐसे भारतीयों की पीढ़ियों की शिक्षा की चिंता हम न भी करें, जो चित्रों और मूर्त्तियों की कला के प्रति आँखे बंद किए पड़े हैं, अपने संगीत के जादू की तरफ से आँखे मुँदे हैं, अपने देश की नृत्य-मुद्राओं और भंगिमाओं से अनभिज्ञ हैं। किंतु, शिक्षित होने वाले मस्तिष्क तथा शिक्षित करने वाले उपकरणों के वीच तालमेल और अनुकूलता के सिद्धांत को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। उसकी व्याख्या के लिए एक अतिशयोक्ति का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि हमें अंधे को चित्र द्वारा, वहरे या नीरस व्यक्ति को संगीत द्वारा शिक्षा देने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए।

"वास्तव में, जो कुछ मैंने कहा, वह तो स्पष्ट ही था। पर, मुझे भय है कि शायद कार्य और सांस्कृतिक क्रिया में भेद स्पष्ट करने के लिए प्रश्न पूछा गया था। मैं उस स्वेच्छाचारी विभाजन को नहीं मानता। अच्छी मेज वनाने का काम या उपयोगी कपड़े वुनना, अच्छी तरह सितार वनाना, गणित का प्रश्न हल करना, नैतिक विकल्प के मंथुन और गायन—ये सभी मेरे लिए सांस्कृतिक कार्य हैं और ये सभी अपनी सीमाओं में, शैक्षिक कार्य हो सकते हैं। मैं कला और संगीत का विद्यालय में समावेश करने में संकोच नहीं करता, वल्कि सचमुच उसका स्वागत करता हूँ। अन्य लोगों को भी विद्यालय में उपयोगी उत्पादक कार्यों के, जो सावधानी से आयोजित किए जाएँ, ईमानदारी से कार्यान्वित किए जाएँ, जिनकी स्वतंत्र आलोचना और उदार सराहना हो, समावेश के कारण घवराना नहीं चाहिए।"

६. क्रियाशीलता का सिद्धांत

डॉ० जाकिर हुसैन क्रियाशीलता के सिद्धांत (अनुभव) के समर्थक थे। शिक्षा में क्रिया का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत उन्हें पूर्णतः स्वीकार था। सचमुच देखा जाए, तो महात्मा गांधी के वुनियादी शिक्षा-दर्शन के एक वहुत वड़े सूत्रधार डॉ० हुसैन साहव क्रिया द्वारा ज्ञानोपलब्धि का समर्थन कैसे नहीं करते। क्रियाशीलता

के सिद्धांत का समर्थन करते हुए आप हमें बतलाते हैं कि शिक्षा में मुद्दतों से यह गलती होती रही है कि शिक्षा देने वाले समझते थे कि जो कुछ देना है वह देंगे, जो बनाना है, वह बनाएंगे। सारे मैटर रटा देंगे। सारी विद्या घोल कर पिला देंगे। बच्चा जैसे एक पैसिव बरतन है। उसमें जो चाहेंगे, वह भर देंगे। परंतु, होते-होते शिक्षा का काम करने वालों की समझ में यह बात आने लगी कि सच्ची शिक्षा भी तभी होती है, जब बच्चे का मन उधर झुके, जब बच्चे का मस्तिष्क उसे अपनाए, उसका अपना अनुभव बने, उसे जो दिया जावे, उस पर वह खुद भी काम करे, जो सिखाया जाएँ, उसे पचाए। डॉ० हुसैन ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि खाली किताबें रटवाने, हुक्म मनवाने से शिक्षा नहीं होती। ज्ञान की परिपक्वता के लिए यह आवश्यक है कि वह बच्चों का अनुभव बने। अनुभव उसे तभी होगा, जब वह स्वयं कुछ करेगा और सोचेगा। करने और विचारने की प्रक्रिया 'अनुभव' का आधार होती है। अनुभव और क्रियाशीलता एक दूसरे से सर्वथा संबद्ध हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है कि सिर्फ गुरुमुख से सुन लेने ही से विद्या में परिपक्वता नहीं आती, बल्कि गुरु से पढ़ लेने के बाद प्रथम स्वयं अध्ययन द्वारा, उसके अनंतर अध्यापन द्वारा और फिर प्राप्त विद्या का जीवन में व्यवहार करने से ही वह परिपक्व हो पाती है।[१] प्राचीन भारत की गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में इस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का पूरा आलंबन किया गया था। आज समस्त शिक्षाशास्त्री शिक्षा के इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं। पश्चिमी देशों में भी किताबी पाठशालाओं की जगह काम की पाठशालाओं का चलन हो रहा है। महात्मा गांधी ने ज्ञान को क्रिया का माध्यम बनाया है, वर्त्तमान युग के महान् शिक्षाशास्त्री डॉ० डिवी भी इस सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं कि ज्ञान अनुभव का परिणाम होना चाहिए। डॉ० जाकिर हुसैन ने भी शिक्षा में क्रियाशीलता के सिद्धांत को अपनाते हुए इन शब्दों में अपना विचार व्यक्त किया है—"ठीक शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे को उसकी दिलचस्पियों, उसके कामों और उसके शौक के सहारे शिक्षा दी जाए। वही पचती है, बाकी सब ऊपर-ऊपर की लीपपोत है।" क्रियात्मकता के सिद्धांत की सम्यक् विवेचना आपने अपनी पुस्तक 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण' में इस प्रकार करते हैं—

"एक प्रकार से, किसी युग में कोई भी विद्यालय विद्यार्थियों की किसी स्वक्रिया के बिना नहीं रहा है। पढ़ने-लिखने और हिसाब की कठोरता कसरत

१. चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवतिआगमनकालेन, स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति : महाभाष्य, पृष्ठ १०

में भी, तथा दूसरे की कृपा से किसी के मस्तिष्क में सूचनाओं का अंबार भर कर स्मृति में केवल उन्हें जमा रखने में भी कुछ स्वक्रिया रहा करती थी। किंतु, यह अधिक-से-अधिक एक आकस्मिक संसर्ग था; क्योंकि इसे न लक्ष्य माना जाता और न विशेष शैक्षिक महत्त्व का समझा जाता था। मैं समझता हूँ कि स्विट्जरलैंड के महान् शिक्षाशास्त्री पेस्तालॉजी के कारण शैक्षिक चिंतन और व्यवहार में, स्वक्रिया के सिद्धांत को अभिन्न अंग माना गया और उचित ढंग से इसे स्वीकार किया गया। अब तक प्रायः इसने सार्वभौम मान्यता प्राप्त कर ली है। किंतु, अपने रोज के अनुभव पर आप भी कह सकते हैं कि किसी सिद्धांत को मान लेना अक्सर सिद्धांत के लिए बहुत बुरी चीज होती है। अत्युत्साही समर्थक मूल सिद्धांत के पीछे निहित भावना का हनन कर देते हैं। छिपे स्वार्थों के कारण सिद्धांतों को मानने वाले कुशल संशयवादी, सिद्धांतों की कायापलट करना भी जानते हैं। उनको नष्ट करने के लिए यह उनके पास सबसे आसान तरीका है।"

'केवल नाम रखो, सार की चिंता छोड़ो' यही उनका गुप्त प्रण है। हमारे देश में ही अनेक अच्छे सिद्धांतों का नतीजा ऐसा ही हुआ है। खैर, पिछली शताब्दी में यूरोप तथा अमेरिका के विद्यालयों मे इस स्वक्रियात्मकता के सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ, यद्यपि मुख्य काम अर्थात् निष्क्रिय ग्रहणीयता की तुलना में यह क्रियात्मकता प्रायः काफी साधारण अंशों में ही रहती थी। निष्क्रिय ग्रहणीयता विद्यालयों का मुख्याधार थी। स्वक्रियात्मकता की यह साधारण खुराक भी बाहर से ही सक्रिय रूप में दी गई है। साधारणतः यह नहीं माना जाता था कि बच्चे या विद्यार्थी में समझने, बोध होने, काम करने और सिद्धि प्राप्त करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है, अपनी मानसिक बनावट द्वारा निर्धारित तरीकों से अपने को संलग्न रखने की सहज प्रवृत्ति। विद्यालय के लिए यह भी मानना बहुत कठिन रहा है और अब भी है कि शिक्षा छाप छोड़ने या बाहर से प्रणिधान करने की वस्तु नहीं है। सच्ची शिक्षा वास्तव में स्वशिक्षा है। किंतु, यही बात तो पेस्तालॉजी के ध्यान में थी। वस्तुतः उनके प्रसिद्ध जीवनी-लेखकों में से एक, प्रसिद्ध चिंतक पाल नेटोर्प ने उनके 'क्रिया-सिद्धांत' को, 'स्वच्छंदता का सिद्धांत' कहा है।

"फिर भी इधर एक प्रतिक्रिया ध्यान देने योग्य हुई है। यहाँ तक कि 'ग्रंथ-प्रधान' विद्यालय से 'कार्य-प्रधान' विद्यालय या 'जनता विद्यालय' की ओर जाने की मूल स्वस्थ प्रवृत्ति भी कभी-कभी विवेकरहित अतिशयोक्ति-सी लगने लगती है। उदाहरणार्थ, मैंने ऐसे बुनियादी विद्यालयों को देखा है, जिनके कार्यों का प्रधान केंद्र दस्तकारी के कार्य को माना जाता है, पर जहाँ उस अर्थ में है किसी प्रकार का

कोई कार्य नहीं होता और मैं ऐसे बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों से भी मिल चुका हूँ, जिन्होंने बहुत उत्सुकता तथा कुछ गौरव से कहा कि वे अपने विद्यालयों में कोई पुस्तक नहीं रखते; क्योंकि उनका विद्यालय तो वस्तुत: सक्रियता तथा कर्म के लिए है। मैंने उनसे यह नहीं पूछा कि किस प्रकार के काम वे अपने विद्यालय में लेते हैं—और मुझे विश्वास है, मेरी इस स्वीकारोक्ति पर आप मेरे प्रति हमदर्द होंगे। प्रथम महायुद्ध के बाद होने वाले शिक्षा-संबंधी प्रयोगों की अवधि में, मैंने—एक प्रसिद्ध जर्मन शिक्षाशास्त्री को अपने स्कूल के संबंध में यह कहते पाया "मेरे स्कूल में छात्राएँ ही सब कुछ करती हैं, शिक्षक कहीं सामने नहीं आते।" मैं शिक्षा के सभी चरणों में प्राकृतिक स्व-सक्रियता की माँग करता हूँ—उद्देश्य के निर्धारण में कार्य कि संगठन तथा कार्यविधियों के निरीक्षण में, निर्णय योग्य सभी प्रश्नों में, आवश्यक संशोधनों में, प्रक्रिया के मूल्यांकन एवं उसके फलों में, प्रत्येक विषय में उन्हें स्वतंत्रता देता हूँ, मेरा अपना अनुमान है कि इन वीरोचित अतिशयोक्ति की मनोदशाओं में मनुष्य यह भूल सकता है कि वास्तविक स्वतंत्रता की राह बहुत ज्यादा निर्देशित प्रयास के क्षेत्रों से होकर जाती है। बिना किसी निर्देश या अधिकार वाला स्कूल एक बुद्धिहीन तथा उससे भी खराब एक निष्फल प्रयास होगा। नहीं, संसार भर की सारी स्वच्छंदता के बावजूद, शिक्षा की ओर जाने का कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जो स्वत्व के ही चारों ओर घूमता रहे। संभावित से लेकर पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व तक में कोई ऐसा नहीं, जो समाज तथा उसकी संस्कृति के उपकरणों से होकर न गुजरे। केवल धीरे-धीरे और उचित चुनाव के साथ इनके साथ किए गए संपर्क में और इन्हें ग्रहण करने की क्रिया में व्यक्ति का मस्तिष्क जाग्रत होता है और अपने अस्तित्व के नियम को जानने में समर्थ होता है। बच्चे की रचनात्मक तथा स्वक्रियात्मक प्रवृत्तियों का पालन-पोषण पूर्व उपलब्धियों तथा उदाहरणों से प्राप्त, अनुशासन तथा शिष्टता के पालन-पोषण के साथ-साथ चलता है।

"इस स्थल पर मुझे ऐसा लगता है कि स्वक्रिया संबंधी विचार के प्रति संभावित गलतफहमी और अतिशयोक्ति का निर्देश करने में मैं जरा जल्दी कर गया। पहले मुझे यह स्पष्ट करना चाहिए कि एक शैक्षिक सिद्धांत के रूप में मैं 'स्वक्रियात्मक प्रवृति' का अर्थ समझता हूँ।

"चार प्रकार की क्रियाएँ मेरे ध्यान में आती हैं—खेल की क्रिया, दौड़-धूप या क्रीड़ा की क्रिया, यदाकदा की व्यावसायिक क्रिया और कार्य की क्रिया। खेल एक ऐसी क्रिया है, जिसका उद्देश्य स्वयंसिद्ध है। इसके बाहर कोई उद्देश्य नहीं है। खेल-खेल के लिए है। बच्चे के बाहर किसी वस्तु या उसके अंदर किसी

[गु]ण की उत्पत्ति इसका लक्ष्य नहीं है। अपना प्रतिफल वह आप ही है। जब भी [य]ह क्रिया मृगमरीचिका के आगे बढ़ती और कुछ धुंधले प्रकार के लक्ष्य अपनाती [दि]ख पड़ती है, तब भी वह लक्ष्य वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं हो पाता। खेलते [हु]ए बच्चे की कल्पना वस्तु के नियमों को नहीं मानती। वह किसी वस्तु को कुछ [भ]ी मान बैठता है। छड़ी को घोड़ा, कागज के टुकड़े को फूल, दूसरे टुकड़े को [फ]ूलदानी, अपने को शिक्षक, माँ को विद्यार्थी और दियासलाई को गुरुजी की छड़ी [म]ान लेता है और काम चलता है, बच्चा खुश रहता है।

"दूसरी ओर दौड़-धूप या क्रीड़ा की क्रिया कुछ उद्देश्य ले कर होती है, वह उद्देश्य किसी कार्य का या गति की योग्यता, बुद्धि या सुविधा का होता है। किंतु, क्रीड़ा भी अपने-आप से बाहर किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करती। उसका उद्देश्य *उसमें निहित होता है और खेल-कूद में चैंपियन बनने तथा रेकार्ड स्थापित करने* [मे]ं उत्कृष्ट निपुणता का बोध होता हैं। अगर क्रीड़ा को अन्य उद्देश्यों की ओर [ल]गाया जाए, उदाहरणार्थ धन-प्राप्ति के लिए, तब वह पेशा बन जाता है या यदि [स्]वास्थ्य के लिए इसका प्रयोग किया जाए, तो वह क्रीड़ा नहीं रह कर शारीरिक [व्]यायाम बन जाता है।

"इन दोनों के अतिरिक्त दूसरी दो प्रकार की क्रियाएँ यदाकदा की वृत्ति तथा कार्य, अपने से बाहर प्राप्त किए जाने वाले स्पष्ट निश्चित उद्देश्यों को रखती हैं। वे अपने-आप में अभी उद्देश्य नहीं हैं। वे कुछ विचारकों की साकार वस्तु-निष्ठ प्राप्ति की ओर लक्ष्य करते हैं। वस्तुनिष्ठ साकारता की पूर्णता तथा संबद्ध क्रिया में ही यदाकदा की वृत्ति तथा व्यसन (हाबी) के उद्देश्य होते हैं। लक्षित उद्देश्य की पूर्ण तथा उतम प्राप्ति में इनकी कोई अत्यधिक अथवा अति गहरी दिल-चस्पी नहीं। क्रिया की आनंददायक स्थिति जब समाप्त हो जाती है या जैसे ही काम किसी एक या अन्य रूप में पूरा होने पर होता है, यह क्रिया भी रुक जाती है—जो क्रिया खेल में उत्पन्न हो और केवल आकस्मिक वृत्ति से रुक जाए, वह नए कलाप्रेमियों के लिए एक विकास-साधन है। शैक्षिक प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य इस इस क्रिया को, चौथे प्रकार की क्रिया, अर्थात् 'कार्य' की ओर ले जाना है।

"मुझे भय है, कुछ देर के लिए मैं यह बताऊँगा कि कार्य, यदि शिक्षा का एकमात्र यंत्र नहीं, एक अत्यंत आवश्यक यंत्र है। अत्यंत आवश्यक यंत्र कहना भी आपको संभवतः एक विशेष अतिशयोक्ति लगे। किंतु, आशा है कि इससे आपका यह संदेह दूर होगा कि मैं बिना सोचे-समझे सभी कामों को शिक्षाप्रद ही मानूँगा।

हमारे देश के अधिक-से-अधिक लोगों के भाग्य में काम, कठिन और दुरुह शारीरिक परिश्रम का काम बदा है, फिर भी दुर्भाग्यवश कोई भी यह नहीं कह सकता कि उनको अच्छी शिक्षा दी गई है, यह और बात है कि उनमें से कुछ लोग बिना साक्षरता की छलावापूर्ण कुशलता प्राप्त किए ही अनेक शिक्षित कहाने वालों से कहीं अच्छी तरह शिक्षित हैं। हां, सभी काम शिक्षाप्रद नहीं होते, यद्यपि शिक्षाप्रद कार्य वास्तविक शिक्षा के सबसे बड़े साधन हैं। मेरे इस परस्परविरोधी कथन के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि मैं यह बताऊँ कि शिक्षाप्रद कार्य से मेरा क्या तात्पर्य है अर्थात् वह कार्य जो व्यक्तित्व और चरित्र के निर्माण में तथा मस्तिष्क को सुसंस्कृत बनाने में सहायक हो।

"इस संबंध में सबसे पहले हमें यह समझना है कि शारीरिक श्रम, चाहे वह कितनी उत्सुकता, दिलचस्पी और मेहनत से किया जाए, तब तक शिक्षाप्रद कार्य नहीं बन सकता, जब तक वह किसी प्रारंभिक क्रिया से उत्पन्न नहीं होता। कार्य की दिशा में यह मानसिक क्रिया, एक आवश्यक तथा निर्णयात्मक कदम है। कुछ शारीरिक कार्यों में यही वह आवश्यक उपकरण है, जो उन्हें शिक्षाप्रद कार्यों का रूप देने में सहायता पहुँचाता है। हस्तकार्यों के विकास के साथ ही उस प्रथम बौद्धिक निर्णयात्मक कदम में संशोधन, परिष्कार या परिवर्तन की आवश्यकता आ सकती है, किंतु यह प्रारंभिक बौद्धिक कदम हमेशा समस्त शिक्षाप्रद कार्यकर्त्ताओं के मानसिक हस्तकार्यों से पहले आएगा। जीवन से अलग शुद्ध यांत्रिक कार्य कभी शैक्षिक हो नहीं सकते। निकट अनुकरण भी शैक्षिक नहीं हो सकता, जब तक कि कम-से-कम जिस चीज का अनुकरण करना है, उसकी समझ-बूझ पहले न हो जाए।

शैक्षिक कार्यों की साधारणतः चार अवस्थाएँ हैं—१. वस्तुतः क्या करना है, इस समस्या का स्पष्ट ज्ञान, २. कार्य की योजना की तैयारी के उपयुक्त साधनों का चुनाव, विभिन्न अवस्थाओं का जिनमें कार्य का संपादन होना, चिंतन, ३. कार्य का वास्तविक कार्यान्वयन और ४. वास्तव में क्या करना है, इस प्रश्न के समक्ष किए गए कार्यों के फल की स्वयं समीक्षा। इन्हें प्रत्यक्षीकरण की चार अवस्थाएँ कहा गया है।

"शैक्षिक प्रकृति वाले हस्तकार्य में केवल तीसरी अवस्था कार्यों का वास्तविक कार्यान्वियन हस्तात्मक है, अन्य तीन मानसिक उद्यम संबद्ध है। जो कार्य हस्तात्मक नहीं हैं, उनकी चारों अवस्थाएँ, मुख्यतः मानसिक क्रियाओं से संबद्ध हैं। इस मानसिक क्रिया का जो किसी हस्तात्मक कार्य के साथ होती है या निश्चित चुनाव द्वारा किसी नैतिक समस्या के समाधान या सैद्धांतिक समस्या के समाधान के साथ

जाती है, विशेष मूल्य है; क्योंकि यह क्रिया मस्तिष्क को प्रशिक्षित कर देती है, ताकि बाद में भी जब ऐसे अवसर आएं, तब मस्तिष्क इस प्रकार की समस्याओं का समाधान आसानी तथा अधिक विश्वास के साथ कर सके। यह क्रिया तार्किक विचार-प्रणाली में निपुणता तथा प्रणाली को विकास प्रदान करती है। यह यद्यपि शिक्षा की पूर्णता नहीं है, फिर भी इसकी ओर प्रगति का यह एक महान् कदम है; क्योंकि चिंतन की प्रक्रियाएं उसी स्तर पर स्थित रहने नहीं दी जा सकतीं, जिस पर वे बचपन की प्रारंभिक अवस्थाओं में अपने को प्रकट करती हैं। बच्चा अपनी शिशु अवस्था में ही अपने सदा विकसित होने वाले अनुभव-भांडार में एक प्रकार की व्यवस्था लाना शुरू कर देता है। बच्चे के बोलने और विचारों तथा वस्तुओं के शब्द-रूपों का व्यवहार करने के बहुत पहले ही सादृश्य भेदकरण और पहचान की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जैसे ही वह अपनी स्वतः क्रियात्मकता के लक्ष्य से अभिज्ञ हो जाता है और साध्य तथा साधन के भेद की जानकारी प्राप्त कर लेता है, वह केवल साध्य साधन के उचित संबंध की स्थापना की आवश्यकता ही अनुभव करना नहीं शुरू करता, बल्कि कारण और प्रभाव, वास्तविकता और बाह्य रूप, पूर्णतया एवं अंश इसी प्रकार के स्पष्ट संबंधों की स्थापना की खोज करना आरंभ कर देता है। अनुभव के आधार पर स्थापित ये संबंध सत्य हैं कि नहीं, संबद्ध विचारों के प्रतीक संदिग्ध हैं या नहीं, तथा उसी प्रकार के अन्य विचार, अभी तक बच्चे को परेशान नहीं करते। क्या और कहाँ, क्यों और कहाँ से जैसे उसके प्रश्नों की बौछार बिल-कुल छिछले उत्तरों से भी कुछ समय के लिए बंद हो सकती है। वह केवल उत्तर के लिए जिद्द करता है; क्योंकि उसके द्वारा स्पष्ट और तार्किक संबंध का स्थापन हो जाता है, जिसकी उसे तलाश होती है। बच्चा निष्कर्षों पर पहुँचने की कोशिश करता है और उनको संयुक्त कर अपने नियमित फैसले तैयार करता है बिना इसकी परवाह किए हुए कि उसके निष्कर्ष संगत और न्यायोचित हैं या नहीं? बिना किसी उचित अनुशासन के, बिना प्रक्रिया को विशेष विश्वस्त बनाने की चेष्टा किए ही, उसका एक प्रकार तर्कपूर्ण चिंतन होता है।

"इसके विरुद्ध शुद्ध तर्कशास्त्र और गणित में तार्किक प्रक्रिया का व्यवहार विधिवत् होता है। यहाँ चिंतन कठिन समस्याओं का जो अनिवार्य रूप से निश्चित प्रस्तावनाओं से उद्भूत हैं, समाधान करता है। ये या तो स्वयंसिद्ध होती हैं या पहले ही इनकी सत्यता सिद्ध हो चुकी है। गणित और तर्कशास्त्र, ये दोनों ही प्रमाणित स्वयंसिद्धि से आगे बढ़ते हैं और स्पष्ट विचारों से काम लेते हैं, जिनका प्रतिनिधित्व

निश्चित प्रतीकों द्वारा किया जाता है। अपना विचार वास्तविकता से उधार नहीं लेता, बल्कि अपने कोष में से उन्हें पैदा करता है।

फिर, मनुष्य को अनेक तथा विविध वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है, जिन्हें वह अपने मस्तिष्क से नहीं उत्पन्न करता और जिनका अनुभव वह धीरे-धीरे अपने कार्यों और व्यवहारों में करता है। इस बाहरी वास्तविकता का उपयोग करने के लिए उसे इसको भेदना होगा। इसके लिए उसे तार्किक चिंतन के औजार की आवश्यकता पड़ती है, जो स्पष्ट संबंध स्थापित करने के अतिरिक्त संश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक निर्णय करने में भी सहायक होता है। उसे निष्पक्ष चिंतन की आदत की आवश्यकता है, जिसके लिए सावधानीपूर्ण प्रशिक्षण होना चाहिए। बच्चे की प्राकृतिक और आसानी से संतुष्ट होने वाली तार्किक प्रक्रिया को एक सुव्यवस्थित तथा आत्म-आलोचनात्मक प्रक्रिया के रूप में विकसित करना होगा; क्योंकि चिंतन की आदत किसी भी हालत में बनेगी ही। अगर सतर्क चिंतन की आदत विकसित न की जाए, तो बिलकुल छिछले और जल्दबाजी के चिंतन की आदत पड़ जाएगी। अगर सभ्यता की जांच के लिए निर्णय को रोक रखने की आदत नहीं डाली जाती, तो किसी बात को सुनते ही सच समझ लेने की या संदेहास्पद अविश्वास की आदत पड़ जाएगी। गुणों की निश्चितता चिंतन-क्रिया में सावधानी, दृढ़ता और परिपूर्णता जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए, उनके व्यवहार :का अवसर प्रदान करना आवश्यक है। इस मानसिक क्रिया की कार्यान्विति की शर्तों की, बुद्धिजीवी ग्रंथ-प्रधान विद्यालयों, साथ ही व्यावहारिक कार्यप्रधान विद्यालयों द्वारा उपेक्षा की जा सकती है और की जा रही है। कोई भी स्कूल उनके कार्यक्रम में चाहे जिस पर भी जोर दिया जाए, वह शिक्षा का स्थान तब तक नहीं बन पाएगा, जब तक वह इस प्रकार की मानसिक क्रिया इस प्रकार के कार्य के लिए पर्याप्त सुविधाएँ न प्रदान करे।

"वे विद्यालयों को जानकारी हासिल कराना और कौशल के विकास की शिक्षा देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। अगर बराबर नहीं तो अक्सर इस आवश्यक मानसिक कार्य को अपना प्रधान कर्त्तव्य न मान, इसकी उपेक्षा करते हैं। शैक्षिक संस्थाओं से संबंद्ध कुछ व्यक्ति मेरे इस विचार को जान कर, जिनका मैंने पहले ही प्रतिपादन किया है, चौंकेंगे कि जानकारी और कौशल शिक्षा के पर्याय नहीं हैं। और फिर भी आपको चौंकाने का जोखिम अपने ऊपर ले लूंगा; क्योंकि जो कुछ मैंने कहा है, उसमें मेरा विश्वास है। दरअसल जानकारी और कौशल तो शिक्षा के विश्वसनीय मापदंड भी नहीं हैं। उन्हें इस प्रकार सेवा योग्य बनाने के लिए हमलोगों को एक विभाजक रेखा खींचनी होगी। जानकारी, जैसा आप साधारणतया जानते

हैं, दो प्रकार की हो सकती है । यह किसी दूसरे के मानसिक श्रम द्वारा प्राप्त ज्ञान हो सकता है, जो हमलोगों को तैयार जानकारी के रूप में दिया जा सकती है अथवा ज्ञान जो हमलोगों के अपने अनुभव द्वारा प्राप्त होता है, ज्ञान जो निजी प्रयासों द्वारा हमलोगों के मस्तिष्क में उत्पन्न होता है । उसी प्रकार कौशल भी दो प्रकार के हो सकते हैं । यह यांत्रिक कौशल हो सकता है । इसकी प्राप्ति उस अनुकरणात्मक परिश्रम द्वारा होती है, जिसके फलस्वरूप वर्त्तमान मूल्यों की आवृत्ति होती है । अथवा वह स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित अयांत्रिक कौशल भी होता है, जो नए मूल्यों का निर्माण करता है । प्रथम प्रकार की जानकारी और कौशल बाह्य योग है । दूसरे प्रकार की जानकारी और कौशल आंतरिक रूपांतर और संपन्नता है । प्रथम प्रकार, बाहरी वृद्धि का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरा आंतरिक विकास का द्योतक है । प्रथम निदेश है, दूसरा शिक्षा । प्रथम ऊपरी चमक है, दूसरी अनिवार्य संस्कृति । प्रथम और द्वितीय प्रकार के विद्यालयों में प्रधान अंतर, उस प्रकार के मानसिक कार्यों की सहज अनुपस्थिति या फिर अति स्पष्ट व्यवस्था है, जिनके स्वतः स्वीकार किए जाने पर सतर्क और संपूर्ण चिंतन की प्रवृत्ति का विकास होता है ।

"आपको याद होगा कि मैंने शिक्षा के चौथे सिद्धांत अर्थात् प्राकृतिक क्रिया की व्याख्या के आरंभ में कुछ अतिशयोक्तियों की, जो इस सिद्धांत के साथ सुनी जा सकती हैं, चर्चा की । इन अतिशोक्तियों में से एक की माँग यह है कि अच्छे विद्यालय में प्राकृतिक क्रिया ही एकमात्र क्रिया हो, और यांत्रिक कौशल तथा परंपरागत ज्ञान का निषेध किया जाता है । मेरी समझ में यह अतिश योक्ति पूर्णतः गलत है और इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि प्रत्येक बच्चा एक सुसंस्कृत समाज में उत्पन्न होता है । स्वेच्छापूर्ण स्वाभाविक कार्य के उद्देश्य मानो मनुष्य के संपूर्ण अस्तित्व को आच्छादित करते हैं और स्वाभाविक उद्देश्य की प्राप्ति के काम में व्यर्थ की शिथिलता को रोकने के लिए वह पर्याप्त परंपरागत ज्ञान और यांत्रिक कौशल की प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं । इसलिए शिक्षा में, परंपरागत ज्ञान का तथा यांत्रिक कौशल का हमेशा अपना स्थान रहेगा । लेकिन, तभी जब कि प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा प्राप्त किए गए अथवा प्राप्त किए जाने वाले ज्ञान की खाई पाटने के लिए या जब रचनात्मक कार्यों द्वारा प्राप्त हुए अथवा प्राप्त होनेवाले कौशल की खाई पाटने आएँ । परंपरागत ज्ञान और यांत्रिक कौशल के द्वारा शैक्षिक कार्य को निरंतर दृढ़ करना आवश्यक है ।

"मैंने यहाँ पर कार्य के शैक्षिक मूल्य जैसे इसके वर्णन की चेष्टा की है । इसके विषय में एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य प्रश्न उठाना चाहता हूँ । इसके संबंध में

मैंने जो सबसे अधिक दावा किया है—और यह कोई छोटा दावा नहीं है—कि यह मानसिक क्रिया का सुअवसर प्रदान करता है केवल जिसकी सहायता से ही शिक्षार्थी में सावधानीपूर्ण फलप्रद तथा तार्किक चिंतन की अत्यंत आवश्यक आदतें डाली जा सकती हैं। कुछ मानसिक क्रियाओं का यह विधिवत् प्रशिक्षण है। यह मानसिक एवं बौद्धिक कौशल उत्पन्न करता है। यह फल उत्पन्न करने वाले काम को चाहे फल कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, क्या सचमुच शैक्षिक कहा जा सकता है? मुझे भय है, मैं इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में नहीं दे सकता। कौशल और गुण को वास्तविक शिक्षा का फल केवल उसी हालत में माना जा सकता है, जब वे प्राप्त किए जाएँ और जब पदार्थ विषयक मूल्यों में उनका उपयोग हो। फलतः दोषरहित और तार्किक चिंतन की कुशल आदतें ऐसे आदमी में हो सकती हैं, जो कभी अपने बाहर की किसी चीज से प्रभावित नहीं हुआ है, जो अपने संकीर्ण दायरे से कभी बाहर नहीं आया हो, जिसमें उच्च विचार कभी न जनमे हों, जो कभी उत्कृष्ट उद्देश्य के प्रति उत्साहित नहीं हुआ हो और जिसने प्रेम द्वारा कभी महानता न पाई हो। वह आदतें उनमे भी हो सकती हैं, जो समाजविरोधी तथा अपराधपूर्ण उद्देश्यों के लिए इनका प्रयोग करें। शिक्षित मनुष्य का विशिष्ट गुण संस्कृति के उपकरणों की ओर उसकी ठोस प्रवृत्ति में है अर्थात् चरम निरपेक्षित मूल्यों की ओर उसकी प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति, शैक्षिक तथा निदेशात्मक क्रिया का इच्छित फल होना चाहिए।

कर्सेंस्टाइनर ने, जिनके नाम से अब आप परिचित हो चुके हैं, अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ (बेग्रिफफ डेयर आरबाईटशूलें) में ठीक ही कहा है कि सच्चे अर्थ में शिक्षित व्यक्ति में पाँच स्पष्ट लक्षण होते हैं। मैं उन पाँचों लक्षणों को अनुवाद में नहीं, स्वतंत्र वाक्य व्याख्या में प्रस्तुत करूँगा। हरेक में मैंने अपनी ओर से नकारात्मक कथन भी जोड़ दिए हैं।

१. वस्तुओं और व्यक्तियों से संबद्ध मूल्यों के प्रति, शिक्षित व्यक्ति का बौद्धिक क्षितिज विस्तृत होता। उसकी आँखों पर पर्दा नहीं होता।

२. वह जीवंत मुक्त विचारों वाला व्यक्ति होता है और नए मूल्यों और विचारों को ग्रहण कर सकता है। वह जड़वादी नहीं, संस्कृति से बेरुख नहीं।

३. नैतिक विकास की दशा में उसे अंत:प्रेरणा होती है और स्वयं में पा अपने चारों ओर की दुनिया में वह पूर्णता की ओर निरंतर बढ़ता चलता है।

४. वस्तुओं के मूल्यों एवं संबंधों के प्रति उसका रवैया नर्म तथा बहुग्राही

है, रूढ़िवादियों या नौकरशाही वाले सख्त तथा कठोर रवैया-जैसा नहीं। वह लकीर का फकीर नहीं।

५. चूंकि उसका मूल्य-संबंधी अनुमान बिल्कुल निरपेक्ष मूल्यांकन के आधार पर होता है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण देता है कि इसमें एक केन्द्रीय मानसिक प्रकाश है, जो उसके सारे कार्यों विचारों तथा भावनाओं को प्रकाशित कर देता है। वह अंदर से खोखला तथा दूसरों के कामों में टाँग ऊड़ाने वाला व्यक्ति नहीं।

कर्सेन्स्टाइनर ने इन गुणों का सारांश शिक्षा की एक सुथरी परिभाषा में दिया है, जो इस तरह है—"संस्कृति के उपकरणों द्वारा जाग्रत व्यक्तिगत रूप से संगठित मान्यों की भावना। जैसा आप देखेंगे मुख्य जोर संस्कृति के उपकरणों पर दिया गया है; क्योंकि उन्हीं में ये निरपेक्ष मान्यताएँ संमिलित और संचित की जाती हैं। इन्हीं के द्वारा विकसित होता हुआ मस्तिष्क इन मान्यताओं का अनुभव कर सकता है और संस्कृति के उपकरणों में सोयी हुई संचित शक्ति परिवर्तित होकर चेतन मानस की चलायमान शक्ति बन जाती है। इन मूल्यों का अंगीकरण तथा पालन ही निरपेक्षिता है, व्यक्ति के आत्मिक मूल्यों का उचित निरपेक्षित मान्यताओं के अधीन करने की स्वीकृति। संक्षेप में हम यों कहें : हाथ या मस्तिष्क का ऐसा कोई भी कार्य जिसमें कार्यकर्ता निरपेक्ष रहना चाहता है, शैक्षिक कार्य है। ठीक ही कहा गया है कि निरपेक्षिता नैतिकता है; क्योंकि नैतिक आचरण इसके अलावा और क्या है कि मन का निजी झुकाव तथा हितों से ऊपर निरपेक्ष मूल्यों को माना जाए? निरपेक्षिता का उद्देश्य है—मान्यताओं की संपूर्ण प्राप्ति। निरपेक्षिता का दूसरा नाम अवैयक्तिकता है।

"किंतु व्यक्ति अपनी क्रिया में किस तरह इस निरपेक्ष प्रवृत्ति को अपनाता है? किस तरह कोई सच्ची शिक्षा की राह पर खड़ा किया जाता है? आपको शायद याद हो, इस बातचीत के सिलसिले में कुछ पहले हम लोगों ने चार प्रकार की क्रियाओं का भेद माना था। १. खेल, २. क्रीड़ा (दौड़-धूप) ३. आकस्मिक अथवा अनियमित कार्यवृत्ति तथा ४. उद्योगपूर्ण कार्य। इन सभी प्रकारों में कर्त्ता किसी-न-किसी तरह के अनुरूप अथवा प्रतिरूप मूल्यों का अनुभव करता है। ये सभी, कर्त्ता में किसी-न-किसी प्रकार के कार्य के विकास की चेष्टा करते हैं। किंतु, यदि आपको इन चारों क्रियाओं की निजी विशेषताएँ याद हों, तो आप मेरी इस बात से सहमत होंगे कि उन सभी में केवल 'काम' ही है। जो कुछ परिस्थितियों में शिक्षात्मक मूल्य रख सकता है; क्योंकि केवल उद्योगपूर्ण कार्य में ही कार्यकर्त्ता न केवल फलप्राप्ति

का लक्ष्य रखता है, बल्कि लक्षित फल को यथासंभव संपूर्ण तथा उत्तम भी बनाना चाहता है। अपूर्ण, असावधानीपूर्ण बेतरतीब काम, और चाहे कुछ भी हो शैक्षिक तो कदापि नहीं हैं। मैंने 'संपूर्ण लक्ष्य' की बात कही है—दोषरहित लक्ष्य की ओर संपूर्णता अथवा दोषहीनता स्वयं ही सर्वोच्च विधिवत् मूल्यों में है। और कार्यों की अपेक्षा कुछ कार्य संपूर्णता के मूल्य के अनुभवों को धीरे-धीरे प्राप्त करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। ऐसे कार्यों में यह आसान है, जिनके फलों के समक्ष कर्त्ता आसानी से अपनी सफल आलोचना कर सकता है। उादहरणार्थ, टेकनिकल कार्यों को यह लाभ असाधारण रूप में प्राप्त है।

जो स्कूल कार्य को शिक्षात्मक बनाना चाहता है, उसके किसी भी ऐसे काम को अति पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, जिसके अंतर्गत यह अपने विद्यार्थियों को संपूर्णता के मूल्य-संबंधी सुखद तथा स्फूर्तिदायक अनुभवों की प्राप्ति के बहुत काफी अवसर देता है किसी चीज मे, किसी काम में, चाहे यह जितना भी छोटा हो, यथासंभव संपूर्णता लाने और जब तक संपूर्णता की यह प्रवृत्ति, निरपेक्ष उद्देश्यों में नहीं बल्कि स्वकेंद्रिक उद्देश्यों में आरंभ होगी। किंतु संपूर्णता की प्राप्ति के अनुभवों की बहुधा पुनरावृत्ति के कारण इस प्रवृत्ति का भी रूपांतर हो जाएगा। ज्यों ही ऐसा होता है, संपूर्ण अथवा शुद्ध फलों की प्राप्ति के प्रत्येक साधन की प्रकृति जानने की प्रेरणा बड़ी प्रबल हो जाती है। इन साधनों में क्या है? साधारणतया ये चीजें हैं — संस्कृति के विविध उपकरण कोई टेकनिकल (तकनीकी) प्रयोग अथवा कोई विदेशी भाषा या विज्ञान की कोई शाखा या कुछ व्यक्तियों की जीवनी या किसी कवि की कृतियों का अध्ययन इत्यादि-इत्यादि। इन साधनों पर अधिकार पाने की प्रवृत्ति के द्वारा विद्यार्थी इनके निकट संपर्क में आ जाता है। अब वह उन मान्यताओं को जो इन उपकरणों में मौजूद हैं, अनुभव करता है। वे मूल्य जो उसके मस्तिष्क के संस।।र क्षेत्रों को जगा कर क्रियारत कर देते हैं तथा उसे इस उद्देश्य की ओर आगे बढ़ाते ह कि अपने काम में वह इनमें से कुछ मूल्यों को प्राप्त करे तथा फिर उन्हें यथासंभव परिपूर्णता के निकट लाए; क्योंकि जैसा इस बातचीत में हम पहले भी जान चुके हैं, चरम मूल्यों का एक आवश्यक गुण यह है कि वे प्राप्ति तथा परिपूर्णता के लिए प्रेरणा पैदा करते हैं। इस आनंदमय अनुभव में संलग्न मूल मानसिक स्वकेंद्रिक उद्देश्य विभिन्न मूल्यों तथा उनके संदर्भ में परिपूर्णता के साकार मूल्य के पूर्ण पालन में दब जाता है।

"मुझे भय है, मैंने इस चौथे सिद्धांत की मीमांसा में कुछ अधिक समय ले लिया; क्योंकि शुरू में मैंने शिक्षा का जो प्रारूप बताया था, यह सिद्धांत उसी से

निकलता हुआ-सा लगा। लेकिन, मेरा यह विचार बनता जा रहा है कि हम जो, पूरे दो दशाब्दों से यह सोचते आए हैं कि कार्यप्रधान विद्यालय हमारी राष्ट्रीय शिक्षा की इमारत का आधार बने, शिक्षा के इस विशेष पक्ष के प्रश्न पर जरा और ध्यान से सोचें, ताकि प्रभावहीन कार्यों को जन्म देने वाले अस्पष्ट विचारों तथा धुंधली धारणाओं को परे रखा जाए तथा चिंतन एवं व्यवहार में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक दृढ़ता ला कर समस्या का सामना किया जाए। यदि इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गंभीरता से विचार करें, तो हम उस कथन से सहमत हो सकते हैं, जिससे मैंने आज का यह व्याख्यान शुरू किया अर्थात् यह कि "कार्य, शिक्षा का सबसे जरूरी औजार है।" कार्य में हस्तकार्य में भी, कार्य-संबंधी मानसिक क्रिया शिक्षात्मक है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, वरना कार्य के सारे शैक्षिक गुण समाप्त हो जाएंगे; क्योंकि कार्य शिक्षात्मक है; क्योंकि सतर्क तथा व्यवस्थापूर्ण चिंतन की आदत के विकास में इसका प्रयोग हो सकता है। यह शिक्षात्मक तब हो, जब निरपेक्ष हो, यथासंभव परिपूर्णता तक लाने की प्रेरणा से उद्भूत हो; क्योंकि इसके शैक्षिक उद्देश्य का महत्त्व काम के फल के समक्ष आत्म-आलोचना के अवसर से बहुत बढ़ जाता है। यह अवसर हस्तकार्य तथा टेकनिकल कार्यों में, यद्यपि ये दोनों इसके एकमात्र साधन नहीं, सबसे आसानी से पूर्ण होता है।

"मैं अब संक्षेप में दो और सिद्धांतों की चर्चा और व्याख्या कर दूं, जो सभी प्रकार की शिक्षा के लिए लागू हैं। इनमें से पहला, शिक्षा का सामाजिक दायित्व है। अभी तक हम लोगों ने जिन सिद्धांतों की चर्चा की है, उनमें मुख्यतः व्यक्ति को ही सामने रखा गया है, समाज के साथ व्यक्ति के संबंध की पूर्ण मान्यता का ध्यान नहीं रखा गया। व्यक्ति के मस्तिष्क का मानसिक तथा नैतिक विकास, व्यक्ति के समाज के सांस्कृतिक उपकरणों के उसके संबंधों तथा अंगीकरण से उत्पन्न होता है और निःसंदेह इस आश्वासन के कारण हमने व्यक्ति तथा समाज के बीच एक रेशमी सूत्र की स्थापना कर ली है, पर तब भी अब तक व्यक्ति के मस्तिष्क के विकास तथा एक स्वतंत्र नैतिक व्यक्तितत्व की वृद्धि पर ही जोर दिया गया है। जिस सिद्धांत पर हम अभी विचार कर रहे हैं, उसके अनुसार शिक्षा का एक उद्देश्य अधिक उन्नत, अधिक न्यायपूर्ण तथा अधिक शालीन जीवन-शैली की ओर समाज की निरंतर बढ़ती हुई प्रवृत्ति है। हमें निश्चय ही यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति का मस्तिष्क अपनी संपूर्ण संभावनाओं की प्राप्ति तब तक नहीं कर सकता, जब तक साथ-साथ सामूहिक रूप से समाज की भी प्रगति नहीं होती। जो कोई व्यक्ति में श्रेष्ठता पाना चाहता है, उसे प्रायः हमेशा इसका लक्ष्य और इसकी तलाश समाज

में करनी चाहिए। प्लेटो-जैसे महान् दार्शनिक को भी, व्यक्ति के गुण की खोज में समाज के पूरे ढांचे और विकास की छानबीन करनी पड़ी थी। समाज का भंडार—जिसमें और कई उपयोगी चीजों के अलावा लोगों के शैक्षिक उपयोग के लिए विगत मानवीय प्रयासों से निर्मित संस्कृति के उपकरण भी होते हैं—अपनी पूर्ति तथा विकास के लिए समाज के लोगों पर निर्भर है। समाज के लोग इस भंडार की रक्षा करते हैं, पोषण करते हैं। इसके नष्टप्राय तथा जीर्ण द्रव्यों को दूर हटाते हैं और इसकी समृद्धि के लिए ताजे तथा मूल्यवान उपकरण जुटाते हैं। यदि व्यक्ति अपने ही मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास तक अपने को सीमित रखता और अपने निजी अस्तित्व की ही सांस्कृतिक उन्नति में लीन रहता, यदि उसे इसकी चिंता न होती कि समाज का क्या होगा, यदि उसे यह फिक्र न होती कि सामाजिक संगठन में किस हद तक और कितनी सफलता के साथ चरम मूल्यों की प्राप्ति हो रही है, तो संभवतः वह अपनी आत्मिक दशा सुधार लेता। किंतु, यदि उसका उदाहरण सामान्यतः मान लिया जाए, तो शिक्षा और संस्कृति के सारे रास्ते—व्यक्ति की शिक्षा और संस्कृति के रास्ते भी—अंधकारपूर्ण तथा शून्य गलियों में बदल जाएंगे, जिनकी मंजिल होगी एक बंजर प्रांत। फिर तो आत्मकेंद्रितों, उच्च आध्यात्मिकों, नैतिक रूप से स्वेच्छाचारियों तथा स्वतंत्र व्यक्तियों को शायद उसी बंजर भूमि की किसी ऊंची और सूखी चट्टान पर अपना अड्डा बनाना होगा, जहां वे अपने स्वार्थपूर्ण संकीर्ण विचारों से बढ़ कर, कोई और विषय नहीं पाएंगे। इस प्रकार की पृथक् किंतु शुष्क नैतिक प्रसिद्धि के अवसर बहुत ही सामाजिक व्यवस्थाओं में जनतांत्रिक समाजों में भी उपलब्ध है; क्योंकि जो समाज गरीब नहीं हैं, वे इस प्रकार के शुष्क गुणों को सह सकते हैं, बल्कि प्रोत्साहन और समर्थन प्रदान कर सकते हैं; क्योंकि संभवतः ऐसे समाजों में यह विचार उत्पन्न होता है कि इस प्रकार का अलग-अलग वाला अच्छा जीवन मात्र भी, अपने अस्तित्व के कारण एक शैक्षिक शक्ति का काम कर सकता है। किंतु, ऐसा केवल अपवादों तथा बहुत थोड़े से मामलों में संभव है। ऐसा उन समाजों के बहुत से दलों, मगर छोटे-छोटे दलों, के लिए ही संभव है, जो स्पष्ट तथा व्यक्त रूप से शोषक समाज हैं और जिनमें बहुसंख्यक श्रमिकों के बल पर कुछ थोड़े से आरामतलब लोग सभी प्रकार की उच्चवर्गीय सुख-सुविधाओं के अधिकारी बन बैठते हैं। किंतु, जनतांत्रिक समाज में तो यह आवश्यक है कि व्यक्ति जो अपने शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा के पोषण के लिए सहवासी नागरिकों का अनुगृहीत है, समाज के नैतिक तथा भौतिक जीवन को उन्नत बनाने के उत्तरदायित्व में खुशी से हाथ बंटाए। केवल व्यक्ति के जीवन में

ही उच्चतर मान्यताओं के प्रति निष्ठा नहीं होगी, समाज को भी इसके संगठित सामाजिक जीवन में इसी निष्ठा के प्रति उठाना होगा। संस्कृति के सफल उपकरणों में—जिन्हें अनुभव तथा स्वीकार किए जाने पर मान्यताओं की एक संगठित व्यक्ति-वाचक व्यवस्था का जन्म होता है—अच्छे तथा न्यायपूर्ण समाज शुद्ध राजनीतिक जीवन, सामान्य हितों में रत सत्य तथा स्पष्ट नेतृत्व की उच्चतम शैक्षिक मूल्यों वाली शक्तियाँ हैं।

"हमारे शैक्षिक संगठन में व्यक्ति और समाज की पारस्परिकता पर शायद ही ध्यान दिया जाता है। स्कूल तथा शिक्षण-संबंधी दूसरी संस्थाएँ तथाकथित बौद्धिक प्रगति के काम में इतनी व्यस्त हैं कि उन्हें इन बातों के लिए—जो उनकी नजर में छोटी बातें हैं—समय नहीं है। सामाजिक उत्तरदायित्व की शिक्षा देने के लिए इन संस्थाओं का संगठन सामूहिक निवास की अच्छाइयों के रूप में होना चाहिए। पानी में तैरने से ही तैरना आता है। समाज में सेवा करने से ही सेवा भी आती है। जब तक यह सिद्धांत हमारी शिक्षण-संस्थाओं का प्राण नहीं बन जाता, दूसरे सारे सुधार के कार्य छुटपुट रूप से किए गए ऊपरी या सतही कार्य होंगे। ऐसे संगठन के सदस्य रहने के सिवा भला किसी सुदृढ़ सामाजिक संगठन के नैतिक मूल्य का अनुभव और कैसे किया जा सकता है।

"सुदृढ़ सामाजिक जीवन के गुणों के पक्ष में आदमी बहुत कुछ कह सकता है। इसके सैद्धांतिक स्पष्टीकरण के लिए अपनी जान लड़ा सकता है, जितना भी इतिहास उपलब्ध है तथा जितना भी नागरिकशास्त्र तैयार किया जा सकता है—वह सब पढ़ा जा सकता है। पर, यह आशा नहीं की जा सकती है कि विद्यार्थी एक अच्छे और न्यायपूर्ण समाज का सदस्य बनने का प्राणदायक तथा स्फूर्तिदायक अनुभव प्राप्त करेगा अथवा उसमें उस तरह की कोई स्पष्टता होगी, जिसकी सहायता से उसमें समाज-सेवा की आवश्यक नैतिक चुनौती जागती है, ताकि समाज के वर्तमान सद्गुणों की रक्षा हो सके और इसके भावी गुण उन्नत प्रकार के हों। अच्छे घर में, अच्छे स्कूल समुदाय में समान विचार वाले लोगों के सामाजिक दल में अनुभव प्राप्त कर नगर, राज्य तथा मानव जाति के लिए भी आजीवन समर्पण हो सकता है। सामान्य मूल्यों तथा सामान्य सांस्कृतिक उपकरणों पर आधारित स्कूल समुदाय, जैसे इंगलैंड के 'पब्लिक स्कूल', यूरोप, संयुक्त राज्य अमरीका और फिलिस्तीन में बहुत से प्रयोगात्मक स्कूल तथा स्कूल समुदाय एवं निकट भविष्य में सोवियत गणतंत्र में इस प्रकार के बहुत से समुदायों की स्थापना की योजना विभिन्न वातावरणों के तथा विभिन्न उद्देश्यों और मान्यताओं वाले प्रगतिशील

शैक्षिक विचारों की द्योतक है। किंतु ये उदाहरण इने-गिने हैं, नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह हैं। इनकी महीन आवाज लाखों शिक्षण-कारखानों के शोर में खो जाती है। किंतु, फिर भी यह विचार अब प्रबल होता दीख रहा है कि सामाजिक उत्तरदायित्व की शिक्षा के लिए तथा समाज की दशा उन्नत बनाने वाले साधन के रूप में इसके व्यवहार के लिए भी किसी स्कूली समुदाय में रह कर सामाजिक रहन-सहन का वास्तविक अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है। हर जगह सभी बच्चों के आवासीय स्कूल समुदायों की इच्छा करना आसमान के तारे तोड़ने की इच्छा के समान होगा। किंतु, मैं मानवीय बुद्धि और सूझ-बूझ के भरोसे यह छोड़ना चाहूँगा कि वह ऐसे उपाय और साधन ढूँढ़ निकालें कि स्कूल, कार्यों के समुदायों में संगठित हो जाएँ, जिनके उद्देश्य समान हों, साथ ही यह भी जरूरी न हो कि उन्हें बोर्डिंग या आवासीय स्कूल बनाना ही पड़े। मुझे ऐसा लगता है कि यह कदम पहले और वह भी शायद जल्दी अधिकेंद्रित संपूर्ण सत्ताधारी देशों (टोटेलिटेरियन) में उठाया जाएगा और जैसा बहुत-सी बातों में हुआ है, जनतंत्रीय देश कुछ दिनों बाद जानेंगे कि उन्होंने क्या खो दिया है और दूसरों की अपेक्षा उन्हें अपनी जीवन-शैली की रक्षा के लिए किस चीज की सख्त जरूरत है। अधिकेंद्रित संपूर्ण सत्ताधारी देश तो सारी जनता की जबरदस्ती सेवा ले सकते हैं, किंतु जनतंत्रीय देशों को इसके लिए प्रतीक्षा करनी होगी कि लोगों में सामाजिक उत्तरदायित्व की स्वाभाविकता भावना जगे, व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक रचनात्मक संबंधों के वास्तविक स्फूर्तिदायक अनुभवों को प्रदान कर एक उन्नत समाज के निर्माता का साधन बनने की प्रेरणा जगे। व्यवस्थाहीन ढंग से जनतंत्र यह काम परिवारों में कर सकता है, जो काम व्यवस्थापूर्वक स्कूली समुदायों में हो सकता है, जिन्हें बहुत आवश्यक मान कर शीघ्र स्थापित करना चाहिए। इस दिशा में शीघ्रता की आवश्यकता तो इसी स्पष्ट तथ्य से प्रकट हो जाएगी कि जनतंत्रीय जीवन-शैली अथवा समाज-व्यवस्था का भविष्य स्कूलों में बनता या बिगड़ता है।

"अब, जब कि आज की वार्ता खत्म होने को है, मैं एक अंतिम प्रश्न आपके सामने आपके विचारार्थ रखना चाहता हूँ। शिक्षा की जो कल्पना हमने की है, उसी के कारण यह प्रश्न भी हमारे सामने स्पष्टीकरण की माँग करता है। यह प्रश्न है कि शिक्षा में स्वातंत्र्य तथा अधिकार का। इस प्रश्न का महत्त्व जनतांत्रिक समाज में और भी बढ़ जाता है जो—यदि सच्चे अर्थों में जनतांत्रिक है—व्यक्ति का आदर करता है, मनुष्य को साध्य मानता है, केवल साधन नहीं और संस्कृति के उपकरणों के माध्यम से मानव-मस्तिष्क की मूल्यों, लक्ष्यों, हितों वाली व्यवस्था का

पोषण तथा विकास कर, इसे नैतिक रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्राप्ति की शिक्षा देता है। व्यक्ति पर बल दिए जाने से तथा केवल उसके विशेष जीवन-रूप के आधार पर ही व्यक्ति के विकास की संभावना की विशेष मान्यता से यह प्रतीत होगा कि जनतंत्र की संपूर्ण शैक्षिक व्यवस्था में, शासकीय अधिकार को परे रख कर अनियंत्रित स्वछंदता रखी जाएगी। इस प्रकार की धारणा केवल सैद्धांतिक अनुमान नहीं, बल्कि पूर्ण विकास के लिए तथा बाधापूर्ण प्रभावों को दूर करने के लिए अवसर प्रदान करने वाली शिक्षा का गंभीरता से एक रूप भी माना गया है। 'वाख-जेनला स्सेन' अथवा 'बढ़ने दो' की भावना पर आधारित एक संपूर्ण दर्शन ही तैयार हो गया है।

"चूँकि अपने इस सुरक्षित देश में हम अपनी समस्याओं को व्यवस्थित ढंग से सुलझाने के आदी हैं; 'क्योंकि हमें इस अमिट तथ्य की आश्वासनपूर्ण याद आती है कि हमारे पूर्वजों ने विचारा और चिंतन किया है और हम सहज ही यह भी जानते हैं कि अब भी कहीं कोई हमारे लिए सोचने का कठिन परिश्रम कर रहा है, हम में आरामदेह बेपरवाही की एक निश्चित और सुखद भावना पैदा हो जाती है। और, चूँकि हम मूल समस्याओं से खास तौर से शिक्षा के क्षेत्र में विशेष परेशान नहीं होते, इसलिए संभव है हमारी इस वार्ता में कोई अर्थ, कोई वास्तविकता हमें न दीख पड़े। किंतु, मैं इस पलायनवादी विचार को नहीं मानता। हमें इन समस्याओं का सामना आज नहीं तो कल, करना ही पड़ेगा, बल्कि शीघ्र ही करना पड़ेगा। संघर्ष जारी है और इसका समाधान इसकी प्रकृति की उचित समझ के अतिरिक्त और किसी उपाय से नहीं हो सकता। बौद्धिक मान्य शक्तियों, अनालोचनात्मक 'स्वीकृति, नि.शंक अनुसरण की पुरानी परंपरा जिसे शिक्षा-संबंधी इस प्रचलित विचार से बल मिलता है कि शिक्षा, सूचना-संबंधी तैयार माल को लेने तथा देने का एक साधन है, परीक्षा की सफलता सोपानों में हमारी धार्मिक जैसी आस्था इसका प्रतीक है तथा यंत्रवत् प्राप्त किए जाने वाले 'ज्ञान की शिक्षा बच्चे को न मारने से उसके बिगड़ जाने का भय, अथवा इसके विपरीत बच्चे पर हाथ न उठाने की अति प्रबल भावना—इन सबसे यही पता चलता है कि हमारी शैक्षिक क्रियाओं में अधिकारी शक्ति ही मूल सिद्धांत है और इसमें स्वच्छंदता का कोई स्थान नहीं। लेकिन, तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। अपने कृत्यों-अकृत्यों में विद्यार्थी जो मनमानी कर रहे हैं, जो छूट ले रहे हैं, अपने व्यवहारों में जिन अनियंत्रित आवेशों, व्याकुलता तथा अपव्यय को अक्सर प्रकट कर रहे हैं और जिनके प्रति शिक्षकों की दयनीय उपेक्षा, बेरुखी अथवा बेपरवाही है, एक ओर

क्रुद्ध नौजवान तथा अतिक्रुद्ध तरुण हैं, तो दूसरी ओर उदासीन, बेपरवाह अथवा निराश या पस्त शिक्षक हैं, (जब वे स्वयं क्रुद्ध नौजवानों की श्रेणी में नहीं गिने जाते) तो इन सारे लक्षणों से यही मालूम होता है कि हमारी इस स्वतंत्र भारत-भूमि में शिक्षा 'वाखजेन लास्सेन' अथवा 'बढ़ने देने' के सिद्धांत का अतिशय संपूर्णता के साथ पालन कर रही है। इस सिद्धांत के अनुसार यदि हम उन्हें बढ़ा कर फल-फूल नहीं बना सकते, तो घास-फूस ही बनने दें।

"इस उलझी हुई परिस्थिति में राष्ट्रीय शिक्षा की किसी सफल व्यवस्था के संगठन की आशा हम नहीं कर सकते। मैं इस प्रश्न पर अपने विचार संक्षेप में रखूंगा। मैं समझता हूं कि शिक्षा में स्वच्छंदता तथा अधिकारी शक्ति, दो विपरीत चीजें नहीं हैं; क्योंकि शिक्षा में ऐसी कोई अधिकारी शक्ति नहीं, जिसमें वह आंतरिक स्वतंत्रता न हो, जो शिक्षा को मान्यता देती है, साथ ही ऐसी कोई स्वतंत्रता नहीं है, जो नियम तथा व्यवस्था के जो आधिकारिक माने जाते हैं, बगैर हो। यदि अधिकारी शक्ति से अनिवार्य बाध्यता का बोध हो और स्वतंत्रता का अर्थ उच्छृंखलता तथा स्वेच्छाचारिता माना जाए, तो बेशक वे अधिकार तथा स्वतंत्रता, दो विपरीत चीजें होंगी। पर, ऐसा कोई समुदाय नहीं—चाहे वह परिवार, स्कूल अथवा राज्य हो और जो स्वतंत्रता को चाहे जितना भी चाहता हो—जहां ऐसे नियम और व्यवस्था न हों, जो उसके सदस्यों पर लागू हैं, तथा इसीलिए अधिकार नियम है। ऐसे स्वतंत्र व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, जो कुछ ऐसे नियमों से बँधा है, जिनके द्वारा उसकी पाशविक प्रवृत्तियों और भावनाओं पर नियंत्रण होता है, ताकि मानव-मस्तिष्क स्वतंत्रता के साथ अपने उच्चतर कार्यों को संपन्न कर सके। इस प्रकार के नियंत्रक सिद्धांतों के बगैर समाज में विप्लव तथा अव्यवस्था पैदा हो जाएगी और व्यक्ति पाशविक वासनाओं और भूख का गुलाम बन जाएगा।

"बचपन से ही किसी आदमी को बिना किसी निर्देश के छोड़ दिया जाए, तो संभव है वह अपने ही ऐसे नियंत्रक सिद्धांतों तक पहुँच सकता है। मस्तिष्क के विधान की व्यापकता संभवतः ऐसी संभावना को पूर्णतः अस्वीकार नहीं करती, किंतु यह रास्ता बड़ा लंबा और बेतरह कठिन होगा और उसके पास इतना काफी समय भी नहीं बच रहेगा कि वह इस सिद्धांतों का उपयोग कर सके। व्यक्ति के सच्चे स्वशासन तक पहुँचने के पहले समाज उसे बाह्य अधिकारिता की अवस्था से गुजरने में उसकी सहायता करता है। स्वतंत्रता के पथ का निर्माण अधिकारी शक्ति द्वारा होता है। अधिकारी शक्ति को पूर्णतया काट देना पथ को काटना होगा। शिक्षा-संबंधी वास्तविक

प्रश्न 'यह अथवा वह' का नहीं, बल्कि यह फैसला करने का है कि स्वशासन की स्वीकृति मंजिल पर पहुँचने के लिए बाहरी निर्देश तथा अधिकार कब तक जरूरी है। कब तक अधिकारी व्यवस्था रहेगी, कितनी जल्द स्वतंत्रता उसकी जगह लेगी—क्योंकि वह जगह तो इसे लेनी है यदि नैतिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास हमारा ध्येय हो। शिक्षा के आदि और अंत दोनों अवस्थाओं में अधिकारी व्यवस्था है। आदि अथवा प्रारभ में उम्र तथा अनुभव का अधिकार है, स्नेहपूर्ण प्रदर्शन तथा संवेदनशील निर्देशन का अधिकार है, जिनके साथ अभाग्यवश संभवतः कुछ अरुचि-कर सुविधाएं हैं, जो उच्चतर शक्ति को मिली होती हैं और जिन्हें कोई भी अच्छा स्कूल पृष्ठभूमि में रखने की भरसक चेष्टा करता है। शिक्षा के अंत में आने वाला अधिकार, उन मान्यताओं का अधिकार है, जिनका स्वच्छंद अनुभव आत्मिक तथा अनात्मिक सांस्कृतिक उपकरणों में किया जाता है। यदि समस्या को संयोग पर न छोड़ा जाए, तो काफी प्रारंभिक अवस्था में हां इस बात को सामान्य रूप से मान लिया जा सकता है कि शैक्षिक क्रिया में व्यवस्थापूर्ण तथा सहज संचालन की आवश्यकता है। शिक्षा तथा शिक्षक जिन मान्यताओं के प्रतीक हैं, उनके प्रति समझ तथा आदर की भावना पैदा करना कठिन लग सकता है, किंतु जब तक ऐसा किया जाता है, हमें समझ लेना चाहिए कि शिक्षा नहीं हो रही है। शिक्षक की तथा शैक्षिक समुदायों के रूप मे स्कूल और कालेज का कर्त्तव्य तथा सुविधा यह है कि वे अपने अधीनस्थ युवाओं को इस प्रकार सहायता दें, उनका पथ-प्रदर्शन करें कि उनमें अपने कामों और खामियों के प्रति जिम्मेदारी की भावना बढ़े, उनमें आत्मशिक्षा के लिए प्रथम प्रेरणा जगे और जिस हद तक वे इस दशा में सफल हों, उनकी सफलता के अनुसार उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता तथा स्वशासन प्रदान कर सकें। कहना तो आसान है, पर पीढ़ियो तक आने वाले अच्छे शिक्षकों के लिए यह कठिन काम होगा। मुझे आशा और विश्वास है, ऐसे शिक्षक अवश्य आएंगे।"

डॉ० जाकिर हुसैन और बुनियादी शिक्षा-पद्धति

बुनियादी शिक्षा-पद्धति में महात्मा गांधी का शिक्षा-दर्शन अवश्य निहित है, परंतु इस दर्शन को मूर्त रूप देने वालों में डॉ० जाकिर हुसैन का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। जामिया मिलिया की स्थापना कर महात्मा गांधी और भारतवासियों के समक्ष उन्होने बुनियादी तालीम का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया। गांधीजी के विचारों को साकार कर दिखाया। आपने बुनियादी शिक्षा-पद्धति के उन्नयन और प्रसार में किस प्रकार अपना सक्रिय योगदान दिया, उसका एक संक्षिप्त विवरण मैं यहाँ पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहा हूं।

जुलाई, १९३७ ई० में गांधीजी ने राष्ट्र के सामने बुनियादी तालीम की मूल कल्पना रखी। २२ और २३ अक्टूबर, १९३७ ई० को उन्होंने वर्धा शिक्षा संमेलन में राष्ट्र के शिक्षाविदों और शिक्षा-मंत्रियों के सामने इस कल्पना को और विस्तार से समझाया। इस संमेलन में शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ और निम्नांकित चार मुख्य प्रस्ताव पारित किए गए—

१. देश के सात वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए।

२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बने।
३. शिक्षा किसी मूलोद्योग से संबंधित हो और
४. उद्योग के माध्यम से अध्यापक का खर्च निकाला जाए।

डॉ० जाकिर हुसैन कमिटी

उक्त प्रस्तावों के आधार पर शिक्षा के पाठ्यक्रम की योजना प्रस्तुत करने के लिए डॉ० जाकिर हुसैन जामिया मिलिया, दिल्ली के उपकुलपति के सभापतित्व में एक कमिटी बना दी गई। इस कमिटी में निम्नांकित महानुभाव मनोनीत किए गए—

डॉ० जाकिर हुसैन (अध्यक्ष),
श्री आर्यनायकम् (संयोजक),
श्री ख्वाजा गुलाम सैयूयदीन,
श्री विनोबा भावे,
श्री काका कालेलकर
श्री किशोरीलाल मशरूवाला,
श्री जे० सी० कुमारप्पा,
श्री श्रीकृष्णदास जाजू,
प्रो० के० टी० शाह और
श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम्।

जाकिर हुसैन कमिटी की रिपोर्ट

कमिटी ने २ दिसंबर, १९३७ को गांधी जी के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इसमें बुनियादी शिक्षा-पद्धति, उद्देश्य, शिक्षकों की तालीम, निरीक्षण और परीक्षण तथा प्रबंध आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला और मूलोद्योग-संबंधी पाठ्यक्रम भी प्रस्तुत किया।

बुनियादी शिक्षा-सिद्धांत

कमिटी ने बुनियादी शिक्षा में हाथ के काम को बहुत महत्त्व दिया है। इसमें कहा गया है कि शिक्षा की योजना इस प्रकार से संयोजित की जाए कि उद्योग की क्रिया के इर्द-गिर्द ज्ञान का समन्वय हो सके। उद्योग के द्वारा छात्रों को कारीगर नहीं बनाना है, बल्कि उद्योग में मनुष्य के विकास की जो शक्तियाँ निहित हैं, उनका पूरा लाभ उठा कर बालक के व्यक्तित्व का निर्माण किया जाए।

उद्देश्य

बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य लोकतांत्रिक समाज के लिए ऐसे नागरिक तैयार करना है, जो अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझते हुए समाज के आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकें।

शिक्षकों की तालीम

बुनियादी शिक्षा की सफलता योग्य शिक्षकों पर निर्भर करती है। अतः, शिक्षा का काम सँभालने से पूर्व शिक्षकों को उद्योग तथा शिक्षणशास्त्र—दोनों का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। कमिटी की राय में मैट्रिक पास शिक्षकों को तीन साल का प्रशिक्षण देकर शिक्षा का काम सँभालने के लिए तैयार करना चाहिए। शिक्षकों को मुख्य रूप से उद्योग, शरीर-विज्ञान तथा स्वास्थ्य, सामाजिक विषयों तथा समन्वित शिक्षण का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

निरीक्षण और परीक्षण

बुनियादी शिक्षा की सफलता के लिए समय-समय पर शालाओं के निरीक्षक नियुक्त करना चाहिए। निरीक्षकों को स्थानीय समस्याओं पर विचार करके शाला की उन्नति के लिए सुझाव और सहयोग देना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि निरीक्षक शाला के काम की नुक्ताचीनी करके ही संतोष न कर लें। इन्हें चाहिए कि वह सहानुभूतिपूर्वक शिक्षक की कठिनाई को समझ कर उसकी सहायता करें और शिक्षा को सफल बनाने के लिए हर संभव प्रयत्न करें।

विद्यार्थियों के स्तर की परीक्षा या जाँच के लिए शिक्षा-विभाग को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। जाँच के अभाव में न तो विद्यार्थी एवं शिक्षकों की उपलब्धियों का ही पता चलेगा, न बुनियादी शिक्षा की सफलता का ही। अतः, बीच-बीच में कई बार जाँच का प्रबंध किया जाना चाहिए।

प्रबंध

कमिटी ने शिक्षा की दृष्टि से समय-सारणी में निम्नांकित समय-विभाजन के प्रबंध का सुझाव किया—

१.	मूलोद्योग	३ घंटा २० मिनट
२.	मातृभाषा-शिक्षण	४० मिनट
३.	सामाजिक ज्ञान और सामान्य ज्ञान	४० मिनट
४.	संगीत एवं खेल-कूद	४० मिनट
५.	व्यायाम	१० मिनट
६.	विश्राम	१० मिनट

यह भी सुझाया गया कि श्रम से बालक क्लांत न हों। अतः, उन्हें विद्यालय की ओर से जलपान दिया जाए। यथासंभव छोटी कक्षाओं के लिए महिला शिक्षकों की नियुक्ति की जाए और एक कक्षा में बालकों की संख्या अधिकतम ३० होनी चाहिए। समयानुकूल उद्योग की शिक्षा के लिए गाँव के कुशल दस्तकारों की भी सहायता लेनी चाहिए।

पाठ्यक्रम की रूपरेखा

कमिटी के अनुसार पाठ्क्रम की रूपरेखा निम्न प्रकार निश्चित की गई—

(अ) उद्योग —(१) कताई-बुनाई (२) कृषि (३) बढ़ईगिरी (४) बागवानी (५) मिट्टी का काम (६) चमड़े का काम (७) वातावरण के अनुकूल कोई भी अन्य उद्योग।

(ब) मातृभाषा — इसकी शिक्षा के द्वारा बालकों की अभिव्यंजनाशक्ति का विकास, पढ़ना, लिखना, पत्रलेखन एवं पुस्तकों के उपयोग से ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास होना चाहिए।

(स) गणित— उद्योग की सामग्री का हिसाब-किताब, घरेलू खर्च का विवरण, व्यावहारिक रेखागणित का ज्ञान एवं नाप-तौल का ज्ञान रखने की योग्यता हो जानी चाहिए।

(द) सामाजिक ज्ञान—मानव-जाति की प्रगति, देश की भौगोलिक परिस्थिति, देश के इतिहास की जानकारी, नागरिक अधिकार एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान, दुनिया के धर्मों की जानकारी आदि बातों को सामाजिक ज्ञान में शामिल करना चाहिए।

(य) सामान्य विज्ञान–प्रकृति-निरीक्षण, वनस्पति एवं जीव-जंतुओं का ज्ञान, शरीर-विज्ञान, आरोग्यशास्त्र की जानकारी आदि ।

(र) चित्रकला एवं संगीत—रंगरूप की पहचान, डिजाइन बनाना, नकल उतारना और साधारण चित्रों की रचना, लय-ताल का ज्ञान एवं सामूहिक गायन में हिस्सा बटाने की योग्यता प्राप्त करना ।

(ल) हिंदुस्तानी—कमिटी ने यह भी राय जाहिर की कि छात्रों में राष्ट्रभाषा, हिंदुस्तानी में विचार प्रगट करने एवं समझने तथा लिखने-पढ़ने की योग्यता भी उत्पन्न की जानी चाहिए ।

डॉ० जाकिर हुसैन कमिटी ने महात्मा गांधी को अंगरेजी में जो रिपोर्ट पेश की थी; उसे मूल रूप में हम लोग इस प्रकार देख सकते हैं—

MAHATMA GANDHI, Delhi, 2-12-1937

President,
All India National Education Conference
WARDHA

MAHATMAJI,

I have the honour to submit herewith the report of the committee appointed by the Wardha Conference on the 23rd of October, 1937 to formulate a scheme of basic education on the lines suggested by the resolution of that Conference.

The members of the Committee present at Wardha had a preliminary discussion with you on the 24th October. The committee met at Wardha or the 2nd & 3rd of November when all the members attended except Professor K. T. Shah who was prevented by urgent work from coming. They met again at Wardha on the 22nd, 23rd and 24th of November. Professor Saiyidain could not come, and Professor K. T. Shah could be present only on the first day of the meeting. You will be pleased to know that the discussions were conducted in the most cordial spirit and every member was anxious to contribute his very best. We recorded no evidenee, but the committee are extremely grateful to the numerous friends who sent us their views on the problems engaging our attention.

We are fully conscious of the shortcomings of the report we are submitting. Our own limitations as well as thelimita tions of time

dis not permit us to do better. We have been able, for instance. to include a detailed syllabus only for the craft of spinning and weaving. If time had permitted, we should have very much liked to include a similar scheme for more crafts-For we are anxious to avoid the possible impression that we do not attach equal importance to other crafts with similar or better educational possibilities. When at a later date we submit to you a detailed scheme of correlated grade placements, as desired by you, we hope also to include a detailed scheme of agriculture and gardening as the basic craft.

We are thankful to the many Provincial Government for sending us all the relevent literature, and specially to the Government of the Central Provinces for deputing an officer of the educational and an officer of the agricultural department to help us whenever we needed their help during the course of our deliberations. Sjt. Aryanayakam and Shrimati Asha Devi, though members of the Committee, deserve to be specially thanked for facilitating the work of the Committee by their efficient handling of the voluminous correspondence and makings all necessary arrangements for the meetings we held.

I am personally very grateful to the staff of the Teachers, Training College, Muslim University, Aligarh for their whole-hearted co-operation and for permitting me to draw freely on their expert knowledge and precious time.

We submit this report to you in the sincere hope that under your guidance the scheme presented in it may prove to be the beginning of a sound educational system in our country.

Respectfully,
ZAKIR HUSSAIN
(Chairman.)

BASIC PRINCIPLES

The Existing Educational System :

Indian opinion is practically unanimous in condemning the existing system of education in the country. In the past it has failed

to meet the most urgent and pressing needs of national life, and to organize and direct its forces and tendencies into proper channels. To-day, when quick and far-reaching changes are reshaping both national and international life and making new demands of the citizens, it continues to function listlessly and apart from the real currents of life, unable to adapt itself to the changed circumstances. It is neither responsive to the realistic elements of the present situation, nor inspired by any life-giving and creative ideal. It does not train individuals to become useful productive members of society, able to pull their own weight and participate effectively in its work. It has no conception of the new co-operative social order which education must help to bring into existence, to replace the present competitive and inhuman regime based on exploitation and violent force. There is, therefore, a demand from all sides for the replacement of the present system of education by a more constructive and human system, which will be better integrated with the needs and ideals of national life, and better able to meet its pressing demands.

Any scheme of education designed for Indian children will, in some respects redically differ from that adopted in the West. For, unlike the West, in India the nation has adopted non-violence, as the method of peace, for achieving all-round freedom. Our children will therefore need to be taught the superiority of non-violence over violence.

Mahatma Gandhi's Leadership :

In this field, as in so many others, far sighted leadership has come at this critical juncture from Mahatma Gandhi, who has thrown himself whole heartedly and devotedly into the question of evolving a system of education which will be in harmony with the genius of the Indian people, and solve the problem of mass education in a practicable way and within as short a time as possible. The basic idea of his scheme, as expounded by him in his articles in Harijan and at the Wardha Educational Conference, is that education, if sound in its principles, should be imparted through some craft or productive work, which should providet he nucleus of all the other instruction provided in the school. This craft, if taught

efficiently and throughly, should enable the school to pay towards the cost of its teaching staff. According to him, this would be also help the State to introduce immediately the scheme of free and compulsory basic education. Failing this, in the existing political and financial condition of the country, the cost of this education would be prohibitive.

Craft Work in Schools :

Modern educational thought is practically unanimous in commending the idea of educating children though some suitable form of productive work. This method is considered to be the most effective approach to the problem of a providing an integral all sided education.

Psychologically, it is desirable, because it relieves the child from the tyranny of a purely academic and theoretical instructions against which its active nature is always making a healthy protest. It balances the intellectual and practical elements of experience, and may be made an instrument of educating the body and the mind in co-ordination. The child acquires not the superficial literacy which implies, often without warrant, a capacity to read the printed page, but the far more important capacity of using hand and intelligence for some constructive purpose. This if we may be permitted to use the express, is 'the literacy of the whole personality.'

Socially considered, the introduction of such practical productive work in education, to be participated in by all the children of the nation, will tend to break down the existing barriers of prejudice between manual and intellectual workers. harmful alike for both. It will also cultivate in the only possible way a true sense of the dignity of labour and of human solidarity—an ethical and moral gain of incalculable significance.

Economically considered, carried out intelligently and efficiently, the scheme will increase the productive capacity of our workers and will also enable them to utilise their leisure advantageously.

From the strictly educational point of view, greater concreteness and reality can be given to the knowledge acquired by

childran by making some significant craft the basis of education. Knowledge will thus become related to life, and its various aspects will be correlated with another.

Two Necessary Conditions :

In order to secure these advantages it is essential that two conditions should be carefully obssrved. First, the craft or productive work chosen should be rich in educative possiblities. It should find natural point of correlation with important human activities and interest, and should extend into the whole content of the school curriculum. Later in the report, in making our recommendations on the choice of basic crafts, we have given special attention to this point, and we would urge all who are in any way concerned with this scheme to bear this important consideration of mind. The object of this new educational scheme is not primarily the production of craftsmen able to practise some craft mechanically, but rather the exploitation for educative purpose of the resources implicit in craft work. This demands that productive work should not only form a part of the school curriculum—its craft side - but should also inspire the method of teaching all other subjects. Stress should be laid on the principles of co-operative activity, planning, accuracy. initiative and individual responsibility in learning. This is what Mahatma Gandhi means when he says : "Every handicraft has to be taught not merely mechanically as is done to-day, but scientifically. That is to say, the child should learn the why and wherefore of every process"–of course through personal observation and experience. By merely adding to the curriculum one other subject–weaving, spinning, or carpentry—while all other subjects are still taught in the traditional way we shall, we are convinced, encourage passive assimilation and the division of knowledge into unintelligible water tight compartments, and thus defeat the real purpose and spirit of this scheme.

The Ideal of Citizenship Implicit in the Scheme :

We are also anxious that teachers and educationists who undertake this new educational venture should clearly realise the ideal of citizenship inherent in it. In modern India, citizenship is destened to become increasingly democratic in the social,

political, economic and cultural life of the country. The new generation must at least have an opportunity of understanding its own problems and rights and obligations. A completely new system is necessary to secure the minimum of education of the intelligent exercise of the rights and duties of citizens. Secondiy, in modern times, the intelligent citizen must be an active member of society, able to repay in the form of some useful service what he owes to it as a member of an organized civilized community. An education which produces drags and parasites–whether rich or poor–stands condemned. It not only impairs the productive capacity and efficiency of society but also engenders a dangerous and immoral mentality. This scheme is designed to produce workers, who will look upon all kinds of useful work–including manual labour, even scavenging—as honorable, and who will be both able and willing to stand on their own feet.

Such a close relationship of the work done at school to the work of the community will also enable the children to carry the outlook and attitudes acquired in the school environment into the wider world in outside. Thus the new scheme which are advocating will aim at giving the citizen of the future a keen sense of personal worth, dignity and efficiency, and will strengthen in them the desire for self improvement and social service in a co-operative community.

In fine, the scheme envisages the idea of a co-operative community in which the motive of social service will dominate all the activities of children during the plastic years of childhood and young. Even during the period of school education, they will feel that they are directly and personally co-operating in the great experiment of national education.

The Self-supporting Basis of the Scheme :

It seems necessary to make a few remarks about the 'self supporting' aspect of the scheme, as this has occasioned considerable misunderstanding. We wish to make it quite clear that we consider the scheme of basic education outlined by the Wardha Conference and here elaborated, to be sound in itself. Even if it is not self supporting in any sense, it should be accepted as a matter

of sound educational policy and as an urgent measure of sound national reconstruction. It is fortunate, however, that this good education will also incidentally cover the major portion of its running expenses. We hope to show presently that within the scope prescribed by the Wardha Conference, it can do so to a considerable extent (see the detailed syllabus of spinning and weaving). The syllabus gives the figures of the contribution to be made towards its own current expenditure by a school with the basic craft of spinning and weaving.

So far as this craft was concerned we had little difficulty in making these calculations, as expert work in this line has been going on for the last seventeen years under Mahatma Gandhi's guidance. The wages in this case have been calculated on the basis of the standard fixed by the All India Spinners' Association in Maharashtra. In the case of other crafts, calculations may be made on the basis of the prevailing market rates. Mahatmaji has definitely suggested that the State should guarantee to take over at prices calculated as above, the product of the work done by its future citizens in school, a view which we heartily endorse."...every school can be made self-supporting, the condition being can be made self-supporting, the condition being that the State takes over the manufactures of these school." (Harijan, 31 July, 1937).

Apart from its financial implications, we are of opinion that a measurable check will be useful ensuring thoroughness and efficiency in teaching and in the work of the students. Without some such check, there is great danger of work becoming slak and losing all educative value. This is only too obvious from the experiecnce of educationists who from time to time have introduced 'mannual training' or other 'practical activities' in their schools.

But here we must sound a necessary note of warning. There is an obvious danger that in the working of this scheme the economic aspect may be stressed at the sacrifice of the cultural and educational objectives. Teachers may devote most of their attention and energy to extracting the maximum amount of labour from children, while neglecting the intellectual, social and moral impli-

cations and possibilites of craft training. This point must be constantly kept in mind in the training of teachers as well as in the direction of the work of the supervisory staff and must colour all educational activity.

II.

OBJECTIVES

In has not been possible, during the short time at our disposal, to prepare a detailed correlated programme of work for the whole period of seven years. However, we have tried to put down, under separate heads, the objectives of the new schools. In the future each Provincial Board of Education must include an expert curriculum maker, who will be responsible for preparing the detailed correlated programme for the complete seven years' course of studies. As a result of their valuable observations in the new schools, the teachers, working under competent supervision and guidance will be able to supply the details which will serve as a basis for this work. We are, however, attempting to make a correlated syllabus in broad outlines which will form an annexe to this report.

MAIN OUTLINES OF THE SEVEN YEARS' COURSE OF BASIC EDUCATION

1. The Basic Craft :

Such reasouable skill should be attained in the handlcraft chosen, as would enable the pupil to pursue it as an occupation after finishing his full course.

The following may be chosen as basic crafts in various schools :

a. Spinning and Weaving.
b. Carpentary.
c. Agriculture.
d. Fruit and Vegetable Gardening.
e. Leather Work.

f. Any other craft for which local and geographical conditions are favourable and which satisfied the conditions mentioned above (P. 122).

Even where an industry other than spinning and weaving or agriculture is the basic craft, the pupils will be expected to attain a minimum knowledge of carding and spinning with the takli, and a practical acquaintance of elementary agricultural work in the local area.

I. Mother-tongue

The proper teaching of the mother-tongue is the foundation of all education. Without the capacity to speak effectively and to read and write correctly and lucidly, no one can develop precision of thought or clarity of ideas. Moreover, it is a means of introducing the child to the rich heritage of his people's ideas, emotions and aspirations, and can therefore be made a valuable means of social education, whilst also instilling out- let for the expression of the child's aesthetic sence and appreciation, and if the proper approach is adopted, the study of literature becomes a source of joy and creative appreciation. More specifically, by the end of the seven years' course, the following objectives should be achieved :

1. The capacity to converse freely, naturally and confidently about the objects, people and happenings within the child's environment. This capacity should gradually develop into ;

2. The capacity to speak lucidly, coherently and relevantly on any given topic of every day interest.

3. The capacity to read silently, intelligently with speed written passages of adverage difficulty.

(This capacity should be developed at least to such an extent that the student may read newspapers and magazines of every-day interest.)

4. The capacity to read aloud—clearly, expressively and with enjoyment—both prose and poetry. (The student shonld be able to discard the usual lifeless, monotonous and bored style of reading.)

5. The capacity to use the lost of contents and index and to consult dictionaries and reference books, and generally to utilize the library as a source of information and enjoyment.

6. The capacity to describe in writing, in a simple and clear style, every-day happenings and occurences. e. g. to make reports of meetings held in the village for some co-operative purpose.

7. The capacity to write legibly, correctly, and with reasonable speed.

8. The capacity to write personal letters and business communications of a simple kind.

9. An acquintance with, and interest in, the writings of standard authors, through a study of their writings or extracts from them.

III. Mathematics

The objective is to develop in the pupil the capacity to solve speedily the ordinary numerical and geometrical problems in connection with his craft and with his home and community life. Pupils should also gain a knowledge of business practice and book-keeping

We feel that these objectives can be attained by a knowledge of an adequate practice :

The four simple rules, the four compound rules, fractions. decimals, the rule of three, the use of the unitary method, interest, elements of mensuration, practical geometry, the rudiments of book-keeping.

The teaching should not be fonfined merely to the facts and operations of number. It should be closely co-ordinated with life situations arising out of the basic handicraft and out of the great various of actual problems in the life of great variety of the school and community. Measurements of quantities and values in these connections would supply ample opportunity for the development of the reasoning capacities of the pupils.

IV. Social Studies

The objectives are :

1. To develop a broad human interest in the progress of mankind in general and of Indian and particular.

2. To develop in the a proper pupils understanding of his social and geographical environment, and to awaken the urge to improve it.

3. To inculcate the love of the motherland, reverence for its part, and a belief in its future destiny as the home of a united co-operative society based on love, truth and justice.

4. To develop a sense of the rights and responsibilities of citizenship.

5. To develop the individual and social virtues which make a man a reliable associate and trusted neighbour.

6. To divelop-mutual respect for the world religions.

A course in history and geography, in civics and in current events, conbined with a reverential study of the different religions of the world showing how in essentials they meet in perfect harmony, will held to achieve these objectives. The study should begin with the child's own environment and its problems. His interest should be awakened in the manifold ways in which men supply their different wants. This should be made a starting point to arouse their curiosity about the life and work of men and women.

1. A simple outline of Indian history should be given. The chief landmarks in the development of the social and cultural life of the people should be stressed, and the gradual movement towards greater political and cultural unity be shown. Emphasis should be laid on the ideals of love, truth and juctice, of co-operative endeavour, national solidarity. and the equality and brotherhood of men. The treatment of the subject be taken to prevent pride in the past from degenerating into an arrogant and exclusive nationalism. Stories of the great liberators of mankind and their victories of peace should find a prominent place in the curriculum. Emphasis should be laid on lessons drawn from life showing the superiority or truth and nonviolence, in all its phases and its concomitent virtues, over violence and deceit. The history of the Indian national awakening, combined with living apreciation of India's struggle for social, political and economic freedom, should

prepare the pupils to bear their share of the burden joyfully and to stand the strain and stress of the period of transition. Celebrations of national festivals and of the 'National Week' should be a feature in the life of every school.

2. The pupils should become acquinted with the public utility services, the working of the panchayat and the co-operative society, the duties of the Public Servant constitution of the District Board or Municipality, the use and significance of the vote, and with the growth and significance of representative institutions. Training under this head should be as realistic as possible and should be brought into close relationship with actual life. Self-governing institutions should be introduced in the school. The pupils should kept in intelligent touch with important current events through the co-operative study of some paper, preferably brought out by the school community.

3. The Course in social studies also include a study of world geography in outline, with a fullar knowledge of India and its relations with other lands. It shohld consist of :

(a) Study of the plant, animal and human life in the home region and in other lands as controlled by geographical environment (stories, discription picture-study, practical observation and discussion, with constant reference to local facts and phenomena.)

(b) Study and representation of weather phenomena ; (mainly outdoor work, e. g. direct observation of the sun, changes in the height of the moonday sun at different times of the year; reading of the weather-vane, thermometer and barometer, methods of recording temprature and pressure, records of rainy and dry days and of the rainfall, prevalling wind directions, duration of day and night in different months. etc.

(c) Man-study and man-making the world a globe, study of local topography, making of and study of plans of the neighbourhood, recognition of conventional signs, use of the atlas and its index.

(d) Study of the means of transport and communcation correlated with industries and life.

(e) Study of occupation, local agriculture and industry (visits to fields and factories), economic self-sufficiency and inter dependence of different regions. types of agriculture and industry favoured by geographical environment, the principal industries of India.

V. General Science :

The objectives are :

1. To give pupils and intelligent an appreciative outlook on nature.

2. To form in the pupils habits of accurate observation and of testing experience by experiment.

3. To enable them to uuderstand the important scientific principles exemplified in.

(a) the natural phenomen a around,

(b) in the application of science to the service of man.

4. To introduce them to the more important incidents in the lives of the great scientists whose sacrifies in the cause of truth make a powerful appeal to the growing mind.

The curriculum should include the following topics from various sciences :

A. NATURE STUDY

(a) A knowledge of plants, crops, animals and birds in the environment.

(b) A knowledge of the changes of season and their effect on the activity of plants, animals, birds and men.

(c) A knowledge of crops in different seasons.

B. BOTANY

(a) Different parts of plants and their functions.

(b) Processes of germination, growth and propagation.

(c) Work on the school garden and the fields around to give the pvpils an understanding of the effects of differing conditions of moisture, heart and light and of the different qualities of seeds and menuers.

C. ZOOLOGY

A study of germs, insects, reptiles and birds as friends and foes of man.

D. PHYSIOLOGY

The human body, its organs and functions.

E. HYGIENE

(a) Personal hygiene, cleanliness of teeth, tongue, nails, eyes, hair, nose, skin, clothes.

(b) Cleanliness of the home and the village, sanitation, disposal of night soil.

(c) Pure water, the village well.

(d) Pure air, the function of trees in its purification, proper breathing.

(e) Food, hygienic and unhygienic, balanced diets.

(f) First aid and simple remedies.

(g) First Common infections, contagious diseases, how to safeguard against them.

(h) Purity of conduct as a preservative of health.

F. PHYSICAL CULTURE

Games, athletics; drill (Deshi games to be encouraged).

G. CHEMSTRY

Of air, water, acids, alkalis and salts.

H. A KNOWLEDGE OF THE STARS

Showing direction and time at night.

I. STORIES

Of the great scientists and explorers and of their contributions to human well being.

VI. DRAWING :

The objectives are :

1. To train the eye in the observation and discrimination of forms and colours.

2. To cultivate a knowledge of and appreciation for the beautiful in nature and in art.

3. To cultivatea knowledge of.

4. To develop the memory for forms.

5. To draw out the capacity for tasteful design and decoration.

6. To develop the capacity to make working drawings of objects to be constructed.

These objectives can be obtained by :

(a) Drawings made by children to illustrate read or observed material.

(b) Object and memory drawings, e. g. drawings of plants and of animal and human forms (correlated with work in general science, handicraft etc.)

3. Designing.

4. Scale drawing, graphs and pictorial graphs.

The work in drawing during the first four years should be correlated chiefly with work in reading and pictorial representation in nature study and the craft. During the last three years emphasis may be laid on design and decoration and mechanical drawing, so as to enable pupils to make correct working drawings.

VII. MUSIC :

The objective is to teach the pupils a number of beautiful songs and to cultivate in them a love for beautiful music. The child's natural sense for rhythm should be developed by teaching him to keep his own time by beating with the hand. Walking in time to a fixed rythm can be a great aid in achieving this.

Care should be taken to select only the best and most inspiring songs and the artistic interpretation of some healthy and elevating theme. Speical emphasis should be placed on ground or choral singing.

VIII. HINDUSTANI :

The object of including Hindustani as a compulsory subject in the school curriculum is to ensure that all the children educated

in these national schools may have a reasonable acquaintance with a common' lngua franca'—As adult citizens they should be able to co-operate with their fellow countrymen belonging to any part of the country. In teaching the language the teacher should in various ways quicken in the students the realization that this language is the most important product of the cultural contact of the Hindus and Muslims in India. It is the repositary—in its more advanced forms—of their best thoughts and aspirations. They should learn to take pride in its richness and vitality and should feel the desire to serve it devotedly.

In Hindustani-speaking area this language will be the mother-tongue, but the students as well as the teachers will be required to learn both the scripts, so that they may read books written in Urdu as well as in Htndi. In non-Hindustani speaking areas, where the provincial language will be the mother-tongue, the study of Hindustani will be compulsory during the 5th and 6th years of school life, but the children will have the choice of learning either one or the other script. However, in the case of teachers who have to deal with children of both kinds, knowledge of both the scripts is desirable.

At any rate, every public school must make adequate provision for the teaching of both scripts.

In general outlines, the syllabus of studies will be the same for boys and girls upto the 5th grade of the school. In grades 4 and 5 the syllabus in general science should be so modified as to include domestic science for girls. In grades 6 and 7 the girls will be allowed to take an advanced course in demestic science in place of the basic craft.

II

TRAINING OF TEACHERS

The proper training of teachers is perhaps the most important condition for the success of this scheme. Even in normal circumstances the quality of the teachers generally determines the quality of the education imparted. When a radical reconstruction of the entire educational system is contemplated, the importance of the teachers who work out these changes is greatly accentuated.

It is, therefore, essential that these teachers should have an understanding of the new educational and social ideology inspiring the scheme, combined with enthusiasm for working it out.

Since they are to teach not only certain academic subjects, but also crafts, their training should include a reasonably thorough mastery of the processes and technique of certain basic crafts.

Their methods of teaching and approach to subject will be different. They will deal with the various subjects not as isolated and mutually exclusive branches of knowledge, but as inter-related aspects of a growing and developing activity which provides the focus of their correlation. For this purpose it is essential that teachers should have some training in formulating projects and schemes of correlated studies, and thus link up life, learning and activity.

They must have an intelligent interest in the life and activities of their human environment and a thorough grasp of the intimate relationship between school and society.

Besides these points–which must be particularly stressed if the new scheme is to be worked in the spirit in which it is conceived—the teachers training curriculum should, of course, include the other necessary capacities and subjects.

In order to gain admission to the training institution, the candidate must have read up to the matriculation standard in some national or recognised government institution, or must have had at least two years teaching experience after passing the vernacular final or some equivalent examination.

Training (covering a period of three years).

Curriculum for a Complete Course of Teachers.

1. A. growing, picking, carding of cotton (or wool) spinning of yarn and making of warp.

b. Mechanics of the spinning wheel (or other instruments and tools involved in the exercise of the basic craft selected.)

c. Economic of village industries with special reference to the selected craft.

d. Elementary carpentry involved in the selected craft.

2. Training in one of the following basic crafts :—

a. Spinning and weaving.
b. Vegetable and fruit gardening.
c. Agriculture
d. Carpentry
e. Toy making
f. Leather work
g. Paper making.

or any other craft which may be considered suitable for any particular locality.

3. Principle of education, with should comprise .

a. The basic idea of education through productive work.
b. The relation of the school to the community.
c. Simple outline of child psychology (treated as concretely as possible) and of the psychology of acquiring technical skill.
d. Methods of teaching, with special reference to the formulation and development of schemes of correlated studies.
e Objective of new education, studied with reference to the actual conditions of life in the country.

4. An outline course in physiology, hygiene, sanitation and dietetics, referring specially to the actual problems of village life and aiming at direct, practical utility.

5. A revision and further development of the basic course in social studies directed towards securing the teacher's proper orientation to the manifold problems of his social environment. This should culminate in a broad general survey of India and the world during the last fifty years.

6. A course of lessons and directed study in the mother tongue to introduce the teachers to some master pieces of Indian art and literature, this imparting a general cultural background.

7. Knowledge of Hindustani, and the capacity to read and write both the Hindi and Urdu scripts, in both Hindustani and non-Hindustani speaking areas. (This is essential for teachers in all state schools and aided schools, if they are to further some of the basic cultural and civic objectives of this education) .

8. Black-board writing and drawing-

9. Physical culture, drill and deshi games.

10. Supervised practice teaching in attached demonstration schools.

We expect these teacher training schools to be residential institutions where the students and their teachers will be in close contact with one another. They should develop co-operatively a girorous and many-sided social and cultural life in which the individual interests of the teachers in training will find adequate expression. We therefore invite the attention of the staff of these institutions to the desirability of encouraging the growth of many and varied hobbies and social activities carried on by the teachers under training in their leisure time.

The real success of these institutions will be judged by the veriety and spontaneity of the various hobbies and social activities, the enthusiasm and persistance with which they are carried out, and their reaction on the life of schools and the community.

The course as outlined above might possibly give the impression of being too heavy and ambitious, and therefore unlikely to be practicable. We are anxious to counteract that impression by pointing out that, if approached in the right spirit, it is possible to cover this ground with reasonable thoroughness. It has to be remembered, in the first place, that this is a continuous three years' course, and therefore it lends itself to a fuller planning than is the case at present. Secondly, we expect that after a few years' time when the scheme is well under way all the teachers recruited for training , having passed through our new schools, will have covered a good deal of the ground in craft training and in other subjects such as social studies. Therefore, this course will not so much teach new subjects as carry further and give a professional orienta-

tion to subject-matter already studied. Thirdly, we would again emphasise the fact that at this stage the object is not to make a thorough, systematic and scientific study of these various subjects, which would be an unduly ambitious undertaking, but to centre the teaching in actual concrete problems of civics, sanitation, hygiene, first aid, child behaviour and classroom practice arising in the school or in the environing community life. Of course, we hope that if professional pride has been quickened and intellectual interest has been generated, many of these teachers will continue their study privately and try to obtain a more thorough acquintance with certain objects. But so far as the training period of these teachers is concerned our object is not to produce academically perfect schools, but skilled, intelligent, educated craftsman with the right mental orientation, who should be desirous of serving the community and anxious to help the coming generation to realize and understand the standard of values implicit in this educational scheme.

Curriculum for a Short Course of Teachers' Training :

To make a beginning with this scheme as soon as possible, we recommended that a short emergency course of one Years' training be approved provided for teachers specially selected from existing schools, national institutions and ashrams. The teacher selected should possess some background of successful teaching experience or craft work, and hold out promise of working the scheme in the right spirit with understanding and enthusiasm. The number of these teachers in any province may be determined by the number of schools which it is proposed to open at first.

The course of training for these teachers should include :

a. Training in carding and spinning with the Takli. This will be compulsory, whatever may be the basic craft chosen.

b. Sufficient training in one of the above mentioned basic crafts to enable the teacher to teach the first three years' school course in that craft.

c. A short course in physiology, hygiene, sanitation and dietetics.

d. The basic idea of the craft school and its relation to community life.

e. Formulation and working of simple schemes of co-ordinated studies as a basis of co-ordinated teaching.

f. A short course of lessons on the history of the Indian national awakening and the trend of world movements during this century.

g. Teaching of at least twenty-five lessons in the practice school under proper supervision.

IV

SUPERVISION AND EXAMINATION.

A. Supervision.

An efficient and sympathetic supervisory staff is almost as important for the new schools as a well-trained teaching personnel. Supervision is a fairly specialized work and we would recommend that provision should be made for the training of supervisors to meet the ever-growing needs of an expanding school system. The minimum quaiification for a supervisor should, in our opinion, be complete training as a basic school teacher, together with at least two years' experience of successful teaching and a year of special training in the work of supervision and administration. Supervision should not be mere inspection, it should mean personal co-operation and help offered by one who knows more to a less experienced or less resourceful colleague. Supervisors should, indeed, be able to play the role of leaders and guides in the education experiment. In order that the more important obligations of helpful gaidance and leadership may be properly fulfilled, it is necessary that the load of unavoidable administrative and routine work should be as light as possible. Therefore, there should be an adequate number of supervisors, and the supervisory districts should not be unmanageably large. This will mean greater expense, but economy here will be bad economy.

B. Examinations.

The system of examinations prevailing in our country has proved a course to education. A bad system of education has, if possible, been made worse, by awarding to examinations a place out of all proportion to their utility. As a measure of the work of individual pupils or the schools, by a consensus of expert examinations are neither valid not complete. They are inadequate and unreliable, capricious and arbitary, we shall take care to guard the proposed system of general national educbtion against their baneful influence.

The purpose of the exmaination can be served by an administrative check of the work of the schools in a prescribed area by a sample measurement of the attainment of selected groups of students conducted by the inspectors of the Education Board. The rests so administered should be constructed in close consultation with the specialists responsible for curriculum revision. They should be long enough to cover the whole range of the curriculum and should be in a form which makes marking objective and independent of individual judgment.

The introduction of this check up by sample resting will add greatly to the efficiency of the school system and will, in fact, lengthen the teaching term of the final class by at least six weeks, the time now usually wasted on memorsiing 'notes' and 'revisions' which precede the ordeal of examinations. This period may now be devoted to a test of the efficiency of individual pupils in the basic craft over a period of weeks, to be determined from case to case, and to comparatively more intensive work for the improvement of the village community which the school serves.

The promotion from grade to grade should be decided exclusively by the teaching faculty of the school on the basis of careful records of the pupils' work. To maintain the desired level of efficiency throughout the school system, the Board of Education should conduct an annual testing of typical sections from each grade of the schools of the various divisions. As far as possible, pupils should not be made to repeat the work of a grade or any considerable portion there of. If a large number of children in a class 'fails', the work of the teacher needs watching. If a school records many failures its administration must be looked into, and if the number of failures in

the whole school system is large, there is something wrong with the curriculum and the norms set for the several grades. This should be set right. There is hardly and justification for making pupils repeat the work of a grade.

The Board of Education should judge the efficiency of its schools by the sample achievement tests mentioned above, by the efficiency of the pupils in the basic handicraft, and by the specific contributions made by the teachers and pupils to the improvement of the general life of the community around. An annual district exhibition of the work of the schools will also go a long way to wards keeping up to definite standard of achievement.

V

ADMINISTRATION

1. The objectives of education which we have enunciated above (Sec. II) will require that the pupils remain at school for seven years. After careful consideration we have come to the conclusion that seven plus will be the proper age to enforce compulsion. Since we accept as a principle that the basic education should, as far as possible, be the same for all, we recommended that it should be free and compulsory for all girls and boys between the ages of seven and fourteen. As a concession. however, girls may be withdrawn after the completion of their twelfth year if the guardians so wish it.

2. We realize that by fixing seven plus as the age for the inroduction of compulsory education, we have left out a very important period of the child's life to be shaped in the rather unfavourable surrcundings of poor village homes under the care of uneducated and indifferent parents mostly struggling against unbearable circumstances. We feel very strongly the necessity for some organization of pre-school education, conducted or supported by the State, for children between the ages of three and seven. A painful consciousness of the realitics of the situation, chiefly financial, prevents us from making this recommendation. We are anxious, however, that the State not overlook its ultimate responsibility in the matter. We are confident that the scheme of basic education sugges-

ted here with its intimate relation to home life, is firmly established it will go a long way towards helping the pre-school child to get a better home training than he now does. It will also help considerably in the great work of adult education which will have to be taken up in right earnest at no distant date.

3. We have tried to make an estimate of the time required to complete the different sections of the curriculum. We feel that the following distribution will be about right :

The basic craft		3. hours 2o minutes.
Music, drawing and arithmetic		40. minutes.
The mother-tongue		40. minutes.
Social studies and general science		30. minustes.
Physical training		10. minutes.
Recess	5. hours and	30. minutes.

In making this estimate, we have kept spinning and weaving as the basic craft. The distribution might vary from craft to craft, but in no case should the time allotted to the basic craft exceed the above estimate.

The school is expected to work for 288 days in a year, avereage of 24 days in a month.

4. In view of the diversity of pupils' interests we recommend that as far as possible a variety of last two years of the school course.

5. We are of opinion that every school should .have attached to it a plot of land big enough for a school garden and a playground.

6. Research has established a very close relationship between malnutrition and backwardness at school. Considering the almost universal under-nourishment of the village children, we recommend that every effort should be made to remedy the defect by providing light nourishment to all children during school hours. We are confident that the State will be able to secure enough co-operation from the public to meet the expenses involved in the undertaking.

7. With regard to the teachers' salaries, we endorse Gandhiij's suggestion that "it should, if possible, be Rs. 25 and never less that Rs. 20" But we also contemplate that for teaching the higher classes of the school, it may be necessary to employ some teachers with higher academic qualifications, and for them a somewhat highest pay may have to be provided.

8. We recommend that during the first two or three years of this experiment specially qualified and competent teachers should be secured–even if their pay is somewhat higher–so that in selected schools they may work out the necessary details and teachnique of the syllabus and the new methods of teaching. When this pioneering stage has been successfully crossed, it will be possible for average teachers who have received training in our three year institutions, to carry on the work fairly satisfactorily.

9. We are of opinion that the average number of students in any class should not exceed thitry. If the number is large, it will not be possible for the teacher to discharge his heavy and responsible duties efficiently.

10. In the selection of teachers, preference should be given to those who belong to the locality in which the school is situated.

11. In order to encourage women to take to this profession, special efforts should be made to provide facilities for training them as teachers.

12. The problem of selecting suitable candidates for training should be carefully and competently examined and a reliable teachnique of selection evolved. We are convinced that unless this difficult problem is tackled, the scheme will have little chance of success. Teaching requires special social and moral attitudes and qualities, and it is not right to assume that everyone who volunteers to enter the profession is suitable for it. We must, therefore, conduct our selection with great care and forethought and preferable take only those who belong to what the psychologists call 'the social type.'

13. We suggest that these training institutions should be residential institutions, open to all classes and creeds and free from restrictions relating to untouchability and interdining.

14. In these institutions expert artisans or craftsmen may be employed to give craft training. Local artisans may also be utilized, if necessary, to help the teachers of basic schools in their craft teaching and in putting the finishing touches for marketing purposes, to the material produced by the students.

15. Refresher courses on a large scale should be gradually organised at training colleges and schools, in order to maintain and improve the efficiency of teachers. Such courses should be of various types—cultural, professional and industrial.

16. Demonstration schools should be attached to every training institution and these should serve as laboratories where new methods of teaching are attempted and devoloped. These schools-- staffed by specially qualified teachers from other schools should be given an opportunity to see the working, teaching materials, and technique.

17. The introduction of a craft, the co-ordination and correlation of the content of the curriculum, the close relationship with life, the method of learning by doing, the individual initiative, and the sense of social responsibility, which are among the main features of the new scheme suggested here, cannot be realized without supplying to both the teachers and the pupils—but primarily to the teachers- such books and material as would help to achieve our aim. It is essential that the illustrative material, the books for the teachers, and the necessary programmes of correlated work should be prepared. Entirely new text-books, permeated with the new spirit, are also essential. The Board of Education in each province and the Central Institute of National Education, whole establishment is recommended below, will be able to render valuable help in this connection. The provinces which propose to establish the new type of schools must institute the requisite machinery for the preparation of these necessary books materials at the earliest possible date.

18. In the section on examination we have referred to the systematic measurement of school achievements as an important

function of the education authority in each province. We recommend that the Board of Education in each provinnce should provide on its academic side for an efficient staff of educational experts. This staff should carry on scientific research to fit the school curriculum the real life of the people, and to guide the teachers in the use of the new standards and norms of achievement. They should try progressive method of teaching, keep the teachers in touch with the results of succesful experiments undertaken in this country and elsewhere and also guide the training of teachers and supervisors.

19. Apart from the official boards, we would recommend the formation of an independent, non-official Central Institute of Indian Education, which should be free from administrative responsibility and consist of persons eminent field of education as well as in other spheres of cultural activity. The objects of this institute should be as follows :

1. To serve as an advisory body on matters of education policy and practice.

2. To study and discuss the ideas and aims underlying educational efforts in India and outside, and to make the results of this study available to all who are interested.

3 To collect information about, and to keep in touch with, the educational work of the various Indian Provinces and States, as well as foreign countries.

4. To organize research on problems relating to education.

5 To issue monographs and a magazine for educational workers.

20. It is common knowledge that the different public utility services of the couutry which should be concerned with the welfare of its future citizens are sadly un-co-ordinated. We recommend that the Department of Education should be placed in a position to secure the co-operation of the other State departments (e. g. Health, Agriculture, Public works, Co-operation, Local Self Government) in building up a healthy, happy and efficient school community.

DETAILED SYLLABUS

Mahatmaji,

In presenting the graded syllabus of basic education which you wanted us to prepare, we should like to clear up certain points which have caused, or may occasion, misunderstanding to those who have not clearly grasped the ideas and principles underlying this syllabus.

In the first place, it is necessary to appreciate the limitations under which we have worked. A syllabus of this kind, which aims at far-reaching reconstruction of educational practice, really requires a background of fairly extensive experimental work on the lines indicated in our Report, because it is only after such practical experience that all the possible co-relations can be confidently worked out. We have done the best we could in preparing this syllabus and have fully utilized our collective experience as teachers as well as the suggestions received from friends. But we must point out that this should be regarded as a tentative scheme drawn up to show that the principle of co-ordinated teaching which we have advocated in our Report can be worked out in practice and translated into the terms of the curriculum. As teachers in our training schools and colleges and in the new schools of basic education begin to work out the scheme scientifically and record their observations and experience, it will be possible to improve the syllabus progressively. Such an experimental attitude of mind on the part of the teachers is essential for the success and efficient working out of this educational scheme.

We have given the detailed grade placements of the subjects for the seven classes of the basic school in order to show that, with spinning and weaving as the basic craft (selected for illustration), it is possible to included the essential subject-matter in language, mathematics, social studies, general science, and drawing, within the time available for the purpose, and to co-ordinate it with the craft work to a considerable extent. This will show that, on the one hand the subject-matter selected is not excessive (as some critics of the

scheme have made out) and, on the other hand, no really significant units of a cultural curriculum have been omitted.

We have also given the detailed grade placements of two other basic crafts suggested in our Report–agriculture and bookwork. These syllabuses were prepared for us by experts outside our committee, as none of us had the necessary knowledge and experience. Leaving aside the detail of these syllabuses, we are confident that the contents of the general curriculum could also be correlated with or conveyed through either of these two basic crafts.

In order to work out an effective and natural co-ordination of the various subjects and to make the syllabus a means of adjusting the child intelligently and actively to his environment, we have chosen three centres, intinsically inter connected, as the foci for the curriculum, i. e. the physical environment, the social environment, and craft work which is their natural meeting point since it utilizes the resources of the former for the purposes of the latter. With a view to demonstrate how the subject matter selected is co-ordinated with these three centres we have also given, besides the grade placements, a separate indication of how the various items of the curriculum can be correlated with the basic craft of spinning and weaving. This will also, incidentally, answer the criticism that the scheme is not child centred – a criticism which is based on ignorance of one of the most strongly stressed points in our Report. We have also given, as an appendix, a chart prepared by one of our colleagues, showing graphycally how the entire syllabus is definitely child-centred. We fail to understand how this scheme, based on activity, and the study of the childcentric than the present education which is entirely book-centred.

It is essential for all teachers and educational workers to note that we have really attempted to draft an 'activity curriculum' which implies that our schools must be placed for work experimentation and discovery not of passive absorption of information imparted at second hand. So far as the curriculum is concerned, we have stressed this principle by advocating that all teaching should be carried on through concrete life situations relating to craft or to social and physical environment so that whatever the child learns becomes assimilated into his growing activity.

It should be noted in this connection that in the preparation of this syllabus, we have significant and comprehensive units of experience which will, when mastered, enable the child to understand his environment better and to react to it more intelligently because they throw helpful light on the problems and conditions of life around him. We are conscious of the fact that there is much scope for improvement in the actual units selected to the syllabus rather than the current practice of making it a collection of unrelated and miscellaneous facts having no direct bearing on children's experiences or on social life. The syllabus in social studies and general science will illustrate this principle. When, for instance, work in social studies or general science is related to drawing, and the knowledge of history and geography enriches the child's understanding and appreciation of his craft. when gardening and agriculture are an integral part of his education, the school should became an active centre of experience and of abundant life.

But the working of this curriculum is in itself a problem of great importance and demands intelligent alterness and reponsiveness on the part of the teachers for even the best of curricula can be made mere dead letter, if the method of teaching and discipline adopted are not inspired by the spirit of activity. In order to indicate, therefore, how the full possibilities of this curriculum can be exploited, it seems necessary to point out by way of illustration, the method to be adopted in the approach to some of the sudjects included in the curriculum. For if subjects such as social studies and general science are presented by the teachers as catalogues of facts to be passively accepted and learnt up by the facts to be passively accepted and learnt up by the children, the whole object of the syllabus will be defected, and they will entirely fail to appreciate the real nature of the correletion amongst the various subject. This can only be realized when they are required through real learning situations involving self-activity on the children's part.

In the syllabus of mother tongue, for example, we have attempted to stress both the creative and utiliterian values of language and literature. The teacher must organize his oral work as well as his reading material round the actual but growing life and interest of his children so that they may develop gradually.

a . develop a consciousness of the wonders of the life of nature around them,

b . observe and describe the different process of the school crafts and the life of their home, village and school ,

c . write simple business and personal letters as a normal activity of social life.

d . keep a daily record of progress in the basic handicrafts.

e . help in the editing of a school magazine and the preparation of a daily news bulletin.

f . make a clear and connected speech of reasonable duration on some topic of general interest.

g . appreciate beautiful literature .

This suggests not only a principle for the selection of topics in the literary readers, but also stresses the close connection of the mother tongue with craft work, social studies and village life and activities . The method of teaching must, therefore, be such as will give the child a mastery of his mother tongue as a tool not only for learning but for use in actual life situations.

Similarly, the syllabus in social studies is an attempt to adjust the child to his social environment, both in space---which is the function of geography and in time--which is the function of history . civics, which aims partly at the giving of intellectual understanding of the present day problems and partly at develeping the right social and intellectal attitudues, has also been included as an integral part of this syllabus. It requires an intelligent study of the child's immediate environment and its salient features as well as the development in school of self-governing institution and its organization as a genuine co-operative community involving mutual obligaions and distribution of duties and responsibilities .

The teaching of these subjects should not only be closely coordinated, but it should spiring from actual social situations--the child's home, his village, its occupations and crafts, and then be extended and enriched by stories of primitive life and ancient civilizations, and by showing how different ways of life and work have

developed under different ways of life and work have developed under different social and geographical conditions. The teaching of geography and nature study in the lower classes should, for example, be gathered round the different seasons which provide a starting point of observing natural phenomena and the intelligent teacher will take care that the children make their early acquintance with all these phenomena through active personal observations, excursions, gardening, tending of pets and survey of the locality. But it is necessary, throughout the course, to enxure that the child acquires his knowledge actively and utilizes it for the understanding and better control of his social environment. Hence the need for correlating the school with the activities of the environing community life which we have duly stressed in the Report.

In order to make mathematics real to the child we have indicated how its various processes can be correlated with the various craft processes and it is equally possible to work out ther connection with facts learned in the social studies and general science courses. If the children learn their four simple arise in their craft work and gardening and by dealing with figures which will also throw light on the economic and social facts of their village or towu or country, if there is practical measuring and field. Work and calculations of expenditure and of rural indebtedness, the learning of mathematics not only becomes an active process, but also a means of interpreting and understanding the social environment.

As a further illustration of the principle of co-ordination, we should like to make a special mention of physical education is concerned, the children will gain the necessary knowledge of physiology, hygiene and dietetics through their general science courses. As for practical training, the entire work of the school involving craft practice, the entire work of the school involving craft-practice, games, gardening and active methods of learning has been envisaged as an aid the develonment of the child' s health and physical vigour.

We have not drafted a regular syllabus for music because in this scheme of Basic Education it is not possible to give scientific training in music to all children. What we recommend, however,

is that in all classes there should be a course of choral singing, set to standard tunes and time, with an elementary acquaintance with the principal Indian ragas and tals. This need not, however, be insisted upon the case of all children—those who are not musically gifted or who have any objection to learning ragas and tals may be excused. The songs suitable for children between seven and fourteen should be carefully selected and should include national songs. The selection should also include a few songs in simple, quick rhythm suitable for group singing in connection with their craft work and physical training. Such selections in various languages may be issued from time to time, out of which the teachers may make their choice.

It is possible to multiply such examples in connection with each aspect of the syllabus but it not necessary to do so. These examples should suffice to show that there is an intrinsic unity of method and curriculum which cannot be ignored, and that the syllabus will help in the training of intelligent, practical and co-operative citizens only if it is approached in the spirit indicated above.

We welcome the criticisms and objections which we have received or which have appeared in the press, because they show that both teachers and the public have given thought to our scheme. But we feel that many of the objections raised are due to a misunderstanding of the basis of the scheme. We would, therefore, like, with your permission, to refer to the more important points raised.

1. Much criticism has been directed against the amount of time devoted to craft work, and it has been argued that academic work will be starved in consequence. Without subscribing to the implied dualism between practical and academic work, we would point out that the time allotted to the basic craft is not meant to be spent only on the mechanical practice of the craft but oral work, drawing and expression work, naturally connected with it as well as instruction in the why and wherefore of the processes involved i.e. their scientific and intelligent understanding, which is an important

educative aspect of craft work will also be given during this time. This is clearly implied in our scheme of three centred co-ordination.

Moreover, as pointed out in the Report, the object of the scheme is 'not primarily to produce craftsmen able to practice their craft mechanically, but to exploit the resources implicit in craft-work for educative purposes'–the adoption of the activity method should ensure the attainment of this objective.

2. Some people are alarmed because there is no reference in this scheme to secondary or higher education forgetting that our terms of reference were confined to a seven years' scheme of basic education only, and they are apprehensive that we want to limit the facilities for higher education. We have only to point out that this is a scheme of universal and compulsory basic education for all children, to be followed in due course by higher education for those who are qualified to receive it, and when that scheme is drawn up, it will have to be co-ordinated with the scheme of basic education so as to ensure continuity as well as proper intellectual equipment for those who are to proceed further with their education.

3. The scheme has also been criticised because it contemplates the child's education beginning at the age of seven, which is argued as being too late. In the Report, we have made it clear that we recognise the great importance of pre-school education and envisage the possibility of this introduction on a voluntary basis, with state-help where possible. But in view of the present financial and other consideration, we have not felt justified in including it as part of our compulsory scheme. Moreover, we have chosen the 7-14 age range because we consider it absolutely necessary to keep the child or school until he is fourteen, in order to ensure that (i) he will receive the essential medium of social and civic training which, for psychological reasons, is not possible earlier, (2) he will become a better citizen, (3) his literary training will be thorough enough to make a lapse into illiteracy impossible, and (4) he will acquire sufficient skill in his basic craft to practise it successfully if he adopts it as his vocation. We are so strongly convinced of the educative importance of the years of adolescence that if we would extend the period of education, we should like to keep the students at school till

the age of sitxteen in order to ensure proper moral, social and civic training.

4. We have not given a separate and distinctive place to play in the scheme because it is essentially an extra curricular activity, if it is made a compulsory part of the syllabus, it loses its spontancity and ceases to be play in the psychological sense. But, in our syllabus, we have made provision for individual and group games and we contemplate that in all good schools various kinds of games will be encouraged. It should, however, be borne in mind, that in an activity school play is an integral part of its method and is not included as an escape from academic drudgery.

5. We should like to make it clear, if the Report has not already done so–that we do not contemplate any direct connection between the teachers' salary and the proceeds from the sale of the children' s products. Teachers are to be paid directly from the State treasury as at present and are not to be dependent on the somewhat fluctuating income received from the sale of school products, which should be credited as income to the Treasury. As the Wardha Conference had made it quite clear in its resolutions that the basic crafts practised in school were expected in due course to cover only the remuneration of the teachers, it was hardly necessary for us to say that all other expenditure e.g. on buildings, equipment etc. must be met from other sources, public and private.

6. We had not specifically mentioned, in our Report, the setting up of a sales organization for the school products, because we were primarily concerned with the drafting of an educational scheme and not with its political and administrative implications. Moreover, you also had made it quite clear in your speech at the conference that in the last instance, the state will be responsible for their purchase at a fair price, and we had made a reference to your remark in the Report.

7. Considerable criticism has been voiced in certain quarters on the assumption that our scheme is opposed to all industrialization and aims at harking back to a primitive state of society utterly in

compatible with the forces and needs of modern times. Without entering into controversy about the respective merits of industrialization and the rural economy, we want to point out that there is no necessary, logical connection between the scheme of basic education and either the industrial or the small scale village economy. We have recommended the approach to education through crafts and productive work because that is a psychologically sound method of education, but we fail to see why co-ordinated training in the use of the hand and the eye, training in practical skill and observation and manual work should be a worse reparation for later industrial training than the present education which is notoriously bookish and academic and definitely prejudices our students against all kinds of practical and industrial work.

We are conscious of the large amount of administrative organization which this scheme will involve and we realize that the education department in each province will have to think out the detailed ways and means by which the scheme is to be gradually put into operation Without attempting to take over this great responsibility on ourselves, we should like to make a few suggestions in this connection, which we trust will be found useful in working out the detailed stages in which the scheme is to be introduced in India.

The first step which should in our opinion, be taken immediately is to set up a number of training schools in selected rural areas-at least one or two schools in each linguistic province–where teachers may learn the technique of education through crafts and productive work and be trained to each in the new basic schools. The number of teachers to be trained and basic schools to be opened in the selected are will be determined by the extent of that area. We suggest that a reasonably large area e.g. a district, should be selected for the purpose and the education department should undertake a survey of its requirements–the number of new schools to be opened and the number of teachers needed for number both by utilizing the existing training schools and by opening new ones. We are of the opinion that this work of establishing basic schools for all the children in the selected area should be completed within five years. Meanwhile, all the other training schools in the province should be transformed into the new

type of training schools, so that the work of establishing new basic school as well as of transforming existing schools all over the province may proceed as rapidly as trained teachers become available. It will be necessary during the first few years to have both kinds of training school, i.e. one year and three years' schools. The short course of one years' duration may be given to specially selected and, preferable experienced teachers from existing schools so that they might start work a year later in the new schools. Simultaneously, howeevr, the regular three years' course should also be introduced and another group of teachers selected to undergo this training. The Department should arrange to send all the teachers in the existing schools who cannot attend the one years course of training to specially organized refresher courses where they may understand the principles and method of basic education. A scheme should be drawn up to ensure that all teachers in the service of the Department have attended such a course within the next five years.

It is essential that these training schools be located in rural areas so that teachers may work and acquire necessary experience under conditions in which they will have to carry on their teaching. If they are trained in an urban environment where they will be deprived of village contacts, they will not be able to develop the requisite attitudes and habits.

When the first batch of teachers has been trained, new basic schools should be started in a seleeted area where, as far as possible all the schools should be of the new type contemplated. It does not seem desirable that schools of the present as well as the new type should co-exist in the same area. Naturally it will be easier and more useful to select for this purpose areas in which there are few schools at present and where for that reason, the provision of educational facilities is more urgently required.

Secondly we suggest that every training school so started should have a demonstration school specially organized to impart basic education according to the syllabus to impart base and the technique outlined in our Report. This school, like the training school, should be staffed by specially competent teachers who possess the necessary intellectual and practical disposition to work the scheme sympathetically. It will serve as a model school for the

lo ality to which other schools to be established later will look for inspiration and guidance.

Each province should, we suggest, undertake a survey of its educational requirements and plan out a detailed programme of action. The survey should aim at finding out the number of children to be educated, the number of teachers and schools that will be eventually required for their education, the numder of training schools that will have to be established, the rate at which trained teachers can become available year-after-year. On the administrative side, the survey should indicate the amount of money which will be required for recurring and non-recurring expenses and the machinery that will have to be put up for the sale of the school products. These are practical and concrete problems that will have to be worked out—their magnitude is no excuse for fighting shy of them or looking upon them as impossible. We are fully alive to the financial implications of this great education enterprise, but we think that it should be possible for provincial governments to put this scheme into full working order and introduce compulsory and free universal education in the whole country in about 20 to 25 years, time. What we suggest it is the drawing up of a kind of 10 years, plan to provide basic education and to liquidate illiteracy. If this scheme is supplemented by some adequate system of adult education given through various voluntary agencies and also through the conscription of school and college students for the purpose, we have every hope that within that time Indis will have made rapid strides towards the goal of a 100% literacy.

In working out the programme of national education, the Provincial Governments should utilize the services of the All India Education Board, the establishment of which we have recommended in our Report. The Board could, for example, help in the preparation of suitable educational literature for teachers as well as advise about the preparation of books for the new schools. It could also give advice on the educational problems which may be referred to it for opinion and generally act as a central bureau for educational information. The provincial governments should in their turn, give all necessary help and facilities to the Board in the discharge of its important duties.

There are also a number of other non-official organizations in ıe country, e g. national institutions, the All India Soinners, and Village Industries Associations which could help in the working out of the scheme in various ways. We expect that here will be close co-operation between these organizations and the Education Department. We also contemplate that as a result of the enthusiasm released by this scheme of national education, many voluntary organizations and workers will be forthcoming to start training centres and basic schools. The provincial governments should encourage such private enterprises in education and help them with expert advice and funds.

We desire to express our thanks to all those friends who have helped us in our work by sending their suggestions and criticism and by drafting syllabuses in various subjects, which we have utilized in preparing our syllabus of basic education. We were happy to find, from some of the institutions and individuals that sent us their suggestions, that there were schools in India which had been working already almost on the lines contemplated in the Wardha Scheme.

We should like to make special mention and express one grateful thanks to the follwoing whose syllabuses in the various subjects were particularly helpful.

Syt. D.R. Moharikar, Deputy Director of Agriculture, C.P. and Berar.

Syt. S.R. Bhise, Hakimji, High School Board for syllabas in Agriculture.

Syt. Laxmishwar Sinha of Vishava Bharti (Shriniketan) for syllabus in Card board, Wood and Metal Work.

Syt. Ramnarayan Misra, Editor, Bhugol (Allahabad) for syllabus in Geography.

Mrs. Tajammal Hussein (Training College, Aligarh) for syllabus in Mathematics and for very helpful co-operation with us during our last meeting at Aligarh.

Mr- W.H. Siddiqui and Mr. B.H. Zubairi (Training College, Aligarh) for syllabus in General Science.

Mr. Abdul Ghaffor and Mr. H. Rahman (Training College, Aligarh) for their syllabus in Social Studies.

Syt. Nanda Lal Bose. Vishva Bharti, Shantiniketan, for syllabus in Drawing.

We also wish to express our thanks to Miss K.M. Heileman of Nava Bharat Vidyalaya, Wardha and Miss Gerda Philipsborn of Jamia Milia Islamia. Delhi for their willing service in all typing work in connection with the work of the Committee.

We submit this syllabus to you in the hope that it will meet with your approval and that it may form and adequate foundation for basic education suited to the genius of the Indian nations and the needs of the country.

Respectfully,

Sd./ ZAKIR HUSSAN (CHAIRMAN)
K. G. SIYIDAIN
KISHORLAL MASHRUWALA
J.C. KUMARAPPA
SHRIKRISHNADAS JAJU
VINOBA BHAVE
ASHA DEVI
ARYANAYAKAM (CONVENER)

उपर्युक्त विस्तृत रिपोर्ट, जो डॉ० जाकिर हुसैन के निर्देशन में प्रस्तुत की गई थी, इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करती है कि बुनियादी तालीम के आधार और उद्देश्य, भारतीय परिवेश में, यहाँ की बालक-बालिकाओं के लिए अत्यंत सुविधाजनक और लाभदायक थी। परंतु बुनियादी तालीम को जिन पवित्र और महान उद्देश्यों के साथ महात्मा गांधी ने भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत किया था, वे पूर्णतः साकार नहीं हो सके। देश के अन्य शिक्षाशास्त्रियों एवं बुनियादी शिक्षा-योजना में संलग्न अधिकारियों तथा पदाधिकारियों के समान डॉ० जाकिर हुसैन अपने जीवनकाल में ही इस तथ्य से अवगत अवश्य हो चुके थे, परंतु उन्होंने यह कभी नहीं स्वीकार किया कि शिक्षा की यह परियोजना असफल हो गई है अथवा इसके सिद्धांत त्रुटिपूर्ण या निराधार हैं। बुनियादी तालीम के अंदर जो एक दर्शन अथवा शक्ति निहित थी, उससे आप पूर्णतया अवगत थे। सिद्धांतः इस शिक्षा-पद्धति को

वे बहुत दृढ़ मानते थे। हाँ, इतना उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है कि अनुचित आयोजना के जरिए हमने इसे तहस-नहस कर दिया है। सन् १९५८ ई० में आपसे किसी ने प्रश्न किया था कि अगर बुनियादी शिक्षा असफल हो गई, तो इसकी समाप्ति क्यों न तुरत ही की जाए! क्या अनुभव से सीखना बुद्धिमानी नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने वतलाया था—"मैं अनुभव से सीखने की बुद्धिमानी को अस्वीकार नहीं कर सकता, किंतु मैं विना किसी वास्तविक अनुभव के बुद्धिमान् दावे को भी आसानी से नहीं मान सकता। जिस चीज को मैंने नहीं परखा, मैं उसके संबंध में हठपूर्ण विचार प्रकट करने में सतर्क रहता हूँ और उसके प्रति हठपूर्ण कार्य का तो और अधिक विरोधी हूँ। अगर किसी योजना में निहित कोई विचार मुझे उत्तम जँचता है, और व्यवहारजनित उसका कुछ वलिक आंशिक कोई अनुभव भी उत्तमत्ता सिद्ध करता है, तो मैं इसके लिए आतुर हो जऊँगा कि उस योजजा को खुले दिल से और पूरी तरह परखा जाए, ताकि हम देख सकें कि यह क्या प्रगति करती है और मेरे विचारों की पुष्टि करती है या उनका खंडन। काम करने का एक-मात्र ही तरीका मुझे लगता है, किंतु इसके लिए पहल सच्ची लगन, ईमानदारी तथा थोड़े धैर्य की जरूरत है।

"बुनियादी शिक्षा की मूल योजना के विषय में मेरा विचार यह रहा है और अभी भी है कि सिद्धांतः यह बहुत दृढ़ है और किसी भी तरह मुझे व्यवहार में असंभव नहीं प्रतीत होती। मैंने स्वयं इसके सिद्धांतों को सफलतापूर्वक संपन्न करने का अनुभव किया है। किंतु, देश में प्रारंभिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था के रूप में इसे चलाने का मेरा जो सीमित ज्ञान है, उसके आधार पर मैं यह कहता हूँ कि अधिकतर मामलों में इसको उचित अवसर नहीं दिया गया। इसके मूलभूत विचारों का समुचित विस्तार नहीं किया गया, उनके कार्यान्वयन के लिए आवश्यक तैयारी नहीं की गई। इस योजना को कार्यान्वित करने की जिन पर जिम्मेदारी थी, उन्होंने बहुत से मामलों में एकाग्रचित होकर तथा आवश्यक उत्साह के साथ अपने को काम में नहीं लगाया था। साधारणतः शिक्षकों तथा निरीक्षकों ने आवश्यक शिक्षा नहीं ली। बुनियादी और गैर-बुनियादी स्कूलों में जो समान स्तर पर काम करते रहे, सामान्य रूप से प्रचलित विभेद के कारण शिक्षण-योजना वनाने वाले लोगों के विभाजित मस्तिष्क का संदेह पैदा होता है, कम-से-कम लोग ऐसा ही समझने लगते हैं। कई जगहों में बुनियादी स्कूलों तथा दूसरी शिक्षण संस्थाओं, जैसे हाई स्कूलों तथा विश्व-विद्यालयों, के बीच उचित तथा पारस्परिक प्रकट संबंधों की दुःखदायी कमी के कारण यह निर्वलकारी भावना पैदा हो गई कि आराम भरे तथा निश्चित वातावरण

में, बुनियादी शिक्षा एक परेशान करनेवाली, हस्तक्षेप करने वाली अप्रिय व्यवस्था है तथा इसी प्रकार की अन्य बातों से बुनियादी शिक्षा की जाँच समुचित रूप से नहीं हो पायी है। भला शिक्षा की ऐसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण योजना, जो शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दृढ़ नींव पर कायम है, कैसे बिना समुचित परीक्षण के असफल करार दी जा सकती है? मैं यह विचार नहीं पैदा करना चाहता कि इस दिशा में कुछ नहीं हुआ है। सच तो यह है, कोशिश बहुत की जा रही है और जैसे-जैसे विचार स्पष्ट करेंगे और पूर्वनिश्चित धारणाएँ समाप्त होंगी, बहुत कुछ और भी किया जाएगा और मैं आशा करूँगा कि अधिक प्रभावात्मक रूप से सफलतापूर्वक किया जाएगा। जो भी हो, शिक्षा का पौधा धीरे-धीरे पनपता है। प्रश्नकर्त्ता को यह स्मरण रखने से लाभ हो सकता है कि अभी तक शिक्षा के क्षेत्र में जमाने से उपजे हुए उन झाड़-झंकाड़ को ही तुरंत समूल नष्ट करने में हम समर्थ नहीं हो पाए हैं, जिनकी स्वस्थ पौधे के रूप में बढ़ने की असफलता स्पष्ट है। नहीं, बुनियादी शिक्षा असफल हो गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसे अपने सच्चे परीक्षण की प्रतीक्षा है।"

सन् १९४० ई० की ११ अप्रील को जामिया नगर, दिल्ली में बुनियादी शिक्षा कांफ्रेंस के अवसर पर डॉ० जाकिर हुसैन ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने भाषण-क्रम में बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों को मौलिक करार देते हुए उन्हें उचित और उपयुक्त बतलाया था। उन्होंने यह भी कहा था कि अगर इस योजना में कोई दोष हो, तो उनका निराकरण होना चाहिए न कि इस पद्धति को ही हम छोड़ दें। आपने उस समय अपना जो भाषण प्रस्तुत किया था, उसका कुछ अंश पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है—

"इस समय हमारे सौभाग्य से बाबू राजेंद्र प्रसाद जी यहाँ मौजूद हैं, और वे हमारी कांफ्रेंस का अभी कुछ क्षणों में ही उद्घाटन करेंगे। मैं इनके द्वारा शिक्षा-कार्य करने वालों की प्रार्थना अपने देश के सभी राजनीतिक नेताओं तक पहुँचाना चाहता हूँ कि परमात्मा के लिए इस देश की राजनीति को सुधारिए और जल्द-से-जल्द ऐसे राज्य की नींव डालिए, जिसमें एक राष्ट्र दूसरे पर भरोसा कर सके, कमजोरों को जोरदार का डर न हो, गरीब अमीर की ठोकरों से बचा रहे, जिसमें एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के साथ भली-भाँति फल-फूल सके और हम एक दूसरे की विशेषताएँ प्रकाशित हों। जहाँ हरेक वह बन सके जिसके बनने में उसकी क्षमता है, और वह बन कर अपनी सारी शक्ति को समाज-सेवा में लगा दे। मैं जानता हूँ

कि इन बातों को कह देना सरल है और उन्हें करना किसी एक आदमी के बस की बात नहीं। लेकिन, मुझे यकीन है कि आज यह बात हमारे राजनीतिक नेताओं के हाथ में इतनी है, जितनी पहले कभी न थी, कि कुछ समझ कर—कुछ समझा कर, कुछ मान कर—कुछ मना कर—वे कि ऐसे राज्य की नींव रख दें। जब तक यह नहीं होता, हम शिक्षा-कार्य करने वालों की दशा दयनीय ही रहेगी। हम कब तक इस राजनीतिक रेगिस्तान में हल चलाएँ ? कब तक संशय और भ्रांति के धुएँ में शिक्षा को दम घुट-घुट कर सिसकते देखें। कब तक हम इस डर से थर्राते रहें कि हमारी उम्र भर की मेहनत को कोई एक रजानीतिक असावधानी या मूर्खता —कोई एक राजनीतिक हठ, मिटा डालेगी। हमारा यह काम भी कोई फूलों की सेज तो है नहीं। इसमें भी बहुत निराशाएँ होती हैं और अक्सर दिल टूटता है। फिर जब हमारे कदम डगमगाएँ, तो हम कहाँ सहारा ढूँढें ? क्या उसी समाज में जहाँ भाई-भाई एक दिल नजर नहीं आते, कोई मान्यता सर्वमान्य नहीं मालूम होती, जिसमें कोई गीत नहीं जो सब मिल कर गाएँ, कोई त्योहार नहीं हो, जिसे सब मिल कर मनाएँ, कोई शादी नहीं जो सब मिल कर रचाएँ, कोई ऐसा दुःख-दर्द नहीं, जिसे सब मिल कर बटाएँ ? हमारी यह कठिनाई दूर कीजिए और जल्दी कीजिए। अब भी बहुत देर हो चुकी है और देर न जाने क्या दिन दिखाए ?

"भाइयो और बहनो ! मैंने राजेंद्र बाबू की उपस्थिति से लाभ उठा कर ये जो बातें कहीं हैं, वे, मैं जानता हूँ कि आप सब के मन की गूँज है। लेकिन, अगर राजेंद्र बाबू कुछ न करें, यानी राजनीतिक नेता कुछ न करें या न कर सकें, तो हमें थक कर बैठ नहीं जाना चाहिए। हो सकता है कि थकावट हम में इतना दम न छोड़े कि हम कुछ और भी कर सकें। मगर, जब हमको यह विश्वास है कि बुनियादी शिक्षा का काम हमारे राष्ट्र के लिए एक जरूरी काम है, तो हमें बैठे-बैठे राजनीति बन जाए, जो अपने कंधों पर सब नागरिकों की शिक्षा का भार उठा सके, तो उस वक्त हम भी उसकी मदद करेंगे। नहीं, अगर हम आज ही से कुछ इस अच्छे काम में लगे न रहेंगे, तो शायद उस वक्त भी अपनी बेसमझी और अनुभवहीनता से उसको बिगाड़ेंगे। अच्छे से अच्छा राज्य भी तो अपने एक संकेत से वे धाराएँ नहीं प्रवाहित कर सकता, जिनके स्रोत पहले ही रिसते न हों। इसलिए इस काम को तो चलाना ही है, और इस तरह चलाना है कि जब कोई सरकार बुनियादी शिक्षा के काम को अपने हाथ में लेना चाहे, तो वह यह न कह सके कि हम जानते नहीं कि यह काम कैसे होगा, और हो भी सकेगा या नहीं। और यही नहीं, बल्कि जब सरकारें इस काम को सँभाल लें और इसे हमारी इच्छा के विपरीत चलाएँ, तो क्या उस वक्त

हमारा काम खत्म हो जाएगा ? मैं समझता हूँ, नहीं। कोई राज्य ऐसा नहीं होता, जिसमें उन्नति की जरूरत न हो। हर अच्छा राज्य, अगर सचाई और नेकी पर उसकी नींव है—अच्छे-से-अच्छा बनता जाता है। और, दूसरी सामाजिक संस्थाओं का भी यही हाल है। आगे बढ़ते हैं, नहीं तो पीछे हटना होता है। अच्छा राज्य होता ही वह है, जिसके नागरिक अपने निजी जीवन के योग से उसे निरंतर उन्नतिशील बनाते जाएँ। इसलिए अगर राज्य ने बुनियादी शिक्षा के काम को अपने हाथ में ले लिया, तब भी अच्छे समझदार और शिक्षा के काम में लगन रखने वालों की एक बड़ी सेना इस शिक्षा को समुन्नत बनाने में सरकारी मदरसों के बाहर भी मौजूद होगी। वे ऐसे प्रयोग कर सकेंगे, जिन्हें सरकार शायद अपने काम के फैलाव की वजह से न कर सके, और वे अपने अनुभवों से—इनकी सफलताओं से और इनकी असफलताओं से सरकार के फैले हुए शिक्षा के काम को नई राहें दिखा सकेंगे। सारांश यह है कि गैर-सरकारी लोगों पर काम का बोझ आज भी है और कल भी होगा। राजनीतिक लोगों में उथल-पुथल होती रहेगी, मगर बुनियादी शिक्षा का काम चलेगा—कभी सरकार के हाथों—कभी सरकार की सहायता के बिना। बुनियादी शिक्षा की योजना में जो चीजें बुनियादी हैं, उन्हें अब हमारा राष्ट्र—जहाँ तक मैं समझता हूँ—हाथ से नहीं जाने देगा। पहली बात तो यह है कि जब कभी हमारे देश में ऐसी सरकार होगी, जो सबकी भलाई एक समान चाहेगी, जो अमीर-गरीब, हिंदू-मुसलमान, भारतीय-अभारतीय में भेद न करेगी और सबकी सहमति से और सबकी भलाई के लिए होगी—तो वह अपने सब लड़के-लड़कियों के लिए कम से-कम सात वर्ष की निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध करेगी और उसे अनिवार्य भी बनाएगी। मैंने सात वर्ष तो कम-से-कम कहा। जब इस राज्य के साधन बढ़ेंगे, तो शायद वह सरकार इस अवधि को और आगे बढ़ाएगी। लेकिन, अब किसी जिम्मेदार सरकार में 'अपर प्राइमरी' और 'लोअर प्राइमरी' और 'प्राथमिक' और 'माध्यमिक' (सेकेंडरी) शिक्षा के नामों के चक्कर में आकर, राष्ट्र कभी सात साल से कम अवधि की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए तैयार न होगा। दूसरी बात, जो इस प्रकार निश्चित समझनी चाहिए, यह है कि सात साल की शिक्षा मातृभाषा ही में होगी। तीसरी बात, जो मेरी राय में इन्हीं दो की तरह कभी हाथ से न जाने दी जाएगी, वह यह है कि शिक्षा के उन सात वर्षों में काम को बीच की जगह दी जाएगी और जहाँ तक हो सकेगा, उसके द्वारा दूसरी सिखाने और बताने की चीजें सिखायी और बतायी जाएँगी। इस तीसरी बुनियादी बात का भी, मेरे विचार से, कोई हृदय से विरोधी नहीं है। मगर, यह कुछ नई-सी बात है, इसीलिए इसके समझने में स्वयं बुनियादी शिक्षा के काम करने वालों को भी कठिनाई होती है। आप आज्ञा दें, तो मैं इस

थोड़े से शब्दों में अपना मत प्रकट करूँ कि वास्तव में शिक्षा-कार्य का महत्त्व क्या है? और हम जो किताबों के मदरसों को काम के मदरसों में बदलना चाहते हैं, तो काम से क्या मतलब होते हैं, या क्या मतलब लेना चाहिए।

"काम को शिक्षा में स्थान देने की चर्चा, आज से नहीं, बहुत दिनों से चल रही है। मगर, जितने मुँह, उतनी बातें! कोई कहता है, काम को सिद्धांत के रूप में मानो, उसे एक विषय (मजमून) मत बनाओ और कोई कहता है, उसे एक विषय बना दो, उसके लिए एक घंटा अलग दे दो, मगर और सब काम ज्यों-का-त्यों रहने दो। कोई कहता है, काम ऐसा हो कि कुछ दाम भी हाथ आएँ। कोई कहता है, हरकत में बरकत है—बच्चों को जरा हाथ-पैर चलाने का मौका दो, चाहे वह कुछ बने या न बने, यह कोई मजदूरों का काम थोड़े ही है, यह तो एक रचनात्मक (तकनीकी) काम है। मैं उन लोगों में से किसी से भी झगड़ा मोल नहीं लेता, केवल अपना मत प्रकट करना चाहता हूँ। मेरा विचार है कि जब हम शिक्षा के संबंध में काम की चर्चा करें, तो हमें वही काम ध्यान में रखना चाहिए, जिससे शिक्षा मिले, मस्तिष्क का विकास हो, आदमी अच्छा आदमी बने। मैं समझता हूँ कि आदमी का मस्तिष्क अपने किए को परख कर और उसके अच्छे-बुरे पर नजर करके तरक्की करता है। और आदमी जब कुछ बनता है या कोई काम करता है—चाहे यह काम हाथ का हो चाहे दिमाग का—तो इस काम से उसे मानसिक शिक्षा का लाभ तभी पहुँच सकता है, जब वह इस काम को पूरा करने के लिए अपना कर्त्तव्य भी पूरा करे, यानी इस काम के लिए अपनत्व का कुछ त्याग करे, अपने ऊपर नियंत्रण करे। काम से शिक्षा-संबंधी लाभ वही उठाता है, जो इसके लिए अपना कर्त्तव्य पूरा करने में इसके अनुशासन को भी अपने पर पूरी तरह लागू कर ले। इसलिए हर काम शिक्षा का काम नहीं होता। काम का संबंध शिक्षा से तब ही हो सकता है, जबकि इसके शुरू में मस्तिष्क कुछ तैयारी करे। जिस काम में मस्तिष्क का योग न हो, वह काम तो मुर्दा मशीन भी कर सकती है और इससे मस्तिष्क का विकास नहीं होता। काम से पहले काम का नक्शा, काम की रूपरेखा मस्तिष्क में बनाना जरूरी है। फिर दूसरा कदम भी मस्तिष्क से संबंध रखता है, यानी उस रूपरेखा को कार्यान्वित करने के साधन खोजना, उनमें से किसी को लेना, किसी को छोड़ देना। तीसरा कदम होता है, काम को चुने हुए साधनों से कर डालना। और चौथा कदम है, किए हुए को परखना कि जो नक्शा बनाया था, जो करना चाहता था, वही किया और जिस तरह करने का इरादा किया था, उसी तरह किया या नहीं और नतीजा इतना ठीक है या नहीं कि उसे आगे तक किया जाता। ये चार मंजिलें न हों, तो

शिक्षा का काम हो ही न सकेगा। लेकिन अगर ये चारों हों, तब भी हर काम शिक्षा का काम नहीं हो जाता। हर ऐसे काम से कुछ हुनरमंदी जरूर पैदा हो जाती है, चाहे हाथों की हुनरमंदी, चाहे मस्तिष्क की, चाहे जबान की। लेकिन हुनरमंदी शिक्षा नहीं है। शिक्षित आदमी का जो चित्र हम सबके सामने आता है, उसमें खाली हुनरमंदी का रंग नहीं होता। हुनरमंदी तो चोर भी करते हैं, हुनरमंद धोखे भी देते हैं, हुनरमंदी सच को झूठ कर दिखाते हैं। ऐसी हुनरमंदी तो शिक्षा का लक्ष्य नहीं हो सकती। शिक्षा का काम वही काम हो सकता है, जो किसी ऐसी मान्यता की सेवा करे, जो हमारी स्वार्थ-भावना से परे हो और जिसे हम मानते हों। जो अपने ही स्वार्थ के लिए काम करता है, वह हुनरमंद तो जरूर हो जाता है, मगर शिक्षित नहीं होता। जो मान्यता की सेवा करता है, वह शिक्षित हो जाता है। मान्यता की सेवा में आदमी अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, अपना स्वार्थ नहीं ढूँढ़ता। इससे वह आदमी बनता है—अपना नैतिक रूप सुधारता है; क्योंकि नैतिकता और है क्या, सिवाय इसके कि जो मान्यताएँ स्वीकार की जानी चाहिए, उनकी सेवा में आदमी अपनी इच्छाओं और लालचों और स्वार्थों को दबाए, और उस मान्यता की पूरी-पूरी सेवा करे, और उस सेवा का जो उद्देश्य है—उसका पूरा-पूरा पालन करे। काम की यह विशेषता हाथ के काम में ही हो सकती है और दिमाग के काम में भी, और उससे हाथ का काम भी हो सकता है और दिमाग का भी। सच्चे काम का मदरसा वही है, जो बच्चों में काम करने से पहले उस पर सोचने और करने के बाद उसे जाँचने और परखने की आदत डाले, कि काम से इस बात की आदत-सी हो जाए कि वे जब कभी कोई काम करें, हाथ का या दिमाग का, उसको सभी प्रकार से अपनी शक्ति लगा कर पूरा करने की कोशिश करें। काम को शिक्षा का साधन बनाने वालों को यह हरदम याद रखना चाहिए कि काम बिना उद्देश्य के नहीं होता और हर नतीजे से मेल भी नहीं खाता। काम बस कुछ करके वक्त काट देने का नाम नहीं। काम कोरी दिल्लगी नहीं—काम खेल नहीं, काम काम है। उसका लक्ष्य और श्रम से गठबंधन है। काम दुश्मन की तरह आप अपना हिसाब जाँचता है। फिर जब उसमें पूरा उतरता है, तो वह ऐसी खुशी देता है—जो और कहीं नही मिलती। काम साधना है, काम आराधना है।

"लेकिन साधना और आराधना के क्षेत्र में भी तो लोग स्वार्थी हो जाते हैं। अपने स्वार्थ का साधन जुटा लिया, दूसरे से क्या मतलब ? काम का सच्चा मदरसा अगर उचित शिक्षा की जगह है, तो काम को कभी अकेले व्यक्ति की स्वार्थसाधना नहीं बनने देता, बल्कि सारा मदरसे का मदरसा एक ही काम में लगा हुआ एक

समुदाय बन जाता है, उसमें सब मिल कर काम करते हैं और सबके काम ही से सब काम पूरा होता है। सब से सबका काम निकलता है और सब के किए बिना काम बिगड़ता है। किसी एक की भूल से सबके काम में बाधा पड़ती है। कमजोर को पीछे छोड़ कर आगे चल देना मुश्किल होता है। यों मिलजुल कर काम करने में कंधे-से-कंधा छिलता है—जिससे ऐसी विशेषताएं पैदा होती हैं, जिनकी हमारे देश में बड़ी कमी है। यानी आदमी का आदमी के साथ निर्वाह करना और अपने दायित्व के प्रति इतना सजग होना, जिससे कि समाज का हर काम हरेक का काम बन जाता है।

"और फिर काम का अच्छा मदरसा इस पर भी संतोष नहीं कर लेता कि इसके बच्चों ने काम से अपना सुधार या विकास कर लिया, काम से इसके बच्चों का अपना एक समाज-सा बन गया और वे उसके कर्त्तव्य और दायित्व को पहचानने और समझते ही नहीं—उनका पालन भी करने लगे, बल्कि काम का अच्छा मदरसा तो उस मदरसे के समाज को भी किसी ऊँचे लक्ष्य का सेवक बनाता है, जिससे कहीं यह न हो कि बच्चे व्यक्तिगत स्वार्थपरता से तो बच जाएँ, मगर इससे बच कर सामाजिक स्वार्थपरता के दलदल में फँस रहे। इसका तात्पर्य यह है कि काम का मदरसा अगर बन जाए, तो वह अपने बच्चों को उसी तरह काम करना सिखा देता है, जैसे कि काम होना चाहिए। वह उनको मिलजुल कर काम करने का मौका देता है, और उनमें यह विश्वास पैदा कर देता है कि उनका काम समाज की सेवा करना है और फिर उस समाज में भी इस बात की लगन पैदा कर देता है कि मनुष्य की कल्पना में अच्छे-से-अच्छे समाज का जो चित्र आ सकता है, उसके अनुरूप ही उसका समाज बनता जाए। वह इस बात की नींव डालता है कि समाज में हर आदमी कोई काम करे, उस काम को अपना सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्य समझे और अपने काम से और अपने जीवन से अपने समाज को एक आदर्श समाज बनाने में सदा पूरा-पूरा योग दे।

"अगर कभी हमारा समाज अच्छा समाज बन गया, तो वह ऐसे मदरसों के बिना एक पल भी कैसे चैन लेगा? लेकिन, जब तक पहले ऐसे मदरसे न होंगे, वह समाज आसानी से बन कैसे जाएगा? इसलिए जिससे बन पड़े, ऐसे मदरसे बनाए। मेरी प्रार्थना केवल आपसे नहीं, जो बुनियादी शिक्षा के समर्थक हैं, बल्कि उनसे भी है और दिल से है, जिन्होंने बुनियादी शिक्षा की योजना को बुरा समझा है। मैं उनसे केवल यह कहना चाहता हूँ कि बुनियादी शिक्षा अगर वही चीज है, जिसको मैंने

अभी चर्चा की है, तो आप उसके विरोधी कैसे हो सकते हैं? यह सच है कि किसी और चीज ने आपको उसका विरोधी बनाया हो। शायद आपको बुनियादी शिक्षा के उस पाठ्यक्रम में, जो एक निजी कमिटी ने बनाया था. कुछ बातें न भाती होंगी —कुछ बातें आपके विचार से उसमें कम होंगी—कुछ ऐसी हों, जिन्हें आप नापसंद करते होंगे, मगर 'पाठ्यक्रम' बुनियादी शिक्षा की स्कीम नहीं है, पाठ्यक्रम सिद्धांत नहीं है। पाठ्यक्रम ऐसा नहीं कि बदला न जा सके। पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते समय खुद इसे बनाने वालों ने भी यह कह दिया था कि यह तो जाँच, विचार और प्रयोग की वस्तु है। इस पर आज तक कोई आधी दर्जन कमिटियों ने विचार और बहस करके इसे कुछ-कुछ घटाया-बढ़ाया है और बहुत कुछ मान भी लिया है। लेकिन, यह मानना भी कोई आखिर बात नहीं। अभी दो दिन बाद इसी कांफ्रेंस में इस पाठ्यक्रम पर बहस होगी और न जाने इसके कितने दोष सामने आएँगे। लेकिन उन दोषों के कारण इस योजना के मौलिक सिद्धांतों को —जो मेरे विचार से उचित और उपयुक्त हैं—छोड़ न देना चाहिए।"

२२ मई, १९६३ ई० को बुनियादी शिक्षा की सफलताओं पर विचार करते हुए डॉ० जाकिर हुसैन ने बतलाया था कि देश में बुनियादी शिक्षा की प्रगति की जितनी आशा की गई थी, उतनी सफलता इस दिशा में नहीं मिल सकी; क्योंकि इसका कार्यान्वयन पूरी दिलचस्पी के साथ किया नहीं गया। आपने कहा कि ऐसी धारणा आम जनता की बुनियादी शिक्षा के संबंध में होती जा रही है कि यह शिक्षा प्रवंचना मात्र है। किंतु सचमुच में यह प्रवंचना है नहीं। अगर हमलोग इस दिशा में प्रयास करें और बुद्धि लगाएँ, तो यह शिक्षा सफल हो कर रहेगी। डॉ० जाकिर हुसैन ने ५ जुलाई, १९६३ ई० को बंगलोर में नगर-निगम की ओर से आयोजित नागरिक अभिनंदन के अवसर पर भाषण करते हुए पुनः कहा था कि यह कहना सही नहीं है कि बुनियादी शिक्षा नई तालीम की परियोजना विफल हो गई। वस्तुतः अनुचित आयोजना के जरिए हमने इसे तहस-नहस कर दिया। उन्होंने कहा कि वर्षों पूर्व महात्मा गांधी ने नई तालीम परियोजना को जन्म दिया और सरकार की शिक्षा-नीति के रूप में, सरकार के लाखों रुपए इसमें खर्च हुए। यह खेदजनक है कि लगभग पचीस वर्ष गुजर जाने के बाद सरकार कहे कि यह परियोजना विफल हो गई। केंद्रीय सरकार द्वारा इसकी स्वीकृति के पूर्व सभी राज्य सरकारों ने इस पर विचार किया था। ऐसी परियोजना विफल हो जाए, यह लज्जाजनक है। डॉ० जाकिर हुसैन ने उक्त अवसर पर यह भी कहा था, इस परियोजना की विफलता का एक कारण यह बतलाया जाता है कि शिक्षक नहीं मिलते। किंतु, यदि

शिक्षक नहीं मिले तो क्या कोई भी ऐसा बुनियादी स्कूल खोला गया है? वर्तमान शिक्षकों को प्रशिक्षित करके ही आगे बढ़ना है।

सन् १९५७ ई० में डॉ० जाकिर हुसैन ने बुनियादी शिक्षा योजना की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उसकी सम्यक् विवेचना की थी। उसी साल के नवंबर के अंत में बुनियादी शिक्षा संमेलन का बारहवाँ अधिवेशन मुजफ्फरपुर जिलांतर्गत तुर्की में संपन्न हुआ था। डॉ० जाकिर हुसैन उस समय बिहार के राज्यपाल थे। अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने अपना एक भाषण प्रस्तुत किया था। पाठकों के लिए उनका वह भाषण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे विषय की तह में जाने में उन्हें विशेष सुविधा हो—

"सभापतिजी, बुनियादी शिक्षा के पुराने साथियो और दोस्तो!

मैं सभापति जी, आपका और श्रीमती आशा देवी का हृदय से आभारी हूँ कि आपने इस संमेलन के लिए मुझे याद किया। इस वक्त मेरी आँखों के सामने वह राष्ट्रीय शिक्षा संमेलन फिर आ रहा है, जो सन् ३७ में गांधीजी ने बुलाया था और जिसके सामने उन्होंने पहले-पहल शिक्षा-सुधार पर अपने विचार प्रकट किए थे और वह बीज बोया था, जो बढ़ कर बुनियादी शिक्षा का फैला हुआ और फलता हुआ पेड़ बन गया। बापू उस समय बीमार थे, बहुत कमजोर हो रहे थे और उस संमेलन के सामने इस तरह बोल रहे थे, जैसे कोई जानेवाला बच्चा अपने आखिरी वसीयत करता है। उस समय राजनीतिक शक्ति देश के हाथ में आती हुई लगती थी, वर्षों की मेहनत के पेड़ में फल उकस रहा था, दुखी जनता के सदियों के अरमान के पूरे होने का ढंग दिखाई देता था। उस वक्त गांधीजी को जो विचार सता रहा था, वह यह था कि राजनीतिक शक्ति तो अंत में वही रुख लेगी, जैसी जनता होगी। जनता की शिक्षा का प्रबंध ठीक नहीं होगा तो इस शक्ति से राष्ट्रीय जीवन का बनना नहीं होगा, बिगाड़ हो सकता है,। फिर राजनीतिक जीवन में जो अहिंसक क्रांति फैल रही थी, उसे राष्ट्रीय जीवन में पूरी तरह रचना शिक्षा द्वारा ही मुमकिन था। इसलिए शिक्षा के संबंध में अपने विचारों को, जनता के सामने रखने के लिए गांधी जी बेचैन थे। उस वक्त जो लोग उनके सामने थे और उनकी धीमी आवाज को सुन रहे थे, उनको साफ लग रहा था कि बापू अपने उन विचारों को जनता के लिए, अपनी सबसे बडी और अपनी सबसे प्यारी देन समझते थे, और अगर गहराई में देखा जाए, तो ऐसा ही है भी। इसलिए कि गांधी जी के बताने पर और उनकी निगरानी में बुनियादी शिक्षा की योजना बनी और जिस पर

हरिपुर कांग्रेस में, जनता की कबूलियत की मुहर लगी, वह क्या है? हरिपुर कांग्रेस का प्रस्ताव इस विषय पर देखिए, तो उसने इसकी मूल बातों को साफ-साफ सरल शब्दों में बता दिया है।

चौदह वर्ष की उम्र तक की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा

"सबसे पहले तो यह कि यह शिक्षा, देश में ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चे और बच्चियों को निःशुल्क दी जाए और उन बच्चों के सात वर्ष जरूर शिक्षा में लगाने होंगे। सोचिए तो, इस मांग की जड़ में भी अहिंसा की ही रूह काम कर रही है। जनता में कुछ लोग ऐसे हों, जो शिक्षा पाएँ और विद्वान बनें और बाकी सारी जनता जाहिल और कुपढ़ रहे। कुछ ऐसे हों, जो उजले-उजले काम अपने लिए रख लें और बाकी सब मिट्टी में लिथड़े और धुएँ में काम करें। कुछ शब्दों के गोरखधंधे बनाएँ और ऊँचे उड़ जाएँ, और बाकी खून-पसीना एक करें और नीचे ही घिसटते रहें, यह सामाजिक जीवन में हिंसा है। अहिंसक समाज, एक को आगे बढ़ाने के लिए दूसरे को नीचे धक्का नहीं देता, वह तो सबको अपना जानता और सभी के विकास का प्रबंध करता है। होना तो यह था कि सबके लिए ऊँची शिक्षा का प्रबंध सरकार की ओर से बेदाम होती और जिसमें जो योग्यता होती, वह उसका पूरा-पूरा विकास कर पाता। पर, यह तो जरा दूर की बात है, देर की बात है। गांधीजी तो हमेशा कहते थे कि मेरे लिए एक पग बस है। एक पग जो ठीक तरफ उठता है, वह बहुत से अगले कदमों को रास्ता बताता है। इसलिए गांधीजी ने सात से चौदह वर्ष के बच्चों की शिक्षा को पहले, सारी जनता के लिए, जरूरी माना। बुनियादी शिक्षा के काम करने वालों को इस शिक्षा को १४ वर्ष की उम्र तक ले जाने के लिए, गांधीजी के आग्रह को भूलना नहीं चाहिए। बहुत से लोग ४ या ५ वर्ष की शिक्षा को सबके लिए काफी समझते थे और समझते हैं। गांधी जी ने सात वर्ष कम-से-कम माँगे थे। इसलिए कि जनता की ओर से यह दी जाए और जनता इसका सारा बोझ उठाए, तो फिर यह शिक्षा ऐसी तो हो कि जीवन भर साथ दे सके और केवल पढ़ना-लिखना ही, बस ऐसा न आए, जो कुछ दिनों में, वह भी भूल जाए, बल्कि काम करने, मिल-जुल कर काम करने, सहारा देने, सहारा लेने, काम को सोचने-समझने और परखने, अपनी चूक को जानने और ठीक करने। जिस समाज में जीवन बीते, उसकी सेवा में अपना भला देखने की आदत तो पड़ जाए, जिसे आगे चलकर केवल मस्तिष्क से काम करना है, वह भी हाथ के काम से बिलकुल बेखबर तो न हो, उसको नीच काम तो न जाने, उसकी मुश्किलों और हरकतों को बरत कर जान-पहचान चुका हो। ये सब बातें बहुत कच्ची उम्र में नहीं

हो सकतीं, इसलिए बच्चे-बच्चियों को कम-से-कम १४ वर्ष की उम्र तक पाठशालाओं में रहना चाहिए। होते-होते यह समय और बढ़ाना पड़ेगा। पर, शुरू में कम-से-कम १४ वर्ष तक इस शिक्षा का प्रबंध सबके लिए होना चाहिए।

"दोस्तो! आप सबको याद होगा कि जब सात साल की बुनियादी शिक्षा की यह योजना बनी थी, तो अंगरेज अभी हिंदुस्तान में राज्य करते थे। कांग्रेस ने उनके होते हुए जो अधिकार लिया था, वह भी दूसरी जंग छिड़ने पर छोड़ दिया था। पर, अंगरेज जान गए थे कि उनको बहुत दिन अब इस देश में रहना नहीं है, जंग के जमाने में उन्होंने जंग के बाद के बहुत से मनसूबे बनाए थे, जिसमें शिक्षा के मनसूबे भी थे। यह देख कर कि बुनियादी शिक्षा के विचार से हिंदुस्तानी जनता के सामने एक बड़ा आदर्श रख ही दिया है, उन्होंने अपने शिक्षा के मनसूबों में भी बुनियादी शिक्षा के उसूलों को बहुत कुछ मान लिया था और इस योजना से एक कदम आगे बढ़ने के लिए यह कहा था कि ७ से १४ की जगह शिक्षा का प्रबंध ६ से १४ वर्ष तक के बच्चों के लिए चाहिए। बुनियादी शिक्षा वालों ने कहा, अच्छा आपके मुँह में घी-शक्कर! जरूर ७ साल की जगह ८ साल की शिक्षा हो। पर, इस योजना में जिसे 'सारजेंट योजना' कहते थे, इस ८ साल को दो हिस्सों में बाँट दिया गया था, एक ५ वर्ष का और एक ३ वर्ष का। बुनियादी शिक्षा का काम करने वालों का माथा तभी ठनका था और वे डरे थे कि यह बाँट अंत में जरूर रंग लाएगा। उन्होंने उसी वक्त कह दिया था कि ऐसा न होने पाए और किसी हालत में इस शिक्षा के काम को ११ वर्ष की उम्र में छोड़ न दिया जाए। पर, आप देखते हैं कि कहीं-कहीं नहीं, बहुतेरी जगह हो यही रहा है। अंगरेज तो चला गया, अब हम आप ही सोच रहे हैं कि क्यों न पहले ११ वर्ष तक की उम्र का प्रबंध किया जाए? मैं समझता हूँ कि यह बड़ी चूक है, इससे काम अधूरा ही नहीं रहेगा, बल्कि सिरे से होगा कि राष्ट्रीय शिक्षा हो रही है और उस पर करोड़ों रुपए लग रहे हैं। पर, खाली रुपया के खर्च हो जाने से तो काम नहीं बन जाता। काम तो काम की तरह करने से बनता है। अगर कोई मुझे समझा दे कि ६ वर्ष से १४ वर्ष तक, ८ वर्ष की शिक्षा का प्रबंध करने के सामान नहीं है, पाँच ही साल का प्रबंध हो सकता है, तो मुझे यह कहने में जरा भी झिझक नहीं होगी कि अगर ऐसा ही है, तो फिर ९ वर्ष से १४ वर्ष तक की शिक्षा का प्रबंध किया जाए, ताकि बच्चे उस उम्र तक शिक्षा पाएँ, जिस उम्र में उन बातों को समझ सकें, उन आदतों को पैदा कर सकें, वह सामाजिक झुकाव उनमें पैदा हो सके, जिसके कारण यह शिक्षा दी जा रही है। बुनियादी शिक्षा में काम करने वाले को इस ओर जरूर ध्यान देना चाहिए और

कोशिश करनी चाहिए कि यह शिक्षा १४ वर्ष से कम उम्र में न रोक दी जाए। एक और बात इस सिलसिले में यह है कि इस ८ साल के प्रोग्राम को ५ साल का करने पर भी, यह शिक्षा उस तेजी से फैल नहीं रही है, जैसी आशा की जाती थी। सारजेंट योजना में यह हिसाब लगाया जाता था कि ६ से १४ वर्ष के सभी बच्चों को पाठशालाओं में लाने में ४० वर्ष लगेंगे। जिस हिसाब से काम आगे बढ़ रहा है, उससे तो मैं डरता हूँ और हरेक देख सकता है कि यह काम ४० वर्ष में भी न हो पाएगा। और ४० वर्ष यह जमाना तो एक परदेशी राज्य ने मुकर्रर किया था। हमारा राष्ट्रीय विचार, जैसाकि हमारे विधान से पता चलता है, यह था कि यह काम १० वर्ष में पूरा होना चाहिए। देश के शिक्षा-मंत्री; मौलाना अबुल कलाम आजाद ने सन् १९४८ में ऑल इंडिया एडुकेशन कोंग्रेस नई दिल्ली, में फरमाया था कि "पुरानी हुकूमत के जमाने में जो प्रोग्राम काफी माने जाते थे, अपना आजादी हासिल करने बाद हमें उनसे तशफ्फी नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए एक क्षण के लिए भी, कोई आज गवारा नहीं कर सकता कि पहले इसके कि बुनियादी शिक्षा की पूरी योजना इस देश के सभी लोगों के लिए लागू की जा सके, चालीस बरस बीत जाने चाहिए। सच तो यह है कि इस अवधि के आधे में भी बहुतेरों को विलंब और दीर्घसूत्रता की गंध प्रतीत होगी। इसलिए हमें ऐसे तरीके निकालने चाहिए, जिनसे हमारे देश की शैक्षिक प्रगति में पूरी गति लायी जा सके और हम अपने लक्ष्य तक अपेक्षाकृत बहुत कम समय में ही पहुँच जा सकें।

"मैं जानता हूँ कि हमें बहुत सी कठिनाइयों और रुकावटों का मुकाबला करना है। उन सब पर पूरे तौर से विचार के बाद भी मैं फिर भी ज़ोरों के साथ कहूँगा कि शिक्षा ठहर नहीं सकता। इन कठिनाइयों के कारण चाहे शासन के अन्य निर्माण-कार्यों को स्थगित या धीमा करना भी पड़े, कम-से-कम शिक्षा को तो जहाँ तक संभव हो, तेजी के साथ आगे बढ़ाना ही चाहिए। हमें क्षण भर के लिए नहीं भूलना चाहिए कि कम-से-कम बुनियादी शिक्षा के पाने का हर व्यक्ति को जन्मसिद्ध अधिकार है; क्योंकि बिना उनके वह अपने नागरिक के कर्त्तव्यों को पूरे तौर से चुका नहीं सकता।"

"उनके यह शब्द जनता के दिल की आवाज थे, पर जो हो रहा है और जिस चाल से हम बढ़ रहे हैं, उससे इसके पूरा होने का उम्मीद नहीं की जा सकती। आपको अपने-अपने प्रदेश का हाल मालूम होगा। यहाँ बिहार प्रदेश में पहली पंचवर्षीय योजना का कोशिश से यह हुआ है कि ६ से ११ वर्ष की उम्र तक के जो

बच्चे पाठशालाओं में जाते थे, उनसे ३ लाख ९४ हजार अधिक बच्चे अब जाते हैं। बड़ी संख्या है और यह सुन कर जी खुश होता है कि इतने बच्चे और शिक्षा पाने लगे, पर जरा ध्यान दीजिए तो यह भी पता चलता है कि ६ से ११ वर्ष तक के जितने बच्चे पहले पाठशालाओं में नहीं जाते थे, उनकी संख्या घटी नहीं है, बढ़ी है और योजना के खत्म होने पर उससे २ लाख २० हजार ज्यादा बच्चे पाठशालाओं से बाहर हैं। और ११ से १४ तक के सन् ५५-५६ में एक लाख ८३ हजार बच्चे, सन् ५०-५१ से ज्यादा पाठशालाओं के अंदर नहीं, पाठशालाओं के बाहर थे। इस रफ्तार से तो ४० वर्ष क्या, कभी भी ६ से १४ वर्ष के सब बच्चे पाठशाला में नहीं पहुँच पाएँगे। इस संमेलन को और देश में शिक्षा के सब काम करने वालों को इधर जल्द ध्यान देना चाहिए। अगर हमें इस देश को वैसा बनाना है, जैसा राष्ट्रपिता चाहते थे, जैसा हम सब चाहते हैं, तो राष्ट्रीय कामों में शिक्षा के काम को सबसे ऊँचा स्थान देना होगा। सब काम ठीक हो, शिक्षा ठीक न हो, तो सब काम बिगड़ जाएँगे। कोई काम ठीक न हो और शिक्षा ठीक हो, तो सब काम सँभाले जा सकेंगे।

बुनियादी शिक्षा में भाषा का प्रश्न

"दूसरी जड़ की बात तो उस योजना में थी, जिसे गांधी जी ने बनवाया था और जो हरिपुर कांग्रेस में मंजूर हुई थी, यह थी कि सात साल की यह शिक्षा मातृ-भाषा के द्वारा होगी। देखिए तो इसमें भी गांधी जी की अहिंसा की झलक है। सामाजिक हिंसा कभी-कभी यह रूप भी लेती है कि एक समाज दूसरे समाज पर या एक ही समाज का एक अंग दूसरे के सर पर उसकी मरजी के खिलाफ, अपनी भाषा थोपना चाहता है। यों तो आदमी अपने काम के लिए, अपनी बातें समझने और दूसरों को समझने के लिए, दूसरों की भाषाएँ भी सीखते ही हैं और ऐसा न करें, तो बहुत से काम ही न चलें। पर बच्चा अपनी माँ की भाषा सबसे पहले सीखता है। माँ के दूध के साथ यह भी उसकी घूटी घूटी में घुल जाती है। इसी के द्वारा वह अपने वातावरण को पहचानता है, आदमियों और चीजों से अपने संबंध को समझता है, उसी में सोता है और उसके विचार किसी के शब्दों का ओढ़ना ओढ़ते हैं। उसे बचपन में दूसरी भाषा के द्वारा सब कुछ सिखाने की कोशिश उसके साथ बड़ी ज्यादती है। इस उसूल को भी सबों ने माना है और अगर कहीं इसमें कुछ असर है, तो उसको जरूर ठीक करना चाहिए। इस पर अड़ना बुनियादी शिक्षा की अहिंसक रूह के खिलाफ है।

"हाँ, जैसा कि मैंने कहा, आदमी दूसरी भाषाएँ भी सीख सकता है, अगर उसे सब कुछ उसी में सीखना न पड़े। प्रश्न है कि बुनियादी शिक्षा के जमाने में कोई दूसरी भाषा सीखनी चाहिए या नहीं? बुनियादी शिक्षा का जो कार्यक्रम पहले बना था, उसमें कोई दूसरी भाषा नहीं रखी गई थी, सिवा इसके कि जिन बच्चों की भाषा हिंदी नहीं है, उन्हें ऊपर के २-३ दरजों में राष्ट्रभाषा हिंदी सीखनी होगी और यह बात समझ में भी आती है। बुनियादी शिक्षा तो बुनियादी शिक्षा है, उसमें वह सिखाने और वह बनाने का प्रबंध होगा, जो देश में सबों को जानना है और हर देश वालों को बनना है। देश की अलग-अलग भाषाएँ बोलने वालों को नजदीक लाने के लिए एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश वालों में रिश्ता जोड़ने के लिए राष्ट्रभाषा कुछ-न-कुछ तो सबों को आनी ही चाहिए, इसलिए ऐसा रखा गया था। किसी और भाषा का जानना सब हिंदुस्तानी के लिए के लिए कब जरूरी है? बेशक अंग्रेजी का हमारे देश में खासा चलन है और भी बस गिनती के आदमी उसे बोलते और समझते हैं। पर, अंग्रेजी राज्य के कारण कुछ ऐसा है कि ये सब ऊँची जगहों पर हैं। इसलिए उन्हें कभी-कभी ऐसा लगता है, जैसे अंग्रेजी ही देश की भाषा हो। पर, कोई भी सोचेगा, तो देख लेगा कि हर हिंदुस्तानी को अंग्रेजी जानना आवश्यक नहीं है। हमारे पढ़े-लिखे किसानों को, हमारे पढ़े-लिखे कारखानों में काम करनेवालों को, हमारे-करोड़-दर-करोड़-पढ़े-लिखे दूसरे धंधे वालों को अंगरेजी की भला क्या जरूरत होगी? उनके लिए उनकी अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा सब कामों के लिए बस है। इसीलिए बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रमों में अंग्रेजी को स्थान नहीं दिया गया और ठीक नहीं कि बुनियादी शिक्षा हमारे राष्ट्र-जीवन में कोई अलग टापू नहीं है, जिसका बाकी जीवन से कुछ संबंध न हो। अगर बाकी कामों को इसकी वजह से बदलना होगा, तो शायद दूसरे कामो के कारण बुनियादी शिक्षा को भी थोड़ी-बहुत रियायत करनी होगी। जब तक देश के विश्वविद्यालयों में शिक्षा अंग्रेजी भाषा में चलती है, जब तक हिंद सरकार का बहुत काम अंग्रेजी मे होता है, जब तक प्रदेश-प्रदेश के बीच अंग्रेजी चलती है, जब तक कानून वाले अंग्रेजी कानून से काम करते हैं, ऊँची अदालतों में पैरवी अंग्रेजी में होती है और फैसले अंग्रेजी में दिए जाते है, जब तक वैज्ञानिक साहित्य से हमारी प्रदेशी भाषाएँ और हिंदी भाषा मालामाल नहीं कर दी जातीं, उस वक्त तक,शायद यही सूरत होगी कि जो लोग ऊपर की शिक्षा विश्वविद्यालयों में पाएँगे; उन्हें अंग्रेजी पहले से सीखनी होगी। अच्छा होता कि ये बुनियादी शिक्षा के समाप्त होने के बाद अंग्रेजी सीखते। और मैं समझता हूँ कि अगर सकेंडरी स्कूलों और कॉलेजों में इस काम को रखा जाता और अंग्रेजी के शिक्षकों को अच्छी तरह तैयार किया जाता. भाषाएँ पढ़ाने के नए-नए और अच्छे तरीकों को अपनाया जाता,

तो जितनी अंग्रेजी इस उच्च शिक्षा के लिए चाहिए, वहाँ सिखायी जा सकती थी। पर यह शिक्षकों का और तरीकों का सुधार होता नजर नहीं आ रहा है और जल्दी में होना मुश्किल भी है। इसीलिए शायद अंग्रेजी सीखने की मुद्दत को कुछ बढ़ाना होगा और बुनियादी शिक्षा के आखिर तीन दरजों—छठवें, सातवें, आठवें--में इसका प्रबंध-करना होगा। यह नहीं कि सबको अंगरेजी सीखनी पड़े, इसलिए कि बिल्कुल जरूरी नहीं है। जो करोड़ों बच्चे बुनियादी शिक्षा के आगे जाना हीं नहीं चाहते हैं, उनको तो इसकी कोई जरूरत हीं नहीं। हाँ, जो चाहते हैं, उनके लिए इंतजाम कर देना होगा और इस तरह अंगरेजी शायद बुनियादी शिक्षा के आखिर तीन वर्षों में ऑप्शनल विषय की हैसियत से जगह पा जाएगी। इस विषय पर भी इस संमेलन में सोच-विचार करना चाहिए।

एडुकेशनली प्राडक्टिव वर्क

"तीसरी जो गांधी जी की बनवायी हुई योजना में बहुत महत्त्व की बात थी, वह यह थी कि बुनियादी शिक्षा केवल शब्दों और किताबों की शिक्षा नहीं होगी, बल्कि जीवन की शिक्षा होगी। आदमी के जीवन के तीन बड़े-बड़े मरकज हैं: एक उसका प्राकृतिक वातावरण, एक उसका सामाजिक वातावरण और एक उसका काम। इस योजना में, अहिंसा के अनुसार इन्हीं तीन को शिक्षा का मरकज भी माना गया है। इसमें बच्चों के लिए एक काम होगा, खेल नहीं काम, बेनतीजा काम नहीं, ऐसा काम जिससे कुछ काम की चीजें बनें, जो उसके अपने काम आ सकें या उसके साथियों और पड़ोसियों के काम आ सकें। इसमें दो बातें अच्छी तरह याद रखने की हैं। एक तो यह कि उस योजना में खाली काम शिक्षा का मरकज नहीं है, बच्चे का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण भी है। लेकिन, काम को बेशक इसमें बीच की जगह दी गई है, जैसे कि जीवन में काम को बीच की जगह मिली हुई है। इस बात की बहुत चर्चा रही है। हमारे देश में खासकर, चूँकि पढ़े-लिखे लोग हाथ के काम से दूर भागते हैं और अब तक भाग सकते भी थे, इसलिए उन्हें यह हाथ के काम का शिक्षा में लाना जरा नहीं भाया और उन्होंने तरह-तरह से इसकी भाँजी मारी, किसी ने एक ढंग से, किसी ने किसी और ढंग से। किसी को यह नहीं भाता कि बच्चे काम करें। यह तो पाठशाला नहीं, कारखाना हो गया। कोई कहता है कि शिक्षा में बच्चों से कमाई कराना ऐब है, और अक्सर वे लोग हो यह कहते हैं कि जो शिक्षा के लिए रुपया निकालते वक्त बताते हैं कि रुपया तो और कामों में लग गया, शिक्षा पर इतना रुपया कहाँ से खर्च हो? कोई कहता है कि अगर शिक्षा हाथ के काम के द्वारा हुई, तो बड़े-बड़े विद्वान और कवि और लेखक कैसे पैदा हों? हमारा देश तो बुनकरों और बढ़इयों, लुहारों और कुम्हारों और किसानों का देश हो कर रह जाएगा।

गरज, जितने मुँह उतनी बातें। इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस विषय की ओर आपका ध्यान खास तौर पर फेरूँ, ताकि बुनियादी शिक्षा के काम करने वालों के विचार तो उस पर साफ हो जाएँ। मैंने कोई ३५ वर्ष शिक्षा का काम किया और उसके संबंध में दूसरों के विचारों को भी देखा और खुद भी कुछ-न-कुछ सोचा। मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि शिक्षा जो मस्तिष्क का विकास करना चाहती है, और यही उसका काम है, तो उसका यह काम तो काम ही से हो सकता है, कोई और सूरत उसकी है ही नहीं। इस बात को आदमी अच्छी तरह समझ लें, तो शिक्षा की बहुत-सी भूलों से बचा जा सकता है। मैंने कहा; शिक्षा काम ही से हो सकती है, इसका क्या मतलब? सोचिए तो जरा, शिक्षा होती कैसे है? मस्तिष्क का विकास होता कैसे है? यह ऐसे ही होता है जैसे शरीर का विकास अच्छे, मन-भाते, जी के लगते खाने और उसे पचाने से। पचाने के लिए शरीर को हिलाना-डुलाना, मेहनत करना, कसरत करना पड़ता है। इसी से शरीर का विकास होता है। शरीर स्वस्थ रहता है, उसमें बल आता है। मस्तिष्क का विकास भी मस्तिष्क के अच्छे मनभाते खाने और मस्तिष्क की कसरत से होता है। मस्तिष्क का खाना होती है, मस्तिष्क की बनाई हुई चीजें। ये जीवन को अच्छी तरह काटने की सारी चीजें सब मस्तिष्क ही ने तो सोची और बनायी हैं। खाने की चीजें, पहनने को कपड़े, रहने को मकान, चलन और बर्ताव के तौर-तरीके, रीति और रिवाज, कानून, कला, साहित्य, कविता, दर्शन, पूजा-पाठ, इबादत, मस्जिद, मंदिर, गुरुद्वारे, भाँति-भाँति के धंधे, राजनीतिक, लोकनीतिक संस्थाएँ सब इसी मस्तिष्क की ही सोची और बनाई हुई चीजें हैं। ऐसा लगता है कि मस्तिष्क ने अपनी शक्तियों को इसमें छुपा दिया है, सुला दिया है, इनका रूप पहना दिया है, मानसिक शक्ति इनमें बंद कर दी है, ये मानसिक शक्ति के खजाने हैं। जब कोई नया उसकता, उभरता मस्तिष्क इनसे दो-चार होता है और इनमें सोयी हुई शक्तियों को अपने अंदर जगाता है, इनके खजाने को अपने लिए खोलता है, इनमें छुपी हुई शक्तियों को अपने लिए उजागर करता है, तो उसी जगाने और उजागर करने और बरतने से उसका विकास होता है। उसे इन पर मेहनत करनी होती है, इनकी तह में जाना होता है, इनको अपनाना होता है। यह सारा-का-सारा मस्तिष्क का काम है और वह सब कुछ जिस पर यह काम होता है, मस्तिष्क की खुराक है, और यह उनका सुलझना और बरतना और जगाना उसकी कसरत है। जब तक मस्तिष्क की चीजों पर काम नहीं करता, उस वक्त तक ये उसके काम की नहीं होतीं। जब वह इनको अपनाता है, तो अपने विकास का सामान करता है। याद रहे, कि केवल जानकारी और खाली महारत से मस्तिष्क का विकास नहीं होता, यानी शिक्षा नहीं होती, जानकारी और महारत से

तो सच्ची शिक्षा का ठीक अंदाजा भी नहीं हो सकता। शिक्षा का साधन बनाने के लिए हमें जानकारी जानकारी में फर्क करना होगा। जानकारी दो तरह से हो सकती है। एक वह जानकारी जो किसी और ने हासिल की और हमें सिर्फ बता दी है, हमें उसकी खबर दे दी है। एक जानकारी वह जो हमने आप अपनी खोज से, अपनी मेहनत से हासिल की है, वह जानकारी जो हमारे अपने मस्तिष्क में तैयार हुई है। ऐसे ही महारत भी दो तरह की हो सकती है। एक तो खाली मेकानिकी महारत, जो मेहनत के साथ किसी और की नकल करने से आ जाती है और एक वह महारत जिसमें हम काम की तह तक पहुँचते हैं; उसकी क्यों और कैसे को समझते हैं। पहली तरह की जानकारी और पहली तरह की महारत ऐसी होती है, जैसे किसी ने बाहर से लाकर कोई चीज जोड़ दी है, दूसरी तरह की जानकारी और महारत अंदर से मस्तिष्क को बनाती और ढालती है। एक दुमछल्ला है, तो दूसरी विकास है। एक से आदमी बढ़ जाता है, तो दूसरी से कढ़ जाता है। शिक्षा के सारे व्यवहार में पहले दिन से आखिर दिन तक, छोटे बच्चे की शिक्षा से लेकर ऊँची-से-ऊँची शिक्षा तक यही दूसरी तरह की जानकारी और महारत सच्ची शिक्षा का साधन होती है। इस बात को मैंने पहले भी बहुत बार 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क' के नाम से पेश किया है। इसलिए कि लोग प्रोडक्टिव वर्क को खाली आर्थिक माने में लेते हैं। मेरी समझ में शिक्षा नाम ही है 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क, करने का। यह काम असल में मस्तिष्क का काम है, कभी हाथ के काम से और कभी हाथ के काम से अलग। यह हाथ का काम भी हो सकता है और मस्तिष्क का काम भी। और बहुत सा हाथ का काम और बहुत सा मस्तिष्क का काम 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव' नहीं भी होता। काम ऐसा तभी होता है, जब उससे नए विचार पैदा होते हैं या जो विचार पहले से हैं, उनके नए जोड़ बनते हैं और मस्तिष्क के जीवन को बदलते या उभारते हैं या विचारों को पूरा करने या उन्हें पेश करने की शक्ति को बढ़ाते हैं। इसी उद्देश्य के कारण वह खेल से अलग एक चीज होती है। खेल के सामने कोई ऐसा उद्देश्य नहीं होता, इसलिए उस पर बच्चे का ध्यान ज्यादा देर तक नहीं जमता। इस 'एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क' के सामने चूँकि विकास की मंजिल होती है, इसलिए इसमें उद्देश्य से उद्देश्य निकलता है : एक कंकड़ से जीवन के समुद्र में लहरों के चक्कर-पर-चक्कर उभरते हैं, सारा जीवन इस काम में लग जाता है, सारी शक्तियाँ इस पर पिल जाती हैं, आदमी उलझता है, सुलझता है, गिरता है, सँभलता है, रुकता है, फिर बढ़ता है और यों बिना किसी के मजबूर किए उसमें मेहनत-मशक्कत कर, जान खपा कर, जी लगा कर, जम कर; अपने मानसिक जीवन के विकास में

लगने की आदत पड़ती है। एक-एक उलझाव को सुलझाने के लिए, उसे न जाने क्या-क्या यत्न करने पड़ते हैं। दिलचस्पी से एक काम को पूरा करने के लिए न जाने कितने अजीर्ण काम वह खुशी-खुशी अपने सर लेता है और ये सब उसके उद्देश्य के कारण दिलचस्प लगने लगते हैं। जो लोग बुनियादी शिक्षा में 'कोरिलेशन' पर चर्चा करते हुए घड़ी-घड़ी यह सुझाते हैं कि सब कुछ जो सीखना है, उसे काम से कोरिलेट (Corrilate) नहीं किया जा सकता है और समझते हैं कि बड़ी दूर की कौड़ी लाए, वे इस गूढ़ तत्त्व को नहीं समझते। अगर एक प्रश्न का रिश्ता बच्चे का काम से या उसके सामाजिक या प्राकृतिक वातावरण से जुड़ गया, तो वह उसकी छोर तक पहुँचने के लिए न जाने जितनी ड्रिल को झेल लेगा और यह ड्रिल भी उस उद्देश्य की वजह से केवल बाहर से डाला हुआ बोझ नहीं रहेगी, उद्देश्य वाला काम बन जाएगी। इसलिए कोई यह न समझे कि एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क के साथ बाहर से दी हुई जानकारी और नकल करने वाली या महारत की जगह ही नहीं है। है, और जरूर है। पर, उसकी सेवा में और उसकी सोहबत से इसका रंग भी बदल जाता है।

"दोस्तो ! एक और बात भी भूलनी नहीं चाहिए। मस्तिष्क के विकास का काम हरेक अपने लिए करता है। सच पूछो, तो यह हर अकेले का अपना-अपना काम है, पर शिक्षा के सामने तो समाज भी होता है और होना चाहिए। अपने मस्तिष्क और बुद्धि के विकास में लगे हुए लोग, हो सकता है कि समाज की तरफ से बेखबर हों, उसके लिए बेकार हों, अधूरे आदमी हों, बड़े विद्वान और बुद्धिमान हों, पर समाज पर बोझ हों। इसलिए जरूरी है कि मस्तिष्क के विकास का काम चाहे कला से हो या विज्ञान से हो, चाहे साहित्य से हो, चाहे उद्योग से हो, उसका समाज-सेवा से संबंध जोड़ा जाए, ताकि वे लोग बुद्धि के विकास के बस अधूरे आदमी न रह जाएँ, पूरे आदमी बनें। हमें अपने सब शिक्षा के केंद्रों को ऐसा ही बनाना चाहिए कि उनमें हरेक के मस्तिष्क और बुद्धि का पूरा-पूरा विकास भी हो और वे सामाजिक आदर्शों की सेवा के लिए भी तैयार हों। मैंने जो कहा है—'शिक्षा के सब केंद्रों' वह इसलिए कि बगैर इस 'प्रोडक्टिव एडुकेशनली वर्क' के और बगैर इस सामाजिक संबंध के कोई केंद्र, चाहे छोटा हो या बड़ा, शिक्षा का सच्चा केंद्र नहीं कहला सकता।

बुनियादी शिक्षा में हाथ का काम

"लेकिन यहाँ तो बात बुनियादी शिक्षा की थी, तो बुनियादी पाठशाला भी ऐसा ही केंद्र होना चाहिए। पर, बुनियादी पाठशाला चूँकि ६ से १४ वर्ष के बच्चों

की शिक्षा का केंद्र है, इसलिए वहाँ इस एडुकेशनली प्रोडक्टिव वर्क की सूरत हाथ के काम की होगी। इस उम्र में बच्चे कुछ-न-कुछ करना चाहते हैं, बनाते हैं, बिगाड़ते हैं, उनके हाथ सदा बेचैन रहते हैं। वे हाथ ही से बरत कर चीजों को जानते-पहचानते हैं और कुछ करके ही सीखते हैं। इस उम्र में मस्तिष्क को अपनी मनभाती खुराक इसी काम के द्वारा मिलती है। खेती-बारी में, कपड़ा बुनने में, रहन-सहन की चीजों के बनाने में और उनके साधनों में, क्या आदमी के मस्तिष्क की कैसी-कैसी कोशिशें छुटी हुई नहीं हैं? इन बच्चों के बेकल हाथ इन्हीं चीजों और कामों में छुटी हुई शक्तियों को उभार कर, इन्हीं में सोए हुए विचारों को जगा कर अपनी बुद्धि के विकास का सामान करते हैं, अगर यह काम उन्हें ठीक तरह से करने दिया जाए, तो इस उम्र में हाथ का काम ही एडुकेशनली-कम-प्रोडक्टिव वर्क का सबसे अच्छा मौका देता है। काम को सोचना, उसके करने का साधन ढूंढ़ना और बनाना, फिर काम को करना और करके उसकी कड़ी जाँच करना कि ठीक किया कि नहीं, हर बार इसे पहले से बेहतर करने की कोशिश, फिर इस काम की जाँच की आसानी, कोई चूक नहीं हो जो अपने को जतला न दे, कोई भूल नहीं जो साफ-साफ अपना मत न दे, कोई गफलत नहीं जो पूरी-पूरी सजा न दे। दूसरे मस्तिष्क के कामों में आदमी सारी उम्र विचारों के उलझावों में, शब्दों के फेर में, काट देते हैं और पता नहीं चलता है कि कहाँ से बहके थे। इस हाथ के काम में झट पता चल जाता है। गरज इस उम्र के लिए हाथ का काम शिक्षा का बहुत ही अच्छा साधन है। यह आर्थिक काम शैक्षिक काम हो जाता है।

इस सिलसिले में एक बात और कहता चलूँ। बुनियादी शिक्षा में हाथ के काम को जो बीच का स्थान दिया गया है, उसको तो बहुत लोग दूसरे देशों के शैक्षिक विचारों के सहारे मान भी लेते हैं। पर, जब यह कहा जाता है कि यह शैक्षिक काम कुछ आर्थिक फल भी देगा या इसे देना चाहिए, तो लोग बहुत ही भड़कते हैं। मैं इस भड़क को समझता हूँ और मुझे यह डर हो कि यह काम बुनियादी पाठशाला में केवल इसलिए लाया गया है कि कुछ कमाई हो जाए, तो मैं भी कहूँ, जो ये लोग कहते हैं। इसलिए कि अगर इसे केवल कमाई के लिए लाया गया, तो यह उसी तरह का मेकानिकी काम हो जाएगा, जिसकी बाबत मैं अभी कह चुका हूँ कि उससे शिक्षा यानी मस्तिष्क का विकास नहीं होता। लेकिन, बुनियादी शिक्षा में तो हाथ का काम शैक्षिक रूप से लाया गया है, आर्थिक रूप से नहीं। हाँ, हाथ के काम के सामने भी कोई उद्देश्य होता है। काम का हक जब ही अदा होता है कि वह उद्देश्य पूरा हो। इसी से उसकी शैक्षिक शक्तियाँ पूरी-पूरी

काम में आती है। हाथ के काम से कुछ बनाना हो, तो पूरी शिक्षा होने के लिए उसका बनना भी जरूरी है। अगर वह काम की चीज होगी, तो उसके कुछ दाम भी होंगे। इससे उसकी शैक्षिक हैसियत पर कुछ आंच नहीं आती। और अगर इस काम से वह न बना, जिसके बनाने के लिए काम किया गया, तो उससे इस काम की आर्थिक हैसियत तो खत्म हो ही जाएगी, साथ ही उसकी शैक्षिक हैसियत भी ठप हो जाएगी। हाथ के काम से कुछ कमाई होना उसकी शैक्षिक हैसियत की तरह सफल होने के लिए भी जरूरी है। काम में ढील देकर, उसे वेपरवाही से करके उसको वेदिली से टाल कर ठीक शिक्षा नहीं हो सकती। इसलिए हाथ का काम शिक्षा में आए तो उसका पूरा-पूरा हक अदा होना चाहिए, तभी शिक्षा में उसका फल मिल सकता है। आर्थिक मूल्य असल गरज नहीं, शिक्षा के इस फल का नाप है। इस नाप से घबड़ा कर भागना ठीक नहीं।

"साथियो और दोस्तो ! मैंने आपका बहुत समय ले लिया, बुनियादी शिक्षा के बुनियादी उसूलों पर अपने विचार आपके सामने रखने में। यों तो बुनियादी शिक्षा का काम अब कोई २० साल से देश के सामने है। पर, कभी-कभी काम करने वालों और काम लेने वालों से मिलता और बातें करता हूं, तो ऐसा लगता है कि सब कुछ जो २० वर्ष पहले कहा था, उसके दोहराने की आज तक जरूरत है, इसलिए मैंने ऐसा किया।

दो-अमली का अंत आवश्यक

"अब दो-चार बातें इस पर कहना चाहता हूं कि जिस ढंग से वह काम चल रहा है, उसमें मेरी समझ में क्या-क्या बातें जरूरी हैं। सबसे पहली बात जो मेरे ध्यान में आती है, यह है कि यह जो बुनियादी शिक्षा को बिलकुल अलग चीज बना कर रखा गया है, यह ठीक नहीं है। बुनियादी शिक्षा के जो सिद्धांत हैं, उन्हें उन सब लोगों ने माना है, जो देश में शिक्षा चलाते हैं। यह राज्य-राज्य में, सरकार की तरफ से चलायी भी जा रही है, बुरी-भली जैसी भी है। हिंद सरकार भी हर तरह इसके पीछे है। पर, लगता है, फिर भी ऐसा है कि जैसे यह कोई बाहर की चीज हो। अगर यह अच्छी चीज है, तो इसे उन सब पाठशालाओं में चलाना चाहिए, जो ७ से १४ वर्ष के बच्चों के लिए है। अगर बुरी चीज है, तो इसे कहीं भी नहीं रखना चाहिए। पर, चूंकि सब प्रदेशों ने और हिंद सरकार ने इसे अच्छा ही माना है, इसलिए जल्द-से-जल्द सब ८ साल की पाठशालाओं को बुनियादी पाठशाला बनाने का फैसला और एलान होना चाहिए। यह नहीं कि

हमेशा ही कुछ पाठशालाएँ बुनियादी हों और संख्या में उनसे १०-२० नहीं, ४०-५० गुनी पाठशालाएँ बुनियादी न हों। या यह कि गाँवों में बुनियादी शिक्षा हो, शहरों में न हो। सरकार के सामने कोई २० साल का अच्छा-बुरा तजुर्बा है। उन्हें अब साफ-साफ इसको अपनाना चाहिए या छोड़ना चाहिए। मेरी राय है कि सब सरकारों को यह एलान करना चाहिए कि इतने वर्ष में सब पाठशालाएँ बुनियादी शिक्षा को लाइन पर आ जाएँगीं। सबके लिए एक कार्यक्रम बनाना चाहिए और अगर उसको एकदम सब जगह नहीं चलाया जा सकता, तो बताना चाहिए कि पहले क्या तबदीली की जाएगी फिर क्या.... फिर क्या, कि इतनी मुद्दत में सब पाठशालाएँ बुनियादी हो जाएँ। शिक्षकों को, सबको नए तरीके की ट्रेनिंग देनी चाहिए। इंसपेक्टर इस नए काम को जाँचने और बढ़ाने के लायक होने चाहिए। इसके लिए उन्हें जो कुछ बताना सिखाना हो, वह बताना और सिखाना चाहिए। शिक्षकों और इंसपेक्टरों और डिपार्टमेंट के काम को इसी नई कसौटी पर रखना चाहिए। कोई नई पाठशाला ऐसी नहीं खोलनी चाहिए, जिसमें इस नए उसूल पर शिक्षा न दी जाए। गरज, सब कुछ करना चाहिए जिससे यह दो-अमली खत्म हो। हिंद सरकार ने बुनियादी शिक्षा के लिए जो असेसमेंट कमिटी बनायी थी, उसकी रिपोर्ट में जो सिफारिशें हैं, उनको देर किए बगैर पूरा करना चाहिए। जिस दो-अमली का मैंने जिक्र किया, उसने बुनियादी शिक्षा के काम में बहुत से पेंच डाल दिए हैं। कहीं बुनियादी शिक्षा पाए हुए बच्चे दूसरी पाठशालाओं में नहीं लिए जाते, कहीं पोस्ट-बेसिक स्कूल चलते हैं तो उनके पढ़े हुए १२ साल शिक्षा पा कर भी यूनिवर्सिटी में नहीं लिए जाते। ऐसा लगता है कि शिक्षा के कुटुंब में कोई पराया आ घुसा है, जिसे कोई अपनाना नहीं चाहता। यह सब ठीक होना चाहिए। यह भी ठीक नहीं है कि सरकार के जिम्मेदार अफसर, बुनियादी शिक्षा को, जिसे वे ही चला रहे हैं, इस तरह बुरा बतलाएँ जैसे वह और किसी की जिम्मेदारी है। बुनियादी शिक्षा की योजना बनाने वाले बेशक सरकारी लोग नहीं थे, पर अब तो सारी सरकारों ने इसे मंजूर कर लिया है, अब यह उनकी चीज हो गई है और उन्हें इसे उसी तरह चलाना चाहिए और वे इसे ठीक न समझते हों, तो इसे छोड़ देना चाहिए, वर्षों तक दुनिया में रहना शिक्षा को बर्बाद कर देगा।

बुनियादी शिक्षा की सभी मंजिलों में हाथ के काम अनिवार्य नहीं

दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ, यह है कि बुनियादी शिक्षा में उस उम्र की वजह से जिसमें बच्चे यह शिक्षा पाएँगे, हाथ के काम को जो स्थान दिया गया

है, वह जरूरी नहीं है कि ६ वर्ष से पहले की और १४ वर्ष के बाद की शिक्षा में भी दिया जाए। ६ वर्ष से नीचे का समय मेरी समझ में खेल का समय है, काम का नहीं। १४ से ऊपर का जमाना ऐसा है कि सब बच्चों में हाथ से काम करने की लगन इतनी आम नहीं होती, जितनी ६ से १४ वर्ष तक। बहुत से ऐसे होंगे, जो अब भी हाथ के काम के द्वारा ही अच्छी तरह सीख सकते हैं। पर, बहुत से और भी होते हैं। कोई ऐब्स्ट्रैक्ट आइडियाज के जोड़ मिलाते हैं, कोई पद्धति के परदे के पीछे अपनी बुद्धि के जोर पर झाँक कर उसको समझना-बूझना चाहते हैं, कोई सुंदरता की ओर झुकते हैं, कोई मोक्ष की लगन मन में पाते हैं। मैं समझता हूँ कि इन तरह-तरह के जवानों के लिए शिक्षा का रास्ता अलग-अलग होगा और हमारी सेकेंडरी एडुकेशन सुधर गई, तो वह इन अलग-अलग रास्तों का प्रबंध जरूर करेगी। वहाँ सबके लिए एक रास्ता नहीं होगा, इसलिए बेसिक के बाद के स्कूल में सिर्फ उन जवानों के लिए जो हाथ के काम की तरफ झुकते हैं, बेसिक का पुराना ढंग आगे चलेगा, औरों के लिए नहीं चलेगा। जैसे हाथ से काम के लिए बेचैन बच्चे को खाली शब्दों और ऐब्स्ट्रैक्ट आइडियाज से और किताब रटा कर शिक्षा देना शिक्षा में हिंसा है, इसी तरह ऐब्स्ट्रैक्ट आइडियाज वालों को हाथ के ही काम से शिक्षा पाने पर मजबूर करना हिंसा है। पोस्ट-बेसिक पाठशालाएँ कई तरह की होंगी। उनमें बस एक ही बेसिक से मिलती-जुलती होगी। इसलिए मैं समझता हूँ कि जहाँ कहीं बेसिक के निकले हुए बच्चों के लिए पोस्ट-बेसिक स्कूल बने हैं, उन्हें समझना चाहिए कि मल्टीपरपस स्कूल की वह शाखा पहले बनी है, जिनमें हाथ के काम से शिक्षा का बहुत कुछ काम लिया जाएगा। दूसरी शाखाएँ भी होते-होते बन जाएँगी और बननी चाहिए, इसलिए अगर इन स्कूलों को पोस्ट-बेसिक न कहा जाए, तो अच्छा है। हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने पोस्ट-बेसिक काम का जो तजुर्बा किया, वह इन मदरसों के बनाने में अनमोल मदद देगा।

बुनियादी शिक्षा में सरकारी और गैरसरकारी जिम्मेदारी

तीसरी बात जो मुझे दिखायी देती है, यह है कि बुनियादी शिक्षा का काम अगर सरकार के द्वारा हो, जैसा कि ज्यादातर हो रहा है, तो हिंदुस्तानी तालीमी संघ और दूसरी गैरसरकारी संस्थाओं को यह काम सरकार पर ही छोड़ना चाहिए, वह चाहे इसे बनाए, चाहे बिगाड़े। संघ ने २० वर्ष तक रास्ता भी दिखाया और काम भी किया। जिम्मेदारी सरकारी काम करने वालों के कंधों पर पूरी-पूरी और सीधी-सीधी आनी चाहिए।

हाँ, मगर मेरा यह भी ख्याल है कि वह दिन देश में शिक्षा के काम के लिए अच्छा दिन नहीं होगा, जब शिक्षा में सरकार के सिवा दूसरे काम करने वाले कोई न रहें। आजाद जनता में शिक्षा के काम के अंदर नए रास्ते ये ही निकालते हैं, नए तजुर्बे ये ही करते हैं। जिस लगन से ये काम करते हैं, दूसरे कम ही कर सकते हैं। इस संघ को सरकार का काम सरकार पर छोड़ कर खुद भी बुनियादी शिक्षा का, बल्कि सारी नई तालीम का काम, जिसे इसने ही पहले इसी के सुपुर्द किया था, जरूर करना चाहिए। पर, कहाँ ? मैं देखता हूँ कि विनोबाजी के ग्राम-दान के काम के साथ इस काम का जोड़ पूरा-पूरा मिलता है। अगर उन गाँवों में जिनके जीवन का नए सिरे से निर्माण हो रहा है, शिक्षा का काम संघ अपने हाथ में ले, तो वह देश की शिक्षा की भी बड़ी अहम सेवा कर सकता है। प्रेम और अहिंसा का जो कोष, गांधीजी के शब्दों में "बुनियादी शिक्षा में भरा पड़ा है" उसका सच्चा नमूना इन गाँवों के सामने लाया जा सकता है। जरूर कठिन काम है, पर संघ ने सदा कठिन काम ही अपने सर लिए हैं।

बुनियादी शिक्षा के कार्यकर्त्ता नए समाज के निर्माता बनें

साथियो और दोस्तो ! मैंने आपका बहुत समय ले लिया। आप ही का एक पुराना साथी हूँ, इसलिए आप जरूर माफ कर देंगे। बस चलते-चलते अपना यह विश्वास आपके दिल में उतार सकूँ कि आप में से जो शिक्षा का काम कर रहे हैं, वे देश की सबसे अहम और सबसे नाजुक सेवा कर रहे हैं और उनके कंधों पर बहुत ही भारी जिम्मेदारी है, वे क्षय का काम करने वाले नहीं हैं, एक नए समाज के बनानेवाले हैं, गांधीजी के स्वप्नों वाला समाज, वह समाज जिसे बनाने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन बिता दिया और जिनकी नींव में उन्होंने अंत में अपना खून तक दे दिया, उसी के लिए जिए और उसी के लिए मरे, वह समाज के जिसके हर व्यक्तित्व वे बन सके, जिसकी शक्ति प्रकृति ने उसमें रखी है. जिसमें कोई किसी का मुँह न ताके, कोई किसी पर जोर-जबरदस्ती न कर सके, मुहब्बत, प्रेम, सत्य, अहिंसा और सहयोग वाला समाज वह समाज। जिसका धुँधला सा नक्शा आज एक भटकती दुखियारी दुनिया की रही-सही उम्मीद है। आप जान जाएँ कि आप इस समाज के बनाने वालों में हैं, तो आपका बल हजारगुना बढ़ जाए और यह ख्वाब हकीकत बन जाए। कैसा अच्छा हो, जो यह विश्वास आपके दिल में जम जाए !

इन शब्दों के साथ मैं इस संमेलन का उद्घाटन करता हूँ।"

शिक्षक

डॉ० जाकिर हुसैन का विचार है कि शिक्षक बच्चों की रुचि, उनके विचार

और शारीरिक परिवर्तन आदि को अच्छी तरह जानें, समझें और तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें। इसे ही वे शिक्षकों का प्रमुख गुण मानते हैं। कलीरूपी बालक को एक पूर्ण विकसित सुंदर फूल का रूप देना ही शिक्षक का महान् कर्त्तव्य है — ऐसा उनका कहना है। शिक्षकों के बड़े उत्तरदायित्व की चर्चा करते हुए डॉ० जाकिर हुसैन उन्हें बहुत बड़ा समाजसेवी करार देते हैं। शिक्षक की समाज सेवा का आधार होता है — प्रेम। शिक्षकों को मानव मात्र से प्रेम होता है, समाज से प्रेम होता है, समाज में जो विशेषताएँ विद्यमान हैं उनसे प्रेम होता है, उन्हें उन नन्हीं-नन्हीं जानों से मुहब्बत होती है जो आगे चल कर उन विशेषताओं को अपनाने वाली हैं। इनमें जहाँ तक और जिन प्रणालियों से उन विशेषताओं की पूर्ति का साधन होता है, वह उनमें योग देता है। इसी काम में शिक्षकों को मानसिक संतोष और आत्मिक शांति उपलब्ध होती है। ३ मार्च, १९६१ ई० को पटना विश्वविद्यालय टीचर्स एसोसिएशन के वार्षिक संमेलन का उदघाटन करते हुए डॉ० जाकिर हुसैन ने कहा था—"The teacher, as I see him represents one of the most responsible function in society. I maintain that he is responsible, not only for himself but for the whole of society. He is the costodian of the highest values created and cherished by his people." पुन; उन्होंने १४ जनवरी, १९६१ ई० को आरा (शाहाबाद) में माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों को संबोधित करते हुए उन्हें विद्यालय-समुदाय का नेता बतलाया था। उन्होंने कहा था— "The teachers are the leaders of this school community which is based on a framework of moral principles and cultural ideas."

एक अच्छे अध्यापक के गुणों की चर्चा करते हुए १५ मई, सन् १९३७ ई० को ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित एक भाषणक्रम में डॉ० जाकिर हुसैन ने कहा था--"अच्छे अध्यापक की सबसे पहली और सबसे बड़ी पहचान यही है कि इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों और नवयुवकों के विकासोन्मुख व्यक्तियों की ओर होती है। उन्हीं में रह कर इसे संतोष मिलता है। उनके बिना दुनिया में यह परदेसी की तरह भटकता फिरता है। यह बस सब मदरसे के समुदाय ही में अध्यापक नहीं होता, बल्कि हर समय इसका मन अपने शिष्यों में ही अटका रहता है। अध्यापक के इस प्रेम का उल्लेख करना बड़ा कठिन है। संभवतः इसमें और बहुत से सामान्य भाव संमिश्रित हों; संभव है कि आत्मसंमान की आकांक्षा भी इसके मन में जग

उठी हो, संभव है कि बच्चों का मन हाथ में लेने, अपने प्रति उनका स्नेह और शील प्राप्त करने की इच्छा भी इसमें विद्यमान हो, यानी थोड़ी सी स्वार्थपरता भी। हाँ, क्यों ? नहीं जरूर यह भी होता होगा और अगर मेल ज्यादा हो, तो वास्तविक शक्ति की विशेषताएँ शायद दब जाएँ। मगर ध्यान से देखिए तो अच्छे अध्यापक के सारे काम में ऐसे मोल-तोल और हिसाब-किताब का अधिक महत्त्व नहीं होता। अच्छा अध्यापक बहुत से कामों को, बच्चों ही की तरह स्वाभाविक रूप से बिना अधिक सोचे-समझे ही कर डालता है। जो काम अपना उद्देश्य आप होते हैं और अपने से से बाहर कोई स्वार्थ नही रखते, उन्हें खेल कहते हैं; तो अध्यापक का काम बहुत कुछ तो खेल-ही-खेल में पूरा हो जाता है। इसका काम अक्सर अपना इनाम आप होता है। दुनियादारों, नाप-तौल करनेवालों की दृष्टि में यह मूर्खता हो, तो सचमुच अच्छा अध्यापक इस मूर्खता में मगन रहता है। यूरोप के एक प्रख्यात अध्यापक पेस्तालॉजी ने एक जगह अपनी और एक हिसाब-किताबी दुनियादार की रोचक बात-चीत का वर्णन किया है। पेस्तालॉजी ने कहा—'मैं तो अपनी जिंदगी में हमेशा कुछ बच्चा ही सा रहा। शायद यही बात थी कि लोग हजारों रंगों से मुझसे खेलते रहें।" अकलमंद दुनियादार बोला, "अगर आपका हाल यह है, तो अच्छा हो कि आप किसी कोने में जाकर बैठ रहें, अपनी मूर्खताओं पर शरमाएँ और बस चुप रहें।" जवाब मिला, "जी हाँ शायद आपका ख्याल ठीक हो।" दुनियादार भला कब चुप होने वाला था ? बोला, "तो फिर ऐसा काम क्यों नहीं करते ?" पेस्तालॉजी ने कहा, "ऐसा भी कर चुका हूँ। लेकिन क्या करूँ, अब भी कुछ ऐसे आदमी पड़े हैं, जिनसे लोग उसी तरह खेलते हैं, जैसे मुझसे खेलते थे। कभी-कभी उनसे कुछ खेलने को जी चाहता है।" दुनियादार बुजुर्ग इस सादगी को सहन न कर सके और निःसंकोच होकर बोले--"यार, तुम तो अब तक बस नन्हें बच्चे ही हो।" तो पेस्तालॉजी क्या अच्छा जवाब देता है, जिसमें एक अनुभवी विद्वान की आत्मा झलकती है, "जी हाँ, बच्चा ही हूँ और मरते दम तक बच्चा ही रहना चाहता हूँ। तुम्हें क्या बताऊँ कि मन को इसमें कैसा सुख मिलता है यानी आदमी थोड़ा-थोड़ा बच्चा हो, यकीन कर सके, भरोसा कर सके, प्रेम कर सके, गलती हो जाए, भूलचूक हो, मूर्खता हो, तो उनसे लौट आए और आपके सारे अकलमंद लफंगों से ज्यादा भोला, ज्यादा अच्छा और आखिर में चल कर ज्यादा अकलमंद भी निकले। महाशय, इसके खिलाफ बहुत देखा और बहुत कुछ सुना, मगर फिर भी इसमें बड़ा मजा है कि आदमी आदमियों के बारे में अच्छी से अच्छी भावना रखे, और चाहे रोज धोखा खाए, लेकिन हर रोज नए सिरे से आदमियो की नेकदिली पर यकीन करे और अकलमंदों को और बेवकूफों को; क्योंकि दोनों गलत रास्ते पर होते हैं, माफ करे।"

"यह सिद्धांत एक अच्छे अध्यापक ही का हो सकता है। बुद्धिमान लोग इसे मूर्खता समझें, तो अच्छा, मूर्खता ही सही और इसे बचपन बताएँ, तो यह सचमुच बचपन है और जब तक अध्यापक में यह बचपन है, तब तक वह बच्चों के मन के भेद जानता है और उनके जीवन में बराबर मिल-जुल कर उन्हें उन्नति की ओर ले जाता है। जिस अध्यापक में यह बचपन नहीं होता, वह बच्चों के मन की बोली नहीं समझता, न उन्हें अपनी समझा सकता है। नादानी से जिधर कदम उठता है, तो कुछ-न-कुछ कुचल डालता है, कुछ-न-कुछ तोड़ डालता है। अध्यापक में बहुत अधिक चिंतनशीलता और गहरा पांडित्य उसके बचपन को कम कर देता है, वह पहले से अधिक विद्वान या वह चीज बन जाता है, जिसे 'शिक्षाविशेषज्ञ' कहते हैं, पर अध्यापक वह पहले से बुरा होता है।

"हाँ, मैंने अध्यापक की जो यह पहली पहचान बताई कि उसे बच्चों और नवयुवकों से स्वाभाविक लगाव और ममता हो, और वह बच्चों में बच्चा बन सके, तो यह है कि पहली और जरूरी चीज, मगर सिर्फ यही काफी नहीं। हर अच्छे अध्यापक में इसका होना जरूरी है। पर, हर वह व्यक्ति, जिसमें यह विशेषता हो, अच्छा अध्यापक नहीं होता। उसमें स्नेह के इस सामंजस्य को एक विशेष रूप से कार्यान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यह क्षमता अभ्यास और परिश्रम से बढ़ सकती है, मगर होती है यह भी प्राकृतिक और ईश्वरप्रदत्त। उसे उत्तम विद्याओं से भी सहायता मिलती है। शिक्षा और मनोविज्ञान के सिद्धांत जान लेने से भी काम निकलता है। मगर सच बात यह है कि अच्छे अध्यापक में बच्चों के व्यक्तित्व को समझने की प्राकृतिक क्षमता होनी चाहिए। जब कोई किसी बढ़ती हुई—बदलती हुई सजीव वस्तु पर प्रभाव डालना चाहे, जैसा कि अध्यापक चाहता है, तो पहले उस वस्तु को समझना बहुत ही आवश्यक है। अच्छे अध्यापक में यह विशेषता होनी चाहिए, जो एक अच्छे नाटककार, अच्छे उपन्यासकार या अच्छे इतिहासकार में होती है कि वह एक छोटी-सी घटना से, एक छोटी-सी बात से, एक साधारण-सी क्रिया से, चेहरे के रंग से, आँखों से, यानी अभिव्यक्ति के साधारण ढंग से ही पूरे आदमी की वास्तविकता का पता लगा लेता है। मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धांत यहाँ आकर धोखा देते हैं और बाधक बन जाते हैं। कोई ऐसी प्राकृतिक और आंतरिक शक्ति होती है, जो उन नन्हें-नन्हें झरोखों से झाँक कर आत्मा के छिपे हुए तथ्यों को देख लेती और समझ लेती है। अच्छे अध्यापक की दूसरी पहचान यह है कि उसमें यह आंतरिक शक्ति हो और अनुभूति की सजग तीव्रता भी।

"मगर समझ लेना और जान लेना भी तो काफी नहीं। समझ कर, जान कर ठीक प्रकार से प्रभावित करने की क्षमता भी तो होनी चाहिए। निदान के बिना इलाज नहीं होता, लेकिन किसी को खाली निदान आता हो और इलाज न आता हो, तो वह भी लाभ नहीं कर सकता। अध्यापक में बड़ी प्रत्युत्पन्नमति होनी चाहिए कि मामले को समझते ही प्रायः बिना सोच-विचार किए उचित उपाय उसकी समझ में आ जाए। किताबें पढ़ कर बच्चों पर प्रभाव डालने वाले सोच-विचार ही करते रहते हैं और किसी समस्या और उसकी युक्ति की अनगिनत किताबी कोशिशों के गोरखधंधे में भटकते ही रहते हैं। लेकिन, एक अच्छा अध्यापक अपनी स्वाभाविक चतुरता से उचित उपाय ढूँढ़ लेता है। कभी हँस कर, कभी नाराज हो कर, कभी तारीफ करके, कभी नरमी से, कभी लज्जित करके, कभी उकसा कर, कभी कुछ रोक कर, कभी-कभी अपनी तरफ खींच कर, कभी अपने से दूर करके, कभी बुराइयाँ बतला कर और कभी आँख बचाने से यह अपना काम कर लेता है। इन सब मौकों के लिए किताबों में निर्देश दिए होंगे; क्योंकि किताबों में सब सब कुछ लिखा हुआ है। पर जिस वक्त काम पड़ता है, तो 'लाल किताब' को देखने का मौका नहीं मिलता और अगर इसका कोई सामान्य निर्देश याद भी हो, तो इसको उस विशेष समस्या पर लागू करना भी तभी संभव होता है, जबकि अध्यापक में यह स्वाभाविक चतुरता पहले से ही मौजूद हो।

"सुधारकों और पैगंबरों की तरह अध्यापक को बने-बनाए व्यक्तियों से वास्ता नहीं पड़ता, बल्कि उसका संबंध उनसे होता है, जो अभी बन रहे हैं। सुधारक और पैगंबर तो बने-बनाए व्यक्तियों से अपना काम ले लेते हैं। इन्हें उन विश्वासों, परंपराओं, इरादों और विचारों का सेवक बना देते हैं, जिनके प्रचार या संस्थापन के लिए ये आए हैं। जो इन्हें कत्ल करने निकलते हैं, ये उनके जीवन की दिशा ही बदल कर उन्हें अपने विरोधियों के लिए काल बना देते हैं। जो पहले एक तरफ झुकता था, उसका सिर अब दूसरे के सामने झुका देते हैं। अध्यापक का संबंध होता है, अविकसित व्यक्तियों से। उसे अपने शिष्य के बनने वाले व्यक्तित्व की प्रवृत्ति को समझना और उसके विकास के साधनों का अनुमान करना पड़ता है और उसे चरम उन्नति पर पहुँचने में योग देना होता है। न केवल जाने कितना अविवेक का अंश मिला है, न केवल प्रेरणा और सहज बुद्धि पर ही अध्यापक भरोसा कर सकता है। यहाँ बस सहज बुद्धि और अंतःप्रेरणा को मिलाने की आवश्यकता होती है। अच्छा अध्यापक उन विभिन्न साँचों से परिचित होता है, जिनमें प्रायः आदमी का शील (सीरत) ढलता है और उन आम जानकारियों के साथ बच्चे की विशेष स्थिति का अध्ययन उसे ठीक नतीजे पर, पहुँचा सकता है। इसलिए उपर्युक्त

विशेषताओं के अतिरिक्त अच्छे अध्यापक में ठीक प्रकार से अध्ययन करने की विशेषता भी होनी चाहिए। अन्यथा वह अपने शिष्य के पूरे व्यक्तित्व की परख नहीं कर सकता और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति में पूरा योग नहीं दे सकता। इस अध्ययन में प्राय: स्वयं अध्यापक का बना-बनाया व्यक्तित्व ही बाधक बन जाता है। आदमी बेजान चीजों की खोज तो स्वतंत्र रूप से कर सकता है, पर वास्तव में उसके ही शरीर का अध्ययन (मुशाहिदा) निरपेक्ष रूप से करना कठिन है। तो मन और आत्मा का अध्ययन भला कैसे निरपेक्ष रूप से हो सकता है? इसके लिए तो हरदम खुद अपने से लड़ना और अपने को दबाना होता है। मेहनती और कुरुचिपूर्ण, सीधे और उद्दंड, शीलवान और अशिष्ट, हँसमुख और रोनी सूरत—सबको एक ही तरह उदासीनता के साथ देखना, कोई सरल काम नहीं। मगर अच्छे अध्यापक का काम भी सरल नहीं होता और यह गौरव हरएक को तो प्राप्त भी नहीं हो सकता।

"अध्यापक का असली काम शील (सीरत) का निर्माण करना है और सारी शिक्षा का मूल उद्देश्य भी यही होता है कि वह बच्चे की विचारशक्ति और उसकी कार्यशक्ति को किसी सीधी राह पर डाल दे और उचित सिद्धांतों के अनुसार—अच्छी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके शील में एकाग्र दृढ़ता उत्पन्न कर दे। जो व्यक्ति अध्यापक बन कर शिक्षा का यह काम पूरा करे, उसे स्वयं भी तो मालूम होना चाहिए कि वह शील को किस राह पर डाले। स्वयं उसके शील का भी तो कोई खास रंग और स्वयं उसके जीवन का भी तो कोई खास ढंग होना चाहिए। उसके प्रभाव से बच्चे में एकाग्रता (यकसूई) तो तब ही पैदा होगी, जबकि स्वयं उसमें भी एकाग्रता हो। जो खुद थाली के बैंगन की तरह इधर-उधर लुढकता हो, वह दूसरों को एक दिशा में कैसे चला सकेगा? शील की एकाग्रता (यकसूई) के विभिन्न अंगों पर बहस करने का यह अवसर नहीं है। बस इतना कहना काफी है कि ऊँचा शील उसी को प्राप्त होता है जिसके निश्चय में कुछ दृढ़ता हो, जिसका परामर्श हितकर हो, जो उचित आदेश दे सके और जिसमें विवेक भी हो, जिसकी बात में कुछ मधुरता हो और जो दूसरे की स्थिति को इस मधुरता के कारण सहज में समझ सके। फिर जिसमें उन गुणों या विशेषताओं के लिए—जिन्हें वह विशेषताएँ समझता है—उत्साह और उमंग हो। इनमें से अन्य तीन विशेषताओं की चर्चा तो पहले किसी-न-किसी सिलसिले में हो चुकी है। ये उत्साह और उमंग की अंतिम विशेषताएँ भी याद रहें; क्योंकि अध्यापक के लिए ये दोनों बहुत जरूरी हैं। अच्छे अध्यापक के भावुकताप्रधान जीवन में उदारता भी होती है, गंभीरता और दृढ़ता भी। इसकी आत्मा में स्वत्व और सत्यता, रूप और सौंदर्य, नेकी और पवित्रता, न्याय और स्वतन्त्रता के प्रदर्शन (मजाहिरे) से—एक गर्मी पैदा हो जाती है, जिससे वह दूसरों

दिलों को गरमाता है और जिसमें तपा-तपा कर अपने शिष्यों के शील को खरा बनाता है।

"यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा है। वह यह कि अध्यापक अपने शिष्यों के शील को अपने प्रभाव से जो रंगरूप देता है, उसमें शायद किसी को हुकूमत करने, शक्ति आजमाने और जबरदस्ती करने का आभास मिले; क्योंकि हुकूमत करने वाले भी दूसरों के इरादों को अपने अधीन बनाते हैं और अध्यापक भी दूसरे के जीवन को अपने संकेतों पर चलाने का प्रयत्न करता है और दूसरों से अपने इरादे पूरे कराता है। लेकिन, यह धोखा है। बात यों नहीं है। अच्छे अध्यापक में तो सत्ताधारियों और शासकों की प्रकृति का लेशमात्र भी नहीं होता। उनमें और इनमें जमीन और आसमान का अंतर है। शासक जब्र करते हैं, यह सब्र करता है, वे मजबूर करके एक ही राह पर चलाते हैं। यह आजाद छोड़ कर साथ लेता है, एक के साधन हैं शक्ति और जबरदस्ती, दूसरे के हैं मुहब्बत और खिदमत। एक का कहना डर से माना जाता है, दूसरे का शौक से। एक हुक्म देता है, दूसरा सलाह। वह गुलाम बनाता है, और वह साथी।

"इन विशेषताओं के अतिरिक्त बहुत से अन्य गुण भी एक अच्छे अध्यापक में मिलते हैं। एक अच्छा अध्यापक एक बहुत अच्छा प्रवक्ता भी होता है और ऐसी ही बहुत सी छोटी-छोटी और विशेषताएँ भी रखता है। मगर, इनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसके जीवन की जड़ें स्नेह की अजस्र धारा से अभिसिंचित होती हैं। इसलिए यह वहाँ आशा लगाता है, जहाँ दूसरे जी छोड़ देते हैं। वहाँ तत्पर रहता है, जहाँ दूसरे थक जाते हैं। इसे वहाँ प्रकाश दिखायी देता है, जहाँ दूसरे अंधेरे की शिकायत करते हैं। यह जीवन के अपकर्ष को भी देखता है, लेकिन इसकी वजह से उनके उत्कर्ष को भूल नहीं जाता, और बड़े की महत्ता के साथ-साथ यह छोटे के महत्त्व की भी उपेक्षा नहीं करता। यह महापुरुषों का-सा महान् आदर्श सदा अपनी आँखों के सामने रखता है, मगर नादान और बेबस बच्चे की सेवा को भी अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझता है और बच्चे की ओर से जब सारी दुनिया निराश हो जाती है, तो बस दो ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके मन में अंत तक आशा बनी रहती है—एक उसकी माँ और दूसरा अच्छा अध्यापक।"

बालकवाड़ियाँ

डॉ० जाकिर हुसैन भारतीय सामाजिक वातावरण एवं यहाँ के माता-पिताओं की सामान्य अनभिज्ञता से पूर्णतः परिचित थे। अतः, ऐसी बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए जो विकलांग हैं अथवा जिन्हें किसी प्रकार का शारीरिक रोग

है, उनके लिए वे बालकवाड़ियों के संगठन का विधान बतलाते हैं। बहुत बच्चे-बच्चियाँ होती हैं, जिनकी आँखों में कुछ खराबी होती है अथवा वे तुतलाते हैं अथवा वे हत्या हैं अथवा विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक कारणों से उनके बाल-मन में मनोवैज्ञानिक उलझन उत्पन्न हो गई हैं, अथवा बहुत परिवार ऐसे भी हैं जहाँ बालकों की तंदुरुस्ती पर ध्यान नहीं दिया जाता। अपने समाज में ऐसे भी परिवार मिलते हैं जहाँ साधनों की नितांत कमी है, परंतु, बहुत परिवार ऐसे भी हैं जो धनी हैं, परंतु इस संबंध मे उदासीन रहते हैं। डॉ० जाकिर हुसैन ने इस प्रसंग में स्पष्ट लिखा है : "ऐसे घर भी हैं जहाँ धन-दौलत है, सफाई है, लेकिन वहाँ भी अक्सर समझ की कमी होती है। धन से बुद्धि का काम नहीं होता।" इन परिस्थितियों के समाधान के लिए डॉ० साहब बालकबाड़ियों और बाल-निकेतनों के संगठन एवं प्रसार पर बल देते हैं। उन्होने लिखा है : "इन बच्चों के लिए घर से अच्छा घर चाहिए और माँ-बाप से ज्यादा समझदार और माँ-बाप सी मोहब्बत करने वाले, शिक्षक चाहिए।" बालकवाड़ियों के संगठन के पक्ष में, इसी उद्देश्य से उन्होंने लिखा है। बालकवाड़ियों की उपयोगिता की चर्चा करते हुए डॉ० जाकिर हुसैन लिखते हैं—"इसलिए अमीर-गरीब, सब बच्चों के लिए बालकवाड़ियों की जरूरत है, जहाँ देखभाल, डाक्टरी जाँच, इलाज आदि का इंतजाम हो, जहाँ बच्चे खुली हवा में दिन का बड़ा हिस्सा गुजार सकें। जहाँ उनके समझने वाले और उनकी जरूरतों को उनके बदलते व्यक्तित्व को पहिचानने वाले, प्रेम और दया से भरे शिक्षकों की देखरेख हो। जहाँ देश के नन्हें वासियों में सेहत, सफाई के, मेल-जोल के, रहन-सहन के, अपने नन्हें-नन्हें पैरों पर खड़े हो सकने के और दूसरे साथियों को सहारा देने के स्वभाव पैदा हों। जहाँ यह बगीचे में फूलों में फूल की तरह रहें, खेले-कूदें, हँसे-बोलें और हँसते-हँसते अपने जीवन की नींव ठीक कर लें। यह अच्छे घर मे भी हो सकता है। समझदार माँ-बाप भी कर सकते हैं। पर, अच्छे घर हैं कहाँ? और समझदार माँ-बाप कितने हैं? क्या मजदूर-किसानों के बच्चों को अच्छा घर नसीब है? समझदार माँ-बाप नसीब है? और एक बड़े राष्ट्र की नींव इन्हीं समझदार माँ-बाप के बच्चों के कंधों पर रखनी है। उनके लिए बालकवाड़ियाँ बनानी होंगी। उनके द्वारा घर को भी ठीक करना होगा। घर से रिश्ता जोड़ना होगा। यह न हुआ, तो काम अधूरा रह जाएगा। एक तरफ घर की जानकारी से काम लेना होगा, दूसरी तरफ माँ को बच्चे की सेवा की ठीक राहें समझनी होंगी। उनका कुछ बोझ अपने कंधों पर लेना होगा, ताकि जो बोझ उनके जिम्मे रहे, वह ज्यादा अच्छी तरह उठा सकें। इन बालकवाड़ियों में डाक्टरी जाँच का पूरा-पूरा इंतजाम करना होगा। ऐसा वातावरण बनाना होगा, जिससे

बच्चे में अच्छे सामाजिक स्वभाव पैदा हों। खेलों का इंतज़ाम करना होगा, जिससे बुद्धि, कल्पना आदि सबका विकास हो। आसपास की चीजों को वरत कर उनके गुण जानने का इंतजाम करना होगा। बातचीत करने, अपने साथियों और बड़ों से उनकी सुनने, अपनी कहने की आदत डालनी होगी। दो-तीन वर्ष की उम्र से बच्चों को साथियों की तलाश होती है। माँ का साथ ही काफी नहीं होता। वह अपने आसपास बच्चे चाहता है और सामाजिक जीवन की संस्कृति पैदा करने वाला लेन-देन इसी वक्त शुरू हो जाता है। इसलिए बच्चे को दूसरे बच्चों के साथ मिलना चाहिए। यह साथ बालकवाड़ियों में घर से अच्छा मिल सकता है। यह न हो कि साथी बहुत ज्यादा हो जावें कि उनसे निबटना मुश्किल हो जावे। साथी इतने बहुत हो जाएँ तो फिर वह दोस्त भाई, बहिन नहीं रहते, भीड़ बन जाते हैं और बच्चा उस भीड़ में खो जाता है। भीड़ में किसी से सच्चा लगाव कैसे पैदा हो सकता है? वह अंदर को झुक जाता है। शर्मिला, झेंपू बन जाता है या फिर लड़ता-झगड़ता है। मार-धाड़ का सहारा लेता है। दब जाता है या दबाना चाहता है। बालकवाड़ियों में संख्या बढ़ाने से लगने वाली बीमारियों का खतरा भी बढ़ जाता है, इसलिए संख्या कम ही रखना ठीक है।

"बालकवाड़ियों की इमारतें बनाने में भी सूझ-बूझ की जरूरत है। खाना तैयार करने, खिलाने का ठीक इंतजाम रखने, नहाने व सफाई का इंतजाम, जिसे बच्चे बरत सकें, नीचे छोटे-छोटे सामान रखने के लिए जगह, खेल-कूद के लिए जगह, पालतू जानवरों के लिए जगह, बगीचा — इन सबका पूरा इंतजाम होना चाहिए। हमारे देश में बड़ी ऊँची इमारत को लोग अच्छी इमारत समझते हैं। इमारत होनी चाहिए काम के लिए—उस काम के लिए, जो उसमें करना है। बरतानिया के नर्सरी स्कूल एसोसिएशन ने सन् ४४ कानून पार्लियामेंट में पास होने के पहिले कमेटी बिठा दी थी, जिसने वहाँ के हाल को सामने रख कर नए स्कूलों के लिए नक्शे तैयार किए थे। इन नक्शों में जरूरी अदल-बदल करके हर जगह अच्छी तरह इमारतें बनायी जा सकती थीं। हम भी अपने कामों को पहिले से सोचा करें, तो कैसा अच्छा हो। बालकवाड़ियों का काम, मैं समझता हूँ, एक मुद्दत तक सरकारी काम नहीं हो सकेगा। उसमें निजी कोशिश का बहुत दखल रहेगा। मैं समझता हूँ कि शिक्षा में निजी कोशिश के लिए अगले बीस-तीस साल में यही सबसे अच्छा मैदान है। बुनियादी तालीम का काम इतना बड़ा काम है कि उसे निजी कोशिश पूरा नहीं कर सकती। मुझे ऐसा लगता है कि सेकेंडरी और युनिवर्सिटी की शिक्षा सब-की-सब होते-होते हुकूमत के रुपए से, और हुकूमत की सरपरस्ती में चलेगी।

छोटे बच्चों के लिए हमें खुद कुछ करना होगा और मुझे विश्वास है कि हुकूमत निजी कोशिश को पूरी सहायता देगी। अगर छोटे बच्चों की शिक्षा का काम करने वाले लोग इस काम के लिए एक 'राष्ट्रीय समिति' बना लें और प्रदेश-प्रदेश में उसकी निगरानी और सलाह से काम हो, तो बहुत अच्छा हो। सरकार को भी इससे बातचीत में आसानी होगी, सरकार से पूरी सहायता भी मिल सकेगी और यह अपने काम करने वालों के सिखाने का अच्छा इंतजाम भी कर लेगी। मुझे उम्मीद होती है कि शायद यह काम अच्छे हाथों से हो जाएगा। करने का काम है। मुश्किल जरूर है; पर करने के काम अकसर मुश्किल होते हैं।

"ये बच्चे; नन्हें-नन्हें बच्चे, कभी-कभी बड़ों को हकीर से मालूम होते हैं, पर यही है हमारे सामाजिक जीवन की नींव। बड़ों में जो लड़ाई, दंगा, फसाद होते हैं; जो गिरोह को गिरोह से, राष्ट्र को राष्ट्र से लड़ाते हैं; जिंदगी में जो कड़ुआहट होती है, घर में, काम में, आपस के मेलजोल में, सामाजिक जीवन की उलझनों में जिस कड़ुआहट से सारा जीवन भरा दिखायी देता है, उसकी तह में क्या है? इन्हीं नन्हें बच्चों के बचपन का बिगाड़ ही तो है। अगर समाज को आज की तबाही से बचाना है, तो इन नन्हों को सुधारना होगा। हम नासमझी में कहीं सख्ती से और कहीं लाड़-प्यार से बिगाड़ते हैं। यह नहीं जानते हैं कि घर-घर बिगाड़ का जो काम हो रहा है, इसने आदमी के जीवन को खतरे में डाल दिया है। आज की दुनिया में साइंस की शक्तियाँ आदमी को हासिल हो गई हैं। उसको इन बिगड़े आदमियों के हाथों में देना ऐसा है, जैसे बच्चे के हाथ में भरी बंदूक दे देना। कोई बच्चों की शिक्षा को ठीक कर दे, तो वह आदमी को तबाही से बचा लेगा।"

विद्यार्थियों के प्रति

डॉ० जाकिर हुसैन भारत की गरीबी, तबाह हालत, वैमनस्यता, संकीर्णता एवं फूट से पूर्णतः परिचित थे। शिक्षा के माध्यम से वे भारतीय जनमानस के संस्कार में परिवर्तन लाना चाहते थे। डाक्टर साहब यहाँ के विद्यार्थियों में वैसा चारित्रिक और नैतिक बल प्रादुर्भूत करना चाहते थे, जिनका आलंबन कर यहाँ का विद्यार्थी-वर्ग, समाज की सुप्त शक्तियों को सजग और सबल बनावें। जन-शक्तियों के आधार पर भारत एक शक्तिशाली और प्रभावशाली राष्ट्र बने। जात-पांत की भयानक संकीर्णता, धर्म, भाषा और संस्कृति आदि की अद्भुत विभिन्नता, पारिवारिक और सामाजिक संकट आदि के कारण शनैः-शनैः जर्जर हो रहे भारत की वर्तमान परिस्थितियों से आप स्वयं तो बहुत अवगत हो ही चुके थे, अपने शैक्षिक लेखों एवं विभिन्न अवसरों पर दिए गए भाषणक्रम के माध्यम से यहाँ के

नौजवान विद्यार्थियों और सामान्य जनता को भी अवगत कराते रहे। समाज के नैतिक और सामाजिक परिष्कार के लिए वे शिक्षा की महान् शक्ति को माध्यम बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि राजनीति के माध्यम से सच्चे राष्ट्रीय नवजागरण का युग नहीं लाया जा सकता। वह तो केवल शिक्षा और संस्कृति द्वारा ही संभव है। इस घोर विषम सामाजिक परिस्थिति में उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों को अपने मन-मस्तिष्क को उदार तथा विशाल बनाने की सलाह दी है। संकीर्णता से न कभी किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की उन्नति हुई है और न होगी। 'काशी विद्यापीठ' के उपाधि-वितरण-समारोह के अवसर पर (१४ अगस्त, १६३५ ई०) आपने वहाँ के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा था : "प्यारे विद्यार्थियो! तुम विद्या के इस नगर काशी के इस विख्यात विद्यापीठ में अच्छे-अच्छे और सुयोग्य अध्यापकों से शिक्षा पाकर अब दुनिया में कदम रखते हो। मुझे मालूम नहीं कि दुनिया में, जो विद्यापीठ से बहुत ज्यादा सख्त और बेरहम जगह है, तुम क्या करना चाहते हो। हो सकता है, कि तुम्हारा हौसला हो कि तिजारत और कारोबार या नौकरी करके बहुत-सी धन-दौलत कमाएँ और चैन से अपनी और अपने खानदान की जिंदगी बिताने का सामान करें। अगर ऐसा है, तो परमात्मा तुम्हारे मनोरथ को सफल करें। मगर मुझे तुमसे फिर बहुत कुछ कहना नहीं है। तुम अपनी सफलता के लिए खुद राहें ढूँढ निकालोगे। अगर ठीक रास्ते पर पड़े, तो ज्यादातर अपना फायदा करोगे; अगर गलत रास्ते पर पड़े, तो सजा भुगतोगे। मगर दूसरों का कुछ बहुत नुकसान न होगा। लेकिन, चाहे तुम धन-दौलत की फिक्र ही में लग जाओ, कम-से-कम काशी विद्यापीठ के स्नातक होकर तुम कभी अपने राष्ट्र की राह में रोड़ा न बनना। अपनी सफलता के लिए बहुतेरे लोग राष्ट्र का अहित करने से भी नहीं चूकते। तुम इसका ध्यान रखना कि सफलता के लिए यह जरूरी नहीं है कि अपने कर्त्तव्यों को त्याग कर और अपनी सारी बड़ी इच्छाओं को पैरों-तले रौंद कर ही उस तक पहुँच जाए। जो अपने स्वार्थ के लिए इतना अंधा हो जाए कि अपने देश और अपने राष्ट्र को हानि पहुँचाने से भी न चूके, वह आदमी नहीं, जानवर है।

"अगर काशी विद्यापीठ के स्नातक होने के नाते तुम अपने जीवन को देश की सेवा में लगाना चाहते हो, तो मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। तुम जिस देश में यहाँ से निकल कर जा रहे, वह बड़ा अभागा देश है। वह गुलामों का देश है, अनपढ़ों का देश है, अन्याय का देश है, कठोरताओं का देश है, क्रूर परंपराओं का देश है, अविवेकी पुजारियों का देश है, भाई-भाई में नफरत का देश है, बीमारियों

का देश है, सस्ती मौत का देश है, गरीबी और अँधेरे का देश है, भूख और मुसीबत का देश है, यानी बड़ा कम्बख्त देश है, लेकिन क्या कीजिए ? तुम्हारा और हमारा देश है। इसी में जीना है, और इसी में मरना है। इसलिए यह देश तुम्हारी हिम्मत के इम्तिहान, तुम्हारी शक्तियों के प्रयोग और तुम्हारे प्रेम की परख की जगह है।

"अपने चारों तरफ इतनी बरबादी, इतनी मुसीबत, इतना जुल्म देख कर तुम अधीर होकर यह चाहे, जैसे बहुत से नौजवान चाहने लगते हैं कि इसमें बसने वाले समाज ही को खत्म कर डालें और मिटा डालें, इसलिए कि इसमें सुधार की कोई सूरत नहीं। तुम्हें अधिकार है। मगर अपने एक भाई की राय सुन लेने मे भी क्या नुकसान है। लो, मेरा विचार यह है कि बरबाद करने से हमारा काम कुछ सहल नहीं होगा, बरबादी तो पहले ही से काफी मौजूद है। राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कौन-सा विभाग है, जिस पर पहले से ही विपत्ति या विनाश की गहरी छाया नहीं। लेकिन, हमारी अनेक बीमारियों और अनगिनत मुसीबतों में से ऐसी बहुत कम हैं कि हम यकायक आवेश में आकर थोड़ी सी देर में उन्हें खत्म कर डालें। मैं समझता हूँ, कि हमें बिगाड़ना इतना नहीं है, जितना कि बनाना है। हमारे देश को हमारी गर्दनों से उबलते खून के धारे की जरूरत नहीं है, बल्कि हमारे माथे के पसीने का बारहमासी बहने वाले दरिया की दरकार है। जरूरत है काम की,—खामोश और सच्चे काम की ! हमारा भविष्य किसान की टूटी झोंपड़ी, कारीगर की धुएँ से काली छत और देहाती मदरसे के फूस के छप्पर-तले बन और बिगड़ सकता है। राजनीतिक झगड़ों, कांफ्रेंसों और कांग्रेसों मे कल और परसों के किस्सों का फैसला हो सकता है। लेकिन, जिन जगहों का नाम मैंने लिया है, उनमें सदियों तक के लिए हमारी किस्मत का फैसला होगा और इन जगहों का काम धीरज चाहता है और संयम। इसमें थकान भी ज्यादा है और कदर भी कम होती है, जल्दी नतीजा भी नहीं निकलता। हाँ, कोई देर तक धीरज रख सके, तो जरूर फल मीठा मिलता है।

"प्यारे विद्यार्थियो ! इस नए हिंदुस्तान के बनाने के काम में तुमसे जहाँ तक बन पड़े, हाथ बँटाना। मगर याद रहे कि अगर स्वभाव में आतुरता है, तो तुम इस काम को अच्छी तरह नहीं कर सकते। इस काम में बड़ी देर लगती है। अगर तबीयत मे जल्दबाजी है, तो भी तुम काम बिगाड़ दोगे; क्योंकि यह बड़ा पित्ता मारने का काम है। अगर जोश में बहुत-सा काम करने की आदत है और उसके बाद ढीले पड़ जाते हो, तो भी शायद यह कठिन काम तुमसे न बन पड़ेगा।

इसलिए कि इसमें वहुत समय तक वरावर एक-सी मेहनत और लगन चाहिए। अगर असफलता से निराश हो जाते हो, तो इस काम को न छूना; क्योंकि इसमें असफलताएँ--जरूरी हैं— बड़ी असफलताएँ और पग-पग पर असफलताएँ! यह काम वही कर सकता है, जिसे हर असफलता और ज्यादा मेहनत करने पर उभारती हो। इस देश की सेवा में कदम-कदम पर खुद देश के लोग ही तुम्हारा विरोध करेंगे। वे लोग विरोध करेंगे, जिन्हें हर परिवर्तन से हानि होती है। वे जो इस वक्त चैन से हैं और डरते हैं कि शायद परिस्थितियाँ वदलें, तो वे इस तरह दूसरों की मेहनत के फलों से अपनी झोलियाँ न भर पाएँगे। लेकिन याद रखो कि ये सब थक जाने वाले हैं, इन सवका दम फूल जाएगा। तुम ताजा दम हो, जवान हो, तुम्हारे मन में अगर संशय होगा और आत्मविश्वास का अभाव होगा, तो इस काम में वड़ी कठिनाइयाँ सामने आएँगी; क्योंकि संशय से वह शक्ति पैदा नहीं होती, जो इस कठिन काम के लिए अपेक्षित है। गंदे हाथ और मैले मन ले कर भी तुम इस काम को पूरा न कर सकोगे; क्योंकि यह एक वड़ा पवित्र काम है। आपस की घृणा और भ्रांति भी इस काम में कुछ अच्छे साथी सावित न होंगी; क्योंकि तुम्हारी राष्ट्रीयता के भवन को वुनियादें प्रेम और विश्वास की चट्टानों ही पर दृढ़ रह सकेंगी।

"सारांश यह है, कि तुम्हारे सामने अपने जौहर दिखाने का अद्भुत अवसर है। मगर, इस अवसर का उपयोग करने के लिए वहुत वड़े नैतिक वल की आवश्यकता है। जैसे मेमार होंगे, वैसी ही इमारत होगी, और काम क्योंकि वड़ा है, एक की या थोड़े से आदमियों की थोड़े दिन की मेहनत से पूरा न होगा, दूसरों से मदद लेनी होगी और दूसरों की मदद करनी होगी। तुम्हारी पीढ़ी के सारे हिंदुस्तानी नौजवान अगर अपना सारा जीवन इसी एक धुन में विता दें, तव कहीं यह नाव पार लगे। देखना यह है, कि तुम मदद करने और मदद लेने में समर्थ होगे या नहीं, और दूसरे मदद देने के लिए उद्यत होंगे या नहीं।

"जव जात-पांत, धर्म और भाषाओं की विभिन्नता से हमारा देश टुकड़े टुकड़े नजर आता है, जिस देश में स्टेशनों पर मुसलमान पानी और हिंदू दूध मिलता है, जिस देश में अनेक जातियाँ वसती हैं, जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ प्रचलित हैं, जहाँ एक का सच दूसरे का झूठ है, जहाँ मूर्त्तिपूजक और मूर्त्तिभंजक को प्रकृति ने साथ-साथ सुख-दुःख के लिए, साथ जीने और मरने के लिए एकत्र कर रखा है—उस देश में नौजवानों से इस तरह मिल कर काम करने की आशा कुछ कम है। मगर दिल यही गवाही देता है कि थोड़े दिन और धक्के खाने के वाद इस देश के नौजवान देश की

सेवा के लिए एक दिल हो जाएंगे; क्योंकि मेरा विश्वास है कि हिंदुस्तान के भाग्य में प्रकृति ने यह रच दिया है कि यहाँ परस्पर भिन्न प्रवृत्ति के मनुष्य एक दूसरे से मिल कर ऐसा 'मानव' बनाएं, जो यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को एक नया रूप दे सके। प्रकृति के इस प्रयोग और उसके इस शुभ संकल्प में उसकी सहायता करना तुम्हारा कर्त्तव्य है और इसके लिए अपने आपको अच्छा आदमी बनाना और अपने दिल को कीना-कपट से खाली रखना बहुत जरूरी है। बलिदानों के लिए तैयार रहने की जरूरत है, अपने इरादे को मजबूत करने और अपने मन की इच्छाओं पर नियंत्रण करने की जरूरत है। अगर तुममें और तुम्हारे साथी नौजवानों में ये विशेषताएं न हुईं, और आज ही तुम्हें किसी महात्मा के चमत्कार से राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की अच्छी-से-अच्छी संस्थाएं बैठे-बिठाए मुफ्त में ही प्रकृति की ओर से उपहार में मिल गईं, तो भी याद रखो कि यह उपहार व्यर्थ होगा। ये संस्थाएं सब-की-सब नीचे होते-होते उसी सतह पर पहुँच जाएंगी, जिस पर कि तुम्हारी नैतिक शक्ति होगी और उनका रूप इतना बिगड़ जाएगा कि मुश्किल से कोई उन्हें पहचान भी सकेगा। राष्ट्र अपनी संस्थाओं को और स्वयं अपनी स्थिति को उसी स्तर पर बनाए रख सकता है; जिस पर वह स्वयं उन्हें अपनी क्षमता से पहुँचाने में समर्थ हो। इसलिए हिंदुस्तान का गौरव तुम्हारी इन विशेषताओं पर ही निर्भर है। अपनी सारी निजी शक्तियों का विकास करके एक ऐसा नैतिक व्यक्तित्व बनाओ, जिसे जब भारत माता के संमुख अर्पित करने जाओ, तो उन्हें लज्जित न होना पड़े और वह गद्गद होकर उसे स्वीकार कर ले।"

यह निर्विवाद है कि राष्ट्रपति होकर भी डॉ० हुसैन सफल शिक्षक ही रहे और जीवनोपयोगी शिक्षा एवं शिक्षण के लिए आपने अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। जात-पांत, संप्रदाय और सभी प्रकार के भेदभावों से दूर रहने वाले इस महान् शिक्षाशास्त्री का देहावसान ३ मई, १९६९ ई० को राष्ट्रपति-भवन में हुआ। देश-विदेश के महान् शिक्षाशास्त्रियों को इनकी मृत्यु से बहुत ही धक्का लगा।

ज़ाकिर हुसैन ने अपने स्वभाव के कारण हजारों मित्र बना लिए थे। इनके प्रशंसकों की कमी नहीं थी। राजनेता, विद्वान, पत्रकार, साहित्यकार, कलाकार—सभी आपके अंतिम दर्शन के लिए आते रहे। और, अंत में, ५ मई, १९६९ ई० को आपके पार्थिव शरीर को जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के अहाते में दफन कर दिया गया। ज्ञान का यह सितारा डूब गया; परंतु वह जो प्रकाश-रेखा छोड़ गया, वह अब भी शिक्षाप्रेमियों के मानसआकाश में शत-शत शुभ किरणावलियाँ बिखेर रहा है।

डॉ० जाकिर हुसैन आज हमारे बीच नहीं हैं, परंतु जगतविख्यात भारत के इस महान् शिक्षाशास्त्री के शिक्षा-संबंधी मौलिक विचार भारतीय जनमानस, विशेषतः शिक्षक और विद्यार्थी-वर्ग का तो मार्गदर्शन हमेशा ही करता रहेगा। वे हमलोगों के लिए सदैव प्रेरणा-स्रोत बने रहेंगे।



हिंदी–अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली

अनावश्यक शक्ति-सिद्धांत	Surplus Energy Theory
अनेकवादी	Agnostic
अभिज्ञानात्मक परीक्षा	Recognition Type Test
आकस्मिक समवाय	Incidental Correlation
आगमन विधि	Inductive Method
इंद्रियजनित	Senseperception
उदात्तीकरण	Sublimation
एकांतर प्रत्युत्तरात्मक परीक्षा	Alternative Response Type Test
क्रियाशीलनयुक्त पाठ्यक्रम	Activity Curriculum
ग्राह्य शिक्षा	Learning Involved
तात्कालिक उद्देश्य	Immediate Aim
ध्येय-पत्र	Good Card
निश्चयात्मक शिक्षा	Positive Education
निषेधात्मक शिक्षा	Negative Education
प्रत्यक्षीकरण	Perception
प्रत्यास्मरणात्मक परीक्षा	Recall Type Test
प्रयोजनवाद	Pragmatsim
प्रामाणिकता	Validity
पुनरावृत्ति का सिद्धांत	Recapitulatory Theory
पूर्ण शिक्षा	Integral Education
पूर्व-आयोजित समवाय	Pre-Planned Correlation
पूर्वाभास का सिद्धांत	Anticipatory Theory
बहुनिर्वचनात्मक परीक्षा	Multiple Choice Test
बहुमुखी रूचि	Many-sided Interest
मानवीय भूगोल	Human Geography
रूपभेदन	Modification
रेचन का सिद्धांत	Chatharatic Theory
लंबीय समवाय	Vertical Correlation

व्यक्तिगत योजना	Individual Project
व्यक्तिशः अध्ययन	Individualised Study
वस्तुनिष्ठता	Objectivity
व्याख्या-विधि	Prelection
विचार-वृत्त	Circle of Idea
वृत्तिगत	Occupational
शक्ति-सिद्धांत	Faculty Theory
संतुष्टिकरण	Gratification
संबंध के नियम	Laws of Association
समस्यात्मक योजना	Problem Project
सर्वोच्च उद्देश्य	Ultimate Aim
सर्वोपरि	Pre-Eminent
स्वर-ध्वनियाँ	Vowel Sounds
सांस्कृतिक युग सिद्धांत	Cultural Epoch Theory
क्षैतिज समवाय	Horizontal Correlation

